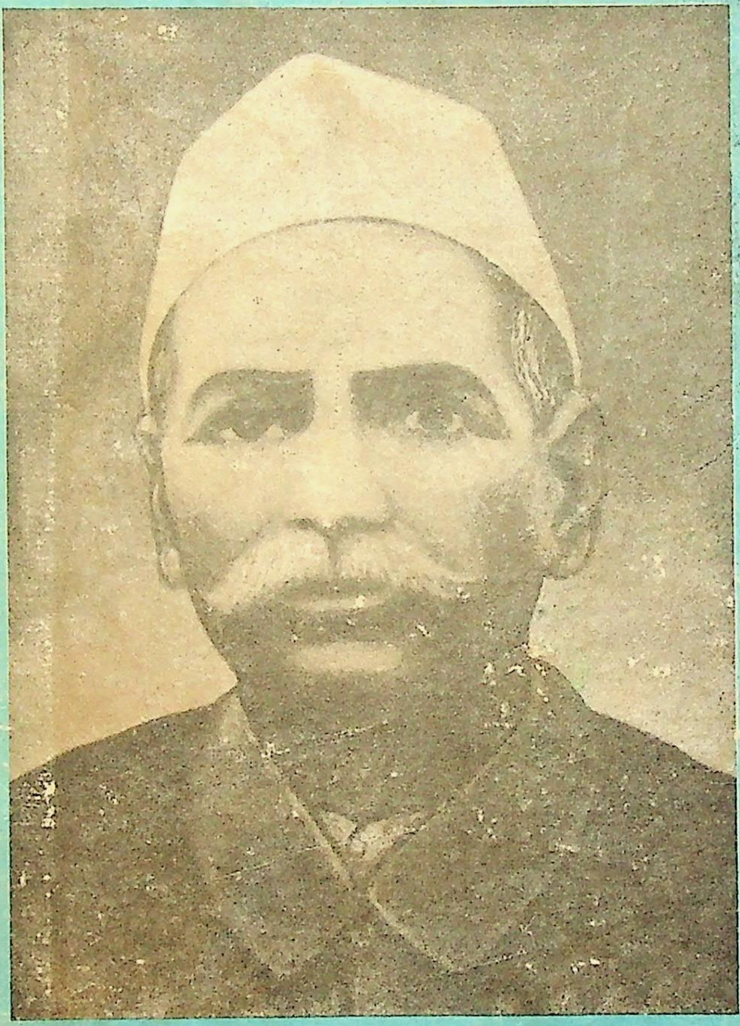
आचार्य पद्म सिंह शर्मा



व्यक्ति और साहित्य

(स्मृति ग्रन्थ)

सम्पादक :-

पं० बनारसी दास चतुर्वेदी

बाबू वृन्दावन दास ● डा० विष्णु दत्त 'राकेश'

श्री रमेश चन्द्र दुबे ● डा० कैलाश चन्द्र भाटिया

डा० रामस्वरूप आर्य

[redacted]

आचार्य पद्मसिंह शर्मा : व्यक्ति और साहित्य

(स्मृति ग्रन्थ)

मूल्य -400

आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा : व्यक्ति और साहित्य

(स्मृति ग्रन्थ)

परामर्श-दातृ मण्डल

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : डा० नगेन्द्र
डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : डा० हरवंश लाल शर्मा : डा० जयेन्द्र स्नातक
डा० राममूर्ति त्रिपाठी : श्री कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर : डा० नित्यानन्द शर्मा

सम्पादक :-

पं० बनारसी दास चतुर्वेदी
बाबू वृन्दावन दास ● डा० विष्णु दत्त 'राकेश'
श्री रमेश चन्द्र दुबे ● डा० कैलाश चन्द्र भाटिया
डा० रामस्वरूप आर्य

मुख्य विवरण : हिन्दी बुक सेन्टर
४।५ बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली

प्रकाशक : श्री १००८ भगत जो (रामपुर)
मनसालोक, सी ८, भट्टी स्ट्रीट, मुरादाबाद

सम्पर्क सूत्र : (सम्पादक) श्री रमेश चन्द्र दुबे, ए ९०, गांधी नगर, मुरादाबाद ।

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

[जीवनी, व्यक्तित्व, साहित्य-समीक्षा, सञ्जीवन भाष्य, श्रद्धाञ्जलियाँ एवं संस्मरण]

द्वितीय खण्ड

[आचार्य पं० पद्म सिंह शर्मा के साहित्य से सङ्कलन]

'उनके एक-एक गुण पर पृथक्-पृथक् निबन्ध लिखने की आवश्यकता है'

"चकबस्त साहब और महाकवि अकबर ने एक बार पण्डित जी से कहा था- 'आप जैसा इल्म दोस्त हमें दूसरा नहीं मिला, हाली साहब की भी यही राय थी। हिन्दुस्तानी एकेडेमी में जब शर्मा जी ने अपना निबन्ध पढ़ा तब इस मीटिंग के सभापति जस्टिस सुलेमान ने शर्मा जी की लेखन शैली और विद्वत्ता की भर पेट दाद दी थी। आचार्य द्विवेदी जी शर्मा जी की लेखनी के बड़े प्रशंसक थे। हिन्दी की ही भाँति शर्मा जी की संस्कृत और उर्दू लिखने की भी बड़ी प्रौढ़ और आकर्षक शैली थी। 'जमाना' के सम्पादक मुन्शी दया नारायण निगम, मुन्शी प्रेमचन्द,ख्वाजा हसन निज़ामी आदि शर्मा जी की उर्दू लेखन-शैली के बड़े मद्दाह थे। आपकी संस्कृत लेखन-शैली भी बड़ी प्रभावपूर्ण और अद्भुत थी। एक दार्शनिक ग्रन्थ पर शर्मा जी की लिखी संस्कृत भूमिका को पढ़कर स्वयं उनके संस्कृत गुरु महान्-विद्वान् श्री पं० काशीनाथ शास्त्री ने कहा था, 'ऐसी सुन्दर और सरल संस्कृत लिखना पद्मसिंह का ही काम है। मैं स्वयं उस शैली पर नहीं लिख सकता।" पं० पद्मसिंह शर्मा काव्य साहित्य के साधारण विद्वान न थे। संस्कृत, फारसी, हिन्दी और उर्दू का ऐसा कोई काव्य-ग्रन्थ न था जिसका उन्होंने अध्ययन न किया था और जिसे वे दूसरों को न पढ़ा सकते थे। पण्डित जी से बड़े-बड़े आचार्य और विद्वान् साहित्य पढ़ने आते थे। उनका पुस्तकालय विविध भाषाओं के ग्रन्थों का भण्डार है। वे रात-रात भर पढ़ते और लिखते थे। चिट्ठियाँ लिखने में तो वे अद्वितीय थे, इस दिशा में उन तक कोई नहीं पहुँच सका। वे नवयुवक लेखकों को प्रोत्साहन भी दिल खोलकर देते थे। किसी की कोई रचना पसन्द आई और तुरन्त पत्र लिखकर उसे दाद दी, फिर वह रचना छोटे से छोटे विद्यार्थी की ही क्यों न हो। वे ऐसे लेखकों और कवियों को दाद देने प्रायः उनके घर पर भी पहुँचते थे। कहाँ तक लिखें पं० पद्म सिंह जी असली अर्थ में साहित्याचार्य और वास्तव में साहित्य-महारथी थे। वे नये युग के प्रवर्त्तक और अभिनव हिन्दी के निर्माताओं में से थे। उनके एक-एक गुण पर पृथक्-पृथक् निबन्ध लिखने की आवश्यकता है। जिस महान् साहित्यकार का इतना अधिक महत्व है, उसके सम्बन्ध में हिन्दी के इतिहासकार कितने कंजूस और संकीर्ण हैं, यह बात उनकी लिखी सम्मतियों से प्रकट है। क्या यह पक्षपातपूर्ण प्रवृत्ति हिन्दी को कभी ऊँचा उठने देगी ? और क्या ये नकलची इतिहास लेखक सचमुच इतिहासकार कहे जाने योग्य हैं ?"

—पं० श्रीराम शर्मा, ['पद्मसिंह शर्मा के पत्र', पृष्ठ २४७]

दो शब्द

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

आचार्य पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा का स्वर्गवास ७ अप्रैल सन् १९३२ को हुआ था और बयालीस वर्ष बाद उनकी याद ताज़ा है। यह उनके सजीव व्यक्तित्व की एक खूबी है।

पं० पद्मसिंह शर्मा की स्मृति रक्षा—उनकी स्मृति रक्षा के लिए पहले भी कुछ प्रयत्न किये गए थे। **'विशाल भारत'** तथा **'सैनिक'** और **'त्यागी'** के विशेषाङ्क निकाले गये थे और इनमें पर्याप्त सामग्री इकट्ठी कर दी गई थी। बन्धुवर हरिशङ्कर जी शर्मा के सहयोग से उनके पत्रों का एक संग्रह भी छपा दिया गया था, जो साढ़े सात रुपये में कश्मीरी गेट, दिल्ली के प्रकाशक, आत्माराम एण्ड सन्स से, मिल सकता है। उनके विषय में श्री गणेशलाल शर्मा, 'प्राणेश' (हनुमान गंज, फीरोजाबादी) ने एक शोध ग्रन्थ तय्यार किया था, जिसका संशोधन वे अर्थाभाव के कारण नहीं कर सके और वह विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत नहीं हो सका। क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने एक छोटी-सी पुस्तिका छपाई थी और श्री फतेहचन्द 'आराधक' जी ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया था। बन्धुवर हरिशङ्कर शर्मा तथा श्री विश्वनाथ प्रसाद ने स्वर्गीय आचार्य जी का पुस्तकालय आगरे के के० एम० मुन्शी विद्यापीठ में सुरक्षित करा दिया था, और वहाँ 'पद्मसिंह कक्ष' खोल दिया गया।

ग्रंथों का पुनर्मुद्रण—इतना तो हुआ पर मुख्य कार्य, यानी उनके ग्रन्थों का पुनर्मुद्रण, नहीं हो सका। 'पद्म पराग' प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण नहीं हो सका और 'पद्मपराग' द्वितीय भाग, जिसे भाई हरिशङ्कर शर्मा ने तभी तय्यार कर दिया था, अभी तक अप्रकाशित पड़ा है।

आचार्य जी के ग्रंथ कई वर्ष तक आत्माराम एण्ड सन्स के यहाँ और फिर कई साल हिन्दी साहित्य सम्मेलन में भी पड़े रहे।

यह दुर्दशा ऐसे महान् आचार्य के ग्रन्थों की हुई जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान रह चुके थे और अपनी अद्वितीय लेखशैली के लिये प्रसिद्ध भी थे।

ऐसा क्यों हुआ? यह प्रश्न विचारणीय है। इस बीच सैकड़ों ही 'वृथा पृष्ठ पोथे' छपते रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय? रुचि में परिवर्तन हो गया है और अधिकांश पाठक छिछली पुस्तकों को पढ़ना पसन्द करते हैं। पोस्टेज की दरें दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही हैं और बी० पी० से फुटकर पुस्तकों का मँगाना प्रायः बन्द ही हो गया है। कागज़ तथा छपाई का ख़र्च दूना हो गया है, और प्रकाशकों से यह आशा करना कि वे उच्चकोटि के ग्रंथ छापकर घाटा सहेंगे, सर्वथा अनुचित ही होगा।

सर्वोत्तम रचनाओं का पुनर्मुद्रण—फिर भी, इस विकट परिस्थिति में भी, कुछ न कुछ काम तो करना ही है। किसी भी अच्छे लेखक की सम्पूर्ण रचनाओं का पुनर्मुद्रण अत्यन्त कठिन है, इसलिये हमें व्यवहार बुद्धि से काम लेकर सर्वोत्तम रचनाएँ छाँटकर उन्हें एक जिल्द में छपा देना चाहिये। उदाहरण के लिये पाँच छः लेख 'पद्मपराग' प्रथम भाग के तथा इतने ही 'पद्मपराग' द्वितीय भाग के लिये जा सकते हैं। उनके साथ आचार्य जी की कुछ आलोचनाएँ तथा महत्वपूर्ण पत्रों को भी उद्धृत किया जा सकता है। सतसई की टीका के भी कुछ अंश शामिल किये जा सकते हैं। इस प्रकार पाँच सौ पृष्ठों की एक पुस्तक तय्यार की जा सकती है।* इसके सिवाय ढाई सौ पृष्ठों में उनकी एक संक्षिप्त जीवनी भी छपाई जा सकती है, जिसके लिये बहुत सी सामग्री विशेषाङ्कों में आ ही चुकी है।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में आचार्य जी का वरद हस्त बन्धुवर हरिशङ्कर शर्मा, श्रीराम शर्मा तथा मुझ पर रहा। दुर्भाग्य की बात यही हुई कि हम तीनों मिलकर उनके जीवन चरित्र के कार्य को सम्पन्न नहीं कर सके। मैं सम्पूर्ण सामग्री लेकर एक बार आगरे तक भी गया था पर काम आगे बढ़ा नहीं। किसी भी जीवन चरित के लिये पत्रों तथा छोटे-छोटे किस्से कहानियों का संग्रह अत्यन्त बहुमूल्य सिद्ध होता है और सौभाग्य से वह संग्रह प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। कोई भी लेखक या कवि, कृत्रिम उपायों में जीवित नहीं रक्खा जा सकता, जब तक स्वयं उसमें जीवनी शक्ति न हो।

उनके व्यक्तित्व की जीवनी शक्ति—आचार्य पद्मसिंह जी अपने व्यक्तित्व के निरालेपन के कारण अब तक जीवित हैं। अपने विस्तृत साहित्यिक जीवन में हमें कोई ऐसा दूसरा व्यक्ति नहीं मिला, जिसमें साहित्यिक तन्मयता इतनी अधिक मात्रा में विद्यमान हो। आचार्य जी की तरह के विद्वान तथा समीक्षक तो सम्भवतः कई होंगे, पर साहित्य के लिये अपना सम्पूर्ण समय, शक्ति तथा साधनों को अर्पित करने वाला शायद ही कोई दूसरा हो। नवयुवकों को प्रोत्साहित करना तथा दिवंगत साहित्य सेवियों की कीर्ति-रक्षा करना तो मानों उन्हीं के हिस्से में आया था। 'दाद' शब्द बराबर उनकी याद दिलाता रहता है। उनकी सहृदयतापूर्ण साहित्यिक तन्मयता ही उन्हें जिन्दा रख रही है।

अद्वितीय लेख-शैली—दूसरा गुण जो उन्हें चिरकाल तक जीवित रक्खेगा वह है उनकी अद्वितीय लेख-शैली। हिन्दी में कई लेख-शैलीकार ऐसे हैं, जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं :—

१—बालकृष्ण भट्ट
२—प्रतापनारायण मिश्र
३—बालमुकुन्द गुप्त
४—पद्मसिंह शर्मा
५—प्रेमचन्द
६—गणेशशङ्कर विद्यार्थी

इनके सिवाय आचार्य वासुदेवशरण जी, बेनीपुरी जी तथा आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की भी विशिष्ट लेख-शैली है। इस समय अनावश्यक तथा अवांछनीय साहित्य की धकापेल में लेख-शैली को बिल्कुल भुला दिया गया है। पर यह विमति बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकती। अच्छी लेख-शैलियाँ बहुत वर्षों तक दबी नहीं पड़ी रहेंगीं।

*प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खंड में उनका 'संजीवन भाष्य' तथा द्वितीय खण्ड में उनके कुछ लेख, संस्मरण आदि संकलित कर दिये गये हैं।

समझ बूझ वाले गुणग्राहक उन्हें पहचान कर बाहर ले ही आवेंगे। वह युग हिन्दी जगत् में शीघ्र ही आने वाला है जब प्रभावशाली लेख-शैलियों की कद्र की जायगी और तब आचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा तथा अन्य शैलीकारों के भी दिन फिरेंगे।

एक बार हमने 'विशाल भारत' में कुछ विषयों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा था कि हमारे नवीन पत्रकारों को इन विषयों का विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिये। इस लम्बी सूची को पढ़कर आचार्य जी ने हमें लिखा था कि एक विषय जो बहुत आवश्यक था, छूट ही गया, यानी लेख-शैली का निर्माण। निस्सदेन्ह यह विषय अब तक प्राय: उपेक्षित ही रहा है। क्या ही अच्छा हो, यदि कोई समझदार प्रकाशक अच्छी लेख-शैलियों के उदाहरण एक ग्रन्थ में उपस्थित कर दे।

वातावरण की तैयारी—किसी भी साहित्यिक को पुन: जीवित करने अथवा उसकी रचनाओं के पुनर्मूल्याङ्कन कराने के लिये समय अपेक्षित है। उसके लिये वातावरण तय्यार करना पड़ता है और अत्यन्त हर्ष की बात है कि आचार्य पद्मसिंह जी के कई भक्तों, शिष्यों तथा प्रशंसकों द्वारा इस पुण्य कार्य का श्रीगणेश कर दिया गया है। गुरुकुल काँगड़ी तथा महाविद्यालय, ज्वालापुर, दोनों शिक्षा संस्थाएँ इस शुभ कार्य में सहयोग दे रही हैं। सबसे अधिक प्रशंसनीय योगदान है श्री रमेशचन्द्र दुबे, (उपनिदेशक चकबंदी, मेरठ), श्री वृन्दावनदास (व्रज साहित्य मण्डल) तथा डाक्टर रामस्वरूप आर्य (वर्धमान कालेज, बिजनौर) का, जो अपने अन्य साथियों के साथ मिलकर इस यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए जुट गये हैं।

जन्म शती—आचार्य जी का जन्म फाल्गुन सुदी १२ सम्वत् १९३३ में हुआ था और पौने तीन वर्ष बाद उनकी शताब्दी मनाई जायगी, बल्कि यों कहना चाहिये कि फागुन १९३३ में ही शताब्दी का आरम्भ हो जायगा। तब तक हम लोगों को उचित वातावरण तय्यार कर ही लेना चाहिये। उनके स्मारक तथा उनकी शताब्दी का पूरा प्रोग्राम सब लोग मिलकर बनावें। यह किसी एक व्यक्ति का काम है भी नहीं। चूंकि शर्मा जी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, तथा फारसी और व्रजभाषा के भी विशेषज्ञ थे, इसलिये इन सब के विद्वानों को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रित किया जा सकता है।

शर्मा जी की स्मृति-रक्षा कैसे की जाय और किन-किन कार्यों से स्वर्ग में उनकी आत्मा को सन्तोष होगा, इन प्रश्नों पर हम दूसरे लेख में प्रकाश डालेंगे।

—ज्ञानपुर,
जिला : वाराणसी।

साहित्यिक तन्मयता : मेरी याद रहे

पण्डित पद्मसिंह जी की रोज की १२-१ बजे रात तक जाग कर पढ़ने की आदत थी। एक दिन जुकाम से पीड़ित होने पर भी कलकत्ते में पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री को शैलूषक की अन्योक्ति सुनाकर साहित्यिक चर्चा करते-करते उन्हें रात के १२ बज गये। शास्त्री जी ने उनसे सोने के लिये आग्रह किया। उत्तर में पण्डित जी ने यह शेर पढ़ा—

न राहत तलब हैं न मोहब्बत तलब वह। लगे रहते हैं काम में रोजो शब वह॥
नहीं लेते दम एकदम बेसबब वह। बहुत जाग लेते हैं सोते हैं तब वह॥

पण्डित जी का एक प्रिय शेर था—

यूँ तो होती है मुँह देखे की मुहब्बत सबको।
मैं तो तब जानूँ जब मरने के बाद मेरी याद रहे॥

परिपूर्ण पांडित्य के धनी आलोचक

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

इससे बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा का स्मृति समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया जा रहा है और उनका स्मृति में ग्रन्थ का भी प्रकाशन हो रहा है। इसमें उनके जीवनवृत्त और संस्मरणों के अतिरिक्त उनका संजीवन भाष्य भी प्रकाशित कर दिया गया है जो अब अनुपलब्ध हो गया था। शर्मा जी हिन्दी के उस युग के आलोचक थे जब बिना परिपूर्ण पाण्डित्य के किसी को हिन्दी-साहित्य-समाज स्वीकृति नहीं देता था। उनकी सतसई-संहार नाम से निकली गम्भीर तत्त्वान्वित आलोचना ने तहलका मचा दिया था। तुलनात्मक आलोचना के तो वे हिन्दी में प्रवर्तक ही थे। शास्त्राध्ययन की गरिमा और गम्भीरता के साथ ही उनकी शैली इतनी मनोहारिणी और सुबोध होती थी कि उनके तर्कों और विवेचन को समझने में साधारण जन को भी विशेष कठिनाई नहीं रह जाती थी। ऐसी विरोधात्मक स्थिति, साहित्य के किसी आलोचक में नहीं दिखाई देती। शर्मा जी पहले भी अनन्वय थे और आज भी अनन्वय हैं। उनकी स्मृति में प्रकाशित यह ग्रन्थ उनके सम्बन्ध में अनेक अश्रुतपूर्व सूचनाएँ देता है। पर उनके ऐसे महारथी के लिए इससे भी विशाल आयोजन अपेक्षित है। आपने उसका शुभारम्भ शंसात्मक भूमिका से किया है। यह प्रथम सोपान उनके सारस्वत तत्त्वार्थ तक पहुँचाने की सच्ची उमङ्ग दे, यही अभिलाषा है।

—वाणी-वितान-भवन,
१०।६३ ब्रह्मनाल, वाराणसी-१
उत्तर प्रदेश

बेजोड़ समीक्षक

डा० विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी-समालोचना के इतिहास में स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा का स्थान बेजोड़ है। अपनी मौलिक उद्भावना-शक्ति से तुलनात्मक समीक्षा की जो लीक वे छोड़ गये हैं, उसका अनुकरण भी किसी से सम्भव न हो सका। कहना न होगा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-समीक्षा को यदि शास्त्रीय पाण्डित्य प्रदान किया था तो शर्मा जी ने उसे नयी अभिव्यक्ति का नूतन मार्ग तथा क्षेत्र प्रदान किया। शर्मा जी की समीक्षाओं को देखकर लगता है कि आलोचक का कर्म कठोर होता है। यथार्थ की परख के लिए उसे कृति के उन गुह्य स्तरों में प्रवेश करना होता है जहाँ सत्य के आवरण में असत्य, शिव के बाने में अशिव और सुन्दर की भूमिका में असुन्दर छिपा बैठा होता है। 'सतसई संहार' में इसी कठोर कर्म का निर्वाह करते हुए उन्होंने अशिव और असत्य को पहचाना था। 'सतसई संजीवन भाष्य' में उन्होंने शिव, सत्य और सुन्दर का संधान किया और अपने अगाध पाण्डित्य का परिचय दिया।

साहित्य का रस लेने की क्षमता तो सहृदय रसिक पाठक में भी होती है किन्तु साहित्य के आभ्यन्तर में पैठ कर उसकी समीक्षा की योग्यता शर्मा जी सदृश रसज्ञ, भावुक विद्वान् में ही पायी जाती है। साहित्य का रसास्वादन अपेक्षाकृत एक सीमित, निष्क्रिय, मूक-मानस व्यापार है जब कि समालोचना इसके विपरीत सक्रिय, मुखर एवं व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने का साधन है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा हिन्दी के एक समर्थ, सम्वेदनशील और सावधान पाठक और समीक्षक थे। हिन्दी आलोचना को उन्होंने रससिक्त, जीवन्त, रचनात्मक और रोचक साहित्य के रूप में प्रस्तुत कर अपना पृथक् स्थान बना लिया है। निर्भीकता, स्पष्टता, विद्वत्ता और तल्लीनता उनकी समीक्षा-पद्धति के मेरुदण्ड हैं। पण्डित पद्मसिंह शर्मा का पुण्य स्मरण हिन्दी समीक्षा के पुनर्जागरण के लिए अपेक्षित है। मुझे विश्वास है कि उनके स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा यह कार्य अनुष्ठान के रूप में सम्पन्न हो सकेगा।

१६—५—७४

—आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

साहित्य-जगत् के युगपुरुष

डा० सत्येन्द्र

आचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा स्मृति-समारोह के अवसर पर प्रकाशित, आचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा : व्यक्ति और साहित्य (स्मृति ग्रंथ) वस्तुतः श्लाघ्य है। इसमें कितने ही विद्वानों के संस्मरण हैं, आचार्य जी का जीवन-परिचय भी है, उनके कृतित्व पर भी कुछ प्रकाश इसमें डाला गया है। अतः इस स्मृति-ग्रन्थ द्वारा वह युग ही हमारे सामने खड़ा हो जाता है। इसमें आचार्य पं०पद्मसिंह शर्मा का साहित्य और साहित्यालोचन के संवर्द्धन में उनके योगदान का भी पता चलता है। यह प्रयत्न मेरी दृष्टि में विशेष अभिनन्दनीय इसलिए है कि इससे तुलनात्मक आलोचना के विसरे हुए महत्व की ओर ध्यान आर्कषित होता है। साथ ही इस ओर भी ध्यान जाता है कि साहित्य के लिए जिस सहृदयता की आवश्यकता है वह कैसी होती है ? विविध कवियों की तुलनाश्रित काव्योक्तियों के मर्म को उभारने और उनके कला-विधान और भाव-संपत्ति की पारस्परिक तुलनात्मक गरिमा को हृदयङ्गम करने की क्या प्रक्रिया है, यह भी पुनराख्यान के रूप में इस ग्रन्थ द्वारा हमें ज्ञात होती है। अतः यह स्मृति-ग्रन्थ पं० पद्मसिंह शर्मा की स्मृति ही नहीं दिलाता, वरन् इस बात की भी स्मृति दिलाता है कि पं० शर्मा उस काल के साहित्य-जगत् के युगपुरुष थे और उनके कर्तृत्व से जिन साहित्य-सूत्रों के नये तत्व उभरे थे, उनका महत्व तब से आज और भी अधिक है। अतः मैं इस आयोजन के कर्त्ताओं को बधाई देता हूँ।

—निदेशक, राजस्थान ग्रन्थ अकादमी,
ए २६।१ विद्यालय मार्ग,
तिलक नगर, जयपुर-४

आचार्य पद्मसिंह शर्मा

के

व्यक्तित्व और कृतित्व का व्यवस्थित अध्ययन

—डा० नगेन्द्र

पद्मसिंह शर्मा स्मृति-ग्रन्थ की मुद्रित सामग्री मिली । धन्यवाद । आचार्य पद्मसिंह शर्मा के व्यक्तित्व और कृतित्व का जैसा व्यवस्थित अध्ययन होना चाहिए वैसा अभी तक नहीं हुआ—यह खेद का विषय है । हम लोगों में सक्रिय श्रद्धा की भावना बहुत कम है। इस दृष्टि से आपका यह प्रयास अपने आप में स्तुत्य है, किन्तु इसे केवल प्रारूप या भूमिका ही मानना चाहिए । आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत और ब्रजभाषा का कोई गम्भीर विद्वान् इस कार्य को हाथ में ले । गुरुकुल ज्वालापुर में पद्मसिंह शर्मा अध्ययन-पीठ की स्थापना भी होनी चाहिये ।

कृपया मेरा साधुवाद स्वीकार करें ।

—आचार्य, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
१६-कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-७

प्रतिद्वन्द्विता की परीक्षा में बहादुरी के जौहर

पं० पद्मसिंह शर्मा

"बिहारी इस मैदान में अपने इन आदर्श महारथियों से (प्राकृत गाथा सप्तशती, आर्या-सप्तशती और अमरुक शतक से) किसी मौके पर एक इंच भी पीछे नहीं रहे हैं, यही नहीं अनेक स्थलों पर इनसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। कहीं-कहीं तो इन्हें मंजिलों पीछे छोड़ गये हैं। कहीं उनसे मजमून छीन लिया है, तो कहीं संस्कार कर दिया है, कहीं काया पलट कर दी है तो कहीं जान डाल दी है। इस प्रकार के स्थलों में ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने 'बात में बात पैदा' न कर दी हो, अपनी प्रतिभा के प्रकाश से आदर्श पद्यों के भावों को अतिशय चमत्कृत करके न दिखा दिया हो। मजमून चुराया नहीं छीन लिया है। इन अमरुक आदि महाकवियों के मुकाबले में–जिनका यशोगान ऊपर हो चुका है, उन मजमूनों पर कलम उठाना, जिन पर वे कलम तोड़ चुके थे और फिर वह कुछ कर दिखाना जो वह भी न कर सके थे, हँसी खेल नहीं है, बड़ी टेढ़ी खीर है। निहायत खट्टे अंगूर हैं। कोई माने न माने मैं तो बिहारी की इसी बात का कायल हूँ। किसी सख्त मुकावले में ही तो बहादुरी के असली जौहर खुलते हैं। प्रतिद्वन्द्विता की परीक्षा में बड़े-बड़े शूर वीरों का पित्ता पानी हो जाता है, उसमें जो बाजी ले जाये वही बहादुर है।"

'बिहारी की सतसई' 'पहला भाग' पृष्ठ २५

(पं० जी का उपरोक्त कथन उनकी स्वयं की आलोचना एवं संजीवनी भाष्य पर भी लागू है। 'सतसई संहार' और बिहारी सतसई की भूमिका ने प्रतिद्वन्दिता की परीक्षा में बहादुरी का जौहर दिखलाया था। –सम्पादक)

कविता के "कैमिस्ट"

"जिस विवेचक को भाषा विज्ञान का कुछ भी ज्ञान है, जिसने भिन्न-भिन्न कवियों की कविता तुलनात्मक दृष्टि से देखी है, जो कविता की नब्ज़ पहचानता है, उसके छिपे इशारों को समझता है, जो रीति के मार्ग में आँख खोल कर थोड़ी दूर भी चला है, जिसने ध्वनि की आवाज दिल के कानों से सुनी है और इसका स्वाद सहृदयता की रसना से चखा है, इस प्रकार जो "भावक" कविता का "कैमिस्ट" (रसायन शास्त्री) है, उसे बिहारी के दोहे कण्ठस्थ हों या न हों–हाँ उसने उन्हें 'भावकता' की दृष्टि से देखा भर हो, वह सैकड़ों में नहीं, लाखों में पुकार उठेगा कि यह बिहारी हैं, ये कोई और लोग हैं।"

पं० पद्मसिंह शर्मा-बिहारी की सतसई, पहला भाग पृष्ठ ३४

(कहने की आवश्यकता नहीं कि पं० पद्मसिंह शर्मा उपरोक्त सभी गुणों से सम्पन्न बिहारी के समर्थ आलोचक थे–बिहारी की कविता के ही नहीं, सारी अच्छी कविता के, 'भावक' 'कैमिस्ट' थे। –सम्पादक)

सम्पादकीय

आचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा (१८७६ से १९३२) हिन्दी साहित्य के एक जाज्वल्यमान् नक्षत्र थे। उन्होंने १९०४ से १९३२ तक की अपनी कर्मठ साहित्य-सेवा में इतना बड़ा काम कर दिया जो दूसरे लोग इसके चौगुने समय में भी नहीं कर पाते। बीसियों नये साहित्यकारों की प्रतिभा को प्रोत्साहन का जल देकर पल्लवित किया, अपने समय की अनेक विषयों की पुस्तकों को सम्मति, भूमिका, समालोचना से समलंकृत कर उनकी उपयोगिता बढ़ाई, महाविद्यालय ज्वालापुर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, आर्य समाज आदि अनेक साहित्यिक-सामाजिक संस्थाओं को अपना सक्रिय योगदान देकर पल्लवित पुष्पित किया। कवि-सम्मेलनों के तो वे सम्राट् ही थे। उनके जैसा काव्य का अथक श्रोता मिलना दुर्लभ है। संस्कृत के मासिक-पत्र 'विद्योदय' में प्रकाशित पं० हृषीकेश शास्त्री के उत्कृष्ट लेखों का सञ्चय उन्होंने बड़ा कष्ट उठा कर १९२९ में 'प्रबन्ध मञ्जरी' नाम से प्रकाशित कराया। उर्दू के महाकवि अकबर, हाली, चकबस्त आदि को अपनी सखुन-फहमी से प्रभावित कर वे उनके अन्तरंग साथी बन गये। हिन्दी में उर्दू और अंग्रेजी में चली आयी परम्परा से सूत्र ग्रहण कर, उन्होंने पूर्वापर कवियों की रचना में भावसाम्य और भावोत्कर्ष-अपकर्ष का तुलनात्मक निरूपण करके, तुलनात्मक समालोचना की नींव रक्खी। उर्दू, फारसी संस्कृत, प्राकृत, और हिन्दी की अद्वितीय विद्वत्ता के कारण उनकी यह तुलनात्मक समालोचना पांडित्य के उच्चशिखर को छूती हुई, अपनी सरस, सरल, लोचदार, फड़कती हुई, ज़िन्दादिल शैली के कारण, सहृदयों के हृदयों में साहित्य-पीयूष की मधुर-धारा के समान सहज प्रवेश पा गई। उसने हिन्दी समालोचना को सर्व-जन-ग्राह्य बना दिया। अपनी प्रतिभा की इस विलक्षणता के साथ ही साथ वे एक प्रेमी, भावुक, सौजन्य-पूर्ण, उदार, भक्त-हृदय, प्राचीनता के प्रेमी, पुराने शिष्टाचार की प्रतिमूर्ति, निश्छल, निष्कपट मानव भी थे, जिन्हें मित्र-मण्डली में कहकहे लगाते हुये देखकर हृदय स्वतः प्रफुल्लित हो जाता था। रोगियों की परिचर्या, और सेवा का तो मानों उन्होंने व्रत ही ले रक्खा था। छात्रों की सहायता अभाव में भी वे करते थे। आतिथ्य-सत्कार उनका जैसा भला कौन कर पायेगा ? सरस्वती के इस साधक ने लक्ष्मी की कभी परवाह नहीं की। इस पर भी पूर्ण आत्म-सम्मान से वे अपने जीवन में जो कुछ कर गए, वह बड़े-बड़े साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी, अक्सर नहीं कर पाते। हिन्दी जगत् ने मंगलाप्रसाद पारितोषिक देकर और मुज़फ्फरपुर के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद पर उन्हें प्रतिष्ठित करके, उनके गौरव का सही मूल्याङ्कन किया था। पर उनके बाद हिन्दी में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ कारगर रहीं, जो पं०पद्मसिंह शर्मा के संस्मरणों और आलोचनाओं को, 'संजीवन-भाष्य' और साहित्यिक लेखों की सहृदय सम्वेदना को, हिन्दी के सामान्य छात्र के मन-मस्तिष्क पर अंकित करने में, अपनी उपेक्षा-वृत्ति को ही उजागर करतीं रहीं हैं। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन काल में दिवंगत साहित्यकारों की कीर्ति-रक्षा के लिए निरन्तर सक्रिय प्रयास किया, उसको इस तरह साहित्य-मन्दिर की उपेक्षित प्रतिमाओं के ढेर में डाल देना, हमारी कृतघ्नता का नहीं तो, कम से कम हमारी नादानी का प्रमाण तो है ही।

इस उपेक्षा से तिलमिला कर हमारे 'सरापादिल', सहृदय साहित्यकार पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने विभिन्न पत्रों में, पत्रिकाओं में, लेख और चिट्ठियाँ लिख कर, हिन्दी जगत् का ध्यान पं० पद्मसिंह शर्मा की कीर्तिरक्षा के महत्वपूर्ण कार्य की ओर आकर्षित किया। आगरे में पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' की अर्द्धशताब्दी मनाने के बाद से चतुर्वेदी जी अपनी उदारतावश मुझे इस तरह के कार्यों को करने के लिए उपयोगी मानने लगे थे। सुहृद्शिरो-

मणि विद्वद्वर, बाबू वृन्दावन दास जी तो इस तरह के साहित्यिक कार्यों को अपना निजी कार्य समझ कर तन-मन-धन से जुट जाने वाले व्यक्तियों के अकेले उदाहरण ही हैं। पिछली रामनवमी पर (१६७३ में) अयोध्या में उनसे अकस्मात् भेंट हो गई। वहीं आचार्य जी की जन्म शताब्दी विषयक आयोजन का प्रसंग चला। फिर तो बाबू जी एवं दादा जी पं० बनारसी दास जी चतुर्वेदी के पत्रों ने ऐसी सतत् प्रेरणा की वर्षा की कि उस बहुत बड़े काम को, मेरे जैसे अल्प-सामर्थ्य व्यक्ति को, अपनी सारी मजबूरी के बावजूद भी, 'न च दैन्यं न पलायनं' के भाव से, अपने दुर्बल कंधों पर लेना ही पड़ा। आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा की प्रतिभा की उदात्तता ने और सर्वोपरि प्रभु की असीम कृपा ने मुझे डा० विष्णुदत्त 'राकेश', डी० लिट० और डा० रामस्वरूप आर्य जैसे सुयोग्य, उद्यमी, सहास मुद्रा से बिना थके कार्य करने वाले, साथी दे दिये। उन्होंने इस विशाल ग्रन्थ के सम्पादन में अपूर्व सहयोग दिया। डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, डा० राकेश तथा डा० राम स्वरूप आर्य ने आचार्य जी पर उत्कृष्ट सामग्री संकलित करके बाबू वृन्दावन दास एवं पं० बनारसी दास चतुर्वेदी से प्राप्त प्रभूत सामग्री को और अधिक मूल्यवान् बना दिया। सामग्री की बहुलता के कारण और मुद्रण की कठिनाइयों के कारण बहुत से लेखक बन्धुओं के श्रम का उपयोग हम इस ग्रन्थ में नहीं कर सके। इसके लिए हम उनसे क्षमा प्रार्थी हैं। बन्धुवर 'झड़प' जी ने अन्तर्जनपदीय परिषद् के मुख-पत्र 'चतुर्मुख' के लिये कुछ सामग्री माँगी थी। हमने बाबू वृन्दावन दास जी के माध्यम से उन्नीस लेख उन्हें भेज दिये थे। उन्होंने उन्हें 'चतुर्मुख' में प्रकाशित करके हमारे आयोजन का चतुर्दिक् प्रकाश किया है। हम उनके आभारी हैं। उनके साथी श्री अनिल कुमार 'आञ्जनेय' के भी हम आभारी हैं। उन्हीं की प्रेरणा से 'चतुर्मुख' का 'पद्मसिंह अंक' निकल सका। डा० गिरिराज शरण अग्रवाल, डा० रामस्वरूप आर्य के साथ ही, इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के सम्पादन, मुद्रण में निरन्तर सहायता करते रहे। पंजनिया के पं० शिवचरण ने, पं० जी, के निकट सम्पर्की होने का और उनका कृपा-भाजन होने का दायित्व खूब निभाया। पं० जी के सभी परिचितों को पत्र लिखकर पर्याप्त सामग्री उन्होंने हमें प्रेषित की। पं० जी के दुर्लभ ग्रन्थ, चित्र, पत्र, आदि उन्हीं की कृपा से हमें सुलभ हो सके। पं० जी के कनिष्ठ पुत्र पं० रामनाथ शर्मा ने भी हृदय से सहयोग दिया। यद्यपि अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों के कारण वे हमें 'पद्म पराग' द्वितीय भाग की पाँडुलिपि सुलभ नहीं करा सके, पर उनका हृदय हमारे साथ रहा। इस दिशा में अभी और प्रयत्न करने की हमारी इच्छा है।

पण्डित जी का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त "संजीवन भाष्य" अब दुर्लभ होगया था। उनके योग्य शिष्य श्री सत्यव्रत शास्त्री धामपुर, बिजनौर ने कृपा करके इसकी एक प्रति हमें भिजवा दी थी। हमने उसे प्रत्येक दोहे के आरम्भ में अपनी 'सरलार्थ बोधिनी टीका' देकर, तथा दोहे के ही एक चरण से शीर्षक देकर, इस ग्रन्थ में समग्ररूपेण उद्धृत कर दिया है। ब्रजभाषा का अर्थ लगाने वाले अब सामान्य हिन्दी पाठकों में अल्पमत में आ गये हैं। चतुर्वेदी समाज में भी अब शाखोच्चार की कविता चौबे लोग ब्रजभाषा में न लिखकर खड़ी बोली में लिखने लगे हैं, ऐसा डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी डी० लिट० ने हमें ३०-५-७४ को आगरे में बताया था। अतः इस युगधर्म को देखते हुए हमने भी इस ग्रन्थ में 'सरलार्थ बोधिनी टीका' भाष्य के शुरू में ही जड़ देने का दुस्साहस कर दिया है। सामान्य पाठकों को दोहे का अर्थ भाष्य शुरू करने से पहिले ही इस टीका से बोधगम्य हो जाय, जिससे आगे पढ़ने की प्रवृति उनमें जग जाय, और पं० जी के पीयूषवर्षी भाष्य की मधुरता को आतृप्ति पान कर लेने की तृषा उनमें अक्षुण्ण बनी रहे—इस उद्देश्य से लिखी गई पं० जी के ही अर्थों की उपजीवी इस टीका को, विद्वज्जन मेरी धृष्टता नहीं समझेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू" की नीति का अनुसरण करके मैंने परम श्रद्धेय ऋषिकल्प सन्त शिरोमणि गुरुवर श्री १००८ भगत जी (रामपुर) को ही इस साहित्य-विभा के प्रकाशक ग्रन्थ का, प्रकाशक घोषित किया है। उनका आशीर्वाद ही **"कहँ रघुपति के चरित अपारा, कहँ मति मोरि निरत संसारा"** की जैसी असम्भाव्यता को, सम्भव बनाने में समर्थ हुआ है। उन्हें इन सांसारिक कार्यों से

कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उनके मतानुसार ये आवागमन में डालने वाले कृत्य हैं। **"सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि की मति इन्ह कृत न मलीनी"** के अनुसार लोकैषणा के द्वारा मति को मलिन करने वाले कार्य हैं। पर **"आगे के सुकवि मानिहैं तौ कबिताई न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है"** की नीति का अवलम्ब लेकर भगवान श्री कृष्ण, काशी विश्वनाथ, उज्जैन महाकालेश्वर जगन्नाथ, गंगा और यमुना के पुजारी एवं श्रद्धालु भक्त, पं० पद्मसिंह शर्मा का यह पुण्य-स्मरण, परलोक में हमारी भक्ति की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही फ़िट कर लिया जाय, इस आशा से हम इस कार्य में सांसारिक बुद्धि लेकर भी, श्रद्धा के साथ तत्पर हुये हैं। **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** का उद्घोष हमारे लिये प्रमाण है। सन्तों का अवलम्ब सांसारिक कार्यों में भी सभी संसारी जीव लेते ही आये हैं। **'ओढ़िअहिं हाथ असनिहु के घाए'** के प्रकृत नियम का उल्लंघन भला सम्भव भी कैसे हो ? अस्तु,

श्रीमत्सु गुरुपादेषु प्रणामामि पुनः पुनः।
यस्य कृपा-भावेन ग्रन्थोऽयं प्रथितो ननु ॥

परामर्श दातृ-मण्डल में सम्मिलित होने के लिये हिन्दी के शीर्षस्थ विद्वानों ने प्रसन्नता-पूर्वक-प्रदत्त अपनी सहमति से न केवल पूज्य आचार्य जी की प्रतिभा को ही अपना श्रद्धा-नमन समर्पित किया है, अपितु हम जैसे अल्पज्ञ सिपाहियों का भी प्रभूत उत्साह-बर्द्धन किया है। हम इस से अपने को सम्मानित समझते हैं। विशेषत: बन्धुवर डा० राकेश के विद्वज्जन-सम्पर्क और सारस्वत-प्रभाव से ही यह सम्भव हो सका है। वे तो हमारे अपने ही हैं। कृतज्ञता का भार डालकर, हम उनकी आत्मीयता के गौरव को, लघुता नहीं देना चाहते।

हम अत्यन्त ऋणी हैं अपने उन स्नेहशील साथियों और सहयोगियों के, जिन्होंने अपने सहज प्रेम के, कारण केवल पारस्परिक प्रसन्नता और शुभ कार्य के शिव-संकल्प को पूर्ण करने की भावना से, बहुत खुले दिल से उदारता पूर्वक हर तरह का सहयोग इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें दिया है।

मुद्रण के लिए हमें वन्दना प्रेस, मुरादाबाद, रामा प्रेस, बिजनौर और "अरुण" प्रेस मुरादाबाद की सहायता लेनी पड़ी। इन तीनों प्रेसों के मालिकों ने बड़ी विशुद्ध भावना से छपाई का कार्य सम्पन्न किया। रामा प्रेस के श्री रस्तोगी जी ने तो ६० पृष्ठों का मुद्रण निःशुल्क ही कर दिया। वन्दना प्रेस ने प्रथम खण्ड के लगभग २०० पृष्ठों का मुद्रण कम रेट पर किया। मुरादाबाद का "अरुण" प्रेस बड़ा और आधुनिकतम प्रेस है। इसकी अपनी टाइप फ़ाउन्ड्री है। आफ़सैट प्लेट मेकिंग, ब्लाक मेकिंग के उपकरण भी हैं। टाइप से छपाई की मशीनें, आफ़सैट द्वारा छपाई की मशीनें, कटिंग, बाइन्डिंग आदि की सभी मशीनें औटोमैटिक हैं। "अरुण" प्रेस की लागत और ख़र्चों के अनुरूप उसके रेट तो, रियायती होने पर भी स्वभावत: अधिक थे, पर छपाई का काम बड़े सुचारु रूप से बिना विलम्ब लगाए किया गया। पं० पृथ्वीराज मिश्र, अध्यक्ष "अरुण" प्रेस तथा संस्थापक-सम्पादक "अरुण" मासिक ने बड़ी सहृदयता और श्रद्धा से, इस कार्य को द्रुत गति से सम्पन्न कराया। "अरुण" प्रेस के श्री रमाकान्त व्यास के भी हम आभारी हैं, जिन्होंने रुचि से प्रूफ़-संशोधन के कार्य को किया। वे साहित्यिक परिवार के सदस्य हैं और उनकी साहित्यिक अभिरुचि हमारी सहायक रही। प्रेस के कम्पोज़ीटर भी, पं० जी की प्रिय चाय पी-पीकर, प्रातः से रात्रि तक कम्पोज़िंग में जुटे रहे। उनका स्नेह भी हमारा संबल रहा।

प्रूफ़ और अशुद्धियाँ तो प्रेस की चिर-संगिनी हैं, अतः उनकी स्थिति इस प्रकाशित ग्रन्थ में भी रह गई तो हमें गिला नहीं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने कहा था "आँखों का तेल निकल जाय, पर अशुद्धियाँ प्रूफ़ से नहीं निकल पातीं"--और "माँ के पेट से बच्चे का निकल आना सहज है पर प्रेस से पुस्तक का निकल आना कठिन है।" पंडित जी के इन अनुभवों ने मेरे उत्साह को विषम परिस्थितियों में भी क्षीण नहीं होने दिया।

ग्रन्थ पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० सत्येन्द्र, डा०विजयेन्द्र स्नातक, और डा० नगेन्द्र की सम्मतियाँ प्राप्त करके हमें बहुत प्रोत्साहन मिला। कई विद्वानों की राय है कि आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के लिये इससे भी अधिक विशालकाय ग्रंथ का प्रणयन होना चाहिये, उनके लेखन की प्रत्येक विधा पर और गंभीर अध्ययन होना

चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ उस विशाल अध्ययन की भूमिका प्रस्तुत करेगा। हम उनकी इस भविष्यवाणी से बहुत उल्लसित हैं। वट का यह बीज विशाल वट-वृक्ष बन कर हिन्दी को दीर्घकालीन छायादान करे, ईश्वर से यह हमारी विनीत प्रार्थना है।

अन्त में पं० पद्मसिंह शर्मा को मालवीय जी द्वारा बताए गये मन्त्र 'हरये नमः' 'हरये नमः' हरये नमः' की तीन आवृत्तियाँ करके, मैं उन सभी विद्वानों, लेखकों को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने अपना आशीर्वाद और सहयोग हमें प्रदान किया है और 'नमः ज्येष्ठाय कनिष्ठाय', कह कर, अपने उन सभी छोटे बड़े साथियों सहयोगियों को नमन करता हूँ, जिनका अमूल्य प्रेम और सहयोग इस वृहत् कार्य के निष्पादन में हमारा दृढ़ सम्बल रहा है। हिन्दी के दरबार में हमारा यह बाल-कृतित्व हाथ जोड़कर आपका अभिवादन कर रहा है। इसमें जो कुछ श्रेष्ठ है वह विद्वान लेखकों का ज्ञान है, जो कुछ उपेक्षणीय है, वह हमारी बाल-चपलता है। "**एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहितें अधिक ते......**॥ (सन्त तुलसीदास)

"जो कवित्त बुध नहिं आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।"

के न्याय से 'बुधजनों' से करबद्ध प्रार्थना है कि वे अपनी उदारतावश ही इस प्रयास को अपना 'आदर' प्रदान करें, जिससे हम अपने को कृतकार्य समझ सकें; हमारा यह श्रम 'बादि' सिद्ध न हो। इति शिवमस्तु।

—रमेश चन्द्र दुबे
एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत),
एल-एल० बी०,
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न,
पी० सी० एस०,
पूर्व प्राध्यापक,
कन्हैयालाल मुंशी
हिन्दी-विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय,
एवं आगरा कालेज, आगरा।

ता० ३ जून १९७४
ए-९०, गाँधी नगर,
मुरादाबाद।

●●●

'केलिकपूर की जोति जुरावन'

पच्चीस वर्ष की आयु में कविरत्न नवनीत लाल जी चतुर्वेदी कांकरौली वाले गोस्वामी श्री बाल कृष्ण जी महाराज के साथ मारवाड़ की यात्रा में गयें। गट्टू लाल जी भी यात्रा में साथ थे। उन्होंने सोमनाथ कवि का यह सवैया पढ़ा :—

"चारु निहारि तरैयनि की द्युति लाग्यो महा विरहा तन तावन।
ऐ 'ससिनाथ' सुजान सुनो उन सूल गिने नहिं कंज से पावन॥
पीत दुकूल में फूलन लै अलबेली के प्रेम की सिद्धि बढ़ावन।
कान्ह दिवारी की रैनि चले बरसाने मनोज को मंत्र जगावन॥"

और कहा कि "रूपक पूरी तरह नहीं बँधा। प्रेम की सिद्धि का सब सामान इसमें नहीं आया। " रूपक को तुम तो बाँध कर दिखाओ।" नवनीत जी ने रूपक बाँधा —

"अच्छत आनँद फूल के फूल, सुचाह कौ चन्दन चौंप चढ़ावन।
त्यों नवनीत जू लाग की लौंग, उमंग सिन्दूर को रंग रचावन॥
धावन धूप संयोग सुगन्ध लै, केलि कपूर की जोति जुरावन।
कान्ह दिवारी की रैनि चले, बरसाने मनोज को मंत्र जगावन॥"

"केलि कपूर की जोति जुरावन"

ने रूपक के रूप को चमका दिया। चार चाँद लगा दिये। श्री गट्टूलाल जी इस उक्ति पर लट्टू हो गए। आसन् से उठकर नवनीत जी को छाती से लगा लिया।" **पं० पद्मसिह शर्मा–'पद्मपराग' भाग १ पृष्ठ १३९**

प्रथम खण्ड

[जीवनी, व्यक्तित्व, साहित्य-समीक्षा, सञ्जीवन भाष्य, श्रद्धाञ्जलियाँ एवं संस्मरण]

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा जी का संक्षिप्त जीवन परिचय

—पं० बनारसी दास चतुर्वेदी

निम्नलिखित पत्र और जीवनी के 'हिंट्स' का एक छोटा सा इतिहास है। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी शर्मा अपने विषय में बातचीत करने या लिखने से बहुत घबराते थे। इस बात को मैं अच्छी तरह जानता था। जब वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान हुए थे, उस अवसर पर भी कोई पत्र या लेखक उनके जीवन के विषय में अच्छा लेख नहीं लिख सका। शर्मा जी उन आदमियों में से नहीं थे, जो अपनी शिष्य-मंडली द्वारा अपनी प्रशंसा प्रति सप्ताह पत्रों में छपाया करते हैं। बात-चीत में भी वे किसी को आपबीती सुनाने में अत्यन्त संकोच करते थे। जहाँ तक मुझे मालूम है, उन्होंने अपनी जीवनी के मामूली हिंट्स भी अन्य किसी को नहीं भेजे। फिर ये 'हिंट्स' उन्होंने मुझे कैसे भेज दिये, यह बात बहुत कुछ व्यक्तिगत है। * अपने १६-१-३१ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था--

"आप मेरी जीवनी की घटनाओं के हिंट्स माँग रहे हैं। क्या लिखूँ, कुछ हो भी! आपके पत्र से प्रेरित होकर मैंने अपने जीवन की घटनाओं पर दृष्टि डाली, तो पुराने जख्म ताज़ा हो गये। कई घटनाओं की स्मृति ने तड़पा दिया, कवि की इस उक्ति का अनुभव करा दिया—

"वाय नादानी कि वक़्ते मर्ग यह साबित हुआ;
ख्वाब था जो कुछ कि देखा जो सुना अफ़साना था।"

रात भर मैं यही सोचता रहा, आप बीती लिखूँ, तो क्या लिखूँ। कई आत्मीय और मित्रों के वियोग की दुःखदायक घटनाएँ सिनेमा के चित्रों की तरह आँखों के आगे फिर गईं, भयभीत कर दिया, कहीं से कहीं पहुँचा दिया। कई घटनाओं पर लिखने को जी चाहने लगा। कुछ दिन जीवन और रहा, तो कुछ घटनाओं पर लिखने का विचार है।

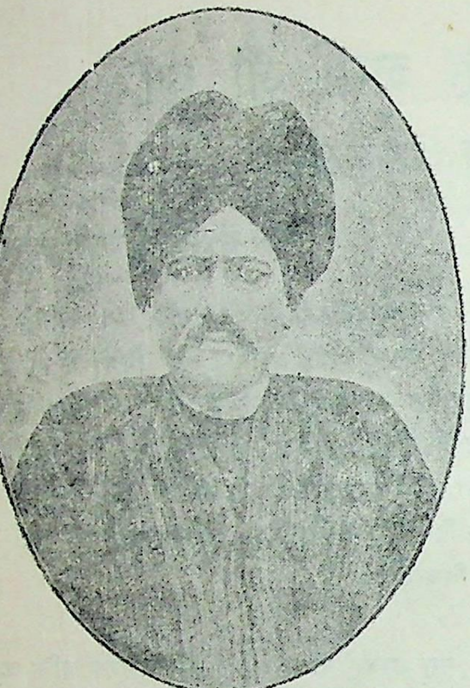
सन् सम्वत् याद रखने में मेरी स्मरण शक्ति बहुत ही निर्बल है। जो मालूम हो सका है, सन् संवत के हिसाब से नोट कराता हूँ। कोई बात ऐसी उल्लेख-योग्य तो है नहीं, पर आपने जिस ढंग से अनुरोध किया है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आप मुझे ख्वाम-ख्वाह ठोक-पीट कर वैद्य बनाना चाहते हैं, वरना 'हमारी ज़िन्दगी क्या और हम क्या' वाली बात है। मुझे तो इस तरह पब्लिक में आते डर लगता है, पर देखता हूँ, आप मुझे भी छापे में छपाकर ही छोड़ेंगे!

जीवनी के हिंट्स

जन्म संवत् १९३३ विक्रमी, फाल्गुन सुदि १२ रविवार। पिता जी का नाम श्रीयुत उमराव सिंह जी, जो गांव के मुखिया, नम्बरदार और प्रभावशाली प्रतिष्ठित परोपकारी पुरुष थे। पैतृक पेशा जमींदारी और काश्त-

* इस प्रसंग का उल्लेख पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' के पद्मसिंह अंक (अगस्त १९३२ ई०) में 'जीवनी के हिंट्स' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। —सं०

कारी । पिता जी के समय में खेंची—राब का व्यवसाय और लेन देन भी होता था, आमदनी अच्छी थी ।



स्व० श्री चौ० उमराव सिंह जी
(स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा के पिता)

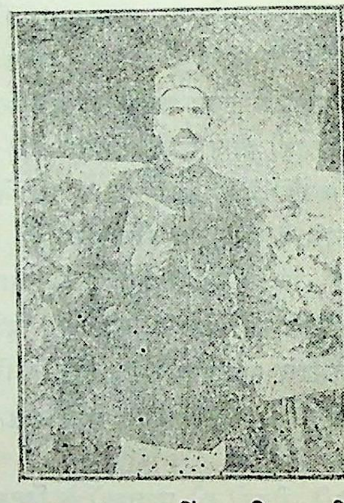
बचपन में १०-१२ वर्ष की आयु में पिता जी से अक्षराभ्यास कराया । फिर मकान पर कई वर्ष तक कई पंडित अध्यापक रखकर संस्कृत में 'सारस्वत', कौमुदी', 'रघुवंश' आदि पढ़ा ।

सन् १८९४ में कुछ दिन तक स्वर्गीय पं० भीमसेन शर्मा इटावा निवासी की पाठशाला में प्रयाग में 'अष्टाध्यायी' पढ़ी । वहाँ से फिर काशी जाकर पढ़ता रहा । फिर मुरादाबाद, लाहौर, ताजपुर (बिजनौर) आदि में पढ़ता रहा । बीच बीच में घर पर रहकर उर्दू-फ़ारसी का अभ्यास एक मुंशी और दूसरे मौलवी साहब से किया ।

सन् १९०४ में गुरुकुल कांगड़ी में कुछ दिन काम, किया, पढ़ाया । उसी समय श्रीयुत मुंशीराम जी (स्वा० श्रद्धानन्द जी) ने हरद्वार से 'सत्यवादी' साप्ताहिक पत्र पं० रुद्रदत्त जी सम्पादकाचार्य के सम्पादकत्व में निकाला था । मैं भी उसके सम्पादकीय विभाग में था । सम्पादन-हिन्दी लेखन पहले पहल 'सत्यवादी' में ही । इस प्रकार कई लेख लिखे थे ।

१९०८ के प्रारम्भ में 'परोपकारी' (मासिक) का सम्पादक होकर अजमेर के वैदिक यन्त्रालय में पहुंचा । वहाँ 'परोपकारी' के साथ ही 'अनाथ रक्षक' का सम्पादन भी कुछ दिन किया ।

सन् १९०९ के प्रारम्भ में ज्वालापुर - महाविद्यालय आया और सन् १९१७ तक महाविद्यालय से सम्बन्ध रहा । भारतोदय' का सम्पादन किया, जो पहले मासिक था, फिर साप्ताहिक हो गया । महाविद्यालय में सम्पादन के अतिरिक्त पढ़ाता भी रहा । महाविद्यालय का मन्त्री भी रहा ।



स्व० पं० पद्मसिंह जी शर्मा
(१९०८-९)

सन् १९१७ में पिता जी का देहान्त हो गया, इससे महाविद्यालय छोड़कर घर आना पड़ा ।

संबत् १९७५ वि० में श्रीयुत बा० शिव प्रसाद जी गुप्त के अनुरोध से उनके ज्ञान मडल में गया । वहाँ उक्त मण्डल से प्रकाशित होने वाली कई पुस्तकों का सम्पादन किया । गौड़ जी और गर्दे जी भी उन दिनों ज्ञान मडल में थे । बिहारी की सतसई के भूमिका भाग का प्रथम संस्करण इसी समय ज्ञान मंडल से प्रकाशित हुआ ।

आश्विन संवत् १९७७ वि० में मुरादाबाद में युक्त प्रांतीय षष्ठ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति बना। इसी वर्ष माता जी का स्वर्गवास हुआ।

संवत् १९८० वि० में 'बिहारी सतसई' पर मंगला प्रसाद पारितोषिक मिला।

संवत् १९८५ वि० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मुज़फ़्फ़रपुर में सभापतित्व किया। इसी वर्ष गुरुकुल-कांगड़ी में हिन्दी प्रोफेसर रहा। १९८६ वि० में 'पद्मपराग' एवं 'प्रबन्ध मंजरी' का प्रकाशन हुआ।

(आजकल मकान पर भगवान यम के आदेश की प्रतीक्षा कर रहा हूँ!) बस।

फुटकर

मुझ से छोटे एक भाई श्री युत रिसाल सिंह हैं। तीन संतति हैं—सबसे बड़ी पुत्री आनन्दी, पुत्र चि० काशी नाथ शर्मा काव्यतीर्थ और चि० रामनाथ शर्मा। चि० काशी नाथ संस्कृत पाठशाला के मुख्याध्यापक हैं। चि० राम नाथ घर का काम करता है।

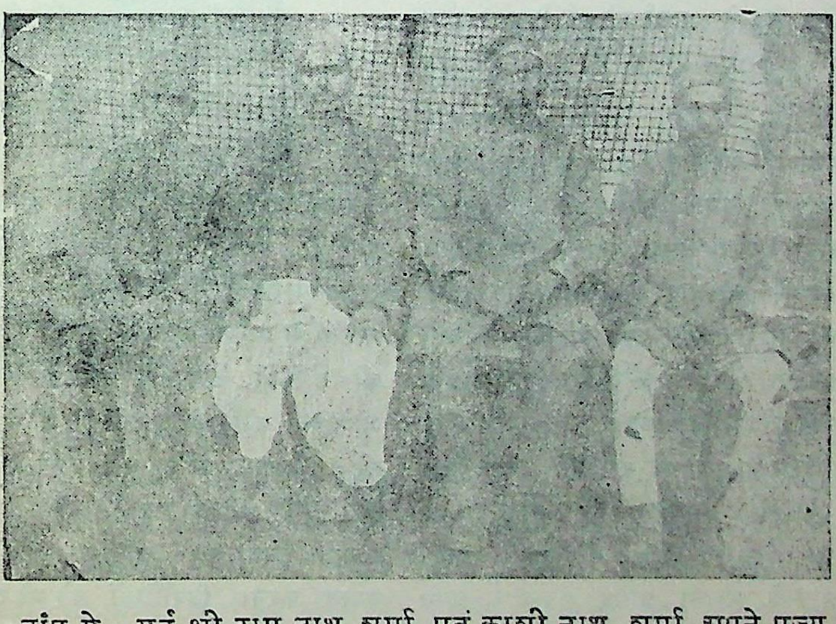
जन्म भूमि— नायक नगला एक छोटा सा गाँव है, जो चाँदपुर-स्याऊ (ई० आई० आर०) रेलवे स्टेशन से ४ कोस उत्तर की ओर है, पोस्ट आफिस चाँदपुर ही है।

पिता जी आर्य सामाजिक विचारों के थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती में उनकी बड़ी श्रद्धा थी! इसी कारण उनकी रुचि विशेष रूप से संस्कृत की ओर हुई। मुझे और कुछ न पढ़ाकर सिर्फ संस्कृत ही पढ़ाई। इसे मैं अपना परम सौभाग्य और पिता जी का असाधारण उपकार मानता हूँ, और अपने तुच्छ जीवन का इसे ही सार समझता हूँ। पिता जी की उदारता से मैं स्वतन्त्र रूप से अनेक स्थानों पर रहकर संस्कृत पढ़ सका, कभी किसी बात की कमी नहीं रही।

बस, यह दो-चार बातें हैं, इनमें से जिसे जिस रूप में आप देना चाहें, दे सकते हैं। बड़ी मुश्किल से लिख सका हूँ, सिर्फ आपके प्रणयानुरोध का पालन किया है।"*

—'सैनिक' 'पद्मसिंह शर्मा अंक' से साभार।

ज्ञानपुर, वाराणसी

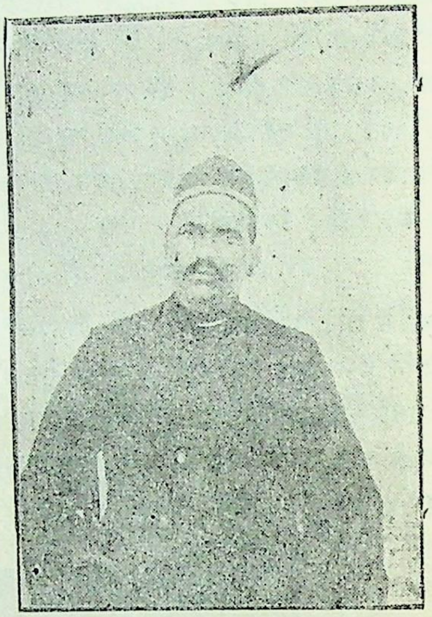


बांए से – सर्व श्री राम नाथ शर्मा एवं काशी नाथ शर्मा अपने पूज्य पिता प० पद्मसिंह शर्मा के साथ, दाईं ओर पं० परमानन्द शर्मा हैं। [प्रस्तुत चित्र १९२१ ई० में पंडित जी की कठिन रुग्णावस्था के समय का है।]

* ये 'जीवनी के हिंट्स' 'विशाल भारत' के पद्मसिंह अंक में भी प्रकाशित हुए थे। स०

पं० पद्म सिंह शर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व

—श्री गणेश लाल शर्मा 'प्राणेश',
एम० ए० (हिन्दी, इतिहास)



स्व० श्री पद्मसिंह शर्मा
(१९१४–१५)

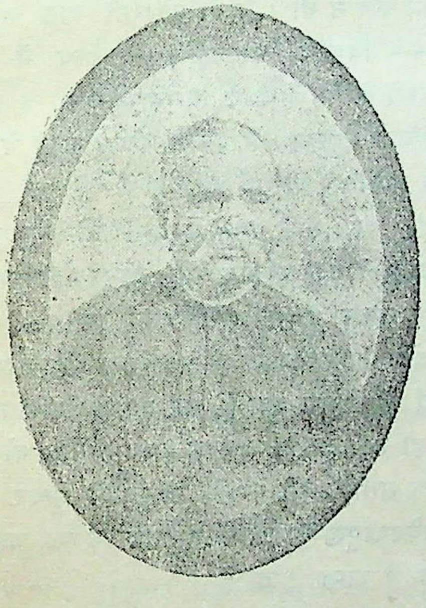
व्यक्तित्व:— भारतवर्ष के मानचित्र में सिंह के समान उत्तर प्रदेश की आकृति बड़ी मनमोहक है। इसके उत्तरी भाग में जिला बिजनौर स्थित है। इसी बिजनौर जिले के एक छोटे से ग्राम नायक नगला में हमारे चरित्र नायक का जन्म हुआ था। नायक नगला में चौधरी उमराव सिंह जी के यहाँ फाल्गुन शुक्ला १२, संवत् १९३३ को पद्म सिंह जी का जन्म हुआ था। चौधरी उमराव सिंह जी सम्पन्न व्यक्ति थे और आर्य सामाजिक विचारों के थे। अतः आपने अपने पुत्र पद्म सिंह को घर पर ही अक्षराभ्यास करा कर फिर पण्डित रखकर संस्कृत एवं मौलवी रखकर उर्दू–फारसी का ज्ञान कराया। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आप प्रयाग, काशी, मुरादाबाद जालंधर और लाहौर में रहे। शर्मा जी बड़े मेधावी छात्र थे। आप की तीव्र बुद्धि एवं प्रतिभा की प्रशंसा आपके गुरु जी ने भी की है।

विद्याध्ययन समाप्त करके सन् १९०४ में आप गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक हो गये। १९०८ ई० में आपने अजमेर में 'परोपकारी' और 'अनाथ रक्षक' का संपादन किया। सन् १९०९ में ज्वालापुर में अध्यापक नियुक्त हुए। वहीं आपने 'भारतोदय' का सम्पादन किया। आपकी साहित्य प्रतिभा, विद्वत्ता और हिन्दी के उत्थान की कामना देखकर तत्कालीन विद्वानों ने आपको युक्त प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति एवं अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद पर प्रतिष्ठित किया था। सम्वत् १९८० में बिहारी सतसई की भूमिका पर आपको मंगला प्रसाद पुरस्कार प्राप्त हुआ। ७ अप्रैल १९३२ ई० को इस महान आत्मा ने परलोक प्रस्थान किया।

शर्मा जी बड़े विनोद प्रिय थे। आप सदैव पर-सेवा में लीन रहते थे। लोभ आपको छू तक नहीं गया था। विनयशीलता में आप अपना सानी नहीं रखते थे। शर्मा जी की निर्भीकता और गुण ग्राहकता बहुत प्रसिद्ध है। आप सच्चे मित्र थे। सरलता, सात्विकता, निरभिमानता के पक्षपाती होते हुए भी स्वाभिमानी थे। शर्मा जी ढोंगियों के शत्रु और विद्वानों के सेवक थे। शर्मा जी उच्च कोटि के अध्यापक भी थे। गरीब विद्यार्थियों की हर प्रकार से सहायता करते थे। साहित्यकारों का और उसमें सक्रिय सहयोग देते थे। अध्ययन करने में सम्मान करना, स्व० साहित्यकारों की कीर्ति-रक्षा के लिए प्रयत्न करना, विरोधियों को भी क्षमा कर देना आदि आप के अनुपम गुण प्रसिद्ध हैं। नौसिखिये कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन देना और उनको हाथ पकड़ कर सरस्वती के मन्दिर में प्रविष्ट कराना अपना धर्म समझते थे। समाज सुधार के कार्यों में भी आप रुचि रखते थे

और उसमें सक्रिय सहयोग देते थे। अध्ययन करने में दिन रात तल्लीन रहते थे, यहाँ तक कि भोजन और शयन भी भूल जाते थे। शर्मा जी की वदान्यता भी बहुत प्रसिद्ध है। दीन-दुखियों, गरीबों, अनाथ विधवाओं को आप आर्थिक सहायता दिया करते थे।

सिर पर खादी की सफेद टोपी, खद्दर का कुर्ता-कोट, धोती तथा पैरों में चमरौवा जूता, यही आपकी स्वाभाविक वेश-भूषा थी। सौम्य मुखाकृति पर मुच्छ-गुच्छ विराजमान रहता था। ओठों पर मन्द हास्य एवं आँखों में निर्मल ज्योति अपना प्रभाव प्रकट करते रहते थे। चाय-पान के आप बहुत आदी थे। इसी एक व्यसन के कारण आप आधुनिक कहलाते थे, शेष सब बातों में आप प्राचीनतावादी थे। आपकी मित्र मंडली में हिन्दी



स्व० पं० नाथूराम शंकर शर्मा

संस्कृत, और उर्दू–फारसी के विद्वान थे। कविवर शंकर जी, रत्नाकर जी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मण नरायण गर्दे, शालग राम शास्त्री, गाङ्गेय नरोत्तम शास्त्री, प्रेमचन्द जी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिशंकर शर्मा, श्रीराम शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी आपके मित्र अथवा भक्त थे। शर्मा जी का व्यक्तित्व प्रभावशाली था।

कृतित्व :— रचनाएँ:—शर्मा जी की अधोलिखित कृतियाँ ज्ञात हुई हैं:—

१. बिहारी सतसई भाग—१
२. बिहारी सतसई भाग—२
३. पद्म-पराग भाग—१
४. प्रबन्ध मंजरी— (संग्रह)
५ हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी
६ गद्य-गौरव— (पाठ्य पुस्तक)
७. पद्म-पराग भाग—२ (अप्रकाशित)

इसके अतिरिक्त शर्मा जी के विभिन्न विषयों पर लिखे प्रसिद्ध लेख तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। नूतन शैली के उद्भावक—शर्मा जी हिन्दी, संस्कृत, उर्दू-फारसी और प्राकृत के प्रकांड पंडित थे। वास्तव में आप हिन्दी के हीरा, संस्कृत के सुधानिधि, उर्दू के उस्ताद, फारसी के फाजिल और प्राकृत के पंडित थे। इन भाषाओं के ग्रन्थों का गम्भीर मंथन करके उनके नवनीत से आपने अपने हृदय एवं मस्तिष्क को स्निग्ध बना लिया था।

आपकी शैली बड़ी रोचक और चमत्कार पूर्ण थी। उर्दू-फारसी के प्रभावपूर्ण शब्दों एवं शेरो-शायरी का हिन्दी के लेखों में प्रयोग करके शर्मा जी ने एक नूतन सृजन किया था। बाबू गुलाब राय जी ने इस शैली के विषय में लिखा है "शर्मा जी की शैली व्यक्ति प्रधान शैली ही कही जायगी, जिस पर व्यंग्य-विनोद का अत्यधिक प्रभाव है। व्यंग्य-विनोद से शैली में एक निराला बाँकपन आ गया है। जो भी हो, उन्हें द्विवेदी युग का शैलीकार मानना ही पड़ता है जिसने भावात्मक और विचारात्मक निबन्धों की रचना गम्भीर रोचक और चमत्कार पूर्ण शैली में की।"

समालोचक:— शर्मा जी अपने समय के सर्वोत्कृष्ट समालोचक थे। वे निर्भीक एवं निष्पक्ष समालोचना के पक्षपाती थे। तुलनात्मक समालोचना का हिन्दी में सूत्रपात आप ही ने किया था। "देव बड़े या बिहारी" इस समस्या को लेकर आप ही हिन्दी साहित्य में उतरे थे। इस समस्या के द्वारा ही अनेक लेख लिख कर आपने हिन्दी साहित्य को तुलनात्मक समीक्षा प्रदान की। आपने भाषा-सुधार, समालोचना-सुधार, और टीका आदि का कार्य करके आचार्य का पद प्राप्त किया था। बिहारी

सतसई की भूमिका में आपने अपने आचार्यत्व का पूर्ण परिचय दिया है। प्रेमचन्द जी के 'सेवा-सदन' कविवर शंकर जी की 'अनुराग रत्न', गुप्त जी की 'भारत-भारती' 'सत्यनारायण कवि की जीवनी' आदि अनेक ग्रन्थों की विद्वत्तापूर्ण एवं निष्पक्ष समीक्षा लिखकर आपने हिन्दी-साहित्य समाज में मूर्धन्य पद प्राप्त किया था।

सम्पादक :—सम्पादक के रूप में भी आपने यथेष्ट ख्याति अर्जित की है। बहुत से साहित्यकार शर्मा जी को सम्पादक जी ही कहते थे। "सत्यवादी", "परोपकारी", अनाथ-रक्षक" "भारतोदय", आदि का सम्पादन आपने बड़े कौशल एवं योग्यता से किया था। इस कौशल के कारण ही आपसे 'सुधा' एवं 'स्वतत्र' तथा 'विशाल भारत' के विशेषांकों का सम्पादन बड़े आग्रह पूर्वक करवाया गया था। कई पत्रों के सम्पादकों को वे अपनी अमूल्य सम्मति एवं मार्ग-दर्शन प्रदान करते रहते थे।

निबन्ध – लेखक एवं रेखा-चित्रकार :— शर्मा जी प्रधानतः समालोचक थे, किन्तु उन्होंने कई सुन्दर निबन्धों का सृजन किया। उनके निबन्धों के विषय भी विविध प्रकार के हैं— साहित्य समीक्षा, जीवनी, संस्मरण श्रद्धाञ्जलियाँ आदि भावात्मक निबन्ध बड़े उच्च कोटि के हैं! आपके ग्रन्थ 'पद्म-पराग' में आपके आलोचनात्मक एवं शुद्ध साहित्यक निबन्धों के दर्शन होते हैं।

पं० पद्म सिंह शर्मा सफल रेखा-चित्रकार माने जाते हैं। हिन्दी में इस विधा का श्रीगणेश आपने ही किया था। आपने हिन्दी को अति उच्च कोटि के रेखा-चित्र प्रदान किये हैं। 'महा कवि अकबर', 'सत्य नारायण कवि रत्न', 'नवनीत लाल चतुर्वेदी' आदि आपके प्रसिद्ध रेखा-चित्र हैं। इस क्षेत्र में हिन्दी साहित्य को आपकी महान देन है। आप सिद्ध-हस्त संस्मरण लेखक भी माने जाते हैं।

पत्र लेखक :—शर्मा जी की ख्याति पत्र लेखक के रूप में भी कम न थी। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिखा है— विशाल भारत के कार्यालय में बीसियों साहित्यकारों के पत्र आते थे, परन्तु शर्मा जी के पत्र की सब लोग बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करते थे। और जब डाक आती थी तो सर्व प्रथम शर्मा जी का ही पत्र खोला जाता था। सभी पत्रों में शर्मा जी का व्यक्तित्व झाँक रहा है। उनके कतिपय पत्र इतने महत्वपूर्ण माने गये हैं कि उनको पं० हरिशंकर शर्मा एव पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने पुस्तकाकार में प्रकाशित भी करवा दिया था। शर्मा जी के पत्र क्या हैं, उस युग का इतिहास उनमें मुखरित हो उठा है। साहित्यिक हास्य-विनोद, नोक-झोंक, भाषा और साहित्य की गम्भीर समस्याएँ, सुन्दर चुटकुले और गवेषणापूर्ण वार्तालाप आदि अनेक बातों का आनन्द उनमें प्राप्त होता है

आचार्य पं० पद्म सिंह शर्मा साहित्य में आकंठ डूबे हुए थे। वे साहित्य के लिए ही जिये और उसके लिए ही मरे। श्री पद्म सिंह शर्मा ने अनेक सुयोग्य कवि एवं लेखक तैयार किये थे। स्व० हरि शंकर शर्मा, आचार्य पं० हरि दत्त शर्मा, स्व० श्री राम शर्मा और बनारसी दास चतुर्वेदी उनके शिष्यों में प्रमुख हैं। आचार्य जी ने निःस्वार्थ भाव से हिन्दी की सेवा की थी। उनका नाम हिन्दी क्षेत्र में अमर है।

—हनुमान गंज, फीरोजाबाद



महाकवि अकबर

साहित्य-सरोवर के सहस्रदल : आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा

—सत्यव्रत शर्मा 'अजेय'

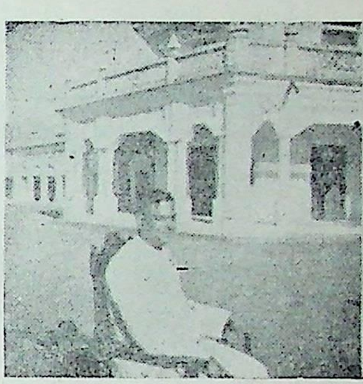
वन्दनीय है भूमि ग्राम नायक नगले की।
जिसने जन्मा लाल हंस सा परम विवेकी॥
दे 'संजीवन भाष्य' अमर कर दिया 'विहारी'।
कवि 'अजेय' वह श्रेय प्रेय के रहे पुजारी॥
धन्य धन्य जग वन्द्य वह आलोचक-मूर्धन्य थे।
पद्मसिंह पण्डित प्रवर, मूर्त्तिमान सौजन्य थे॥

फाल्गुण शुदि १२ सम्वत् १९३३ विक्रमी रविवार को पृथ्वी पर एक ऐसा 'पद्म' खिला था, जिसके 'पराग' से दिग्दिगन्त सुरभित हो उठे थे। उस समाज के उन्नायक एवं साहित्य के अधिनायक ने 'नायक नगले' को अपने शुभ जन्म से अलंकृत किया था।

"जिला बिजनौर निवासी स्व० पंडित पद्मसिंह जी शर्मा नायक नगला को कौन नहीं जानता, जिनकी लेखनी ने सम्पूर्ण हिन्दी जगत् में तहलका मचा दिया था, और बिहारी-सतसई पर 'संजीवन भाष्य' और तुलनात्मक आलोचना लिखकर पं० ज्वाला प्रसाद की ज्वाला शान्त कर दी थी[1]।

महाविद्यालय से सम्बन्ध

ज्वालापुर गुरुकुल महाविद्यालय से आचार्य पं० पद्मसिंह जी शर्मा का अटूट सम्बन्ध रहा है, यह भी सर्व विदित ही है। वेद-तीर्थ पं० नरदेव जी शास्त्री जैसे दिग्गज विद्वान् और कर्मठ व्यक्ति शर्मा जी की प्रेरणा से ही यहाँ विद्यालय में आये थे[2]।



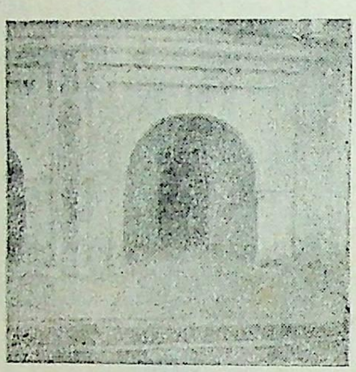
लेखक

सम्वत् १९६६ से १९६८ वि० तक पं० पद्मसिंह जी शर्मा यहाँ विद्यालय ज्वालापुर के मन्त्री रहे। "विरोध-काल में जिन्होंने इस विद्यालय की संरक्षा की, और विद्यालय को उन्नत बना कर संरक्षक कहलाने का मान लिया उनमें श्री पं० पद्म सिंह शर्मा, सम्पादक, विशेष उल्लेखनीय हैं[3]।"

श्री पं० पद्म सिंह जी शर्मा, सम्पादक महाविद्यालय में प्राचीन नवीन हिन्दी साहित्य के प्राध्यापक भी रहे, संस्कृत साहित्य में वह 'कादम्बरी' को साधिकार पढ़ाते थे। शर्मा जी महाविद्यालय अन्तरंग सभा के सभ्य (सभासद्) भी थे। शर्मा जी "आर्य विद्वत्सभा" के भी सभासद् एवं अधिकारी रहे हैं। 'विद्वत्कला' के आप प्रधान थे। महा-विद्यालय की सहायतार्थ भी शर्मा जी सदैव प्रयत्नशील रहे।

१— पं० ब्रह्मानन्द शर्मा चतुर्वेदी : त्यागी ब्राह्मण इतिहास (प्रथम भाग) पृष्ठ— ३३२।
२— महा विद्यालय— वृत्तान्त, सं० १९७२ वि० पृष्ठ— २, ३।
३— वही, पृष्ठ— १४, १५।

कलकत्ता, बाँकीपुर, कानपुर आदि स्थानों में जाकर आपने व्याख्यान दिये, तथा सस्था के हित बहुत परिश्रम किया । सन् १९१८ ई० से १९२८ ई० तक शर्मा जी गुरुकुल म० वि० की अन्तरंग सभा के सदस्य रहे। सम्वत् १९२०–२१ वि० में विद्या-सभा के भी आप सदस्य चुने गये । महाविद्यालय-सभा ने उन्हें अपना प्रतिष्ठित सभासद स्वीकार कर लिया था । सम्वत् १९२९ वि० से महाविद्यालय से बाहर रहते हुए ही शर्मा जी संस्था के हित-चिन्तन में लगे रहे ।



साधना कुटी

भारतोदय का सम्पादन

"सर्व प्रथम इसका (भारतोदय का) प्रकाशन दुगड्डा (गढ़वाल) से सन् १९१२ में हुआ । प्रथम ८ वर्ष दुगड्डा में, १२ वर्ष मुरादाबाद में, फिर ९ वर्ष सहारनपुर (शीतल प्रसाद जी के मन्त्रित्वकाल) में फिर मुरादाबाद में रहा । इन वर्षों में 'भारतोदय' का प्रकाशन केवल हिन्दी में ही हुआ । सन् ६१ से संस्कृत व हिन्दी में प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ ।[1]"

"भारतोदय (साप्ताहिक) चैत्र शुक्ला पूर्णिमा सं० १९७१ वि० से यह साप्ताहिक हुआ ।·········प्रार्थना करने पर पं० पद्म सिंह जी शर्मा ने अंक २५ से इसका सम्पादन प्रारम्भ किया ।·········कविवर पं० नाथूराम 'शंकर' जी की कविताओं से बड़ी सहायता मिली । कल्हण की राज तरंगिणी, हर्ष-चरित, वेदों की कतर ब्योंत, आदि लेखों से यह साहित्य-पत्रिका कहलाने लग गई थी[2] ।"

'भारतोदय' के सम्पादन काल में श्री शर्मा जी हिन्दी जगत् में आराधक से आराध्य बन गये थे । सम्वत् १९७० वि० में महाकवि नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' हरदुआ गंज, अलीगढ़ निवासी ने 'अनुराग-रत्न' नामक ग्रन्थ का समर्पण "श्री मन्महोदय साहित्य विद्या विशारद, काव्य-कानन-केसरी पं० पद्मसिंह जी शर्मा सम्पादक—भारतोदय, मन्त्री आर्य विद्वत् सभा" के श्री चरणों में उसी भाव से किया था, जिस भाव से भक्त भगवान को भव्य भेंट चढ़ाता है ।

राष्ट्र पति के प्रेरक

पं० पद्मसिंह जी ने ही राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद जी को हिन्दी लिखना सिखाया था । इस विषय में प्रकाश डालने वाला उनका पत्र जो कि फीरोजाबाद, आगरा के श्री गणेश लाल शर्मा 'प्राणेश' को लिखा था, यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

छज्जू बाग, पटना
अक्टूबर १४, १९६२

प्रिय श्री शर्मा,

आपका ९ अक्टूबर का पत्र समय पर मिल गया था। स्व० पं० पद्मसिंह जी के साथ मेरा बहुत कम पत्र व्यवहार हुआ है और जो हुआ वह भी इस समय मेरे पास नहीं है। इस सम्बन्ध में आप भी विश्व नाथ शर्मा को लिखें तो शायद मेरी फाइल आपको मिल सके । क्योंकि मेरी सभी फाइलें उन्हीं के यहाँ हैं । उनका पता इस प्रकार है, ३ रकाब गंज रोड, नई–दिल्ली ।

मेरा उनसे परिचय पं० जगन्नाथ प्रसाद द्वारा हुआ था । जब तक वे जीवित रहे मेरा उनसे मित्रता का सम्बन्ध रहा, और हिन्दी में पहले पहल उनकी प्रेरणा से ही मैंने लिखना शुरु किया था । अपने विद्यार्थी जीवन

१— 'भारतोदय' १९७० ई०, पृष्ठ– कवर का तीसरा पेज ।
२— महा विद्यालय ज्वालापुर का वृत्तान्त (सं० १९७२ वि०) पृष्ठ– ४१, ४२ ।

में तो मैंने उर्दू और फारसी पढ़ी थी, पर उनके सम्पर्क में आने पर मेरी रुचि हिन्दी की ओर अधिक बढ़ी।

इस सम्बन्ध में एक बार बनारसी दास जी को मैंने सभी कुछ बतलाया था उन्होंने उसे शायद लेख बद्ध भी किया था। आप कृपया उन्हें लिखकर सहायता ले सकते हैं।

आपका
राजेन्द्र प्रसाद

श्री प्राणेश जी ने आचार्य पं० पद्मसिंह जी शर्मा पर पर्याप्त शोध किया था। उनके नाम लिखे गये उक्त पत्र की प्रतिलिपि हमें श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी के सौजन्य से उनके २-५-७३ ई०के पत्र के साथ उपलब्ध हुई।

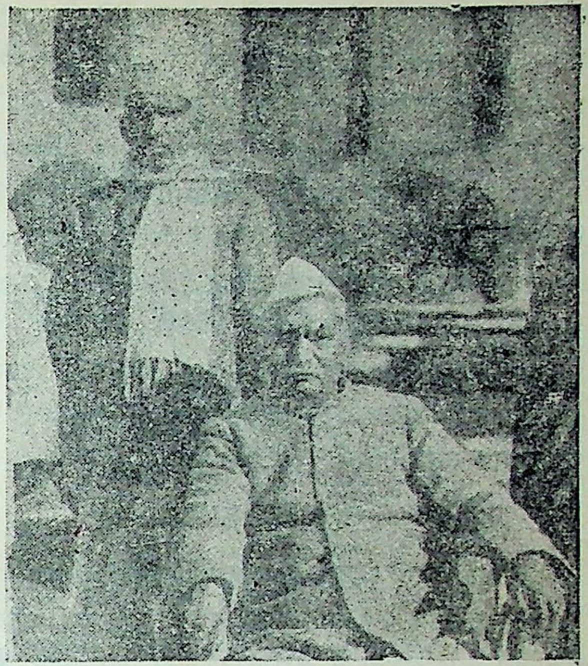
वास्तव में राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी पं०पद्मसिंह जी को अपना गुरु मानने में गौरव का अनुभव करते थे :—

"मथुरा में विरजानन्द-शताब्दी के अवसर पर जब भाई श्री हरिशंकर जी ने श्रद्धेय बाबू जी को अपना परिचय दिया— "मैं आचार्य पद्मसिंह जी का एक क्षुद्र शिष्य हूँ", तो बाबू जी ने तुरन्त ही जवाब दिया था—मुझे भी उनका शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था[1]।"

बिहारी संजीवन भाष्य

बिहारी-सतसई के रचयिता महाकवि बिहारी ने १, १ दोहे में अर्थ-गाम्भीर्य एवं शब्द-सौष्ठव की प्रगल्भता चित्रित कर गागर में सागर भर दिया है। हिन्दी-जगत् में बिहारी-सतसई पर अनेकों भाष्य तथा टीकाएँ लिखी गईं, अनेक विद्वानों ने दोहों के अलग २ क्रम निर्धारित किये। पं० पद्मसिंह जी के संजीवन-भाष्य में आजमशाही क्रम ग्रहण किया गया है, यह क्रम आजम गढ़ के तत्कालीन (सं० १७८१ वि०) अधिकारी आजम खाँ के अनुरोध से जौनपुर के 'हरिजू' कवि ने लगाया था। यह क्रम नायिका— भेद को लेकर चला। अनेक मनीषियों के द्वारा बाँधे गये क्रमों में यही दोहा— क्रम प्रसिद्ध है।

"आधुनिक काल में तीन प्रसिद्ध टीकाएँ तीन प्रसिद्ध साहित्य मर्मज्ञों द्वारा निर्मित हुई हैं। सबसे पहले स्वयं पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने 'संजीवन भाष्य' के लिखे जाने की



पं० रामनाथ शर्मा (सुपुत्र पं० पद्मसिंह शर्मा)
राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद जी के साथ (१९५० ई.)

सूचना दी। जिसके पहले भाग में बिहारी की आलोचना और अन्य कवियों के साथ उनकी तुलना की गई है। दूसरे भाग का केवल प्रथम खंड प्रकाशित हुआ है, जिसमें १२६ दोहों की टीका २८४ पृष्ठों में की गई है। पहला भाग तो सम्वत् १९८५ में ही निकाला था, पर दूसरा भाग बाद में प्रकाशित हुआ। शर्मा जी के स्वर्गवास से भाष्य अपूर्ण ही रह गया। पहले प्रत्येक दोहे का संक्षेप में वक्तृ-बोधव्य बतलाया गया है, फिर अर्थ है इसके पश्चात् भाष्य है, और दोहे की खूबियां दिखाई गई हैं। अन्य कवियों की वैसी ही या उससे मिलती जुलती कविता भी उद्धृत करके तुलना की गई है। पुराने टीकाकारों के मत भी उद्धृत किये गये हैं। अन्त में अलंकार दिये गये हैं और खडन मडन भी है। शर्मा जी ने जो कुछ लिखा है बड़ी सजीव भाषा में लिखा है, और साहित्य की सरणि का भरपूर ध्यान रखा है[2]।"

१— पं० बनारसी दास जी चतुर्वेदी (आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा) 'भारतोदय' दिसम्बर १९७३, पृष्ठ—१६।
२— विश्न नाथ प्रशाद मिश्र 'बिहारी' तृतीयसंस्करण, पृष्ठ— १५८।

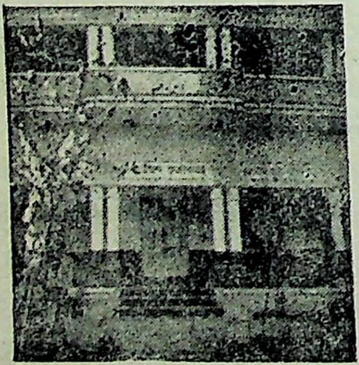
तत्कालीन कुछ विद्वानों ने 'बिहारी-सतसई' के अवगुण ढूंढने प्रारम्भ किये। "पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने सतसई-संहार' के नाम से पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र की भावार्थ प्रकाशिका' टीका की आलोचना 'सरस्वती' में छपवाई। उन्होंने 'सजीवन भाष्य' लिखना आरम्भ किया, जिसकी भूमिका के रूप में पहला खंड प्रकाशित हुआ। इसमें संस्कृत प्राकृत हिन्दी उर्दू के कवियों से बिहारी की कविता की तुलना करके यह दिखलाया गया है कि बिहारी ने जो कुछ कहा वह सबसे बढ़कर है। 'हिन्दी नव रत्न' में बिहारी के कुछ दोष भी दिखाये गये थे, उनका भी इसमें निराकरण है। पुस्तक लिखकर शर्मा जी ने हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का आरम्भ किया[२]।"

महा प्रयाण

७ अप्रैल सन् १९३२ ई० को यह सरस्वती का अमर पुत्र समाज-सेवक एवं साहित्य स्रष्टा अपनी शत सहस्र पखुड़ियों से दिग्दिगन्त में सुरभि विकीर्ण कर सदा के लिये मुद्रित हो गया, परन्तु काव्यानुशीलन-सनेही मधुपों को तो अपने हृदय में स्थित इस सहस्र दल 'पद्म' से सदैव मधुर एवं अमृत तत्व की उपलब्धि होती ही रहेगी।

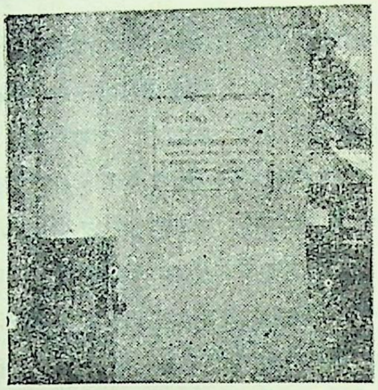
पद्मसिंह-अनुसन्धान भवन

आचार्य पं० पद्मसिंह जी शर्मा का महाविद्यालय ज्वालापुर से जल-कमल सा अटल सम्बन्ध रहा है, उनकी



पद्मसिंह अनुसधान भवन

कीर्ति तब तक अजर अमर रहेगी, जब तक गुरुकुल महाविद्यालय की पावन भूमि में निर्मित "श्री पद्मसिंह अनुसधान भवन" गर्व के साथ आकाश में बातें करता रहेगा, और जब तक हिन्दी साहित्य में आलोचना शास्त्र के अध्येता उसमें बैठ कर चिन्तन-मनन करते रहेंगे। यह दुमंजिला भव्य भवन सचमुच आचार्य जी की स्नेह सिक्त सुधियों को संजोये हुए है।



पं० पद्मसिंह शर्मा अनुसन्धान भवन का शिलान्यास

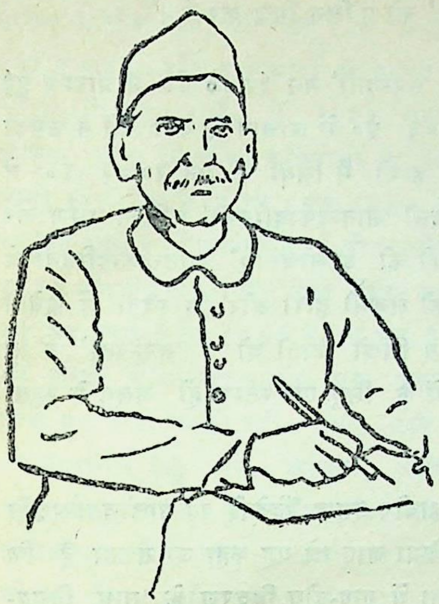
इस भवन का शिलान्यास भी माननीय पं० जवाहर लाल नेहरू प्रधान मंत्री भारत सरकार के कर कमलों द्वारा महा विद्यालय ज्वालापुर की स्वर्ण जयन्ती के शुभ अवसर पर चैत्र शुक्ला ९ सं० २०१६ वि० (सन् १९५९) को सम्पन्न हुआ—

सादर नमन

परम प्रसिद्ध वक्ता, रस-सिद्ध लेखक, कवि-हृदय, समालोचक-सम्राट, यशस्वी पत्रकार आर्य-शिरोधार्य आचार्य पं० श्री पद्मसिंह शर्मा जी के श्री चरणों में आज सम्पूर्ण हिन्दी जगत् श्रद्धावनत है। सचमुच वह इतने महनीय थे कि उन्हें प्रणाम कर हम स्वयं प्रणम्य बनते हैं।

— आचार्य गुरुकुल महा विद्यालय,
ज्वालापुर,

२— वही, पृष्ठ १६६।



हिन्दी-आलोचना की परम्परा में आचार्य पद्मसिंह शर्मा का योगदान

—अम्बा प्रसाद 'सुमन', डी० लिट्०

विश्व के काव्य-साहित्य में वाल्मीकि प्रथम कवि के रूप में तो प्रसिद्ध हैं ही, पर हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वे ही प्रथम आलोचक भी हैं। उस प्रथम कवि की शोकानुभूति ने जिस प्रथम श्लोक का रूप धारण किया, उसी की आलोचना स्वयं उस आदि कवि ने इन शब्दों में की थी—

"पादबद्धो ऽक्षरसमस्तंत्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ।।"
(वाल्मीकीय रामा०, बालकाण्ड, सर्ग २/श्लोक १८

उक्त श्लोक में जिस अनुभूति और अभिव्यक्ति की ओर संकेत किया गया है, उसी की विवेचना में नाट्शास्त्र प्रणेता भरत मुनि (ई० पू० २०० वर्ष से लेकर रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ (सन् १६२० ई०) तक अनेक संस्कृत-आचार्य विवेचन-स्थापना करते रहे, जिन्हें, रस, ध्वनि, औचित्य, गुण, रीति, वक्रोक्ति तथा अलकार नाम के सिद्धान्तों से पुकारा गया।

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में सुर, तुलसी आदि महाकवियों ने कविता के भाव-पक्ष को इतनी ऊँचाई पर पहुँचा दिया था कि रीति काल के कवि उससे ऊँचे नहीं उठ सकते थे। अतः उन कवियों ने कला-पक्ष को ही अपने काव्य का आधार बनाया। रीति कालीन कवि आचार्य ही अधिक थे, वे स्वभावतः कवि बहुत कम थे। तत्कालीन राजाओं के दरबारों में सभापांडित्य के लिए आचार्यत्व उन्हें अधिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त कराता था। सत्रहवीं सदी के उन रीतिकालीन आचार्य-कवियों के समक्ष जयदेव, पंडितराज जगन्नाथ आदि की कृतियाँ ही आदर्श रूप में रह गई थीं। जयदेव (१३वीं शती) के 'चन्द्रालोक' में एक श्लोक में अलङ्कार का लक्षण है और उदाहरण भी। पंडितराज जगन्नाथ (सन् १६२० ई०) ने भी अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में अपने ही रचित उदाहरणों का उपयोग किया था। इस तरह सोलहवीं-सत्रहवी शती में संस्कृत-साहित्य के प्रत्येक आचार्य में कवि भी समाविष्ट था। यही परम्परा संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश में भी आयी, और फिर इसी का अनुकरण हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने भी किया। चिन्तामणि, कृपाराम, केशव, भूषण, मतिराम आदि में हम उसी शैली का अनुकरण पाते हैं। राजा जसवन्त सिंह ने तो जयदेव के 'चन्द्रालोक' का अनुवाद दोहों में, 'भाषाभूषण' नाम से किया ही था। सारांश यह है कि रीतिकालीन आचार्य मौलिक विवेचन में सफल नहीं हुए। वे न पूर्ण आचार्य बन सके और न सच्चे कवि। संस्कृत के आचार्यों की व्यावहारिक आलोचना के दर्शन तो हमें केवल

टीकाओं में अधिक होते हैं। वे मूल ग्रन्थों की रचना तो सिद्धान्त-निरूपण के लिए ही किया करते थे। अतः रीतिकाल तक व्यावहारिक आलोचना का जन्म हिन्दी में न हो सका। पद्य वैसे भी आलोचना के लिए गद्य की अपेक्षा अनुपयुक्त ही है।

विशुद्ध साहित्यालोचना का जन्म वास्तव में हिन्दी-गद्य-काल के भारतेन्दु युग में ही माना जा सकता है। श्री बालकृष्ण भट्ट (हिन्दी प्रदीप, १८७७ ई०), और श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (आनंद कादंबिनी, १८८१ ई०) ने अपनी-अपनी पत्रिकाओं में जो पुस्तक-समीक्षाएँ लिखी थीं उन्हें हम परिचयात्मक समीक्षा कह सकते हैं। यही शैली आगे प्रौढ़ बनकर आयी। इसी के विशाल रूप को हम महावीर प्रसाद द्विवेदी में देखते हैं। हिंदी आलोचना में भाषा-परिष्कार की दृष्टि से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान सदैव स्मरण किया जायगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रथमतः जिस दृष्टिकोण से आलोचना-पद्धति का बीज-वपन किया था, उसके अंकुरों को आचार्य द्विवेदी जी ने प्रवर्धित किया। द्विवेदी जी ने काव्य की आलोचना करते हुए अपना यह निर्णय दिया कि भाव, भाषा, शब्द-चयन, छन्द, कथाविस्तार आदि का औचित्य ही काव्य का वास्तविक सौन्दर्य है। व्याकरणिक अशुद्धियों के पकड़ने में द्विवेदी जी की निगाह बड़ी पैनी थी। 'कालिदास की निरंकुशता' में उन्होंने कालिदास के भाषा विषयक दोषों को ही अधिक व्यक्त किया है।

द्विवेदी युग में हिन्दी के अन्य विद्वानों में भी व्याकरणिक त्रुटियाँ पकड़ने की प्रवृत्ति बढ़ गयी थी। द्विवेदी जी की व्याकरणिक मीन-मेख से लोग इतने क्षुब्ध हो गये थे कि जब कालिदास की 'निरंकुशता' पुस्तक प्रकाशित होकर आयी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी 'मनसाराम' उस पर गिद्ध की तरह टूटे और व्याकरणिक अशुद्धियाँ खोजने लगे। द्विवेदी जी ने उस पुस्तक में "बूँद" और "रामायण" शब्दों का प्रयोग पुंलिंग में किया था। अतः जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने उसकी प्रत्यालोचना करते हुए लिखा था कि—"जब तक मैं इधर दूसरा लेख तैयार करूँ, तब तक द्विवेदी महाराज आप कृपा करके 'बूँद' और 'रामायण' को पुंलिंग सिद्ध कर दें।"

प्रयाग से 'सरस्वती' सन् १९०० ई० में प्रारम्भ हुई और सन् १९०३ ई० में आचार्य द्विवेदी जी ने उसका सम्पादन अपने हाथों में लिया। सन् १८८१ ई० में श्री प्रेमघन अपनी 'आनन्दकादम्बिनी' पत्रिका प्राम्भ कर चुके थे। पुस्तकों की आलोचनाएँ आनन्दकादम्बिनी में 'प्रेमघन' जी की लेखनी द्वारा और 'सरस्वती' में द्विवेदी जी की कलम से लिखी जाती थीं। 'सरस्वती' में तो पुस्तक-समीक्षाओं के लिए एक स्तम्भ ही अलग से रहता था।

आचार्य महावीर प्रसाद 'द्विवेदी' की आलोचना-पद्धति का नामकरण किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि उनकी आलोचना में गुण-दोष विवरण के साथ विषय-वस्तु का परिचय और उसके सम्बन्ध में अच्छी बुरी होने का निर्णय दे दिया जाता था। उनकी आलोचना को हम 'निर्णयात्मक आलोचना' कह सकते हैं। द्विवेदी जी की आलोचना-पद्धति को ही मिश्र बन्धुओं ने आगे बढ़ाया। 'मिश्र बन्धुविनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' ग्रन्थों में वैसी ही गुण-दोषमयी-निर्णयात्मक आलोचना के दर्शन होते हैं।

मिश्रबन्धुओं को संस्कृत का गभीर ज्ञान न था। हिन्दी के रीति कालीन आचार्यों के रीति-ग्रन्थों को पढ़कर उन्होंने काव्य शास्त्र का अध्ययन किया था। इसीलिए मिश्र बन्धुओं की आलोचना में हमें विस्तृत-गभीर अध्ययन, सूक्ष्म अन्वेक्षण बुद्धि एवं मर्मग्राहिणी प्रज्ञा का अभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि वे कहीं-कहीं अपने काव्यमूल्यांकन में भूलें भी कर बैठे हैं। सूर सागर में एक पद है, जिसमें एक सखी कृष्ण के प्रति अपना विनोद या परिहास व्यक्त कर रही है। कथन है—'सूरदास प्रभु वै अति खोटे कारो कृतहि न मानें।" इसके सम्बन्ध में मिश्र बन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में लिखा है कि सूर ने दो-चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा की है। इससे स्पष्ट है कि मिश्र बन्धु उक्त चरण में भाव-व्यंजना को नहीं समझ सके।

सन् १८७७ ई० में श्री भट्ट जी ने 'हिन्दी-प्रदीप' मासिक प्रारम्भ किया था। सन् १९०७ ई० में पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी और शेख़ सादी की तुलना प्रारम्भ कर दी थी। वे १९०८ ई० से १९१२ तक सरस्वती में संस्कृत और हिन्दी की कविताओं के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावों की परीक्षा करते रहे। सन् १९३२ ई० में पंडित पद्मसिंह शर्मा को बिहारी सतसई की आलोचना (भाग १) पर श्री मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका था। अतः हम कह सकते हैं कि १८७७ ई० से सन् १९०६ ई० तक की हिन्दी आलोचना-पद्धति एक प्रकार से परिचयात्मक रूप में ही चलती रही। उसमें संस्कृत काव्यशास्त्र पर आधारित रस, भाव, व्यंजना, अलंकार, वक्रोक्ति, शब्द-शक्ति आदि की गूढ़ मार्मिक विवेचना का पाण्डित्य दृष्टिगोचर नहीं होता। तब प्रायः मन माने ढंग से अच्छे-बुरे का फैसला दे दिया जाता था।

सन् १९१८ ई० (संवत् १९७५ वि०) में "बिहारी की सतसई" (भूमिका भाग) का प्रथम संस्करण ज्ञान-मंडल, काशी से पंडित पद्मसिंह जी की देखरेख में प्रकाशित हुआ। इसने वस्तुः तुलनात्मक समालोचना का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया। पंडित पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना पर दृष्टि डालने पर विदित हो जाता है, कि उस व्यक्ति को संस्कृत, प्राकृत, फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य का कितना विस्तृत और गंभीर ज्ञान था। उन भाषाओं के साहित्य में पाये जाने वाले न मालूम कितने छद उनके मानस-पटल पर अंकित थे? मल्लिनाथ आदि भाष्यकर्ता जिस प्रकार अपनी टीकाओं में कोस, रस, भाव, अलंकार शब्द-शक्ति और व्याकरण आदि सोदाहरण प्रस्तुत करते चलते थे, ठीक उसी प्रकार पंडित पद्मसिंह शर्मा अपने भाष्य के मार्ग में भाव- तुलना के लिए संस्कृत, फारसी के अनेक उदाहरणों सहित उनकी समीक्षा बड़ी बारीकी के साथ प्रस्तुत करते हैं और शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर बिहारी की वाग् विभूति की गरिमा को सर्वांग रूपेण सिद्ध करते हैं।

'बिहारी की सतसई' (तुलनात्मक समालोचना) ग्रन्थ को शर्मा जी ने पाँच अध्यायों में विभक्त किया है—

(१) सतसई का सौष्ठव, (२) बिहारी का विरह वर्णन (३) बिहारी का व्यापक पाण्डित्य, (४) दोष - परिहार (५) सतसई-संहार।

'सतसई का सौष्ठव' अध्याय में बिहारी के ६७१ वें दोहे को लिखकर उसकी तुलना में पंडित पद्मसिंह शर्मा ने गाथा सप्तशती की एक गाथा भी प्रस्तुत की है। दोनों की तुलना करते हुए शर्मा जी अपने शास्त्रीय तर्कों को जिस पाण्डित्यपूर्ण शैली में व्यक्त किया है, वे यहाँ द्रष्टव्य हैं—

बिहारी का दोहा

"अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥"६७१॥

गाथा

"अण्णाणं वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइं।
णअणाइं सुन्दरीणं तह विहुदट्ठुंण जाणन्ति॥"(५/७०)
(अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मल धवलानि दीर्घ कृष्णानि।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति॥)

गाथा का भाव

और सुन्दरियों के चेहरों पर भी घनी पक्षों वाली-श्वेत, श्याम रंग की, बड़ी-बड़ी आँखें हैं, तो भी देखना नहीं जानतीं (इतनी कसर है।)— गाथाकार ने नेत्रों का "नखसिख" लिखने में कोई कसर छोड़ी नहीं, "पक्ष्मण", "धवल", "कृष्ण", 'दीर्घ" सब कुछ हैं, फिर "सुन्दरियों" के सहारे उनमें और भी बल आ गया है। इतने पर भी देखना न जानें तो दुर्भाग्य उनका! यहाँ "द्रष्टुं न जानन्ति" की असंलक्ष्य क्रम व्यंग्यध्वनि ने गाथा के चमत्कार पर कुछ भारी सा पर्दा डाल दिया है। देखना नहीं जानतीं, क्यों? कोई विचित्र बीमारी तो नहीं है। कहीं चित्रलिखित आँखें तो नहीं हैं?

पर वाह जी बिहारी लाल! धन्य तुम्हारी प्रतिभा! "यह प्रतिभा औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।"

बात वही है पर देखिये तो आलम ही निराला है। क्या तानकर 'शब्द-वेधी' नावक का तीर मारा है! लुटा ही दिया! एक "अनियारे" पन ने "धवल", कृष्ण पक्ष्मल—सबको एक अनी की नोंक में बीधकर एक ओर रख दिया। और वाह रे "चितवनि"! तुम्हारी चितवन की ताब भला कौन ला सकता है! फिर "सुन्दरी" और "तरुणी" में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुन्दरी) वशीकरण का खज़ाना है तो दूसरी (तरुणि) खान हैं। और तो 'सुजान" फिर कविता की खान ही ठहरा। इस एक पद पर तो एड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही क़ुर्बान है।

"वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।"

लोहे की यह जड़ लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी! भावुक सहृदयों के वे हृदय ही इसकी कुछ दाद देंगे जो इसकी चोट से पड़े तड़पते होंगे।

यह दोहा 'अप्रस्तुत प्रशंसा' या समासोक्ति' के रूप में कवि की कविता पर भी पूर्णतया संघटित होता है, और आश्चर्य नहीं—औचित्य चाहता है कि ऐसा ही हो—यह कवि ने अपनी कविता की ओर इशारा किया है।

अनेक सतसइयों को सामने रखकर इसे देखने पर इस 'व्यतिरेक' और 'भेदकातिशयोक्ति' की हृदयंगम यथार्थता समझ में आ सकती हैं।"

—(आचार्य पद्म सिंह शर्मा)

किसी कविता खण्ड की अर्थावगति के लिए उसकी भाषा का ज्ञान पाठक के लिए आवश्यक है। छन्द की अर्थावगति होने पर ही पाठक काव्यगत बिम्ब को तथा उससे अभिव्यक्त भाव को समझ पाता है। तत्पश्चात वह पाठक जब अपनी मेधा, प्रतिभा, शास्त्र ज्ञान, तर्क-शक्ति आदि से सूक्ष्मता के साथ गुण-दोष की विवेचना करता है, तब वास्तविक आलोचना का स्वरूप उपस्थित होता है। तुलनात्मक आलोचना के लिए तो यह परम आवश्यक है कि आलोचक-पाठक दोनों तुलनीय छन्दों की भाषा और साहित्य को भी पूरी तरह समझें। अतः उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा का कितना गम्भीर और विस्तृत ज्ञान था। शब्दार्थ की सूक्ष्म छवियों को जानने वाला ही 'सुन्दरी', 'तरुणी' और 'सुजान' शब्दों के अन्तर को पकड़ सकता है। गाथाकार की सुन्दरी के नेत्र चार विशेषणों से सयुक्त हैं—(१) पक्ष्मल (२) धवल (३) दीर्घ, (४) कृष्ण। किन्तु बिहारी की तरुणी के नेत्र केवल दो विशेषणों से व्यक्त हैं—१) अनियारे, (२) दीरघ। एक 'अनियारे' विशेषण ने ही 'पक्ष्मल', 'धवल' और कृष्ण विशेषणों को कैसा पछाड़ा है और चितवनि (अकेली संज्ञा) ने गाथाकार के 'द्रष्टुं न जानन्ति' (वाक्य) को कैसा धर दबाया है; इसे पं० पद्म सिंह शर्मा ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण शास्त्रीय व्याख्या के माध्यम से अच्छी तरह समझा दिया है। इसके लिये कोई भी समझदार उन्हें दाद दिये बिना नहीं रह सकता। इतने पर भी यदि कोई 'समझदार' मौन रहता है तो उसका यह मौन स्व० पद्मसिंह शर्मा की आत्मा को स्वर्ग में सदैव सालता रहेगा।

'बिहारी-सतसई' में ३०८ वीं संख्या का एक दोहा है जिसमें विरहिणी नायिका के विरह की दशा का वर्णन है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने उसका उल्लेख करके उससे फ़ारसी और उर्दू के शेरों का मुक़ाबला किया है। दोहा, फारसी-शेर और उर्दू-शेर इस प्रकार हैं—

बिहारी का दोहा—

"जो वाके तन की दशा देख्यौ चाहत आप।
तौ बलि नैंकु बिलोकिए चलि औचक चुपचाप॥"

(बिहारी दो० ३०८)

फ़ारसी का शेर

"गुफ़्ता बूदम् चु बियाई ग़मे-दिल बा तो बगोयम्।
चे बगोयम् के ग़म अज़ दिल बरवद चूं तो बिआई* ॥"

—(शेख सादी)

* प्रेमी अपने प्रेम पात्र से कहता है कि मैं कहता था कि तू आवे तो दिल का ग़म तुझसे कहूँ। पर अब क्या कहूँ, क्यों कि जब तू आता है, तब दिल से ग़म ही जाता रहता है।

उर्दू का शेर

"उनके देखे से जो आ जाती है रौनक़ मुँह पर।
वह समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।।"

—(ग़ालिब)

उपर्युक्त तीनों कविताओं के काव्य-सौन्दर्य की तुलना करते हुए पं० पद्मसिंह शर्मा कहते हैं कि—"हमारी राय में दोहा उक्त दोनों शेरों से बहुत उत्कृष्ट है। इन शेरों में तो यही पाया जाता है कि प्रेमपात्र के पहुंचने या उसे देखने पर ही प्रेमी की हालत बदल जाती है। पर दोहे में 'औचक' 'चुपचाप' शब्दों से यह ध्वनि निकलती है कि यदि अचानक और चुपचाप न चले और किसी प्रकार तुम्हारे चल पड़ने की खबर भी उस तक पहुंच गई, तो तुम्हारे पहुंचने से पहले इस शुभ सवाद के पहुँचते ही— उसकी दशा और से और हो जायेगी जिससे आप उसे उस दयनीय अवस्था में न देख सकेंगे जिसमें, दिखाना अभीष्ट है।' — (आचार्य पद्मसिंह शर्मा)

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शर्मा जी में शब्द-शक्ति, अलंकार और भाव-सूक्ष्मता को पहचानने और उन्हें मनोरम भाषा में व्यक्त करने की कितनी सबल क्षमता थी! हिन्दी आलोचना में हृदय-स्पर्शिनी सरस एवं प्रभावमयी भाषा लिखने वाले दो आलोचक ही हमारी दृष्टि में उल्लेखनीय हैं— प्रथम आचार्य पद्मसिंह शर्मा और द्वितीय श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी जिन्हें हम शुक्ल-सदन के आगे-पीछे के दो स्तम्भ कह सकते हैं। इनमें पं० पद्मसिंह शर्मा तो तुलनात्मक आलोचना के प्रमुख प्रवर्तक एवं आद्याचार्य ही हैं। आचार्य पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना-पद्धति का ही प्रभाव था कि पहले मिश्र बन्धुओं ने "देव और बिहारी" पुस्तक लिखी और फिर उसके उत्तर में लाला भगवानदीन ने "बिहारी और देव" की सृष्टि की। हम प कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन को आचार्य पंडित पद्मसिंह जी शर्मा का अनुगामी कह सकते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" ग्रन्थ में पं० पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना की प्रशंसा में लिखा है—

"पंडित पद्म सिंह शर्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमें उस साहित्य-परंपरा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्यसप्तशती' और 'गाथासप्तशती' के बहुत से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा-पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परम्परा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्घाटन भी साहित्य-समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है। हिन्दी के दूसरे कवियों के मिलते-जुलते पद्यों को बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक़ पैदा किया। इस पुस्तक में शर्मा जी ने उन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहार किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिए बिहारी पर किये गये थे।"—

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

हिन्दी आलोचना के मूल और विकास पर एक दृष्टि डालने के उपरान्त हम यह कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी की परिचयात्मक आलोना को तथा द्विवेदी जी की व्याकरणिक, शुद्धि – परक, कठोर, नैतिक, निर्णयात्मक आलोचना को तुलनात्मक, उल्लसित, भावपरक, शास्त्रीय आलोचना का रूप प्रदान करने में पं० पद्मसिंह शर्मा का नाम सदा आदर के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। उनमें उल्लासमयी, भावतरल भाषा लिखने की अद्भुत शक्ति थी। निस्सन्देह वे वाणी के पंडित और हमारी हिंदी के रससिद्ध एवं वरेण्य आलोचक थे।

८/७ हरिनगर, अलीगढ़

बिहारी सतसई के सम्पादन की परम्परा

—डा० किशोरी लाल गुप्त,
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

(१) बिहारी-सतसई सम्बन्धी साहित्य

अपने गुण-धर्म के कारण बिहारी सतसई के दोहे सदा से रसिकों के कठ हार रहे हैं। यदि अक्षर कामधेनु हैं, तो बिहारी सतसई में— ऐसी भी मान्यता है। यही कारण है कि रामचरित-मानस को छोड़कर जितना साहित्य इस ग्रंथ के सम्बन्ध में विरचित हुआ, किसी भी अन्य हिन्दी काव्य ग्रंथ पर उतना साहित्य नहीं रचा गया। यह समस्त साहित्य निम्नांकित कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है —

(क) क्रमीकरण :—बिहारी ने सतसई के दोहों को कोई विशिष्ट-क्रम नहीं दिया था। जिस क्रम से वे रचे गये थे, उसी क्रम में वे उनकी पोथी में न्यस्त थे। 'बिहारी सतसई सम्बन्धी साहित्य' में रत्नाकर जी ने बताया है कि पश्चात् कालीन तेरह सतसई प्रेमियों ने इसके १३ क्रम लगा दिए थे ! इनमें से कुछ पर आगे विचार गया किया है।

(ख) अन्य छंदों में पल्लवीकरण— बिहारी सतसई के दोहों ने लोगों को इतना मुग्ध कर लिया था कि अनेक लोगों ने इसके भावों को अन्य छंदों में पल्लवीकृत किया। यह पल्लवीकरण दो प्रकार का है, एक तो दोहों के भावों को लेकर कवित्त सवैयों में विकसित किया गया। ऐसा पल्लवन सबसे पहले जयपुर के कृष्ण कवि ने सं० १७८२ में किया। इसे सतसई की कवित्तबद्ध टीका कहा जाता है। सं० १९२७ में कनक भवन के महंत जानकी प्रसाद उपनाम रसिक बिहारी ने 'रसकौमुदी' नाम से सतसई के दोहों का कवित्त सवैयों में विशदीकरण किया। इसके पश्चात् इसी प्रकार का पल्लवन ईश्वरी ने सं० १९६१ में 'सवैया छंद' नाम से किया। कृष्ण कवि पल्लवन कार्य में अत्यन्त सफल हुए हैं। ईश्वर कवि उतने सफल नहीं हैं।

पल्लवीकरण का दूसरा प्रकार सतसई के दोहों पर कुंडलियाँ लगाना रहा है। सबसे पहले चंद कवि ने पठान सुलतान के लिए पठान सुलतान छाप से सं० १७६१ के आसपास सतसई के दोहों का कुंडलीकरण किया। अन्य कुंडलीकार निम्नांकित हैं—

१. नवाब जुल्फिकार अली–सं० १९०३
२. ईश्वरी प्रसाद कायस्थ–सं० १९१० के आसपास
३. गंगाधर कृत उपसतसइया—
४. पंडित अम्बिका दत्त व्यास कृत बिहारी विहार– सं० १९४८
५. बाबा सुमेर सिंह साहबजादे– बिहारी सुमेर– स० १९५५-६० वि०
६. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत सतसई शृंगार अपूर्ण)

रत्नाकर जी ने राधाकृष्ण चौबे कृत सतसई की एक और पद्य टीका का उल्लेख मिश्रबंधु विनोद (१२०३) के आधार पर किया है। इसे उन्होंने स्वयं नहीं देखा था। अतः इसके सम्बन्ध में और कोई विवरण नहीं दिया है। यह टीका सं० १८५० के पूर्व की है। कवि चित्रकूट का रहने वाला है। सभा की प्रथम त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट में इसका विवरण है।

(ग) सतसई के संस्कृत पद्यानुवाद : संस्कृत से हिन्दी अनुवाद बहुत हुआ है, हिन्दी से संस्कृत अनुवाद प्रायः नहीं के बराबर। बिहारी सतसई को यह गौरव प्राप्त है कि इसके दो दो पद्यानुवाद संस्कृत में हुए हैं। पहला संस्कृत अनुवाद आर्या छंदों में है। इसे सं० १८३७ में काशी नरेश महाराज केतसिंह के प्रधान कवि प० हरि प्रसाद जी ने किया था। यह आर्यागुंफ टीका है।

दूसरा पद्यानुवाद 'श्रंगार सप्तशती' नाम से पं० परमानन्द ने किया था। उन्होंने सं० १९२५ में इसे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द को समर्पित किया था। यह टीका

दोहों में है। इसमें पहले संस्कृत अनुवाद वाला दोहा है, फिर सतसई का मूल दोहा, तदनंतर संस्कृत में विस्तृत टीका है। अनुवाद अत्यन्त सरस है।

(घ) उर्दू पद्यानुवाद :— सतसई के दो उर्दू पद्यानुवाद भी हुए हैं। एक है मुंशी देवी प्रशाद जी प्रीतम का 'गुलदस्तए बिहारी'। यह अनुवाद सं० १९८१ में साहित्य सेवा सदन काशी से प्रकाशित हुआ था। इसकी एक प्रति मेरे पास है। दूसरा पद्यानुवाद है······ 'गुलजारे बिहारी'। यह अनुवाद सुप्रसिद्ध राधेश्याम कथावाचक के राधेश्याम प्रेस बरेली से छपा था।

(ङ) टीकाएँ :—बिहारी सतसई की जितनी टीकाएँ हुई हैं रामचरित-मानस को छोड़कर अन्य किसी ग्रंथ की उतनी टीकाएँ नहीं हुई हैं। रत्नाकर जी ने बिहारी रत्नाकर को भी लेकर कुल ५३ टीकाओं का विवरण दिया है। उनमें ऊपर वर्णित पल्लवीकरण वाले दसों ग्रंथ एवं संस्कृत तथा उर्दू के चारों पद्यानुवाद भी सम्मिलित हैं। इन्हें हटा देने पर भी टीकाएँ चालीस के लगभग हैं। इनमें से प्रमुख निम्नांकित हैं—

१- कृष्ण लाल की टीका— सं० १७२० वि०। यह बिहारी के पोष्य पुत्र निरंजन कृष्ण की टीका है और सतसई पर लिखी पहली टीका है।

२- मानसिंह कवि विजयगढ़ वाले की टीका- १७३४ वि०

३- अनवरचन्द्रिका-शुभकरण,कमलनयनकृत-१७७१ वि०।

४- अमरचन्द्रिका टीका—सूरतिमिश्र कृत—१७९४ वि०।

५- रसचन्द्रिका टीका—ईसवी खाँ कृत—सं० १८०९ वि०।

६- हरिप्रकाश टीका—हरिचरणदासकृत-सं०१८३४ वि०।

७- सतसैया वर्णार्थ या देवकी नन्दन टीका – ठाकुर कवि कृत– सं १८६१ वि०।

८- लाल चन्द्रिका टीका लल्लू जी 'लाल' कवि कृत— प्रथम संस्करण १८१९ ई० (सं० १८७६ वि०) में कलकत्ता से, द्वितीय संस्करण १८६४ ई० (१९२१ वि०) में लाइट प्रेस काशी से अंबिकादत्त व्यास के पिता पं० दुर्गादत्त व्यास दत्त कवि द्वारा प्रकाशित हुआ। १८९६ ई० (१९५३ वि०) में इसका एक संस्करण सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने सपादित करके निकाला। अब इसका एक संस्करण नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित हो रहा है। संपादक हैं श्री सुधाकर पाण्डेय एम० पी०, प्रधान मंत्री नागरी प्रचारिणी सभा काशी। लल्लू जी ने इसमें हरजू मिश्र के आजमशाही क्रम का अनुकरण किया है। अर्थ हरिप्रकाश टीका एवं कृष्ण लाल की टीका के आधार पर है।

९ प्रभु दयाल पांडे की टीका — सं० १९५३ में कलकत्ता के बंगवासी आफिस से प्रकाशित। यह खड़ी बोली में लिखित प्रथम टीका है और पर्याप्त अच्छी है।

१०- संजीवन भाष्य– आचार्य पद्मसिंह शर्मा कृत। यह केवल १२६ दोहों की टीका है। इसका प्रथम संस्करण सं० १९७५ में ज्ञानमंडल प्रेस वाराणसी से हुआ, द्वितीय संस्करण सं० १९७९ मे बेताब प्रिंटिंग वर्क्स दिल्ली से हुआ। इसमें दोहे हरजू मिश्र के आजमशाही क्रम से हैं। शर्मा जी अपनी इस टीका के लिए परम प्रख्यात हैं। इसी पर इन्हें सं० १९७९ में १२००) का 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्राप्त हुआ था।

११- बिहारी बोधिनी टीका– लाला भगवानदीन कृत– सं० १९७८ वि०। यह विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है और उनमें अत्यन्त प्रिय है।

१२- बिहारी रत्नाकर– जगन्नाथ दास रत्नाकर कृत– १९२२ ई० (१९७९ वि०) यह सतसई की सर्वश्रेष्ठ टीका है। रत्नाकर जी ने इसमें अपने को टीका तक सीमित रखा है, वे अलंकारादि निरूपण के चक्कर में नहीं पड़े हैं।

(च) सतसई की अन्य भाषाओं में टीकाएँ :— बिहारी सतसई की दो टीकाएँ संस्कृत में हैं। लल्लू जी लाल' ने एक के देखने का उल्लेख 'लाल चन्द्रिका' में किया है। पं० अम्बिकादत्त व्यास को एक संस्कृत गद्य टीका मिली थी जिसका प्रतिलिपि काल सं० १८४४ वि० है। व्यास जी का अनुमान है कि लल्लू जी ने इसी टीका का उल्लेख किया है। इसकी संस्कृत टीका अत्यन्त सरस है। इसमें अलंकार, नायिका, उक्ति आदि स्पष्ट रीति से कहे गये हैं। टीका सं० १८४४ के पर्याप्त पहले की है।

दूसरी टीका देवकीनदन टीका (सं० १८६१) के बाद की है और इसी का एक प्रकार से अनुवाद है। टीका अत्यन्त सरल संस्कृत में है।

बिहारी सतसई की एक गुजराती टीका भी है जिसका

नाम है 'भावार्थ प्रकाशिका'। टीकाकार हैं– सविता नारायण गणपति नारायण। रचनाकाल है सं० १९६९ वि०। यह इसी वर्ष गुजराती प्रिंटिंग बम्बई में छपी थी।

बिहारी सतसई की एक फारसी टीका भी है। टीकाकार हैं श्री जोशी आनन्दीलाल शर्मा। रचनाकाल है १३१४ हिजरी, (सन् १८९० के आस पास) इसमें ६४० दोहों का अर्थ है। नाम है 'सफ़रगे सतसई।' यह अलवर में रची गई थी।

इधर बिहारी पर विपुल समीक्षा-साहित्य भी प्रस्तुत किया गया है पर उसका सतसई के संपादन से किंचित भी सम्बन्ध नहीं है।

२- सतसई सम्पादन की परम्परा

बिहारी सतसई के संपादन की तीन समस्याएँ हैं। एक तो उसके दोहों को सुव्यवस्थित क्रम देना। दूसरे यह निर्णय करना कि कौन कौन से दोहे बिहारी के हैं और कौन कौन दोहे हैं, जो येन केन प्रकारेण बिहारी सतसई में समाविष्ट हो गए हैं, तीसरी समस्या उसके शुद्ध पाठ की है। ऊपर बिहारी सतसई सम्बन्धी साहित्य की जो कुछ विस्तार से चर्चा की गई है, उसका हेतु यह है कि इससे बिहारी सतसई सम्बन्धी प्रथम दो समस्याओं का निराकरण करने में सम्यक सहायता मिल सकती है।

बिहारी ने अपने दोहों को कोई विशिष्ट क्रम नहीं दिया था। विद्वानों की विशेषकर स्व० जगन्नाथदास जी रत्नाकर की प्रौढ़ मान्यता है कि बिहारी ने अपनी सतसई में दोहों को रचनाक्रम से ही रहने दिया था और वे बिना अनुक्रम के थे। रत्नाकर जी के अनुसार सतसई का रचना काल स० १६९२ – १७०५ वि० है। सतसई की समाप्ति के प्रायः ३७ वर्षों बाद चन्द्रमणि मिश्र 'कोविद कवि' ने, जो सेनुहड़ा-(दतिया) नरेश पृथ्वी सिंह 'रसनिधि' तथा उदोत सिंह के यहाँ थे, सतसई के दोहों को सर्वप्रथम एक क्रम दिया। इस सम्बन्ध में कोविद कवि का कथन है—

> किए सात सै दोहरा, सुकवि बिहारीदास
> बिनुहिं अनुक्रम ए भए महि-मंडल सु-प्रकाश।

अर्थ-विचार में सुविधा हो इसलिए कोविद कवि ने इन दोहों को विभिन्न अधिकारों में विभक्त कर दिया था—

> सतरह सैंतालीस हुइ, बरषे फागुन मास
> एकादस तिथि सेत पख, बुरहनपुर सुखवास
> तहँ कोविद सुभ ए लिखे भिन्न भिन्न अधिकार
> देखत ही कछु समुझियै, जिन तैं अर्थ-विचार

कोविद कवि का क्रम बिहारी सतसई के सम्पादन का प्रथम प्रयास है। यह क्रम साहित्यिक दृष्टि से कुछ विशेष गौरव का नहीं था, इसीलिए इसका अनुसरण करके कोई टीका नहीं रची गई। इस क्रम में ७०९ दोहे हैं।

कोविद कवि के अनन्तर पुरुषोत्तमदास ने सतसई के क्रमहीन दोहों को क्रम दिया। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं

> रस सुख-दायक भक्तिमय, जामैं नवरस स्वाद
> करी बिहारी सतसई, राधा-कृष्ण-प्रसाद
> जद्यपि है शोभा सहज, मुक्तनि तऊ सु देखि
> गुहैं ठौर को ठौर तैं, लट में होति विसेखि

इस क्रम में ७००० दोहे हैं। रत्नाकर जी के अनुसार यह क्रम भी साहित्यिक दृष्टि से विशेष गौरव का नहीं है और यह भी कोविद कवि के क्रम के समान ही एक साधारण क्रम है। इस क्रम में कुल छह टीकाएँ हैं। लाला भगवानदीन कृत 'बिहारी बोधिनी' में इसी क्रम का अनुसरण है। पुरुषोत्तम जी छत्रसाल बुंदेला के दरबारी कवि थे। इस प्रकार प्रथम दो क्रम बुंदेलखण्ड में प्रस्तुत किए गए। रत्नाकर जी के अनुसार यह क्रम स० १७५० के आसपास बाँधा गया रहा होगा।

शुभकरण और कमलनयन ने सं० १७७१ में बिहारी सतसई की अनवर चन्द्रिका नामक टीका प्रस्तुत की। यह वस्तुत: रस निरूपण का ग्रंथ है, उदाहरण बिहारी के हैं। जहाँ बिहारी के उपयुक्त दोहे नहीं मिले, वहाँ इस ग्रंथ के रचयिताओं ने उदाहरण में अपने या अन्यों के भी दोहे रख दिए हैं। ग्रंथ १६ प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में कवियों ने अपने आश्रयदाता का वर्णन किया है। इसमें बिहारी का कोई दोहा नहीं है। शेष का विवरण यों है—

२. साधारण नायिका वर्णन—	३५ दोहा
३. सिख नख वर्णन—	८७ दोहा
४. मुग्धादि त्रिविध नायिका वर्णन—	२१ दोहा
५. अष्ट नायिका वर्णन—	११७ दोहा

६. गर्विता वर्णन—	४ दोहा
७. मानिनी वर्णन—	४४ दोहा
८. सुरति सुरतांत वर्णन —	२६ दोहा
९. परकीया वर्णन —	१३८ दोहा
१०. दश दशा वर्णन—	११ दोहा
११. सात्विक भाव वर्णन—	९ दोहा
१२. मद्यपान वर्णन	६ दोहा
१३. हाव वर्णन —	११ दोहा
१४. नव रसादि वर्णन —	८० दोहा
१५. षट् ऋतु वर्णन—	४२ दोहा
१६. अन्योक्ति वर्णन —	७२ दोहा
	७०४ दोहा

यह क्रम कोविद एवं पुरुषोत्तम के क्रमों से अच्छा है। इस क्रम पर तीन और टीकाएँ मिलती हैं।

चौथा क्रम हरजू मिश्र का लगाया हुआ है। हरजू मिश्र ने आजमगढ़ के आजमखान के लिए सं० १७८१ में यह क्रम लगाया था। यह क्रम आजमशाही क्रम कहलाता है। लोगों ने हरजू मिश्र के आश्रयदाता को साहित्य प्रेमी वह आजमशाह मान लिया है, जो औरंगजेब का पुत्र था और जिसने महाकवि देव के भावविलास और अष्टयाम ग्रंथों को सुना और सराहा था—

दिल्लीपति अवरंग के आजमसाह सपूत
सुन्यो सराह्यो ग्रंथ यह, अष्टजाम संजूत
—देव, भावविलास अंतिम छंद

आजमखान के लिए रचे जाने से इसे आजमखानी क्रम कहा जाना चाहिए, न कि आजमशाही। यह आजमखाँ आजमगढ़ के संस्थापक (सं० १७२२ वि०) आजमखाँ से भिन्न है और उन्हीं का वंशज है। इसकी मृत्यु सं० १८२८ में हुई थी।

हरजू मिश्र कृत क्रम सर्वश्रेष्ठ है। इस पर निम्नांकित ५ टीकाएँ प्रस्तुत की गई हैं—

१. लल्लू जी 'लाल' की लाल चन्द्रिका टीका
२. पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र की भावार्थ प्रकाशिका टीका
३. पं० अम्बिका दत्त व्यास का 'बिहारी बिहार'
४. पं० पद्मसिंह शर्मा का संजीवन भाष्य
५ पं० परमानन्द भट्टकृत संस्कृतानुवाद—'श्रृंगार सप्तशती'

रत्नाकर जी ने सतसई के १४ क्रमों का उल्लेख किया है। इनमें से १३ क्रम विषयानुसारी हैं, एक क्रम वर्णानुसारी है। ईस्वी खाँ ने सं० १८०९ में बिहारी की 'रस चन्द्रिका' टीका लिखी थी। इसमें उन्होंने दोहों को वर्णानुक्रम से रखा है। प० अम्बिकादत्त व्यास को इसकी ऐसी ही एक हस्तलिखित प्रति मिली थी। इसका पहला दोहा है — अपने अपने मन लगे·········
अन्तिम दोहा है— हा हा वदन उघारि जिनि ·······

वर्तमान काल में बिहारी सतसई के निम्नांकित क्रम प्रसिद्ध हैं और प्रयुक्त हैं—

(१) बिहारी का क्रमहीन क्रम— इसका उपयोग 'बिहारी रत्नाकर' में हुआ है।

(२) पुरुषोत्तम का विषयानुसारी क्रम—'बिहारी बोधिनी' में लाला भगवानदीन ने अनुकरण किया है।

३) हरजू मिश्र का साहित्यिक क्रम— लाल चन्द्रिका एवं संजीवन भाष्य में प्राप्त।

(४) ईस्वी खाँ का अकारादि क्रम— आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बिहारी' में जो सतसैया दी है, वह इसी अकारादि क्रम में है।

(५) बिहारी सतसई के संपादन का पहला बड़ा प्रयास लल्लू जी 'लाल' ने किया। लल्लू जी हिन्दी में आधुनिक युग के प्रारम्भ कर्त्ताओं में हैं। साहित्य जगत में आधुनिकता का प्रवेश प्रेस से होता है। लल्लू जी के पास कलकत्ता में अपना प्रेस था। इसी प्रेस से उन्होंने 'लाल चन्द्रिका' का प्रकाशन सं० १८७६ वि० में किया। यह टीका पर्याप्त सुन्दर थी। सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने जहाँ एक ओर रामचरित-मानस का संपादन करके खड्ग विलास बाँकीपुर पटना से उसका प्रकाशन कराया, वहीं उन्होंने लाल चन्द्रिका का भी संपादन करके १९५३ वि० में प्रकाशित कराया। यह एक महान् उपलब्धि थी।

बिहारी सतसई के सम्बन्ध में सर्वाधिक परिश्रम जगन्नाथ दास रत्नाकर ने किया है। इन्होंने सतसई की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्र कीं और स सं पहले यह निर्धारित करने का प्रयत्न किया कि बिहारी सतसई का वास्तविक क्रम क्या था। इस कार्य में उन्हें कृष्ण लाल की टीका, मानसिंह विजय गच्छ वाले की टीका एवं

आनन्दीलाल जोशी अलवर वाले की फारसी टीका— सफ़रंगे सतसई तथा जयपुर से प्राप्त ४६३ दोहों वाली सतसई की खंडित प्रति से पर्याप्त सहायता मिली।

बिहारी सतसई में दूसरों के भी बहुत से दोहे समाविष्ट हो गये थे। बहुत दिनों तक गुलाम नबी रसलीन का निम्नांकित दोहा बिहारी का ही समझा जाता रहा है—

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत, स्याम, रतनार
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार

यह रसलीन के 'अंग दर्पण' का दोहा है। इसी प्रकार के और भी बहुत से दोहों को हमने बिहारी का मानकर पढ़ा है। 'बिहारी रत्नाकर' में ७१३ दोहे हैं। अन्य पुराने हस्तलेखों में प्राप्त ऐसे अतिरिक्त दोहों को रत्नाकर जी ने 'बिहारी रत्नाकर' के अंत में द्वितीय उपस्करण में दे दिया है। इनकी संख्या पर्याप्त लम्बी है। यह भी रत्नाकर जी का बहुत बड़ा काम है।

रत्नाकर जी ने बिहारी की भाषा और व्याकरण का पूर्ण अध्ययन किया और उस अध्ययन के अनुसार उन्होंने बिहारी सतसई के दोहों को पूर्ण रूपेण कस दिया। सभी अकारांत संज्ञा शब्दों को उन्होंने उकारान्त रूप दे दिया। माना पुराने हस्त लेखों में अकारांत संज्ञाओं के उकारात रूप मिलते हैं पर ऐसी सभी संज्ञायें उकारांत रूप में ही मिलती हों, ऐसा नहीं है। इधर मैंने शृंगारी बेनी की समस्त रचनाओं का संपादन किया है। इनके 'कवित्त' नामक संग्रह में यह उकार बहुलता प्राप्त है। यह उकार बहुलता तो अपभ्रंश युग से चली आ रही है। 'कवित्त' के छदों में आई सभी अकारांत संज्ञाएँ उकारांत नहीं हैं. यथा-

आजु अचानक ही बन को,
वनि कै बनितानि को जूह सिधारो
'बेनी' बड़े बड़े बूंदन मेहु,
त्यौं आइ गयो कित ते दई मारो
तौ त्यौं चली विचली सँघ की
वृषभान लली रह्यो नन्द दुलारो
पामरी प्यारे की छाँह करै,
करै प्यारी की छाँह पितंबरु प्यारो

इसमें 'मेहु' और पितंबरु' उकारांत है. पर वन वृषभान, नन्द, छाँह आदि शब्द अकरांत ही है। ऐसी ही स्थिति बिहारी के मूल लेख की रही होगी।

इसी प्रकार 'को' को 'कों' 'या' 'कौं' और में को मैं' आदि रूप दे देना, परसर्गों को सानुनासिक कर देना भी, सर्वथा समीचीन नहीं प्रतीत होता। 'बिहारी रत्नाकर' में सतसई के दोहों की भाषा बिहारी की न रह कर रत्नाकरी ओप से कांतिमान हो गई है। इसे संपादन कला की सीमा से बाहर का कार्य कहना चाहिए। कोई नवसिखुआ कवि इसलाह के लिए आवे, तो उसे इन सब नियमों एवं उपनियमों की सलाह दी जा सकती है; किसी परम प्रतिष्ठित कवि की भाषा के साथ यह छेड़-छाड़ संपादन-सम्मत नहीं कही जा सकती। भाषा की एकरूपता 'बिहारी रत्नाकर' का जहाँ एक गुण है वहीं यह इसका दुर्गुण भी है।

इसी लिये प्रसिद्ध भाषा सास्त्री डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'व्रजभाषा' नामक ग्रंथ में 'बिहारी रत्नाकर' के सम्बन्ध में कहा है—

"संपादक ने पाठों में एकरूपता ला दी, यद्यपि हस्तलिखित पोथियों में यह नहीं मिलती। × × × ×

मूल पाठ को बनाए रखने के स्थान पर उन्होंने अपने पाठ से एक कृत्रिम समानता ला दी है जो कदाचित सतसई के मूल पाठ में वास्तव में विद्यमान नहीं थी।"

डा० कन्हैया सिंह ने भी 'पाठ-संपादन के सिद्धान्त' नामक अपने ग्रंथ में 'हिन्दी के विशिष्ट संपादन' के अंतर्गत 'बिहारी रत्नाकर' पर एक अध्याय लिखा है और रत्नाकर जी की अनेक बातों की आलोचना की है। उन्होंने यह भी सूचना दी है कि 'प्रयाग विश्वविद्यालय के शोध-छात्र श्री हरिमोहन मालवीय उसके (बिहारी सतसई) पाठ और अर्थ पर कार्य कर रहे हैं। वैसे बिहारी सतसई के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी शोध-प्रबन्ध के लिए डा० रामप्यारी मिश्र ने बिहारी सतसई की प्राचीन प्रतियों के आधार पर पाठ-संपादन किया है।" जो भी हो अभी तक डा० हरिमोहन मालवीय एवं डा० रामप्यारी मिश्र के बिहारी सतसई सम्बन्धी कर्तृत्व कम से कम मेरे देखने में नहीं आए।

—प्राचार्य, हिन्दू डिग्री कालेज
जमानियाँ, गाज़ीपुर

सतसई की टीका - परम्परा में संजीवन भाष्य

—डा० विष्णु दत्त राकेश, डी० लिट०

बिहारी सतसई को काव्यात्म की दृष्टि से ध्वनि प्रधान सिद्ध करने का सफल उद्योग आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने संजीवन भाष्य में किया। डा० नगेन्द्र के सम्पादन में सभा से प्रकाशित हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास षष्ठ भाग में रीतिबद्ध काव्य कवियों के परिचयात्मक विवरणों में डा० विजयेन्द्र स्नातक ने पृष्ठ ५१६, ५२० पर बिहारी को रस सम्प्रदाय का अनुवर्त्तक न बताकर ध्वनि सम्प्रदाय का पोषक सिद्ध किया है। संकेतित अर्थ की प्रधानता के कारण बिहारी की रुचि ध्वनि की ओर है और बिहारी का काव्य मूलतः ध्वनि काव्य ही है।

बिहारी को ध्वनिवादी सिद्ध करने का यह प्रयत्न सर्वथा नवीन नहीं है। स्वय रीतिकाल में रस, अलंकार, ध्वनि तथा रस के साथ नायिका भेद को रखकर बिहारी की जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं उनमें ध्वनिवादी टीकाओं की प्रधानता अधिक है, इससे स्पष्ट है कि ध्वनि इनका इष्ट साध्य है तथा रस, अलंकार नायिका भेद को रस ध्वनि तथा वस्तु ध्वनि के सन्दर्भ में ही ये प्रस्तुत करना चाहते हैं। नायिका भेद को प्रधानीभूत मानने वाले टीकाकार हैं लाल कवि, मानसिंह, सूरति मिश्र, रघुनाथ बंदीजन। अलकार परक दृष्टि से सूरति मिश्र, रणछोड़-दीवान, मनीराम तथा लाला भगवान दीन ने टीकाएँ कीं किन्तु ध्वनिवादी दृष्टि से शुभकरण और कमलनयन कवियों की संयुक्त टीका अनवर चन्द्रिका, पन्ना के कवि कर्ण की साहित्य चन्द्रिका, असनी के कवि ठाकुर की देवकी नन्दन टीका, गोंडा के जगत सिंह की उत्तम मंजरी राम कवि कृत हरि रस त्रिवेनी तथा पद्मसिंह शर्मा कृत संजीवन भाष्य प्रमुख हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'बिहारी' में पृष्ठ १७१ से १८३ तक हरि रस त्रिवेनी तथा उत्तम मंजरी टीका को छोड़कर शेष सभी टीकाओं का परिचय दिया है।

पद्मसिंह शर्मा ने संजीवन भाष्य में सतसई का आधार पाठ और क्रम आजमशाही रखा। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उनसे पूर्व पण्डित ज्वाला प्रसाद मिश्र ने भावार्थ प्रकाशिका, पण्डित अम्बिका दत्त व्यास ने बिहारी-विहार में यही क्रम-पाठ अपनाया था और 'सतसई संहार' आलोचना-लेख-माला प्रकाशित कराते समय यही पाठ उनके सामने था। वस्तु स्थिति यह है कि भावार्थ प्रकाशिकाकार ने हरिचरण दास कृत हरि प्रकाश टीका (संवत १८३४, तथा सूरति मिश्र कृत अमर चन्द्रिका टीका (संवत् १७६४) पर आधृत टीका लल्लू लाल कृत लाल चन्द्रिका (संस्करण तृतीय १८९६ ई० गवर्नमेंट प्रेस कलकत्ता) को अपना उपजीव्य बनाया था। इस टीका की पदावली हरि प्रकाश टीका से उधार ली गई है तो नायिका, अर्थ और अलंकार सूरति मिश्र की टीका से उठा लिए गए हैं। लाल चन्द्रिका टीका भावार्थ प्रकाशिका का मूलाधार है और शर्मा जी ने जब इस टीका की धज्जियाँ सतसई संहार नाम से १९६७ की सरस्वती में उड़ाईं तो इन लालचन्द्रिकाजीवी सभी टीकाओं की त्रुटियाँ साहित्य रसिकों के समक्ष उजागर हो गईं। ग्रियर्सन की भूमिका से अलंकृत संस्कृत साहित्य से सर्वथा अनभिज्ञ लल्लू जी की टीका की प्रसंगतियाँ प्रकारान्तर से शर्मा जी की पाण्डित्यपूर्ण लेखनी का शिकार बनीं। इस तरह एक युग की समाप्ति और दूसरे का प्रारम्भ हुआ। पद्मसिंह शर्मा इस दूसरे युग के पुरस्कर्त्ता समीक्षक थे। आजमशाही क्रम (१७८१ वि०) जौनपुर के हरिजू कवि ने आजमगढ़ के तत्कालीन प्रशासक आजम खाँ के अनुरोध से लगाया गया था।

शर्मा जी ने बिहारी की कोरी वकालत ही नहीं की, बिहारी पर लगाए गए राधा कृष्ण दास, अम्बिका दत्त व्यास, मिश्र बन्धुओं के दोषों का परिहार ही प्रस्तुत नहीं किया; उन्होंने सतसई के परम्परा प्राप्त साहित्य का मंथन

कर सतसई की मूल शास्त्रीय दृष्टि को भी खोजा। सतसई के आधार स्रोतों का उल्लेख करते हुए गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती तथा अमरुक शतक की उन्होंने सर्वप्रथम विस्तृत व्याख्या की। ये तीनों ही ग्रन्थ ध्वनि प्रधान रहे हैं और इसका प्रमाण यह है कि ध्वनिवादी संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों में उक्त तीनों कृतियां तथा इनके उदाहरण प्राय: उद्धृत होते रहे हैं। आर्या सप्तशती के लेखक गोवर्द्धनाचार्य ने तो स्पष्ट कहा है कि व्यंग्यार्थ शून्य तथा केवल अनुप्रसादि शब्दालकार के लिए ही विन्यस्त पदों वाला काव्य एवं शिजित रहित तथा केवल पैर में संलग्न कसा नूपुर ये दोनों क्रमश: विद्वत्सभा में और सुरति वेला में हृदय अथवा कानों को मस्त नहीं बनाते। 'अध्वनि पदग्रह परं मदयति हृदयं न वा न वा श्रवणम्। काव्यमभिज्ञ सभायां मजीरं केलि वेलायाम् ।१।४८

तात्पर्य यह कि मुक्तककार अपने काव्य-सौन्दर्य की कसौटी ध्वनि को मानते हैं। ध्वनि वादियों के आर्ष ग्रन्थ ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अत्ताएत्थ' 'कस्स वण होइ', 'जा एज्ज वणुद्देसे', 'भम्म धम्मिअ', 'मा पन्थं रुन्धी ओ', 'वच्च महव्विअ' जैसी गाथायें क्रमश: विधि रूप प्रतीयमानार्थ सस्थापन, व्यंग्यार्थ-वाच्यार्थ भेद निर्धारण, अर्थ शक्ति मूलक व्यतिरेक ध्वनि निर्धारण, वस्तु ध्वनि सकेतन, संभोग श्रृंगार-व्यंजन तथा अनुभय प्रतीयमानार्थ सस्थापन के प्रसंग में उद्धृत की हैं। इसी प्रकार अमरुक शतक से 'कोपात्कोमल', 'क्षिप्तोहस्तावलग्नः', 'शून्यं वास गृह' जैसे श्लोक रस पुष्टि के लिए रूपकालंकार का त्याग, रसवदालंकार तथा असंलक्ष्य क्रम व्यग्य ध्वनि के सन्दर्भ में उद्धृत कर मुक्तक परम्परा के लिए ध्वनिवाद् की कसौटी स्थिर कर दी। ध्वन्यालोक के परवर्ती ग्रन्थों ने यही परम्परा ग्रहण की। काव्य प्रकाश में भी यही परम्परा स्वीकार हुई। रीतिकाल के लक्षण-लक्ष्य कर्त्ताओं के समक्ष यही ग्रन्थ आदर्श था अत: गाथा सप्तशती, अमरुक शतक तथा आर्या सप्तशती को आधार बनाकर चलने से उन्हें भी शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि मार्ग की शरण लेनी पड़ी। बिहारी की मूल दृष्टि इसी परम्परा से सम्बद्ध है और रीतिकालीन कवि आचार्य इसी परिवेश में सतसई का मूल्यांकन करना चाहते हैं। इस दृष्टि से मैं सर्वप्रथम आचार्य जगत सिंह कृत उत्तम मंजरी की चर्चा करना चाहता हूँ। व्यावहारिक समीक्षा का यह उत्कृष्ट नमूना है। १८ दोहों की इस कृति की रचना सतसई की उत्तमता प्रमाणित करने के लिए हुई। कवि कथन है—

अलकार गुन धुनि सहित दोष रहित रसखानि,
सतसैया मथि कै रच्यौ उत्तम काव्य प्रमानि। ३० मं० १
दोहा उत्तम व्यग्य जे सतसैया के सार,
तिन्हैं काढ़ि कीन्हौं जुदा निजमति के अनुसार। १९।
दूषन जुत मध्यम अधम रहे कवित जे और।
तिन्हैं जानि नहिं सग्रहै कहत सुकवि सिरमौर। २०।

इस कृति की रचना साहित्य सुधा निधि (१८९३ वि०) के बाद हुई। प्रतिपादन शैली की दृष्टि से बिहारी के दो दोहों की व्याख्या दृष्टव्य है—

हरखि न बोली चखि ललन, निरखि अमिल संग साथ
आँखिन ही में हँसि धर्यो सीस हिये पर हाथ।
बरवै— मुख्य अर्थ सों दूजो आवै अर्थ,
वाच्य व्यंग्य सो जानो कहै समर्थ।

सखी की उक्ति सखी सों परकीया नायिका के बोधक हाव, हाथ वाही ने द्वै वेर धर्यो है ताते निसि सिव की सौगन्ध व्यंजित है। सूक्ष्मालंकार।

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलत मालती कुंज॥

बोधव्य व्यंग्य करि वचन विदग्धा स्वय दूती परकीया की उक्ति नायिका प्रति कोऊ एक संयोग लालसा मति कहति है पर्यायोक्तिलंकार।

१८७० से १८८० वि० के मध्य कपूरथला नरेश फतह सिंह के आश्रित कवि आचार्य राम ने भी बिहारी सतसई की हरि रस त्रिवेनी नामक टीका लिखी थी। इसकी प्रति पटियाला सेन्ट्रल पुस्तकालय, संख्या १८९१ में है। यह गम्यात्मक टीका अपूर्ण प्राप्त है तथा इसमें ध्वनि और रस-अलकारों का निर्देश साथ साथ किया गया है। आचार्य राम की ध्वनिवादी दृष्टि का एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने कुलपति मिश्र कृत रस रहस्य की टीका भी की जो ध्वनिवाद का प्रमुख ग्रन्थ कहा जा सकता है। इतना होने पर भी विश्लेषण की स्वच्छता इन टीकाओं में नहीं है। हां रस, अलंकार आदि को व्यंग्यार्थ के साथ

प्रस्तुत करने की ललक अवश्य है। यह दुर्बलता आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने भाँप ली थी। इसीलिए वह इस परम्परा को शास्त्रीय प्रौढ़ता तथा स्वच्छता प्रदान करने के लिए कृत संकल्प हुए। संजीवन भाष्य के दोष-परिहार प्रकरण में उन्होंने कहा—

"सतसई के प्राचीन टीकाकारों ने (अमर चन्द्रिकाकार तथा अनवर चन्द्रिकाकार) कहीं एकाध जगह प्राय: ध्वनि-व्यंजना के तारतम्य में बहुत सूक्ष्म रीति पर—'यहाँ गुणीभूत व्यंग्य है, इसमे यह अवर काव्य है।" या 'यहाँ विभाव की व्यक्ति क्लिष्टता सों होतु है याते रस दोष है" इत्यादि कहा है। पर कुछ आधुनिक टीकाकार और लेखक कुछ इससे आगे बढ़े हैं। यहाँ ऐसे ही दोषों पर विचार करना है, जो हमारी सम्मति में दोष नहीं, दोषाभास हैं, दोष समझने वालों की समझ का दोष है।"[1]

इस टिप्पणी से यह सहज ही स्पष्ट हो गया कि एक ओर रीति आचार्यों का ध्वनि संकेत उनकी दृष्टि से अपर्याप्त था, दूसरी ओर पण्डित अम्बिका दत्त व्यास जैसे संस्कृतज्ञों की साहित्य रसिकता पर भी उन्हें सन्देह था। 'चरखा कातने के ग्राम्य दोष' पर उन्होंने व्यास जी को वेद मन्त्र की दुहाई देकर आप्त प्रमाण से उत्कीलित कर दिया था। जिन्हें इस प्रकरण को पढ़ने की रुचि हो वे दोष-परिहार वाला प्रसग देखें। ध्वनि शास्त्र की परिपाटी से स्खलित टीकाकारों की साहित्य-सरणि से इतर वचनावलियों से मृत प्राय सतसई को सजीवन भाष्य देकर उन्होंने पीयूषपाणि का कार्य किया, वह सतसई परम्परा के उद्धारक अभिनव मल्लिनाथ थे।

शर्मा जी का साहित्यक मान दण्ड ध्वनि था। उन्होंने स्पष्ट कहा है—"जिस शैली पर प्राकृत गाथा सप्तशती, अमरुक शतक और आर्यासप्तशती की रचना हुई है, उसे साहित्य की परिभाषा में मुक्तक कहते हैं।...... मुक्तक में अलौकिकता लाने के लिए कवि को अभिधा से बहुत कम और ध्वनि, व्यजना से अधिक काम लेना पड़ता है। यही उसके चमत्कार का मुख्य हेतु है। इस प्रकार के रस ध्वनि पूर्ण काव्य के निर्माता ही वास्तव में महाकवि पद के समुचित अधिकारी हैं।"[2]

महाकवि बिहारी स्वयं रस-रीति को सतसई के माध्यम से समझने-समझाने का संकेत दे गए थे—

जो कोऊ रस रीति को समझ्यो चाहै सार,
पढ़े बिहारी सतसई कविता को सिंगार।

यहाँ रस-रीति से तात्पर्य रस-मार्ग से है और मुक्तक में रसाभिव्यक्ति व्यंजना सिद्ध होती है। अत: आनन्दवर्धन के 'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रस बन्धाभिनिवेशिन: कवयो दृश्यन्ते यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तका: शृंगार रसस्यन्दिन: प्रबन्धायमाना: प्रसिद्धा एव" कथन से बिहारी रस-रीति को रस ध्वनि के पर्याय के रूप में उपन्यस्त करना चाहते हैं। बिहारी के आलोचक शर्मा जी भी रस व्यंजना को आधार बनाकर समीक्षा-क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। सचमुच उन्होंने बिहारी का अभीष्ट प्राप्त कर लिया था। एक दोहे का भाष्य इस दृष्टि से उद्धृत करके अपने कथन की पुष्टि करना चाहता हूँ।

"तीज परव सौतिन सजे भूषन बसन सरीर,
सबै मरगजे मुँह करी वहै मरगजे चीर।३३३॥

गाथा—हल्लफल हलाण पसाहि आणं छणवासरे सवत्तीणम्।
अज्जाए मज्जणाणा अरेण कहिअं व सोहग्गम्।१।७६
(उत्साहतरलत्व स्नान प्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम्
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम्।)

उत्सव के अवसर पर जब उसकी दूसरी सपत्नियाँ नहा धोकर और सजधज कर अपने रूप को निखार कर और सौन्दर्य को चमका कर अपनी मनोहरता का सिक्का बैठाने के लिए पूरे प्रयत्न से तत्पर थीं, गाथा की नायिका ने स्नान के अनादर से अपने सौभाग्य की सिर्फ सूचना दी।

पर सपत्नियों पर उसके इस सौभाग्य गर्व की सूचना का क्या प्रभाव पड़ा सो किसी को मालूम नहीं हुआ। सम्भव है उन्होंने स्नान के अनादर का कारण उसकी शारीरिक दुर्बलता, अस्वस्थता, आलस्य, फूहड़पन या मान-कोप को समझकर इस पर ध्यान भी न दिया हो।

---

१ बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन पृष्ठ १७६ (पद्मसिंह शर्मा)
२ वही पृष्ठ २८-२९ ,,

अथवा और उलटी प्रसन्न हुई हों। या नायिका ने इसलिए ही स्नान की उपेक्षा की हो कि उसे इस मुकाबले की परीक्षा में सफलता की आशा ही न हो, इत्यादि अनेक कारण इस स्नानानादर के समझे जा सकते हैं।

चाहे कुछ भी हो, पर यह स्नान न करने की बात कुछ अच्छी नहीं हुई, ऐसा भी क्या सौभाग्य गर्व, जो इस दशा-विशेष में अवश्य कर्त्तव्य कर्म (स्नान) का भी अनादर करा दे, यह स्पष्ट ही अनौचित्य है। परन्तु बिहारी के "सबै मरगजे मुँह करी, वहै मरगजै चीर" में कुछ और ही चमत्कार आ गया है। बात वही है वर्णन एक ही प्रसंग का है, 'क्षणवासरे = तजि परब— 'स्नान-प्रसाधितानाम्"=सजे भूषन वसन सरीर'—सपत्नीनाम् =सौतिन—ये सब एक हैं। भाषा मात्र का भेद है। पर 'मरगजे चीर' ने दोहे को चमका दिया है। मरगजे चीर ने सचमुच ही कमाल किया है, वहाँ सौभाग्य गर्विता के मरगजे चीर (रति मर्दित वस्त्र) ने सपत्नियों के मुँह मरगजे (मलिन) कर दिये और यहाँ दोहे के मरगजे पद ने—"गाथ मरगजै मुँह करी, यहै मरगजै चीर।"

सपत्नियों के मलिन सुख होने में विवर्णता अनुभाव से ईर्ष्या संचारी व्यंग्य का चमत्कार है और कविता में असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि का जोर। वर्णन वैचित्री के अतिरिक्त असंगति, विभावना, तुल्ययोगिता, आवृत्ति दीपक और लाटानुप्रास की भरमार है। अलंकारों की क्या खूब बहार है।"[1]

इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो गई कि वह व्यंग्यार्थ के स्पष्टीकरण के साथ कवि-प्रस्तुत दोहे के चमत्कृत अर्थों की रेखाएँ उकेर रहे हैं। प्राचीन उक्तियों की भाव भूमि को सामासिकता प्रदान करने में यदि बिहारी को ध्वनि के द्वारा सर्जना में सहायता मिली तो मुक्तकों की आस्वादमयता में सहृदय समालोचकों को व्यंजना ने सहारा दिया। शर्मा जी ने कर्त्ता और भोक्ता की समानान्तर भाव भूमि के सामंजस्य के लिए सतसई की ध्वन्यात्मक अर्थ-व्याख्या की। परम्परा के पुनरुद्धार और शाश्वत सौन्दर्यवादी मूल्यों की काव्य परिवेश में स्थापना, उनकी समीक्षा-सरणि की दो प्रमुख विशेषताएँ रही हैं। अनवर चन्द्रिका की वक्ता-बोधव्य, अलंकार, ध्वनि निर्देश वाली परिपाटी यहाँ परम्परित साहित्य-प्रयोगों के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में व्यापक धरातल पर स्थिर हुई और व्यास, मिश्र बन्धु वाली संस्कृत-अंग्रेजी साहित्य की समीक्षा-सरणि यहाँ प्राकृत-अपभ्रंश, उर्दू और फारसी के साथ जुड़कर अधिक प्रौढ़ हो सकी भले ही मेरी आचार्य परम्परा के कुल पिता आचार्य शुक्ल उनकी समीक्षा को 'महफिली वाह वाह' कह कर तिरस्कृत करें किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि संजीवन भाष्य के जोड़ की दूसरी कृति इस क्षेत्र में आज भी नहीं है। पाण्डित्य का पता तो आक्षेपों और दोषों के परिहार प्रसंग में चलता है। शुक्ल परम्परा के अन्यतम समीक्षक आचार्य पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'बिहारी' (पृष्ठ १४६) में कहा है—"बिहारी की कविता में बहुत से लोगों ने फालतू दोष भी दिखलाए हैं। इन सबका निराकरण पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपनी बिहारी सतसई की भूमिका में बड़े चुलबुले ढंग से, पर विद्वत्ता तथा पाण्डित्य के साथ किया है।"

अन्त में, आचार्य शर्मा जी को जिन्होंने 'बिहारी विहार' में विहार करते 'व्यास' को समास-पद्धति की चुस्ती समझाई, 'भावार्थ प्रकाशिका' की ज्वालादग्ध सूक्तियों को शास्त्रीय प्रौढ़ता की संजीवनी से सुधा सिक्त किया, 'लाल चन्द्रिका' को अर्थ स्वारस्य की पूर्णिमा दी तथा मिश्र बन्धुओं के 'विनोद' को हलकेपन से मुक्त किया, तुलनात्मक समीक्षा के पुरस्कर्त्ता के रूप में प्रणाम करता हूँ और उनके विरोधियों के लिए कभी उन्हीं के द्वारा प्रयुक्त ये पंक्तियां पुनः समर्पित करता हूँ—

यह अजीब माजरा है मुझे रोजे-ईदे-कुर्बां,
वही जिबह भी करे है वही ले सवाब उलटा।

—हिन्दी विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

---

१ बिहारी सतसई – तुलनात्मक अध्ययन – पद्मसिंह शर्मा, पृष्ठ ४१ – ४२

आचार्य पद्मसिंह शर्मा कृत "बिहारी सतसई" का

सञ्जीवन-भाष्य

एक

जय श्री राधा नागरी

[वह पुराणादि-प्रसिद्ध, परदुःखकातरा भक्त-वत्सला, भक्तों का भय हरने में परम प्रवीणा श्री राधिका जी, जिनकी काया की कान्ति पड़ने से श्रीकृष्ण जी परम आनन्दित हो जाते हैं, मेरी जन्म-मरण की पीड़ा और सांसारिक दुःखों को दूर करें। —सरलार्थ-द्योतिनी टीका—रमेश चन्द्र दुबे-स०]

सञ्जीवन-भाष्य

विश्व-बिहारी-देव का पाय प्रसाद-प्रकास।
कविता के मुख-पद्म का बढ़ता रहे विकास॥

श्रीमान् तत्रभवान् परमसुजान कविवर श्री बिहारी लाल जी ग्रन्थ के आदि में शास्त्रानुमोदित शिष्ट-सम्प्रदायानुसार अपने इष्टदेवता की प्रार्थना के रूप में "आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण" करते हैं। इस आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण का प्रयोजन ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के अतिरिक्त यहां पर यह भी है कि प्रस्तुत ग्रन्थ (बिहारी-सतसई) शृङ्गाररस प्रधान है। इसमें शृङ्गार रस के अधिष्ठातृ देव श्री कृष्ण जी और श्रीराधिकाजी की रहस्यकेलियोंका वर्णन करना है। उससे ग्रन्थकर्त्ता और पाठकों का मन, विकारको प्राप्त न हो, इसलिये यह आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया। इसमें देवविषयक रति-भाव ध्वनि है।

मंगलाचरण

(१)

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाईं परें स्याम हरित-दुति होय॥

अर्थ—(सोय)—वह पुराणादिप्रसिद्ध परदुःखकातरा भक्तवत्सला (राधा नागरि) नागरी—भक्तों के भय हरने में परम प्रवीण—श्रीराधिकाजी, (मेरी भवबाधा हरौ) मेरे जन्ममरण की पीड़ा और सांसारिक दुःखों को दूर करें। वह राधाजी कैसी हैं— (जा तनकी झाईं परें)—जिनकी काया की कान्ति पड़ने से (स्याम हरित दुति होय) श्रीकृष्णजी हरे—परमानन्दित—हो जाते हैं।

"हरा सोना" मुहावरे में प्रसन्न या खुश होने को कहते हैं। जैसे किसी अत्यन्त स्नेहशील मित्र के विषय में कहते हैं कि वह हमें देखकर हरे हो जाते हैं।

२—अथवा— जिन राधिकाजी के पीतवर्ण की कान्ति पड़ने से श्रीकृष्ण जी का श्याम रंग, हरा—(हरे रंग का)—हो जाता है। पीला और नीला रंग मिलने से हरा रंग बन जाता है—यह प्रसिद्ध है।

हरित रग की झाँई (कान्ति—छाया) में सन्तापहरण का सामर्थ्य सर्वाधिक है, फिर जिस छाया से श्याम (तमोगुण) भी हरित—दूसरों को शान्ति देने वाला बन जाता है उसका स्वयं भवबाधा हरने में अनुपम सामर्थ्य-शाली होना उचित ही है!

हरितद्युति न चम्पकवर्णी राधा की है और न घन-श्याम की। किन्तु इन दोनों के—राधाश्याम के—मेल से शान्तिप्रद हरितवर्ण की उत्पत्ति है, इस अर्थ से कवि का भाव यह ध्वनित होता है कि शक्ति-शून्य ब्रह्म, अथवा ब्रह्मविरहित शक्ति की उपासना में शान्ति नहीं है। जो भक्तजन शक्तिविशिष्ट ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वह भवबाधा से छूट कर शान्ति पाते हैं।

३—अथवा— 'हराहोना' और 'सरस' कहना, एक ही बात है। जिस पदार्थ में 'रस' होता है वही 'हरा' कहलाता है। जैसे—'हरी टहनी':—

"जामें रस सोई हरचो यह जानत सब कोय।
गौर श्याम द्वै रंग बिन हरचो बनत नहिं कोय॥"

(नागरीदास जी)

इससे यह भाव प्रकट होता है कि राधाजी की छाया से—कृपा से—श्रीकृष्ण 'सरस' होते हैं—"रसिक बिहारी"—कहलाते हैं।

४—"जा तन की झाँई—(जिस राधा के अंग की कान्ति) स्याम परें—(कृष्ण का प्रतिबिम्ब पड़ने से) हरित-दुति होइ—(हरी) होती है।"—यह उलटा—(आधारा-धेयभाव-वैपरीत्यात्मक) अर्थ— 'बिहारी बिहार' के कर्त्ता श्री व्यासजी का है!

"मेरी भवबाधा" शब्द में उपासकबोधक "मेरी" पद-से—"जगन्नाथस्यायं सुरधुनि! समुद्धारसमयः।" के समान अपनी अधमतातिशयता-द्योतन द्वारा इष्टदेव की निरतिशय महिमा की ध्वनि निकलती है। अर्थात् मुझ जैसे आदर्श अधम की निरवधिक भवबाधा दूर करने में वही श्रीराधारानी जी समर्थ हैं जिनकी आराधना के अभिलाषी इन्द्रादि के उपास्य देव त्रिलोकीनाथ श्री कृष्ण भगवान् भी रहते हैं। जितना भारी पापी हो उसे पार उतारने वाला भी उतना ही अधिक समर्थ होना चाहिये। तथा उपास्य-देवता श्रीराधाजी के साथ प्रयुक्त "नागरी"—

("नागरं मुस्तके शुंठ्यां 'विदग्धे' नगरोद्भवे" इति मेदिनी)

विशेषण भी पापापनोदन-पटुता का द्योतक है। जितना कष्टसाध्य रोगी हो उसके लिये उतना ही दिव्यौषध-संपन्न पीयूषपाणि वैद्य अपेक्षित है।

काव्य प्रकाश के ध्वनिप्रकरणोदाहृत—

"त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥"

पद्य के 'त्वां' 'अस्मि' 'विदुषां' आदि पदों के समान 'मेरी' पद में लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसङ्क्रमित-रूप-ध्वनि है।

कोई—'मेरी' पद का अर्थ 'ममता' (पुत्र, मित्र, कलत्रादि में ममत्वबुद्धि) करते हैं अर्थात् 'मेरी' ममतारूप भवबाधा को हरो। क्योंकि संसार में 'ममता' ही सारे अनर्थों का मूल है।

पहले अर्थ में 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। उसका लक्षण:—

"समर्थनीयस्यार्थस्य 'काव्यलिंग' समर्थनम्।
जितोऽसि मन्दकन्दर्प! मच्चित्तोऽस्ति त्रिलोचनः॥"

(कुवलयानन्द)

"काव्यलिंग" जब जुक्ति सों अर्थ समर्थन होय।
तोकों जीत्यो मदन ! जो मो हिय में शिव सोय ।।"

(भाषाभूषण)

अर्थात् समर्थनीय अर्थ का जब युक्ति से समर्थन किया जाय तो "काव्यलिंग" अलंकार होता है। जैसे यहां भव-बाधा हरण का समर्थन श्रीराधाजी के अलौकिक-प्रभाव-कीर्त्तन द्वारा किया गया।

"नागरी"—यह साभिप्राय विशेषण होने से 'परिकर' अलंकार भी है। यथा :—

"अलंकार: 'परिकर:' साभिप्राये विशेषणे।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु व: शिव: ।।"

(कुवलयानन्द)

"है 'परिकर' आशय लिये जहां विशेषन होय।
शशिवदनी यह नायिका ताप हरित है जोय ।।"

(भाषाभूषण)

दूसरे अर्थ में "हेतु" अलंकार है :—

"हेतोर्हेतुमता सार्द्धं वर्णनं 'हेतु' रुच्यते।"
" 'हेतु' अलंकृति होय जब कारण कारज संग"

अर्थात् जहां हेतु-(कारण)-पूर्वक हेतुमान्-(कार्य्य) का वर्णन किया जाय, वह 'हेतु' अलंकार कहाता है—जैसे यहां राधाजी का पीत वर्ण और श्रीकृष्ण जी का श्याम वर्ण, हरे रंग के होने में कारण है।

अनवर खां (अनवरचन्द्रिका में) और ईसवी खां (रसचन्द्रिका में) इस अर्थ में "विषमालंकार" भी मानते हैं। यथा:-

"कारनको रँग और ही कारज औरे रंग।
यह विषमालंकार को कियो भेद छवि संग ।।"

(अनवर चन्द्रिका)

"कारन और रंग होइ कारज और रंग होइ सोई
इहां गौर स्याम तें हरित रंग होइ है।"

(रस चन्द्रिका)

पर श्री लल्लूलाल जी (लालचन्द्रिका में) इसका खण्डन करते हैं, वह "अमरचन्द्रिका" का 'हेतु'-अलंकार निदर्शक यह दोहा लिखकर—

"हेतु सहित कारज जहां कहैं 'हेतु' कविराज।
प्रिया पीत रँग स्याम पिय हेतु हरित रँग काज ।।"

कहते हैं कि "इस अर्थ में कोई 'विषमालंकार' कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि पीत और श्याम रंग मिले से हरा रंग न हो और रंग हो तो 'विषमालंकार' ठीक है। प्रमाण विषमालंकार का :—

'कीर्ति प्रसूते धवलां श्यामा तव कृपाणिका"—

इस पद्य का पूर्वार्ध लक्षणवाक्य—"विरुद्धकार्य्यस्योत्पत्तिरपरं 'विषमं मतम्" है। अर्थात् जहां कारण-कार्य की परिपाटी के विरुद्ध कारण के गुण से भिन्न गुण वाले कार्य की उत्पत्ति हो, वह विषमालंकार है। जैसे—तुम्हारी काले रंग की तलवार श्वेत कीर्ति को उत्पन्न करती है। यहां काली तलवार से श्वेत कीर्ति की उत्पत्ति, विषमालंकार का उदाहरण है।

श्रृंगारसप्तशतीकर्त्ता कवि परमानन्द के कथनानुसार इस अर्थ में "उल्लासालंकार" है:—"अत्र राधाया: पीतगुणेन कृष्णस्य हरिद्वर्णगुणलाभरूपोल्लासालंकार: इति।"

इसका लक्षण:—

"एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि।
अपि मां पावयेत्साध्वी स्नात्वेतीच्छति जाह्नवी ।।"

(कुवलयानन्द)

"गुन औगुन जब एक के और धरें 'उल्लास'।
न्हाय सन्त पावन करें गंग धरे इहि आस ।।"

(भाषाभूषण)

जैसे प्रकृत में राधा के पीत वर्ण रूपी गुण से श्रीकृष्ण को हरा वर्णरूप गुण प्राप्त हो गया।

"भवबाधा" में 'भव' शब्द की अनेकार्थता को लक्ष्य में रखकर ('भव' शब्द—शिव, संसार, जन्म, इत्यादि अनेक अर्थों का वाचक है)—अनवरखां ने "श्लेषाभास" भी लिखा है। अर्थात् 'भवबाधा'–समस्तपदगत भवशब्द में "हे भव शिव ! मेरी बाधा हरो" इत्यादि भ्रम होता है। वस्तुत: यहाँ इष्टदेवता राधा ही सम्बोध्य हैं, शिव नहीं।

५—अथवा–जिनके तन की झांईं (ज्योति) पड़ने से-ध्यान में आने से—श्यामत्व–"अन्धकार विशिष्ट तमोगुण, या हृदयान्धकार"—हरित—दूर—होकर 'द्युति'—प्रकाश विशिष्ट सत्वगुण चमक उठता है। वह राधा मेरी भव-बाधा हरो। इस अर्थ में भी "काव्यलिंग" ही अलंकार है।

नोट:—यहां यह आशंका होती है कि अपनी झांईं से श्रीकृष्ण को हरा करना तो भवबाधा-हरण का पोषक नहीं है फिर असम्बद्ध विशेषण क्यों ? उत्तर यह है कि जिसकी झांईं पड़ने से—ध्यानगोचर होने से—श्याम हरित—पाप का हरण–होता है और दुति होइ—दिव्य देह होता है"—(व्यासजी)

६—अथवा–कहीं "राधानागर"–ऐसा पाठ भी है। इस दशा में श्रीकृष्णपरक अर्थ—अर्थात्—वह "राधा नागर" श्रीकृष्णजी, जिनकी मूर्ति की झलक पड़ने से–भक्त-जनों के ध्यान में श्याम (कृष्ण) के आते ही वह (भक्त) अपना रूप तज कर हरिरूप को प्राप्त हो "सारूप्य मुक्ति" पा जाते हैं। इस अर्थ में "तद्‌गुणालंकार" है। उसका लक्षण:—

"तद्‌गुण: स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रह: ।
पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा ।।"

(कुवलयानन्द)

"तद्‌गुन तजि गुन आपनो संगति को गुन लेय।
बेसर मोती अधर मिल पद्मराग छवि देय।।"

(भाषाभूषण)

अर्थात्—अपना गुण छोड़कर दूसरे का गुण ग्रहण कर लेना 'तद्‌गुणालंकार' कहाता है। जैसे प्रकृत में श्रीकृष्ण की कान्ति पड़ने से—(ध्यान में श्रीकृष्ण के आते ही)—अपना रूप छोड़कर, भक्त कृष्णस्वरूप बन गया।

—※—

(मंगलाचरण का श्रृंगार-परक अर्थ)

बहुत से सहृदय रसिकशिरोमणि इस प्रकार रूखे फीके भक्तिभावनाभरित श्रोत्रियसमादृत विरक्तजिज्ञासुजनोचित मंगलाचरण को सुनकर नाक भौं चढ़ाते हैं और कहते हैं कि यह "गंगा की गैल में मदार के गीत" कैसे ! बिहारी से श्रृंगारी कवि की श्रृंगारमयी रचना में, जो परम-विहारी गोपिकाचीरहारी राधिका-हृदयचारी श्री मुरारि और वृषभानुदुलारी श्रीराधाप्यारी की रह:केलियों के रहस्योद्घाटनार्थ रची गयी है, ऐसा मंगलाचरण नितान्त 'अमगलाचरण' है। और यह 'अमरुशतक' की शान्त-रस-परक टीका को लक्ष्य करके कहे हुए स्वर्गीय महामहो-पाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद जी के शब्दों में—

"रहसि रतिसमये प्रौढ़बधूनां वेदपाठ इव सहृदयशिर:-शूलमुत्पादयति।"

ऐसे महानुभावों के सन्तोषार्थ श्रीहरि कवि ने इस मंगलाचरण को श्रृंगार पक्ष में भी परिणमित किया है, सो भी सुनिये:—

१—अथवा नायिका–(श्रीराधा) को मानिनी देख-कर नायक–(श्रीकृष्ण) प्रार्थना (मिन्नत, खुशामद) करते हैं कि "हे राधानागरि ! मेरी भौ-(भय) बाधा, हरो, अर्थात् तुम्हारा मान (कोप—नाराजगी) देखकर जो मुझे भौ (भय)–है उससे उत्पन्न बाधा (दु:ख) को हरो। अभिप्राय यह है कि मान छोड़ प्रसन्न हो जाओ। (अगली बात ज़रा गोप्य है, "सभ्य समाज" क्षमा करे, "अनुवादी न दुष्यति"—नायक महात्मा मान छोड़ने का ढंग बताते हैं और काम की बात पर आते हैं—"क्या करके, "सोय" या को अर्थ हमारे पास शयन करिकै।" तुम्हारे तन की

कान्ति पड़ने से हमारा (श्रीकृष्ण का) जो यह श्याम शरीर है सो "सानन्द होत है ॥" क्यों न हो ? हुआ ही चाहे !

२—अथवा—तुम्हारे तन की झाँईं (कान्ति) जब मिलाप के (समागम के) समय हमारे शरीर में पड़ती है तब श्याम—श्यामवर्ण श्रृंगाररस या (रतिपति) काम—"सो पल्लवित होत है ।"

कामदेव और श्रृंगार रस दोनों का वर्ण श्याम है। सो यहां "साध्यवसाना" लक्षणा करके "श्याम" पद से श्याम-वर्णविशिष्ट "काम" या "श्रृंगार" का ग्रहण करना चाहिये । "साध्यवसाना" लक्षणा का लक्षण यह है:—

"विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ।"

विषयिणा-आरोप्यमाणेन, अन्तःकृते-निगीर्णे, अन्य-स्मिन्–आरोपविषये सति साध्यवसाना स्यात् ।

(काव्य-प्रकाश, द्वितीयोल्लास)

अर्थात् जहां विषयिमात्र—(केवल 'उपमान' पद-पशु आदि) का निर्देश किया जाय और विषय—(उपमेय, देवदत्तादि) का न किया जाय, वहां "साध्यवसाना" लक्षणा होती है । जैसे—"देवदत्त पशु जाता है"—ऐसा न कह कर "यह पशु जाता है"—इतना ही कहा जाय तो 'साध्यवसाना' लक्षणा होगी । क्यों कि यहां विषयी (आरोप्यमाण)—'पशु' पद से अन्य (आरोप-विषय)–'देवदत्त' निगीर्ण–(छिपा हुआ) है। इसी प्रकार यहां प्रकृत में 'आरोप्यमाण' श्याम गुण से 'आरोप्य' (श्याम-वर्णविशिष्ट) श्रृंगार या 'काम' लक्षित होता है ।

३—अथवा—तुम्हें देखे और तुम से मिले बिना हमें कुछ नहीं सूझता, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीखता है, जब तुम्हारी प्रभा पड़ती है तब ही श्याम हरित'—अन्धकारा-वृत दिशाओं में द्युति—प्रकाश होता है । (दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः)

जिसमें अत्यासक्ति होती है उसके बिना सर्वत्र अन्धकार ही प्रतीत होता है । भर्तृहरिजी लिखते हैं:—

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु ।
बिना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदञ्जगत् ॥"

अर्थ—प्रदीप, अग्नि, तारागण, चन्द्र और सूर्य्य—इन सब ज्योतिष्मान् पदार्थों के होते हुए भी मृगनयनी नायिका के बिना मेरे लिये यह सारा संसार अन्धकारमय ही है ।

'श्रृंगार' रस की श्यामवर्णता में प्रमाणः–"·········

"श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः" (साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद)

अर्थात् श्रृंगार का वर्ण 'श्याम' और देवता विष्णु' है। 'काम' के श्याम होने में प्रमाणस्वरूप हिन्दी कवि 'कालिदास' की यह सुन्दर सूक्ति सहृदय पाठकों के मनोरंजनार्थ उद्धृत है । काव्यमर्मज्ञ देखें कि श्रृंगारपक्ष के द्वितीय अर्थ–(तुम्हारे तनकी झांईं जब मिलाप के समय हमारे शरीर में पड़ती है)—का क्या ही साफ शब्द चित्र इस पद्य में खिचा है । इससे अच्छा काले गोरे का मेल कहीं न देखा होगा :—

कुन्दन की छरी आबनूसकी छरी सों मिली
सोंनजुही माल कैधौं कुवलयहार सों,
कैधौं चन्द्र-चन्द्रिका कलंक सों कलित भई,
कैधौं रति ललित बलित भई मार सों।
'कालिदास' मेघ मांहि दामिनी मिली है कैधौं
अनल की ज्वाल मिली कैधौं धूम-धार सों,
केलि समैं कामिनी कन्हैया सों लपटि रही
कैधौं लपटानी है जुन्हैया अन्धकार सों ॥" *

इसी प्रकार स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी भी "कर्पूरमंजरी" नामक सट्टक में श्रृंगार का कृष्णवर्ण वर्णन करते हैं—

"चोटी गुथि पाटी सरस, कसिकै बांधे केस ।
मनहु सिंगार इकत्र व्है, बँध्यो बार के बेस ॥"

* सोनजुही-पीली चमेली । कुवलय—नील कमल । मार-कामदेव । जुन्हैया—ज्योत्स्ना—चांदनी ।

दो

कर मुरली उर माल

[हे बिहारी लाल ! सिर पर मोर मुकुट, कमर में ग्वालों जैसी घुटने के ऊपर तक की काछनी (धोती), हाथ में बाँसुरी और छाती पर वनमाला धारण किए आप इस नटवर वेष की धज से, सदा मेरे हृदय में निवास करो । आपका यह गोपवेष सदा मेरे मन में बसा रहे । —सं०]

बानिक-वर्णन

(२)

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल ।
इहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारीलाल ॥

अर्थ—हे बिहारीलाल ! तुम (इहि बानिक)–इस वनाव से-नटवर वेष की धज से-(मो मन सदा वसो)–मेरे हृदय में सदा निवास करो-मेरे हृदय-धाम ही में विहार करो, इसे छोड़ कर कहीं मत जाओ । अथवा–आप का यह बानक-गोपवेष, सदा मेरे मनमें बसा रहे, कभी न बिसरे । यह बानक कैसा है–(सीस मुकुट)–सिर पर मोर मुकुट, (कटि काछनी)–कमर में काछनी–कच्छ–घुटने के ऊपर तक की धोती, जैसी ग्वाले लोग बांधते हैं–(कर मुरली)–हाथ में बांसरी और (उर माल)–छाती पर वनमाला ।

यह भी कवि का मङ्गलाचरण है । या भक्त का वचन है । देवविषयक रति–भाव व्यङ्ग्य है । अथवा–गोपी की उक्ति है ।

यहाँ "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है, इसी का दूसरा नाम "जाति" है । स्वभावोक्ति का लक्षण:—

"स्वभावोक्तिः' स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम् ।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षैः स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ॥"
(कुवलयानन्द)

"स्वभावोक्ति' वह जानिये वर्नन जाति सुभाय ।
हँसि हँसि हेरति फिर दुरति मुख मोरति मुस्काय ॥"
(भाषाभूषण)

अथवा—'जाति' सु जैसौ जासु कौ रूप कहैं तिहि साज ।
ज्यौं ह्यां प्रभु बानिक जु हों कह्यौ सुत्यौं कविराज॥
(अमरचन्द्रिका)

अर्थात् जिस वस्तु का जैसा स्वभाव हो उसका वैसा ही चमत्कारपूर्वक वर्णन कर देना, 'जाति' या 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहाता है । जैसे 'कुवलयानन्द' के उदाहरण में-चौंके हुए हिरनों के देखने के ढंग का । 'भाषाभूषण' के उदाहरण में–पूर्वानुरक्ता, प्रेमासक्ता लज्जाप्रेमपरवशा नायिका के अवलोकनप्रकार का ।

यहाँ प्रकृत में-नटवर वेषधारी श्री बिहारी जी की सजधज का, कवि ने शब्द-चित्र खींच दिया है ।

२—अथवा–जिस प्रकार सिर का और मुकुट का सुयोग है, सिर के बिना अन्य अंगपर मुकुट शोभा नहीं पाता। कच्छ–(काँछनी)–कमर पर ही सुहावनी लगती है, मुरली, हाथ में ही सजती है, और माला हृदय का ही शृंगार है। इसी प्रकार भक्तजन का मन ही भगवान् के निवास करने योग्य सुन्दर मन्दिर है; सो उसी में हे विहारीलाल! आप अपना 'हेडक्वार्टर' नहीं 'राजधानी' बनाकर रहिये। इधर उधर घूमने की बान छोड़िये। यद्यपि आप "विहारीलाल" (हरजाई!) हैं, पर अच्छी तरह ढूँढ देखिये, इससे अच्छी जगह कहीं न पाइयेगा। मनो-मन्दिर ही भगवान् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा के लिये उपयुक्त स्थान है।

इस अर्थ में "समालंकार" है। लक्षण:—

"समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः।
स्वानुरूपं कृत सद्म हारेण कुचमण्लम्॥"

(कुवलयानन्द)

"अलंकार–'सम (तीन विधि) यथा योग को संग।'
उदा०–"हार बास तिय उर धरयो अपने लायक जोय।"

अर्थात् जो जिस योग्य है उसके अनुरूप स्थानादि की प्राप्ति का जहाँ वर्णन हो, वहाँ 'सम' अलंकार होता है। जैसे यहाँ सिर मुकुट आदि की एक दूसरे के अनुरूप संगति का कथन है।

मुकुट आदि अनेकों में यथायोग्यस्थान–स्थितिरूप एक क्रियाकी समता होने से "तुल्ययोगिता" अलंकार हो सकता है।

३—अथवा, (शृंगार पक्षमें)–'खण्डिता' नायिका की 'शठ' नायक (विहारीलाल) से सोपालम्भ उक्ति है कि– तुम्हारा जो यह नटवरवेष अर्थात् परस्त्री को प्रसन्न करने का वेष–रिझानेका बाना–है, इससे तुम मेरे मन में रहो, पर पास मत बसो–(पास मत फटको!)–क्योंकि तुम "विहारीलाल" हो–जगह जगह विहार करने वाले हो!–

("एकजा रहते नहीं आशिके–बदनाम कहीं
दिन कहीं, रात कहीं, सुबह कहीं शाम कहीं!!")

४—अथवा, "बि"* नाम दूसरी नायिका, उसका "हार" गलेमें डाले डोलते हो (जो तुम्हारे विहारीपन का ढोल पीट रहा है!) और "लाल" हो–रात भर जगे हो– इससे आँखें लाल हैं। या उस नायिका के पानकी पीक, पैरों की महावर और हाथों की महँदी की लाली ने श्रीमान् के श्याम सलौने शरीर को लाल सुर्ख करके 'शठता' पर छाप लगा दी है! खूब श्याम से लाल (श्यामलाल) बने हो, बने रहो! "देखो लै मुकुर दुति कौन की अधिक लाल! मेरी लाल चूनरी तिहारी लाल अँखियाँ।"

'यशवन्तयशोभूषण' में इस दोहे के यह दो अनुवाद दिये हैं:—

"मयूर–पिच्छ–मुकुटो, गोपालो मुरलीधरः।
वनमाली, कच्छवेषः, सदास्तु हृदये मम॥"

'सहारवक्षाः शिखिपिच्छचूडः, कच्छोटिकाबद्धकटिप्रदेशः।
गाश्चारयन्, दण्डधरो वनान्ते, गायन् हरिर्मे हृदये सदास्तु॥"

---

* संस्कृत का "द्वय" शब्द ब्रजभाषा में 'बिय' या 'बि' बन गया है, और यही गुजराती में "बीजो" [दूजा] और 'बे' [दो] हो गया है।

तोन

ससि सेखर की ग्रकस

[नन्द के दुलारे श्री कृष्ण मुकुट में लगे मोर पंख के चँदवों से ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो चन्द्रमौलि शिवजी की ईर्ष्या—स्पर्द्धा से उन्होंने अपना मस्तक सौ चन्द्रमा वाला बना लिया हो ।—स०]

मोर मुकुट वर्णन

(३)

मोर-मुकुट की चन्द्रिकन यौं राजत नँदनन्द ।
मनु ससि सेखर की ग्रकस किय सेखर सतचन्द ।।

अर्थ—(नंदनन्द)—नन्दके दुलारे श्रीकृष्ण (मोर-मुकुट की चन्द्रिकन)—मोरमुकुट की चन्द्रिकाओं से-मुकुट में लगे मोरपंखके चँदवों से—(यौं राजत)—ऐसे शोभित हो रहे हैं, (मनु)—मानो(ससि सेखर की अकस †)—चन्द्रमौलि शिवजीकी ईर्ष्या—स्पर्द्धासे—उन्हें नीचा दिखाने के लिये (किय सेखर सतचन्द)—अपना मस्तक शत चन्द्र—सौ चन्द्रमा वाला बना लिया है । अर्थात् शिवजी के भाल पर एक ही बालचन्द्र है, यहां उसके मुक़ाबले में पूरे सौ चाँदों की चन्द्रिका चमक रही है ।

यदि इसे भक्तकी उक्ति मानें तो देवविषयक रति-भाव ध्वनि है । जो दूती की उक्ति नायिका के प्रति होय तो शृंगार व्यंग्य है । और जो सखी का कथन सखी के प्रति समझें तो राजविषयक रतिभाव ध्वनि है । ⊙

इस दोहे की टीका करते हुए प्रायः टीकाकार "अकस" शब्द को लेकर बड़ी बड़ी दूर की कौड़ी लाये हैं, लम्बे चौड़े प्रश्नोत्तर गढ़कर बात का बतंगड़ बना डाला है ! श्री शिव और श्री कृष्ण के नये पुराने, छोटे बड़े, गुप्त, प्रकट, ज्ञात, अज्ञात, बहुत से वैर विरोध ढूंढ निकाले हैं । * उनमेंसे कोई कहते हैं कि शिवजी ने काम को (जो प्रद्युम्न रूप में श्री कृष्ण के पुत्र हुए) जला कर भस्म किया था—यह

---

† स्पर्धा—होड़—अर्थ में 'अकस शब्द का प्रयोग 'दास' कवि ने भी किया है यथा— "…द्विजराज भो अकस द्विजराजी की प्रभा न की ।" अर्थात् रावाके दांतों की प्रभा पाने की स्पर्धा से चन्द्रमा 'द्विजराज' बना है ।

⊙ यहां और दूसरे दोहे में एक प्राचीन टीकाकार ने "शान्तरस व्यंग्य" लिखा है, जो असंगत है । क्योंकि जहां निर्वेद स्थायीभाव हो वहीं शान्तरस होता है । यहां और वहाँ तो वक्ता के वचनों से उसका अपने इष्टदेव में परम अनुराग—(रतिभाव)—टपक रहा है, फिर 'शान्तरस' कैसा !

* किसी ने सख्त 'अक़्लमन्दी' से उत्प्रेक्षावाचक 'मनु' को शिवजी का 'मन' बनाकर उसमें 'अकस' वैमनस्यता (?) को छिपाकर फिर खुद ही ढूंढ निकाला है ! यह ऐसी ही बात है जैसे अक्सर बच्चे खेलते समय किसी चीज को रेत में छिपाकर फिर आप ही तलाश करके निकाला करते हैं, और अपनी इस 'अनुसन्धान शक्ति' पर इतराते हैं ।

अदावत थी । किन्हींने बाणासुर की याद दिलाकर कहा है कि उसी का बदला शिवजी से चुकाने के लिये श्रीकृष्ण ने 'मोरमुकुट' धारण किया है ! परन्तु यह नहीं सोचा कि यह तो गोपवेषधारी वृन्दावनचारी वनवारी की व्रज लीला का बानक है* । जब शिवजी ने नेत्राग्नि से भस्म करके 'काम' का काम तमाम किया था, तब श्रीकृष्ण का अवतार न था, और जब बाणासुर के युद्ध में शिवजी को उन्होंने छकाया था, तब यह 'मोरमुकुट का बानक' न था ! और न उस समय श्रीकृष्ण "व्रज वासी" थे किन्तु "द्वारकाधीश" बने हुए थे । इत्यादि—"इतिहासानौचित्य"—पर इन दूरदर्शी टीकाकारों ने कुछ ध्यान न देकर शिव विष्णु के वैर की बात व्यर्थ ही बढ़ायी है । एक तो यह ऐसे महात्मा हैं जो बिना पर का कौवा बनाकर उड़ा रहे हैं और एक महिम्न–स्तोत्र के स्तुत्य टीकाकार श्रीमधुसूदन सरस्वती हैं, जो 'हरि-हर' में अभेदबोध⊙कराने के लिये पूरा जोर लगाकर साम्प्रदायिक विरोध को दूर कर रहे हैं ! अन्तरं महदन्तरम् ! इसके अतिरिक्त इस दशा में—(शिवजी से 'अकस' के कारण श्रीकृष्ण के मोर मुकुट धारण करने को सच मान कर अर्थ करने में)—'उत्प्रेक्षा' ही उड़ जायगी, जो इस दोहे का सर्व सम्मत मुख्य अलंकार है । क्योंकि कवि प्रतिभोत्थापित सम्भावना (कल्पना) ही 'उत्प्रेक्षा अलंकार है । यथास्थित वस्तु वर्णन का नाम 'उत्प्रेक्षा' नहीं।

इसी प्रसंग में हरि कवि कहते हैं—"और जो ईर्ष्या होय तो उत्प्रेक्षा साँच में नहीं होय ।" अर्थात् यदि सच-मुच ही शिवजी से श्री कृष्ण को ईर्ष्या थी और उसी ईर्ष्या के कारण उन्हें नीचा दिखाने को श्री कृष्ण ने मोर–मुकुट धारण किया था, ऐसा समझें—तो "उत्प्रेक्षा" नहीं बनेगी, क्योंकि वह 'सांच' (वास्तविक रूप) में नहीं होती ।

यहाँ 'असिद्धास्पदा हेतु उत्प्रेक्षा"—अलङ्कार है । कृष्ण जी के शतचन्द्रिका समन्वित मोर-मुकुट के धारण करने में यद्यपि शिवजी से 'अकस'(ईर्ष्या) और उन्हें नीचा दिखाना हेतु नहीं है, तथापि उसे (कल्पित अकस को) हेतु मान लिया गया है, इसलिये 'हेतूत्प्रेक्षा" है—'अकस' वास्तव में असिद्ध है (नहीं है)—इस कारण "असिद्धास्पदा" है । अर्थात् आस्पद—सम्भावना का विषय—(जिसमें हेतुत्व की कल्पना की गयी है ऐसा) जो 'अकस' है, वह असिद्ध है । तथा वाचक—'मनु' पद के होने से "वाच्योत्प्रेक्षा" है । उत्प्रेक्षा का लक्षण—

---

* "बर्हेणेव स्फुरित–रुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ।।"

भगवान् कालिदास के इस बयान से भी इस बात की तसदीक होती है कि मोर पंख का मुकुट श्री कृष्ण जी के 'गोपवेष' में ही था ।

⊙ "हरिशंकरयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात् ।।"
उभयार्थतया मयेदमुक्तं, सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु ।।"

"भूति–भूषित– देहाय द्विजराजेन राजते ।
एकात्मने नमो नित्यं हरये च हराय च ।।"

[महिम्नस्तोत्र की टीका में श्री मधुसूदन सरस्वती]

अर्धं दानव वैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतम्"—

व्याजस्तुति में उदाहृत इस प्रसिद्ध पद्य के इस पद में हरि-हरात्मक स्वरूप का एक विग्रह=एक शरीर तो कहा है, पर हरि हर में "विग्रह"=वैर=विरोध—नहीं ।

'सम्भावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तु-हेतु-फलात्मना।
उक्तानुक्तास्पदाऽऽद्याऽत्र सिद्धासिद्धास्पदे परे॥''

(कुवलयानन्द)

"उत्प्रेक्षा सम्भावना वस्तु-हेतु-फल लेखि''—,

१—"नैन मनो अरविन्द हैं सरस विलास विसेषि॥"

२—'मनो' चली आंगन कठिन तातें राते पाय।

३—तुव पद-समता को कमल जल सेवत इक पाय॥

'सेखर' पद (उत्तरार्ध में) दो बार आया है, इसलिये "लाटानुप्रास" अलंकार भी है। लक्षण—

"शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्य्यमात्रतः।
"लाटानुप्रास" इत्युक्तः॥" (साहित्यदर्पण)

उदाहरण—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्त॥

लक्षण—

"सो 'लाटानुप्रास' जहँ पद की आवृत्ति होई।
शब्द अर्थ के भेद सों, भेद बिना हू होइ॥"

उदाहरण—

१— "पीय निकट जाके नहीं, घाम चांदनी ताहि।
पीय निकट जाके सखी ! घाम चांदनी ताहि॥"

२—' जाकी यहाँ चाहना है वाकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाहना है वाकी वहाँ चाहना है।"

३—"दूषण जा में कछु नहीं, उत्तम कविता सोय।
दूषण जा में कछु, नहीं उत्तम कविता सोय॥"

यदि मोर-मुकुट से अलंकृत नायक (श्री कृष्ण) को दिखाने के बहाने रुचि उत्पन्न करा कर दूती, नायिका को उनसे मिलाना चाहती है तो परेष्टसाधनरूप 'पर्यायोक्त' अलंकार है। और यदि सखी, अपनी सखी (मानिनी) को उसका मान छुड़ाने के लिये मोर-मुकुट की शोभा वर्णन करने के व्याज से श्री कृष्ण को दिखाना चाहती है तो 'स्वष्टसाधनरूप पर्य्यायोक्त' है। क्योंकि सखी और उसका प्रिय उसके (दिखाने वाली सखी के) इष्टतम हैं (इसलिये उनका काम उसका अपना ही काम है !)

पर्यायोक्त–लक्षणः—

"पर्य्यायोक्तं तदप्याहुर्यद् व्याजेनेष्टसाधनम्।

परेष्टसाधनोदाहरणः—

"याभि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह॥"

स्वेष्टसाधनोदाहरणः —

देहि मत्कन्दुकं राधे ! परिधाननिगूहितम्।
इति विस्रंसयन्नीवीं तस्याः कृष्णो मुदेऽस्तु वः॥"

[कुवलयानन्द]

"पर्यायोक्त प्रकार द्वै, (१) कछु रचना सों बात।
(२) मिसकरि कारज साधिये जो कछु चितहिं सुहात॥"
"तुम दोऊ बैठो यहाँ जात अन्हावन ताल।"

[भाषाभूषण]

चार

कुण्डल सोहत कान

[मगरमच्छ की आकृति के कुण्डल, गोपाल श्री कृष्ण के कान में ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों महाराज कामदेव हृदय रूप अपने गढ़ में धँसे हैं और उनका निशान किले के दरवाजे (कान) पर शोभा दे रहा है— —स०]

कुण्डल-वर्णन

(४)

मकराकृति गोपाल के कुन्डल सोहत कान।
धस्यौ मनौ हिय-घर समर ड्यौढी लसत निसान॥

अर्थः—(मकराकृति कुंडल, गोपाल के कान सोहत)—मगर मच्छ की आकृति (आकार) के कुण्डल, गोपाल श्रीकृष्ण के कान में ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, (मनो)—मानो (समर,—स्मर-काभदेव महाराज, (हिय-घर धस्यौ)—हृदय रूप अपने गढ़ में धसे हैं, और (ड्योढ़ी लसत निसान)—उनका निशान – झंडा किले के दरवाजे पर शोभा दे रहा है।

जब राजा किले के अन्दर होता है तो इस बात की सूचना के लिये बाहर—(किले के सदर दरवाजे पर) झंडा लहराता रहता है और जब वह किले से बाहर होता है तो झंडा झुका दिया जाता है।

प्रत्येक राजा का अपना अपना पृथक् रूप रंग का 'शाही झंडा' होता है, जैसे आज कल अंगरेजों के शाही झंडे का नाम 'यूनियन जैक' है, जरमनी के झंडे पर उकाब पक्षी का चित्र रहता है, टर्की वालों के झंडे पर अर्द्ध-चन्द्र का (हिलाल का) चिन्ह है। ऐसे ही पहले भी प्रत्येक प्रसिद्ध वीर और राजा की अपनी अपनी विशेष प्रकार की ध्वजा होती थी, और वह (ध्वजाधारी)—व्यक्ति उस (ध्वजा) के नाम से भी पुकारे जाते थे। जैसे श्रीकृष्ण जी महाराज की ध्वजा 'गरुड़' के चिन्ह की थी, इसीलिये वह "गरुड़ध्वज" प्रसिद्ध हैं, अर्जुन का नाम "कपिध्वज" है, क्योंकि उनकी ध्वजा पर कपि – हनुमान् जी की मूर्ति अंकित थी। इसी प्रकार काम की ध्वजा (निशान झंडा) काव्यों में 'मकर' (नक्र) के रूप की वर्णित है, इसी सम्बन्ध से काम का नाम "मकरध्वज" भी है—

(मकरध्वज आत्मभूः)

—और वह (काम) मन से उत्पन्न होता है, इस कारण "मनसिज" या 'मनोज' कहाता है। 'मन" ही उसका घर या गढ़ है।

श्री कृष्ण के कुण्डलों की मकराकृति और काम का 'मकरध्वज" नाम, इस सादृश्य-सम्भावना-मूलक 'उत्प्रेक्षा'

का बीज है। इस (दोहे) में 'उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालंकार" है। जिस वस्तु में किसी दूसरी वस्तु की सम्भावना की जाय वह (सम्भावना का आस्पद—स्थल) जहाँ उक्त हो (कह दिया गया हो) वह 'उक्तास्पदा' है। जैसे यहाँ कुण्डल रूप वस्तु में निशान रूप अन्य वस्तु की सम्भावना की गयी है और वह उक्त भी है। उत्प्रेक्षा-वाचक "मनौ" पद के योग से "वाच्योत्प्रेक्षा है। 'हिय-घर' में रूपकालंकार भी है। अतः 'उत्प्रेक्षा' और 'रूपक' का संकर' है।

कानों और कुण्डलों के परस्पर स्वरूपानुरूप सम्बन्ध का वर्णन है। इसलिये 'समालकार' भी है।

परकीया नायिका की उक्ति है तो पूर्वानुराग में गुण कथनरूपा, कामदशा व्यंग्य है। यदि नायक पक्ष की सखी नायिका को नायक की अपूर्व शोभा सुनाकर (इस मिष से) मिलाना चाहती है, तो "पर्यायोक्त" अलंकार भी है।

यदि नायक पक्ष की दूती या सखी नायक के पूर्वानुराग † का नायिका से वर्णन करती है तो यह चमत्कृत अर्थ भी हो सकता है कि—

नायक ने कानों से तेरे रूप गुण की प्रशंसा सुनी है (अभी साक्षात् दर्शन नहीं हुआ) इसलिये कानों को कुण्डलों से अलंकृत किया है !! सुसमाचार (खुशखबरी) सुनाने के उपलक्ष्य में वे कुण्डलों से पुरस्कृत किये गये हैं, मानों कानों को कुण्डलों का इनाम मिला है ! जब कोई सेवक बहादुरी का काम करता है, या कोई खुशखबरी सुनाता है तो उसे स्वामी की सरकार से प्रसन्नता-स्वरूप, कपड़े या कुण्डल* आदि भूषण इनाम में मिला करते हैं, यह प्रसिद्ध है।

---

† पूर्वानुराग—एक दूसरे को साक्षात् देखने से और केवल कानों से प्रशंसादि सुनने से भी हो जाता है। यथा :—

"श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।
दशाविशेषप्राप्तौ यः "पूर्वरागः" स उच्यते ॥"

फ़ारसी में ('जामी' की जुलेखा में) भी एक पद्य इसी अभिप्राय का है :—

"न तनहा इश्क़ अज़ गुफ्तार खेज़द्।
बसा-कीं दौलत अज़ दीदार खेज़द् ॥"

अर्थात्, इश्क (प्रेम) सिर्फ़ देखने से ही पैदा नहीं होता, बल्कि अकसर कहने सुनने के असर से भी यह पैदा हो जाता है।

* नोट--कानों को कुण्डलों का मैडल (तमगा) रतिसंगर की विपरीत दशा में भी साथ देने की बहादुरी में एक और कवि ने भी दिलवाया है। यथा—

"शान्ते मन्मथ-संगरे रणभृतां सत्कारमातन्वती,
वासोऽदाज्जघनस्य पीनकुचयोर्हारं श्रुतेः कुण्डले।
बिम्बोष्ठस्य च वीटिकां सुनयना पाण्यो रणत्कङ्कणे,
पश्चाल्लम्बिनि केशपाशनिचये युक्तो हि बन्धः कृतः ॥"

× × ×

"रति-रन विषै जे रहे हैं पति-सनमुख,
तिन्हैं बकसीस बकसी है मैं विहँसिकै।
कानन को कुण्डल [करन को कंकन] उरोजन को चन्द्रहार,
कटि को सुकिंकिनी रही है कटि लसिकै।
"कालिदास" आनन को आदर सों दीन्हों पान,
नैनन को काजल रह्यौ है नैन बसिकै।
एरी बैरी [बौरी] बार ये रहे हैं पीठ पीछे याते,
बार बार बांधती हौं बार बार कसिकै ॥"

जब किसी श्रीमान् के घर किसी प्रतिष्ठित पुरुष या सुहृज्जन के आने की खबर आती है या कोई विशेष हर्ष का अवसर होता है तो पहले से मकान खूब सजाया जाता है, दरवाजों पर बन्दनवार बाँधी जाती है, रंग बिरंगी भंडियाँ खड़ी की जाती हैं। कभी कभी किसी असाधारण मान्य महोदय के पधारने की यादगार में पीछे स्मृति चिह्न भी बनाये जाते हैं।

जिन कानों के द्वारा ऐसी त्रिभुवन-सुन्दरी हृदय-मन्दिर के अन्दर पहुँची हो, उन पर स्वर्ण कुण्डल के निशान लटकाना समुचित ही है। कान, हृदय-मन्दिर की ड्योढ़ी है, ड्योढ़ी और कानों में आकारसाम्य भी है—ड्योढ़ी ड्योढ़ देकर बनायी जाती है इसी से ड्योढ़ी कहाती है, कानों की रचना भी कुछ इसी प्रकार की टेढ़ी मेढ़ी होती है,—इस पर प्रकाशित कुण्डल रूप भंडा, हृदयेश्वरी के अन्तः प्रवेश की सूचना दे रहा है !

इस दोहे पर 'श्री सुरति मिश्र' ने कई विचित्र प्रश्नोत्तर दिये हैं। उनका भाव भी सुनियेः—

प्र० १—इस दोहे से प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण जब 'मदन मोहन' बने—तरुण हुए—तब ही यह कुण्डल पहिने (जिन पर काम के निशान की उत्प्रेक्षा की गयी है), काम का सञ्चार यौवन में ही होता है। परन्तु यहाँ यह बात ठीक नहीं, क्योंकि कुण्डल तो बचपन से ही उनके कानों में थे।

उत्तर हाँ, यह ठीक है कि कुण्डल बचपन से ही उनके कानों में थे। परन्तु भूषण युवावस्था में ही सुन्दर प्रतीत होते हैं, इसी से दोहे में "लसत" पद दिया है, यह नहीं कहा कि 'अभी पहने हैं किन्तु—अब शोभा दे रहे हैं—दिप रहे हैं !- यद्यपि राजद्वार पर भंडा सदा लगा रहता है, पर जब राजा किले के अन्दर होता है तभी वह सुशोभित होता है—अच्छी तरह फहराता है, साधारण दशा में (जब राजा अनुपस्थित रहता है) भंडा भुका रहता है, ऐसे ही कुण्डल पहले से साधारणतया कानों में पड़े थे सही, पर वह सुशोभित—दर्शनीय और वर्णनीय—अभी हुए हैं।

प्रश्न २—"काम मन से ही उपजता है, और वहीं रहता है, इसी कारण उसका नाम "मनोज" है, पर यहाँ उसका मन में 'प्रवेश' कहा गया है, वह अपने जन्म-दाता (मन) और जन्मभूमि (हृदय-मन्दिर) को छोड़कर कहाँ चला गया था ? (दोहे में प्रवेश का वर्णन तो है, पर 'यात्रा' का उल्लेख नहीं, सो क्यों ?)

उत्तर—वेशक 'मनोज' मन से ही उपजता है पर बिना 'आलम्बन' के† उत्पन्न नहीं होता। वह "आलम्बन" (नायिका) दूसरी जगह थी, उसी की तलाश में मन वहाँ गया, और उसके संग से 'सकाम' होकर लौटा।

जैसे राजा कहीं से राज्य पाकर आता है और बड़े ठाठ बाट से अपनी राजधानी में प्रवेश करता है, उसी रीति से यहाँ (मन, मनोज का अभेद मानकर) काम का उसकी हृदय रूप राजधानी में कवि ने प्रवेश करना वर्णन किया है।

इस दोहे पर "रस-चन्द्रिका" में भी कुछ शंका समाधान हैं— उसका संक्षेप यह है : —

इस दोहे का अर्थ बाल्यावस्थापरक भी हो सकता है (अभिप्राय यह है कि 'सुरतिमिश्र' ने जो प्रश्नोत्तर किये हैं उनकी ऐसी आवश्यकता नहीं !) क्योंकि "ब्रह्मवैवर्त्त पुराण" और "गीतगोविन्द" में वर्णन है कि ……… "साढ़े तीन वर्ष की वय (आयु) में राधिका से विहार कीना है ……… !!"

† साहित्य की परिभाषा में—"आलम्बन विभाव" वह कहाते हैं जिनके आश्रय से रस की स्थिति है, जैसे शृङ्गार के आलम्बन 'नायक' और 'नायिका' हैं।

"मेघैर्मेदुरमम्बर वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै —
र्नक्तं भीरुरयं, त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुन्जद्रुमम्,
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ॥"

(जयदेव, गीतगोविन्द)

"काम", मन की इच्छा विशेष का नाम है. वास्तव में वह कोई पृथक-सत्ताधारी मूर्त पदार्थ नहीं, जिसका आना जाना बन सके। इसका समाधान "ईसवीखां" इस तरह करते हैं :—

"काम एक भिन्न पदार्थ है, क्योंकि जब महादेव जी को दुःख देता था तब वह जला है, यदि वह पृथक-सत्ताधारी भिन्न पदार्थ न होता तो जलता कैसे ? पृथक शरीर-सत्ताधारी व्यक्ति हो तभी तो जलाना बन सकता है !"

"काम को मनोज क्यों कहते हैं ? इसलिये कि जब उसे महादेव जी ने जला दिया तब वह अङ्गहीन 'अनङ्ग' हो गया। और जब ग्रङ्गहीन है तो उसमें पराक्रम कैसे रहे ? सो जब वह ('भूत' की तरह !) किसी के मन में आता है, तब उसके अङ्गों द्वारा अपना पराक्रम प्रकट करता है. "तौ मानो उसके मन तें उपजा" इस हेतु उसे मनोज कहते हैं, सो विहारी ने इस हेतु "धस्यौ" कहा।"

ईसवीखां ने इसमें "उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा" इस प्रकार सिद्ध की है :—

'और वस्तु में और की सम्भावना धर्म-सम्बन्ध सहित, सो यहां कुण्डल वस्तु में निशान की सम्भावना करी और कुण्डल मकराकृत होते ही हैं तातें धर्म सम्बन्ध मिले हैं। यातें उक्त विषया कहा—"

— *—

पाँच

सोहत ओढ़े पीत पर

[लावण्ययुक्त शरीर की कान्ति वाले श्याम, पीताम्बर ओढ़े ऐसे सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं, मानो नीलम के पहाड़ पर प्रातः काल की धूप पड़ रही है। स०]

पीत-पट वर्णन

(५)

सोहत ओढे पीत पट श्याम सलौने गात।
मनो नीलमनि सैल पर आतप परचो प्रभात॥

अर्थ :—(सलौने गात)— लावण्ययुक्त शरीर की कान्ति वाले— श्री कृष्ण जी, (पीत पट ओढ़े सोहत)— पीताम्बर ओढ़े ऐसे सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं, [मनो]-मानो [नीलमणि सैल पर)— नीलम के पहाड़ पर, (प्रभात आतप परचो) प्रातः काल की धूप पड़ रही है। श्याम के सलौने गात पर ओढ़ने से पीत पट ऐसा सुहावना लगता है। — श्यामसुन्दर का सलौना शरीर नीलमणि का पहाड़ है और उस पर ओढा हुआ जो पीताम्बर है सो मानो प्रातः काल की धूप पड़ रही है ! यहां उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालंकार है। श्याम गात और पीत पट— उक्त वस्तु हैं। उनमें नीलमणि गिरि और आतप की "उत्प्रेक्षा" की गई है। "मनो" के सम्बन्ध से वाच्योत्प्रेक्षा है।

अतसी-पुष्प, नील कमल, नीलमणि आदि समस्त सुन्दर श्याम पदार्थ, श्याम सुन्दर के उपमान हैं। श्री कृष्ण को अतसी-पुष्प और नीलमणि की उपमा माघ कवि ने भी दी है—

"महामहानीलशिलाशिलारुचः"। "तस्यातसीसूनसमानभासः"

सखी नायिका के सामने पीताम्बरधारी श्याम मुरारि की अद्भुत शोभा का वर्णन करके उसे उनसे मिलाना चाहती है तो इस उत्तम उत्प्रेक्षा में एक और यह भाव भी गूढ़ है कि प्रभात सूर्य्य की प्रभा यद्यपि अन्य पहाड़ों पर भी पड़ती है पर जैसी शोभा वह नीलमणि पर्वत पर पड़ने से पाती है, वैसी अन्यत्र नहीं। पीताम्बर भी श्याम सलौने गात पर ही सजता है, सो स्वर्ण सुन्दरी तू भी श्याम संयोग से ही अपूर्व शोभा धारण करेगी। बिना नील मेघ के बिजली, लाख चमका करे, पर वह बात कहां! केवल पीताम्बर, निरा आडम्बर है, (पीला कपड़ा मात्र है) वही श्री कृष्ण के नीलमणिकान्त-काय पर लोक-लोचनहारी कमनीय कान्ति को धारण करता है, और प्रातः कालीन सूर्य्य प्रभा की स्पृहणीय छवि पाता है। विश्वास न हो तो पीतपटधारी श्याम सुन्दर की मनोहर मूर्ति को स्वयं देख ले।

यदि दूतीविवर्जिता नायिका की उक्ति अपनी सखी से है तो उससे दूतत्व कराकर काम निकालना चाहती है। इस दशा में "पर्यायोक्त" "और" "समालंकार" भी है।

यदि नायिका सखी से पूछती है कि कृष्ण कौन से हैं, और वह उनका हुलिया बताकर कहती है कि, वह हैं— जिनके श्याम शरीर पर पीताम्बर ऐसा सुन्दर लगता है मानो नीलमणि पर प्रातः काल के सूर्य की धूप पड़ रही है, तो "परमानन्द कवि" के मतानुसार यहां "उत्तरालंकार" भी है। उत्तरालंकार में उत्तर वाक्य से ही प्रश्न की कल्पना करली जाती है— तथा उत्तरार्ध में "पकार की" आवृत्ति से "वृत्यनुप्रास" भी है।

छः

हरित बाँस की बाँसुरी

[श्री कृष्ण के होंठ पर रखने से, हरे बाँस की बाँसुरी पर, होंठ, नेत्र और वस्त्र की ज्योति पड़ रही है, जिससे वह इन्द्रधनुषी रंग की प्रतीत हो रही है। स०]

बाँसुरी-वर्णन

(६)

अधर धरत हरि के परत ओठ-दीठि-पट जोति।
हरित बांस की बांसुरी इन्द्रधनुष- रँग होति॥

अर्थ :—(अधर धरत)—होंठ पर रखने से, (हरि के) —श्री कृष्ण के, (ओठ-दीठि, पट, जोति परत)—होंठ, नेत्र और वस्त्र की ज्योति पड़ती है, जिससे— (हरित बांस की बांसुरी)—हरे बांस की बांसुरी, [इन्द्रधनुष रँग होति]—इन्द्रधनुष के रंग की हो जाती है।

इन्द्रधनुष में प्रधानतया चार रंग दृष्टिगोचर होते हैं, हरा, पीला, लाल और गुलाबी। सो जब वंशीधर मुरली बजाते हैं, तो वह इन्द्रधनुष के रंग की हो जाती है, उसमें पीताम्बर आदि का प्रतिबिम्ब पड़ने से ये सब रंग आ जाते हैं। पीला—पीताम्बर का, लाल—होठों का, गुलाबी-ग्रांखों का और हरा रंग बांसुरी का। 'बांसुरी' का 'हरे रंग की' विशेषण, उसकी प्रतिबिम्ब ग्राहकता का का बोधन कराता है।

कोई कहते हैं कि दृष्टि और आंख में भेद है। "दृष्टि"—दृक्शक्ति, और आँख—नेत्र गोलक को कहते हैं तथा नेत्र में श्वेतता भी है, धनुष में नहीं है। इसलिए वह यह क्लिष्ट-कल्पना करते हैं कि "बाँसुरी पर होंठ की ज्योति और पट की ज्योति पड़ती है, सो तू "दीठ" अर्थात् देखा।"

पर यह ठीक नहीं, कवियों ने आंख में लाल छोड़ श्वेत, लाल और श्याम तीनों रंग वर्णन किये हैं, जैसे इस जगत्प्रसिद्ध अद्वितीय दोहें में—

"अमी हलाहल मद भरे श्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥"

तथा जब नेत्र किसी के रूपासव के नशे से छके हों—मस्त हों या जगे हों—तो उनकी 'लाली' भी वर्णनीय है, इस विषय में किसी का वचन है :—

"कौन कवि ऐसो, छके नैननि के रूप कहै
लाल-लाल कोयनि में केते घर खोये हैं।"

इस दोहे में 'तद्गुण' अलङ्कार है। पट—होंठ आदि के गुण ग्रहण करके बाँसुरी, इन्द्रधनुष के रूप रंग की हो गई। यह अमर चन्द्रिका, लाल चन्द्रिका, रस चन्द्रिका, अनवर चन्द्रिका, प्रताप चन्द्रिका, इन सब की सम्पति है, और 'हरि प्रकाश' में भी "तद्गुण" लिखा है। पर फिर यह शका करके कि—जो कहिए और गुनि या में आए हरित गुन को त्याग नहीं भयो, तो उपमा भी है"—लिखा है।

अर्थात् तद्गुणालकार वहीं होता है जब कोई पदार्थ अपना गुण छोड़कर दूसरे का गुण-ग्रहण कर ले, क्योंकि "तद्गुन तजि गुन आपनो सगति को गुन लेई" और यहाँ बांसरी ने औरों के गुण तो ले लिये, पर अपना हरित रंग भी नहीं छोड़ा, इसलिये यहाँ 'तद्गुण' की संगति नहीं बैठती। सो हरि के मत में 'उपमालकार' है। यथा—'धनुष उपमान बांसुरी उपमेय, 'सी' वाचक, साधारण धर्म को लोप है। 'इन्द्रधनुष रंग होति" पाठ में 'वाचक-लुप्तोपमा' है ['सी' आदि वाचक पद न होने से]—साधारण धर्म 'रंग' है। हरि—प्रकाश में "इन्द्रधनुष सी होति" पाठ है। इस दशा में धर्म-लुप्तोपमा है।

प्रताप मत में "यमक"—[बाँस-बाँस के योग से], "तुल्ययोगिता" [ओठ आदि की ज्योति पड़ने रूप एक क्रिया से] "पर्याय"—(एक आधार रूप बाँसुरी में अनेकों रंगों का आश्रम रहने से) यह तीन अलंकार तद्गुण के अतिरिक्त और हैं।

नायिका की उक्ति, या सखी का कथन नायिका से॥

सात

किती न गोकुल कुल वधू

[गोकुल में कौन कुल वधू नहीं है ? सब ही कुल वधू हैं; और किसने किसको शिक्षा नहीं दी ? अर्थात् सब ने सबको समझाया है। पर मुरली के स्वर में लीन होकर किस कुल वधू ने कुल-मार्ग नहीं छोड़ा ? अर्थात् सब की सब 'कुलगली' से निकलकर कुञ्ज-गली में पहुँच ही गईं। —स०]

(७)

किती न गोकुल कुलबधू काहि न किहिं सिख दीन।
कौने तजी न कुलगली ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥

अर्थ :—मुरलीधर मुरली बजा रहे हैं, उसे सुन कर कोई नायिका उधर खिंची जा रही है। उसकी सखी समझाती है कि "देख यह कुलवधू का धर्म नहीं है, उस ओर मत देख" इस पर प्रेम भरी नायिका कहती है :— *

(किती न गोकुल कुलबधू)–गोकुल में कितनी कुलबधू नहीं हैं, सब ही कुलवधू हैं, कुछ अकेली मैं ही कुलबधू नहीं हूँ, और (काहि न किहि सिख दीन)—किसने किसे शिक्षा नहीं दी ! अर्थात् सबने सबको समझाया, एक तू ही नई उपदेशिका नहीं आयी है जो समझाने चली है। पर (कौने तजी न कुल गली)—किसने अपना कुलमार्ग नहीं छोड़ा ? अर्थात् सब 'कुलगली' से निकल कर 'कुन्जगली' में पहुँच ही गयीं ! फिर मैं क्यों न जाऊँ ! यह कुछ अपने बस की बात नहीं है–[ह्वै मुरली-सुरलीन]–मुरली के स्वर में [लीन]—आसक्त होकर कौन कुलीन नारी है जो कुलगली में लीन—छिपी रह सके !

यहाँ 'उत्तरालंकार' है। जहाँ उत्तर वाक्य को सुनकर प्रश्न वाक्य की कल्पना कर ली जाय वह 'उत्तरालंकार' कहलाता है। जैसे यहाँ नायिका की उक्ति [उत्तर] से ही यह पता चलता है कि सखी ने उसे समझाया है, जिसका वह यह उत्तर दे रही है। लक्षण :–

"उत्तर देवे में जहाँ प्रश्नौ परत लखाय।
प्रश्नोत्तर का प्रथम यह भेद कहें कविराय।"

काकूक्ति [काकु-वक्रोक्ति] से नायिका की उक्ति में उसका अभिमत अर्थ निकलता है, इस लिये काकूक्ति भी

---

* यदि सखी की उक्ति नायिका से हो तो कृष्ण में रुचि उपजाना प्रयोजन है। यदि दूती विवर्जिता नायिका का कथन सखी के प्रति है तो उससे दूतत्व कराना प्रयोजन है। गुण कथन से पूर्वानुराग व्यङ्ग्य है।

है। इस प्रकार 'उत्तरालंकार' और 'काकुवक्रोक्ति' की 'संसृष्टि' [अलंकार] भी है।

तथा 'शिक्षा' रूप 'कारण' के होने पर भी कुल गली की रक्षा रूप --'कार्य्य' नहीं हुआ, (सखी की शिक्षा निष्फल गई) इस लिये 'विशेषोक्ति' अलंकार भी है।

"कार्य्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे ।"—
"विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजत नाहिं।"

तथा 'तीसरी विभावना' अलंकार भी है क्योंकि बाधक (शिक्षा)के होते हुए भी—कार्य—कुलगली तजना रूप हो गया। "विभावना तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।" पूर्वार्ध में "....कुल...कुल...." के कारण लाटानुप्रास, और उत्तरार्ध में 'वृत्त्यनुप्रास' है।

अथवा यह मुरली ही का मामला है। कोई (नायिका) उसी की उन्मादकता का वर्णन कर रही है, कि हे मुरली! तूने कितने घरों को नहीं घाला! तेरी मीठी तान ने कितनी मृगनयनियों के कोमल हृदयों को नहीं बींधा!

वह कौन कुल-कामिनी है जो तेरे स्वर से बहक कर—मार्ग भ्रष्ट हो— मुरली वाले की तलाश में बन बन न भटकी हो। तेरे आलाप के आगे किसी के कहने सुनने और समझाने बुझाने का असर नहीं होता, तू कान में कुछ ऐसा मंत्र फूंकती है कि सुनने वाला सबसे नाता तोड़कर तेरा ही हो रहता है, फिर उसे बंसी के सिवाय न कुछ सुनाई देता है, न बंसी वाले के अतिरिक्त कुछ और सूझता है! बस!—†

"कानन में बसी बांसुरी की धुनि
प्रानन में बसो बांसुरीवारो"—

जिस समय बंसी तो सुनाई देती है पर वंसीवाला दिखाई नहीं देता उस दशा में सुनने वाली पर जो बीतती है, उसका दिल ही जानता है, तब वह जल कर यही कहती है—

"ज़रा से बांस की पोरी मेरे दिल को जलाती है,
कटा डारो उसी बन को जहां से बनके आती है"—

क्योंकि "न रहे बांस न बजे बांसुरी"— तूने जिसकी 'कुलगली' छुड़ाई, वह तेरे कुल (बन) को क्यों न कोसे! रसनिधि ने भी बांसुरी पर अच्छी तान उड़ाई है, क्या खूब कहा है—

"मोहन बसुरी सौं कछू मेरो बस न बसाय।
सुर—रसरी सौं श्रवन—मगु बांधि मनै लै जाय॥"

[रतन हजारा]

---

† बंसी की तान सुनकर ग्वाल-बालाओं में जो हड़बड़ी पड़ती थी और गाय बैलों तथा मृगों तक की जो दशा हो जाती थी उसका वर्णन श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में बड़ा मनोहर है। यथा—

"शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्।
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्याः पाययंत्यः सुतान् पयः॥"
"वृंदशो व्रजवृषा मृगगावो वेणु—वाद्य हृतचेतस आरात्।
दंतदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्॥"

आठ

उर गुंजन की माल

[हे सखी ! गोपाल के वक्षःस्थल पर घुंघलियों की माला ऐसी सुशोभित हो रही है मानो श्री कृष्ण जो वन को आग पहले पी गए थे, उसकी लपट बाहर निकल कर चमक रही है। —स०]

गुंजमाल-वर्णन

(८)

सखि ! सोहत गोपाल के उर गुंजन की माल।
बाहर लसत पिये मनो दावानल की ज्वाल॥

अर्थः— नायिका सखी से कहती है कि—हे सखी! (गोपाल के उर, गुंजन की माल, सोहत)—गोपाल की छाती 'वक्षःस्थल'– पर घुंघचियों की माला सुशोभित है, (मनो पिये दावानल की ज्वाल बाहर लसत)–मानो पहले पिये हुए दावानल—दावाग्नि 'दौं' की लपट बाहर चमक रही है।

एक बार वन में आग लगी थी, जिसे श्रीकृष्ण पी गये थे। (भागवत के दशम स्कंध में यह कथा है) गुंजामाला को देख कर नायिका कहती है कि मानो ये उसी आग की ज्वालाएँ बाहर निकल रही हैं। प्रिय जन के हृदय से आग की लपटें निकलती बतलाना, अमङ्गल है। इसके समाधान का प्रयत्न टीकाकारों ने इस प्रकार किया है:—

"मानो गुंजामाला ने दावानल पी है,
उसी से यह ऐसी चमक रही है"—

पर यह समाधान भी सन्तोषजनक नहीं हुआ, क्योंकि ऐसी कठोर माला का (जो दावानल को पी गयी है !) प्रिय के हृदय पर पड़े रहना भी प्रेमी से कब सहन हो सकता है ! इसलिए यह अर्थान्तर करना चाहिए– कि गोपाल के गले की माला सपत्नी के गले में पड़ी है उसे देख कर नायिका कहती है कि हे सखी ! गोपाल के गले की गुंजामाला इसके (सपत्नी के) गले में ऐसी मालूम होती है। या सपत्नी के हाथ की गुंथी गुंजामाला गोपाल के गले में देख कर ईर्ष्या से जल कर 'अन्यसंभोगदुःखिता' नायिका कहती है मानो माला ने दावानल पी है, वही बाहर चमक रही है, इसे देख कर हमारी आँखें जलती हैं, यह भाव।

यहां "उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालङ्कार" है, क्योंकि गुञ्जामाला-वस्तु में ज्वाला-वस्तु की सम्भावना की गयी है। तथा 'सोहत' 'लसत' से 'अर्थावृत्ति–दीपकालङ्कार' भी है। जहाँ शब्द भेद से वही अर्थ फिर कहा जाय, वहाँ "अर्थावृत्ति दीपक" होता है, जैसे यहाँ एक ही अर्थ–सुशोभित होना' 'सोहत' और 'लसत' दो शब्दों द्वारा कहा गया है। यथा:—

लक्षण—"पुनि है आवृत्ति अर्थ की दूजे कहिए ताहि।"
उदाहरण—"फूले वृक्ष कदम्ब के बिकसे केतक आहि॥"

(भाषाभूषण)

नौ

बैस बरन मन एक

[श्री राधा कृष्ण युगल मूर्ति नित्य प्रति इकट्ठे ही रहते हैं। दोनों की आयु, वर्ण (जाति) और मन एक हैं। किशोरी राधा और किशोर कृष्ण की इस युगल मूर्ति के देखने के लिए नेत्रों के भी अनेक युगल (जोड़े) चाहिए। —स०]

युगल मूर्ति-वर्णन

(६)

नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि लोचन जुगल अनेक॥

अर्थ:—श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्त्ति का अथवा श्री कृष्ण बलदेव जी की जुगल जोड़ी का वर्णन। सखी से या भक्त का वचन भक्त से। [नित प्रति एकत्र ही रहत]—नित्य प्रति, सदा, एकत्र–इकट्ठे ही रहते हैं, [बैस बरन मन एक]–वयस् आयु, वर्ण–जाति और मन दोनों के एक हैं, अभिन्न हृदय हैं।

अथवा—"दोनों वयस बरन"—आयु के अक्षरों से एक हैं, अभिप्राय यह है कि राधा जी "श्यामा" हैं [श्यामा षोडशवार्षिकी] सोलह वर्ष की स्त्री की श्यामा संज्ञा है, और श्री कृष्ण जी 'श्याम' हैं, श्यामा में 'आकार' और श्याम में 'अकार' [अन्त्याक्षर है, अकार आकार व्याकरण के मत से दोनों समान हैं, अर्थात् स्थान प्रयत्न आदि एक होने से दोनों – अकार आकार सवर्ण-संज्ञक हैं।" [हरिप्रकाशसम्मतोर्थ]

[जुगल किशोर लखि]—किशोरी राधा—किशोर कृष्ण की युगल मूर्ति को देखकर, [अनेक लोचन जुगल चहियत]—नेत्रों के अनेक जोड़े चाहिए। इन दो आंखों से इस अद्भुत शोभा—सम्पन्न जुगल जोड़ी की छवि अच्छी तरह नहीं देखी जा सकती, बहुत से नेत्र हों तब ठीक देखो जा सके। अनेक नेत्र चाहिए—इस कथन से शोभा का आधिक्य व्यंग्य है। श्री कृष्ण बलभद्र के वर्णन में भी यही अर्थ संघटित है।

"बैस बरन" की व्याख्या में प्राय: टीकाकारों ने बहुत घुमा फिरा कर नाक पकड़ी है। यह कदाचित् इसलिये कि श्री कृष्ण जी के पिता वसुदेव जी और नन्दगोप, तथा वृषभानु [श्री राधिका के पिता] की जाति में कुछ अवान्तर भेद था। यद्यपि श्री कृष्ण जिस दशा में नन्द जी के यहां थे, उन्हें सब नन्द जी का ही पुत्र समझते थे, और राधा जी के पिता तथा नन्द जी दोनों एक ही जाति बिरादरी के थे। फिर इतनी सी बात के लिये 'वर्ण' की ऐसी विचित्र व्याख्या करने की कुछ ऐसी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अवान्तर भेद, एक जातित्व या सवर्णता का बाधक नहीं हैं। 'ब्राह्मण जाति' कहने से उसके सब कल्पित और अवान्तर भेद आ जाते हैं, गौड़ और कान्यकुब्ज दोनों को 'सवर्ण' कह सकते हैं। अस्तु।

"बैस वरन" पर टीकाकारों की कल्पनाएं सुनिये—"..... वैस वरन"—[बैस]—वय: क्रम, ताको तूं

[बरन]—(वर्णय !) वर्णन कर, कहा अच्छी उमरि है ?" अथवा, "वर्णनीय"— वर्णन करिवे लायक, वयस—अवस्था, सो एक है।" अथवा, "वयस के वर्ण -अक्षर एक हैं, यह भी किशोर हैं वह भी किशोर हैं। (हरिकवि)"

हरि कवि और लल्लू लाल जी ने 'बरन' का अर्थ 'रंग' नहीं किया, क्योंकि दोनों के रंग में भेद था, राधा जी गोरी और कृष्ण जी काले और बलदेव जी भी शेष के अवतार सफेद चिट्टे, उनका भी 'रंग' कृष्ण जी से मेल नहीं खाता। परन्तु 'रसचन्द्रिका' मे 'वरन' का अर्थ 'रंग' भी किया है और उस पर यह प्रश्नोत्तर दिया है:—

"और 'वरन' पर प्रश्न करे—कै [कि] वे [राधा] गोरी, ये स्याम, 'वर्ण' एक कैसे ह्वै सके ? ता कौ [या कौ] उत्तर यह है कि दोनों के रंग की जोत मिले से दोनों का रंग हरित हो गयो।" और यह भी उत्तर हो सके है, [अर्थान्तर से] कि दोऊ वै [दोनों] 'सवर्ण हैं, वे गोप वे गोपिन"—

यहाँ समालंकार है। दोनों के वयस वर्ण आदि एक से मिल गये। (और वे आपस में मिल गये !) "सम" का लक्षण—

"यथायोग्य को संग जहँ मिले सु "सम" निरधार।"

"विशेषोक्ति" अलंकार भी है, नेत्रयुगलरूप कारण से, युगलमूर्ति— दर्शन रूप कार्य नहीं हो सकता, इसलिये।

अनवर चन्द्रिका और प्रताप चन्द्रिका में इस दोहे को केवल श्री कृष्ण और बलभद्र जी के ही वर्णन पक्ष में लगाया है, क्योंकि उनके मतानुसार:—"जो नायिका की उक्ति होय तो 'रसाभास' ※ होत है। और † 'किसोर' पद 'अनुचित' है। जो किसी भक्त की उक्ति होय तो व्यंग्य से राम कृष्ण बोद्धव्य हैं। ग्रंथ कर्त्ता [बिहारी] इस मंगलाचरण से कृष्णोपासक प्रतीत होत हैं, अतः इसमें शान्त रस ⊙ है।"

परन्तु हरि कवि ने इसे खण्डिता नायिका की उक्ति में भी लगा दिया है।

यथा - "अन्यत्र विहार करके प्रातः काल नायक आया है, इससे नायिका को क्रुद्ध देखकर नायक के पक्ष की सखी कहती है कि यह तो और किसी नायिका के पास जाते नहीं, तू क्यों पीठ फेरे रूठी बैठी है, इनकी ओर देख तो सही ! इस पर खण्डिता कहती है कि "हाँ यह और कहीं नहीं जाते" "नित प्रति एकत ही रहत"— केवल एक उसी [कलमुही !] के पास सदा रहते हैं ! क्योंकि इनका उसका वयस [आयु] और वर्ण— रंग एक है, जैसे यह काले, वैसी वह काली, यही नहीं दोनों का मन भी एक है। जैसा कुटिल मन इनका है, वैसा ही उसका मन कुटिल है ! और यह "जुगलकिसोर" हैं, एक नहीं दो हैं, किशोरी किशोर की जोड़ी है। इनके कुटिल हृदय में वही कुटिला छिपी बैठी है ! फिर ऐसी हालत में, इस अद्भुत 'युगलमूर्त्ति' के देखने को आँखों के अनेक जोड़े चाहियें, इन बेचारी नींद की मारी दो आँखों से क्या देखूँ ? किसी खण्डिता की उक्ति है—

"देखन न देहौं इन्हें यों ही तरसैहौं अब,
हियहि की आँखनि दिखैहौं रूप रावरो॥"

यहाँ कवि परमानन्द जी ने 'सम्भावनालंकार' भी माना है, यथा —

"·········यदा अनेकदृग्युगानि भवेयुस्तदैवेदं युग्मं दृश्यं भवेदिति युग्मदर्शन-सिद्धये अनेकदृग्युगलसम्भावनमिति सम्भावनालङ्कारः। "सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये" इति तल्लक्षणात्।"

अर्थात्— यदि आँखों के अनेक जोड़े हों तब ही यह जोड़ी देखी जा सके' इस प्रकार जोड़ी के देख सकने के लिये आँखों की अनेक जोड़ियों की सम्भावना की गई— सो 'सम्भावनालंकार' है। कुवलयानन्द में इसका यह

※ प्रतिनायिकागत रस वर्णन के कारण।

† 'किशोर' पद तरुणावस्था का वाचक न होने से, रस पोषक नहीं।

⊙ यहाँ देव विषयक-रतिभाव कहना उचित है।

लक्षण है कि—"यदि ऐसा हो, तो ऐसा हो"— इस प्रकार किसी कार्य की सिद्धि के लिये कल्पना करना सम्भावनालंकार है।"

"काव्यप्रकाशकार ने इसे (सम्भावना को) "अतिशयोक्ति" का एक भेद माना है। यथा—

"यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्" यद्यर्थस्य— यदि शब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत् कल्पनं (अर्थात् असम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया [यद्यर्थातिशयोक्तिरित्यर्थः]

(काव्य प्रकाश, दशम उल्लास)

अर्थात् जहाँ 'यदि' या 'चेत्' शब्द के प्रयोग पूर्वक कोई कल्पना की जाय, वहीं 'यद्यर्थातिशयोक्ति'— कुवलयानन्द की 'सम्भावना'— होती है। यदि इन दोनों शब्दों में से किसी एक का प्रयोग न हो तो यह अलंकार नहीं होता। काव्यप्रकाशकार और उसके टीकाकारों का यही मत है। साहित्य दर्पण के टीकाकार ने भी इस पर स्पष्ट लिखा है कि— "यद्यर्थ प्रयोग एवायं प्रकारः सम्भवति।"

कुवलयानन्द, काव्य प्रकाश तथा साहित्य दर्पण— इन तीनों ग्रन्थों में जितने उदाहरण इसके (सम्भावनालंकार के) हैं सब में 'यदि' या 'चेत्' है। 'यदि' 'चेत्' - रहित कोई उदाहरण नहीं। इससे स्पष्ट है कि बिना इसके— यदि, चेत्, के साक्षात् प्रयोग के— 'सम्भावना' या 'यद्यर्थातिशयोक्ति' नहीं होती। इसलिये कवि परमानन्द जी का यह मत आनन्ददायक प्रतीत नहीं होता! इस दोहे में 'सम्भावनालंकार' की सम्भावना नहीं है। परमानन्द जी ने जो इस दोहे का संस्कृतानुवाद किया है वह यह है—

"विलसति युवयोरेकता वर्णवयोहृदयेन।
भवेदिदं युगलं कथं दृश्यं नयन-युगेन॥"

(श्रृङ्गारसप्तशती)

दस

सबन लखे सब पास

[शरद् ऋतु की रात में, गोपियों के साथ रसिक—शिरोमणि श्री कृष्ण अनुराग से क्रीड़ा कर रहे हैं। रास में नाचने की विशेष गतियों की अत्यन्त द्रुतता के कारण कृष्ण को सब ने सब के पास देखा।

—स०]

दक्षिण नायक-वर्णन

(१०)

गोपिन संग निसि सरद की रमत रसिक रस रास।
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास॥

अर्थ—सखी का वचन सखी से। रासलीला का वर्णन। [सरद की निसि, गोपिन संग, रसिक, रस, रमत]—शरद् ऋतु [क्वार कार्त्तिक] की रात में, गोपियों के साथ रसिक-शिरोमणि श्री कृष्ण, रस से—अनुराग से [ऊपरी मन से नहीं!] क्रीड़ा कर रहे हैं, [रास]— रास में [गतिन की अति लहाछेह, सबन, सब पास, लखे]—

गतियों [नाचने की गति विशेषों] को अतिलहाछेह *— अत्यन्त शीघ्रता से [सबन सब पास लखे]— सब ने सब के पास [वह] देखे।

अभिप्राय यह है कि रास में नट नागर श्री कृष्ण ने नृत्य कला के ऐसे अद्भुत कौतुक दिखलाये, नाचने में इस फुरती और सफ़ाई की चाल चली, कि सब ने उन्हें सबके पास देखा, वह एक और गोपियां हज़ारों, पर "जहां देखो वहीं मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।"

अलंकार—'विशेषालकार' का भेद है। 'रेफ' बाहुल्य से वृत्यनुप्रास भी है।

१—"विशेष: सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते।"
उदा०—"अन्तर्वहि: पुर: पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे।"
(कुवलयानन्द)

२—"वस्तु एक को कीजिए वर्नन ठौर अनेक।"
उदा०—"अन्तर वाहिर दिश विदिश वही तीय सुख दैन।"
(भाषाभूषण)

अर्थात् जहाँ एक ही वस्तु की स्थिति एक ही समय कई जगह कही जाय, वह "विशेषालङ्कार" का एक भेद है। जैसे यहाँ इस वर्णन में कि श्री कृष्ण एक ही समय सब गोपियों को एक साथ सबके पास दीखते थे।

कोई कोई भक्तजन टीकाकार एक ही समय में श्री कृष्ण जी के सब को सब के पास दिखाई देने का कारण "ईश्वर-विभूति" बतलाते हैं। पर यह पक्ष रस-पोषक नहीं। ईश्वरता को छिपाकर—उसकी चर्चा न चलाकर—नटवर की नृत्यनिपुणता से ही ऐसा कर दिखाने में मज़ा है—रस पुष्टि है—। ईश्वर लीला प्रकट करने के लिए 'रास लीला' की कुछ ऐसी आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त 'बिहारी लाल जी' को यदि विभूति द्वारा ही अनेक रूप धारण करने का वर्णन अभीष्ट होता तो "लहाछेह" से अनेक रूपों की प्रतीति बतलाने की क्या आवश्यकता थी!

इस दोहे पर कृष्ण कवि के कवित्त का उत्तरार्ध यह है:—

"अबला अनेकन में कीन्हीं नन्दलाल कछू,
अद्भुत चातुरी की कला यों प्रकास है।"
"सबही की बांह गही सबही के संग नाच्यो,
सबनु विलोक्यो कान्ह सब ही के पास है।।"

'अभिमन्यु' कवि का यह कवित्त भी इसी दोहे का अनुवाद सा प्रतीत होता है:—

"जमना के पुलिन उजेरी निसि सरद् की
राका को छपा कर किरण नभ चाल की,
नन्द को लड़ैतो तहां गोपिका समूह लै कै
रची, रास क्रीड़ा बजै बीना डफ ताल की।
लहाछेह गतिन की कही न परत मो पै,
द्वै, द्वै गोपिका के मध्य छवि नन्दलाल की।
सोभा अवलोकि 'अभिमन्यु' कवि बोलि उठ्यो,
एक बार बोलो साधो! जै गोपाल लाल की।।"

'रास लीला' का विचित्र वर्णन भागवत के दशम् स्कन्ध में है। यथा—

"रासोत्सव: सम्प्रवृत्तो गोपी मण्डल-मण्डित:।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयो:॥"
इत्यादि।

---

* लहाछेह—"चञ्चलगति" (हरि कवि)। "लघुद्रुतगति" (व्यास जी)।

"रास के रसिक ने" येती (इतनी) जल्दी कीनी कि सब ने अपने अपने पास लखे, जितनी गोपी हतीं (थीं) तितने रूप श्री कृष्ण ने घरे, सब का मान रखा और "लहाछेह" को अर्थ जल्दी को है"-(रस चन्द्रिका) —"चालाकी"—(अनवर चन्द्रिका। प्रताप चन्द्रिका)।

"——शीघ्रता"—लहाछेह को संगीत में 'उरप तुरप' कहते हैं। नाच के प्रकरण में" (लाल चन्द्रिका)

ग्यारह

रंग निचुरत से नैन

[भला ये बातें बनाकर मुझे बावली क्यों बनाते हो ? छिपाने से असल हाल छिपता नहीं। रतजगा करने से आँखें ऐसी लाल सुर्ख हो रहीं हैं मानो उनसे रंग टपक रहा है। तुम्हारी ये आँखें रात के सारे रग को कहे दे रहीं हैं। —स०]

शठ नायक-वर्णन

(११)

मोहि करत कत बावरी किये दुराव दुरै न।
कहे देत रँग रात के रँग निचुरत से नैन ॥

अर्थ :—खण्डिता, लक्षिता और अन्यसम्भोगदुःखिता, तीनों के पक्ष में संघटित है। नायक से नायिका की उक्ति हो तो खण्डिता। नायिका से सखी का वचन हो तो लक्षिता, और नायिका का कथन सखी के प्रति समझें तो अन्यसम्भोगदुःखिता।

कहीं अन्यत्र रात बिताकर प्रातः काल नायक 'महात्मा' पधारे हैं। नायिका पूछती है कि कहो रात कहां रहे ? वह असल बात छिपाकर कुछ ऊट-पटांग उत्तर दे, पीछा छुड़ाना चाहते हैं, तब नायिका कहती है :—

(मोहि कत बावरी करत) - भला ये बातें बनाकर, मुझे क्यों बावली बनाते हो! (दुराव किये दुरै न)—छिपाने से असल हाल छिपता नहीं! (रगनिचुरत से नैन) —रतजगा करने से जिनसे रंग निचुड़ रहा है - आँखें ऐसी लाल सुर्ख हो रही हैं मानो उनसे रग टपक रहा है— ऐसी तुम्हारी आँखें (रात के रंग कहे देत)—रात के रंग को (रतिविलास को) कहे देती हैं!

तुम लाख बातें बनाओ और असलियत को छिपाओ, तुम्हारी इन आँखों से टपकता हुआ रंग रात की रंग-रलियों का पूरा पता दे रहा है!

'रंग' का अर्थ यहाँ 'लक्षणलक्षणा' करके 'रतिविलास' समझना चाहिये। जहाँ शब्द अपने अर्थ को बिलकुल छोड़-कर किसी दूसरे अर्थ का बोध करावे, वहाँ 'लक्षण-लक्षणा' होती है। जैसे यहाँ रंग शब्द अपने रक्त वर्ण विशिष्ट द्रव पदार्थ रूप— शक्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'रतिविलास' को लक्षित करता है।

अमरचन्द्रिका और लालचन्द्रिका के मत में यहाँ "काव्यलिङ्ग" अलंकार है।

(रंग निचुड़ते हुए नेत्रों ने रात के रंग को दृढ़ किया"—)

हरि कवि के मत में "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" है :—

"नेत्र रात को जागने से अति लाल हुए हैं, मानो उनसे रंग चू रहा है। यहाँ—'रंग चू रहा है' इस पद से 'मानो' (उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्द) का अर्थ निकलता है, और उसका अन्वय 'कहे देत है'— इस क्रिया के आगे है। अर्थात्, नेत्रों से रंग चू रहा है, सो मानो रात के रंग को कहे देता है"— (हरिप्रकाश)

"वर्षतीवाञ्जनं नभः" मानो आकाश 'अञ्जन' की वर्षा कर रहा है। यहाँ अविद्यमान अञ्जन (जिसकी सम्भावना की गई है) और विद्यमान—'तम' (जिसमें सम्भावना की गई है) दोनों कहने चाहिये थे, पर केवल 'अञ्जन' ही कहा, सम्भावना का आस्पद— 'तम' नहीं कहा, इस कारण "वर्षतीवाञ्जनं नभः" में 'अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा' है। ऐसे ही प्रकृत में, 'रंग'— रूप जिस अविद्यमान वस्तु की कल्पना 'आँखों की सुर्ख़ी में की गई है"—वही है। 'आंखों की सुर्ख़ी— यह आस्पद, अनुक्त है, इसलिये "अनुक्तास्पदा है। * इससे ही "आँखें ऐसी सुर्ख हैं मानो इनसे रंग चू रहा है"—ऐसा कह दें तो "उक्तास्पदा" हो जाय।

'प्रतापचन्द्रिका' के मत में यहाँ "उपमानलुप्तोपमालंकार" है। रग निचुड़ता हुआ, 'वस्त्रादि' उपमान नहीं कहा— यहां वह लुप्त है— और लक्षणा से लक्षित होता है।

बारह

परी दृगन में छाँह

[हे बाले ! तेरे नेत्रों के कोयों में लाली क्यों है ? उत्तर मिलता है कि हे लाल ! तुम्हारे नेत्रों की परछाई मेरी आँखों में पड़ रही है। इसी से ये लाल हैं। —स०]

(१२)

बाल ! कहा लाली भई लोयन कोयन मांह।
लाल ! तिहारे दृगन की परी दृगन में छांह॥

अर्थ— नायक नायिका का प्रश्नोत्तर। नायिका धीरा खण्डिता। नायक शठ।

रात को किसी और जगह झख मारकर नायक आया है, नायिका बेचारी उसकी इन्तज़ारी में रात भर जगी है, कुछ इससे और कुछ उन्हें इस दशा में देखकर क्रोध से उसकी— नायिका की— आंखें लाल हो रही हैं। सो आते ही आप पूछते हैं :—

प्रश्न— (बाल ! लोयन कोयन मांह कहा लाली भई ?)— हे बाले ! तेरे नेत्रों के कोयों में लाली क्यों है ?

उत्तर— (लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में

* हरि कवि ने यत्र तत्र 'अनुक्तास्पदा' का यही साधारण लक्षण किया है कि— जहां क्रिया के आगे उत्प्रेक्षावाचक 'मनु' आदि का अन्वय हो वह 'अनुक्तास्पदा' है।

छांह) हे लाल ! तुम्हारे नेत्रों की परछाईं (प्रतिबिम्ब मेरी आंखों में पड़ रही है। इसी से लाल हैं।

बड़ा ही विचित्र उत्तर है। यह जवाब सचमुच लाजवाब है। तुम्हारी आँखों का अक्स मेरी आंखों में पड़ रहा है। इसलिये वे लाल मालूम हो रही हैं। कैसे भोले लाल हैं! मानो कुछ जानते ही नहीं, अपनी आँखों को देखो, वे क्यों लाल हैं! फिर मेरी आँखों के लाल होने का कारण स्वयं विदित हो जायगा। तुम यह ऐसी आंखें लाल किए इस वक्त कहाँ से आ रहे हो! मैं तुम्हारी इस धज को एक टक आंखें फाड़े बड़े आश्चर्य से देख रही हूँ। सो तुम्हारी ये लाल आंखें ही मेरी आँखों में पड़ी झलक रही हैं।.

कवि ने इस दोहे में कमाल किया है, फड़का देने वाले अतिचमत्कृत अर्थ के साथ शब्द रचना और वाक्य-विन्यास भी बड़ा ही सुन्दर है। केवल 'बाल' और 'लाल' दोनों संबोधन पद ही लालों की जोड़ी से कम कीमत के नहीं हैं! शठ शिरोमणि नायक, नायिका को भोली भाली मुग्धस्वभावा और अपनी करतूतों से बेखबर, नातजुर्बेकार जानकर, उसे छलना, अपने अपराध को छिपाना सुगम समझ, "बाल" सम्बोधन से पुकारता है। नायक को "लाल" शब्द से सम्बोधन करने में भी बड़ा व्यंग्य है। मानो तुम ऐसे ही भोले लाला हो। कुछ जानते ही नहीं! जान बूझकर क्यों छलते हो! इसके अतिरिक्त लाल आंखों वाले को— जिसकी आँखों की लाली और की भी आंखों को लाल करदे— लाल' कहना उचित ही है। फिर इस निराले ढग से अपना क्रोध छिपाकर शठ नायक को क़ायल करना धीरा-पण्डिता-के स्वरूपानुरूप ही है। आंखें क्यों लाल हैं ? इसका यह उत्तर कि उनमें तुम्हारी आंखों का अक्स पड़ रहा है, बड़ा गूढ़ाभिप्रायगर्भित है। यहां इस उत्तरालंकार से यह ध्वनि निकलती है कि तुम्हारी आंखें रात्रिजागरण से इतनी अधिक लाल हो रही हैं कि उसका छिपा रह सकना तो दूर रहा (तुम छिपाना चाहो तो भी नहीं छिपा सकते) उस लाली के प्रतिबिम्ब ने मेरी आंखों को भी लाल कर दिया! गहरे रंग की चमकीली चीज़ का प्रतिबिम्ब सामने की साफ़ चीज़ को भी अपने रंग का बना देता है।

अभिप्राय यह है कि तुम्हारे प्रकट और असह्य अपराध से उत्पन्न क्रोध से मेरी आँखें लाल है!

किसी विशेष भाव या व्यंग्य को लिये हुए, जहाँ किसी प्रश्न का उत्तर दिया जाय, वह 'उत्तरालकार' है। (उत्तरालकार का लक्षण, उदाहरण ७ वें दोहे की टीका में आ चुका है।)

'लोयन कोयन' से छेकानुप्रास, और 'लोयन दृग' से अर्थावृत्ति दीपक है।

यहाँ और ७ वें दोहे में, भी हरि कवि ने "चित्रालकार" माना है। पर यह युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जहाँ वही प्रश्न और काकु आदि के हेर फेर से वही उसका उत्तर हो, या कई प्रश्नों का एक ही उत्तर हो, वहीं 'चित्रालकार' होता है। यथा—

"प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तर चित्रमुच्यते।"
"के दारपोषणरताः, के खेटाः, किं चलं वयः॥"
(कुवलयानन्द)

जैसे, यहाँ "के दारपोषणरताः ?" "स्त्री के पालन पोषण में कौन लगे हुए हैं?) इस प्रश्न का यही वाक्य उत्तर है कि "केदारपोषणरताः" 'जो खेत के काम में लगे हुए हैं।' अर्थात् वही लोग कुटुम्ब-पालन में समर्थ हैं जो खेती बाड़ी के काम में लगे हैं। "के खेटाः ? किं चलं ? वयः" आकाश में विचरने वाले कौन हैं ? और चलायमान क्या है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर "वयः" शब्द का अर्थ पक्षी और आयु दोनों हैं।

भाषाभूषण में चित्रालंकार का लक्ष्य, लक्षण यह है:—
"चित्र, प्रश्न उत्तर दुहू एक वचन में सोय।"
"मुग्धा तिय को केलिरुचि भौन कौन में होय॥"

परन्तु बिहारी के इन दोनों दोहों में (७ वें और १२ वें में) एक जगह उत्तर से प्रश्न उन्नेय है, और दूसरी

जगह प्रश्नोत्तर पृथक पृथक हैं। हरि कवि 'उत्तरालंकार'' को एक ही समझते हैं। ''सनिकज्जल०'' ३२८ दोहे की टीका में हरि कवि ने लिखा है ''उत्तरालंकार भी जानिये, या कौं ''चित्रालंकार'' कहत हैं''—। परन्तु 'उत्तरालंकार' 'और चित्रालंकार'' एक नहीं, पृथक पृथक हैं।

इस दोहे के भाव से बिलकुल मिलती जुलती एक प्राचीन प्राकृत 'गीति' काव्य प्रकाश के ध्वनि प्रकरण में उदाहृत है—

''ओल्लोल्लकर अरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णम्।
रत्तंसुअं पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ।।''

(आर्द्रार्द्र-करजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम्।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते।।)

प्रतिनायिका-कृत ताज़े नख-दन्तक्षत रूप सम्भोग चिन्हों को वैसे ही चमकाता हुआ शठ नायक, नायिका के सामने चला आया। यह रंग देख कर नायिका की आँखें क्रोध से लाल हो आयीं, इस पर नायक उससे पूछता है कि तुम्हारी आँखें क्रोध से लाल क्यों हो गयीं? नायिका कहती है कि :—

तुम्हारे शरीर पर झलकते हुए इन आर्द्रार्द्र तुरत के ताज़े (खून झलकते लाल लाल) दन्त नखक्षतों (ज़ख्मों) ने मेरी आंखों को ''रक्तांशुक'' (रक्तकिरण रूप) लाल कपड़ा 'प्रसाद' दिया है, (उसी की लाली है) क्रोध से ये लाल नहीं है!

जब कोई पुरुष किसी तीर्थ स्थान की यात्रा से लौट कर आता है तो जो वस्तु वहाँ की प्रसिद्ध होती है उसे 'प्रसाद' के रूप में अपने मिलने वालों को भी लाकर देता है, जिसे वे सादर ग्रहण करते हैं-- प्रसाद बहुत ही अद्भुत या पवित्र हो तो उसे सिर पर रखते हैं और आंखों से लगाते हैं।

यहाँ गाथा में 'उत्तरालंकार', 'आर्द्रार्द्र' तथा 'प्रसाद' पदों से विशेष ध्वनि निकलती है। 'आर्द्रार्द्र'—से यह कि रति-चिन्ह ऐसे प्रकट और स्पष्ट हैं जिन्हें तुम छिपा नहीं सकते, क्योंकि वह बिलकुल ताज़े हैं, इसीलिए लाल हैं और जो स्वय लाल हैं वे औरों को भी ''रक्तांशुक''= लाल किरणों का कपड़ा प्रसाद में दे सकते हैं) और फिर तुम उन्हें छिपाना चाहोगे भी क्यों! वह तो तुम्हारी तीर्थभूता प्रेयसी के प्रसाद-सूचक चिन्ह हैं। तीर्थ की निशानी 'प्रसाद' में दी ही जाती है, सो मुझे भी तुमने उनका प्रसाद पात्र बना दिया, ऐसे प्रसाद को आंखों में धारण करने से वे लाल हो गई हैं। भाव यह कि इन लाल लाल रति-चिन्हों को प्रत्यक्ष देख कर भी आंखें लाल न हों तो क्या हो! यह कोई पुराना अपराध तो नहीं है जो भुलाया जा सके, यह तो अभी की ताज़ी करतूत है!

बहुत सम्भव है बिहारी का यह दोहा, इसी 'प्राकृत-गीति' की छाया हो, परन्तु दोहे की प्रभा के आगे गीति, विच्छाय बन गई है।

पहले प्रतिनायिकाकृत नखक्षतों और दन्तव्रणों से नायक के शरीर का लाल होना, फिर उनका नायिका के नेत्रों को 'रक्तांशुक' प्रसाद में देना, और फिर उसके कारण आंखों का लाल होना, और साथ ही कहने वाली का साफ़ साफ़ यह कहना कि 'ये क्रोध से लाल नहीं हैं''—इस 'चक्करदार' 'खुले हुए' उत्तर में वह बात कहाँ है, जो—''लाल! तिहारे दृगन की परी दृगनि में छांह''—इस सीधी सादी, तड़ाक फड़ाक 'हाज़िर जवाबी' में है!!

यह उत्तर रहस्यपूर्ण, मर्मस्पर्शी, युक्तियुक्त, बहुत सरल और नितान्त गम्भीर है! इसकी अखण्डनीयता की सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। प्रश्नकर्त्ता को सन्देह हो तो दर्पण लेकर अपना मुँह देख ले, अपनी आंखों से पूछ ले, यही उत्तर मिलेगा! जो रंग 'आकृति' में है वही ''प्रतिकृति'' में दीखेगा।

इसके अतिरिक्त गीति के 'उत्तर' में जो 'अपन्हुति'—(क्रोध से लाल नहीं हैं)—मिली हुई है, उसने भाव को खोल दिया। दोहे के उत्तर में वह भाव गूढ़ और चमत्कृत है! प्रश्नकर्त्ता ने जैसे अनजान बन कर पूछा है—इस भाव को छिपाया है कि आंखों की लाली से मैं समझ गया

हूँ कि तू क्रुद्ध है—धीरा नायिका ने उत्तर भी वैसा ही गूढ़ दिया है। ऐसे अवसर के लिये प्रश्नोत्तर का यह प्रकार बहुत ही हृदयङ्गम है। "तू क्यों क्रुद्ध है? मैं तो क्रुद्ध नहीं हूँ"—इस खुले डुले प्रश्नोत्तर में वह चमत्कृति नहीं रहती।

दोहे के शब्द भी कैसे जँचे तुले हैं, एक मात्रा भी व्यर्थ नहीं। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में आमने सामने 'लाल'! और 'बाल'! कैसे सुहावने और भले मालूम होते हैं! कितनी बेसाख्तगी (स्वाभाविकता) है! बार-२ पढ़िये और सिर धुनिये! वाह बिहारी लाल वाह!

तेरह

हँसी खिसी की लाल

[हे लाल! तुम्हारी यह बदचलनी की करतूत तुम्हारे ढिठाई से मुकर जाने से छिपती नहीं है। तुम्हारी यह खिसियानी हँसी मुझे विष की तरह बुरी लगती है। —स०]

धृष्ट नायक-वर्णन

(१३)

दुरै न निघर घटौ दिये ए रावरो कुचाल।
विष सी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल॥

अर्थ:—'धृष्ट' नायक ढिठाई से अपनी पोल पर खोल चढ़ा कर सुर्खरू बनना चाहता है, नायिका जो उस पर कुचाल चलने का इलज़ाम लगा रही है, उसे यों ही हँसी में उड़ा कर—मानो नायिका जो कुछ कह रही है, वह सब उसका भ्रममात्र है, वह इस योग्य नहीं है कि उस पर कुछ भी ध्यान दिया जाय, वह सिर्फ़ सुन कर हंस देने लायक़ बात है, बस—अपनी सच्चरित्रता सिद्ध करने की चेष्टा करता है। इस पर अधीर होकर (अधीरा) नायिका कहती है:—

हे लाल! (रावरी यह कुचाल)-तुम्हारी यह कुचाल-बदचलनी की कर्तूत-अपराध,— (निघर * घटो दिये, दुरै न)—दुलखने—ढिठाई से मुकर जाने से – छिपती नहीं।

* निघरघट— "दुलखिबो" पूरब में 'घघोट' कहै हैं, तुम यह काम किए हो? हम क्या ऐसो काम करेंगे! या तरह (मुकरना)। —(हरिप्रकाश)

'ढिठाई"— (प्रतापचन्द्रिका। लालचन्द्रिका)

(खिसी † की हँसी, विष सी बुरी लागती है) —और तुम्हारी यह, खिसियानी हँसी विष की तरह बुरी लगती है।

'पूर्णोपमालंकार" है। जहां, 'उपमान', 'उपमेय', 'वाचक' और 'धर्म', ये चारों मौजूद हों, वहां 'पूर्णोपमा" होती है। यहाँ विष 'उपमान', हँसी—'उपमेय', 'सी'—उपमा वाचक शब्द, 'बुरा लगना'—उपमानोपमेयगत—'साधारण धर्म', ये सब हैं।

"अनवर चन्द्रिका" के अनुसार यहां "उत्प्रेक्षालंकार" है (!)

"प्रताप चन्द्रिका" के मत में यहां—"अर्थान्तरन्यास' है—जहाँ साधर्म्य या वैधर्म्य से सामान्य, विशेष द्वारा, या विशेष सामान्य द्वारा समर्थित हो, वह "अर्थान्तरन्यास" है, सो यहां "विष सी हँसी लगे है"—इस 'सामान्य' को कुचाल—'विशेष' से समर्थन किया और वह उपमान (विष) का अंग है। अतः अङ्गाङ्गीभाव "सङ्कर" प्रतीत होता है।"

चौदह

हाथ लिये ही हाथ

[दुलहन नायिका और नायक ने सात्त्विक भाव से उत्पन्न पसीना रूपी जल और रोमाञ्च रूपी कुश को हाथ में लेकर, हाथ पकड़े हुए ही एक दूसरे के हाथ में एक साथ ही, हृदय रूप देय द्रव्य को दे दिया। —स०]

स्वकीया गांधर्व विवाह-वर्णन

(१४)

स्वेद-सलिल रोमाञ्च-कुस गहि दुलहिन अरु नाथ।
दियौ हियौ संग नाथ के हाथ लिये ही हाथ ॥

अर्थ—नायक नायिका ने अनुरागात्मक गाधर्व विधि द्वारा प्रच्छन्न रूप से एक दूसरे को आत्म-समर्पण करके वैध सम्बन्ध कर लिया है। * विवाह-विहित अन्य विधियों का प्रकाश रूप से पालन नहीं किया। इस बात को न जानने वाली तथा नायिका के स्वकीयात्व में (विधिवत् पाणिगृहीता होने में) सन्देह करने वाली बहिरंग सखी से सकलरहस्याभिज्ञा अन्तरङ्ग सखी कहती है। अथवा—पाणिग्रहण संस्कार के समय वर वधू के, प्रकट करते हुए सात्विक भाव को देख कर सखी दूसरी सखी से कहती है:-

---

†"खिसी"–खिसियाना होना—कुछ शरम कुछ गुस्से की हालत। जब आदमी किसी बात में हार जाता या निरुत्तर हो जाता है, तब वह हँस कर अपनी हार की शरम को दूर करने की चेष्टा किया करता है— इस दोहे के धृष्ट नायक की भी यही दशा है।

* "दिल को इस आजजी से देता हूँ, कोई समझे सवाल करता है।"

(दुलहिन अरु नाथ)—दुलहन—नायिका और नाथ—नायक ने—(स्वेदसलिल, रोमाञ्च कुस गहि)—सात्त्विक भाव से उत्पन्न पसीना रूप जल और रोमाञ्च रूप कुश हाथ में लेकर, (हाथ लिये ही)—हाथ पकड़े हुए ही (नाथ के हाथ, संग हियो दियौ) यहाँ 'नाथ' पद दुलहिन और नायक दोनों का उपलक्षण है—एक दूसरे के हाथ ही हृदय (हृदय रूप देय-द्रव्य) दे दिया ।

जब किसी पदार्थ का दान करते हैं, तो दाता हाथ में जल और कुश लेकर सङ्कल्प पढ़ता और उसे प्रतिग्रहीता के हाथ पर छोड़ता है। पाणिग्रहण में वरवधू के हाथ आपस में मिला कर बांध देने की भी रीति है, और विवाह में वर, वधू का हाथ पकड़ता ही है, इसलिये दूसरा नाम "पाणिग्रहण" है।

सो यहाँ नायक नायिका एक दूसरे के प्रति दोनों ही दाता और दोनों ही प्रतिग्रहीता हैं। 'सात्त्विक भाव' से उत्पन्न 'स्वेद' का रोमाञ्च' ही इस दान-विधि में जल और कुश हैं। 'मन' ही देय द्रव्य है, जो हाथ पकड़े हुए (मुट्ठी बन्द किए) ही चुपचाप परस्पर एक दूसरे को दे दिया गया है।

सात्त्विक दान चुपचाप ही दिया जाता है, उसके लिये ढोल पीटने, पब्लिक में सुनाने और लोगों को गवाह बनाने की आवश्यकता नहीं होती ! 'गान्धर्व'-विधि का पाणिग्रहण तरुणावस्था में और एकान्त—निर्जन—देश में ही किया जाता है, उससे दान के अङ्गभूत देश' और 'काल' (यौवन काल और निर्जन देश) भी समझ लेने चाहिए।

दोहे में कवि ने नायिका—बोधक—'दुलहिन' शब्द 'विवाह-विधि' की सूचना के किये प्रयुक्त किया है, तथा इससे नायिका का 'स्वकीया' और (प्रच्छन्न सम्बन्ध से पूर्व) कुमारी होना भी ध्वनित होता है। अर्थात् यद्यपि यह परस्पर आदान प्रदान, प्रच्छन्न-रूप से एकान्त स्थान में सम्पादित हुआ है, पर है धर्मानुकूल शास्त्रसम्मत सम्बन्ध ! आठ प्रकार के विवाहों में 'गान्धर्व विवाह' की भी गणना है। यथा:—

"ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।।" (मनु)

कामशास्त्रियों ने इनमें से "गान्धर्व विवाह" को ही सबसे अधिक गौरव दिया। यथा:—

'व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः ।
मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वस्तेन पूजितः ।।"
"सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह ।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः ।।"
(वात्सायन, कामसूत्र)

× × ×

इस दोहे के उत्तरार्ध—

"दियो हियौ संग नाथ के दिये ही हाथ"—

में बहुत पाठान्तर हैं। 'लाल चन्द्रिका' और 'अनवरचन्द्रिका' में उपर्युक्त पाठ है। 'प्रतापचन्द्रिका' में— 'हथलेवा ही हाथ" है। 'हरिप्रकाश में'······हाथ के हथलेवा ही हाथ" और 'रसचन्द्रिका' मे "······संग साथ के हाथ छिपे ही हाथ" पाठ है। कृष्ण कवि के यहाँ ···संग साथ कै हथलेवा ही हाथ"—है।

इनमें पहले पाठ में 'नाथ के"—का अर्थ बाँधकर' 'बन्द करके', 'लपेट कर', 'हाथ से हाथ सांटकर'— इत्यादि किया जा सके तो ठीक हो। प्रायः सात्त्विक दानी किसी चीज में लपेट कर या मुट्ठी बन्द करके रुपये पैसे दिया भी करते हैं। और तरह से 'नाथ के' की खपत नहीं होती। क्योंकि मन केवल 'नाथ के' ही हाथ में नहीं दिया गया, नाथ ने भी 'नाथा' (?) को दिया है ! या 'नाथ के' का अर्थ दोनों की ओर लगाया जाय—उसे दोनों का-दुलहन दूल्हे का—उपलक्षण माना जाय— तो काम बने।

हरिप्रकाश-सम्मत पाठ में यह अर्थ है कि—

हथलेवा—पाणिग्रहण की विधि में, हाथ ही के सग-हाथ देने के (हाथ - पकड़ाने के) साथ ही, परस्पर एक दूसरे ने एक दूसरे के हाथ में मन दे दिया !

"लालचन्द्रिका" में इस (उत्तरार्द्ध) का अर्थ इस पहेली में किया है—"दुलहिन और दूलहै ने दिया मन साथ स्वामी के हाथ लिये हुए ही हाथ ! !" फिर कृपा करके स्वयं ही इस पहेली को इस तरह बुझाया है:—"सिद्धान्त यह कि दोनों ने हाथ से हाथ मिलते ही, हाथो हाथ मन दिया। व्याह में एक रीति है कि वर कन्या का हाथ मिला कर बांधते हैं, उसे 'हथलेवा' कहते हैं।"

—-सो मन मुट्ठी में बांधकर एक दूसरे को दिया—

"दिल दे दिया है यार को मुट्ठी में बन्द है"—?

इन सबसे सुगम पाठ "शृङ्गारसप्तशती" का प्रतीत होता है—

"दियौ हियौ सङ्कल्प करि हाथ जुरैं ही हाथ।"

"संकलपकरि" की कमी सी थी, (सङ्कल्पसामग्री—जल, कुश आदि तो शब्दोपात्त थे, पर 'संकल्प' अर्थगम्य था—उसको द्योतन करने वाला शब्द दोहे में नहीं था,) सो इस पाठ से वह कमी पूरी हो जाती है ! परमानन्द कवि ने इस का अनुरोध भी बहुत सुन्दर किया है। यथा–

"घर्म–जलं रोमाञ्च–कुश-सहितं करे निधाय।
करग्रहे ददतुर्मनस्तरुणौ परस्पराय †॥"

कृष्ण कवि ने इस होहे को सामान्य विवाह सम्बन्ध में—(सात्त्विकभाववर्णनपरक)– लगाया है, और लिखा है:—'यह विवाह समय दोउन के अति स्नेह के आधिक्य ते 'सात्त्विक भाव' भयो सो सखी सों कहति है—" इसपर उनका सवैया भी सुनने योग्य है:—

"मण्डप मण्डल तीरथ साधि कै वेदविधान सों दान दियो है,
स्वेद भयौ सोई नीर नयो उलहे फलकै* कुशपुंज लियो है।
मैन-मुनीन्द्र प्रयोग पढ्यौ रतिकेलि हिये अभिलाष कियो है,
दोउन नै अपनो अपनो यों हियो हथलेवाई हाथ दियो है॥"

कृष्ण कवि ने, इस विधि में वेदपाठी 'मैन—मुनीन्द्र' (कामदेव) को भी कर्म कर्त्ता (पुरोहित) बनाकर बिठा दिया ! स्वर्गादि फल की प्राप्ति के लिये दान दिया जाता है, यहाँ दान का उद्देश्य—'रतिकेलि'—फलप्राप्ति—की इच्छा है, यह भी बता दिया। मानो सामान्यतया प्रस्तुत विवाह विधि का आत्मसमर्पण और प्रेम प्रकर्ष के लिये अपर्याप्त समझकर प्रेमी और प्रेयसी-- दुलहा दुलहन ने 'काम' पुरोहित की अध्यक्षता में अपनी स्वतन्त्र विधि पृथक् प्रारम्भ कर रखी है !

पाणिग्रहण के समय वरवधू को 'स्वेद' और 'रोमाञ्च' रूप सात्त्विक भाव के उदय का वर्णन कालिदास ने भी, शिव पार्वती के और अज इन्दुमती के विवाह प्रकरण में ('कुमारसम्भव' तथा 'रघुवंश' में) किया है तद्यथा:--

'रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः, स्विन्नांगुलिः पुङ्गवकेतुरासीत्॥'
(कु० सं० ७–७७)

'आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः, स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी॥'
(रघु० ७।२२)

सात्त्विक भाव:—

१–"विकाराः सत्त्वसम्भूताः "सात्विकाः" परिकीर्तिताः॥"
"सत्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः'-
(साहित्यदर्पण)

(स्वात्मनि एव विश्रामो यस्य स रसादिः(सत्वं)तस्य प्रकाश (उद्बोधस्तत्कारी) (साहित्यदर्पणटीका)

२–"सत्वमत्र जीवच्छरीरं तस्य धर्माः सात्विकाः॥"
(काव्यप्रकाश-टिपन्न्याम्)

३–'सीदत्यस्मिन् मन इति व्युत्पत्तेः सत्वगुणोत्कर्षा त्साधुत्वाच्च प्राणात्मक वस्तु सत्वम्। तत्र भवाः सात्विकाः।'
(हेमचन्द्राचार्य,–काव्यानुशासन)

सत्व कहते हैं जीवच्छरीर—जीवित (ज़िन्दा) शरीर को, उसके जो 'धर्म'—(वे गुण या चिह्न जिनसे जीवन–

† "परस्परस्मै" होना चाहिये। निधाय' के साथ क़ाफ़िया (तुक) मिलाने को शायद 'परस्पराय' कर दिया है !

* (फलकैं=रोमांच)

सत्ता की प्रतीति हो—जिन्दगी का सबूत मिलता हो)—हैं, वे 'सात्त्विक' भाव कहलाते हैं !

अर्थात्—हर्ष शोकादि के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले मानसिक विकार–विशेषों (रोमाञ्च, अश्रु आदि) की साहित्य-परिभाषा में "सात्त्विक" संज्ञा है। और उनकी प्रतीति जीवन दशा में ही होती है। जिन "महानुभावों" के चित्त पर हर्ष शोकादिका प्रभाव नहीं पड़ता—हर्ष के समय आनन्द और शोक के समय दुःखादि के सूचक चिन्ह जिनके शरीर पर नहीं देख पड़ते, वे वास्तव में जीवित नहीं हैं। उनमें 'जीवन' शब्द का व्यवहार "गौण" है, वे 'जीवन्मृत' हैं या 'जीवन्मुक्त'हैं! सहृदयों (ज़िन्दादिलों) की दृष्टि में तो वे निर्जीव–मुर्दा है ! उनके शरीर निरी 'लाश' हैं जो किसी अदृष्ट यंत्र के बल से चलती फिरती, बोलती चालती मालूम होती है ! उनमें 'सोल' Soul नहीं है, सिर्फ़ 'लाइफ़' Life है ! किसी उर्दू कवि ने कहा है :

'ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है,
मुर्दा–दिल खाक जिया करते हैं"

"सात्विक भावों" के आठ भेद इस प्रकार हैं। यथा—

"स्तम्भः स्वेदश्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः।"

१—स्तम्भ—गतिनिरोध, हर्ष, लज्जा, भय, श्रम, इत्यादि किसी कारण से अङ्गों की गति के रुक जाने को (हाथ पांव फूल जाने को) 'स्तम्भ' कहते हैं।

२—स्वेद—उपर्युक्त किसी कारण से शरीर में पसीने का आ जाना 'स्वेद' कहलाता है।

३—रोमाञ्च—हर्ष, शीत, भय आदि कारण से शरीर पर रुवाँ (रोंगटा) खड़ा हो जाना 'रोमाञ्च' है।

४—स्वरभङ्ग—भय, कोध, हर्ष आदि कारण से स्वर—(बोलने की टोन, आवाज़ का लहजा) बदल जाना "स्वर-भङ्ग" बोला जाता है।

५—वेपथु—आलिङ्गन, हर्ष, भय आदि किसी कारण से शरीर कांपने लगना 'वेपथु' (कंप) कहलाता है।

६—वैवर्ण्य—मोह, भय, शीत, धूप, श्रम, इत्यादि कारण से शरीर के रंग बदल जाने को 'वैवर्ण्य' कहते हैं।

७—अश्रु—शोक, हर्ष, क्रोध, आदि से आंखों में पानी भर आने को 'अश्रु' कहते हैं।

८—प्रलय—किसी विषय में तन्मय होकर, तन मन की सुध बुध भूल जाने को 'प्रलय' बोलते हैं।

९—'जृम्भा" की गणना भी सात्विक भावों में है। काम विकार आलस्य के कारण जँभाई लेना, "जृम्भा" है।

अस्तु, इस दोहे में "एकदेशविवर्ति-रूपकालङ्कार" है।

रूपक का लक्षण—

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।" (काव्यप्रकाश)

उपमान और उपमेय में अभेदारोप को 'रूपक' कहते हैं। अर्थात जहाँ उपमान और उपमेय में अतिसाम्य दिखलाने के लिये अभेद की कल्पना की जाय वह 'रूपक' कहलाता है। जैसे प्रकृत में—"स्वेद-सलिल, रोमाञ्च-कुश," में स्वेद ही जल है और रोमाञ्च ही कुश है। यहाँ सात्विक भाव-जनित 'स्वेद' और 'रोमाञ्च' जो उपमेय है, उनमें जल और कुश (उपमान) का अभेद आरोप किया गया है। इसलिये रूपक है। और 'एकदेश विवर्त्ती' इस कारण है कि इसमें दान-विधि की सामग्री—जल, कुश तो 'श्रौत'=(शब्दोपात्त) हैं, पर, देय-द्रव्य, 'दाता' और 'प्रतिग्रहीता'—ये सब 'आर्थ'=(अर्थगम्य) हैं। अर्थात् सङ्कल्प सामग्री-निरूपण के सामर्थ्य से, मन में देय-द्रव्यता, नायक नायिका में दातृता तथा प्रतिग्रहीतृता का आरोप कर लिया गया है। इसलिये 'काव्य प्रकाश' के इस लक्षणानुसार :—

"श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्त्ति तत्।"

जिस (रूपक) में कुछ आरोप्यमाण, शब्दोपात्त हों और कुछ अर्थ सामर्थ्य से गृहीत होते हों, वह 'एकदेश-विवर्त्ति रूपकालङ्कार' है।

'प्रताप चन्द्रिका' के मतानुसार 'रूपक' के अतिरिक्त 'सहोक्ति' अलकार भी यहाँ है। सो इस प्रकार :—"हथलेवा के हाथ संग ही हियो दियौ" यातें "सहोक्ति।" लक्षण :—

"सो 'सहोक्ति' सब संग ही बरनत रस सरसाय।"
"कीरति अरिकुल संग ही जलनिधि पहुंचे जाय॥"
(भाषा भूषण)

पन्द्रह

कुलतिय कलह डराति

[हे सखी ! कुल वधू कलह से डरती है, इस कारण दुष्ट देवर की बुरी बात किसी से नहीं कहती। बिलाव के पास, पिंजरे में बंद, तोते की तरह वह सूखती जा रही है। —स०]

कुलबधू-वर्णन

(१५)

कहति देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति ।
पंजरगत मंजार ढिग सुकलौं सूकत जाति ॥

अर्थ :—देवर की दुष्टता और कुल वधू की शिष्टता का वर्णन सखी से करती है :—

(कुलतिय कलह डराति, देवर की कुबत न कहति)——कुलबधू, कलह से डरती है, इस कारण दुष्ट देवर की बुरी बात (किसी से) नहीं कहती। (मंजार ढिग, पंजरगत, सुकलौं, सूकत जाति) = मार्जार—बिलाव—के पास पिंजरे में बन्द तोते की तरह सूखती जाती है।

—"पूर्णोपमालङ्कार"— सन्निहित—मार्जार—त्रस्त पञ्जरगत शुक—उपमान। दुष्ट—देवर—दुःखिता कुल-वधू—उपमेय। 'सूखना' साधारण धर्म। 'लौं" वाचक।

ककार की आवृत्ति से "वृत्यनुप्रास" भी है।

रसचन्द्रिका, और 'लालचन्द्रिका' के मत में ' दृष्टान्तालंकार" है।

विशेष व्याख्या—

कोई दुष्ट देवर अपनी भौजाई पर आसक्त है, उस पर डोरे डाल कर अपने जाल में फँसाना चाहता है, बहू सती साध्वी है, उसके फन्दे में फंसना नही चाहती, उसके कुप्रस्तावों की उपेक्षा करती हुई, अपने व्रत को बचाए हुए है, पर वह अपनी कुचेष्टाओं से बाज नहीं आता, जब मौक़ा पाता है उसे छेड़ता और दिक करता है, बहू बेचारी उस दुष्ट के हाथों बहुत तंग है, वह 'कुलवधू' और समझदार है। देवर की दुष्टता का हाल अपने पति से और सास से इस डर से नहीं कहती कि भाई भाई में लड़ाई चर्चा फैलने पर लोक हँसाई होगी। इसलिये सब कुछ अपनी जान पर झेलती हुई अपने 'धर्म' और 'कुल' दोनों की समान रूप से रक्षा कर रही है—इस लोक परलोक दोनों को बना रही है—एक के लिये दूसरे को बिगाड़ना नहीं चाहती ! इस सती-शिरोमणि कुल रमणी का चरित सर्वथा प्रशंसनीय और अन्य आधुनिक कलयुगी बधुओं के लिये अनुकरणीय है।

यद्यपि साहित्य—दृष्टि से इस दोहे का विषय सिर्फ "रसाभास" का वर्णन है; और प्रायः पहले सब टीकाकारों ने इसे इसी साधारण दृष्टि से देखा है। पर बिहारी का यह "रसाभास" भी निरा नीरस नहीं है, इसमें भी "उपदेश रस" भरा हुआ है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इससे बहुमूल्य शिक्षा मिल सकती है। खासकर आजकल की "कुल—ललनाएं" जो कुटुम्ब—कलहकी साक्षात् अधिष्ठात्री देवी बनी हुई हैं, जिनके Night School

में Curtain Lectures सुनकर—जिनकी रात्रि-पाठशाला में—

"भ्रातृणां सततं भेदः कथं नाम न जायताम् ।
अध्यापितानां पत्नीभिर्द्वेषविद्यां सदा निशि ॥"

—इस वचन के अनुसार, द्वेष-विद्या की 'अनिवार्य्य शिक्षा' पाकर अभिन्न-हृदय भाई, एक दूसरे के लिये कसाई से बदतर बन जाते हैं ! जो ज़रा ज़रा सी नाकुछ बात पर बिगड़कर घर को बिगाड़ बैठती हैं, भाइयों को भड़काने के लिये रात दिन बहाने ढूंढा करती हैं, कोई बात हाथ आयी नहीं और उन्होंने बात का बतंगड़, सुई का फावड़ा और पर का कौवा बनाकर भाई भाई में लट्ठ चलवाकर एक घर के दो घर कराये नहीं ! जिनकी 'कृपा' से भारत की प्राचीन सम्मिलित, कुटुम्बप्रथा आज नाम मात्र को रह गयी है, जिन कर्कशाओं के विचित्र चरित्र का सुन्दर चित्र कविराज 'शंकर' महाराज ने "अनुरागरत्न' के इस पद्य में खींचा है:—

"सास मरे ससुरा पजरे इस बाखर में पल को न रहूँगी,
सौति जिठानी छटी ननदी अब एक कहैगी तो लाख कहूँगी
जेठ जलावा को मारूँ पटा सुन देवर की फबती न सहूँगी,
ले बस अंत नहीं पिया शंकर' पीहर की कल गैल गहूँगी ॥"

ऐसी "कुल—देवियां" चाहें तो बिहारी के इस दोहे से अच्छी शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। अपने पवित्र चरित्र की रक्षा के साथ कुटुम्ब—विनाश का कारण बनने से भी बची रह सकती हैं।

सातवाहन—विरचित प्राकृत "गाथा-सप्तशती" में भी दो गाथाएँ इसी अभिप्राय की हैं। यथाः —

१-"असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले ।
ण कहइ कुटुम्बविहडणभएण तणुआअए सोहणा ॥"
(असदृश-चित्ते देवरे शुद्धमनाः प्रियतमे विषमशीले ।
न कथयति कुटुम्बविघटनमयेन तनुकायते स्नुषा ॥१।५६॥')

× × ×

२-"दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुड्डलिहिआइं ।
दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसोमित्तिचरिआइं ॥ *"
(देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजक-कुडचलिखितानि ।
दिवस कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥१।३५)

× × ×

पहली (५६वीं) गाथा बिहारी के दोहे से बिलकुल मिलती जुलती है। बल्कि इसी गाथा के कच्चे माल (कोरी कपास) को लेकर बिहारी ने यह बहुमूल्य वस्त्र प्रस्तुत किया है ! इसी प्राकृत गाथा के स्वच्छ सूत के तागों में अपनी प्रतिभा का चमकीला रेशम मिलाकर "ताफ़ता" तैयार किया है ! गथा सिर्फ़ सीधासाधा रस-रहित उपदेश था, मानो बाजरे की सूखी रोटी थी, बिहारी ने उसमें मीठा, मलाई मिलाकर मज़ेदार मलीदा (चूरमा) बना दिया है ! गाथा में कुछ चमत्कृति नहीं थी, बिहारी ने—

"पंजर-गत मंजार ढिग सुक लौं सूकय जाति"

की बात पैदा करके उसे अतिशय चमत्कृत बना दिया! जो सोना मिट्टी में सना था उसका 'कुन्दन' बनाकर सुन्दर आभूषण गढ़ दिया है। पहली गाथा का अर्थ है—

"देवर दुष्ट-चित्त है, उसकी नियत बिगड़ी हुई है। वह सती है, उसका मन शुद्ध है। पति उसका उद्धत—स्वभाव (क्रोधी) है, वह इस डर से देवर की दुष्टता का हाल किसी से नहीं कहती कि कुटुम्ब में फूट पड़ जायगी, भाई भाई में चल जायगी, इसी सोच में दुबली होती जाती है।"

* दुष्टहृदय (दुश्चरित्र) देवर को सच्चरिता की शिक्षा देने के लिये कुलवधू, दिन में घर की दीवार पर श्री रामचन्द्र और सीता जी की सेवा करने वाले लक्ष्मण जी का चरित्र लिखकर समझाती है। कुटुम्ब—कलह के भय से उसका साक्षात् तिरस्कार नहीं करती, इस प्रकार लक्ष्मण यतिका दृष्टान्त लिखा कर दुष्ट देवर को सन्मार्ग पर लाना चाहती है।

दोनों जगह भाव एक ही है। दोनों घरों में बहू सच्चरित्रा और देवर दुष्ट है। 'कलह' और कुटुम्बविघटन के भय में भी कुछ भेद नहीं है। "तनुकायते"; और "सूकत जाति" का भी भाव एक है। पर बिहारी ने बिलाव और पिंजरे में बन्द तोते की उपमा से दोहे को गाथा से कहीं उत्कृष्ट अनुपम बना दिया है। इसी का नाम प्रतिभा है। साधारण घटना को चमत्कृतियुक्त नवीनता तथा एक निराले ढंग से वर्णन कर जाना और सीधी सी बात में भी एक बांकपन पैदा कर देना ही प्रतिभा का स्वरूप और कवि का काम है। बिलाव और पिंजरे के तोते की उपमा, इस घटना के कितनी अनुरूप है। देवर की दुष्टता और बहू की विवशता, इससे बढ़कर किसी अन्य 'उपमा' से प्रकट नहीं की जा सकती थी। तोता पिंजरे के कारण बचा हुआ है सही, पर पास में विद्यमान बिलाव के झपटे का डर, उसे हर वक्त सता सता कर सुखा रहा है। दृढ पिंजरे पर बिलाव का दाँव नहीं चल सकता, पर झपटे का डर ही उसे सुखाने को काफी है। क्रूर बिलाव की मनहूस सूरत देखकर ही बेचारे तोते की जान निकली जाती है।

इसी प्रकार बधू पतिव्रत धर्म के कवच के कारण बची हुई है सही, पर दुष्ट देवर के बलात्कार का भय उस अबला को बेतरह सुखाए डालता है। बलात्कार का पंजा तन-पंजर पर पड़ा नहीं और प्राण पखेरू उड़ा नहीं! इतने पर भी धन्य है उस कुलवधू के मर्यादाशील साहस को, उसे अपनी जान पर खेल जाना मन्जूर है, पर कुटुम्ब, कलह का कारण बनना मन्जूर नहीं— "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे— के अनुसार वह कुल के लिये एक को— अपने को त्यागने पर—"आत्म-त्याग" करने पर—उतारू है!

इस दोहे पर टीका करते हुए श्री लल्लूलाल जी ने एक विचित्र 'प्रश्नोत्तर' दिया है, जो सुनने योग्य है। एक इसी जगह नहीं और भी कई जगह महाराज जी ने ऐसी ही लीला दिखलाई है (यथा ४६ वें, तथा ७६ वें, दोहों की टीकाओं में)। डाक्टर ग्रियरसन द्वारा सम्पादित लाल चन्द्रिका के अन्त में एक परिशिष्ट जुड़ा है, जिसमें इनके ऐसे ही कल्पित अन्य कई अद्भुत अर्थों की संगति के लिये श्री पण्डित प्रताप नारायण जी मिश्र, पं० अम्बिका दत्त जी व्यास, पं० सरयू प्रसाद मिश्र, और बा० रामदीन सिंह जी कृत समाधान, संगृहीत हैं। बहुत से दोहों को इनके (लल्लू लाल जी के) शंका-समाधान ने बिलकुल पहेली बना दिया है, अर्थान्तर की धुन में अनर्थ हो गया है। और भी किसी किसी टीकाकार ने कहीं कहीं कुछ शंका-समाधान किया है, पर ऐसा विलक्षण नहीं। उदाहरण के लिए इस दोहे की "लालचन्द्रिका" नीचे दी जाती है :—

"स्वकीयाऽऽसुरविवाह-वर्णन"

"टीका— सखी का वचन सखी से। कहती नहीं देवर की बुरी बात। कुलवती स्त्री क्लेश से डरती है। पंजर— (कहैं पिंजरा) गत— (कहैं गया) मंजार— (कहैं बिलाव) ढिग— (कहैं निकट) शुक— (कहैं तोता) लौं—(कहैं भांति) सूखती जाती है। सिद्धात यह कि जैसे पिंजरे के पास बिलाव के गये से डर कर तोता सूखता है। तैसे दुबली होती जाती है।

प्रश्न—देवर का अनुराग धर्म-विरुद्ध होता है, और इसका वर्णन अनुचित है, और इसमें रस भी नहीं।

उत्तर—जिठानी के वचन द्यौरानी से। जिठानी पूछे है कि तू मेरे देवर की बात मुझसे क्यों नहीं कहती। द्यौरानी अपने स्वामी को क्रोधी देखि बिलाव सम जिठानी से नहीं कहती. इसलिये कि जो मैं इससे कहूँगी, तो यह अपने स्वामी से कहेगी और भाई भाई में झगड़ा होगा। इस हेतु पिंजरे के तोते की भांति दुबली होती जाती है। दृष्टान्तालंकार स्पष्ट है' 'प्रश्नोत्तर' तो जो है सो है ही, पर दोहे की चोटी पर जो हैडिंग धरा गया है वह और भी 'अलौकिक' है!—'स्वकीयाऽसुर विवाह वर्णन !!"

न मालूम कि धर्मशास्त्र के अनुसार इसका नाम "असुर विवाह" है, और किस साहित्य ग्रंथ में भौजाई (भ्रातृजाया) की गणना "स्वकीया" में है! जितने साहित्य ग्रंथ प्रसिद्ध हैं उन सबमें "स्वकीया के 'ज्येष्ठा'

श्रौर 'कनिष्ठा' ये दो या मुग्धा, मध्यमा और प्रगल्भा, इस प्रकार तीन ही भेद वर्णित हैं। 'भाभी' या भ्रातृवधू को, जहां तक हमें मालूम है, किसी ने "स्वकीया" में नहीं गिना ! यदि 'स्वकीया' घर में रहने के कारण और 'स्व' शब्द के अर्थों – (आत्मत्व, आत्मीयत्व, ज्ञातित्व और धनत्व) में से किसी के बल पर, अथवा "भ्राता स्वो मूर्त्तिरात्मनः" (भ्राता अपनी ही मूर्ति है—इसलिये उसकी चीज भी अपनी चीज़ है!) यह समझकर, भाभी को 'स्वकीया' की उपाधि दे दी जायगी, तब तो मामला और भी इससे आगे बढ़ सकता है ! साहित्य-परिभाषित नायिका-वाचक "स्वकीया"—शब्द योगरूढ है। इसलिये नायक के घर की सब स्त्रियां उसकी 'स्वकीया' नहीं कहला सकतीं ! आश्चर्य्य है कि कवि परमानन्द जैसे साहित्यज्ञ और संस्कृत के विद्वान् ने भी इस दोहे की व्याख्या के प्रारम्भ में— "पुनरपि स्वीयामाह" न जाने कैसे और किस विचार से लिख दिया है !

और, लल्लूलाल जी की यह शंकासमाधान की पहेली हमारी समझ में तो आयी नहीं ! एक ओर तो आप उसे 'स्वकीया का आसुर विवाह" ठहरा रहे हैं, और दूसरी ओर उसका 'वर्णन अनुचित' बतला रहे हैं ! इसका वर्णन तो अनुचित नहीं है पर आपका भाभी को 'स्वकीया' कहना अनौचित्य की पराकाष्ठा जरूर है !

रही, धर्मविरुद्धता की बात ! सो सिर्फ देवर भौजाई का ही क्यों, परकीय और परकीयामात्र का अनुराग धर्मविरुद्ध है। काव्य कोई धर्मशास्त्र नहीं हैं कि उनके वर्णन, विधिवाक्य की दृष्टि से देखे जायें। कवि, संसार में जो कुछ देखता है उसी का वर्णन करता है। "वर्णन अनुचित है" से यदि अभिप्राय यह है कि—

"रसाभास दूषन गिनो अनुचित वर्णन माहिं।"

तो इसका यह मतलब नहीं है कि काव्यों से रसाभास के उदाहरण भी उड़ा दिये जायें या उनका अर्थ बदल कर अनर्थ कर डाला जाय ! यदि अनुचित समझ कर कवि लोग इसका वर्णन ही न करें तो फिर 'रसाभास' के उदाहरण क्या श्रुतियों में ढूढ़े जाया करेंगे ! रसाभास से बचने का अभिप्राय यह है कि किसी काव्यगत वर्णनीय आदर्श नायक के प्रधान चरित में रसाभास का समावेश न हो। यदि नायक ऐतिह्य है और उसका कोई चरित-विशेष रसाभास से दूषित है जिसका वर्णन करना किसी कारण से कवि के लिये आवश्यक हो—(जैसा महाभारत में और उसके आधार पर रचित नाटकों आदि में क्रोधान्ध अर्जुन का युधिष्ठिर को मारने के लिये शस्त्र उठाना। या द्रौपदी का पांचों पाण्डवों में अनुराग)— तो ऐसी दशा में रसाभास का वर्णन अपरिहार्य है। अथवा किसी काव्य की रचना ही इस उद्देश्य से की जाय कि काव्यगत नायक या नायिका के 'रसाभास' पूरित दूषित चरित को पढ़कर लोग शिक्षा ग्रहण करें, वैसे प्रसङ्गों से बचे रहे तो उस दशा में रसाभास वर्णन दूषण नहीं, किन्तु कविता का भूषण है। जैसे "क्षेमेन्द्र" की समयमातृका" और "दामोदरगुप्त" के 'कुट्टनीमत' रसभास की साक्षात्मूर्ति वाराङ्गनाओं के चरितों का वर्णन किया गया है।

"सतसई" किसी एक आदर्श नायक के चरित को लेकर नहीं बनायी गयी। यह कोषात्मक(फुटकर)काव्य है। हर क़िस्म की तस्वीरों का एक बड़ा 'ऐलबम' है ! हां, जहां जहां साक्षात् कृष्णचरित की झलक है, वहां वहां 'रसाभास' पास नहीं फटकने पाया, और जहां बीच में ऐरा ग़ैरा अन्य सांसारिक लोगों की किसी करतूत या चेष्टा का वर्णन है, वह वर्णनवैचित्री के साथ जैसी है वैसी ही है।

कोई चित्रकार यदि किसी कुरूप व्यक्ति का सुरूप चित्र बनाकर दिखलावे तो वह चित्रकार नहीं, ठग है। चित्रकार की निपुणता इसी में है कि जो जैसा व्यक्ति है उसका वैसा ही चित्र उतार दे, स्याह को सफेद कर दिखाना चित्रकारी नहीं है। इसी प्रकार कवि का कर्त्तव्य यही है कि वस्तु स्थिति का यथार्थ वर्णन कर दे। जब किसी धर्मात्मा का वर्णन करे तो साक्षात् उसके स्वरूप का दर्शन करा दे और जब पापी का वर्णन करने लगे तो उसकी भी मूर्ति सामने लाकर खड़ी कर दे।

जब संसार में सब देवर 'लक्ष्मणयति' नहीं हैं। 'दुष्ट देवर' भी मौजूद हैं। और ऐसी घटनाओं की भी कमी नहीं है। तो उसका वर्णन करना कौन सा पाप है! और इसकी क्या ज़रूरत है कि ऐसे वर्णन को खींच तानकर 'मानव धर्मसूत्र' का स्वरूप देने की चेष्टा की जाय! और फिर धर्मशास्त्रों में भी तो सब बातें विधिरूप से वर्णित नहीं होतीं। भगवान् मनु ने 'आसुर' और 'पैशाच' विवाह का भी वर्णन किया है। पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ऐसे विवाह अवश्य-कर्तव्य हैं। या किसी श्रोत्रिय के लिये भी विहित हैं! किन्तु संसार में भले बुरे विवाह के मुख्यतया जितने प्रकार हो सकते हैं, या उस समय प्रचलित थे, वे गिना दिये हैं।

फिर बिहारी के इस 'रसाभास' वर्णन में कोई ऐसा विषैला सांप नहीं छिपा बैठा, जिससे बचने के लिये सीधा और साफ़ रास्ता छोड़कर इधर उधर भटकने और चक्कर काटने की ज़रूरत हो, इससे तो उल्टी एक उत्तम शिक्षा मिलती है, जैसा कि ऊपर (विशेष व्याख्या में) दिखलाया जा चुका है!

और लल्लूलाल जी का उत्तर भी देखिये क्या बढ़िया है, उससे दोहा बिलकुल पहेली बन गया है या नहीं।

लल्लूलाल जी की पहेली

न मालूम, द्यौरानी अपने पति की कौन सी बात जिठानी से छिपाती है और इसलिये कहती डरती है कि 'जो मैं इससे कहूँगी तो यह अपने स्वामी से कहेगी और भाई भाई में झगड़ा होगा।"—

शायद 'द्यौरानी' के पति ने भाई की चोरी चोरी 'कोरचा' करके कुछ रक़म जमा करके कहीं छिपा दी है, जिसका सुराग़ बड़े भाई की बहू को किसी तरह लग गया है और वह अपनी द्यौरानी से इसी बात का भेद पूछना चाहती है कि—"वे 'कोरचे' के रुपये मेरे 'देवर' (तेरे पति) ने कहाँ गाड़ रक्खे हैं?" द्यौरानी "बिलाव सम" जिठानी से नहीं कहती। क्योंकि उसका पति क्रोधी है।

सचमुच बेचारी की आफ़त है, जिठानी 'बिलावसम' और पति('कुत्ता सम'?) क्रोधी! दोनों तरह मुश्किल है—"गोयद् मुश्किल, व गर न गोयद् मुश्किल"! बतलावे तो यह डर कि "जिठानी अपने स्वामी से कहेगी और भाई भाई में झगड़ा होगा"! और न बतलावे तो पति क्रोधी है, वह शायद इस अपराध में दण्ड दे कि तूने बतला क्यों दिया। सच को क्यों छिपाया! मैंने चोरी की, तो की, तूने तो सच न छिपाया होता! शरीर का अर्द्धाङ्ग पाप—रोग से नष्ट हो गया तो खैर, आधा तो बचा रहे, दोनों में से एक तो परमात्मा को मुंह दिखाने के क़ाबिल बना रहे!! आखिर दुनिया क्या कहेगी, कि पति ने रुपया छिपाया तो स्त्री ने सच छिपाया, दोनों ही एकसे निकले!!

यदि वास्तव में इस दोहे का यही अर्थ है तो इसका हैडिंग स्वकीयाऽसुरविवाह—वर्णन' न होकर—"छोटे भाई का कोरचा वर्णन और जिठानी का द्यौरानी से पूछना वर्णन"—होना चाहिये था!

और यदि वही हैडिंग रखना मसलहत हो तो फिर यों अर्थ करना पड़ेगा कि:—

"छोटा भाई आसुर विवाह करके कहीं से अपनी इस स्त्री को उड़ा लाया है और सर्वसाधारण में अपने विवाह को 'ब्राह्म' बतला रक्खा है, इसलिये यह (जिठानी) आसुरविधि–विवाहित (या उड़ायिता!) अपनी द्यौरानी से उसका सच सच हाल पूछती है और वह इस भय से छिपाती है कि, "जो मैं इससे कहूँगी तो यह अपने स्वामी से कहेगी" मालूम होने पर बड़ा भाई छोटे भाई को बिरादरी से बाहर कर देगा और बहिष्कृत क्रोधी पति इसकी कसम मुझपर निकालेगा, इस बिलाव सी का क्या बिगड़ेगा!!!

किसी और तरह से लल्लूलाल जी की यह उत्तर रूप 'पहेली' बुझाई जा सके तो विज्ञ पाठक भी अपना दिमाग़ लड़ा देखें!

उक्त दोहे पर अन्य टीकाकारों का अर्थान्तर—

"—किंवा (पूर्वोक्त स्वरसार्थ के अतिरिक्त) जेठानी पूछति है देवरानी सौं, तूं हमारे देवर की कुबात कहति है नहीं क्यौं, तो सौं रूठ्यौ है, कै अवरि (अन्य—और किसी) सौं आसक्त है, किंवा—उन सौं भई कलह ताकौं क्यौं न कहै डराति है कहति कै। आगे वही अर्थ, उपमालकार। (हरि-प्रकाश)

"...और (अन्य) अर्थ,—'जिठानी के वचन सखी सौं। अन्यासक्त मेरो देवर है, सो द्योरानी कुलतिय है कुबति नाहीं कहति।" पै (पर) यह अर्थ रसाभास को प्रकरण बिगारे है, अरु धर्मविरोध को तों दूरि करे है।" (प्रताप चन्द्रिका)

"अपने देवर की 'कुमति' बात कहत,कु लत्रिय है, सो कहलहसै डरै है, सो दिन दिन सूखती जाइ है जैसे सुवा पिंजरा के ढिग बिलैया को देखै सूखै है।। और याके अर्थ फेरने में बखेड़ा है।। अलंकार दृष्टान्त, तिसका लक्षण जो दृष्टान्त दै कै कहिए", इहां कुलत्रिय के सूखने को दृष्टान्त सुवा के सूखने को दियो।।" (रसचन्द्रिका)

(रसचन्द्रिका में "कुबत" की जगह–'कुमति' पाठ है)

"ह्यां रसाभास, उपमालंकार।" (अनवरचन्द्रिका)

प्रश्न–"देवर को अनुराग यह धर्म-विरोध विचारि।
वर्नन अनुचित सौ लगत रसवरत्व न विचारि।।

उत्तर–वचन जिठानी के कहति द्यौरानी की बात।
मो देवर की कुबत यह कहत सु हियौ डरात।।
निजपति कौ वह कलह सौं जानि मंजार समान।
सुकलौं सूकति रोस की प्रकृति लखत दिनमान।।

दृष्टान्तालंकार –'सुकलों' कहिवे में नर मादे कौ एक ही संज्ञा है।" (अमर चन्द्रिका)

अमरचन्द्रिका के इसी प्रश्नोत्तर का भाव हरि कवि ने अपने अर्थान्तिर में प्रकारान्तर से लिखा है। और लल्लूलाल जी मालूम होता है इससे ही गड़बड़ा गये हैं—इसे स्पष्ट करके नहीं लिख सके हैं।

सोलह

कै अलसौंहीं देह

[हे सखी! मेरी इस सखी ने झूठ मूठ ही अपने को पति की विशेष प्रेमपाल, सौभाग्यवती, प्रसिद्ध कर रक्खा है। इसकी नींद भरी आँखों और अलसानो देह से यह न समझना चाहिये कि यह दया सौभाग्य-सूचक प्रिय सम्भोग जन्म रात्रि जागरण के कारण है। यह तो वैसे ही अपने सुहाग की प्रसिद्धि के लिए यह बनावटी हालत बनाए रहती है। – स०]

(१६)

पार्‌यौ सोर सुहाग को इन बिन ही पिय नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह।।

अर्थ—सपत्नी की सखी से नायिका की सखी का वचन (इन बिन ही पिय नेह, सुहाग को सार पार्‌यौ)—इसने बिना ही प्रिय के स्नेह के सुहाग का शोर मचा रक्खा है। (अँखियां उन दौंहीं ककै, देह अलसौंहीं कै)—आंखें उनींदी—रात्रि जागरण के कारण जिनमें नींद भरी है कर करके, और देह आलस्य भरी बनाकर।

अभिप्राय यह कि सखी के सुहाग को किसी सौत की नजर न लग जाय। या वे डाह से जल कर उस पर कोई अभिचार—किया न करने लगें, इसलिये सौत की सखी से सौभाग्यवती नायिका की सखी कहती है कि इसने (मेरी सखी ने) झूठमूठ ही अपने को सौभाग्यवती पति की विशेष प्रेमपात्र, (जिसे पति चहे वही सुहागन !)–प्रसिद्ध कर रखा है, इसकी नींद भरी अंखियों और अलसानी देह से यह न समझना चाहिए कि यह दशा सौभाग्य–सूचक प्रियसम्भोगजन्य रात्रि जागरण के कारण से है, किन्तु यह वैसे ही अपने सुहाग की शोहरत के लिये यह बनावटी हालत बनाए रहती है !

अथवा— सखी नायिका के सुहाग को इस बहाने से और शोहरत देना चाहती है, प्रकट में तो कहती है कि यह नायक की प्रेमपात्र नहीं है। पर ऐसा कहना सुहाग की प्रसिद्धि का दूसरा ढंग है जैसे किसी प्रसिद्ध धनाढ्य का मुनीम कहे कि—"अजी हमारे सेठ के यहाँ इतना खज़ाना कहाँ है ? वैसे ही शोहरत उड़ा रक्खी है"—तो यह भी शोहरत को तरक्की देने का एक दूसरा तरीका या ढंग है।

किसी छल से या दूसरे ढंग से इस प्रकार काम निकालने के वर्णन का नाम 'पर्यायोक्ति' अलंकार हैं। सो यहाँ दोनों दशाओं में 'पर्य्यायोक्ति' है। यदि कहने वाली का पहला अभिप्राय है तो सखी को सौतों की बदनज़र से बचाना उसका इष्ट है, जिसे इस प्रकार –सुहाग की बात को झूठ बतलाकर –सिद्ध करना चाहती है। यदि दूसरा मतलब है, तो सखी के सुहाग की सुप्रसिद्धि इष्ट है, जिसे इस ढग से सिद्ध करना चाहती है।

अथवा— यदि इसे सपत्नी की सखी का वचन मानें, तो 'अमर्ष सञ्चारी' भाव व्यङ्ग्य है। कहने वाली का अभिप्राय यह है कि नायक की प्रेमपात्र तो मेरी सखी है, इसे तो वह पूछता भी नहीं, इसने वैसे ही सौभाग्य के कृत्रिम चिन्ह प्रकट करके झूठ मूठ ही अपने सुहाग का ढोल पीट रक्खा है ! इस अर्थ में 'विभावनालकार' है।

"विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।"

—अर्थात् जहाँ बिना कारण के ही कार्योत्पत्ति दीखे वह 'विभावना' है। जैसे यहाँ, प्रियस्नेह, सौभाग्य का कारण है, उसके बिना ही सुहाग का शोर जो 'कार्य' है, नायिका ने प्रकट कर रक्खा है।

हर कवि के कथनानुसार इस दोहे में "सन्देहसंकर" अलकार भी है

"नीर क्षीर न्यायेनास्फुटभेदालंकारमेलने संकरः।"

(अलङ्कार सर्वस्व)

— जहाँ अलंकार, दूध पानी के मेल की तरह आपस में इस प्रकार मिले रहें कि उनके भेद की स्फुट प्रतीति न हो, वहाँ "संकर" होता है। जैसे यहां 'विभावना' और 'पर्यायोक्ति' इस प्रकार मिले हुए हैं कि वे प्रथक् प्रतीत नहीं होते, सन्देह है कि यह सपत्नी की युक्ति है या नायिका की सखी की ? यदि पहली बात है तो "विभावना" है, यदि दूसरी है, तो 'पर्यायोक्ति' है। 'विभावना' और 'पर्यायोक्ति' दूध पानी की तरह मिले हुए हैं। अतः 'सन्देह-संकर' है। 'सोर सुहाग' में 'छेकानुप्रास' भी है।

इसी भाव की एक 'आर्या' 'आर्यासप्तशती' में भी है–

"स्वाधीनैरधरव्रण–नखांक–पत्रावलोप–दिनशयनैः।
सुभगा सुभगेत्यनया सखि ! निखिला मुखरिता पल्ली ॥"

६१३ ॥

* * *

सपत्नी-द्वेषदुःखिता नायिका से सखी कहती है कि— "सखी ! सुनती है ! तेरी इस सपत्नी ने अपने आप अपने शरीर में अधरव्रण, नखक्षत, पत्रावली–मार्जन इत्यादि रतिचिन्ह बनाकर और दिन में सो सोकर —(मानो रात भर पतिकेलि में जगी !) —सारे गांव में अपने सुहाग की यों ही धूम मचा रक्खी है !" वास्तव में यह पतिप्रिया और सौभाग्यवती नहीं है, अपने सौभाग्य का सिक्का बैठाने के लिए इसने यह माया रची है, गांव को इसके छल छिद्र की क्या खबर, उसने वैसे ही इसे "सुभगा सुभगा" कहना शुरू कर दिया ! इसलिए तुझे इससे ईर्ष्या और पति से मान न करना चाहिए। अथवा–यह आर्या नायिका की सखी की उक्ति 'पर्यायोक्ति' भी हो सकती है।

सत्रह

झलक्यो जोबन अंग

[लड़कपन की झलक अभी छुटी नहीं है और यौवन अङ्ग में झलकने लगा है। लड़कपन और जवानी की इस वयः सन्धि के संयोग से इसकी देह की कान्ति, धूपछाँहीं रेशमी कपड़े की तरह झलक रही है। —स०]

मुग्धा-वयःसन्धि-वर्णन

(१७)

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यौ जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग॥

अर्थ :—नायक से सखी का वचन—

(सिसुता की झलक न छुटी, जोवन अंग झलक्यौ) —लड़कपन की झलक नहीं छुटी— लड़कपन जा चुका है, पर पूरी तरह से नहीं गया, उसकी झलक अभी बाक़ी है— और यौवन (जवानी) अंग में झलकने लगा है— अभी सिर्फ झलका है अच्छी तरह आया नहीं है— (दुहून मिलि, देह दीपति, ताफता रंग दिपति)-दोनों के-लड़कपन और जवानी के मेल से— वयः सन्धि के संयोग से— चमकते हुए ताफ़ते * के रंग की तरह देह की दीप्ति— कान्ति-दिप रही है, चमक रही है-सुशोभित हो रही है।

'वयः सन्धि' का इससे सुन्दर वर्णन अन्यत्र कम मिलेगा। 'ताफ़ते' के रंग की चमक ने लड़कपन और जवानी के मेल को चमका दिया है! बड़ी अनुरूप उपमा है! धूपछाँह (ताफ़ते) के ताने बाने की अलग-अलग निराली शान की चमक दमक में और लड़कपन-मिली जवानी की झलक में, हृदयाकर्षक सादृश्य है। 'ताफ़ते' के 'धूपछाँह' नाम और सूती और रेशमी मिलावट के— ताने बाने के—काम पर दृष्टि डालकर इस उपमा की ओर देखा जाय तो एक और भी सौन्दर्य मिश्रित सूक्ष्म सादृश्य की झलक आँखों में फिर जाती है! "धूपछाँह" में की 'छाँह' तो सीधी सादी शिशुता—भोला भाला लड़कपन— है, जिसमें छाया के समान शान्ति है, 'शिशुता' कामादि सन्ताप के वेग से रहित है। 'धूप'—जवानी की चमक है, जिसमें कुछ उष्णता (हरारत) भी मिली है!

---

* ताफ़ता— एक रेशमी कपड़ा है, जिसका ताना एक रंग और बाना एक रंग। उसमें दोनों रंग की झलक मारती है, उसे 'धूपछाँह' भी कहते हैं।" (लाल चन्द्रिका)— "दोइ रंग सो मिलि कै 'ताफता' रेसमी कपरा (ड़ा) होत है कोई वाको ' देवांग" कहै हैं।" (हरिप्रकाश) —"ताफता, (ता) र गरभ सूती कपरा है। सूत को और रेसम को मिलकर चमक अच्छी होती है।" (रस चन्द्रिका)—

—वयः सन्धि के ताफ़ते में 'सूनी' भाग— लड़कपन की सादगी है। रेशम की चमक, जवानी की झलक है!

"वाचकलुप्तोपमा" अलंकार है :—

'देह' उपमेय है, 'ताफता' उपमान है। 'दिपना' (चमकना) साधारण धर्म है। उपमा वाचक शब्द—"ऐपे, जैसे" इत्यादि लुप्त है— नहीं है। दकार की आवृत्ति से 'वृत्त्यनुप्रास' भी है। "अनवर चन्द्रिका" में 'दिपति ताफता रंग" की जगह, "मनहु ताफता रंग" पाठ है। इसलिये उसके मत में 'उत्प्रेक्षा' है। 'रस चन्द्रिका' में भी "……मनहु………" पाठ है। पर उसके यहाँ अलकार फिर भी 'उपमा' ही है (!)

अट्ठारह

काहू पुन्यनि पाइयत

[नायिका तिथि रूप है। किशोरावस्था सूर्य है। जाने और आने वाली दोनों अवस्थाओं, शिशुता और जवानी का संयोग (वयः सन्धि) पुण्य काल के समान है। यह वयः सन्धि रूप संक्राति किसी बड़भागी पुरुष को बड़े पुण्यों से ही मिलती है। —स०]

(१८)

तिय-तिथि तरनि-किसोरबय पुन्य काल सम दौन।
काहू पुन्यनि पाइयत बैस - सन्धि - संक्रौन॥

अर्थ—नायक से सखी का वचन। (तिय–तिथि) नायिका तिथिरूप है। (तरनि— किसोर वय —किशोरा–वस्था तरणि=सूर्य्य है। (पुन्य काल सम दौन)–दोनों–(जाने और आनेवाली) अवस्थाओं—शिशुता और जवानी का संयोग—वयः सन्धि–पुण्यकाल के समान है! (काहू पुन्यनि)—किन्हीं बड़े पुण्यों से (वैससन्धि-संक्रौन पाइयत) वयः सन्धिरूप संक्रान्ति मिलती है। कोई बड़भागी पुरुष बड़े पुण्यों को करके इसे पाता है।

सखी नायिका की वयः सन्धि को "संक्रान्ति" का रूपक देकर नायक को उससे मिलाना चाहती है। 'संक्रान्ति' किसी तिथि में होती है सो नायिका ही वह तिथि' है। जब सूर्य एक राशि को छोड़कर दूसरी राशि में जाता है तक संक्रान्ति होती है। सूर्य के–संक्रमण काल को—उस अन्तर को जो सूर्य को एक राशि से दूसरी राशि तक जाने में लगता है, "संक्रांति" कहते हैं। सो यहाँ किशोर वय बाल्य और तारुण्य की संधि – ही सूर्य है। वह बाल्यावस्था रूप एक राशि को छोड़कर तारुण्यावस्था रूप दूसरी राशि में संक्रम (प्रवेश) कर रहा है, यह वयः संधि ही यहाँ संक्रांति है।

सक्रांति का समय बड़ा माहात्म्यपूर्ण और पुण्य प्राप्य माना गया है, और वह बहुत थोड़ी देर रहता है, इस कारण सर्वसाधारण के लिये उसका पाना बहुत दुर्लभ है। कोई चतुर सुजान ही अपने सुकर्मों से उसे पाता है।

यहाँ "समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक" अलङ्कार है।

"समस्तवस्तुविषयं, श्रौता आरोपिता यदा।"

(काव्यप्रकाश)

जिसमें उपमेय —"आरोपविषय' के समान ही उप-मान–'आरोप्यमाण'—सब शब्दोपात्त हों (कोई अर्थ गम्य न हो) वह समस्त वस्तुविषय है। "समस्तं वस्तु–आरोप्यमाणं, विषयः—शब्दप्रतिपाद्यो यत्र"। प्रधान–(अङ्गी) के साथ उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य अङ्गों का भी जहाँ निरूपण हो वह 'सावयव रूपक' कहाता है।

सो यहाँ आरोपविषय—उपमेय, (किशोरवय, तिय आदि) और आरोप्यमाण—उपमान—(तरुणि, तिथि आदि) सब शब्द निर्दिष्ट हैं। किशोरवय–'अङ्गी' है, संक्रमण' उसका 'अङ्ग'—(आरोप का करण) है† ।

इस रूपक में 'संक्रांति' के साथ 'वयः संधि' की पूरी संगति मिलाने के लिये प्रायः सब टीकाकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की हैं। उनका संक्षिप्त भाव यह है–

"यहाँ सूर्य तो किशोर वय है केवल एक उसी से संक्रांति—की समता नहीं बनती, क्योंकि जब सूर्य दो राशियों का स्पर्श करता है, तब संक्रांति होती है। किशोर वय रूप सूर्य के इधर उधर दो राशियों कि स्थानापन्न दो अवस्थाएँ और होनी चाहियें, सो यहाँ शिशुता और यौवनावस्थारूप दो राशियों के मध्य में किशोरवयोरूप सूर्य स्थित है। ऐसा समझना चाहिये।"—यह 'अमरचन्द्रिका' के प्रश्नोत्तरों का सार है।

'लालचन्द्रिका' में, "तरुण अवस्था को सूरज" ठहरा कर उसे बाल्यावस्थारूप राशि से मिलाया है, और फिर स्वयं ही आगे चलकर—"इन दोनों अवस्थाओं की संधि (उसके बीच में जो चमक हुई) उसे सूरज कह वर्णन किया।"—ऐसा लिखा है! लल्लूलाल जी की यह संगति मूल के विरुद्ध है। क्योंकि मूल में स्पष्ट "तरनि–किशोर–वय" है अर्थात् किशोरावस्था सूर्य है! तरुणावस्था (सूर्य) नहीं।

'रसचन्द्रिका' में इस गड़बड़ से बचने के लिये दोहे के पूर्वार्द्ध का पाठ ही बदल दिया है।—

'तिय—तिथि तरुन–किसोरवय पुन्य काल सम दौन।"

'तरनि' (सूर्य) का 'तरुन' (तारुण्य) पाठ करके यह व्याख्या की है कि—"तारुण्य और किशोर की जो समता है वही पुण्यकाल है, और यह जो इन दोनों अवस्थाओं की संधि है वही संक्रोन—संक्रांति है। जो दो वयस मिलें तो वयः संधि) होती है, सो बिहारी ने जो शिशुता की संधि न ली सो इस वास्ते कि शिशुता में यौवन नहीं आता, न उस (शिशुता) में तेज ही होता है जो किशोर की उपमा दी जा सके (?) किशोर और यौवन दोनों जगह तेज है, इससे किशोर तरुण की और संक्रांति की उपमा दी है।"-—"और शिशुता में तथा तरुण, किशोर अवस्था की सक्रांति की सधि ठहरावें तो नहीं हो सकती, क्योंकि किशोरवय ११—से १४ वर्ष तक तीन वर्ष रहती है, और संक्रांति का समय इतना सूक्ष्म है कि पाना दुर्लभ है"—

(रसचन्द्रिका)

† वयः संधि निरूपण–परक एक यह संस्कृत पद्य भी "समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक" का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। यथाः—

"उदयति तरुणिम—तरणौ शैशव—शशिनि प्रशान्तिमायाते।
कुच–चक्रवाकयुगलं तरुणि–[णी]–तटिन्यां मिथो मिलति॥"

अर्थ—"शैशव–(लड़कपन) रूप चन्द्रमा के छिप जाने पर और तारुण्य–(जवानी) रूप सूर्य के उदय होने पर तरुणी–(युवति)–नदी पर कुचरूप चकवी चकवे का जोड़ा, आपस में मिल रहा है।"

यहाँ, १–तरुणिमा, २–शैशव, ३–कुच, ४–तरुणी—इन उपमेयों के समान ही ये सब उपमान–१–तरणि, २–शशी, ३–चक्रवाक और ४–तटिनी भी शब्द निर्दिष्ट हैं। 'कुच 'अङ्गी' हैं। 'मिथोमिलन 'अङ्ग' है।

परन्तु यह कल्पना 'समस्त वस्तु विषय'—रूपक का रूप बिगाड़ती है। 'तरणि' की जगह 'तरुण' (तारुण्य) पाठ रक्खा जाय तो तरणि''—(सूर्य) 'अर्थगम्य' हो जायगा, 'शब्दोपात्त' न रहेगा, इसलिये 'समस्त-वस्तु-विषय' रूपक भी न रहेगा 'एकदेशवर्त्ति' हो जायगा, जो सब टीकाकारों के मत के विरुद्ध होगा। सब ने (स्वयं रसचन्द्रिका ने भी) यहाँ 'समस्त-वस्तु-विषय' रूपक माना है। इसके अतिरिक्त ''किशोरावस्था ३ वर्ष तक रहती है इसलिये 'बाल्यावस्था' से तरुणता की सन्धि को संक्रान्ति का रूपक नहीं दे सकते, क्योंकि दोनों के बीच में ३ वर्ष रहने वाली किशोरावस्था का अन्तर है''—यह शङ्का भी व्यर्थ ही है। क्योंकि कवि ने स्वयं इससे पहिले १७वें दोहे में 'शिशुता' की बाँह सीधे 'जोबन' को पकड़ायी है, मध्यस्थ (बिचौलिया) किशोर को नहीं पूछा ! कविता कोई गणित शास्त्र नहीं है, जिसमें उपमेय और उपमान के घंटे मिनट और सेकेंड तक का टोटल ठीक बराबर बैठे, तभी रूपक बने ! कवि लोग वियोग के एक क्षण को कल्प बराबर, और संयोग की एक रात्रि को क्षण से भी बहुत कम, वर्णन करते हैं, * इसपर कोई गणितज्ञ स्लेट पेन्सिल लेकर इसका हिसाब जोड़ने बैठ जाय तो बड़ा फ़र्क़ निकले ! गणित के हिसाब से कवि अपने कथन को किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं कर सकता, वह इस सवाल में साफ़ फ़ेल हो सकता है। परन्तु भुक्त-भोगी सहृदय समाज जानता है कि कवि जो कुछ कहता है, 'एक हिसाब से' बिल्कुल ठीक कहता है। उसे इसमें अधिक नहीं तो पूरे नम्बर ज़रूर मिलने चाहिए ! कुछ इनाम भी दे दिया जाय तो परीक्षा की क़द्रदानी है !

किसी अत्युत्कृष्ट दुर्लभ पदार्थ की प्राप्ति के लिये जब किसी को उत्तेजित किया जाता है तो यही कहा जाता है कि —''लेना है तो फ़ौरन ले लो, अभी मौका है, फिर न मिलेगी !'' (फिर चाहे वह चीज़ 'तीन बरस' नहीं 'छै बरस' तक वैसे ही धरी रहे !) किसी ने क्या खूब कहा है :—

'लेनी है जिन्से-दिल तो ज़ालिम तू आज ले चुक !
पड़ जायगा वगरना फिर इसका कल को तोड़ा।''

हरि कवि ने, दूसरी तरह संगति मिलायी है और अच्छी मिलाई है ! यथा :—

''बारह महीने के बारह सूर्य हैं, माघ में अरुण नामक सूर्य तपता है, फाल्गुन में सूर्य' संज्ञक सूर्य तपता है और चैत्र में 'वेदांग' सूर्य तपता है—इत्यादि। ऐसा 'आदित्य-हृदय' ग्रन्थ में लिखा है। सूर्य मण्डल में कोई स्थान विशेष है, वहाँ मास पूर्ण होने पर कोई सूर्य उठता है कोई बैठता है, इसी का नाम ''सक्रमण'' है। वह अतिसूक्ष्म और पुण्यकाल है।''

—''तिथि में संक्रान्ति होती है, सो नायिका 'तिथि' है, किशोर जो वयः-क्रम है वह तरणि—सूर्य है। सो शैशव' संज्ञा सूर्य बैठता है और किशोर संज्ञक सूर्य उठता है (आता है)। यह अर्थ न करें तो आगे ''वयस सन्धि'' पद नहीं लगेगा, क्योंकि दो वयः क्रम हों तब सन्धि (वयः सन्धि) कहना बन सके।'' ''पुन्य—काल सम दोन''—का अर्थ :—''

—'दोन' दोनों का अर्थात् एक अवस्था (शिशुता) का जाना, दूसरी (कैशोर) अवस्था का आना, सूर्य के पुण्यकाल के समान हैं, अतिसूक्ष्म और प्रशस्त हैं। 'काहू पुन्यनि'—कोई बड़े पुण्य से पाता है, वयस की सन्धि और सक्रान्ति (वयः सन्धि रूप संक्रान्ति !) ''

---

* एक उर्दू कवि ने १६—वर्ष से ३० वर्ष तक रहने वाले ''शबाब'' (यौवन) को कैसा दृष्टनष्ट बतलाया है:—

''न जाने बर्क़ की चमक थी या शरर की लपक।
ज़रा जो आँख झपक कर खुली शबाब न था ! !''

बर्क़ की चमक—बिजली की कौंद। शरर की लपक—चिनगारी की चमक।

इसके आगे हरि कवि ने 'पुण्य पुण्य' को पुनरुक्ति मानकर उससे बचने के लिये अर्थान्तर कल्पना भी की है। यथा :—

"'पुण्य पुण्य' की पुनरुक्ति मिटाने को ऐसा अर्थ करना चाहिए—हे पुण्य ! हे सुन्दर ! (अनेकार्थ कोश में पुन्य नाम सुन्दर, सुकृत और 'पावन' का है) 'काल सम दोन'—अर्थात् संक्रमण का काल और वय: सन्धि का काल दोनों सम हैं। किंवा, हे पुन्य ! यह जो वय: सन्धि का काल है, उसे "सम दौ न"—विदा मत दो-हाथ से मत जाने दो-! "पुन्य पुन्य" में 'आवृत्ति दीपक' है, (पुन्य) पद की आवृत्ति है, अर्थ भिन्न है।" (हरि प्रकाश)

इसी विषय पर सूरति मिश्र की— 'वार्ता'—

'पुन्य काल' एक ही शब्द मैं द्वै भाव कढ़े :—

"पुन्य काल संक्रमन तिय पुन्य उदै को काल।
जिहि की पिय कैं लालसा तक्यौ करत दुति बाल।"

(अमर चन्द्रिका)

उन्नीस

लखि लखि सखी सिहाँति

[हे लाल ! उसका दुनिया से निराला लड़कपन देख-देख कर सखियाँ परस्पर सराहना करतीं हैं। आज कल उसकी छाती उभरी हुई सी दीखती है। —स०]

अंकुरित-यौवना मुग्धा-वर्णन

(१९)

लाल ! अलौकिक लरकई लखि लखि सखी सिहांति।
आज काल्हि में देखियत उर उकसौंहीं भांति॥

अर्थ—नायक से सखी का वचन—

हे लाल ! (अलौकिक लरकई)—(उसका) लोकोत्तर-दुनिया से निराला, असाधारण—लड़कपन. (लखि लखि, सखी सिहांति †)—देख देखकर सखियाँ प्रशंसा करती हैं। (आजकालिह में उर, उकसौंहीं भांति, देखियत)—आज कल (उसकी) छाती, उकसी हुई सी, उभरी हुई सी—उठी हुई सी—दीखती है !

---

† सिहांति—बनारस के आस पास की पूर्वी हिन्दी में 'सिहाँना' ईर्ष्या के अर्थ—में बोला जाता है, इसलिये कोई 'सिहांति' का अर्थ ईर्ष्या करना—करते हैं। —कोई 'सिहांति' को 'स्पृहयति' का अपभ्रंश मानकर इसका अर्थ-स्पृहा रश्क-करना कहते हैं।

परन्तु ब्रज भाषा के अहले-ज़बान 'सिहांति' का ईर्ष्या अर्थ किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते। यह शब्द अब तक ब्रज भाषा-भाषियों में प्रसन्न होने के अर्थ में ही व्यवहृत है। सतसई के प्राचीन टीकाकार लल्लू लाल जी आदि ने भी इसका यही अर्थ (प्रसन्न होना) किया है, और फिर इस दोहे में प्रसङ्गानुसार भी 'ईर्ष्या' को अवकाश नहीं—सखी, सखी की उठती जवानी देख कर प्रसन्न होंगी, खुशी से फूलेंगी, या सपत्नी के समान ईर्ष्या से घुटेंगी !

इसकी और अधिक व्याख्या क्या की जाय ! वर्णनीय विषय (वस्तु) स्वयं अंकुरित है, कुछ कुछ ऊपर को उभरा हुआ है, जारा ध्यान से देखने पर साफ़ दीख जायगा !

"लोकोक्ति" अलंकार है। पूर्वार्द्ध में 'लकार' की आवृत्ति से 'वृत्यनुप्रास' भी स्पष्ट हैं। अनवर चन्द्रिका, तथा प्रताप चन्द्रिका ने यहाँ "उत्प्रेक्षालंकार" (?) माना है।

"लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।
सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने ॥"

(कुवलयानन्द)

जहाँ किसी लोकोक्ति (कहावत को पद्य में जड़ दिया जाय, वह 'लोकोक्ति' अलंकार है। जैसे उक्त संस्कृत पद्य के उत्तरार्ध में 'आँखें मीच कर दो एक महीने काट दो" यहाँ आँख मीचकर कहावत है। और प्रकृत दोहे में 'आजकल में' लोकोक्ति है।

बोस

बड़ौ इजाफा कीन

[परम चतुर यौवन रूप राजा ने, कुच, मन, नेत्र और नितम्ब को मानो अपने पक्ष का समझ कर, उन्हें हद से बहुत आगे बढ़ा दिया है, उनकी मर्यादा और पद में बहुत वृद्धि कर दी है। —स०]

नवयौवना मुग्धा-वर्णन

(२०)

अपने अंग के जानि कै जोबन नृपति प्रवीन।
स्तन ❀ मन नयन नितम्ब को बड़ौ इजाफा कीन ॥

अर्थ :—सखी 'नवयौवन-भूषिता" नायिका की प्रशंसा नायक से करती है।

—(प्रवीन जोबन—नृपति)— परम चतुर यौवन रूप राजा ने, (अपने अंग के जानि, कै †)—अपने पक्ष के समझ कर, मानो (स्तन, मन, नयन, नितम्ब को, बड़ौ इजाफा कीन)—कुच मन नेत्र और नितम्ब का बहुत इज़ाफ़ा कर दिया, इन्हें बहुत तरक्की दे दी ! इनके पद की, मर्यादा से अधिक वृद्धि कर दी—इन्हें हद से बहुत आगे बढ़ा दिया !

❀ कई पुस्तकों में 'स्तन' की जगह "तन" पाठ है। यथास्थित 'स्तन' शब्द के प्रयोग को कुछ लोग 'कर्णकटु' कहते हैं ! उन्हें थन' में माधुर्य्य प्रतीत हो तो उसका उपयोग करें ! प्राचीन प्राकृत में (थण) स्तनमात्र के लिये और आजकल गाय, भैंस, बकरी आदि के स्तन में (थन) व्यवहृत भी है। पर 'स्तन' के अर्थ में 'तन' का प्रयोग और वह भी 'मन' के साथ, सारे शरीर पर अधिकार कर लेता है ?

† "कै" यहाँ पृथक पद, उत्प्रेक्षा वाचक 'किधौं" का पर्य्याय है।

जब कोई 'प्रवीण'—स्वपक्ष परपक्ष को पहचानने वाला और गुणज्ञ—राजा अधिकारारूढ़ होता है तो अपने तरफ़दार और सहायक अधिकारियों की यथेष्ट पदवृद्धि करता है। उनमें से किसी को मन्त्री, किसी को दीवान, किसी को सेनापति का पद देकर अपनी कृतज्ञता और गुणग्राहकता का परिचय देता है।

सो यहाँ यौवन रूप राजा ने 'बाला' के 'अङ्गदेश' पर अधिकार पाकर मानो नेत्रादि अपने सहायकों की पदवृद्धि की है—साधारण वृद्धि नहीं, "बड़ा इज़ाफ़ा" किया है—मर्यादा से अधिक उन्नति का पद दिया है। स्तन—जो अब तक बेर, आंवले के बराबर सकुचित दशा और गुमनामी की हालत में थे, वे अब 'मत्तेभकुम्भ' और कनकाचल' की समता को पहुँचेंगे। मन—जो अज्ञात दशा में हृदय की छोटी सी कुटिया के कोने में बन्द दिन काट रहा था! अब नाना प्रकार की इच्छाओं और विविध संकल्पों के मैदान में मनोरथ के घोड़े दौड़ाता फिरेगा, उसका अधिकार इतना बढ़ जायगा कि एक क्षण के लिये उसे अवकाश न मिलेगा, मिनट भर निचला न बैठ सकेगा।

नयन तो यौवननृपति का मुख्य अङ्ग है। सबसे पहले श्रीमान् महाराजाधिराज यौवन देव के दर्शन इसी 'झरोखा' के द्वारा होते हैं, यह तो यौवननृपति का प्रधान सेनापति ठहरा! फिर उसकी श्रीवृद्धि का क्या ठिकाना है! निस्सीम अधिकार वृद्धि के साथ लज्जा, चञ्चलता, कटाक्ष, इत्यादि अमोघ अस्त्र भी उसे इनाम में मिले हैं, जिनके सहारे वह एक दिन त्रिभुवन विजयी का पद पायगा।

रहा नितम्ब, सो यौवन-नृपति का स्वर्णपीठासन (सोने की चौरस चौकी) और मन्मथ के रथ को चलाने वाला "चक्र" वही तो होगा!

'नयन' के सम्बन्ध में 'इज़ाफ़े'—(वृद्धि) का अर्थ आकार वृद्धि नहीं,--प्रत्युत यौवन के सम्पर्क से उनमें सरसता, चञ्चलता, कटाक्षविक्षेप इत्यादि शोभावृद्धि समझना चाहिये। क्योंकि "जन्म के पीछे पहले ही वर्ष में आँख की जो वृद्धि होनी होती है हो चुकती है। एक वर्ष के बाद फिर आँख नहीं बढ़ती' ऐसा डाक्टर मानते हैं। नेत्र आकार में 'कभी नहीं बढ़ते' ऐस सुश्रुत में लिखा है—

"दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन।
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम्॥"
(सुश्रुत शारीरस्थान)

अर्थात् मनुष्यों की दृष्टि और रोमकूप कभी नहीं बढ़ते दृष्टि और रोमकूपों का आकार निश्चित और निश्चल है—यह धन्वन्तरि जी का मत है।

कोई 'दृष्टि' का अर्थ 'आँख की पुतली' कहते हैं—कहते हैं कि पुतली नहीं बढ़ती, बाक़ी आँख बढ़ती है! यह पिछला पक्ष ठीक हो तो 'नयन के इज़ाफ़े' का अर्थ—'आँख की आकारवृद्धि'—संगत हो सकता है। पर पुतली तो अक्सर नेत्र रोग में फैलकर बढ़ जाती है! ख़ैर जो कुछ हो जवानी में आँख की आकार वृद्धि चाहे होती हो या न होती हो पर उसकी शोभा वृद्धि में तो सन्देह नहीं!

इस दोहे का अनुवाद 'यशवन्तयशो भूषण' में 'प्रत्यनीक' अलङ्कार के उदाहरण में यों है:—

"प्राज्ञो यौवन—भूपालः स्वांगबुद्धया तवांगने।
स्तनौ नेत्रे नितम्बे च विवर्धयति सादरम्॥"

* * *

इस दोहे में 'अमरचन्द्रिका' तथा 'हरिप्रकाश' के मत में 'हेतूत्प्रेक्षा' और 'रसचन्द्रिका' के मत से "फलोत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

यौवनावस्था में स्तनादि अंगों की स्वभावसिद्ध वृद्धि में "मानो अपने अंग (पक्ष) के जानकर"— इस अहेतु को हेतु मान लिया गया है। और वृद्धि के 'आस्पद' कुचादि हैं, इसलिये 'सिद्धास्पदा' भी है।

'फलोत्प्रेक्षा' भी इसलिये कह सकते हैं कि स्तनादि का बढ़ना यौववनृपति के अंग (पक्ष) होने का, फल नहीं है, स्वभावसिद्ध है, पर अफल में फल की कल्पना कर ली गयी।

—"काव्यलिंग" भी है। स्तनादि की वृद्धि, यौवन नृपति के अंग होने की युक्ति से दृढ़ की गयी है।

'जोबन-नृपति' में "रूपक" है। और "तुल्ययोगिता" भी है, क्योंकि स्तन, मन आदि सबका एक धर्म—"बड़ो इज़ाफा कीन" वर्णित है।

इक्कीस

नव नागरि-तन मुलक लहि

[नवीन नागरी नायिका के शरीर रूप देश पर अधिकार पाकर, यौवन रूप अधिकारी ने, जुल्म करके, जो रकम (वस्तु) बढ़ी हुई थी वह घटा दी है और जो घटी हुई थी वह बढ़ा दी है। इस प्रकार कुछ का कुछ कर दिया है। —स०]

(२१)

नव नागरि-तन-मुलक लहि जोबन आमिल जौर।
घटि बढ़िते बढ़ि घटि रकम करी और की और॥

अर्थ—सखी नायिका के नवयौवन की प्रशंसा करती हैः—(नव, नागरि–तन–मुलक, लहि)—नवीन नागरी–प्रवीण नायिका के—शरीर रूप देश को पाकर - उस पर दखल और क़ब्जा करके—(जोबन आमिल जौर)–यौवन रूप हाकिम ने जौर*—जुल्म या बलात्कार से (रकम, बढिते घटि (करी) घटि (ते) बढि (करी)—जो रकम (वस्तु) बढ़ी हुई थी, वह घटा दी कम कर दी—जो घटी हुई थी, वह बढ़ा दी। (और की ओर करी)—इस प्रकार कुछ की कुछ कर दी।

जब किसी देश पर नवीन राजा अधिकार पाता है, तो उसके अत्याचारी हाकिम, बलात्कारपूर्वक देश दशा में परिवर्तन करके कुछ का कुछ कर देते हैं। 'भूमि' का नये सिरे से बन्दोबस्त होता है। कहीं का कर (लगान) बढ़ाया जाता है, कहीं का कम किया जाता है—कहीं 'इज़ाफ़ा' होता है, कहीं 'तख़फ़ीफ़' होती है। पहले अधिकारियों में से कोई निर्वासित कर दिया जाता है, कोई मार दिया जाता है। उनमें से—(पहले अधिकारियों में से) जो नवीन परिवर्तन के अनुकूल पक्ष में होते हैं, वे यथेष्ट और आशातीत उन्नति पा जाते हैं। ऐसे परिवर्तन का देश के आचार विचार और व्यवहार पर भी अवश्य प्रभाव (असर) पड़ता है।

---

* ज़ौर—शब्द का अर्थ फ़ारसी में जुल्म—'अन्याय'—अत्याचार है। यह भाववाचक' शब्द है। किसी ने हिन्दी में इसे विशेष्य' और 'विशेषण' वाचक समझकर 'ज़ालिम-पापी' अर्थ किया है और किसी ने 'ज़ोर' समझकर 'ज़ोरावर—जबरदस्त' अर्थ किया है। पर यह दोनों पक्ष ठीक नहीं। 'ज़ोर' बल—(ताक़त)—वाचक शब्द और है, "जौर" जो जुल्म का पर्याय है, और है। 'जौर जुल्म' बोला जाता है। यहाँ यही–जौर—चाहिये, 'ज़ोर' नहीं। क्योंकि उत्तरार्द्ध में "और" है, "ओर" नहीं। किसी ने 'जोर' के साथ जोड़ी मिलाने को "और" का भी 'ओर' कर दिया है!

'इज़ाफ़ा' 'रक़म' 'आमिल' 'जौर'—इत्यादि शब्दों के यथास्थान प्रयोग से जाना जाता है कि बिहारी लाल जी को फारसी में भी अच्छा उस्तादाना दख़ल था।

—यहाँ, 'बाला' के 'शरीर–देश पर' काम-नृपति' का अधिकार हुआ है। उसका (काम बादशाह का) सूबेदार (गवर्नर) 'जोबनखां' प्रबंध और शासन के लिये आया है। उसने आते ही एकदम 'अंग' की काया पलट कर दी। जिस (जोबन) का आश्रय पाकर तुच्छ प्राणी तक अभिमान के मद में चूर होकर कुछ का कुछ कर बैठता है। फिर साक्षात् उसके जुल्म का क्या ठिकाना है? उसने पहले ही आक्रमण में पहले अधिकारी "शैशव–कुमार" को सदा के लिये शान्त कर दिया! कमर—(कटि) बेचारी का नाम-निशान मिटा कर काम ही तमाम कर दिया! जिससे नवीन राज्यस्थापना में सहायता मिली थी— जिन्होंने परिवर्तन का खुले दिल से स्वागत किया था उन स्तन, नितम्ब, केश, नेत्र और चातुर्य्यादि को यथेष्ट उन्नति दे दी।

—गति, भाषण, आचार, विचार, देखना, सुनना, आदि सब व्यवहारों में बड़ा परिवर्तन हो गया। सचमुच, ज़ालिम जोबन ने कुछ का कुछ कर दिया! 'बाला' की हालत बदल दी! काया ही पलट दी!

दोहे में "समस्त वस्तु विषय (सविषय) सावयव–'रूपक'" और "छेकानुप्रास" अलंकार है।

बाइस

छीन परति नित जाति

[ज्येष्ठ मास के दिन में जैसे जैसे कुल रूप दिनमान अत्यन्त बढ़ता जाता है, वैसे वैसे कटि रूपी रात्रि, नित्य प्रति, प्रति क्षण क्षीण होती जाती है। —स०]

(२२)

ज्यौं ज्यौं जोबन-जेठ दिन कुच-मिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छन छन कटि-छपा छीन परति नित जाति॥

लक्षितयौवना नायिका की सखी का कथन नायक से या सखी से:—

अर्थः—(जोबन–जेठदिन) यौवनरूप–ज्येष्ठमास के दिन में (ज्यौं, ज्यौं कुच–मिति, अति अधिकाति,) जैसे जैसे कुच—मिति=कुचरूप दिनमान, अत्यन्त बढ़ता है (त्यौं त्यौं नित कटि–छपा, छिनछिन, छीन, परति जाति = वैसे वैसे, नित्यप्रति, कटि–रूप क्षपा–(रात्रि)—क्षण क्षण में क्षीण होती जाती है!

क्या सुन्दर रूपक है! जेठ में दिनमान प्रतिदिन बढ़ता है और अन्य महीनों की अपेक्षा बहुत बढ़ता है। वह तीस घड़ी से आगे निकलकर बढ़ता बढ़ता बढ़ने की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है और रात घटते घटते, नाम मात्र को—कुछ योंही—रह जाती है।

—यौवन में 'कुच' और 'कटि' की भी ठीक ऐसी ही दशा होती है।

यौवन की गर्मी (मदनोष्मा) और ज्येष्ठ की कड़–कड़ाती धूप के सादृश्य से भी यह 'रूपक' घटनानुरूप है! सवैया "ताद्रूप्य" है!†

अलंकार 'रूपक'। 'छकार' से वृत्त्यनुप्रास। और किसी के मत में दीपक' भी।

† जवानी के गरम मौसम में इश्क़ की लूएं चलने का वर्णन उर्दू के महाकवि 'अकबर' ने भी किया है:—

"खुली जो आँख जवानी में इश्क आ पहुंचा,
जो गरमियों में खुलें दर तो क्यों न लू आए!"

तेईस

आवत रूँधि उसास

[सखी नायिका से कहती है कि तेरी जवानी की बहार खिल रही है। तुझमें पूर्ण तारुण्य का विकास हो रहा है। तेरी छाती पर कुचों का भार बढ़ गया है। पर इसके बोझ से तेरी सपत्नी के हृदय से साँस, रुक रुक कर, घुट घुट कर आ रही है। —स०]

(२३)

बाढ़त तो उर उरजभर भर तरुनई विकास।
बोझनि सौतनि के हिये आवत रूँधि उसास॥

'यौवन-भारावनता' नायिका से सखी कहती है:-

अर्थ:—(भर तरुनई विकास)=[तेरी] तरुणता का भार [आधिक्य] और विकास है, अथवा भरजवानी= पूर्ण तारुण्य का विकास है, जवानी की बहार खिल रही है। तथा, [तो उर, उरजभर, बाढ़त]=तेरी छाती पर कुचों का भार बढ़ रहा है। और, [बोझनि, सौतनि के हिये, उसास, रूँधि आवत]=बोझ से सपत्नी के हृदय से सांस, रुक कर—घुट कर—आता है।

कुचों का भारी भार, तो तेरी छाती पर पड़ा है, जो बराबर बढ़ रहा है, और उसके बोझ से साँस सपत्नी का घुट घुटकर निकल रहा है! जिस पर भार पड़े उसी को रुक कर सांस भी आना चाहिये! यहाँ, भार कहीं और बोझ कहीं! छाती पर भार कोई उठाए हुए है और उसके बोझ से दम किसी का घुट रहा है! कैसी बेमेल बात है! क्या अच्छी "असङ्गति" है!

—नायिका के वर्धमान सौन्दर्य्य को देखकर, बढ़ी हुई ईर्ष्या से सपत्नी का सांस घुटा जा रहा है! यह विचित्र भाव!

कारण—'भार उठाना'—कहीं है, कार्य—बोझ से दबकर 'दम घुटना'—दूसरी जगह है। इसलिये "असङ्गति" है। पूर्वार्द्ध में 'भार' और उत्तरार्द्ध में 'बोझ' है, दोनों का अर्थ एक है। इस कारण "अर्थावृत्ति दीपक" भी है।

यहाँ "भार" और "बोझ" के अर्थ में भेद है। पर आपाततः 'भार' 'बोझ'-पर्य्याय से एक-'पुनरुक्तवत्' प्रतीत होते हैं, इसलिये किसी की सम्मति में—"पुनरुक्तवदाभास" भी है। "भार" का अर्थ 'भारवद्वस्तु। और "बोझ"= गुरुत्व—भारवद्वस्तु का दबाव। जैसे—"भार के बोझ से देवदत्त दबा जाता है।" ऐसा बोला जाता है।

चौबीस

निसि दिन हेरत जाय

[यों ही जरा एक उभार सा हुआ है, कुचों ने कुछ कुछ कोर ही निकाली, है, इसी का थोड़ा सा भार छाती पर आ पड़ा है, सो सीप के हार को देखने के बहाने नायिका को रात दिन छाती ही देखते बीतता है। उसे और कुछ काम ही नहीं रहा। —स०]

ज्ञात-यौवना-मुग्धा-वर्णन

(२४)

भावक उभरौहौं भयौ कछुक परचौ भरु आय।
सीपहरा के मिस हियौ निसि दिन हेरत जाय॥

अर्थः — सखी का वचन नायक सेः—

[भावक, उभरौहों भयौ,)=एक तरह से—ज़रा सा, उभार सा [अर्थात् कुचों का] हुआ है, ठीक उभार नहीं, उभार होने के समान कुछ हुआ है। [कछुक भरु, आय परचौ]=[उसका] कुछ एक—थोड़ा सा, भार (छाती पर) आ पड़ा है। सो [सीपहरा के मिस, हियो हेरत निसिदिन जाय]=सीप के हार को [देखने के] बहाने से, छाती देखते ही रात दिन बीतता है! जब देखो, तब उसे ही देख रही है, और कुछ काम ही नहीं!

—अभी यों ही ज़रा एक उभार सा हुआ है, कुचों ने कुछ कुछ कोर निकाली है, उठने को ज़रा सिर उभारा है, इसी का थोड़ा सा भार है! जो उभार की याद दिलाता रहता है। सो गर्दन झुकाए उस उभार की जगह को देखने में ही दिन रात कटता है! कोई पूछे, तो छाती पर पड़े सीप के—(या सीप के मोतियों के-) 'हार' देखने का बहाना है!

"क्यों री! इस जरा से उभार पर इतनी खुर्दबीनी! हर वक्त उसी पर नजर है -"

"वाह! तुम क्या समझती हो! खूब, मैं तो अपने 'हार' को देख रही हूँ!—"

बहाना भी बहुत अच्छा—'पर्यायोक्ति'—भी बड़ी बढ़ियाः—

"छलकर साधिय इष्ट जहँ "पर्यायोक्ति" विशिष्ट।
सीपहरा के मिस हियौ लखति सुसाधत इष्ठ॥"

(अमरचन्द्रिका)

'भावक' और "कछुक" दोनों का अर्थ एक, इससे 'अर्थावृत्ति दीपक' भी अपना मन्द प्रकाश डाल रहा है।

पच्चीस

देह दुलहिया की बढ़ै

[नव वधू की देह में जैसे जैसे जोबन की ज्योति बढ़ रही है त्यों त्यों सौतों के मुख की कान्ति मलिन पड़ती जाती है। —स०]

नवोढ़ा मुग्धा-वर्णन

(२५)

देह दुलहिया की बढ़ै ज्यौं ज्यौं जोबन जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौतैं सबै बदन मलिन दुति होति॥

अर्थः—सखी का वचन सखी से या नायक सेः—

(दुलहिया की देह—दुलहिन—नववधू की देह में (ज्यौं ज्यौं जोबन जोति बढ़ै)—जैसे जैसे जोबन की ज्योति (चमक) बढ़ती है, या जोबन और जोति बढ़ती है (त्यौं त्यौं लखि सबै सौतैं —तैसे तैसे, देखकर सब सौतें (वदन, मलिन दुति होति) मुख के विषय में मलिनकान्ति-वाली होती जाती हैं। अथवा—हे सखि! तू देख, सब सौतों के मुख मैले होते जाते हैं!

—नववधू की दिन दिन जगमगाती जोबन जोति के सामने सब सपत्नियों के मुख की कांति मलिन पड़ती जाती है, चेहरे उतरते जाते हैं, रंग उड़ता जाता है!

यहाँ 'उल्लासालंकार' विस्पष्ट चमक रहा हैः—

'एकस्य गुणदोषाभ्या-'मुल्लासो' ऽन्यस्य तौ यदि॥"

[कुवलयानन्द]

"गुन औगुन जब एकतें और धरे 'उल्लास'।"

[भाषाभूषण]

—जहाँ एक के गुण से गुण, या दोष से दोष को, अथवा दोष से गुण या गुण से दोष को, दूसरा धारण करे, वहाँ 'उल्लास' होता है। यहाँ दुलही के 'सौन्दर्यप्रकाश'—गुण से सौतों में 'मुखमालिन्य'—दोष, हुआ। तथा—अकारण जोबन-जोति' से मलिनदुति-'कार्य' की उत्पत्ति हुई, इसलिये चौथी विभावना, या ज्योति रूप विरुद्ध कारण से मालिन्यरूप कार्य वर्णन किया। इसलिये पाँचवीं विभावना भी हो सकती है।

'अनवरचन्द्रिका' तथा 'प्रतापचन्द्रिका' में इस पर 'विभावनालंकार' लिखकर लिखा है कि—

["रूपकातिशयोक्ति"]

—"जो रूपकातिशयोक्ति, कीजै तो विशेष चमत्कार होइ"—पर यहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' कैसे कीजै? यह किसी ने नहीं लिखा। 'प्रतापचन्द्रिका' ने सिर्फ एक यह दोहा लिख दिया है, लक्षण समन्वय नहीं किया—

'उपमान कि उपमेयतें उपमान कि उपमेय।
ग्रहन करो तहाँ रूपका-अतिशयोक्ति लखि लेय॥"

'रूपकातिशयोक्ति' का लक्षण और लक्ष्य, कुवलयानन्द के अनुसार यह हैः—

"रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान् निःसरन्ति शिताः शराः॥"

—अर्थात् जहां उपमेय की प्रतीति उपमान ही के द्वारा करायी जाय—केवल उपमानवाचक शब्द ही का प्रयोग हो, 'उपमेय' स्ववाचक शब्द से उपात्त न हो—वह उपमान के अन्दर तद्रूप होकर दबा रहे,—जहां—उपमान से उपमेय में अप्रकृत तादात्म्य का आरोप किया जाय वह 'रूपकातिशयोक्ति' है।

जैसे "देखो ! दो नील–कमलों में तीक्ष्ण बाण निकल रहे हैं !"—यहां (उपमानवाचक) नीलोत्पल से (उपमेय) नेत्र का और उपमान—'शर' शब्द से उपमेय—कटाक्ष का ग्रहण है। इसे ही यदि यों कह दिया जाय कि—नेत्र–रूप नीलोत्पल से कटाक्ष रूप बाण निकल रहे हैं ! तो 'रूपक' है। इसी वाक्य से में 'नेत्र' और 'कटाक्ष' इन (उपमेयों) का साक्षात् इनके वाचक शब्दों से कथन न करके केवल उपमानवाचक—(नीलोत्पल) और 'बाण' शब्दों से ही बोध कराया जाय, तो 'रूपकातिशयोक्ति है।

भाषाभूषण में सीधा लक्षण यह है:—

"रूपक—अतिशयोक्ति तहँ, जहँ केवल उपमान।
कनकलतापर चन्द्रमा धरै धनुष द्वै बान।।"

यहाँ–(भाषाभूषण के उदाहरण में) केवल उपमान–वाचक शब्श हैं, उनसे ही उपमेयों का बोध होता है। जैसे—'कनकलता' से नायिका का, 'चन्द्रमा' से मुख का, 'धनुष' से भौंहों का, और 'द्वै बान' से नेत्रों का,–(तीरे नज़र का)–बोध होता है।

"रूपकातिशयोक्ति" का यह लक्षण सर्वसम्मत है कि जहाँ उपमेय को तद्वाचक शब्द से न कहकर उपमानवाचक शब्द से बोध कराया जाय, वह "रूपकातिशयोक्ति है।"

'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में 'रूपकातिश–योक्ति' 'अतिशयोक्ति' का प्रथम भेद है। वहां 'रूपका–तिशयोक्ति" यह पृथक् नामनिर्देश नही है।

—परन्तु, 'अनवरचन्द्रिका' यह कहकर कि 'जो रूपकातिशयोक्ति कीजै तो विशेष चमत्कर होई"—और 'प्रतापचन्द्रिका' रूपकातिशयोक्ति का एक 'अस्पष्ट' सा लक्षण लिखकर, 'रूपकातिशयोक्ति' के एक दूसरे भेद की कल्पना करना चाहते हैं ! यहां यदि रुपकातिशयोक्ति मान ली जाय तो 'उपमेय' वाचक शब्द से 'उपमान' का बोध कराना होगा। 'प्रतापचन्द्रिका' के उक्त दोहे का भी यही भाव मालूम होता है कि जहाँ उपमान से, उपमेय का या उपमेय से उपमान का ग्रहण कराया जाय वह "रूपकातिशयोक्ति" है।—

—इस दशा में "जोबन जोति', (उपमेय) से (उपमान) –सूर्य का प्रकाश, (उपमेय)—सौतों के मुख से (उपमान) –कुमुदावलि का अर्थ समझना चाहिये। सूर्य के प्रकाश में कुमुदावलि सुकड़ जाती है। या 'जोति' का अर्थ ज्योत्स्ना–चाँदनी—लें तो सपत्नी के वदन (मुख) को कमल समझें। चन्द्रोदय में कमल मलिनमुख हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि नायिका के यौवन सूर्य के प्रकाश में, सपत्नी–कुमुदि–नियाँ हतप्रभ हो गयीं ! या नायिका के यौवन–चन्द्र की चाँदनी में सपत्नियों के—मुख–कमल विच्छाय होकर बंद हो गये। मैले हो गये–प्रकाशहीन हो गये !

—इस दशा में—रूपकातिशयोक्ति मानकर इस प्रकार अर्थ करने में चमत्कार तो बेशक विशेष हो गया, परन्तु उपमेयवाचक शब्द से उपमान का बोध कराया जाकर, "रूपकातिशयोक्ति" होती भी है या नहीं, यही विचारणीय है ! क्योंकि प्रसिद्ध साहित्य–ग्रन्थों में रूपकातिशयोक्ति के जो लक्ष्य लक्षण मिलते हैं, उनमें 'उपमान' ही 'उपमेय' –वाचक शब्द को निगलकर, अर्थ में उसे उगलता है। यह देखा जाता है—

"निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्।।"

"उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका—(अतिशयोक्तिः)" (काव्यप्रकाश)

—परेण—उपमानेन, निगीर्य—कवलीकृत्य, (पृथग निर्दिश्य यत् प्रकृतस्य—उपमेयस्य, अध्यवसानम्–आहार्या–भेदनिश्चयः, सा एका (प्रथमा) अतिशयोक्तिर्विज्ञेया।"

(काव्यप्रकाशटीका)

यही कुवलयानन्द की "रूपकातिशयोक्ति" है। अस्तु।

यदि इस दोहे में अनवरचन्द्रिका और प्रताचन्द्रिका की बात मानकर 'रूपकातिशयोक्ति' मानें तो 'उपमेय' से उपमान' का बोध कराना होगा। जो काव्यप्रकाशादि के इन लक्षणों से विरुद्ध है।

छब्बीस

सास सदन मन ललन हू

[दुलहन में प्रीति करके मुँह दिखाई की रस्म में सास ने उसे घर दिया, पति ने मन दिया और सपत्नी ने भी अपना सुहाग दे दिया। —स०]

(२६)

मानहु मुख दिखरावनी दुलहिनि करि अनुराग।
सास सदन मन ललन हू सौतिनि दियो सुहाग ॥

अर्थः—सखी की उक्ति सखी से। नवोढा नायिका का रूप, गुण और चातुर्य्य व्यङ्ग्य।

(दुलहिनि, अनुराग करि)—दुलहन में प्रीति करके, (मुख दिखरावनी)—मुंह दिखाई की रस्म में, (मानहु) मानो (उसे) (सास सदन)—सास ने घर दिया, (मन ललन)—पति ने मन दिया, (सौतिन हू सुहाग दियो)—सपत्नी ने भी सुहाग दे दिया।

जब नयी बहू घर आती है, तो सास, ससुर आदि घर के स्त्री पुरुष उसका मुंह देखकर उसे कुछ देते हैं। यह मुंह दिखाई की रस्म' कहलाती है। जैसी देवता वैसी ही उसकी पूजा! जैसा अनुराग वैसा ही प्रणयोपहार। प्रदर्शनी में जो चीज सबसे अधिक सुन्दर और उत्कृष्ट जँचती है, उसके लिये इनाम भी वैसा ही सबसे बढ़िया मिलता है। इस लोकोत्तर—सौन्दर्य्य—शालिनी नवोढा नायिका का मुख-चन्द्र असाधारण 'अर्घ'—चाहता है। इसके अनुपम रूप, गुण और चातुर्य्य का पुरस्कार रुपये या अशरफ़ी नहीं हो सकते। इसलिये मुख देखने वालों में जो चीज़ जिसके पास सबसे अधिक प्यारी और क़ीमती थी, वही उसने भेंट कर दी। सामने धन धान्य आदि से भरपूर घर उसके सपुर्द कर दिया! कोई सास, चलते हाथ पांव अपनी ख़ुशी से बहू को घर सौंप दे, इससे अधिक असामान्य 'आत्मत्याग' उस (सास) के लिये और क्या होगा! प्यारे 'ललन' (पति) के पास मुंह दिखाई में देने के लिये 'मन' से बढ़ कर और क्या पदार्थ हो सकता है! सो वही उसने भेंट कर दिया! 'सौत' बेचारी के पास सिर्फ़ 'सुहाग' ही एक चीज़ थी, जिसे वह अपना कह सकती थी। घर पर या घर के किसी पदार्थ—विशेष पर तो सास की विद्यमानता में उसका कुछ अधिकार ही न था। 'शरीर' और 'मन' भी उसके नहीं थे, उन पर पति का आधिपत्य था। केवल 'सुहाग'—रत्न जो उसे प्राणाधिक प्रिय था, उसके पास था वही 'मुंह दिखरावनी' में उसने इस नयी देवता पर चढ़ा दिया! इन्साफ़ से देखा जाय तो जो सम्मान नयी बहू का इस सपत्नी ने किया वह इनमें से किसी ने भी नहीं किया। 'सास' घर देकर सारे झंझटों से छूट गयी, 'ललन' साहब को तो इस सौदे में दुगुना लाभ हुआ। एक 'मन' देकर तन मन धन सब कुछ ले लिया! पर सपत्नी ग़रीब ने तो सौभाग्य-दान के स्वरूप में मानो अपना सर्वस्व ही दे डाला, अपने आपको ही दुलहिन पर निछावर कर दिया!

—दोहे में जो "करि अनुराग" पद है—उस पर प्रायः टीकाकारों ने शङ्कासमाधान करके कुछ का कुछ अर्थ

किया है। यह शंका उठाकर कि—"सपत्नी" 'दुलहिन' से क्यों अनुराग करेगी ? —इसका यह उत्तर दिया गया है कि 'करि अनुराग' का अन्वय 'सास' और 'ललन' के ही साथ है, सपत्नी के साथ नहीं। ललन' के आगे का 'हू' पद अनुराग के अधिकार की—अन्वय की—अवधि पूरी कर कर देता है। 'रसचन्द्रिका' में लिखा है कि—

—"यदि 'हू' न होता तो—'सौतौं का किया अनुराग भी लगता, इसीलिये यहाँ बिहारी ने 'हू' पद रक्खा है। और कोई यों भी कहते हैं कि यहां 'हू' का अर्थ अनुराग की हद (सीमा) है।"

'प्रतापचन्द्रिका' में इस प्रकार अर्थ बैठाया है:—

—'सास और ललन का अनुराग देखि सौतिन हूँ, सुहाग दीनो। हमारो प्रानप्यारौ या के (दुलहिन के) वस होयगो, या तें।"—

'हरिप्रकाश' में दोहे को इस प्रकार लगाया है—

—"मानो (मानहु) का अर्थ 'तुम जानो' (नायिका का सौन्दर्य व्यङ्ग्य) ऐसी सुन्दरी नायिका है कि नायक आसक्त होकर, घर का कार्य इसे ही देगा, "दियौ" का अर्थ यहाँ लक्षण करके 'गया' जानिए, सदन सास से गया, मन, ललन से गया, और सुहाग सौत से गया।"—

हरि कवि के मत में यही प्रधान अर्थ है, और "पर्य्यायोक्ति" अलङ्कार है। दूसरा अर्थ उन्होंने उत्प्रेक्षापरक यह भी किया है: —

—"किंवा "मानो" से उत्प्रेक्षा जानिए, और तरह की और तरह की सम्भावना कीजिए, मानो, "नायिका ने मुह दिखरावनी में सास को सदन दिया है, मन ललन को दिया है (सौतिन दियो सुहाग)— परन्तु सौत को सुहाग दिया" !!

—यह सर्वथा उलटी कल्पना भी केवल "अनुराग" का अन्वय सौत से दूर करने के लिये ही की गई मालूम होती है। पर 'मुंह-दिखाई' में जिसका मुँह देखा जाता है, वह तो किसी को कुछ नहीं दिया करती, उलटा उसी को देखने वालों की ओर से पारितोषिक दिया जाया करता है! यदि 'उत्प्रेक्षा' के बल से ऐसी विपरीत कल्पना ठीक हो सकती है तो फिर 'अनुराग' का अन्वय सौत के साथ करने में क्या काठिन्य है!—"मानो नवोढ़ा के अलौकिक गुण पर मुग्ध होकर सपत्नी ने भी अपना सुहाग उसे दे दिया!—" 'हू' का सम्बन्ध "सौतिन" के साथ रहे तो और अच्छा हो। इसी में चमत्कार है! स्नेहशील सास और 'ललन' ने जो प्रीति-दाय में नवोढा को घर और मन दिया सो ठीक ही किया (यह तो कोई इतने आश्चर्य की बात नही!) पर सौत ने भी खुशी से सुहाग उसकी नजर कर दिया! यही तो खास बात है! शत्रु भी जिससे ऐसा स्नेह करे फिर उसकी सौभाग्यशालिता में क्या सन्देह !

—इसी अर्थ में उत्प्रेक्षा अधिक चमत्कारिणी है—

"इति निमीलितलोचनं विचारयन्तु
साहित्यमर्मज्ञाः सहृदयधौरेयाः।"

अलंकार—"सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा" 'दियौ' इस एक क्रिया से "तुल्ययोगिता" भी है। "अनवर चन्द्रिका" के मत में 'उत्प्रेक्षा' और 'पर्यायोक्ति' अलकार की 'संसृष्टि' है।

कुछ इसी भाव का एक उर्दू कवि का शेर है—

"हटावो वस्ल में रुखसारे-अनवर से दुपट्टे को,
दिले-मुश्ताक़ देता हूं मैं तुमको 'रूनुमाई' में।"

महाकवि 'शम्भु' और कविराज 'शंकर' महाराज ने भी रूप गर्विता नवोढा के मुख-प्रदर्शनी का—मुंह दिखाई का— वर्णन दूसरे ढंग पर धूम धाम से कराया है:—

घनाक्षरी—"आज हौं गई थी "शम्भु" न्यौते नन्दगांव, व्रज
सांसति बड़ी है रूपवती वनितान की,
घेर लीनी तियन तमासो करि मोहि लखें,
गहि गहि गुलुफ लुनाई तरवान की।

एकै बलि बोल बोल औरनि बतावै, रीझ–
रीझ कुँवराई अरुनाई मोरे पान की,
घूंघट उघारि मुख लखि लखि रहै एकै
एकै लगी नापन बड़ाई अँखियान की।"
(महाकवि शम्भु)

रूप-घनाक्षरी — "सासुने बुलाई घर बाहर की आई—
सो लुगाइन की भीर मेरो घूँघट उघारै लगी,
एक तिन में की तिन [तृण] तोरि तोरि डारै लगी
दूसरी सरैया राई नोनकी उतारै लगी।
'शंकर' जिठानी बार-बार कछु वारै लगी
मोद मढ़ो ननदी अटोक टोना टारै लगी,
आली! पर सांपिनि सी सौति फुसकारै लगी
हेरि मुख 'हा! कर' निसा [शा] कर निहारै लगी॥"
(कविराज 'शंकर' महाराज)

सत्ताईस

निरखि नवोढ़ा नारि-तन

[नवोढ़ा नारी के शरीर से लड़कपन का अवशेषांश छुटता देख कर, अन्य सपत्नी स्त्रियों को प्रियतम ऐसा प्यारा हो गया, मानो वह परदेश जा रहा है। —स०]

(२७)

निरखि नवोढा-नारि-तन छुटत लरकई लेस।
भौ प्यारौ प्रीतम तियन मानहुँ चलत विदेस॥

अर्थ :—सखी का वचन सखी से। नायिका लक्षित-यौवना। शङ्का और ईर्ष्या सञ्चारी भाव व्यङ्ग्य।

(नवोढा नारि तन)—नवोढा नारी के शरीर से (लरकई-लेस छुटत निरखि)—लड़कपन का लेश—अवशेषांश या (श्लेष) लगाव, छुटता देखकर (तियन, प्रीतम प्यारो भयो)—स्त्रियों (अन्य सपत्नियों) को प्रीतम (ऐसा) प्यारा हुआ, (मानहु विदेश चलत)—मानो वह परदेश को जा रहा है!

नवोढा नायिका के शरीर पर लड़कपन का लेश (अंश) जो कुछ अब तक बाक़ी बचा हुआ था, वह भी अब विदा हुआ जा रहा है, यह —(लड़कपन) क्या जा रहा है मानो सपत्नियों का प्रिय पति ही उनसे विदा होकर परदेश को जा रहा है! "इस (नवोढा) के अद्भुत नव-यौवन की अमलदारी में पति हमें क्यों पूछेगा, इससे इसका लड़कपन क्या चला मानो पति ही हमारे हाथ से चला!" इस शङ्का से चिन्तित हो वे पति को उस प्यार से देख रहीं हैं जो प्रिय के परदेश जाते समय चिन्ता, शङ्का सहित हृदय में उमड़ा करता है। "आगतयौवना" नायिका की सपत्नियां प्रवत्स्यत्पतिका" सी हो रही हैं! बड़ा ही सुन्दर भाव है।

—नवोढा नायिका की हृदयाकर्षक अपूर्व नवयौवनश्री, पति की उसमें भाविनी अत्यासक्ति, सपत्नियों की शङ्का, ये सब भाव अनूठे ढंग से इस उक्ति में व्यञ्जित हैं!

—अलंकार हरि कवि के मत में 'चलत है मानो' में क्रिया से 'मानो' का अन्वय है, इससे असिद्धास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा है। 'अमर चन्द्रिका' के मत से हेतूत्प्रेक्षा। नकार की आवृत्ति से वृत्यानुप्रास भी है।

इस दोहे से मिलती हुई गोवर्धनाचार्य्य की एक 'आर्य्या' है—

"अतिवत्सला सुशीला सेवाचतुरा मनोऽनुकूला च।
अजनि विनीता गृहिणी सपदि सपत्नीस्तनोद्भेदे॥२॥

* * *

—सपत्नी के स्तनोद्भेद होते ही 'गृहिणी' (पहली घरवाली) अत्यन्त स्नेह करने वाली, अच्छे स्वभाव की, सेवा करने में चतुर, पति के मन के अनुकूल करने वाली और विनम्र हो गई।

अर्थात् गृहिणी जो पति के दूसरा विवाह कर लेने पर रुष्ट होकर, मन्द स्नेह, बुरे स्वभाव की, सेवा न करने वाली और उद्धत स्वभाव की हो गई थी, उसे सपत्नी के स्तनोद्भेद ने सीधा कर दिया।

भाव बिलकुल एक ही है। परन्तु 'भो प्यारो पीतम तियनि मानो चलत विदेस''—की मनोहारिणी उत्प्रेक्षा के कारण दोहा 'आर्या' से आगे बढ़ गया है। बिहारी ने गोवर्धनाचार्य से मज़ामून छीन लिया है!

अट्ठाईस

ढीठौ दै बोलति हँसति

[मुग्धा नायिका ज्यों ज्यों ढिठाई देकर बोलती है और हँसती है और अप्रौढ़ा (मुग्धा) होते हुये भी, प्रौढ़ा की तरह विलास करती है-क्योंकि वह नवोढ़ा मस्त हो रही है-त्यों त्यों उसके विलासव से मस्त हुए प्रिय के नेत्र फिर इधर उधर नहीं हटते; एक टक उसी की देखने में लगे जाते हैं। —स०]

(२८)

ढीठौ दै बोलति हँसति प्रौढ बिलास अप्रौढ।
त्यौं त्यौं चलत न पिय नयन छकए छकी नवौढ॥

अर्थ—सखी का वचन सखी से। मुग्धा नायिका की मद्यपानजन्य चेष्टा और नायक का हर्ष सञ्चारी भाव।

(ढीठौ दै बोलति, हँसति)—(ज्यौं ज्यौं) ढिठाई देकर— धृष्टता धारण करके— ढिठाईसे— बोलती है और हँसती है, (अप्रौढ, प्रौढ़ बिलास-(करति)-अप्रौढ़ा (मुग्धा) होकर भी प्रौढा के से विलास (लीला) करती है। क्योंकि, (नवोढ, छकी*) नवोढा मस्त हो रही है।

---

* छाक—नशा। छकी—नशे में मतवाली मस्त; छकए—मादक पदार्थ या मादक द्रव्य से मस्त हुए। छकना—(मस्त होना)

श्री लल्लू लाल जी ने इस दोहे का शीर्षक ''विश्रब्ध नवोढ़ा वर्णन'' लिखा है और नवोढ़ा को किसी मादक द्रव्य के नशे से नहीं किन्तु जोवन-रूप नशे से मतवाली बनाकर प्रौढ़ा की सी लीला करवायी है। परन्तु 'छकए' और 'छकी' पद मादक द्रव्य का ही बोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त अप्रौढ़ा नवोढ़ा को विश्रब्ध होने पर भी जोबन रूप का नशा इतना नहीं चढ़ सकता कि वह उससे इतनी मस्त हो जाय जो लज्जा, शंका आदि अपने मौग्ध्य स्वभाव को छोड़कर प्रौढ़ा की सी लीलाएँ दिखाने लगे।

अन्य टीकाकारों ने मादक द्रव्य के सेवन से ही ऐसा होना सम्भव समझा है। यथा :—

''छकी नवौढ़ा को स्वभाव वर्णन'' (रस चन्द्रिका)।

''नायिका मुग्धा, मद्यपान में चेष्टा।'' (प्रताप चन्द्रिका)

''मादक वस्तु खिआय कैं (खिलाकर) छकाई है, तासों छकी है—मत्त भई है।'' (हरि प्रकाश)

(त्यौं त्यौं छकए, पिय नयन, न चलत)—त्यौं त्यौं, उसके विलासासव से मस्त हुए प्रिय के नेत्र नहीं चलते। उसकी लीला देखने में मस्त हैं, इधर उधर नहीं हटते, एकटक उसी की लीला देखने में लगे हैं।

—नायक ने नवोढा की लज्जा सकोच दूर करने के लिये उसे कुछ नशा पिला दिया है। जिससे मस्त होकर वह ऐसी चेष्टा कर रही है जो उसकी दशा (मुग्धात्व) के अनुरूप नहीं है, ढिठाई से बोलती है, और लज्जा छोड़कर हँसती है, प्रौढ़ा नहीं है पर प्रौढा जैसी लीलाएँ दिखला रही है, यह नया तमाशा छोड़ कर प्रिय के नेत्र कहाँ जा सकते हैं! वे भी तमाशा देखने में मस्त हैं! मतवाली की इस लीला ने प्रिय के नेत्रों को भी मतवाला बना दिया!

अलंकार—"स्वभावोक्ति" स्पष्ट है।

'प्रताप चन्द्रिका' में "ढीठचो" क्रिया का हँसने बोलने आदि सबके साथ योग करके 'तुल्ययोगिता' भी मानी है। और बिना प्रौढा के प्रौढा की सी चेष्टा कर रही है, इसलिये "पहली विभावना" भी बतलाई है।

उन्तीस

चाले की बातें चलीं

[सखियों के समूह में अपने गौने की बातों को चलता हुआ सुनकर नायिका नेत्रों को छिपा कर भी हँसती है। पर उसके कपोल मुस्करा रहे हैं। उन पर हँसी की झलक आ रही है। —स०]

(२६)

चाले की बातें चलीं सुनति सखिन के टोल।
गोयेहू लोयन हँसति विहँसत जात कपोल॥

अर्थ :— सखी की उक्ति सखी से—

(सखिन के टोल, चली चाले की बातें सुनति)—सखियों के समूह (गोष्ठी) में चली (अपने) चाले—(द्विरागमन गौने) की बातें सुनरही है †। (लोयन) नेत्रों को (गोये हू हँसति)—छिपाकर भी हँसती है. पर (कपोल विहँसत जात — कपोल मुसकरा रहे हैं— उन पर हँसी की झलक आ रही है! त्रपा, हर्ष, सञ्चारी भाव से नायिका—लज्जामदन-मध्यस्था 'मध्या' व्यञ्जित है।

सखियों की टोली में नायिका के चाले की चर्चा चल रही हैं. नायिका भी उसमें एक ओर बैठी सुन रही है, और मन में प्रसन्न हो रही है। लज्जा के कारण हर्ष का प्रकाश प्रकट नहीं करना चाहती, आंखों के दर्पण से सखियां उसकी (हर्ष की) झलक न पा जाएँ, इसलिए आंखें सामने नहीं करती, आंखें चुरा रही है, तो भी कपोलों पर मुस्कराहट आ रही है! आंखों में छिपायी तो कपोलों पर हँसी की झलक आयी!

अलंकार—"स्वभावोक्ति"। सखियों का टोल, और गोये लोयन, इन दो प्रतिबन्धकों के रहते भी, हँसी की झलक आयी, इससे "तीसरी विभावना"। 'हँसति विहँसत' से "अर्थावृत्ति दीपक"।

---

† 'छलिताकामा मुग्धा वर्णन"—(लल्लूलाल जी)। 'मुदिता मध्या'

तीस

बास छुड़ावन काज

[नायिका की लज्जा, प्रिय के हाथ रूपी लश्कर को, अपने वस्त्र रूप निवास स्थान को छुड़ाने के लिये दौड़ कर अपनी ओर आता हुआ देखकर, बरौनी (पलक) रूपी वन में और आँख रूपी गढ़ी में छुपकर बैठ गई है। —स०]

लज्जाप्रियामध्या-वर्णन

(३०)

लखि दौरत पिय-कर-कटक बास छुड़ावन काज।
बरुनी-बन दृग-गढ़नि में रही गुढ़ौ करि लाज॥

अर्थः—सखी की उक्ति सखी से।

— (पिय-कर- कटक)—प्रिय के हाथ रूपी कटक—लश्कर को (बास छुड़ावन काज)—वास वस्त्ररूप निवास स्थान- को छुड़ाने के लिये, (दौरत लखि)—दोड़ता हुआ—अपनी ओर आता हुआ देखकर (बरुनी-बन)—बरौनी—(पक्ष्मपलक) – रूपी वन में, और (दृग गढ़नि)—आंख रूप गढ़ी (क़िले) में, (लाज गुढ़ौ † करि रही)—लज्जा छिप कर बैठ गयी !

— नायक में चपलता, नायिका में लज्जा सञ्चारी भाव। स्पर्श अनुभाव। सयोग शृङ्गार। नायिका मध्या।

रति के समय नायक ने, नायिका के अंग से वस्त्र उतारने को हाथ बढ़ाया है। लज्जा ने देखा कि अब ख़ैर नहीं, यह स्थान भी छिना ! सो बेचारी आंखों के क़िले में, जिस पर बरौनियों का वन छाया हुआ है आ छिपी है!

ज़ब किसी निर्बल पर, शत्रु की फौज आक्रमण करने को बढ़ी चली आ रही हो, और वह उसका सामना करने की शक्ति न रखता हो तो अपनी जान बचाने को किसी सुदृढ़ गढ़ का आश्रय ढूंढ़ता है।

—नायिका के सारे शरीर–देश पर लज्जा-रानी का राज्य था। सो उस पर ग़नीम (नायक) ने बाह्यरति सङ्गर में अपना अधिकार कर लिया। वहां से लज्जा की अमलदारी उठ गयी। केवल उसका निवास "पट मण्डप" में—साड़ी की छोलदारी में– रह गया था - बेचारी वस्त्रों के नीचे जैसे तैसे आपा छिपाये छिपी पड़ी थी, उसने देखा कि अब उसे छीनने को भी "करकटक"—दस्तदराज़ी का लश्कर—बढ़ा आ रहा है, अब यहाँ भी रक्षा नहीं। सो वह वस्त्र रूपी वास-स्थान को छोड़कर आंख के सुदृढ़ गढ़ में जाकर छिप गयी ! कुल-बाला की आंख लज्जा का प्रधान स्थिति-स्थान है, वहाँ से उसे हटाना ज़रा टेढ़ी खीर है !

१—'कर' २—'बरुनी' ३—'दृग' आदि उपमेय। और 'कटक' 'वन' 'गढ़' आदि उपमान। 'बास-छुड़ाना' 'अंग' सहित, सब साथ मौजूद हैं, सो "समस्त वस्तु विषय सावयव रूपक अलकार" है। 'वास'—(वस्त्र और निवास स्थान) —में "श्लेष" भी है। 'करकटक' का आक्रमण रूप कारण रहते भी "लाज रही" –'लाज जाना' रूप कार्य न हुआ, इससे 'विशेषोक्ति' भी है।

† "गूढौ—'मवास', वह स्थान जिसे कोई जीत न सके" (हरि प्रकाश)

इकत्तीस

रही लपटि छबि की छटनि

[दीप के उजाले में ही पति को रति के लिये वस्त्रों को हटाता देखकर, नायिका अपनी निरावरण काय कान्ति की छटा में ही लिपट गई। छटा ऐसी छा गई कि उसने अनावृत अंग को ढाँप लिया। लज्जा ज़रा भी नहीं छुटी। —स०]

(३१)

दीप उजेरेहू पतिहिं हरत बसन रति काज।
रही लपटि छबि की छटनि नैको छुटी न लाज॥

अर्थः— सखी का वचन सखी से :—

—(दीप उजेरे हू)—दीप के उजाले में ही (पतिहि)—पति को (रति काज, वसन हरत)—रति के लिए वस्त्रों को हरता (देखकर), (छवि की छटनि लपटि रही, —अपने अंग की कान्ति की छटा—चाकचिक्य—चकाचौंध में लिपट रही, (नैको लाज न छुटी)— ज़रा भी लज्जा नही छुटी।

— दीप के प्रकाश में वस्त्र हर लेने पर भी, लज्जा न छूट सकी, निरावरणकाय- कान्ति की छटा ऐसी छा गयी कि उसने अनावृत अंग को ढांप लिया! कान्ति की छटा ही दीखती है, उसकी चकाचौंध में शरीर नज़र नहीं आता!—"प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः"!—लज्जा छुड़ाने का बहुत यत्न किया, पर तो भी वह न छूट सकी, छवि-छटा ने उसे बचा लिया!

कारण—'प्रकाश में वस्त्र हरण' के रहते भी, कार्य—'लज्जा त्याग'–न हुआ, अच्छी "विशेषोक्ति" रही।

—'निलज करन के यतन किय तऊ न छूटी लाज''—

(अमरचन्द्रिका)

'प्रताप चन्द्रिका' के मत में, (यदि उनकी 'वार्ता' ठीक मानी जाय तो) यहाँ द्वितीय "पूर्वरूप" अलंकार भी है।

"पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि।
दीपे निर्वापितेप्यासीत् काञ्ची-रत्नैर्महन्महः॥"

(कुवलयावन्द)

"दूजै, जब गुन ना मिटै किये मिटन के हेत।"
दीप, मिटाये हूकियो रशना-मनि उद्योत।"

(भाषा भूषण)

—मिटाने का यत्न करने पर भी पहले गुण का न मिटना 'पूर्व रूप' का दूसरा भेद है। दीप बुताकर प्रकाश'—गुण मेटना चाहा, पर अँधेरा नहीं हुआ।

"तृतीय विभावना" भी संभव है। पतिकृत वस्त्राहरण–रूप प्रतिबन्ध के रहते भी लज्जालुत्व—कार्य की उत्पत्ति हो गई।

—"विभावना तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।"

(कुवलयानन्द)

'लालचन्द्रिका' और 'रसचन्द्रिका' में ऐसा अर्थ किया है कि—

"पति ने रति के लिये दीप का उजाला भी हरा (दीपक बुताया) और वस्त्र भी हरा–(उतारा) पर तो भी छवि की ज्योति के कारण (अँधेरा न हुआ) लाज न छुटी, सो पति से लिपट गयी।"—

पर यह कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे समय पति का स्वयं दीपक बुताना रसिक नायकों के अनुभव विरुद्ध बात है। वह बुतावेगा या उस वक्त बुतते हुए को और चमकावेगा! काव्यों में ऐसे अवसर पर नायिका ही सर्वत्र दीप बढ़ाने की चेष्टा करती सुनी गई है।

—'प्रताप चन्द्रिका' ने इस पर ऐसी ही अंधेर भरी "बार्ता" लिखी है :—

—"दीप-उजेरे हू को हरत है अरु वसन हू हरत है, तऊ लाज न छुटी, अर्थ यह कि अँध्याहारे (अन्धेरे) हू में लजाती है।"

– अर्थात् ऐसी लज्जाशीला है कि अँधेरे में भी लजाती है! इस प्रकार लज्जातिशयताद्योतन के लिये यह कल्पना की गई है, पर जब छवि की छटा से अँधेरा ही न रहा तो यह बात (अँधेरे में लजाना) भी न रही और यदि सचमुच ही "अँधेरा हो गया" तो 'छवि की छटा' के साथ कविता का चमत्कार भी उड़ गया! इसलिये यह 'बार्ता' कुछ अच्छी नहीं रही!

बत्तीस

फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति

[काम और लज्जा (संकोच) दोनों समरस (बराबर) हैं। उनके वश में होकर बेक़ाबू हुई नायिका एक ठिकाने पर ठीक तौर से ज़रा भी नहीं ठहरती। बार बार रह रह कर प्रिय को देखने के लिए ऊपर को उचकती है, फिर छिप जाती है (कि कोई देख न ले) और फिर छिप छिप कर उचकती जाती है। —स०]

समानलज्जाकामा-वर्णन

(३२)

समरस समर * सकोच-बस, बिबस न ठिकु ठहराय।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति जाय॥

सखी का वचन सखी से :—

अर्थ— (समर, सकोच)— स्मर— काम और सकोच —लज्जा (दोनों), (समरस)— बराबर हैं, (उनके)— (बस)—वश में होकर (बिबस)— बेक़ाबू हुई, (ठिकु न ठहराय)—एक ठिकाने, ठीक तौर पर ज़रा नहीं ठहरती, (फिरि फिरि उझकति)—बार बार, रह रह कर उचकती है— देखने के लिये ऊपर को उभरती है, (फिरि दुरति)— फिर छिप जाती है, (दुरि दुरि उझकति जाय)—छिप छिप कर उचकती जाती है!

* "समरु समरु" बृज भाषा में (बहुधा) अकारान्त शब्द सब उकारान्त हैं, 'समरु'—स्मर, काम और 'सकोच' दोऊ सम, 'अरु' के अर्थ में 'रु' है काम और संकोच (सम) बरोबरि है" — (हरिप्रकाश)

चपलता, औत्सुक्य और त्रपा की सन्धि।

—"समानलज्जाकामा" नायिका छिपकर नायक को देख रही है, प्रेम उकसाता है तो देखने को उचकती है, लज्जा दबाती है—(नायक न देख ले या उसे देखते कोई और न देख ले) तो नीचे को झुक जाती है, इसलिये बार-बार उभरती है और बार बार छिपती है, न अच्छी तरह देखते ही बनता है, न बिना देखे ही रहा जाता है!

—यहाँ (हरि कवि के मत से) इतने अलंकार हैं—

'विवशता' से एक ठौर ठीक न ठहरने को—बेकरारी को—द्रढ़ किया, इससे 'काव्यलिङ्ग'। भिन्नार्थक "समरस समरस" पद की आवृत्ति से 'यमक'। फिरि फिरि इत्यादि में 'लाटानुप्रास' (शब्द और अर्थ वही हों, भाव कुछ भिन्न हो वह 'लाटानुप्रास')—इस प्रकार काव्यलिङ्ग, यमक, और लाटानुप्रास अलंकारों की 'संसृष्टि' है। जहाँ अलकार एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते, निरपेक्ष भाव से रहते हैं—'तिलतण्डुलवत्'-आपस में मिले रहते हैं—वहाँ 'संसृष्टि' होती है। 'फिरि फिरि'—इत्यादि पदों में "आवृत्ति दीपक" का सन्देह है तो "सन्देह-संकर" भी है। 'फिरि फिरि' 'उझकति' में "कारक दीपक भी" है—

"उपकारक ह्वै एक को जहँ सन्देह लखाय।
इक पद में भूषन बहुत 'संकर' सो कहि जाय॥"

—इस प्रकार 'सङ्कर, के तीन भेद हैं:—

१—जहाँ एक अलंकार एक को पुष्ट करे।
२—जहाँ सन्देह हो कि यहाँ यह अलंकार है या यह है।
३—और जहाँ एक पद में दो तीन अलंकार हों।

'प्रतापचद्रिन्का' ने "स्वभावोक्ति" और 'सकार रकार की' आवृत्ति से 'वृत्त्यनुप्रास' भी गिनाया है।

इस प्रकार यह दोहा अनेक शब्दालंकारों और अनेक अर्थालंकारों से आक्रान्त और सर्वाङ्ग समलंकृत है।

तेंतीस

करे चाह सों चुटकि कै

[कामदेव रूप चाबुक-सवार ने नेत्र रूपी घोड़ों को प्रीतिरूप चाबुक से मारकर अच्छा तेज उड़ने वाला कर दिया। पर लज्जा रूप बाग से खिंचे वे तड़फड़ाते हुए नेत्र, खूंद सी कर रहे हैं, मानों लघुद्रुत गति से ज़मीन को काटते हुए, जहाँ से पाँव उठाया है वहीं रख करके चल रहे हैं। —स०]

(३३)

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाये तरफरत करत खूंद सी नैन॥

अर्थ:—(मैन)—कामने—कामदेव रूप चाबुक सवारने, (चाह सों चुटकि*कै)—प्रीति रूप चाबुक से मारकर, (खरे उड़ौहैं करे)—अच्छे तेज उड़ने वाले किये। और (लाज नवाये तरफरत) लज्जा रूप बाग से खिंचे, तड़फड़ाते हुए (नैन, खूंद सी करत)—नेत्र, खूंद† सी कर रहे हैं—नाच से रहे हैं।

---

* चुटकि कै— कोड़ा मार कर।

† 'खूंद लघुद्रुत गति से जमीन को काटते हुए चलना, जहाँ से पांव उठाया है फिर वहीं रखना।
—"चुटकना— मारने को कहते हैं, और 'खूंद' घोड़े के नाचने को—(लल्लूलाल जी)
—"खरे उठौहैं —मैन, चाह रूपी जो छड़ी, तासों मारिकै अति उठौहैं किये।" (हरि प्रकाश)

—अभिलाषा और त्रपा भाव की सन्धि। समान—लज्जा—मदना मध्या नायिका।

कामरूपी चाबुक सवार ने प्रेम की चाबुक मारकर ऊँचे उठा दिये और लज्जा की बाग से खींच कर नीचे झुका दिये, इस प्रकार तड़फड़ाते नेत्र रूप घोड़े मानो खूंद सी कर रहे हैं!

—जब बछेरे को 'औधी' में फेरते वक्त चाबुक-सवार उसके चाबुक या कोड़ा मारता है, तो वह ऊपर को उछलता और फांदकर भागना चाहता है, परन्तु बागें खिंची रहने के कारण भाग नहीं सकता, झुककर वहीं आ रहता है। चञ्चल घोड़े की इस दशा की उपमा कवि ने चाह का चाबुक खाये हुए और लाज की बाग से खिंचे हुए नेत्रों से दी है।

"उपमान-लुप्तोमालंकार" है। नैन उपमेय हैं, 'सो' वाचक, और 'खूंद' धर्म है पर 'हय' उपमान लुप्त है।

" 'नैन' यहां उपमेय हैं, 'सी' वाचक परमान।
'खूँद' धर्म, 'हय' ना कह्यो लुप्ता यह उपमान॥"

(अमरचन्द्रिका)

हरि कवि के मत से "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" है, यथा:—"............खूंद क्रिया है, ता के आगे 'सी' वाचक है, जहाँ क्रिया के आगे वाचक, तहाँ 'अनुक्तास्पदा-वस्तूत्प्रेक्षालंकार जानिए"।

(हरिप्रकाश)—

उत्तरार्द्ध में रकार की आवृति से "वृत्त्यनुप्रास" भी है।

—:०:—

चौंतीस

भरे सकोच सनेह

[पति को अपने नैहर के घर में देखकर नायिका की पीहर की न तो लज्जा छूटती है और न प्रिय से मिलने का लालच छूटता है। लज्जा और स्नेह से नेत्र बहुत व्याकुल हैं, कि वे क्या करें, कैसे मिलें? —स०]

(३४)

छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह॥

अर्थ:—(प्यो, नैहर† गेह लखि)—पति को प्योसाल में देखकर, (न लाज, न लालचो, छुटै—(न लज्जा छूटती है, न प्रिय से मिलने का लालच ही छूटता है। (सकोच सनेह भरे)—संकोच—लज्जा—और स्नेह से भरे नेत्र (खरे सटपटात)—बहुत सटपटा रहे हैं—व्याकुल हैं—कि क्या करें कैसे मिलें!

नायिका, अपने पीहर में है, वहीं नायक-देव पधारे हैं, नायिका मिलना चाहती है, पर नहीं मिल सकती। उसकी आंखों में प्रिय से मिलने का लालच और पीहर की लाज दोनों भाव बराबर भरे हैं। न वह लालच ही छूटता है, न यह लाज ही छूटती है। और न इस दशा में व्याकुलता ही कम होती है!

"हया बढ़ने नहीं देती इरादा नौ-जवानी का।
इशारा होके रह जाता है हम पर महरबानी का।"

प्रीति और लज्जाभाव की—सन्धि है, इसलिये 'भाव-सन्धि' अलंकार है। प्रीति और लज्जा नायक विषयक

† 'नैहर'=प्योसाल=पीहर=मायका=ये सब स्त्री के पितृगृह के नाम हैं।

भाव के अंग हैं । दोनों का बराबरी का जोड़ है, न प्रीति ही कम, न लज्जा ही कम। नायिका को दोनों का आस्वाद बराबर है, न इसे ही छोड़ सकती है न उसे ही !

"पर्याय" अलंकार भी है—

"एकस्मिन् यद्यनेकं वा "पर्यायः" सोपि सम्मतः ।"

(कुवलयानन्द)

—जहाँ एक (आधार) में अनेक (आधेय) रहें, वह भी 'पर्याय' कहलाता है !

—"एक विषे जहँ बसें सो 'पर्याय' प्रकास ।
लोचन थल में सटपटी सकुच नेहको बास ।"

(अमरचन्द्रिका)

जैसे यहां नेत्र में, लज्जा, प्रीति और तज्जन्य व्याकुलता का वास है ।

'प्रतापचन्द्रिका' के मत से उत्तरार्द्ध में 'छेकानुप्रास' और 'तुल्ययोगिता" भी है ।

"भाव-सन्धि :— "एककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वादः, समकालमेव विरुद्धयोरपि तुल्यरूपयोरास्वादो वा सन्धिः"

(काव्यप्रकाशटीका)

- एक ही साथ तुल्यरूप दो विरोधी भावों के आस्वाद को 'भाव-सन्धि" कहते हैं ।

"भावसन्धि वाको कहिए जहाँ दोइ सञ्चारी भाव होंय ।"

(प्रतापचन्द्रिका)

—:o:—

पैंतीस

पिय बिछुरन कौ दुसह दुख

[बाला को प्रिय के बिछुड़ने का दुःसह दुःख है; और पीहर जाने का हर्ष है। यह देखकर सखी कहती है कि इस दशा में कहीं यह दुर्योधन की तरह प्राण न तज दे । दुर्योधन को यह शाप था कि जब उसे हर्ष-शोक का आवेग बराबर होगा तब प्राण निकलेंगे। अश्वत्थामा जब पाँचों पाण्डव पुत्रों के सिर काट कर उनके पास लाये तो उन्होंने दूर से देखकर समझा कि वह पाँचों पाण्डवों के सिर उतार लाये हैं, इस लिये उसे हर्ष हुआ । पर पास आने पर देखा कि पाण्डु पुत्रों के नहीं पाण्डव पुत्रों के शिर हैं । इसी हर्ष-शोक की सन्धि में दुर्योधन के प्राण निकल गये । —स०]

(३५)

पिय बिछुरन कौ दुसह दुख हरष जात प्यौसार ।
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान इहिं बार ।।

सखी का वचन सखी से—

अर्थ :—(पिय बिछुरन को दुसह दुख) = प्रिय के बिछुड़ने का दुःसह दुःख है, और (प्यौसार जात, हरष)= प्योसाल –पीहर जाने का हर्ष है । (इहि बार, दुरजोधन लौं, प्रान तजत देखियत) = यह बाला (नायिका) दुर्योधन के समान प्राण छोड़ती दीखती है ।

पितृगृह - गमनोद्यता नायिका । हर्ष विषाद की 'भावसन्धि' ।

नायिका को उसका भाई लेने आया है, वह ससुराल से अपने प्योसाल जा रही है, वहाँ जाने का उसे जितना अधिक हर्ष है, प्रिय से बिछड़ने का उतना ही असह्य

विषाद है। यह देखकर सखी कहती है कि इस दशा में कहीं यह दुर्योधन की * तरह प्राण न तज दे।

'बार' का अर्थ 'र' 'ल' की एकता से बाल (ला) है। और 'हरिप्रकाश' में 'बार' का यह भी किया है कि—

'हे सखी ! यह नायिका प्राण छोड़ती है, इसे तू 'बार' बरज, रोक–प्रान मत छोड़ने दे—अथवा 'इहि बार' इस दिन–प्योसाल जाने के दिन''।

''पूर्णोपमालङ्कार'' –दुर्योधन–उपमान । बाला–उपमेय। 'लौं''—वाचक। ''प्राण तजना'' — धर्म।

—यहाँ लल्लूलाल जी ने 'इहिंबार' के दो अर्थों में, उपमा के भी दो भेद दिखला दिये हैं । यथा—''इहि बार'' में दो अर्थ– इस समै' और 'यह बाल'। रकार लकार एक है। पहले अर्थ–इस समय में–'उपमेयलुप्ता' और दूसरे –यह बाल–में पूर्णोपमालङ्कार है।''—'अमरचन्द्रिका' में—'बार' का केवल 'समय' ही अर्थ मानकर 'उपमेयलुप्तालंकार' कहा है। यथा—''दुरजोधन लौं तजत प्रान। नायिका नहीं''—उन्हें (सुरति मिश्र को) 'बार' के श्लेष में छिपी (उपमेय)—नायिका नज़र नहीं आती !

—''प्रतापचन्द्रिका में'' यहाँ ''दृष्टान्तालंकार'' माना है। और यह टिप्पणी चढ़ाई है–''दृष्टान्तालङ्कार। दुरजोधन कूँ प्रान तजती बेर हरष शोक भयौ–तैसो याको हरष शोक भयो, इहाँ प्रान तजिवो नहीं लीजै। वैधर्म्य।''

(वैधर्म्य दृष्टान्त)

इस दोहे का यह अनुवाद संस्कृत''यशवन्तयशोभूषण'' में 'भाव-शबलता'के उदाहरण मे है —

''भर्तुर्वियोग–भावि दुःखं हर्षः पितुर्गृहं गंतुम्।
दुर्योधनवद् बाला प्राणवियोगं समाप्स्यति ।।''

छत्तीस

पति रति की बतियाँ कहीं

[पति ने नायिका से चुपके से रति की बात का या पुरुषायित रति का गुप्त संकेत कर दिया। नायिका ने मुसकराकर सखी को देखा या सखी ने मुसकराकर नायिका को देखा। तब सब चतुर सखियाँ टलाटली करके, बहाने बना बना कर सुख पाकर वहाँ से चली गई। —स०]

न्यूनलज्जा मध्या-वर्णन

(३६)

पति रति की बतियाँ कही सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय।।

सखी का कथन सखी से—

अर्थ—(पति रति की बतियां कही)—पति ने (नायिका) से रति की बात कही, उसने (मुस्काय सखी लखि)—मुस्कराकर, सखी को देखा। अथवा 'नायक' अर्थाक्षिप्त। 'पति–रति' समस्त पद । पति–रति की–पति की तरह रति करने–(पुरुषायित)–की बात नायिका से(नायक ने) कही। (मुस्काय सखी लखी)—नायिका ने मुस्कराकर सखी को देखा। या–सखी ने नायिका को मुस्कराकर देखा !

* कहते हैं दुर्योधन को शाप था कि जब तुम्हें एक साथ हर्ष शोक का आवेग बराबर होगा तब प्राण निकलेगें। वह भीम की गदा के प्रहारों से विगताङ्ग रणभूमि में पड़े सिसक रहे थे, जब ''सौप्तिक पर्व'' में अश्वत्थामा पाँचों पाण्डव पुत्रों के सिर काट कर उनके पास लाये तो उन्होंने दूर से देखकर समझा कि वह पाँचों पाण्डवों के सिर उतार लाये हैं, इसलिए हर्ष हुआ, पर पास आने पर देखा कि हा ! पाण्डु-पुत्र नहीं 'किन्तु पाण्डव-पुत्र' मारे गये ! इसी हर्ष शोक की सन्धि में दुर्योधन के प्राण निकल गये।।

हरखि। प्योसाल। दुरजोजन। बाल। इति पाठान्तराणि।

(सबै अली, टला टली कै कै)—सब सखियां टलाटली † करके- बहाने बना बना कर (सुख पाय चली)—सुख पाकर चल दीं।

नायिका के पास कुछ सखियाँ बैठीं इधर उधर की बातें कर रहीं थीं। नायक ने वहाँ पहुंच कर नायिका से चुपके से एक गुप्त प्रस्ताव कर दिया, जिसका भाव समझकर चतुर सखियाँ बहाने बना बना कर वहाँ से उठ खड़ी हुईं—मकान खाली कर गईं !

'पर्य्यायोक्ति' अलंकार है—

"पर्य्यायोक्तन्तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम्।" (कुवलयानन्द)

"छल कर साधिय इष्ट जहँ पर्यायोक्ति सुगाय।
उठिबो इष्टसु मिसनिसों उठीं यहाँ यह भाय।।"

(अमरचन्द्रिका)

पूर्वार्द्ध में 'छेकानुप्रास", और उत्तरार्द्ध में "वृत्त्यनुप्रास" है।

यदि 'मुसकाय' का सम्बन्ध, 'सखी' से समझा जाय अर्थात् 'सखी ने मुसकराकर देखा'—ऐसा अर्थ किया जाय—तो परमानन्द कवि के मत में यहाँ पिहित' अलंकार होगा :—

"पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूत - चेष्टितम्।"
"प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत्।।"

(कुवलयानन्द)

"पिहित, छिपी पर बात को जानि दिखावे भाय।
प्रातहि आये पीयको [सेज पिय] हँसि दाबत तिय पाय।।"

(भाषाभूषण)

—दूसरे की छिपी बात को किसी भाव से जता देना 'पिहित' अलंकार है। सखी ने 'मुसकराकर' नायिका को जता दिया कि हम तुम्हारे नये प्रस्ताव को समझ गये हैं। लो मौज करो हम जाते हैं।

इसी विषय का यह एक पद्य 'अमरुक-शतक' में है :—

"त्वं मुग्धाक्षि ! विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं,
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो,
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः।।"

—हे सुन्दरनयने ! तू बिना चोली के ही मनोहारिणी शोभा को धारण करती है—(अर्थात् वैसे ही अच्छी लगती है, इसे उतार दे)— यह कह कर प्रियतम (खोलने के लिये) चोली की घुन्डी छूने-टटोलने लगा। नायिका जो चारपाई से लगी बैठी थी, उसने मुसकराई हुई दृष्टि से सखियों की ओर देखा, जिससे प्रसन्न हो, सखियाँ बहाने बना, शनैः शनैः एक एक करके वहाँ से खिसक गयीं !

—अमरुक के इस श्लोक का और विहारी के दोहे का भाव एक ही है। दोहे में पति "रति की बतियाँ" कहता है, (खुलासा या इशारों में छिपा कर, यह छिपा हुआ है !) और पद्य में वह खुल्लम खुल्ला चोली उतारने पर उतारू है ! वहाँ भी १-सखी (नायिका) अपनी आलियों की ओर मुसकाकर देखती है जिससे वे (२—अली) सुख पाकर और ३—"टलाटली" करके (बहाने बना बना कर) चल दी हैं। यहाँ भी १—"सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दित" २—आलीजनः, ३—"अलीकवचनोपन्यासम्, शनकैर्निर्यातः।" ये वाक्य इन्हीं बातों को जता रहे हैं। तद्यथा: "अलीक-वचनोपन्यासम्" और "टलाटली" एक ही बात है। "आलीजनो निर्यातः" और "अली चली"—में भी कुछ भेद नहीं है। एवं "सखी लखी मुसकाय" तथा "सुखपाय" का भाव "······सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितः" इस एक समस्त वाक्य में आ गया है। इतना होने पर भी 'बिहारी' पीछे नहीं रहे, उन्होंने अमरुक के "शार्दूलविक्रीडित" का दोहे की दुनाली (बन्दूक) से अच्छा मुक़ाबला किया है ! जो बात अमरुक ने इतने लम्बे छन्द में कही है, वही बिहारी ने छोटे से दोहे में बड़ी सफ़ाई से कह दी है !

—:o:—

† टलाटली—टाल मटोल करना—बहाना बनाना।

"टलाटली कै कै—एक को एक ने धक्का दिया, एक को एक ने धक्का दिया - ऐसे टलाटली के छल से घर सूना करना इष्ट साधा।" (हरि प्रकाश)

सैंतीस

बिछुरी लाज लजाय

[सुरत के प्रारम्भ में ही नायिका का संकोच भाव (अंगों को समेटना सुकड़ना) लज्जा से लजा कर बिदा हो गया। ढीठ ढिठाई अच्छी तरह प्रसन्न होकर सरक कर पास आ गई। लज्जा के दूर होते ही जैसे ढिठाई पास सरक आई। —स०]

(३७)

सकुच सुरत आरंभ ही बिछुरी लाज लजाय।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठ ढिठाई आय॥

सखी का वचन सखी से—

अर्थ :—(सुरत आरम्भ ही)–सुरत के प्रारम्भ में ही (सकुच, लाज लजाय, बिछुरी)–नायिका का संकोच भाव या सुकड़ना—अङ्गों को समेटना—बदन चुराना—सो मानो लज्जा से लजाकर बिछड़ गया—बिदा हो गया! लज्जा भी लज्जित होकर चलती बनी! यह भाव। (ढीठ ढिठाई आय)—और, ढीठ जो ढिठाई है सो, आकर (ढार * ढुरि † ढरकि ढिग भई)–ढार—अच्छी तरह ढुरि—प्रसन्न होकर, ढरकि—लुढ़क कर—सरक कर—ढिग भई—समीप आ गई! लज्जा के दूर होते ही ढिठाई सरक आयी!

—स्वयं लज्जा का लज्जित होकर चल देना और ढिठाई का ढीठ बनकर आ मौजूद होना, लज्जा के अभाव और धृष्ठता की सर्वतोमुखी प्रभुता के साथ नायिका की प्रौढता और 'रतिकोविदता' को प्रकट करता है!

उत्प्रेक्षा-व्यंजक 'इव' आदि शब्द के न होने से यहाँ "गम्योत्प्रेक्षा" है। यथा :—

"नहि वाचक 'मानो' 'किधौं'" संभावन सु लखाय।
"गम्योत्प्रेक्षा' कहत तहँ जे पण्डित कविराय॥"

वर्णमैत्री रूप 'वृत्यनुप्रास' भी स्पष्ट ही है।

'वृत्यनुप्रास हु जोइ, वर्णमित्रता होइ।"

(अनवर चन्द्रिका)

तथा 'पर्य्याय' का द्वितीय भेद भी है। यथा—

"एकस्मिन् यद्यनेक वा 'पर्यायः' सोऽपि सम्मतः।"
"अधुना पुलिनं तत्र यत्र स्रोतः पुराऽजनि॥"

(कुवलयानन्द)

सो, लज्जा गयी ढिठायी आयी—लज्जा के स्रोत की जगह ढिठाई का विपुल पुलिन दिखाई देने लगा! कैसा अच्छा 'पर्याय' है!

परमानन्द कवि ने उक्त दोहे का यह अनुवाद किया है :—

"सकोचः संकुचित इव त्रपाऽभवत् त्रपितेव।
सुरतारम्भे धृष्टता परिपुष्टा मुदितेव॥"

—" 'संकोचः'—सुरताभिलाषेऽपि लज्जाधीनतयाऽनाश्लेषः स तु संकुचित इवाभवत्। वदनानुद्घाटनरूपा 'त्रपा' तु स्वयमेव त्रपिता इवाभत्। किन्तु तर्हि मुदिता सुप्रसन्नेव सती केवल "धृष्टता"—सर्वाङ्गश्लेषरूपा परितः पुष्ठाऽभवदित्यर्थः।"

(शृङ्गारसप्तशती)

---

* ढार–यह वस्तु सुढार है, सुन्दर है।

† ढरि–'ढरियो' राजी होना—"जापै दीना नाथ ढरैं" (हरि प्रकाश)

यहाँ 'हर्ष' सञ्चारी भाव, आलम्बन—चेष्टा रूप 'उद्दीपन विभाव' और 'केलि' संज्ञक हाव-विशेष, रति स्थायी भाव के पोषक हैं।

एक संस्कृत कवि ने भी ऐसे मौक़े पर 'लाज के लजाने' का 'नोटिस' लिया है—

"प्रेयसि प्रणयलालनापरे, नीविबन्धमथ मोक्तुमिच्छति।
निर्गते परिजने नतभ्रुवो लज्जयेव निरगामि लज्जया॥"

—प्यारे-ललन लाड़ दुलार करते करते जब कपड़े उतारने-(नीविबन्ध-मोक्ष)-पर उतारू हो गये तो पहले वहाँ से शरमाकर सखियाँ खिसकीं फिर पीछे से लज्जित होकर लज्जा भी चल दी !

अड़तीस

सब अँग करि राखी सुघर

[स्नेह रूपी नायक (उस्ताद) ने पुतली रूपी नाचने वाली स्त्रियों की सरदार को, नाचने के सब अंग सिखला कर, चतुर कर रक्खा है। अतः वह पुतली, नायिका के नेत्र की नृत्यशाला में, रस में मस्त हुई, अनेक थिरकइयाँ, उरप, तिरप आदि की गतियाँ, ले रही है। —स०]

"समस्तरस [रति] -कोविदा -प्रौढा वर्णन"

(३८)

सब अंग करि राखी सुघर नायक-नेह सिखाय।
रस-जुत लेत अनन्त गति पुतरी-पातुर राय॥

सखी का वचन सखी से :—*

अर्थ :— (नायक-नेह)— स्नेह रूप नायक † — 'उस्ताद' ने (सब अङ्ग सिखाय, सुघरि, करि राखी — नाचने के सब अङ्ग सिखलाकर सुघड़— चतुर कर रखी है ऐसी जो पुतरी-पातुरराय)— पुतली-रूप पातुरराय—नाचने वाली स्त्रियों की सरदार है, वह (रसजुत अनन्त गति लेति — रसयुक्त होकर अनन्त गति लेती है—थिरकइयाँ अर्थात् तोड़े ले रही है।

—पुतली मानो एक पातुरराय है—साधारण पातुर नाचने के एक आध अङ्ग ही जानती हैं. यह सब अंगों में निपुण होने से 'पातुरों की सरदार' है ! इसे सिखाने वाला 'उस्ताद' भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं है, स्वयं 'स्नेह' ने इसे बड़े ही स्नेह से शिक्षा दी है। जिसे ऐसे कामिल उस्ताद ने सिखाया हो, उसके 'पातुरराय' होने और रसयुक्त अनन्त गति लेने में क्या सन्देह है ! (गति से अभिप्राय यहां नाचने की 'उरप तिरप' आदि गतियों, और पुतली के फिरने से है)

---

* नायिका "वासकसज्जा" उसकी चंचल दृष्टि देख सखी नायक से कहती है' (हरि प्रकाश)। "वासकसज्जा नायिका की दूती, नायक से नायिका की उत्कण्ठा कहती है"—(प्रताप चन्द्रिका)। "सखी नायक से नायिका—के नेत्र की पुतलियों की शोभा कहती है।"— (लाल चन्द्रिका)

† 'नायक' का अर्थ यहाँ नाच सिखाने वाला 'उस्ताद' है।

सखी नायक से कहती है, कि नायिका के नेत्र की नृत्यशाला में पातुरराय पुतली रस में मस्त हुई नाच रही है, चल कर देखिए तो !

हरि कवि ने लिखा है कि—

"—नाचने के चार अंग हैं—नाचना, गाना, बजाना और भाव बताना। 'पुतली' के पक्ष में चार अंग—कहना, नटना, (मुकरना), रीझना (प्रसन्न होना) और खीझना (नाराज होना) ये दृष्टि की चेष्टा-विशेष समझनी चाहियें।"

भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र जी ने अपनी "नाटक" पुस्तक में 'नृत्त'— के विषय में लिखा है कि :—

'नृत्त' के शास्त्रों में १०८ भेद लिखे हैं और लागडांट, उड़प, तिरप, हस्तक भेद, इत्यादि इसके अंग हैं।"

अलंकार— समस्तवस्तुविषय सावयव "रूपक" है।

—यहाँ 'पुतरी-पातुर' इस एक पद में 'अनुप्रास' और 'रूपक' का प्रवेश (मेल) होने से "एकवाचकानुप्रवेश" "संकर" अलंकार भी है।

—जहाँ एक पद में शब्दालंकार' और अर्थालंकार' का मेल हो, वहाँ "एकवाचकानुप्रवेश"— "संकर" होता है। जैसे यहाँ "पुतरीपातुरराय" इस एक पद में 'छेकानुप्रास' शब्दालंकार और 'रूपक' अर्थालंकार का मेल है।

किसी के मत में केवल अर्थालंकारों का भी "एकवाचकानुप्रवेशसंकर'' होता है।

उन्तालीस

पिय चूम्यौ मुख चूमि

[प्रौढ़ा नायिका रस से झूमकर, अनुराग में मस्त होकर सपत्नी के पुत्र को बुलाकर, प्रिय के द्वारा चूमे हुए उस पुत्र के मुख को चूम कर, पुलकित होकर पसीज उठी। —स०]

मदन -मत्ता -प्रौढ़ा -वर्णन

(३९)

बिहँसि बुलाय बिलोकि उत, प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यौ मुख चूमि॥

सखी का वचन सखी से—

अर्थ— (प्रौढ़ तिया)—प्रौढा नायिका, (रस घूमि)—रस से घूमकर झूमकर—अनुराग में मस्त होकर (बिहँसि बुलाय)—हँसकर और (पुत्र को पास) बुलाकर (उत बिलोकि)—उधर—पति की ओर देखकर, (पूत को पिय चूम्यौ मुख चूमि)—पुत्र (सपत्नी-पुत्र) के पति से चूमे हुए मुख को चूमकर, (पुलकि पसीजति)— पुलकित हो पसीजती है।

मदनान्धिका प्रौढा नायिका के पति ने उसके सामने अपनी दूसरी पत्नी के पुत्र का मुख चूमा है, सो पति के चूमे हुए उस पुत्र-मुख को चूमकर मदनान्धा नायिका को सात्त्विक भाव (रोमाञ्च, प्रस्वेद) प्रकट हो आया। साहित्य दर्पण-कार ने—

"जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति"—

—जँभाई लेना, अँगड़ाई तोड़ना, किसी बच्चे को लिपटकर चूमने लगना, इत्यादि चेष्टाओं को अनुराग-

सूचक अनुभावों में गिनाया है। और यही प्रकरण काम सूत्र में भी आया है—

"बालस्यांकगतस्याऽऽलिंगन चुम्बनञ्च करोति।"

यहाँ (दोहे में) 'मद' सञ्ज्ञक सञ्चारी भाव और 'हेला' हाव है। मद्य-पान से या कामावेश आदि से उत्पन्न आनन्दमिश्रित मस्ती को "मद" कहते हैं। अत्यन्त बढ़े हुए रसावेश को प्रकट करने वाली चेष्टा, 'हेला' कहलाती है। यथा—

"सम्मोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः।" (साहित्यदर्पण)

"विवेकहर उल्लासो 'मदः' स द्विविधो मतः।
मधुपानभवोऽनंगभूतविद्याभवोऽपि च॥"

"हेला"ऽत्यन्तरसावेशप्रकाश-करणात्मिका।"

अलंकार—"असंगति" का दूसरा भेद है :—

"अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्त सा।"
(कुवलयानन्द)

"और ठौर ही कीजिए और ठौर का काम।
(भाषाभूषण)

प्रिय का मुख चूमना चाहिये, लड़के का ही चूमने लगी!

सोरठा—"मन मनमथमद धारि चाहिए प्रियमुख चूमिबौ।
चुम्यो सुतमुख नारि सु "असंगति" यह जान चित।
(अमर चन्द्रिका)

पूर्वार्द्ध में 'बकार' और उत्तरार्द्ध में 'पकार' की आवृत्ति से "वृत्यनुप्रास" भी है—

—"वृत्य (वृत्ति-अनुप्रास) एक बहु वर्न को बहुबिर समता मानि।" (अ० चं०)

परमानन्द कवि के मत से यहाँ "स्वभावोक्ति" अलंकार भी है।

चालीस

पिय हिय सों लपटाय

[मन में मान धारण किये नायिका को सोती देखकर प्रिय (नायक) पास आकर सो गया। नायिका भी सपने में मिलने के बहाने से सहज ही करवट बदल कर उससे लिपट गई। —स०]

(४०)

सोवत लखि मन मान धरि ढिग सोयो प्यौ आय।
रही सुपन की मिलन मिलि पिय हिय सों लपटाय॥

(सखी का वचन सखी से)

अर्थ—(मन मान धरि)—मन में मान धारण किए (नायिका को) (सोवत लखि)—सोती देखकर, (प्यौ ढिग आय सोयो)—प्रिय—नायक, पास आ सोया, (सुपन की मिलन मिलि)—सुपने के मिलने के ढंग से वह—नायिका (पिय हिय सों लपटाय रही)—प्रियतम की छाती से लिपट गई!

—नायिका मान किए सो रही थी, नायक भी पास आकर पड़ रहा, मान मन में था, प्रकट में नहीं, नायक इस बात को समझ गया। प्रकाश रूप से मनाने में कदाचित् मान और बढ़ जाय, इसलिये उसने छेड़ा नहीं, वैसे ही आकर चुपचाप लेट गया। नायिका ने भी प्रकाश रूप से मान छोड़ने में अपनी 'मानहानि' समझी, सो सुपने के बहाने से सहज में करवट बदलकर लिपट गयी! 'अवहित्था'

की चतुराई से आन्तरिक भाव को छिपाकर काम निकाल लिया ! मान भी बना रहा, काम भी बन गया। न उसे मनाना पड़ा, न इसे स्वयं मान छोड़ कर हलका होना पड़ा, दोनों की बात रह गयी !

अलंकार—"पर्यायोक्ति" स्पष्ट है—

"सुपन मिलन मिस धारि, इष्ट सिद्ध किय नारि।"

(अमर चन्द्रिका)

—बिना यत्न के वाञ्छितार्थ की सिद्ध—मान की मुक्ति और प्रियोपभुक्ति-प्राप्त हो गयी, इससे "प्रहर्षण" अलंकार भी है।

"उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्।"

(कुवलयानन्द)

"तीन "प्रहर्षण" जतन विन वांछित फल जो होय।"

(भाषा भूषण)

"तिय हिय" में 'छेकानुप्रास' भी है।

सयोग शृङ्गार-स्थायी भाव। अवहित्था और चपलता सञ्चारी भाव। पूर्ण त्रपा—अनुभाव। ईर्ष्या भाव की शान्ति। हर्ष भाव का उदय।

इस दोहे के भाव से मिलती एक प्राकृत "गाथा" है।

"भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए।
कइअवसुत्तुव्वत्तणथणकलसप्पेल्लणसुहेल्लिम्॥"

(गाथा सप्तशती)

('स्मरामस्तस्या: शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः।
कैतवसुप्तोद्वर्त्तन-स्तनकलश-प्रेरण-सुखकेलिम्॥" ४।६८

× × ×

—मान धारण किए मुँह फेरे लेटी हुई उसने, मान का वेग कम होने पर स्वप्न के बहाने करवट बदलकर स्तन-कलश की जो टक्कर लगाई है—धर कर धकेला है-उस मज़े की कैफ़ियत नहीं भूलती, अब तक याद है :—

इकतालीस

त्रिबली नाभि दिखाय कै

[सिर ढकने के बहाने से त्रिवली (पेट की सलवटों) और नाभि को दिखला कर; फिर संकोच में आकर या सँभल कर, नायिका नायक को अच्छी तरह देख कर, सखी की ओट में होकर गली में चली गई। —स०]

परकीया -वर्णन

(४१)

त्रिबली नाभि दिखाय कै सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अली की ओट है, चली भली विधि चाहि॥

(सखी का वचन सखी से) *

अर्थ :—(सिर ढकि)—सिर ढकने के बहाने से, (त्रिवली, नाभि दिखाय कै)—त्रिवली-पेट की सलवटों और नाभि को दिखला कर, (सकुचि, समाहि)-फिर, संकोच में आकर कृत्रिम लज्जा से युक्त होकर। या समाहि समाहित हो-सँभलकर, (भली विधि चाहि)—

* "नायक की उक्ति होइ तो स्मृति गुण-कथन ते पूर्वानुराग व्यङ्गच। नायिका क्रियाविदग्धा' है। अथवा जिन सखी ने लखी है सो सखी सखी सो कहति है, तो लक्षिता परकीया। 'स्वभावोक्ति' अलंकार।"

(अनवर चन्द्रिका)

अच्छी तरह से (नायक को) देख कर, (* अली की ओट ह्वै, गली, चली)—सखी की ओट में होकर गली में चली गयी।

नायक सामने होकर सखी के साथ परकीया क्रिया-विदग्धा नायिका जा रही थी, सो उसने नायक को एक ढग (अदा) से त्रिवली आदि दिखलाकर अपना अनुराग व्यञ्जित किया!

केश और वस्त्र संभालने के बहाने से नाभि आदि का दिखाना नायिका के अनुरागेङ्गित प्रकरण में साहित्य ग्रन्थों में गिनाया है।

"कापि कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः।
बाहूमूलं स्तनौ नाभि-पङ्कजं दर्शयेत्स्फुटम् ॥"

(साहित्य दर्पण)

"स्वभावोक्ति" और 'वृत्यनुप्रास' अलंकार है। यदि वक्ता इस कथन द्वारा अपने पूर्वानुभूत साक्षात्कार का वर्णन कर रहा है, तो 'भाविक' अलंकार भी है :—

'भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।

(कुवलयानन्द)

बयालीस

देखौ नेक निहारि

[सखी नायक से कह रही है कि तुम कुछ तमाशा देख रहे हो? ज़रा इधर निहार के, ध्यान से देखो। टट्टी को उँगलियों से फाड़ कर, यह नायिका, कब से एकटक होकर, टकटकी लगाए, तुम्हें ध्यान से देखती हुई डटी है। —स०]

(४२)

देखत कछु कौतुक इतै देखौ नेक निहारि।
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिनि फारि॥

(सखी का या दूती का वचन नायक से) †

अर्थ :—(देखत कछु कौतुक)–तुम कुछ तमाशा देखते हो? (इतै नेक, निहारि देखो)–ज़रा इधर निहार के–ध्यान से देखो। (टटिया अँगुरिनि फारि)–टट्टी को उँगलियों से फाड़कर, (कब की इक टक डटि रही)–कब की एकटक हो डट रही है—टकटकी लगाए ध्यान से खड़ी देख रही है!

टट्टी की ओट में खड़ी नायिका, नायक को देख रही है, नायक ने उसे नहीं देखा, सखी कहती है कि तुमने यह नया तमाशा भी देखा? ज़रा इधर तो देखो, यह कौन कितनी देर से नजर जमाए देख रही है! तुम्हारा ध्यान कहाँ है, ज़रा देखो तो! क्या तमाशा है!

"क्या तमाशा है कि चिलमन से लगे बैठे हैं।
साफ़ छिपते भी नहीं सामने आते भी नहीं॥

---

* "अली अली की ओट ह्वै" अली–नायिका – भली तरह चाहिकै—देखिकै – अली – सखी की ओट ह्वै कै चली।" (हरि प्रकाश)

" 'चाह' का अर्थ देखना है।" (रस चन्द्रिका)

† नायिका पूर्वानुराग में नायक को देखे है, तब दूती नायक सों कहति है—"एकटक होय के डटि रही है—अटकर खरि निहारि रही है यह अर्थ।" (हरि प्रकाश)

"स्वभावोक्ति" । तथा 'देखौ' 'निहारि' में 'अर्थावृत्ति दीपक" भी है ।

एक "आर्या" भी कुछ इससे मिलती जुलती है :—

"त्वयि सर्पति पथि दृष्टिः सुन्दर ! वृतिविवरनिर्गता तस्याः ।
दरतरल-भिन्नशैवल-जाला शफरीव विस्फुरति ।।२६७।।"

(आर्यासप्तशती)

—हे सुन्दर ! जब तुम मार्ग में चलते हो तो उस (नायिका) की दृष्टि तुम्हें देखने को बाड़ के छिद्र में से निकली हुई ऐसी चमकती है जसे सिरवाल के जाल को फाड़ कर उसमें फँसी मछली चमकती है ।

"वृतिविवरनिर्गता"—
"टटिया अँगुरिनि फारि"—"कब की इकटक डटि रही"—

"दरतरलभिन्नशैवलजाला"—आर्या और दोहे के इन पदों में सादृश्य है । —सिरवाल के जाल में फँसी हुई मछली भी "दरतरल" चञ्चलता छोड़कर स्थिर सी हो जाती है—चञ्चलतापूर्वक तड़पना भूल जाती है—चञ्चल दृष्टि भी रूप जाल में अटकी इकटक हो डट ही डट रही है ।

तेंतालीस

आँखिन सौं लपटाति

[नायिका भौंहों से डराती है, मुँह से इनकार करती है, पर आँखों से लिपटती जाती है । खींच, झटक कर, हाथ छुड़ाती है, पर स्वयं खिची हुई सी, आगे को (नायक के पास) आती जा रही है । —स०]

परकीया प्रथम मिलन वर्णन

(४३)

भौंहनि त्रासति मुख नटति आंखिन सौं लपटाति ।
ऐंचि छुरावति कर इँची आगे आवति जाति ॥

(सखी का वचन सखी से) *

अर्थ :—(भौंहनि त्रासति)=भौंहों से डराती है, (मुख नटति)=मुँह से इन्कार करती है, (आँखनि सौं लपटाति†)= आंखों से लिपटती जाती हैं । (ऐंचि कर छुरावति)=खींचकर-झटककर-हाथ छुड़ाती है, पर (इँची आगे आवति ⊙जाति) आप खिची हुई सी आगे को (नायक के पास को) आती जाती है ।

"स्वाभावोक्ति" का उत्तम उदाहरण है । घटना-विशेष का बड़ा सुन्दर शब्द-चित्र है । 'त्रासति' नटति' आदि कई क्रियाओं—का एक ही कर्त्ता कारक (नायिका)

---

* "नायक की उक्ति सखी के प्रति, रति-कोविदा प्रौढ़ा ।" (प्रतापचन्द्रिका)
† "आँखनि सो लपटाति जाति है—प्रीति सो देखति है ।" (हरिप्रकाश)
⊙ "आवत जाति"—"कहैं हौले आती है ।" (लल्लूलालजी)

है इससे "कारकदीपक" भी अपना स्वच्छ प्रकाश सारे दोहे पर डाल रहा है, जिसमें अनेक भाव भासित हो रहे हैं—

—"कारक दीपक एक में क्रम तें भाव अनेक"—

तीसरी "विभावना" का भी अच्छा नमूना है—

"प्रतिबाधक के होत हू कारज पूरन होइ।
तीजो भेद विभावना यह जानत सब कोइ।।"

सो देखिए यहां "कारक दीपक" के प्रकाश में एक नहीं कितने ही प्रतिबन्धकों के होते हुए 'कारज पूरन हो गया !

कितने ही प्रतिबन्धक हुआ करें कैसे ही "दीपक का प्रकाश" हो, स्वाभाविक घटना कभी रुक सकती है ! 'दीपक' के प्रकाश में क्या, दिन में गाड़ियां लड़ जाती हैं।

—भौंहों का डराना, मुंह का मना करना, हाथ का झटकना, ये सब बाधक देखते ही रह गये और काम हो गया ! बेचारों ने अपनी ओर से बहुत ज़ोर लगाया. पर एक 'आंखों के लिपटने' ने सबको लपेट रक्खा ! इस TUG OF WAR में आँखें अपनी पार्टी (गोल) को छोड़कर यदि प्रतिद्वन्द्वी की ओर न जा मिलतीं—उधर को न खींचती—तो ऐसा कभी न होता जैसा यह हुआ ! अन्धेर की बात है 'आंख' अपनी 'भौंह' का साथ छोडकर उधर जा मिले ! कोई किसका विश्वास करे ! स्वार्थ बुरी बला है, यह आपस में फूट डलवा ही देता है !

इस मामले की कृष्ण कवि ने जो कैफियत लिखी है, उससे वारदात का पूरा पता चल जाता है:—

कवित्त—

"प्यारे पानि गह्यो आनि भौन में अकेली जान,
नैनन चढ़ाय के सलौनी ससिरात है।
नैनन हँसौहैं दीठि राखत हैं सौहैं,
मुसकाय के लजौहैं अंग अंग ठहरात है।
भयो मन भाये ज्यों सुरत सुख पायो,
हिये आनन्द बढ़ायो नेक नेकनि डरात है।
झटकि छुटावै बांहि मिल्यो चाहै मन माहि,
करै नाहीं नाहीं याही मिस रियरात है"

बिहारी के इस दोहे के उत्तरार्ध को थोड़े हेर फेर से 'पद्माकर' ने "कुट्टमित" हाव के उदाहरण में मिला लिया है। यथा:—

"कर ऐंचत आवत इँची तिय आपहि पिय ओर।
झूठि हुं रूठि (सी) रहै छिनक छुवत छराको छोर"
(जगद्विनोद)

—(इस पर भूमिका भाग में लिखा जा चुका है)

चवालीस

अँग अँग सबै दिखाय

[नायिका ने अपने सब अंग नायक को दिखला कर, नायक के अपनी ओर देखने को, अनदेखा कर दिया। फिर लज्जित होकर देखा और लज्जा से सिकुड़कर ऐसी होकर बैठ गई मानों अपने शरीर में ही कछुए को तरह धसी जा रही है। —स०]

(४४)

देख्यौ अनदेख्यौ कियौ अँग अँग सबै दिखाय।
पैठति सी तन में सकुचि बैठी चितै लजाय।।

(सखी का वचन सखी से*)

अर्थः—(सबै अंग†अंग दिखाय)—नायिका ने सब अंग अंग नायक को दिखला कर, (देख्यौ अनदेख्यौ कियो)—नायक के देखने को अनदेखा कर दिया! (चितै⊙लजाय) फिर लज्जित हो देखती है, और (सकुचि तन में पैठतिसी बैठी)—संकोच से अपने शरीर में मानो घसती हुई सी बैठ गयी! लज्जा से ऐसी सिमट सुकड़ कर बैठ गयी मानो शरीर में घसी जाती है!

नायक नायिका की ओर देख रहा है, उसने भी यह देख लिया है, पर 'अनदेखा' करके—मानो कोई देख ही नहीं रहा!—एक ढंग से नायक को अंग दिखला दिये, जब जान लिया कि हाँ, उसने अब अच्छी तरह सब अंग अंग देख लिया है, तो उधर नज़र उठा कर देखा, आँख से आँख मिल गई—

—अब इसे भी छिपाने और यह भाव जताने को कि मुझे यह मालूम न था सामने से कोई देख रहा है, मालूम होता है कि तुमने मुझे इस दशा में देख लिया है! लज्जा से ऐसी सुकड़कर बैठ गई मानो अपने शरीर में (कछुवे की तरह!) घसी जाती है!

बहाने से एक एक करके सारे अंगों की प्रदर्शनी कराकर, 'क्रियाविदग्घता' का परिचय दे दिया, फिर लज्जित हो सुकड़कर ऐसी बैठ गई मानो यों ही अचानक धोखे से वह इस अनावृत दशा में देख ली गई है! पहले से मालूम होता कि कोई सामने खड़ा देख रहा है तो यों सुकड़ कर बैठती जैसे अब बैठी है!—"चितै लजाय" लजा कर देखने से यह भाव अभिव्यक्त कर रही है!

"स्वभावोक्ति" है। और वह भी "पैठति सी तनमें," में बहुत अच्छी! इसी "पैठति" से 'अमरचन्द्रिका' वाले सिर्फ 'स्वभावोक्ति' और हरि कवि— "पैठति सी" पैठति क्रिया है, ताके आगे 'सी' वाचक है, यातें "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" — निकाल रहे हैं। 'प्रतापचन्द्रिका' वाले —"नहीं हेत फल सम्भवै क्रियसों वाचक जोग।" 'पैठति' क्रिया 'सी' वाचक के जोग है।" —टिप्पनी चढ़ाकर "हरिकवे: (?" की पुष्टि कर रहे हैं 'देख्यो (अन!) देख्यो' में लाटानुप्रास (!) और अंग अंग में (वीप्सा) भी गिना रहे हैं!

तथा परमानन्द कवि यहाँ पर्यायोक्ति' भी बतला रहे हैं, कि इस बहाने से अंग प्रदर्शन रूप अपने इष्ट की सिद्धि नायिका ने की है। सो यह भी सही।

इसी भाव की "आर्या" गोवर्धनाचार्य की है। यथा-

"दृष्टमदृष्टप्रायं दयित कृत्वा प्रकाशितस्तनया।
हृदयं करेण ताडितमथ मिथ्या व्यञ्जितत्रपया ॥२८॥"

—प्रिय को देखा अनदेखा करके, स्तन दिखलाकर पीछे से मिथ्या लज्जा जतलाती हुई ने छाती पर हाथ दे मारा! जल्दी से छाती ढक ली!

"दृष्टं अदृष्टप्राय कृत्वा"—"देख्यो अनदेख्यो कियो"- "प्रकाशितस्तनया"—"अंग अंग सबै दिखाय"—। इस प्रकार यहाँ तक तो स्पष्ट ही शब्दार्थगत सादृश्य है। उत्तरार्ध—'पैठति सी तनमें' इत्यादि में' बिहारी कुछ बढ़ गये हैं।

* "यह नायिका परकीया को चितै कै लाज करिबो (देखकर लज्जा करना) देखो, (देखा) सो नायक सखी सो कहत है।" (कृष्ण कवि)

† यहाँ अङ्ग अङ्ग—'वीप्सा' को विद्यमानता में 'सबै" को शायद व्यर्थ समझकर हरि कवि ने "सबै" का अर्थ 'समानवयस्का' सखी का संबोधन किया है—"हे सखी!"। फिर यह भी लिखा है—"सब अङ्ग अङ्ग "ऐसे भी कहत हैं।"

⊙ "चितै लजाय" का अर्थ किया है—"अपने चित्त में लजाय कै।" यह भी सम्भव है, पर यहाँ "चितै" का अर्थ 'देखती है'—यही अच्छा मालूम होता है।

पैंतालीस

कारे बरन डरावनो

[काले रंग के ये डरावने कृष्ण क्यों इस घर में आते हैं ? हे सखी ! मैंने कई बार देखा कि इन्हें देखने से मेरी देह में कँपकँपी आ जाती है, आलिङ्गनेच्छाजन्य कम्प आ जाता है। —स०]

आकृतिगुप्ता-वर्णन

(४५)

कारे बरन डरावनो कत आवत इहिं गेह।
कै वा लख्यौ सखी ! लखै लगै थरथरी देह ॥

(सखी का वचन सखी से)

अर्थ : (कारे बरन डरावनो)— काले रंग का डरावना (यह कृष्ण !) (कत इहिं गेह आवत)— क्यों इस घर में आता है ! (कै वा लख्यौ —कई बार देखा, (सखी ! लखैं)—हे सखी ! इसे देखने से (देह थरथरी * लगै)—शरीर में कँपकँपी आ जाती है।

नायिका के पास कोई बहिरंग † सखी बैठी है, वहां नायक (कृष्ण कन्हैया) भी किसी काम से आ निकले, उन्हें देखकर नायिका को आलिंगनेच्छाजन्य थरथरी चढ़ आयी, इसे छिपाने के लिये बात बनाती है कि यह काला रंग ऐसा डरावना है जिसे देखकर मुझे कँपकँपी आ जाती है। कई बार ऐसा हुआ है, जब देखा तभी डर से शरीर कांपने लगा ! न जाने क्यों यह डराने के लिये इधर आ जाते हैं !

"व्याजोक्ति" अलङ्कार है—

"व्याजोक्तिरन्यहेतूत्तया यदाकारस्य गोपनम् ॥"

(कुवलयानन्द)

"व्याजोक्ति कछु और विधि कहै दुरै आकार।"

—जहां कुछ का कुछ कारण बतलाकर बहाने से किसी आकार चेष्टा—को छिपाया जाय, वहां 'व्याजोक्ति' अलङ्कार होता है।

- जैसे यहां सात्त्विक— आलिंगनेच्छाजन्य कम्प— कारण भय को बतलाकर असली सबब छिपा दिया।

"व्याजोक्ति, कछु कहि जहां लेत अकार दुराय।
सात्विक दुरयो कहि यहां स्याम बरन डर लाय ॥"

(अमर चन्द्रिका)

---

* "अथ कम्प सात्विक बर्ननम्।" (प्रताप चन्द्रिका)

† "ऊपरी (बहिरग) कोई स्त्री बैठी है तहाँ नायक आयो है नायिका को कम्प सात्विक भयो है, ताको छिपावती है।" (हरि प्रकाश)

—"यह नायिका परकीया, 'हेतुगुप्ता" नायक को देख सात्विक भयो है तिसको सखी से दुराइबे को कहति है।" "परकीया वाग्विदग्धा" (कृष्ण कवि)

हरि कवि ने श्लेष के बल से इसका यह भी अर्थ किया है। यथा :—

"(कारे –वर)=जितने काले उपमान– मेघ, नीलोत्पल, और अतसीकु–द्रुम आदि हैं तुम उन सबसे 'वर' श्रेष्ठ हो, और अन्य काले वर्ण डरावने होते हैं, तुम "न डरावने "डरावने नहीं आनन्दप्रद हो। 'कत आवत इहिं गेह" 'इहिं गेह' पद से यह ध्वनि निकलती है कि आप यहाँ क्यों आये ! यहाँ यक कष्ट उठाने की आवश्यकता न थी, कुञ्ज भवन में चलो, वहीं हम आते हैं। सखी को यह सुनाकर कि हे सखी ! कई बार मैंने देखा है इन्हें देखने से कँपकँपी हो आती है। नायक को सुझाती है कि आप ऐसे श्यामसुन्दर हैं कि तुम्हें देखकर हमारे शरीर में सात्त्विक कम्प हो जाता है।—"

—इस अर्थ में "श्लेषालंकार है"—

"श्लेष अलंकृति अर्थ बहु जहाँ शब्द में (एक शब्दते) होय ॥" (भाषाभूषण)

—:०:—

छिआलीस

उठे हरषि अँग फूल

[नायिका जिस देवर पर आसक्त है, उसने उसके फूल मारे, जिससे उसके अंग हर्ष से फूल उठे। उसे सात्त्विक रोमाञ्च हो गया। पर नायिका की नासमझ सखी देह पर ददौड़ों की भूल करके उन पर औषध मल रही है। उसे ऐसा करते देखकर, भेद जानने वाली पड़ौसिन हँसने लगी कि यह बावली क्या कर रही है ? दर्द कुछ दवा कुछ। —स०]

(४६)

देवर फूल हने जु सिसु उठे हरषि अंग फूल।
हँसी करत औषधि सखी देह ददौरनि भूल ॥

(पड़ौसिन का वचन किसी स्त्री से) *

अर्थ—(देवर जु 'फूल' हने)—देवर ने जो फूल मारे, उनसे (अंग हरषि फूल उठे)—अंग हर्ष से फूल उठे ! —सात्त्विक रोमाञ्च हो गया। (सिसु, सखी, देह ददौरनि भूल)—नायिका की 'सिसु' नासमझ सखी, देह पर ददौड़ों की भूल से (ओषधि करति)—औषधि करती है। उसे ऐसा करता देख, (हँसी)—पड़ोसिन हँसी !

नायिका जिस देवर से आसक्त है उसने फूल मारे, जिससे नायिका को सात्त्विक † रोमाञ्च हो गया। नासमझ सखी यह समझकर कि इसकी देह पर ददौड़े हो गये हैं ददौड़ों की दवा करने लगी ! यह देखकर भेद जानने वाली पड़ौसिन उसकी इस मूर्खता पर हँसने लगी कि यह बावली क्या कर रही है ! दर्द कुछ दवा कुछ !

* नायिका की पड़ौसिन का वचन निज सखी से ॥" (लाल चन्द्रिका)
यह नायिका सुरता (?) देवर सों आसक्त है, सखी को वचन सखो सों हर्ष अरु हास्य संचारी—" (कृष्ण कवि)

† प्रताप चन्द्रिकाकार ने अपनी 'वार्त्ता' में 'नायिका के (की) सुकुमारता तें चिन्ह फूल के भये"—लिखा है ! पर इस 'वार्त्ता' से "हरषि" की बात बिगड़ जायगी ! यह खेद की बात होगी !

हरिकवि ने 'अमरचन्द्रिका' के "धर्मविरोध" वाले प्रश्न के उत्तर के आधार पर यह अर्थ किया है—

—"कहने वाली सखी कहती है— नायिका मेरे देवर सों आसक्त है' सो मेरे देवर ने वा नायिका को हठि के फूल मारे (जिससे) नायिका के अंग हरषि के फूल उठे, देह की ददौरा सो भूलकर सखी (नायिका की सखी) औषध करत है, ताकौं परौसिन हँसी।"— (हरिप्रकाश)

"सिसु को देवर का विशेषण माना जाय तो उससे सात्त्विक का होना असम्भव होगा, इस लिये इस दिक्कत से बचने के लिये किसी ने 'सिसु' का अन्वय फूल के साथ करके 'सिसु फूल'—फूल की कली"—अर्थ किया है!

—कृष्ण कवि की पुस्तक में 'सिसु की' जगह "सु सु" पाठ है। इस दशा में जिन जिन अङ्गो पर फूल मारे "सो सो अंग फूल उठे" यह अर्थ होगा।

हरि कवि ने"············हने जु हठि" पाठ रख कर अर्थ किया है—

"हम फूल सों मारेंगे, –ऐसा हठिकैं– फूल हन्यो, फूल सौ मारयौ" अर्थात् बदल कर फूल मारे!

एक संगति 'सिसु' पाठ की अमरचन्द्रिका के आधार पर हरि कवि ने यह लगायी है कि—

"नायक ने पड़ौसिन के "शिशु देवर" के हाथ फूल दिये कि जाकर उस—(नायिका) पर डाल आओ, फूल नायक के छुए हुए थे, इस सम्बन्ध से, उस 'शिशु' —बच्चे के डालने से भी नायिका को सात्त्विक हो गया।"

प्रश्न १—

"सिसुते सात्त्विक होत नहिं, २—देवर धर्म विरुद्ध।"

उत्तर १—

"तहँ 'सिसु सुमन' विचार कहि 'कली' कठिन मति सुद्ध।"

उत्तर—२-"किहुके देवर किहि सुतिय ऊपर डारे फूल।
निज देवर की वहु कहति अरु तियकी [सों] रसमूल।।"
(अमरचन्द्रिका)

तीसरा प्रकार यह है कि 'सिसु' का सम्बन्ध औषध करने वाली सखी से समझा जाय। नासमझी का काम करने के कारण वह 'युवति' होकर भी 'शिशु" ही है। जैसा नैषध में श्री हर्ष ने हंस के मुख से युवति दमयन्ती को कहलवाया है :—

"अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न
स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन।"

अलङ्कार—"भ्रान्तिमान्"। "अंग देह" में 'अर्थावृत्ति दीपक'।

इस दोहे के भाव से बिलकुल मिलती हुई एक "गाथा" गाथासप्तशती में है। यथा—

"काचिद् दूती नायिकाया देवरानुक्तत्वेनासाध्यत्वं सूचयन्ती जारं प्रत्याह—

"णवलअपहरं अंगे जहिं जहिं महइ देव–[अ] रो दाउम्।
रोमञ्चदण्डराई तहिं तहिं दीसइ वहूए।।"

—"नवलता - प्रहारमंगे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम्।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः।।" (१।२८)

× × ×

—बहू के जिस जिस अंग पर देवर, नवीन लता की कोमल "कमची" मारना चाहता है— मारता नहीं, मारने की चेष्टा करता है— इतने ही से बहू के उसी उसी अंग पर रोमाञ्च की "दण्डराजि"— डंडे की तरह मोटी उभरी हुई पंक्ति— दिखाई देने लगती है!

नवीन लता के प्रहार की चेष्टा मात्र से रोमाञ्च की "दण्ड-राजि" का उभर आना नायिका के सौकुमार्य और देवरनिष्ठ रागाधिक्य का सूचक है!

यहाँ (गाथा में) नवीन लता के प्रहार की इच्छा मात्र से 'रोमाञ्च-दण्डराजि" (वद्धियाँ) उठ आती हैं, और दोहे में 'फूल के प्रहार' से ही इतना रोमाञ्च हो आता है कि जिसे देखकर सखी को ददौड़ों का भ्रम हो जाता है। दोनों जगह सौकुमार्य और अनुराग का "औसत" क़रीब क़रीब बराबर है!

यहाँ 'गाथा' में हँसी दिलाने वाली "भ्रान्ति" नहीं है, और रोमाञ्च के कारण को स्पष्ट करने वाला "हरषि" भी नहीं है।

दोहे से 'भ्रान्ति' वाली बात ने 'शृंगार' के 'प्रपानक' में हंसी जाफ़रान मिलाकर एक अद्भुत स्वाद भरा माधुर्य पैदा कर दिया है !

एक ऐसी ही घटना की "भ्रान्ति" से हँसी दिलाने वाली आर्या "आर्यासप्तशती" में है। —

"एतस्याः पतिरत्यन्तजडोऽस्ति, अतस्त्वया न भेतव्य-मिति काचित् कश्चिद्वक्ति"—

"उपनीय कलमकुडवं कथयति सभयश्चिकित्सके हलिकः।
शोण सोमार्द्धनिभं वधूस्तने व्याधिमुपजातम् ॥१३०॥"

— एक अञ्जलि धान वैद्यजी की भेंट करके, बहू की नई व्याधि से डरा हुआ हाली—मूर्ख ग्रामीण— कहता है कि महाराज बहू के स्तन के पास अर्द्धचन्द्राकार लाल लाल कुछ रोग * हो गया है ! कृपा कर इलाज बताइए, क्या किया जाय, कैसे उस रोग की शान्ति हो !

विहारी ने इस 'आर्या' के भोले 'हालिक' की 'भ्रान्ति' ददौड़ों का इलाज करने वाली सीधी सादी सखीः में संक्रान्त (दाखिल) करदी और इस प्रकार मानो 'गाथा' और 'आर्या' के अर्क़ से इत्र निकाल कर दोहे की शीशी में बन्द कर दिया !

सैंतालीस

मति जु काढ़्यो आय

[प्रेम गर्विता परकीया नायिका सखी से कहती है कि इस काँटे ने मेरे पाँव में लग कर, मुझ मरती को जिला दिया; क्योंकि इसके कारण मित्र नायक ने प्रीति जताते हुए, काँटा निकालने में (नायिका को) दुःख न पहुंचे, इस विचार से डरते डरते कांटा निकाला। —स०]

(४७)

इह काँटे मो पाय लगि लीनी मरति जिवाय।
प्रीति जनावत भीति सौं मीत जु काढ्यौ आय॥

(प्रेमगर्विता परकीया की उक्ति अन्तरङ्ग सखी से) †

अर्थ :-(इह कांटे)=इस कांटे ने (मो पाय लगि)= मेरे पांव में लगकर, (मरति जिवाय लीनी)=मुझे मरती को जिला लिया, क्योंकि (प्रीति जनावत)=प्रीति जताते हुए और (भीति सौं) डरसे (मीत जु आय काढचो)= मित्र–नायक ने जो आकर (यह कांटा) निकाला !

---

* जारकृत अर्धचन्द्राकार 'नखक्षत' को बेचारा बीमारी समझ रहा है !

† उक्ति नायिका की अन्तर्वत्तिनी (अन्तरङ्ग) सखी प्रति, उपपति को प्रेम निवेदन वचन अनुभाव तें हर्ष सञ्चारी, पूर्वानुराग व्यंगय। व्याधि को मिलन॥" (अनवर चन्द्रिका)

अनवर चन्द्रिका के इस "व्याधि के मिलन" कथन से मालूम होता है कि नायक कोई पीयूषपाणि सर्जन डाक्टर हैं !

—नायिका के पाँव में कहीं कांटा लग गया, जिसे नायक ने डरते डरते–(निकालने में नायिका को दुःख न पहुंचे इस विचार से) बड़े प्रेम से–ओह बड़ा गहरा कांटा लगा है–इस सुकोमल पद-पल्लव में ऐसा कठोर कांटा ! शिव ! शिव ! कहीं निकालते में टूट कर अन्दर न रह जाय, घाव पक न जाय, यह वेदना इस सुकुमारी से कैसे सही जायगी !—इस प्रकार भय और प्रेम प्रकाश करते हुए निकाला है। सो नायिका उस काँटे का धन्यवाद करती हुई कहती है कि इस कांटे ने पाँव में लग कर मुझे मरती को जिला दिया, जिस चितचोर के दर्शन स्पर्शन को तरस रही थी, इसकी कृपा से उसके पीयूष-पूर्ण पाणिका स्पर्श प्राप्त हो गया ! इस काँटे का भला हो, इसकी बदौलत जी मिली ! न यह लगता, न वह आकर इसे निकालते, न यह जी की कसक जाती—न मैं जीती !

हर कवि के मत में चौथी विभावना—"जवैं अकारन वस्तुते कारज परगट होय" है और अमर चन्द्रिका तथा रस चन्द्रिका के मत में ५वीं विभावना—"काहू कारन तैं जबैं कारज होय विरुद्ध" है। अकारण या विरुद्ध कारण–काँटे से जीवनकार्य हो गया। 'भीतमीत' से अनुप्रास है।

लल्लू लाल जी ने इस दोहे को "सम्यग्वचनविदग्धा हेतु–गुप्ता वर्णन" शीर्षक देकर पूर्वार्द्ध में नायिका का वचन सखी से, और उत्तरार्द्ध में सखी का वचन सखी से मान कर अर्थ किया है—

"इस काँटेने मेरे पाँवमें लगके मुझे लिया मरते हुए जिवाय॥
"नेह जताती है डर से, प्रीतम ने जो काढ़ा है आके कांटा।"

(लाल चन्द्रिका)

—यह अर्थ ठीक समझा जाय तो नायिका "सम्यग्वचन-विदग्धा" और "हेतुगुप्ता" कहाँ रही ? पूर्वार्द्ध से तो प्रतीत होता है कि वह 'प्रेमगर्विता" है, जो काँटे को प्रशंसा के रूप में नायक का अपने ऊपर प्रेम प्रकट कर रही है, और उत्तरार्द्ध सखी–वाक्य से जाना जाता है कि वह "लक्षिता" है ! सखी उसके प्रच्छन्न प्रेम को ताड़ गई !

इस कारण लल्लू लाल जी का यह शीर्षक और पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध की पृथक् कथनोपकथन की कल्पना दोनों ही सगत नहीं।

एक प्राचीन संस्कृत पद्य है :—

"इह स्फुटं तिष्ठति नाथ!कण्टकः शनैःशनैः कर्ष नखाग्रलीलया
इतिच्छलात्काचिदलग्न कण्टकं पदं तदुत्संगतले न्यवेशयत् ॥

—हे प्रिय ! देखिए इस जगह काँटा ज़रूर धँस रहा है, इसे शनैः शनैः (आहिस्ता आहिस्ता–इतमीनान से जल्दी नहीं !) नाखून की नोंक से उभार कर निकालो— इस बहाने से किसी नायिका ने बिना काँटा लगे पाँव को ही नायक की गोद में रख दिया।

उक्त दोहे और इस श्लोक में बहुत तो नहीं पर इतना साम्य अवश्य है कि काँटा भी वक्त पर काम निकालने की एक चीज़ है। जो पाँव में लगकर कभी कभी दिल की कसक निकाल दिया करता है !

अड़तालीस

जमुना तीर तमाल तरु

[वाग्विदग्धा स्वयंदूती नायिका नायक से कह रही है कि जमुना के किनारे एक घड़ी यह धूप का वक्त बिताइये। इस जमुना के तीर पर भौंरों के झुंड से मुक्त तमाल वृक्ष से लिपटी हुई चमेली का कुञ्ज है। —स०]

"स्वयंदूतिका"-वर्णन

(४८)

घाम घरीक निबारियै कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलति मालती कुंज॥

(वाग्विदग्धा स्वयं दूती की उक्ति नायक से)

अर्थ :—(जमुनातीर, घरीक, घाम, निबारिये)— जमुना के किनारे घड़ी एक घाम—धूप का वक्त बिताइए, जमुना-तीर कैसा है—(ललित, अलिपुञ्ज कलित)— सुन्दर है, भौंरों के झुण्ड से युक्त है और जहाँ (तमालतरु मिलति मालती-कुञ्ज)—तमाल वृक्ष से मिली हुई चमेली का कुञ्ज है।

दोपहर का समय है, धूप पड़ रही है, पास ही यमुना बह रही है, स्वयं दूता (मध्याह्नाभिसारिका) नायिका, नायक से कहती है कि इस वक्त कहाँ जा रहे हो! जरा धूप कम होने दो, देखो सामने जमुना किनारे क्या अच्छी जगह है! तमाल पर चमेली की वेल (लता) चढ़ रही है, उसकी वह कैसी सुन्दर कुञ्ज है, जहाँ भौरों का झुंड गुंजार रहा है! वहीं घड़ी भर बैठ कर धूप का वक्त काटो आराम करो! 'रमणीय' और 'निर्जन' स्थान है! वहाँ चल कर विहार करो। "तत्र गत्वा मया सह विहरस्वेति ध्वनिः!"

तमालतरु से मिले मालती कुंज के कथन में एक खास बात है—विशेष ध्वनि है—। जैसे 'तमालतरु' और 'मालती—लतिका' का सुन्दर संयोग है ऐसे हो—"आवयोः कृष्णगोप्योरपि सुन्दरः संयोगः स्यादित्याकूतम्!"

अलङ्कार—"पर्यायोक्ति" अति स्पष्ट है। विश्राम के लिए एकान्त मालती कुंज बतलाने के ब्याज से मिलना इष्ट है।

'अमर चन्द्रिका' आदि के मत से यहाँ 'गूढोत्तर' अलंकार है! यथा :—

"वचन गूढ निज भाव सौं "गूढोत्तर" कहि ताहि।
द्रुमघन मालतिकुंज में स्वयंदूतता चाहि।" (अमरचन्द्रिका)

अलंकार का नाम तो "उत्तर" है, 'गूढ़ोत्तर'—पद तो उसके लक्षण—वाक्य का एक अंश है। यथा—

"किञ्चिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम्।"
यत्रासौ वेतसी पान्थ तत्रेयं सुतरा सरित्॥"
(कुवलयानन्द)

—'किंचिदभिप्रायसहितं गूढमुत्तरमुत्तर नामालङ्कारः।"
(अलंकार चन्द्रिका टीका)

सो भूल से लक्षणवाक्यान्तर्गत "गूढोत्तर' को लक्ष्य—(उत्तरालंकार)—का नाम दे दिया गया प्रतीत होता है! आश्चर्य की बात है कि कवि परमानन्द जी ने भी—

"किञ्चिदाकूतपिहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तर"–मिति–लक्षणात्—"गूढोत्तरालंकारः"—यह लिख दिया है ! ! अस्तु ।

यहाँ "उत्तरालंकार" मानें तो प्रश्न की कल्पना करनी पड़ेगी । इस प्रकार कि—कोई पान्थ किसी रमणी से रास्ता पूछता है, वह कसती है कि यह धूप का वक्त है ! कुछ आराम कर लो, फिर जाइयो ! इस आराम करने की तरकीब में उसका आराम भी मिला हुआ है—उसे— (रास्ता बताने वाली को)—'घाम घरीक निवारियै" के उपदेश से अपनी अतनु- तापोपशान्ति इष्ट है—इस उत्तर में गूढ़ अभिप्राय' छिपा हुआ है । इससे "उत्तर" (' गूढ़ोत्तर" नहीं !) अलंकार है ।

एक ऐसी ही "स्वयं दूती की सुन्दर गाथा "गाथासप्तशती" में है । यथा—

स्वयंदूती पथिकमाह—

"थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का ।
आअभवएण छाही वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ।।"
"स्तोकमपि न निःसरति मध्याह्ने पश्य शरीरतललीना ।
आतपभयेनच्छायापि पथिक ! तत्किं न विश्राम्यसि ।।"
(१ । ४९ ।)

* * *

—धूप से घबराकर जिस छाया के आश्रय में पथिक लोग विश्राम लेते हैं, वह 'जड़' छाया भी धूप के डर से, शरीर के नीचे से इस समय बाहर नहीं निकलती, फिर हे पथिक ! तुम 'चेतन' होकर भी इस वक्त घाम में क्यों घूम रहे हो ! क्यों नहीं आराम करते ?

'गाथा' की "स्वयंदूती" ने धूप की प्रचन्डता का डर दिखाकर, पथिक को आराम अरने की सलाह दी है, और दोहे की स्वयंदूती ने घाम बिताने के स्थान की रमणीयता का लालच दिलाकर काम निकालना चाहा है ।

—एक ओर—(गाथा में) जब छाया भी निकलती डरती है ! —घाम के डर से शरीरतल में सिमटी पड़ी है !—तो ऐसे में और कौन शरीरधारी यहाँ आने लगा है, जिसकी आशंका हो !, दूसरी ओर—(दोहे में) तमाल और मालती की कुञ्ज ऐसी सघन है कि वहाँ कोई आ भी निकले तो भी पता नहीं पा सकता—यह भाव व्यंग्य हैं ।

"स्वयंदूती"

'स्वयंदूती' या 'स्वयंदूतिका" साहित्य की परिभाषा में उस नायिका को कहते हैं जो अपने लिए स्वयं दूतत्व करे—वह अपना पैग़ाम—दिलदार—चितचोर—तक खुद ही पहुँचाती है । किसी ढंग से, किसी अदा या इशारे से —'क्रियाविदग्धता के रूप में या व्यङ्ग्योक्ति द्वारा वचन-विदग्धता के रूप में अपना अभिप्राय प्रकट करती है । इसका उदाहरण विहारी का उक्त दोहा और वह प्राकृत गाथा है ।

कविराज 'शंकर' महाराज का यह कवित्त—(जो सन्ध्याभिसारिका रूप गर्विता किसी स्वयं दूती की उक्ति है)—इसका उत्तम उदाहरण है :—

"आनन की ओर चले आवत चकोर मोर
दौर दौर बार बार बेनी झटकत हैं,
बैठ बैठ 'शंकर' उरोजन पै राजहँस
हारन के तार तोर तोर पटकत हैं ।
झूम झूम चखन को चूम चूम चंचरीक
लटकी लटन में लिपट लटकत हैं,
आज इन बैरिन सों बन में बचावे कौन
अबला अकेली मैं अनेक अटकत हैं ।।

* * *

खुले शब्दों में—नंगे स्वरूप में—अपना भाव प्रकट करने वाली स्वयं दूती के उदाहरण में यह दोहा प्रसिद्ध है—

"मो ही सों किन भेट ले जौलौं मिले न वाम ।
सीत-भीत तेरो हियो मेरो हियो हमाम ।।"
वात्स्यायन के काम सूत्र में—

१—निसृष्टार्था, २—परिमितार्था, ३—पत्रहारी, ४- स्वयं दूती, ५—मूढ दूती, ६—भार्या दूती, ७—मूक दूती, ८—वात दूती चेति दूती विशेषाः ।"

—दूतियों के ये आठ भेद गिनाये हैं, और 'स्वय दूती' का लक्षण इस प्रकार किया है—

१—"दौत्येन प्रहिताऽन्यया स्वयमेव नायकमभिगच्छेत्—(कामयेत्)—सा "स्वयं दूती"।

२—"प्रतिग्रहच्छलेनान्यामभिसंधायास्याः सदेशश्रावण द्वारेण नायकं साधयेत् तां चोपहन्यात् सापि "स्वयदूती"।"

अर्थात् जो किसी (नायिका) की ओर से दूती बनकर जाय और वहां—नायक के पास—पहुंचकर दूतत्व को भूल जाय वह स्वयं दूती है। यह वह स्वय दूती है जो दूतत्व करने और नायक के पास पहुँचने तक तो नेकनीयत रही हो, पर ऐन वक्त पर बदनीयत बन बैठे !

दूसरे प्रकार की स्वय दूती वह है, जिसकी नीयत पहले से ही खराब हो—जिसने किसी का दूतत्व ही इसलिए स्वीकार किया हो कि इस बहाने से नायक तक पहुँचने और अपनी मन्मथ-व्यथा सुनाने का अवसर मिले। जिसकी दूती बनकर चली है उसका काम बिगाड़ अपना काम सिद्ध करले—'तां चोपहन्यात्' नायिका को चित करके, "नायकं साधयेत्"—नायक को सीधा करले !—

उनञ्चास

सीस हिये पर हाथ

[नायिका को कहीं मार्ग में नायक आता मिल गया। वह प्यारे ललन को देखकर प्रसन्न हुई, आँखों में ही हँसी की झलक दिखाकर हर्ष प्रकट किया। पर संग बेमेल होने के कारण, जिससे मन नहीं मिला है उस ऊपरी आदमी या वहिरंग सखी के साथ होने के कारण, वह कुछ कह सुन न सकी। केवल सिर और छाती पर हाथ रक्खा। इससे अभिप्राय यह हुआ कि तुम मेरे सिरताज हो और हृदय में बसते हो। —स०]

क्रियाविदग्धा-वर्णन

(४९)

हरषि न बोली लखि ललन निरखि अमिल सँग साथ।
आंखन ही में हँसि धरचो सीस हिये पर हाथ॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ—(ललन लखि, हरषि)—प्यारे ललन को देखकर प्रसन्न हुई, पर (अमिल संग साथ* निरखि बोली न) बेमेल संग साथ देखकर बोली नहीं, बात न कर सकी, (आंखन ही में हँसि) आंखों ही में हँसकर, (सीस हिये पर हाथ, धरचो)—सिर और छाती पर हाथ रखा।

* हरिप्रकाश में 'संग साथ' की पुनरुक्ति से बचने के लिए .... "सब साथ" पाठ की कल्पना की है और ...."संग साथ" को पाठान्तर मानकर, संग साथ—दोनो शब्दों को दो ठिकाने लगाया है—नायिका के संग अमिल सखी है और नायक के साथ अमिल सखा है।" परन्तु संग साथ एक साथ मिलाकर बोलना एक मुहावरा है।

नायिका को कहीं मार्ग में नायक आता मिल गया। संग साथ बेमेल—(जिससे मन नहीं मिला)—है। —ऊपरी आदमी (नायिका के) या बहिरङ्ग सखी (नायिका के) साथ में है, इसलिए कुछ कह सुन न सकी, सो हर्ष को तो, आंखों में हँसी की झलक दिखाकर प्रकट किया और बातचीत का काम 'बोधक हाव'—इशारों से निकाला। सिर छाती पर हाथ धरने का यह अभिप्राय है कि तुम मेरे सिरताज हो, और हृदय में बसते हो!

इस बोधक हाव— "सीस हिये पर हाथ" रखने के अनेक भाव हरिकवि ने निकाले हैं। यथा—

१—"सीस पर हाथ धरा, केश श्याम हैं, सो जब अंधेरा होगा तब मिलूँगी। हिये पर हाथ धरने से यह कि 'कुच' को 'शंभु' कहते हैं (उपमा देते हैं) महादेव को छूकर कहती हूँ कि अवश्य मिलूँगी!

२—अथवा, सीस पर हाथ धरा—मणिमय सीसफूल छिपाया, अर्थात् सूर्यास्त होने पर मिलूँगी। और यह बात मेरे हृदय में बसी है, भलूँगी नहीं इसलिये हृदय पर हाथ रखा।

३ अथवा सीस पर हाथ रखकर, 'प्रणाम' किया कि जाती हूं—(आज्ञा दीजिए)—जाती हूं, पर तुम हृदय में बसते हो, हरवक्त साथ हो।"

—आजकल स्त्रियों का पुरुषों को प्रणाम करना प्रचलित नहीं है—स्त्रियाँ पुरुषों को प्रणाम नहीं करतीं—इसलिये कदाचित् किसी को इस तृतीय अर्थ की प्रामाणिकता में सन्देह हो, इससे हरिकवि लिखते हैं कि "नायिका को प्रनाम वर्न्यो है"—(नायिकाकृत प्रणाम कहा है) —"न्हाय पहिरि पट डटि (उठि) कियो बेंदीमिस परनाम" (इस अगले दोहे में)—किंवा—

४—सीस पै हाथ धरा—"सीस" को उलटा पढ़ो तो 'ससी' (शशी) होता हैं, उसे हाथ से छिपाया, चन्द्रमा के अस्त होने पर मिलूँगी। हिये पर हाथ धरकर बतलाया कि मतलब समझ गये न?

'आंख में हँसने' का भाव हरिकवि ने यह बतलाया है कि आंखों में हँस कर अपना निश्चय राजीपना (प्रसन्नता) जतलाया, क्योंकि मुँह की हांसी झूँठी भी है। नेत्र की क्रिया सब सच्ची, प्रमाण—

"झूँठे जानि न संग्रहे मनु मुँह निकसे बैन!"
(दोहा ४६१)

—अलंकार—"सूक्ष्म" या 'पिहित'।

'प्रताप चन्द्रिका' में "आंखों के हँसने" से "चौथी विभावना" भी मानी है। "जवै अकारन वस्तु तें कारज परगट होय"--

पचास

बिदा किये घन स्याम

[नायिका ने घाट पर स्नान करके, कपड़े पहने और उठकर बेंदी लगाने के बहाने प्रणाम किया। आँखों के इशारे से नायक शिरोमणि श्री कृष्ण को विदा किया और स्वयं भी घर को चल दी। आँख के इशारे से जताया कि यहाँ घाट बाट में कृपा कीजिए, घर चलिए, मैं अभी आती हूँ, वहीं बातें होंगी। —स०]

(५०)

न्हाय पहिरि पट उठि कियौ बेंदी मिस परनाम।
दृग चलाय घर कौं चली बिदा किये घनस्याम॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—न्हाय, पट पहिरि,) = (नायिका ने) स्नान कर, कपड़े पहन और (उठि*) = उठकर (बेंदी मिस परनाम कियो) = बेंदी लगाने के बहाने, प्रणाम किया, (द्दग ⊙ चलाय) — आँखें चलाकर (घनश्याम विदा किये) नायक-शिरोमणि (श्रीकृष्ण) विदा कर दिये, और (घर को चली) — (स्वयं भी) घर को चल दी।

घाट पर कोई नायिका न्हाने गई, वहीं 'घनश्याम' भी आ मौजूद हुए, सो उस क्रिया विदग्धाने प्रणाम करके आँखों के इशारे से जताया कि यहाँ घाट बाट में तो कृपा कीजिए, घर चलिए, मैं अभी आती हूँ, वहीं बातें होंगी।

"सूक्ष्मालंकार" और "पर्यायोक्ति" अलंकार। 'छेकानुप्रास और चकार से "वृत्यनुप्रास"।

—:०:—

इक्यावन

भीजे तन दोऊ कँपैं

[प्रिय और प्रेयसी, स्नान करके आमने सामने खड़े जप कर रहे हैं। तिरछे नेत्र किए एक दूसरे को देख रहे हैं। प्रेम हृदयों को जीत रहा है अर्थात् दोनों के मन प्रेम ने जीत लिए हैं। दोनों भीगे शरीर से काँप रहे हैं। पर माघ की संक्रान्ति के सुपर्व का यह जप किसी प्रकार समाप्त होने में नहीं आता। —स०]

(५१)

चितवत जितवत हित हिये किये तिरीछे नैन।
भीजे तन दोऊ कँपैं क्यों हूं जप निबरै न॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(तिरीछे नैन किये, चितवत)—तिरछे नेत्र किए (एक दूसरे को) देख रहे हैं, (हित, हिये जितवत†)—प्रेम हृदयों को जीत रहा है, अर्थात् दोनों के मन प्रेम ने जीत लिये हैं। (भीजे तन दोऊ कँपे,—भीगे शरीर दोनों काँप रहे हैं, पर (क्यों हूँ जप न निबरै)— किसी प्रकार जप समाप्त होने में नहीं आता।

---

* "उठि" की जगह- "डटि" पाठान्तर। डटिकै—अटकरि करिकैं— देखि ँ। (हरिप्रकाश)

⊙ द्दग- की जगह "चष" (प्रतापचन्द्रिका)।

† 'हिये हित जितवत—हिये में जो हित है, ताको उत्कर्ष करे हैं, बढ़ावत हैं। सीतभयो है तासौं हितकौं जितवत हैं- हितसों सीत को दबावत हैं। किंवा, हितकै हृदय मन ताको बढ़ावत है," हरिप्रकाश

—"और "जितवत" का अर्थ "जिधर" का लीजे तो यों कहिये—"देखते हैं उतैं, जितैं हिये का हित है।" (रसचन्द्रिका)

दोनों—प्रिय और प्रेयसी,—स्नान करके आमने सामने खड़े जप कर रहे हैं वस्त्र गीले हैं, शरीर भीग रहे हैं शीत से दोनों काँप रहे हैं। शायद माघ की सक्रान्तिका सुपर्व है। तो भी जप समाप्त नहीं होता, क्योंकि तिरछी आँखों से एक दूसरे को देख रहे हैं- आपस में आँखें सेक रहे हैं! प्रेम ने हृदयों को जीत लिया है, फिर शीत का ज्ञान किसे हो! और जप की समाप्ति कैसे हो!

अलंकार—पूर्वार्द्ध में 'स्वभावोक्ति' है। शीत, जप की समाप्ति का हेतु है तो भी जप, न समाप्त हुआ, इससे उत्तरा धर्म में "विशेषोक्ति"।

'विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजत नाहिं"

तथा जप न समाप्त होने का समर्थन "हित हिये जितवत" और तिरीछे नैन चितवत' से किया, इसलिये काव्यलिंग' भी संभव है—

"काव्यलिंग जब जुक्तिसों अर्थ समर्थन कीन।"

जप के व्याज से 'देखना' इष्ट सिद्ध किया। इसलिये "पर्यायोक्ति" भी है। 'तकार' की आवृत्ति से "वृत्यनुप्रास" भी है।

इस दोहे के भाव से मिलती हुई गोवर्धनाचार्य की एक आर्या है। :—

"अन्योन्यमनु स्रोतसमन्यदथान्यत्तटात्तटं भजतोः।

उदितेऽर्केपि न माघस्नानं प्रसमाप्यते यूनोः ॥२६॥

—यह जगह न्हाने के लिये अच्छी नहीं, वह अच्छी है, यह ठीक नहीं, वह ठीक है—इस प्रकार इस घाट से उस घाट पर और उस घाट से इस घाट पर फिरते फिरते, सूर्योदय हो गया, पर तो भी युवा और युवति की जुगल जोड़ी का 'माघस्नान' समाप्त नहीं हुआ!

सूर्योदय से पहले-पहले माघ-स्नान की विधि है। पर इन्हें अपनी धुन में इस बात की चिन्ता कहां! नवयुवक प्रेमी भक्तों को, 'अदृष्टफल' की अपेक्षा 'दृष्टफल' अधिक प्रिय है! इसका प्रमाण वह माघस्नायी जोड़ा है। हां यदि दृष्ट लाभ की प्राप्ति होती हो तो इसके लिये 'अदृष्ट' साधनों को भी काम में ला सकते हैं! इसका उदाहरण वह (५१ वें दोहे की) जप करने वाली जुगल जोड़ी है!

बावन

मुँह धोवति एड़ी घसति

[निकटस्थ नायक को देखने का अच्छी तरह अवसर मिले, इसलिये स्नानावतीर्णा नायिका, किनारे पर बैठी, बार बार मुँह धो रही है। अपनी एड़ियाँ रगड़ रही है और अकारण हँस रही है। पर नील कमल के तुल्य आँखों वाली यह प्रेम परवशा नायिका जमुना के जल में नहीं धस रही है। —स०]

(५२)

मुँह धोवति एड़ी घसति हँसति अनंगवति तीर।
धसति न इन्दीवर-नयन कालिन्दी के नीर ॥

अर्थ :—(तीर)—किनारे पर (मुँह धोवति)—मुँह धो रही है, (एड़ी घसति)—एड़ियाँ रगड़ रही है, और (हँसति)—अकारण हँस रही है। परन्तु (इन्दीवर-नयन, अनँगवति)—नील कमल के तुल्य आंखों वाली यह 'अनँगवती'—प्रेमपरवशा नायिका, (कालिन्दी के नीर न धसति)—जमना के जल में नहीं घसती।

निकटस्थ नायक को देखने का अच्छी तरह अवसर मिले, इसलिये, स्नानावतीर्णा नायिका, किनारे पर बैठी बार बार मुँह धोने, और एड़ी रगड़ने के बहाने—(एड़ी बिलकुल साफ़ है, मैल का कहीं नाम नहीं, पर ऐसे रगड़ रही है मानो मैल छुड़ा रही है!)—देर कर रही है, नहाने के लिये पानी में नहीं घसती। यह देखकर, उसकी चेष्टा को समझने वाली सखी, छेड़ने के लिये कहती है कि तू यह क्या तमाशा कर रही है! कभी मुँह धोने लगती है, कभी एड़ी घिसने लगे है, कभी बिना कारण हँसने लगे है! अनङ्गवति!†(चुभता हुआ सम्बोधन!) क्यों इतराती फिरे है! जमना में घसकर जल्दी से नहा क्यों नहीं लेती!

अलङ्कार—"इन्दीवर-नयन" में "वाचक धर्म—लुप्तोपमालङ्कार।" नयन, उपमेय। इन्दीवर, उपमान। वाचक और धर्म दोनों लुप्त।

अथवा, एक सखी दूसरी सखी से नायिका की इस चेष्टा का वर्णन कर रही है तो "स्वभावोक्ति" बहुत बढ़िया। और 'कारक दीपक' भी बहुत अच्छा।—धोवति, घसति, आदि सब क्रियाओं को एक ही कर्तृकारक (नायिका) प्रकाशित कर रही है। 'तकार' की तकरार से (आवृत्ति से) "वृत्यनुप्रास" भी है।

तिरेपन

विहँसति धसति न नीर

[तीरस्थ नायक को देखकर यह नायिका न नहाती है, न घर जाती है। तीर को ताक कर उसका चित्त आसक्त हो गया है। वह जल को छूकर कँपकँपी लेती हुई उलटे पाँव लौट आती है, हँसती है, पर पानी में नहीं धसती। —स०]

(५३)

नहि अन्हाय नहि जाय घर चित चिहुंट्यौ तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति विहंसति धसति न नीर॥

(सखी का वचन सखी से)

अर्थ :—(नहि अन्हाय)—न नहाती है, नहीं घर जाय)—न घर जाती है (तीर तकि चित चिहुंट्यौ *)—तीर को ताक कर—तीरस्थ नायक को देख कर—चित्त चिपक गया—आसक्त हो गया। (परसि)-जल छूकर (फुरहरी लै फिरति)—फुरहरी—कँपकँपी लेती फिरती है—उलटे पांव लौटती है—(विहँसति)—हँसती है, और (नीर न घसति)—पानी में नहीं घसती।

---

† हरिकवि ने "अनंगवत" पाठ रखकर अर्थ किया है, "................ और तीर में 'अनंगवति' है विलम्ब करती है। किंवा—तीर में अनग कामतुल्य जो है नायक ता को देखिकैं नीर मैं नाहीं धसति है"—'प्रतापचन्द्रिका' में—"अनंगवति" इतरावै को कहै है"—है!

* "चुहुट्यो", है—लागि गयो है। (ह० प्र०) तीरस्थ नायक ने नायिका का चित 'चिहुंट लिया'—हर लिया है। (रसचन्द्रिका)

इसकी दशा भी बिलकुल वैसी ही है जैसी इससे पहले दोहे वाली की है। वह मुँह धोने और एड़ी घिसने के बहाने से देर लगा रही है यह पानी को छूकर ही काँप रही है, मानो पानी इतना ठंडा है कि छूते ही कपकँपी चढ़ती है—इससे नहाने की हिम्मत नहीं पड़ती ! पानी छूती है, और काँप कर हँसती हुई पीछे हट आती है !—

(क्रियाविदग्धा) परकीया नायिका। विलास-हाव। अलंकार— "स्वभावोक्ति"। "पर्यायोक्ति"। "कारक दीपक"। सब स्पष्ट चमक रहे हैं।

इस दोहे का यह अनुवाद 'यशवन्तयशोभूषण' में "स्वभावोक्ति" के उदाहरण में है :—

"न स्नाति न गृहं याति, नायकासक्तमानसा।
विशन्तीव परावृत्ता चकिताऽऽपो न गाहते।।"

चउअन

चितई ललचौंहें चखनि

[नायक नायिका कहीं रास्ते में आते जाते मिल गये हैं। नायिका ने घूंघट की ओट में से डटकर, अच्छी तरह निगाह जमाकर, ललचाई हुई आँखों से, नायक को देखा। फिर वह छबीली नायिका बहाने से, थोड़ी देर तक अपनी छाँह प्रियतम की छाँह से छुवाती हुई, चल दी। —स०]

(५४)

चितई ललचौंहें चखनि डटि घूंघट पट माहिं।
छल सौं चली छुवाय कै छनक छबीली छाहिं।।

(नायक का वचन सखी से)—

अर्थ—(घूंघट पट माहिँ डटि *)—घूंघट की ओट में से डट कर—अच्छी तरह निगाह जमाकर, (ललचौंहें चखनि छितई)—ललचाई हुई आँखों से देखा। (छबीली)—छबीली नायिका, (छल सों छनक छाहिं छुवाय कै चली)—बहाने से थोड़ी देर तक अपनी छांह छुवाती हुई चली !

नायक नायिका कहीं रास्ते में आते जाते मिल गये हैं। और "अमिल संग साथ" है। मिलने भेटने का मौक़ा नहीं है, तो भी क्रियाविदग्धा नायिका ने घूंघट की ओट में ललचौहीं आँखें लड़ा दीं ! देखने का कार्य तो सिद्ध हो गया, आँखें आपस में मिल लीं। रहा, अङ्गालिङ्गन ! सो एक ढंग से छाँह पर छाँह डाल कर यह इच्छा भी पूरी कर ली ! 'बिम्ब' न मिल सके, 'प्रतिबिम्ब' ही मिल लिये !

छांह छुवाने का यह भाव भी है कि मुझे अपनी छांह की तरह समझो, जुदा मत जानो। अथवा हमारा—'मन' तुम्हारे तन से छाया के समान लग रहा है।

नायिका के क्रियानुभाव और नायक के वचनानुभाव से अभिलाष सञ्चारी।

"क्रियाविदग्धा—और "वचनविदग्धा" नायिका" :—

"वचन क्रिया में चातुरी करै जु प्रीतम हेत।
ताहि विदग्धा कहत हैं वचनरु क्रिया समेत।।"

अलङ्कार—'स्वभावोक्ति'। 'सूक्ष्म'। 'कारक दीपक'। 'वृत्यनुप्रास'।

* "डटि कै"—अट करि कै—हमैं लच्छित करिकै। (हरिप्रकाश)

पचपन

गोरस चाहत फिरत हौ

[दान लीला में गोपी कृष्ण से कह रही हैं कि जरा लज्जा ग्रहण करो, शरमाओ। बेकाज हमें क्यों घेर रहे हो ? हटो हम घर जातीं हैं। तुम गो (इन्द्रियों) का रस, देखने का रस या बतरस, चाहते फिरते हो; गोरस दूध-दही या मक्खन तुम नहीं चाहते। —स०]

परापवाद-शंकिता-वर्णन

(५५)

लाज गहौ बेकाज कत घेर रहे घर जाहिँ।
गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिँ॥

(दान-लीला * में गोपी का वचन कृष्ण से)—

अर्थ—(लाज गहो)—लज्जा ग्रहण करो, शरमाओ (बेकाज कत घेर रहे !) बेकाज क्यों घेर रहे हो ? हटो (घर जाहि)—हम घर जाती हैं। (गोरस चाहत फिरत हो)—तुम 'गोरस'—नेत्ररस—(देखना) या बाणीरस—'बतरस'— चाहते फिरते हो, गोरस—दूध, दही या मक्खन—नहीं चाहते !

किसी गोपी को 'दान' के लिये श्रीकृष्ण घेरे खडे हैं, वह एक बार दान दे चुकी है, फिर माँगते हैं, या कम बताकर और माँगते हैं, वह कहती है कि तुम्हें लाज नहीं आती ! एक बार ले चुके फिर माँगते हो ! क्यों व्यर्थ घेरे खड़े हो, परे हटो, घर जाने दो। तुम "गोरस"— दही मक्खन—थोड़े ही चाहते हो, तुम्हें तो गोरस— इन्द्रियों के रस का चसका है !

अलंकार—"पर्यायोक्ति"। पूर्वार्द्ध" में 'अनुप्रास'— उत्तरार्द्ध में 'गोरस-गोरस' यमक।

"न्यारे न्यारे अर्थ पद इकसे "यमक" बखान।
'गोरस' पद द्वै भिन ग्ररथ बाणीरस-दधि जान॥"
(अमरचन्द्रिका)

हरिकवि ने इसे नायक के प्रति स्वयं दूती की उक्ति में भी लगाया है। यथा—

लाज गहो' तुम स्त्री के मन की बात नहीं जानत हो, या तें अनभिज्ञता की लाज गहो (अपनी अनभिज्ञता पर कुछ तो लज्जित हो !) फेरि कछु प्रकट करि कहै— 'बेकाज कत घेर रहे ? जो कुछ तुम्हें कर्त्तव्य होय सो करो, अर्थात् हमें बनमें ले चलो। या ठौर में हमें रोको हो, कोई देखे तो "घर जाहि" घर जातो रहैगो, घर हमसे छूटि है। तुम गोरस—दूध दही चाहते फिरत हो, गोरस इन्द्रियन को रस नहीं चाहत हो। जो इन्द्रियन को रस चाहत हो तो मिलो, यह ध्वनि। जामें ध्वनि होय सो उत्तम काव्य।"
(हरिप्रकाश)

इस विषय पर एक सुन्दर 'सवैया' सुजान "रसखान" का भी सुनने योग्य है :—

"छीर जो चाहत चीर गहै ए जू !
लेहु न केतक छीर अचैहो,
चाखन के मिस माखन मांगत
खाहु न माखन केतक खैहो।
जानत हौं जिय की 'रसखानि'
सु काहै को एतिक बात बढ़ैहो,
गोरस के मिस जो रस चाहत
सो रस कान्हजू ! नेकु न पैहो॥"

* "दानलीला"—'दान' का अर्थ यहाँ सम्प्रदान कारक वाला 'दान' नहीं है, किन्तु दान टैक्स (Tax) चुंगी के महसूल या राजकीय कर का नाम है। पहले समय में जो लोग इस काम पर नियुक्त होते थे, वे 'दानी' कहलाते थे। राजपूताने की ओर अब तक कुछ लोगों की यह संज्ञा चली आती है।

छप्पन

वाहि तन ठहराति यह

[बहुत से आदमियों की भीड़ में नायिका नायक को देख रही है। सब की तरफ ज़रा देर सामने होती है, फिर सबको पीठ देकर चल देती है। क़िबलेनुमा की सुई जिस तरह, चाहे जिधर उसका मुँह फेरो, पश्चिम की ओर चुम्बक के पास ही आकर रुकती है, उसी तरह नायिका की यह दृष्टि उसी नायक की ओर आकर विश्राम पाती है। —स०]

(५६)

सबही तन समुहाति छन चलति सबनि दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा लौं दीठि॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ:—(सब हीं तन, छन समुहाति)—सब की तरफ ज़रा देर सामने होती है, (सबनि पीठि दै चलति) —फिर सबको पीठ देकर चल देती है। (किबलनुमा लौं) —क़िबलेनुमा की तरह (यह दीठि)—यह दृष्टि (वाही तन ठहराति)—उसी की ओर ठहरती है।

बहुत से आदमियों की भीड़ में— नायिका, नायक को देख रही है, या वह इसे देख रहा है, नज़र जमाकर एक टक देखने से प्रेम का भेद न खुल जाय, इसलिये बीच बीच में इधर उधर भी उड़ती निगाह—ग़लत अन्दाज नज़र— डाल ली जाती है, पर और जगह निगाह जमती नहीं, ठहरती है वहीं आकर्षक-प्रेमपात्र पर आकर। किबलेनुमा की सुई का मुंह घुमाकर चाहे जिधर फेरो, पर वह रुकता है पश्चिम की ओर चुम्बक के पास ही आकर।

बड़ी ही अद्भुत उपमा है, सचमुच ही "पूर्णोपमा" है। "दीठि" (दृष्टि) उपमेय। "क़िबलानुमा" उपमान। 'लौं' वाचक। 'समुहाना' धर्म।

"दीठि जान उपमेय है, 'किबलनुमा' उपमान।
"लौं वाचक 'समुहनि' धरम, पूरन उपमा जान।"
(अमरचन्द्रिका)

विहारी की इस "किबलानुमा" की उपमा को "रतनहजारा" के कर्त्ता "रसनिधि * ने भी लिया है। यथा—

"अपनी सौ इन पै जितौ लाज चलावत जोर।
कबलनुमा लौं दृग रहैं निरखि मीत की ओर॥५५२॥

—परन्तु विहारी के दोहे में और इसमें उतना ही फ़र्क़ है जितना असली और नक़ली में होता है।

---

* 'रसनिधि' सेहुडा—(दतिया) के राजा थे। बड़े भक्तजन और कवि थे। इनका रतन हजारा बहुत अच्छा ग्रन्थ है। सतसई के ढंग पर इसमें एक हज़ार दोहे हैं। सुना है उनका बनाया एक बहुत बड़ा ग्रन्थ "रसनिधि-सागर" भी है।

'रतनहजारा' में और शृंगारसप्तशती में, विहारी-सतसई के अनेक दोहों की इसी प्रकार नक़ल है, जो यथा-स्थान उद्धृत करके दिखाये जायँगे। विहारी ने भी संस्कृत पद्यों की कहीं कहीं छाया ली है; पर उन्होंने उस छाया को अपने प्रतिभा-प्रकाश से ऐसा चमकाया है कि उसके प्रकाश के आगे 'आदर्श पद्य' कहीं कहीं 'छाया' प्रतीत होने लगे हैं। उनके दोहे प्रायः आदर्श पद्यों से आगे बढ़ गये हैं। जहां कहीं आगे नहीं बढ़े तो पीछे भी नहीं रहे, परन्तु विहारी के दोहों का हिन्दी के जिस कवि ने भी अनुकरण किया है, वह उनसे आगे तो क्या, बराबरी को भी नहीं पहुंच सका। इसका परिचय कई जगह मिलेगा। अस्तु।

इस दोहे के भाव से मिलती हुई गोवर्धनाचार्य्य की एक 'आर्या' है :—

"त्वय्येवासक्तास्ति सेति सखी नाकं वक्ति—"

"एकैकशो युवजनं बिलङ्घमानाऽक्षनिकरमिव तरला।
विश्राम्यति सुभग! त्वामङ्गुलिरासाद्य मेरुमिव ॥१४४॥

— हे सुभग! वह नायिका एक एक युवजन को लांघती– छोड़ती– हुई तुझी पर आकर ठहरती है, जैसे जप करते समय उंगली माला के सब दानों पर से उतरती हुई सुमेरु पर— माला के बड़े दाने पर— जाकर रुक जाती है!

—"मेरोरुल्लंघनं न कार्य्यमिति जापकसम्प्रदायः।"

—जप करते सतय सुमेरु के दाने का उल्लंघन न करना चाहिये, अर्थात् सुमेरु के आगे उँगली न बढ़ानी चाहिये, वहीं रोक देनी चाहिये, ऐसा नियम है।

मेरुमणिका का उल्लङ्घन, चाहें 'जापकसम्प्रदाय' को न जानने या न मानने वाली कोई उंगली कर भी जाय, पर 'क़िब्लानुमा" की सुई अपनी आकर्षणी दिशा को छोड़कर कहीं और नहीं ठहर सकती!

दोहे और इस आर्य्या के भाव में बहुत साम्य है। पर विहारी ने "क़िबलानुमा" की नई और फड़कती हुई उपमा देकर दोहे में एक नवीनता और चमत्कृति उत्पन्न कर दी है!

"क़िबलानुमा"—

—एक दिक्‌सूचक यंत्र होता है। उसे "कुतुबनुमा" भी कहते हैं। "क़िबलानुमा" का अर्थ है–क़िबले को दिखाने वाला। मुसलमान लोग क़िबले की ओर–(जो पश्चिम में है —मुंह करके नमाज पढ़ते हैं। क़िबले की दिशा मालूम करने के लिये इस यन्त्र को काम में लाते हैं। जिस यन्त्र में सुई का सिर क़ुतुब–(उत्तरध्रुव) की ओर रहे, उसे "क़ुतुबनुमा" (ध्रुव-दर्शक) कहते हैं। 'क़िबलानुमा' में सुई की जगह प्रायः एक लोहे की चिड़िया † लगी रहती है, जैसा कि 'हरि कवि' और 'लल्लूलाल जी' ने लिखा है और जैसा उर्दू के महाकवि "सौदा" और 'मीरदर्द' के इन अनुपम पद्यों में (शेरों में) वर्णन है:—

'नावक ने तेरे सैद न छोड़ा ज़माने में।
तड़पे है मुर्ग़–क़िबलानुमा आशियाने में॥"
(सौदा)

—तेरे 'नावक'—वाण—ने संसार में कोई "सैद" –शिकार, लक्ष्य— नहीं छोड़ा (सबको तीरे– नज़र –नयन-वाण– से बींधकर रख दिया!) यहाँ तक कि "क़िबलानुमा" की चिड़िया भी डिबिया के घोंसले में पड़ी तड़प रही है!

—किसी धनुर्धारी शिकारी की प्रशंसा में भी इसे समझ सकते हैं।

"क्या कम हैं मुर्ग़–क़िबलानुमा से य मुर्ग़े दिल।
सिजदा उधर ही कीजिए जीधर ये मुँह करे॥"
(दर्द)

† "किबलनुमा—कहे हैं एक लोहे का पक्षी, डिबिया के [या] अंगूठी में होता है। उसे जिधर चाहो, तिधर फेरो, पर वह ठहरता है पश्चिम ही के सन्मुख।" (लाल चन्द्रिका)

"कांबलनुमा – लोहे की पूतरी, अंगूठी में रहति है। पच्छिम की खानि (ओर) को चुम्बक वामें लग्यो रहत है। कोई तरफ पूतरी को फेरे तोभी पच्छिम तरफ कों वाको सिर रहे।" (हरि प्रकाश)

सत्तावन

फिरै दीठि जुरि दीठि सौं

[नायिका की दृष्टि बड़ी भीड़ को भी फाड़ कर, चाहे जिधर से भी होकर इधर नायक की ओर आकर, सबकी दृष्टि बचाकर उसकी दृष्टि से आ मिलती है; फिर लौट जाती है। —स०]

(५७)

खरी भीर हू भेदि कै कित हू ह्वै इत आय।
फिरै दीठि जुरि दीठि सौं सब की दीठि बचाय॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ—(खरी भीरहू भेदिकै)—बड़ी भीड़ को भी फाड़कर (कित हू ह्वै)—किधर से भी होकर—निकलकर— (इत आय)—इधर—यहां नायक की ओर—आकर, (सबकी दीठि बचाय)—सबकी दृष्टि बचाकर, (दीठि) - नायिका की दृष्टि (दीठि सौं जुरि फिरै)—नायक की दृष्टि से जुड़कर—मिल भेटकर—फिरती है।

सबकी दृष्टि बचाती और जहां से रास्ता मिला—सीधा या चक्कर से—भारी भीड़ को चीरती फाड़ती हुई, नायिका की दृष्टि नायक की दृष्टि से आ मिलती है, और फिर लौट जाती है। सारी भीड़ को चीरकर, सबकी नजर बचाकर, अपने लक्ष्य पर आ लगना और फिर साफ़ लौट जाना— किसी को मालूम तक न होना—बड़ी बहादुरी और सफ़ाई का काम है!

क्रियाविदग्धा परकीया नायिका। कटाक्षविक्षेप, अनुभाव से अनुराग व्यङ्ग्य। अलंकार— "विभावना"। और 'दीठि' पद से 'लाटानुप्रास'—

"काज होत प्रतिबन्ध जहँ प्रतिछ विभावन सोय।
भीर बाधक ही प्रतछ हूँ दरस काज सिध होय॥"
(अमरचन्द्रिका)

'रसिकेस' कवि ने इस दोहे के भाव को इस सवैये के सांचे में ढाला है—

"भेदिकै भीर इती कित ह्वै कै
सु आवत जात न रंच लखावै,
आंख ये आंखन से मिलिकै
जन लाखन की चहुँ आंख दुरावै।
ह्वै है कहा चतुराई घनी 'रसिकेस'
दुहूँ मन मोद बढ़ावै।
दीठि सों दीठि जुरी ही फिरे
सब ही की बसीठि लौं दीठि बचावै॥"

अट्ठावन

भरे भौन में करत हैं

[आदमियों से भरे हुये मकान में नायक नायिका जबान का काम आँखों के इशारे से ले रहे हैं। नायक संकेत-स्थल में चलने के लिए आँखों के इशारे से कहती है। नायिका आँखों के इशारे से ही मना करती है। वह मना करने की अदा (भाव) पर आँखों में ही प्रसन्न होता है। इस पर वह खोजती है, नाराज़ होती है। इशारे कोई ताड़ न जाय। फिर आँखें मिलती हैं, नायिका लज्जित होती है, इस प्रकार आदमियों से भरे हुए उस मकान में वे दोनों नेत्रों में ही सब बात कर लेते हैं। —स०]

(५८)

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननि हीं सब बात॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ—(कहत)—कहते हैं, (नटत —नटते हैं,—मना करते हैं, (रीझत)—रीझते—प्रसन्न होते हैं, (खिजत) खिजते—नाराज़ होते हैं, (मिलत) मिलते हैं, (खिलत) खुशी से खिलते—फूलते—हैं और (लजियात)—लजाते—शरमाते हैं—इस प्रकार (भरे भौन में)—आदमियों से—भरे हुए मकान में, (नैनन हीं सब बात करत हैं)—नेत्रों ही में सब बातें करते हैं।

मकान आदमियों से भरा हुआ है, बातचीत करने का मौक़ा नहीं है, इसलिए नायक नायिका ज़बान का काम आंखों के इशारों से ले रहे हैं। नायक संकेत-स्थल में चलने के लिए आंख के इशारे से कहता है। नायिका मना करती है। वह मना करने की अदा (भाव) को देखकर प्रसन्न होता है, इस पर वह कुछ नाराज होती है, कि कोई इस इशारेबाजी को ताड़ न जाय। फिर आंखें चार होती हैं, और नायिका लज्जित हो जाती है।

अलंकार—तीसरी विभावना, प्रतिबन्धक भीड़ के होते भी बेमालूम बातें हो गयीं!

"भरयौ भौन बाधक तऊ काज होत सुख बात।"
(अमरचन्द्रिका)

या चौथी विभावना —अकारण—(बात करने का 'कारण' साधन—वाणी है आंख नहीं) आंखों से बातें हो गयीं।

पूवार्द्ध में कारक दीपक। तकार से 'वृत्त्यनुप्रास'।

संस्कृत "यशवन्त-यशोभूषण" में इस दोहे का, यह अनुवाद उसके "प्रतीपालंकार" के उदाहरण में है:—

"भ्रूतो निषेधतश्चैव तुष्यतः कुप्यतस्तथा।
नयनैरेव कुरुतो वार्तां तौ दम्पती रसात्॥"

उनसठ

दीठि बरत बाँधी अटनि

[नायक नायिका आमने सामने अटारियों पर चढ़े एक दूसरे को देख रहे हैं। उन्होंने अपनी दृष्टि रूपी रस्सी अटारियों पर बाँध दी है। दोनों के चित्त, नट की तरह, दोनों ओर से, उस दृष्टि रूपी रस्सी पर चढ़ कर, आ जा रहे हैं। वे डरते नहीं हैं। —स०]

(५९)

दीठि बरत बांधी अटनि चढ़ि आवत न डरात।
इत उततैं चित दुहिनि के नट लौं आवत जात॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(दीठि बरत)— दृष्टि रूप बरत— रस्सी, (अटनि बांधी) अटारियों पर बांधी है (चढ़ि आवत, न डरात)— उसपर चढ़कर आते हैं, डरते नहीं। (दुहुनि के चित)— दोनों के चित्त (इत उततें —उधर से उधर से— दोनों ओर से— (नट लौं आवत जात)— नटकी तरह आते जाते हैं।

नायक नायिका आमने सामने अटारियों पर चढ़े एक दूसरे को देख रहे हैं। इसकी उपमा कवि, "रस्सी पर चढ़ कर नटके चलने" से देता है। नट, एक लम्बी बरत (वरत्रा) वृक्षों में या ऊँचे बाँसों में बाँधकर उस पर चलते हैं — इस तरह कि एक नट इधर से जाता है एक उधर से आता है! और बेखटके दोनों साफ़ निकले चले जाते हैं! यहाँ दोहे में — दोनों की दृष्टि ही एक बरत है, जिस पर दो नटों की तरह दोनों के, चित्त (मन) इधर उधर से आते जाते हैं। नट अपने अभ्यास-बल से गिरने से नहीं डरते। इन्हें भी अपनी मस्ती में इस बात का डर नहीं, कि इस दशा में कोई देख लेगा तो क्या होगा!

आश्चर्य्य सञ्चारी भाव। अलंकार :— दीठि-बरत में 'रूपक'। 'पूर्णोपमा'—'मन' उपमेय। 'नट' उपमान। 'लौं' वाचक। 'आना जाना' साधारण धर्म।

'अमरचन्द्रिका' में इस दोहे पर यह प्रश्नोत्तर है :—
प्रश्न—"नट आवत फिरि जात नहिं जात सु बनत न बात।
उत्तर—सनै सनै आवत सु तिहि कहै सु आवत जात॥

"चित नट लौं आवत। पूर्णोपमा। हरै हरै आवतो जाय है।"

अर्थात्— यहाँ जो नट का 'आना जाना' कहा है, वह नहीं बनता। क्योंकि नट आ तो सकता है पर उलटा फिर नहीं सकता। इसलिये 'आवत जात' का अर्थ है "शनैः शनैः—हौले हौले— आता है।"

इस पर 'रसचन्द्रिका' में लिखा है—

—"जो अच्छे नट होइ हैं, ते आवते भी हैं और पिछले पांइन जाते भी हैं।"

और फिर यहां तो एक नहीं दो नट हैं—'चित दुहुनि के" से स्पष्ट है कि दो नटों की तरह दोनों के चित्त 'इत उत' हैं !

यदि दृष्टि की बरत के समान— (दोनों की दृष्टि ही एक बरत है) दोनों का चित्त भी कवि को एक ही कहना अभिप्रेत होता, तो 'दुहुनि के' की जगह 'दुहुनि का' पाठ होता। दो नट एक ही साथ आमने सामने से एक बरत पर, शनैः शनैः नहीं अच्छी तरह झपटकर चलें और न डरें, न गिरें, तब तो आश्चर्य्य और प्रशंसा की बात है। हौले हौले एक ही नट सिर्फ़ एक ओर ही जा सके तो इसमें कुछ नट की तारीफ नहीं। 'रसचन्द्रिका' का कथन बिलकुल ठीक है कि 'जो अच्छे नट होते हैं वे आते भी हैं और पिछले पाँव लौट भी जाते हैं"—विहारी भी ऐसे ही सुनिपुण मन चले (साक्षात् मनरूपी !) नटों का वर्णन करते हैं। हौले हौले 'जू" की तरह रींगने वाले डरपोक रही नटों का नहीं !

इस दोहे का अनुवाद 'यशवन्तयशोभूषण' में 'प्रत्यनीक' अलंकार के उदाहरण में यह है :—

"परस्परालोकनरज्जुरेषा ह्यट्टान्तराद्वट्टभुवि प्रबद्धा।
गतागतं निर्भयमत्र यूनोर्नटौ विधत्तो मनसी नितान्तम् ॥"

साठ

बैठी ब्यौरति बार

[नायिका स्नान कर बाल सँवारने बैठी है, कंघी कर रही है। सामने ही कहीं नन्द किशोर जी भी विराजमान हैं। वह कमल-नयना नारी स्नान किए बैठी बाल सुलझा रही है और बालों और उंगलियों के बीच में से दृष्टि डालकर, नन्द कुमार श्री कृष्ण को देखती जा रही है। —स०]

(६०)

कंजनयनि मंजन किये बैठी ब्यौरति बार।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै चितवति नन्द कुमार ॥

(सखी का वचन सखी से)

अर्थ—(कजनयनि)—कमलनयनी नारी, (मंजन किये, बैठि बार ब्यौरति)—मंजन—स्नान—किये बैठी बाल (केश) सुलझा रही है (कच अँगुरिन बिच, दीठि दै) बालों और उगलियों से बीच में दृष्टि देकर (नन्दकुमार चितवति *)—नन्दकुमार—श्री कृष्ण को देख रही है।

नायिका स्नान कर बाल संवारने बैठी है, कंघी कर रही है। सामने ही नन्दकिशोर जी भी विराजमान हैं, सो उंगली और बालों के बीच नजर डाले उन्हें देख रही है। यहाँ बाल सुलझ रहे हैं, वहाँ नयन उलझ रहे हैं। बाल सँवारने के बहाने उन्हें देख रही है। इससे "पर्यायोक्ति" साफ़ ही है।

* 'निरखति नन्द कुमार"—किंवा नायिका नायक सो कहति है, हे कुमार ! कच अंगुरिन बिच दीठि देकें हमारी 'नन्द' जो है नँनद सो देखति है। किंवा—नायिका वचन सखी सों—हमारी जो नन्द (ननद) सो कुमार को निरखति है।" (हरि प्रकाश)

प्रताप चन्द्रिका के मत से 'कंजनयनि' में "धर्म वाचक लुप्तोपमा" है। कंज उपमान। नतन उपमेय। वाचक और धर्म' नदारन ! "स्वभावोक्ति" भी स्पष्ट है।

इसी भाव की एक आर्या "आर्या-सप्तशती" में है। यथा:—

"काचित् कञ्चिद् वक्ति"—
'चिकुर विसारण-तिर्यङ्नत-कण्ठी,
विमुख-वृत्तिरपि बाला
त्वामियमंगुलि- कल्पित-
कचावकाशा विलोकयति ॥ २३१ ॥"

कोई सखी किसी नायक से कहती है कि—बाल सँवारने में गरदन को तिरछी झुकाए, पीट फेरे हुए भी, उंगलियों और बालों के बीच में देखने की जगह बनाकर यह तुम्हें देख रही है !

कितना सादृश्य है !— "चिकुर-विसारण" (केश-परिष्करण) "ज्यौंरति बार" अङ्गुलि कल्पित-कचावकाशा और 'कच अँगुरिन बिच दीठि दै' 'विलोकयति' और 'चितवति' दोनों जगह एक हैं !

इसी आर्या की छाया पर इस दोहे की रचना हुई है तो भी "नन्द कुमार" की कृपा से बिहारी इस मैदान में गोवर्धन से पीछे नहीं रहे, बल्कि माधुर्य में कुछ आगे बढ़ गये हैं ! पढ़ने वाले की ज़बान और सुनने वाले के कान इसमें साक्षी हैं !

—:o:—

इकसठ

रुके न झीने चीर

[बारीक वस्त्र के घूंघट में नायिका के नेत्र रुके नहीं। वे झपट कर नायक के नेत्रों से आकर ऐसे भिड़ गए, जैसे अगली फौज निर्बल और थोड़ी होने पर सेना के मध्य स्थित प्रधान भाग पर जिसे गोल कहते हैं, भारी विपत्ति आ पड़े। —स०]

(६१)

जुरे दुहुनि के दृग झमकि रुके न झीने चीर।
हल की फौज हरौल ज्यौं परत गोल पर भीर॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ—(दुहुनि के दृग)—दोनों के नेत्र (झमकि जुरे)—झपटकर जल्दी से—आपस में भिड़ गये ! (झीने चीर न रुके)—बारीक वस्त्र के घूंघट में न रुके। (ज्यौं हल की हरौल *)—जैसे अगली फ़ौज निर्बल और थोड़ी होने पर (गोल † पर भीर परत)—गोल—सेना के मध्य-स्थित प्रधान भाग पर — भीड़ (विपत्ति) पड़ती है !

---

* हरौल या हरावल, सेना के उस भाग को कहते हैं जो सब में आगे रहता है। अंग्रेजी में शायद इसी का रूपान्तर Herald है !

† "गोल की फौज जो है बड़ी फौज" (हरि प्रकाश)

नायिका बारीक चीर से मुँह ढके है, सामने नायक डटे हैं। चीर को चीर कर दोनों के नेत्र-भट आपस में भिड़ गये हैं। इस घटना को कवि ने दो सेनाओं के भिड़ने का दृष्टान्त देकर कविता का रूप दिया है।

अलंकार—'दृष्टान्त'। हल की हरौल में 'छेकानुप्रास'। लकार की आवृत्ति से "वृत्यनुप्रास" है।

"चेद्बिम्ब-प्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः। (कुवलयानन्द)
"जहाँ एक बात में एक बात की छाया परै —
"भाव बिम्ब प्रतिबिम्ब को दृष्टान्त सुनेहै नाम।"
(हरि प्रकाश)

जहाँ उपमान और उपमेय के भिन्न भाव, बिम्ब-भाव से दिखलाई दें, वह "दृष्टान्त" अलंकार है। जैसे यहाँ 'उपमेय' नेत्रों के मिलने और 'उपमान' सेना के भिड़ने के भिन्न भावों का परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

"भाव बिम्ब प्रतिबिम्ब को दृष्टान्त सुकवि धीर।
मिले सुदृग, दृष्टान्त ज्यौं परति गोल पर भीर॥"

इस दोहे पर अमर चन्द्रिका में कोई दस दोहों में प्रश्नोत्तर है, जिसका संक्षेप यह है :—

प्रश्न—"नायिका की ओर तो चीर की 'हरौल' है, पर नायक के पास कौन हरौल है ! अर्थात् नायक के नेत्र-भट नायिका के चीर रूप 'हरौल' को हटाकर जा मिले, पर नायिका के नेत्र-भटों ने दूसरी ओर की किस हरौल को हराकर गोल—(नायक के नेत्र रूप मुख्य सेना-भाग) —पर धावा किया ? नायिका की नेत्र-सेना अपनी हरौल (चीर) को स्वय तो हटावेगी नहीं, कोई सेना अपनी हरौल को स्वयं आगे से हटाकर या रोक कर नहीं बढ़ती, इसलिए दूसरी ओर भी एक 'हरौल' होनी चाहिये। एक ओर की 'हरौल' दोनों ओर की 'हरौल' नहीं हो सकती।"

उत्तर—'दोनों ओर "हरौल" हो, यह कोई नियम नहीं है। बड़ी बादशाही फ़ौज के आगे 'हरौल' रहती है, लुटेरे क़ज्ज़ाकों की सेना के आगे "हरौल" नहीं रहती। सो यहाँ पट रूप 'हरौल' के पीछे, नायिका के नेत्र 'गोल' —(या गोल में रक्षित बादशाह) है, उस पर नायक के लुटेरे नेत्र धावा बोलकर—चीर की हरौल को हटाकर—टूट पड़े हैं ! चीर 'हलका'—बारीक—होने से 'हलकी हरौल' थी, वह नायक के सुभट नेत्रों के आक्रमण को न रोक सकी, इसलिये नायिका के नेत्र रूप 'गोल' पर भीड़ आ पड़ी। वह भी उधर से जी तोड़ कर भिड़ गये !"— *

* "नायिका की ओर घूंघट हरौल है, नायक की ओर हरौल कौन ? —नायिका की आंखि पादशाही फौज। नायक के नेत्र दखिनी जानिये, (दक्षिणी फ़ौज में) हरौल की रीति नहीं।" (हरिप्रकाश)

"हेत यह है कि झीना चीर, जो हलकी फौज थी हरौल की, सो नायक के दृग जो "कजाक" थे सो झीने चीर में न रुके। झमककर भीतर आये, और नायिका के दृग जो गोल की जगह थे तिनपर भीर परी, सो वे भी झमककै जुर गये।" "और झीने चीर को हरौल की उपमा इस वास्ते दीनी कि सुभाय (!) बना था !" (रसचन्द्रिका)

बासठ

आंखि वहीं चलि जाहिं

[यह नेत्रों की लड़ाई का दूसरा दृश्य है। नायक की आँखें नायिका की ओर और नायिका की आँखें नायक की ओर रणशूर के समान उठकर दृढ़ता से पहुंचती हैं। सब मिल कर भी उन्हें रोक नहीं पाते। लाखों की भीड़ में वे आँखें वहीं चलीं जातीं हैं। —स०]

(६२)

पहुँचति डटि रन सुभट लौं रोकि सकैं सब नाहिं।
लाखनिहूँ की भीर में आंखि वहीं चलि जाहिं॥

(सखी की सखी से उक्ति *)—

अर्थ :—(रन सुभट लौं)—रणशूर के समान (डटि पहुँचति)—डटकर— दृढ़ता से पहुंचती हैं, सब नाहिं रोकि सकैं)— सब (मिलकर भी) नहीं रोक सकते, (लाखनि हूँ की भीर में) लाखों की भीड़ में (आंखि वहीं चल जाहिं)— आंखें वहीं— (नायक की आंखें नायिका की ओर, और नायिका की आंखें नायक की ओर) —चली जाती हैं!

यह नेत्रों की लड़ाई का दूसरा दृश्य है। यहाँ हरोल की हद नहीं है, दोनों ओर खुला मैदान मालूम होता है। दो रणमाते सूरमाओं का बराबर का जोड़ है, जो लाखों दर्शकों की भीड़ को चीरते फाड़ते खम ठोकते बराबर बढ़े आ रहे हैं। किसकी शक्ति है जो इन्हें रास्ते में जरा भी रोक सके! यह लो, आपस में भिड़ तो गये! भाई वाह! पूरे सूरमा है! फिर "पूर्णोपमा" का अलंकार इन्हें दर्शकों की ओर से पुरस्कार में क्यों न मिले! मैदान बराबर का रहा!

१—अलकार "पूर्णोपमा"। रणसुभट— उपमान। आंख—उपमेय। लौं-वाचक। पहुंचना—साधारण धर्म।

२—"विभावना"— प्रतिबन्धक— भीड़ रहते भी पहुंचना— कार्य हो गया।

३—"विशेषोक्ति"—भीड़, रोकने का पुष्कल कारण है, पर रुकना कार्य नहीं हुआ।

४—आंख वहीं चलकर पहुँचती हैं, और जगह नहीं, इससे "परिसङ्ख्या" (प्रताप-मते)

'सुभट सकैं' से "छेकानुप्रास" भी।

* "उक्ति नायक की कै नायिका की। पूर्वानुराग, औत्सुक्य सञ्चारी। बचन अनुभाव।" (प्रताप चन्द्रिका)

तिरेसठ

दृगनि लगनियाँ लाय

[नायिका खींचती हुई सी चितवन से देखकर, अँगड़ाती हुई, अलसाने की अदा से, सखी या दीवार की ओट हो गई। उस मृगनयनी द्वारा इस प्रकार से फिर देखे जाने की लगन उसने नायक की आँखों को लगा दी। —स०]

(६३)

ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अरसाय।
फिर उझकनि कौ मृगनयनि दृगनि लगनियाँ लाय॥

(नायक का वचन सखी से)—

अर्थ :—(ऐंचति सी, चितवनि, चितै) खींचती हुई सी चितवन— दृष्टि से देखकर, (अरसाय ओट भई)— ऐंडती अँगड़ाती हुई अलसाने की अदा — (अनुभाव) से (ओट भई'— सखी की या दीवार की आड़ में गई। (मृगनयनि *)—नायिका ने (फिर उझकनिकौ)— फिर झाँकने या उचककर देखने का (दृगनि लगनियाँ लाय)— आँखों को झाँसा दे दिया, या लाग लगा दी। मृगनयनी आँखों को इस प्रकार देखने का झाँसा देकर ओट हो गई!

—इस नज़र से देखा कि देखने वालों को खींच लिया! और इस अदा से देखा कि वह फिर उस 'देखने' को देखने की आशा लगाये है। फिर देखने की टोह में उधर खड़ा देख रहा है कि ओट से निकल कर, फिर उसी चितवन से देखेगी।

नायिका परकीया। अभिलाषा, शङ्का, सञ्चारी भाव। अलसाना—अनुभाव।

अलङ्कार—"अनुमान" (अमरचन्द्रिका के मत में) यथा:—

"मौ चितवन कौं ऐंचि लिय, जानी चाहति मोहि।
यातें फिर वह झाँकि है 'अनुमान' सु यह टोहि॥"

—अर्थात् उसने मेरी आँखों को खींच लिया है, मुझे आसक्ति पूर्वक देखा है, इससे जाना कि वह मुझे चाहती है, इससे फिर भी झांकेगी—यह 'अनुमान' है।

हरिकवि के मत में, यहां ऐंचति' क्रिया के आगे 'सी' वाचक है, इससे 'उत्प्रेक्षा'। 'मृगनयनी' यहां 'लुप्तोपमा'। —प्रताप के मत में रूपक' और 'कारक दीपक' भी है।

* "नायिका अपनी हकीकत कहै तो 'मृगनयनी' सखी का सम्बोधन है," (हरि प्रकाश)

चौंसठ

बतरस हँसी विनोद

[नायक नायिका दोनों दूर खड़े हैं पर वे समीप का ग्रानन्द मन में मान रहे हैं। ग्राँखों ही ग्राँखों में दोनों को, बातों का मज़ा ग्रा रहा है। हँसी मज़ाक सब कुछ हो रहा है। —स०]

(६४)

दूरौ खरे समीप कौ मान लेत मन मोद।
होत दुहुनि के दृगन हीं बतरस हँसी विनोद॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थः—(दूरौ खरे)—दूर खड़े हुए भी, (समीप को मोद, मन मान लेत)—समीप का आनन्द मन में मान रहे हैं। अथवा दूर हैं तो भी "खरे समीप"—ग्रति सामीप्य का ग्रानन्द मना रहे हैं। (दृगन हीं)—आंखों ही में (दुहुनि के)—दोनों के, (बतरस, हँसी, विनोद होत)—बातों का मज़ा, हँसी मज़ाक, सब कुछ हो रहा है !

नायिका परकीया। दोनों को हर्ष सञ्चारी भाव। कटाक्ष विक्षेप—अनुभाव।

दोनों दूर खड़े हैं, पर आंखों की कृपा से मानो पास बैठे हुए बातों का मज़ा ले रहे और हँसी मज़ाक़ कर रहे हैं !

अलङ्कार—'विभावना"। दूर खड़े हैं पर पास का मज़ा ले रहे हैं !

(प्रताप चन्द्रिका के मत में) "विभावना और 'दीपक' की संसृष्टि"। तद्यथा—

"दृग हँसी—उपमेय, बतरस हँसी— उपमान, विनोद एक पद, याही को (एक पद को) धर्म कहे हैं।"

"उपमानरु उपमेय सों इक पद लागै जाय।
ता सौं "दीपक" कहत हैं सकल सुकवि समुदाय॥"

तथा 'होत' एक क्रिया से "तुल्ययोगिता" है।

पैंसठ

चलति चहूं दिसि सैन

[दोनों का प्रेम प्रकट हो जाने के कारण यद्यपि निन्दा से सने हुए इशारे चारों ओर से चल रहे हैं फिर भी इन दोनों के रसीले नैन हँसी नहीं छोड़ते। —सं०]

(६५)

जदपि चवायनि चीकनी चलति चहूँ दिस सैन।
तदपि न छांड़त दुहूनि के हँसी रसीले नैन॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ—(जदपि चवायनि चीकनी) यद्यपि चवाव से चिकनी—निंदा से सनी (सैन)—इशारे (चहूँ दिस चलति)—चारों ओर से चलते है, (तदपि) तो भी, (दुहुनि के)—दोनों के, (रसीले नैन)—रसीले नेत्र (हँसी न छांड़त)—हँसी नहीं छोड़ते।

पूर्वानुराग। धृति सञ्चारी। 'सैन' पद से परकीया व्यङ्गय। दोनों का प्रेम प्रकट हो गया है—इस बात को अपने पराये सब जान गये हैं। चारों ओर से उंगलियां उठती हैं! इशारे होते हैं—ताड़ने वालों की आंखों से निंदा सूचक सैन चलती हैं, तो भी इन दोनों के रसीले नैन हँसी नहीं छोड़ते।

"जब आंखें चार होती हैं हँसी फिर आ ही जाती है।"

अलङ्कार—"विशेषोक्ति"—'सैन' कारण है, पर 'हँसी छूटना' कार्य न हुआ पर न हुआ! 'तीसरी विभावना'—

"बाधक सैन चवाव छत (सत्यपि) हँसी काज तऊ होय।"

(अमर चन्द्रिका)

पूर्वार्द्ध में चकार से 'वृत्यनुप्रास'। उत्तरार्द्ध में 'हँसी रसी' से छेकानुप्रास।

इस पर अमर चन्द्रिका में कुछ प्रश्नोत्तर भी हैं। उसका भाव यह है:—

प्रश्न—"चबाव भरी सैन चलती है"—ऐसा तो कहा जाता है, पर यहां (दोहे में) "चीकनी सैन" से क्या अभिप्राय है?"

उत्तर "यह है— कि "रूखी" सैन क्रोध भरी होती है, और यह प्रायः दोषदर्शी विद्वेषी की होती है, उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह दुष्ट व्यर्थ का दोष देते हैं, इसलिये इसकी परवा नहीं। पर "चीकनी सैन" स्नेही और हितैषी की होती है, जो केवल हितबुद्धि से चलाई जाती है। यहां "चिकनी सैन" का यह अभिप्राय है कि ये दोनों प्रेमी ऐसे ढीठ हैं जो अपने हितैषियों की सैन की भी परवा नहीं करते! और हँसने से बाज नहीं आते।"

छियासठ

मुख घूंघट पट ढांकि

[चन्द्रमुखी नायिका मुख को घूंघट के आँचल से छिपाकर, व्याकुल हुई सी, छटपटाती हुई झरोखे से ऐसे झाँक गई, मानों आग की लपट का भबूका आकर झमक गया हो। —स०]

(६६)

सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूंघट पट ढांकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झांकि॥

(नायक का वचन सखी से)—

अर्थ—(सटपटाति सी)—छटपटाती सी—मानो व्याकुल हुई ससिमुखी)—चन्द्रमुखी नायिका (मुख घूंघट-पट ढाँकि—मुख को घूंघट के आंचल से छिपाकर (पावक-झरसी झमकि कै)— आग की लपट की—भबूके की तरह झमक कर, झरोखा झाँकि गई)—झरोखे में झांक गई।

शशिमुखी नायिका छटपटाकर झरोखे में ऐसे झांक गई मानो आग की लपट झमक गई!

गुण कथन से नायक का पूर्वानुराग व्यंग्य। वचन अनुभाव से नायिका परकीया। तथा उसके शंका सञ्चारी भाव व्यंगय। वचन अनुभाव से नायिका परकीया। तथा उसके शंका सञ्चारी भाव व्यंग्य।

अलंकार—"पूर्णोपमा" शशिमुखी—उपमेय। पावक-झर—उपमान। सी—वाचक। झमकना—साधारण धर्म। "उत्प्रेक्षा"—'सटपटाति सी' में। झकार की आवृत्ति से "वृत्त्यनुप्रास"

—*—

सड़सठ

कब की ध्यान लगी लखौं

[नायिका नायक के ध्यान में तन्मय बैठी है। उसकी यह दशा देखकर एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि मैं देख रही हूँ कि यह कब की नायक के ध्यान में डूबी है। इस ध्यानस्थ नायिका के घर को कौन सँभालेगा? भमीरी के पकड़े हुए कीड़े की तरह कहीं यह भी नायक-रूप ही न हो जाय। —स०]

(६७)

कब की ध्यान लगी लखौं यह घर लगि है काहि।
डरियत भृंगी कीट लौं जिन वह ई ह्वै जाहि॥

(सखी की उक्ति सखी से)—

अर्थ—(कब की ध्यान लगी, लखौं)—यह कब की (नायक के) ध्यान में लगी है, मैं देखती हूँ, (यह घर काहि लगि है)—यह घर किसे लगेगा, अर्थात् इस ध्यानस्थ नायिका को कौन सँभालेगा। (डरियत)– डर है कि (भृङ्गी * कीट लौं) भृङ्गी के पकड़े हुए कीड़े की तरह (जिन वह ई ह्वै जाहि)—मत वही (नायक ही) हो जाय।

नायिका, नायक के ध्यान में तन्मय बनी बैठी है। उसकी यह दशा देखकर सखी दूसरी सखी से कहती है कि मैं देख रही हूं यह कितनी देर से ध्यान में लगी बैठी है, इसे तो अपनी ही सुध नहीं, इसके घर की खबर कौन लेगा! कहीं ऐसा न हो यह भृङ्गी के काबू में पड़े कीड़े की तरह तद्रूप– (नायक रूप)–ही हो जाय!

भृङ्गी (भमीरी) कीड़ा दूसरे –(झींगर आदि)– को पकड़कर अपने घर में बन्द कर रखता है, और बार बार उसके सामने उड़ता और गुंजारता रहता है, उस पकड़े हुए कीड़े को प्रतिक्षण उसी का ध्यान बना रहता है जिससे कुछ दिनों में वह कीड़ा भृङ्गी बन जाता है!

पूर्वानुराग में नायिका की स्मृति दशा। वितर्क सञ्चारी भाव।

अलंकार —'गम्योत्प्रेक्षा,' (हरि कवि के मत में)। ध्यान से "स्मृति" अलंकार, (अमरचन्द्रिका के मत में)। "उपमा" (प्रताप के मत में)। 'दृष्टान्त' और 'निदर्शना' का संकर, (परमानन्द कवि के मत में)।

भ्रमरी- कीट या भृङ्गी -कीट का उल्लेख ध्यान की महिमा से तद्रूप प्राप्ति के प्रसंग में संकृत ग्रन्थों में भी है। इस विषय के दो पद नीचे उद्धृत हैं—

१— "बिभेमि सखि! संवीक्ष्य भ्रमरीभूत–कीटकम्।
तद्ध्यानादागते पुंस्त्वे तेन सार्धं रतिः कथम्॥"

× × ×

—कोई विरहिणी कहती है सखी! कीड़े को भृंगी बना देखकर मैं डर रही हूं, निरन्तर उसके—(प्रिय के) ध्यान से यदि मुझे 'पुंस्त्व' प्राप्त हो गया—प्रिय का ध्यान करते करते यदि मैं 'पुरुष' बन गयी— तो फिर उसके साथ रमण कैसे होगा!

२— कीटोऽयं भ्रमरीभवेदविरतध्यानात्तथा चेदहं,
रामः स्यां त्रिजटे! हतास्मि पुरतो दाम्पत्यसौख्यच्युता।
एवं चेत् कृतकृत्यतैव भविता रामस्तव ध्यानतः
सीता, त्वं च निहत्य रावणमरिं गन्तासि रामान्तिकम्॥"

—त्रिजटा से सीता जी कहती हैं कि जिस प्रकार निरन्तर ध्यान करते करते यह कीड़ा भृंगी बन जाता है, इसी प्रकार यदि मैं भी रामचन्द्र जी का ध्यान करते करते, 'राम' बन गयी तो फिर मर गयी—दाम्पत्य सुख से वञ्चित होकर कहीं की न रही!

इस पर त्रिजटा कहती है कि यदि कहीं ऐसा हो जाय—तू राम बन जाय—तो फिर काम बन गया समझो, रामचन्द्र जी तुम्हारा ध्यान करते करते सीता, बन जायेंगे। तुम अपने शत्रु रावण को स्वयं मारकर अपने राम—(नहीं रामा')–से जा मिलियो!

—:o:—

* भृङ्गी—"भृङ्गी को नाम संस्कृत में डिडीरव (!) पूरब में "घिरनी" सो कीरा पकरि कें अपनो स्वरूप करि लेत है।" (हरि प्रकाश)

"भृंगी कीट की भांति—कहैं 'कुम्हरिया' कीड़े की रीति से।" (लाल चन्द्रिका)

अड़सठ

लिखी चित्र की आहि

[नायिका से सखी कहती है कि तू जड़ के समान हो रही है, मानों चित्र-लिखित मूर्ति हो! लोक की लज्जा और भय को छोड़कर कह तू किसे देख रही है। —स०]

(६८)

रही अचल सी ह्वै मनौं लिखी चित्र की आहि।
तजे लाज डर लोक कौं कहौ विलोकति काहि॥

(सखी का वचन सखी से) —

अर्थः—(अचल सी ह्वै रही)—जड़ के समान हो रही हो, (मनौं चित्र की लिखी, आहि)— मानो चित्र-लिखित मूर्त्ति हो! (लोक को लाज डर तजे)—लोक की लज्जा और भय को छोड़कर (कहो काहि विलोकति) —कहो किसे देख रही हो?

नायिका से सखी कहती है कि ऐसी निश्चल बनी मानो कोई तसवीर बैठी हो, तू लोकलाज और गुरुजन के भय को छोड़कर किसे देख रही है? बता तो सही!

हेतुलक्षिता परकीया। स्तम्भ सात्त्विक।

अलंकार—"वस्तूत्प्रेक्षा। ककार से "वृत्त्यनुप्रास"।

उनहत्तर

मन पठयौ किहिं पास

[प्रिय के चिन्तन में लीन जड़वत् नायिका से सखी कहती है कि तेरे पलक भी नहीं चलते, तू जकड़ी सी हो रही है और तेरी साँस थक सी रही है। क्या अभी संगम-समय से पहिले, दिन में ही, शरीर (मन से) शून्य कर दिया है? मन किसके पास भेज दिया? —स०]

(६९)

पल न चलै जकि सी रही थकि सी रही उसास।
अब ही तन रितयौ कहा मन पठयौ किहिं पास॥

* (सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :— (पल न चले)— पलक भी नहीं चलती, (जक सी रही)—जकड़ी सी हो रही है, और (उसास थकि सी रही)—सांस भी थक सी रही है, (अब ही कहा तन रितयो)—अभी—सङ्गम-समय से पहिले, दिन में ही —क्या शरीर शून्य—खाली—कर दिया! (किहिं पास मन पठयौ)—मन किस के पास भेज दिया है?

* सखी की 'उक्ति' परिहास करत है। परकीया नायिका सों" (हरिप्रकाश)

सात्त्विक जड़ता से जकड़ी हुई नायिका प्रिय का चिन्तन कर रही है कि पलक मारना और सांस लेना भी भूल गई है ! यह देखकर सखी कहती है कि क्या तन रीता (खाली) करके मन किसी के पास भेज दिया है ! जो ऐसी संज्ञा शून्य और निश्चेष्ट बनी बैठी है ?

मन की गति से ही शरीर और प्राणों की गति होती है । जब मन चला गया, शरीर शून्य प्राय हो गया, और प्राण भी थककर रुक रहे !

हेतु-लक्षिता परकीया नायिका ! स्तम्भ सात्विक। स्मृति सचारी । पूर्वानुराग व्यङ्ग्य ।

अलंकार—"अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" (जकी सी, थकी सी" की 'सी" उत्प्रेक्षावाचक 'मानो' के अर्थ में है। "स्मृति"— "मन पठयौ" से । 'जकी थकी' मे "छेकानुप्रास" ।

सत्तर

तन औरै मन और

[नायक का नाम सुनते ही नायिका का तन और मन और से और हो गया । अब त्यौरी चढ़ाने से क्या ? चित्त पर चढ़े हुए नायक का स्नेह अब छिप नहीं सकता । —स०]

(७०)

नाम सुनत ही ह्वै गयौ तन औरै मन और ।
दबै नहीं चित चढ़ि रह्यौ अबै चढ़ाये त्यौर ।।

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :—(नाम सुनत ही)— नाम सुनते ही, (तन और मन और ह्वै गयौ)—तन और, और मन और हो गया ! (अबै त्यौर चढ़ाये —अब त्यौरी चढ़ाने से, (चित चढ़ि रह्यो नहीं दबै)—चित्त पर चढ़ा हुआ (नायक या उसका स्नेह) नहीं छिप सकता ।

किसी ने प्रसंगवश नायक का नाम लिया, जिसे सुनते ही नायिका का तन और मन, और से और हो गया ! शरीर पर रोमाञ्च हो आया और मन से प्रसन्नता की झलक आने लगी । सखी ने इसका कारण जानकर उसे छेड़ा तो वह त्यौरी चढ़ाकर छिपाने और मुकरने लगी । छिपाने से कहीं ऐसी बात छिपती है !

लक्षिता नायिका ।

अलंकार—"भेदकातिशयोक्ति"

भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्" ।

(कुवलयानन्द)

"और" पद दीजे जहाँ अधिकाई के हेत ।
अतिशयोक्ति भेदक यहै कहत सुकवि सिर नेत ।"

'छेकानुप्रास'— अबै- दबै से—

इकहत्तर

मन मोहन छबि पर कटी

[सखी नायिका से कहती है कि तू पूछने पर रूखी क्यों पड़ती है ? तू तो सिर से पैर तक स्नेह में पग रही है, शराबोर हो रही है । तू मनमोहन की छवि पर कट रही है, रीझ रही है, तेरी इस बात को तेरी कण्टकित, रोमाञ्चित देह प्रकट किये दे रही है । —स०]

(७१)

पूछे क्यौं रूखी परति सग बग रही सनेह ।
मन मोहन छवि पर कटी कहै कट्यानी देह ॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ – (पूछे क्यों रूखी परति —पूछने से क्यों रूखी पड़ती है ! (सग बग रही सनेह)–स्नेह – (प्रीति) में शरावोर हो रही है—सिर से पैर तक स्नेह में पग रही है ! (मन- मोहन-छबि पर कटी) – तू मन मोहन की छबि पर कट रही है —रीझ रही है, (कटयानि देह कहै) – इस बात को तेरी कण्टकित देह कह रही है । अथवा—"मन मोहन छबि पर कटि" —तेरे मन में मोहन की छवि 'परकटी'—प्रकट हुई है, जिसे तेरी रोमाञ्चित देह कह रही है । किंवा—कटानी देह ने तेरे मन में मोहन की छवि को प्रकट कर दिखाया है, तू कहती क्यों नहीं ? यही बात है न ?

रोमाञ्च सात्त्विक अनुभाव से हेतुलक्षिता नायिका । अवहित्था सञ्चारी ।

सखी ने नायक के प्रेम को पहचान लिया, नायिका रुखाई से उसे छिपाती है । सखी कहती है कि रुखाई से स्नेह नहीं छिप सकता, सम्भव है ज़रा सा 'स्नेह-बिन्दु, 'रुखाई की राख' से छिपा भी दिया जाय, पर जो चीज स्नेह—(तैल, प्रीति) में डूब रही है, वह थोड़ी सी रुखाई की राख छिड़कने से कहीं छिप सकती है ! तेरी यह देह जिस पर कांटे से (सात्त्विक) रोमाञ्च उठ आये हैं, इस बात को कह रही है कि तू मन मोहन की छबि पर कट रही है— आसक्त हो रही है— मोहित हो रही है !

'स्नेह में सग बगी' का 'रूखा पड़ना' और 'कटियानी देह' का 'छबि पर कटना' बतलाना, खूब है । बड़े चुस्त मुहावरे हैं ।

सग बग होना—प्रेम में पगना –स्नेह में सनना, शराबोर होना । "रूखा पड़ना" रुखाई दिखाना, नाराज होना । "कटना" — प्रेम में कट मरना, टूक टूक होना अत्यासक्त होना, रीझना ।

अलंकार — "काव्यलिंग" रोमाञ्च से स्नेह दृढ़ किया ।

बहत्तर

प्रेम अडोल डुलै नहीं

[सखी कहती है कि तेरा प्रेम उनमें इतना दृढ़ है कि वह छुड़ाने से छूट नहीं सकता। तू मुख से अनखाकर, नाराज होकर बोलती है, पर तेरे चित्त में तो उनकी मूर्ति बस गई है। यह बात तेरी अनुराग भरी दृष्टि में साफ दिखाई दे रही है। —स०]

(७२)

प्रेम अडोल डुलै नहीं मुख बोलै अनखाय।
चित उनकी मूरति बसी चितवन माहिं लखाय॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ (प्रेम अडोल डुलै नहीं)— प्रेम अडोल-अचल-है, वह हिलाने से डुलता नहीं— अर्थात् इतना दृढ़ है कि छुड़ाने से छूट नहीं सकता। (मुख बोले अनखाय)—तू मुख से अनखाकर नाराज होकर- बोलती है। पर चित उनकी मूरति बसी)—तेरे चित्त में उनकी मूर्ति बसी है, जो (चितवन माहि लखाय)—तेरी चितवन में दीख रही है।

नायक में नायिका का पूर्वानुराग देखकर सखी कहती है कि मैं समझ गई, तेरा प्रेम उनमें इतना दृढ़ है जो किसी प्रकार हिलाए हिल नहीं सकता, तू दिखाने के लिये मुंह से रुष्ट होकर बोलती है— जी से नहीं, केवल मुँह से नाराजगी दिखाती है। पर इससे क्या होता है? भीतर चित्त में जो उनकी मूर्ति विराजमान है सो तेरे देखने में (अनुरागभरी दृष्टि में) साफ़ दिखाई दे रही है! आन्तरिक प्रेम बाहर के बनावटी कोप से छिपाया नहीं जा सकता!

यहां "अडोल डुलै नहीं"—की पुनरुक्त समझकर और 'मुख बोले'–में 'मुख' शब्द को व्यर्थ बताकर ('बोले ही से मुख का बोध हो जाता है, क्योंकि मुख ही से बोलते हैं) 'अमरचन्द्रिका' के प्रश्नोत्तर का दोहा और अपनी 'वार्त्ता' लिखकर लल्लू लाल जी ने व्यर्थ बात बढ़ाई है। वास्तव में न कोई पुनरुक्ति है न 'मुख' व्यर्थ है। जैसा कि हरिकवि ने कहा है—

—"दो बार बांधी बात अति दृढ़ होती है, यह रीति है पुनरुक्ति नहीं, अति दृढ़ता व्यक्त होती है।" "मुख शब्द से यह ध्वनि हुई कि मन से तू राजी है।"

वितर्क सञ्चारी से नायिका परकीया। स्मृति दशा। चिन्ता सञ्चारी। आकृति अनुभाव से पूर्वानुराग व्यङ्ग्य।

अलंकार—"अनुमान"। "यमक"—'चित चित' में। विभावना, अनुमान, और यमक की संसृष्टि'—

(अनवर चन्द्रिका)।

तिहत्तर

तन पुलकित किहि हेत

[गिरहबाज़ कबूतर को ऊपर उड़ता देख कर सब सराहते हैं कि वह कलाबाज़ी करता हुआ क्या अच्छी उड़ान ले रहा है ? पर तेरे तो नेत्र डबडबा रहे हैं, मुख पर प्रसन्नता की झलक आ रही है और शरीर पुलकित, रोमाञ्च युक्त हो रहा है। यह सब किस कारण हो रहा है ? कबूतर को देखने के बहाने नायक को देखकर ही सखी की यह दशा हुई है इसे वह सखी समझ रही है। —स०]

(७३)

ऊँचे चितै सराहियत गिरह कबूतर लेत।
दृग झलकित मुलकित बदन तन पुलकित किहि हेत॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :—(ऊँचे चितैं)—ऊपर देख कर (सराहियत)—सराहते हैं, (कबूतर गिरह लेत)—कि कबूतर गिरह ले रहा है -- कलाबाज़ी करता हुआ क्या अच्छी उड़ान ले रहा है ! (दृग झलकित, बदन मुलकित तन पुलकित, किहि हेत)—परन्तु तेरे नेत्र डबडबा रहे हैं, मुख पर प्रसन्नता की झलक है, और शरीर पुलकित—रोमाञ्चयुक्त है, यह किस कारण !

नायक ने अटारी पर से अपना 'गिरहबाज़' कबूतर उड़ाया है। नायिका कबूतर देखने के बहाने नायक को देख रही है। जिससे उसे अश्रु, रोमाञ्च—रूप सात्विक भाव हो आया है। इस बात को समझकर सखी कहती है कि अच्छी उड़ान वाले गिरहबाज़ कबूतर को उड़ता देखकर उसकी प्रशंसा करना तो ठीक है, पर तेरी आँखों में आँसू, मुँह पर मुसकराहट और शरीर पर रोमाञ्च क्यों है ? केवल कबूतर का उड़ना तो इनका कारण नहीं हो सकता ! सच बता क्या बात है ?

"फ़क़त है वास्ता इतना कि वह प्यारे का प्यारा है !" क्यों यही कारण है न ?

अलंकार—'पर्यायोक्ति" कबूतर के बहाने नायक को देखना इष्ट है। 'हेतु"—कारण देखना और कार्य अश्रु रोमाञ्च एक साथ हैं। यदि सखी नायिका को सुनाकर नायक को जता रही है कि यह तुम पर आसक्त है, तो "गूढ़ोक्ति"। ककार से "वृत्यनुप्रास"।

चौहत्तर

तन कदम्ब की माल

[सखी कहती है कि हे बाले ! यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझ में ही देखी कि देवालय की प्रसादी की माला पाकर तेरा शरीर कदम्ब की माला की तरह कण्टकित, रोमांचित हो गया। माला नायक-प्रदत्त होने के कारण ही नायिका के शरीर में रोमाञ्च हो आया है, यह बात सखी समझ गई है। —स०]

(७४)

यह मैं तो ही में लखी भक्ति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तन कदम्ब की माल॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :—(बाल) हे बाले ! (यह अपूरब भक्ति, मैं तो ही में लखी)—यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझ ही में देखी कि (जु प्रसाद-माला लहि)—जो प्रसादी की माला पाकर (तन कदम्ब की माल भौ)—तेरा शरीर कदम्ब की माला हो गया !

नायक ने नायिका को, सखी के हाथ माला भेजी है । नायिका-के पास उस समय कोई बहिरङ्ग सखी बैठी है, वह न जान जाय इसलिये सखी ने "प्रसाद-माला" † (जो देवालय की ओर से भक्त जनों को दी जाती है) बताकर नायिका को वह माला दी। जिसे पहनकर नायक -प्रदत्त माला के सम्बन्ध से नायिका को सात्त्विक रोमाञ्च हो आया । बहिरंग सखी पहचान गयी. और परिहास पूर्वक उस 'स्नेह-लक्षिता-" से कहती है कि यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझी में देखी जो प्रसाद-माला को पाकर तेरा शरीर 'कदम्बमाला' बन गया-कण्टकित हो गया - ! कदम्ब-पुष्प कण्टकित—(पुलकित)—शरीर का उपमान है । कदम्ब के पुष्प कण्टकाकार केशर से युक्त होते हैं ।

'अपूर्व-पद' के योग से, रोमाञ्च' शृगारजन्य समझना चाहिए तथा कहने वाली परिहास पूर्वक कहती, इससे "भक्ति" का अर्थ यहाँ 'प्रीति" है ।

१— अलंकार— 'हेतु" । प्रसादमाला— कारण, और रोमाञ्च—कार्य्य, एक साथ कहा ।

—अथवा—"हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतु केचित्प्रचक्षते"

कण्टकित होने के कारण माला को और कण्टकित शरीर को एक कहा ।

"परिसङ्ख्या"—"परिसंख्या इक थल बरजि दूजे थल ठहराय ।"

—यह अपूर्व भक्ति तुझी में है और में नहीं—इस प्रकान अन्यत्र तादृश भक्ति का निषेध करके उसी (नायिका) में वैसी भक्ति ठहराई ।

३ — "रसवान्"—'अपूर्व' पद से'अद्भुत' रस * आभासित है । वह शृंगार का अंग (पोषक) है। जहाँ एक रस दूसरे रस का पोषक (अंग) हो, वहाँ "रस-वान्" अलंकार होता है ।

४—"रूपकातिशयोक्ति" —'कदम्बमाला' —उपमान से 'कण्टकित' तनु —'उपमेय' का बोध होता है।

५ — "धर्मवाचकलुप्तोपमा"— उपमेय— तन, उप-मान—कदम्बमाला तो हैं। तथा वाचक इवादि और साधारण धर्म — कण्टकित' -होना लुप्त हैं ।

पचहत्तर

नागरि नेह दुरै न

[हे नागरी ! कोरड़ यत्न करो तो भी स्नेह छिप नहीं सकता । स्नेह से चिकना चित्त इस बात को कहे दे रहा है । तेरे नेत्रों में यह रुखाई नये ढंग की है, बिलकुल बनावटी । —स०]

(७५)

कोरि [टि] जतन कीजै तऊ नागरि नेह दुरै ।
कहे देत चित चीकनौ नई रुखाई नैन ॥

† "ठाकुर के पडा सों नायिका की प्रीति है यों भी लगावें हैं" (हरि प्रकाश)

* "भक्ति पद में सा [शा] न्त रस भासत है, यातें रसवत् अलंकार" (प्रताप चन्द्रिका)

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थः—(कोरि जतन कीजै)— करोड़ यत्न करो (तऊ)—तो भी, (नागरि नेह दुरै न)—हे नागरी ! स्नेह छिप नहीं सकता। (चीकनो चित कहे देत — स्नेह से चिकना चित्त (इस बात को) कहे देता है ! (नैन नई † रुखाई)—और नेत्रों में यह रुखाई नई है नये ढंग की है अर्थात् बनावटी है।

अथवा नेत्रों की यह नई रुखाई चित्त के चिकना होने को कह देती है. इसलिए हे नागरी !—अपनी ओर से तो तू स्नेह छिपाने में बहुत चतुरता दिखाती है— नागरि' सम्बोधन पद ते यह भाव ध्वनित हैं—परन्तु करोड़ यत्न करने पर भी स्नेह छिा नहीं सकता।

अवहित्था—सञ्चारी से 'हेतुलक्षिता' नायिका।

अथवा, खण्डिता नायिका की उक्ति नायक से—कि तुम करोड़ यत्न करो 'नागरि-स्नेह''—उस 'नागरी' का —जो तुम्हें अपने वश करने में प्रवीण है उस नायिका का—स्नेह छिपा नही सकते !

अलंकार—'पञ्चमी विभावना'—रूखे नयन, चीकने चित्त को कहते हैं, विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति। अथवा 'विशेषोक्ति'—'करोड़ यत्न' रूप कारण से भी 'स्नेह छिगाना' कार्य्य न हो सका। "काव्यलिंग"—भी हो सकता है, क्योंकि उत्तरार्ध, पूर्वार्ध का समर्थन करता है।

—×—

छिहत्तर

और सबै हरखी फिरैं

[और सब स्त्रियां प्रसन्न हुई घूम रही हैं। उत्साह से भरी गा रहीं हैं। पर अरी बहू ! देवर के ब्याह में तू ही अनमनी सी क्यों फिर रही है ? —स०]

(७६)

और सबै हरखी [षी] फिरैं गावति भरी उछाह।
तुही बहू बिलखि फिरै क्यों देवर के ब्याह ॥

(सखी का वचन नायिका से)* —

अर्थः— और सबै हरखी फिरैं)—और सब स्त्रियां फिर रही हैं, (उछाह भरी गावति)—और उत्साह से भरी गाती हैं, (देवर के ब्याह)—देवर के ब्याह में (बहू, तुही बिलखी क्यौं फिरै—हे बहू ! एक तुही नाराज अनमनी —हुई क्यों फिरे है ?

नायिका अपने जिस अविवाहित देवर में आसक्त है, उसी देवर का विवाह है। घर बाहर की सब स्त्रियां विवाहोत्सव में इकट्ठी हुई खुशी मना रही हैं और उमंग से भर कर मंगलाचार के गीत गा रही हैं। पर देवरासक्ता नायिका को इस विवाह का दुःख है, वह उदास या नाराज हुई— अलग अलग फिर रही है। सखी इस बिलखने का कारण जानती है—छेड़ने के लिये नायिका से कहती है। अथवा नायक देवर को सुनाकर कहती है। "विषाद" सञ्चारी से अनुराग व्यंग्य।

अलंकार— १—"गूढ़ोक्ति"— देवर (नायक) को सुनाकर बहू (नायिका) से कहती है। २—"उल्लास"—देवर के ब्याह रूप गुण से नायिका को बिलखना दोष हुआ।

---

† किंवा—नई रुखाई—'ई' कहिए—यह, न रुखाई—रुक्षता नहीं है। (हरि प्रकाश)

* "सासू बहू सौ कहे है, कि और सब तो हर्षित हैं पर तू देवर के ब्याह सों कति (क्यों) दुखित है।" और दूसरो अर्थ यह है—कि जाके देवर का ब्याह है सो परोसिन से कहे है कि और सबै हर्षित हैं। तू मेरे देवर के ब्याह में क्यों दुखित है ?" (रस चन्द्रिका)

'रसाभास' और 'धर्म-विरोध' का संघर्ष !

इस दोहे की टीका करते हुए कई टीकाकारों ने 'धर्म-विरोध' के परिहार का भगीरथ परिश्रम किया है। हरि कवि लिखते हैं—

"अपने देवर सों रति बरनैं तौ "रसाभास" दोष होय, परौसिनि के देवर सों नायिका की आसक्ति थी, एक गाँव की नव वधू को तो "बहू" अब ही (भी) कहे हैं, यह रीति है। परोसिनि को वचन नायिका सों। "किंवा— "देवर की स्त्री आये (आने पर) नायक स्वच्छन्द घर में नहीं आवेगा, यातें (इस कारण) स्वकीया सों सखी पूछति। "किंवा— नायिका बहुत सुन्दरी है, ता कौ पति दूसरा विवाह करिबे चल्यो है, ता सों (नायिका सों) सखी वचन :—"और जो "सबै" कहिए सखे', (समानवयस्का) सो तो हरषी फिरति हैं. नायिका पूछति है— कहाँ फिरे हैं लुगाई सब ? (उ०) जहाँ तेरी (तेरे ?) नायक के ब्याह के गीत उछाहभरी गावति हैं, वहाँ, ऐसी स्त्री दूसरी नहीं मिलैगी याते तूँ "बहू" कहिए बहुत बिलखी क्यों फिरति है ? क्यों 'दे वर' आज्ञा नायक को तू व्याह करि, मोहिसी नहीं मिलैगी— यह अर्थ।"

(हरिप्रकाश)

इस अन्तिम कल्पना में 'देवर' 'बहू' दोनों बिलकुल साफ़ उड़ गये ! 'बहू' का अर्थ बहुत, और 'दवर' का पदच्छेद (टुकड़े) करके, "वर"— आज्ञा, "दे"—देहि, हो गया ! अर्थात् सखी नायिका से कहती है, तू अपने पति को दूसरा ब्याह करते देख इतनी अप्रसन्न हुई क्यों फिरती है ! उसे स्वयं आज्ञा क्यों न दे दे कि एक नहीं, दस ब्याह कर लो, मुझ सी सुन्दरी कहीं ढूंढे न मिलेगी !

वास्तव में यह अर्थ बहुत बढ़िया रहा, इससे "देवर बहू" के साथ ही "रसाभास" दोष की और 'धर्मविरोध' की भी समाप्ति हो गई ! न रहे बांस न बजी बांसरी !

श्री लल्लू लाल जी ने यहाँ भी (१५वें दोहे की तरह) 'अमर चन्द्रिका' का प्रश्नोत्तर लिखकर धर्मविरोध का शोशा छोड़ा है, जिसे बुझाने के लिए डाक्टर ग्रियर्सन को बहुत परिश्रम उठाना पड़ा है। उनके Additional notes में पहला नोट इसी पर है, जिसमें किसी विद्वान् ने बड़ी विद्वत्ता खर्च की है जो द्रष्टव्य है। तथाहि :—

"और सब प्रसन्न फिरती हैं आनंद से भरी गाती (हुई)। हे बहू, तू ही देवर के ब्याह में क्यों बिलखी फिरती है ?

बिलखना—शोक-मग्न होना और गभीर भाव धारण करना, अर्थात् हर्ष शोकादि का न प्रकाश करना। बि— विशेष रूप से, लखना— देखना वा दिखाई पड़ना।"

— इस दोहे में 'बिलखी' का अर्थ शोकमग्ना नहीं है। गंभीरा है। अर्थात् औरों की भांति उत्साह से पूर्ण होके गाती नहीं फिरती। (देवर के) ब्याह से संबद्ध अनेक अनेक कार्यों के प्रबन्ध में सलग्न होने के कारण, न्योते में आई हुई निश्चित स्त्रियों की भांति गाने बजाने चुहुल करने आदि का अवकाश नहीं पाती। ऐसी दशा में उस (नायिका) से उसकी भ्रातृ-तरुणी (भौजाई) रस-ऐन (परिहास-पूर्ण) वचन कहती है कि, बहू, तू-ही क्यों मुह लटकाए फिरती हैं।

भौजाई का ननद से परिहास करना इस देश की रीति है, और परिहास के अवसर पर जैसे साला बहनोई को अपना साला बनाता है, वैसे ही भावज ननद को अपनी भौजाई बनाती है, और भौजाई की संबोधन, वधू (बहू) शब्द से प्रसिद्ध है। ब्याह के अवसर में सभी सबसे (दिल्लगी) करते हैं। और देवर भौजाई तथा ननद भावज का सभी काल में परिहास हुआ करता है।

* किहि तिय सौं—किसी स्त्री से (नायिका से)। रस= हँसी। चुहुल=दिल्लगी। ऐन=घर। रस ऐन=परिहास पूर्ण। यह बैन (वचन) का विशेषण है। नायिका से (उसकी) भ्रातृ-तरुणी के रस-ऐन बैन इत्यर्थः।

---

* अपना अर्थ लिखकर लल्लू लाल जी ने यह प्रश्नोत्तर लिखा है—' प्रश्न—यहाँ भी देवर धर्म विरुद्ध। "उत्तर—भ्राततरुणि के बैन। किहि तिय सौं रसऐन।"

"बिलखी, बिलखि, बिलखना" आदि का गंभीरता सूचक अर्थ यदि सन्दिग्ध समझिए, तो रामायण के इस दोहे के अर्थ का विचार कीजिए—

"सुनहु भरत भावी प्रबल,
बिलखि कहा मुनि - नाथ।
लाभ हानि जीवन मरन,
जस अपजस विधि - हाथ"॥

मुनि-नाथ वसिष्ठ जी वेदान्त शास्त्र के आचार्य्य हैं। उनको किसी के जन्म मरणादि में हर्ष शोक के वश गाना रोना (बिलखना) शोभा नहीं देता। इससे यही अर्थ युक्तियुक्त होगा कि, मुनि-नाथ ने गम्भीरता से (विशेषता से देखकर विचार के कहा। क्योंकि लाभ हानि जीवन मरन जस अपजस ज्ञानपूर्ण आश्वासन वाक्य है, जो बिलखकर (रोकर) कहना संभावित नहीं है।"

"ऊपर वाले दोहे के अर्थ में इतनी खींच खांच केवल लाल कवि की टीका के अनुरोध से करनी पड़ती है। नहीं तो जब परकीयत्व मात्र ही धर्मविरुद्ध है देवर जेठ कैसा? सतसई धर्म-शास्त्र तो है ही नहीं। कविता का ग्रन्थ है। सो उसमें परकीया का वर्णन हुआ ही करता है। वरंच देवर से प्रकाश्य रूप में हँसी जी लगी का नाता होने के कारण परकीयत्व में बड़ा सुभीता रहता है। इसी से बहुधा ऐसी स्त्रियाँ अपने उपपतिको 'देवर' ही कहा भी करती हैं। अस्मात् यदि टीकाकार के प्रश्न का अनुरोध न किया जाय, तो नायिका से अन्तरङ्गिनी सखी का वचन। और देवर शब्द को पति के भाई के अर्थ में न ले के, उपपति के अर्थ में मान लेने से कोई हानि नहीं है। दयानन्द स्वामी ने वेद (भाष्य) भूमिका में, नियोग के प्रकरण में, 'देवर' का अर्थ द्वितीय वर-(पति)—लिखा है।"—

—(डा० ग्रियर्सन-सम्पादित लालचन्द्रिका का परिशिष्ट)

इन महानुभावों का इस प्रकार सतसई से "रसाभास" और 'धर्म-विरोध' दूर करने का यह भगीरथ-प्रयत्न प्रशंसनीय है। परन्तु यह देवर-विषयक "रसाभास" और "धर्मविरोध" संस्कृत और प्राकृत के अन्य कवियों के वर्णनों में प्रचुरता से पाया जाता है। १५वें, दोहे की व्याख्या में इस विषय की दो प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की जा चुकी हैं। अब इसी प्रसंग की एक "आर्य्या", और दूसरी 'गाथा" यहाँ और उद्धृत की जाती है:—

"दलिते पलाल-पुञ्जे वृषभं परिभवति गृहपतौ कुपिते।
निभृत-निभालित-वदनौहलिकवधू-देवरौ हसतः ॥३०२॥"
आ० स०

—"पुराल के ढेर को बिखरा हुआ देख कर, घर वाला, कुपित हो, बैल को पीटने लगा, यह समझ कर कि इसी ने यह पुराल बखेरी है। इस पर 'हालिकवधू'—(बैल को पीटने वाले किसान की स्त्री) और देवर, एक दूसरे का मुँह देखते और चुपके से अपनी करतूत पर हँसते हैं कि क़सूर तो हमारा है, बैल बेचारा यों ही पिट रहा है! लड़ें कुम्हारी कुम्हार गधे के कान इठें!

× × ×

काचन देवरेऽनासक्ता तेन च प्रियवाक्यशतैः प्रलोभ्य वशीकृता ततश्च कुतश्चिन्निमित्ताद्विरज्यति तस्मिंस्तमुपालब्धुमिदमाह

"सच्चं साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएण।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहत्तणं सिक्खिअं कत्तो।"

—"(सत्यं कथय देवर! तथा तथा चाटुकारकेण शुनकेन।
निर्वर्त्तितकार्यपराङ्मुखत्वं शिक्षितं कस्मात्॥)" ७।८८
(गा० स०)

—देवर! सच बताओ उस (कार्तिक महीने के!) मतलबी— खुशामदी कुत्ते ने काम निकाल कर पीठ फेरने (बेपरवाई) का 'गुण' किससे सीखा है? (इस गुण में उसके गुरु कहीं तुम्हीं तो नहीं हो!)

सतहत्तर

नैन लगे तिहिं लगन सों

[ये नेत्र ऐसी लगन से उनमें लगे हैं कि प्राण छूटने पर भी यह लगन न छूटे। हे सखी ! तेरी सैकड़ों चतुराइयों में से एक भी अब मेरे काम नहीं आ रही, क्योंकि तू किसी चतुराई से मुझे उस चितचोर से तो मिलाती नहीं, उनसे नेह हटाने का उपदेश देती है। —स०]

(७७)

नैन लगे तिहिं लगनि सौं छुटे न छूटैं प्रान ।
काम न आवत एक हू तेरे सौकि सयान ॥

(नायिका का वचन सखी से *)

अर्थः— (नैन तिहिं लगनि सौं लगे)—नेत्र उस लगन से लगे हैं कि (प्राण छुटे न छूटैं)–जो– (लगन) —प्राण छूटने पर भी न छुटे। (तेरे सौकि सयान)– तेरी सैकड़ों चतुराइयों में से (एक हू काम न आवत)– एक भी काम नहीं आती।

परकीया प्रौढा नायिका। वचन अनुभाव, धृति सञ्चारी से पूर्वानुराग व्यङ्ग्य।

नायिका को सखी समझाती है, कि ऐसी प्रीति मत-कर जो जी का जंजाल है, मान जा। वह उत्तर देती है कि क्या करूँ, नेत्र उस प्रियतम से कुछ ऐसी लगन (प्रीति) से लगे हैं जो प्राण छूटने पर भी नहीं छूटेगी ! तुझ में चतुराई तो बहुत है, पर उनमें से हमारे काम एक नहीं आती। शिक्षा देनी सहज है, यह तो होता नहीं कि किसी चतुराई से उस चित-चोर से मिलावे, शिक्षा देने बैठ गयी ! यह अच्छी हितैषिता है !—

"य कहां की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासह ! †
कोई चारासाज़ होता कोई ग़मगुसार होता !" —

अलंकार—"अत्युक्ति," प्राण छूटने पर भी लगन नहीं छुटेगी।

—"अलंकार अत्युक्ति वह बर्नन अतिशय रूप"

× × ×

उर्दू के महाकवि ज़ौक़ का भी एक शेर कुछ इसी भाव का है : –

"उल्फ़त का मजा जब कोई मर जाये तो जाये,
यह दर्दे–सर ऐसा है कि सर जाय तो जाये।"

दोहे की अत्युक्ति इससे बढ़ी हुई हैं। यह 'दर्देसर' तो सिर जाने (मर जाने) के साथ जाता रहता है। पर वह 'लगन' प्राण छूटने पर भी नहीं छुटती, पर नहीं छुटती !

---

* "सखी नायिका को समुझावै है, सो नायिका उत्तर देइ है" (रस चन्द्रिका)
—"परकीया प्रौढ़ा का वचन, शिक्षक-सखी से।" (लाल चन्द्रिका)

† नासह—शिक्षक। चारुसाज़—इलाज करने वाला। ग़मगुसार—शोक हरने वाला।

अठत्तर

आंखनि माहिं अगोटि

[नायक के विषय में कपट की करोड़ों बातें सुनकर भी तू उन बातों पर विश्वास मत कर और नायक से जुदाई की मत ठान। यदि वे गुनहगार (अपराधी) हैं, तो उन्हें आँखों में नज़रबन्द करके रख। —स०]

(७८)

तू मत माने मुकतई किये कपट-बत कोटि।
जौ गुनही तौ राखियै आंखनि माहिँ अगोटि॥

(सखी का वचन नायिका से *)

अर्थ:— (कोटि कपट-बत † किये) – करोड़ों कपट की बातें करने पर भी (तू मुकतई मत माने)— तू इससे जुदाई मत जान, (जौ गुनही)—यदि यह गुनहगार—अपराधी—है (तौ आंखिन माहिं अगोटि राखियै) —तो आंखों में नजरबन्द कर रखिए।

परकीया नायिका, शठ नायक की बहुत सी शिकायतें सुनकर रूठी बैठी है। उसे सखी समझाती और मनाती है कि नायक के विषय में कपट (शठता) की करोड़ों बातें सुनकर भी तू उन—(बातों)– पर विश्वास मत कर और नायक से जुदाई की मत ठान। पिशुन लोगों की क्या है, वे तो वैसे ही, नायक को कपटी बताकर तुझमें उसमें भेद डलवाना चाहते हैं। तू उनकी बातों पर ध्यान मत दे। और यदि तुझे उनकी बातों पर ऐसा ही विश्वास हो गया है कि नायक अवश्य कपटी और अपराधी है तो भी छोड़ना ठीक नही, यदि वह गुनहगार है तो उसे आंखों के क़िले में 'नज़र-बन्द' करके रख। अपराधी को क़िले में कैद कर देना ही उचित दण्ड है, यों ही छोड़ देना ठीक नहीं!

अलंकार—'पर्यायोक्ति''। इस प्रकार दण्ड दिलाने के बहाने से मिलाना इष्ट है।

''सम्भावना''–''जौ तौ पद जहँ होइ सम्भावना तहँ जोइ।''

हरि कवि के मत में ''उपमा'' भी। 'कपट-वित' पाठ में 'रूपक'।

इस दोहे को किसी किसी ने परमार्थ पक्ष में भी लगाया है यथा :—

---

* ''नायक शठ तहाँ सखी-वचन नायिका सौं।' (अमर चन्द्रिका)

—'जो सखी की उक्ति होय नायिका प्रति तो ईर्ष्या सञ्चारी, भेदोपाय से मान जानिए।'' (अनवर चन्द्रिका)

—'सखी नायक पक्ष की भी हो सके है, क्योंकि इस ही मिष चतुराई सौ कहे है कि आँखिन में राखि।''

(रस चन्द्रिका)

† पाठान्तर—''—दियँ कपट-वित कोटि''—जुगुनही– गुनहगार है तौ आँखिन ही में राखि। कपटरूपी वित्त देइ तौऊ मुकतई - छूटनौ उनकौ मति मानि।'' (अमर चन्द्रिका) अर्थात् यदि वह वास्तव में गुनहगार है तो चाहे कितना ही कपट रूपी धन रिशवत में देकर छूटना चाहे (अपराध-मुक्त होना चाहे) तो भी छोड़ने पर राज़ी मत हो, किन्तु आँखों में बन्द करके नज़रबन्दी की सख्त सज़ा दे!

किसी गुरु की उक्ति अपने शिष्य से—*

हे शिष्य ! तू भण्डभक्ति के करोड़ कपट करने पर भी अपनी मुक्ति मत समझे, इन बातों से मुक्ति नहीं होगी। जैसे गुनहगार को बन्द कर रखते हैं ऐसे ही तू भगवान् को अपनी आंखों में बन्द कर रख—उसके रूप में अपने नेत्र लगा—संसार की ओर से आंखें बन्द करके, ईश्वर के ध्यान में मग्न हो जा, कपट कथा की बातें बनानो छोड़ दे ! !

उन्यासी

तुव भागनि पूरब उयौ

[दौज के दिन नायिका को चन्द्रमा दिखाने के बहाने सखी नायक को दिखला देती है और कहती है कि यह द्वितीया धन्य है जिसमें नायक रूप चन्द्र को देखकर आँखों ने दुःख का बखेड़ा छोड़ दिया; नायक के दर्शन से तेरी आँखें सुखी हुईं। सखी ! तेरे भाग्य से द्वितीया के चन्द्रमा की तरह पच्छिम में नहीं बल्कि पूर्व में यह अपूर्व चन्द्रमा पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसा नायक का पूर्ण मुख-चन्द्र उग आया है। —स०]

(७९)

धनि यह द्वैज जहां लख्यौ तज्यौ दृगनि दुखद्वन्द ।
तुव भागनि पूरब उयौ अहो अपूरब चन्द ॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :—(यह द्वैज धनि)—यह द्वितीया धन्य है, (जहां लख्यौ)—जिसमें देखा (अर्थात् नायक-रूप चन्द्र) (दृगनि दुखद्वन्द तज्यौ)—आँखों ने दुख का बखेड़ा छोड़ दिया, अर्थात् इसके दर्शन से आंखें सुखी हुईं, अदर्शन का दुख दूर हुआ। (अहो तुव भागिन)—आ हा ! यह तेरे भाग्य से, (पूरब. अपूरब चन्द उयौ)—पूर्व दिशा में अपूर्व † चन्द्रमा उगा है।

दोयज के दिन नायिका को चन्द्रमा दिखाने के बहाने, पूर्व दिशा में खड़े हुए नायक को सखी दिखाती है कि यह दोयज धन्य है जहाँ आंखें इस अपूर्व चन्द्र को देख दुख छोड़ सुख पाती है। दोयज का चन्द्रमा, पश्चिम में उदय हुआ करता है, पर यह पूर्व में उदय हुआ है, इसलिये अपूर्व चन्द्रमा' है। जो तेरे भाग्य ही से उदय हुआ है, देख और आंखों का दुःख द्वन्द्व दूर कर !

---

* "जो उक्ति काहू साधु की होय तो चित्त सो जानिए। वितर्क-सञ्चारी ने पोष्यो निर्वेद स्थायी, कथन अनुभाव से शान्तरस व्यङ्ग्य।" (अनवर चन्द्रिका)

अनवर चन्द्रिका में "किये कपट चित कोटि" पाठान्तर है।

† अमर चन्द्रिकाकार ने नायक के प्रति सखी का वचन लिख कर "अपूर्व" का यह अर्थ किया है कि पूर्ण चन्द्रमा 'राका'-पूर्णमासी-को होता है, पर यह दोयज के दिन ही पूर्ण चन्द्र उग रहा है, इसलिये 'अपूर्व' है-" इत्यादि।

—"नायिका संकेत में आई है, नायिका ने नायक को अन्य नायिका देखत देख्यो है। तब नायिका को वचन। उत्तमा नायिका। किंवा —खण्डिता को वचन, नखक्षत देख्यो। पूरब सो सन्मुख, पच्छिम सो पीछे। 'अपूरब चन्द सों लाल चन्द तुरत को चन्द-नखक्षत-विपरीत लक्षणा से" (प्रताप चन्द्रिका)

अलंकार—१—"पर्य्यायोक्ति" । —चन्द्र दर्शन के बहाने नायक को दिखाना इष्ट है ।

२—"प्रस्तुतांकुर ।"—

"प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः ।"

"प्रस्तुत-अंकुर प्रस्तुत ही प्रस्तुत देइ जताय ।"

चन्द्रमा और नायक दोनों प्रस्तुत । प्रस्तुत चन्द्रमा से प्रस्तुत नायक जताया, (हरि कवि के मत में) । दकार से "वृत्यनुप्रास ।"

अस्सी

नेह भरे हिय राखिये

[नायिका नायक से मान किये रूखी बनी बैठी है । सखी कहती है कि हा दैव ! अरी सखी ! तेरा यह रुखाई का स्वभाव किसी प्रकार भी नहीं जाता । तुझे नायक अपने स्नेह से भरे हृदय में रखता है, पर तू फिर भी रूखी ही दीखती है । —स०]

(८०)

एरी यह तेरी दई क्यौं हूं प्रकृति न जाय ।
नेह भरे हिय राखिये तू रूखियै लखाय ॥

(सखी का वचन सखी से)— *

अर्थ :—(दई) हा देव ! (एरी ! तेरी यह प्रकृति क्यौं हूँ न जाय)—एरी सखी ! तेरा यह स्वभाव किसी प्रकार भी नहीं जाता ! (नेह भरे हिय राखिये)—तुझे नायक अपने स्नेह भरे हृदय में रखता है, (तू रुखियै लखाय —पर तू रूखी ही दीखती है !

नायिका, नायक से मान किए 'रूखी' बनी बैठी है । सखी कहती है कि आश्चर्य की बात है तेरा यह (रुखाई का) स्वभाव किसी तरह भी नहीं जाता ! नायक के स्नेह पूर्ण हृदय में रह कर भी तू रूखी ही रही ! कुछ भी स्नेह (प्रीति, चिकनाई) का असर न हुआ ! घृत तैल आदि स्नेह भरे पात्र में कैसी ही रूखी चीज डाल दी जाय, वह चिकनी हो जाती है, पर तू रूखी की रूखी ही रही !

अलंकार—"अतद्गुण"—

"सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम् ।"

"सु अतद्गुण जहँ संग को कुछ गुण लागत नाहिं ।
नेह भरे हिय में रहे होत चीकनी नाहिं ॥"

(अमर चन्द्रिका)

"विरोधाभास"—स्नेह से भी चिकनी नहीं होती, 'स्नेह' और रूखा' पद श्लिष्ट हैं । स्नेह—तैल और प्रीति । रूखा = रूक्ष और अप्रसन्न । "विशेषोक्ति"

— स्नेह कारण से चिकनाहट कार्य्य न हुआ ।

"मीर" का यह शेर भी कुछ कुछ इसी भाव का है—

"आंखों ही में रहे हो दिल से नहीं गये हो,
हैरान हूँ ब शोखी आई तुम्हें कहां से ?

* "बाण [त] दूती की उक्ति मानिनी नायिका से, उपालम्भ संचारी" (प्रताप चन्द्रिका)—

इक्यासी

द्यौसक तें पिय चित चढ़ी

[सखी कहती है कि दो एक एक दिन से तू प्रिय के चित्त पर चढ़ गई है यह बात तेरी चढ़ी हुई त्यौरियां कह रहीं हैं। तेरी चाल अब और ही तरह की हो गई है, निराली हो गई है, वचन भी और ही तरह के हो गए हैं और मुँह का रंग भी कुछ और ही हो गया है। —स०]

(८१)

औरै गति औरै बचन भयो बदन रंग और।
द्यौसकतें पिय चित चढ़ी कहै चढ़ौहैं त्यौर॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :—(औरै गति)—और ही तरह की निराली चाल है, (औरै वचन)—वचन भी और ही तरह के हैं, (बदन रंग औरै भयो)—मुँह का रंग भी कुछ और ही हो गया है, (चढ़ौ है त्यौर कहै)—चढ़ी हुई त्यौरी कहती है कि (द्यौसकतें पिय-चित चढ़ी)—दो एक दिन से तू प्रिय के चित्त पर चढ़ गई है!

नायिका की चाल ढाल, रूप रंग, और ढंग, बदले देख कर सखी कहती है कि मालूम हुआ, तू कुछ दिनों-से प्रिय के चित पर चढ़ी है, इसी से यह रंग चढ़ा है! इसी से यह सब बातें हैं!

लक्षिता नायिका।

अलंकार—"भेदकातिशयोक्ति"—औरै" पद के योग से। "वृत्यनुप्रास" —चकार से।

बयासी

पुलकैं कहत पुकारि

[मानिनी नायिका प्रीत छिपाने के लिए नायक की ओर पीठ किये बैठी है। सखी कहती है कि तू मुँह फेरे इधर को देख रही है पर हे नारी! तेरा चित्त तो प्रिय के सामने है। नायक की दृष्टि पड़ने से तेरी पीठ पर उठे हुए रोमाञ्च तेरे इस भेद को पुकार कर कह रहे हैं। —स०]

(८२)

रही फेरि मुँह हेर इत हित समुहै चित नारि।
दीठि परत उठि पीठ की पुलकैं कहत पुकारि॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(मुँह फेरि इत हेर रही)—तू मुँह फेरे इधर को देख रही है, पर (नारि, चित, हित-समुहै)— हे नारी! तेरा चित्त—हित-प्रिय—के सामने है। (दीठि परत)—नायक की दृष्टि पड़ने से (उठि पीठ की पुलकैं)— उठे हुए पीठ के रोमाञ्च (पुकारि कहत)— इस बात को पुकार के कह रहे हैं।

मानिनी नायिका, नायक की ओर पीठ फेरे, सखियों-की तरफ़ देख रही है, या प्रीति छिपाने के लिये, नायक की ओर पीठ किए बैठी है। पर उसे नायक के देखने से सात्त्विक रोमाञ्च हो रहा है। सखी कहती है कि तू कितना ही उधर से मुँह फेरकर बैठ, तेरा चित्त उसी तरफ़ है, इस बात को हम नहीं तेरी पुलकित पीठ पुकार कर कह रही है। मुंह फेरने से क्या होता है! जो बात है वह पीठ कह रही है!—"लक्षिता" * नायिका।

१— अलंकार— "अनुमान"— पुलक से प्रीति का ज्ञान। २—"पांचवीं विभावना"—मुंह फेरने से भी हित (प्रिय) सामने रहा'— यह विरुद्ध कार्य्य। ३—"काव्यलिंग—प्रीति का पीठ की पुलक से समर्थन किया। ४—'छेकानुप्रास" हित, चित, दीठि, उठि, इत्यादि।

इसी भाव की एक प्राकृत गाथा "गाथा-सप्तशती" में भी है। यथा :—

"अवलम्बिअमाणपरम्मुहीए एन्तस्स माणिणि पिअस्स।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ, संमुहठिअं हिअअम् ॥"
("अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि! प्रियस्य।
पृष्ट-पुलकोद्गमस्तव कथयति संमुखस्थितं हृदयम् ॥")१।८७।

× × ×

प्रणय कलह से कुपित नायिका से सखी कहती है कि तू "अवलम्बित मान"—पकड़े हुए—बनावटी मान —से मुँह फेरे बैठी तो है, पर तेरा "पृष्ठ-पुलकोद्गम" —पीठ की पुलकें, रोमांच—पीछे की ओर आये हुए प्रिय को यह सूचना दे रहा है कि हृदय तेरा नायक के 'सम्मुख स्थित'—सामने—है!

तू बनावटी मान से नायक की ओर पीठ किए हुए बैठी है, पर पीठ की पुलकावलि कह रही है कि मुंह किधर ही हो हृदय तुम्हारे (नायक के) सामने ही है!

दोनों में बहुत साम्य है—'पराङ्मुखी'— 'मुँह फेरि' 'पृष्ठ—पुलकोद्गम'—"पीठ की उठी पुलकैं"। "हितसमुहै चित"—"सम्मुखस्थितं हृदयम्"। 'कहत'— "कथयति" —सब कुछ एक समान है। गाथा में मुंह फेरकर बैठने का कारण 'अवलम्बित-मान' पद से स्पष्ट कह दिया है। दोहे में यह गूढ़ है कि मान से नायक की ओर पीठ किए है या लज्जा से। और यही कुछ अच्छा मालूम होता है। दोहे में पीठ पर पुलकैं उठने का कारण दृष्टि का पड़ना कह दिया है। गाथा में नहीं कहा है। नायक की दृष्टि पड़ने से पीठ पर पुलकैं उठ आना, अनुरागातिशय और सौकुमार्य्याधिक्य का द्योतक है। इस विशेषता और पदावली की सुन्दर रचना से दोहा बढ गया है! सहृदय जन इसमें साक्षी हैं।

तिरासी

ताही के उर लागि

[नायक को सामने देख नायिका प्रेम—चेष्टा करके सखी से लिपटती है। सखी कहती है कि वे तेरे नायक उधर खड़े हैं। वे आलिङ्गन के लिए अधीर हो रहे हैं, आलिङ्गन की उम्मीद लगाए खड़े हैं। जल से जल की अग्नि नहीं बुझती। अतः जिनसे तेरा हृदय लग गया है, जिनसे तेरा दिल मिल रहा है अथवा जिनकी छाती से तेरी छाती लग चुकी है, उन्हीं की छाती से तू जाके लग। —स०]

(८३)

वे ठाढ़े [ड़े] उमदा [ड़ा] त उत जल न बुझै बड़वागि।
जाही सौं लाग्यो हियो ताही के उर लागि॥

---

* "परिहास पूर्वक हेत लक्षित कियो, मानाभास" (प्रताप चन्द्रिका)

(सखी का वचन नायिका से)—

—अर्थ :—(वे† उत ठाढ़े उमदा [ड़ा] त)—वह (नायक) उधर खड़े आलिंगन के लिये उमड़ा रहे हैं। अथवा आलिंगन की उम्मीद में हैं ! (जल बड़वागि न बुझै) —जल से बड़वाग्नि नहीं बुझती, (जाही सौं हियो लाग्यो। —जिनसे तेरा हृदय लगा है—दिल मिल रहा है—अथवा "जा ही सौं हियो लाग्यो"—जिसकी छाती से तेरी छाती लग चुकी है (ताही के उर लाग) उसी की छाती से लग !

नायक को सामने देख नायिका, प्रेमचेष्टा करती है, सखी से लिपटती है। सखी कहती है वह सामने खड़े उमड़ा रहे हैं उनसे जाकर लिपट, मुझसे क्यों चिपटती है ! मेरी छाती लगने से तेरी कामाग्नि न बुझैगी, किन्तु प्रिय-के हृदय लगने से ही बुझैगी, यह भाव। क्योंकि पानी से (बड़वानल) पानी की आग नहीं बुझती।

लक्षिता नायिका।

१—अलंकार—"अर्थान्तरन्यास"—वे ठाढ़े (ड़े),—विशेष का 'जाही से लाग्यो—सामान्य से समर्थन किया। २—"दृष्टान्त" (प्रताप के मत में) यथा :— जैसे बड़वाग्नि ईश की बुझाई बुझती है जल से नहीं बुझती, वैसे—नायक जो तेरा ईश (स्वामी) है उसी से तेरी कामाग्नि बुझैगी मेरे छाती लगने से नहीं बुझैगी।"—

कवि परमानन्द के मत में 'लोकोक्ति'—'दृष्टान्त'—यथा —

"शमं नोपैति वाडवो विना समुद्रजलेन।"

एतल्लोकदृष्टान्तेन द्रढयति इहास्मिन् लोके समुद्रजलेन बिना वाडवो—वडवानलः–शमं–शान्तिं–नोपैति।"

अर्थात् जैसे समुद्र जल के बिना (अन्य जल से) वाडवाग्नि शान्त नहीं होती, ऐसे ही मुझसे लिपटने से तेरी कामाग्नि शान्त नहीं होगी। इस प्रकार बिम्ब प्रति-बिम्ब भाव से "दृष्टान्तालङ्कार" है। और ऐसा लोक में प्रसिद्धि में है, इसलिये 'लोकोक्ति" भी है।

"स्वभावोक्ति" और काकूक्ति" (अमरचन्द्रिका के मत में)— नायिका का सखी से इस तरह लिपटना, 'स्वभावोक्ति"। सखी का यह कहना कि "जल न बुझै वडवागि"—अर्थात् मुझसे लिपटने से काम न बनेगा किन्तु नायक से लिपट, यह "काकूक्ति" !

चौरासी

लाज गरब आरस उमँग

[लज्जा, गर्व, आलस्य, उमंग, उत्साह से भरे तेरे नेत्र मुसकरा रहे हैं। तू आज रात को प्रीति पूर्वक रति में रमी है; नायक से तूने मनमाना विहार किया है, इस बात को प्रातः काल के समय की तेरे इन नेत्रों की विलक्षण शोभा प्रकट किये दे रही है। इन नेत्रों में लज्जा और आलस्य के साथ साथ, गर्व और उमंग के विरोधी भाव भी एक साथ ही लक्षित हो रहे हैं, इसलिए इनकी शोभा विलक्षण है। —स०]

(८४)

लाज गरब आरस उमँग भरे नैन मुसकात।
राति रमी रति देति कहि औरै प्रभा प्रभात॥

† नायक को देख नायिका चेष्टा करे है, तहाँ सखी वचन। "वे ठाढे, उमदाहु उत"—वे ठाढे, वे नायक ठाढे हैं 'उत' उनकी ओर 'उमदाहु'—उन्मत्त की सी चेष्टा करो। कोई "उमदाहु" को अर्थ—तेरी उमेद में ठाढे हैं"—कहत हैं।" (हरि प्रकाश)

(सखी का वचन नायिका से *)—

अर्थ :—लाज, गरब अरब, आरस, उमँग, भरे नैन मुसकात)—लज्जा, गर्व, आलस्य, उमंग (उत्साह) इनसे भरे तेरे नेत्र मुसकरा रहे हैं। अथवा, उक्त लज्जादि तेरे नेत्रों में भरे हैं, और तू मुसकरा रही है, (राति, रति रमी)— आज रात प्रीति से या रति में तू रमी है, नायक से विहार किया है, इस बात को (प्रभात औरै प्रभा कहि देत)—प्रात: काल के समय और दिन से विलक्षण शोभा कहे देती है।

—लज्जा— स्वाभाविक सखीजनादि की। गर्व—नायक को वशकर सपत्नियों पर विजय पाने का। आलस्य—रतजगे और रति-रण के श्रम का और उससे अपूर्व रति-रत्न-लाभ की उमंग। साधारण परिश्रमजन्य आलस्य के साथ उमंग नहीं होती, इसमें उमंग भी मिली है। ये सब परस्पर-विरुद्ध भाव नेत्रों में पड़े झलक रहे हैं, जिनसे एक अद्भुत शोभा प्राप्त हो रही है।

—साधारण लज्जा और आलस्य में आँखें अच्छी तरह खुलती भी नहीं पर पर इस विलक्षण लज्जा और आलस्य के साथ गर्व और उमंग भी है जिनसे आँखें मुसकरा सी रही हैं? ये एक एक, रात की रति की गवाही दे रहे हैं!

१ – अलंकार—"भेदकातिशयोक्ति"–"औरै" पद से।

२—"तुल्ययोगिता"–'भरे'–एक क्रिया से (पूर्वार्द्ध में)।

२ – "पर्य्याय द्वितीय"— एक नेत्र या नायिका में लाज आदि अनेक का निवास होने से।

पचासी

सारी परी सरोटि

[तूने सुखों की गठरी लूट ली है, यह बात अब साबित हो गई। अब तू मुकर मत; इनकार मत कर। इस पर नायिका सखी से कहती है कि चुप रह, झूठा इलजाम मत लगा। सखी उत्तर देती है कि यह सलवट पड़ी, मसली हुई तेरी साड़ी ही तेरी चुगली कर रही है। —स०]

(८५)

नट न सीस साबित भई लुटी सुखन की मोट।
चुप करियै चारी करति सारी परी सरोटि॥

(नायिका से सखी का वचन)—

अर्थ: — (नट न)—मुकरे मत, इन्कार न कर, (सुखन की मोट† साबित भई)—तैंने सुखों की गठड़ी लूटी है, सो साबित हो गयी। (ये सरोट परी सारी)—यह सलवट पड़ी साड़ी चुप करि चारी करति)—चुपके से चुगली कर रही है। अथवा—(चुप करि)—नायिका की उक्ति कि, चुप रह, झूठा इल्जाम मत लगावे। आगे सखी का वाक्य—कि, मैं क्यों चुप रहूँ, तेरी मसली हुई साड़ी ही चारी (चुगली) कर रही है, इसे चुप कर!

---

* "अन्यसम्भोगदु:खिता की भी उक्ति, खण्डिता की उक्ति। किंवा—रमन को रति औ प्रभा कहती है, लाज लोक की। हमें ऐसी नायिका मिली है या तें गरब। आलस, रात जागे हौ तासों तुम विषैं है। और उमग भरे तुमारे नैन हैं और तुम मुसुक्यात हो औरि दिन औरि प्रभा आज औरि प्रभा।" (हरि प्रकाश)—

† मोट—पोट, गाँठ, गठड़ी। सुखों की मोट—बहुत सुख।

"सुरतलक्षिता" से सखी सुख लूटने का हाल पूछती हैं, वह मनः करती है, तब सखी सलवट पड़ी साड़ी की साक्षी—(मौक़े वारदात का चश्मदीद गवाह !)—बनाकर अपना पक्ष सिद्ध करती है कि बस चुप रह, बहुत बातें न बना, सुख की पोट लूटने का पता तो जहाँ तहाँ से सुकड़ी हुई मली दली तेरी यह साड़ी ही दे रही है !

—मानो तेरे इस सफ़ेद झूठ पर साड़ी को क्रोध आ रहा है। जिससे इसके (साड़ी के) चहरे पर सलवटें पड़ गयी हैं ! !

१—अलंकार—"काव्यलिंग"—सुख की लूट, सलवट पड़ी साड़ी से दृढ़ की।

२—'अनुमान"—साड़ी की सलवटों से सुरत का 'अनुमान' किया। ३—"लोकोक्ति"—'सीस सावित भई' में। ४—'पहली विभावना''—जो बोले सो चुगली करे, साड़ी बोलती नहीं, और चुगली करती है !

५—"सम्बन्धातिशयोक्ति"—'मोट पद से।

—"सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योग-कल्पनम्।"

"सम्बन्धातिशयोक्ति जो देत अजोग हि जोग।"

—सुखों की मोट बाँधना, अयोग को योग देना है। (सुख कोई अनाज की ढेरी नहीं है, जिसकी मोट बँध सके)—

६—"छेकानुप्रास"—'चारी—सारी' में।

७—"वृत्त्यनुप्रास"—सकार रकार से।

—:०:—

छिआसी

मो सों मिलवति चातुरी

[सखी कहती है कि तू तो मुझसे चतुराई की चाल चलती है और भेद छिपाती है पर पौष मास में तेरे शरीर पर झलका हुआ यह पसीना, सारी बात साफ कहे दे रहा है। —स०]

(८६)

मो सों मिलवति चातुरी तू नहिं भानति भेव ।
कहै देत यह प्रगट ही प्रगट्यौ पूस पसेव ॥

(सखी का वचन नायिका से)— *

अर्थः—(मो सों चातुरी मिलवति)—मुझसे चतुराई चलाती है ! (तू भेव † नहिं भानत)—तू भेद नहीं फोड़ती—भेद की बात नहीं कहती। (यह प्रगट्यौ पूस पसेव †)—यह प्रकट हुआ पौष मास का पसीना ही (प्रगट ही कहै देत)—जो बात है उसे प्रकट कह देता है !

तू तो मुझसे भेद छिपाती और चतुराई की चाल चलती है, पर पौष मास में तेरे शरीर पर झलका हुआ यह पसीना, सब कुछ साफ़ कह रहा है ! क्यों ?

अलंकार १—"विभावना" पहली—

— 'बिन कारन कारज, उदय, ग्रीषम बिन प्रस्वेद"। अमर चन्द्रिका)

२—'काव्यलिंग"—पौष के प्रस्वेद ने रति को दृढ़ किया।

३—"वृत्त्यनुप्रास" 'पकार' से। "छेकानुप्रास"—'भानति भेव' में।

—*—

* "सखी की उक्ति नायिका सों है, जो पसीना सुरति को है (सुरत—श्रम जन्य है) तो नायिका लक्षिता है, जो सात्विक भाव है तो सखी उपालम्भ मिस परिहास करति है।" (प्रताप चन्द्रिका)

† पाठान्तर—भेद। प्रस्वेद।

सत्तासी

अलसौंहैं सौंहैं किये

[सखी कहती है कि तू रँगीले रतजगे में जगी है, कुल देवता या विवाहोत्सव आदि के रतजगे में नहीं जगी। सुख, चैन में तू पग रही है। तेरी इस बात को तेरे ये उनींदे, आलस्य भरे नयन जो सामने पड़ते ही हँसे से दे रहे हैं, साफ़ ज़ाहिर किये दे रहे हैं। —स०]

(८७)

सही रँगीले रति-जगे जगी पगी सुख चैन।
अलसौंहैं सौंहैं किये कहैं हँसौंहैं नैन॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :—सही, रँगीले * रतिजगे जगी)—सही है = बिलकुल सच है = कि तू 'रँगीले' रतिजगे में जगी है—कुलदेवता या विवाहोत्सवादि के रतजगे में नहीं. किन्तु रँगीले रति के रतजगे में जगी है—(सुख चैन † पगी)—सुख चैन में— अत्यन्त सुख में— पग रही है। (अलसौहैं, हँसौहैं. सौहैं किये, नैन, कहैं)— इसे, आलस भरे—उनींदे, और हँसौहें—हास्ययुक्त—हँसीले—तेरे नेत्र 'सौहैं' किये'' —सौगन्ध खाकर कह रहे हैं। अथवा 'सौहैं किये हँसौहैं' —सामने करने से जिनमें हँसी आ रही है, ऐसे ये नेत्र कह रहे हैं।

आलस्य, हर्ष सञ्चारी। आकृति अनुभाव से 'लक्षिता' नायिका।

—अलंकार १— "काव्यलिंग"— 'अलसौहैं नेत्र'—इत्यादि— से रति का रतजगा दृढ़ किया।

२—"अनुमान" अलसौंहैं नेत्रों से रतजगे का अनुमान है।

३—"यमक"—अलसौहैं— इत्यादि में।

४—"छेकानुप्रास"—जगी पगी से। और,

५—"वृत्त्यनुप्रास"। काव्यलिंग, यमक, और अनुप्रास की—संसृष्टि''।

—:०:—

---

* "रँगीली"—पाठान्तर में, हे रँगीली ! यह अर्थ। "रतिजगे"—श्लेष में, रति के लिये ज (ागरन तामें जगी है।" (हरि प्रकाश)

† "सुख चैन" की पुनरुक्ति से बचने के लिये हरि कवि ने "सुख चयन" सुखों का समूह (चय—समूह, 'न' बहुवचन वाचक) अर्थ किया है। और लल्लू लाल जी ने—"चैन यह"—कि विरह की पीर मिटी, और 'संग का सुख हुआ"—यह अर्थ किया है। परन्तु 'सुख चैन' एक साथ बोला जाता है, ठेठ मुहावरा है।

अट्ठासी

श्रौरे श्रोप कनीनिकनि

[सखी नायिका की पुतलियों की प्रशंसा कर रही है कि तेरी पुतलियों की कान्ति कुछ और ही है। यह विलक्षण है। तेरी पुतलियाँ सैकड़ों पुतलियों की सिरताज हैं। ये स्वामी के स्नेह की मणि हैं। यद्यपि ये लज्जा रूप वस्त्र में बँधी और छिपी हैं, पर फिर भी इनका प्रकाश छन कर बाहर निकल रहा है। मणि के प्रकाश को कपड़े का आवरण भला कैसे छिपा सकेगा ? —स०]

(८८)

औरै ओप कनीनकनि गनी घनी सिरताज।
मनी धनी के नेह की बनी छनी पट लाज ॥

(नायिका से सखी का वचन)* —

अर्थ:— (कनीनकनि † और ओप)—तेरी कनीनिकाओं—आँखों की पुतलियों—में कुछ और ही कान्ति है, (घनी सिरताल गनी)—बहुत सी कनीनिकाओं की वह (तेरी कनीनिका)—सिरताज गिनी गई—मानी गई - हैं ! (पट लाज बनी, छनी)—लज्जा रूप वस्त्र में बनी—स्थित, छिपी या बँधी हुई भी, छनी—छन रही है—छन कर प्रकाश निकल रहा है !

सखी नायिका की प्रशंसा कर रही है कि तेरी पुतलियों की कान्ति कुछ और ही है. सबसे विलक्षण है। तेरी कनीनिकाएं सैंकड़ों की सरदार हैं, स्वामी के स्नेह की मणि हैं। यद्यपि लज्जा रूप वस्त्र में बँधी और छिपी हैं तो भी उनका प्रकाश छनकर बाहर निकल रहा है ! मणि के प्रकाश को कपड़े का आवरण छिपा नहीं सकता !

इस दोहे पर 'अमर चन्द्रिका' की 'वार्ता' और हरि कवि की व्याख्या इस प्रकार है:—

"अर्थ कि—पिय के नेह की "मनी"—मनी के द्वै अर्थ, एक गर्व एक मणि। सो वह (मणि) लज्जा रूपी पट (वस्त्र) में 'छनी'—निकसी है, लाज में छिपावती है तऊ प्रगट होती है। जैसे निर्मल मणि की कान्ति पट में बाँधे हू छवि निकसती हैं। या के अर्थ और हू हैं, पर यह मुख्य है। 'मनी' शब्द श्लिष्ट।" (अमर चन्द्रिका)

दोहे के जिन 'और अर्थों' की ओर सुरतिमिश्र ने ऊपर इशारा किया है, वे हरि कवि ने लिखे हैं :—

"कनीनिका" जो तेरी आँखों की पुतली है, उसमें आज और ही (और दिन से विलक्षण) 'ओप' चमत्कार या प्रकाश है कनीनिका कैसी है कि अन्य नायिकाओं की 'घनी' बहुत जो कनीनिकाएँ उनकी 'सिरताज'—सरदार है, और "मनी धनी के नेह की'— धनी– (नायक) के स्नेह की 'मनी' है। नायक का स्नेह हम से ही है और से नहीं, इस प्रकार—मनी मानने वाली—है। नथवा नायक के स्नेह की 'मणि'— (मणि के तुल्य)—प्रकाशक है !

---

* "सखी की उक्ति सखी (नायिका) सौं, नायिका की स्तुति करति है। कनीनिका, नेत्र पुत्रिका, वितर्क भाव ध्वनि है।" (अनवर चन्द्रिका)

—"अन्यसंभोगदुःखिता को वचन सखी सों। किंवा 'लक्षिता' सों सखी वचन। (हरि प्रकाश)

† 'रस चन्द्रिका' में 'कनीनि—कन' पृथक् पद मानकर 'कनि' का 'मनी' के साथ अन्वय किया है, अर्थात कनीनि—कनीनिका, मनी की 'कनी' है।

उन कनीनिकाओं में पट-छनी लाज बनी है। बड़ी लज्जा तो जाती रही है, पर पट-छनी—सूक्ष्म—लाज अब तक बनी हुई है। कपड़छन की हुई चीज़ सूक्ष्म होती है !"—

अथवा—'मनी'—रूप गुण का गर्व करने वाला 'मानी'—जो नायक है, उसकी वह (कनीनिका) 'बनी' दुलहिन है, अर्थात् नायक का स्नेह इनसे लगा रहता है। नायक का स्नेह 'बना' दुलहा और कनीनिका 'बनी' है ! जो लाज के पट -- वस्त्र-में 'छनी' आच्छन्न—छिपी है"—
(हरिकवि)

"कनीनिका" आंख का तारा। तात्पर्य्य—"औरै ओप कनीनिकन" तेरी आंख के तारे में और ही छवि है। 'गनी घनी सिरताज"—तुझको मैं बहुतों की सिरताज समझती हूँ। "मनी धनी के नेह की बनी"—प्रिय के प्रेम की बनी मणि, "छनी पट-लाज"—लाज के कपड़े में छन रही है। अर्थात् लाज करने से छिपती नहीं।"—
(व्यास जी)

—अलङ्कार १—"भेदकातिशयोक्ति"—"औरै" पद के योग से। २—तीसरी विभावना"—प्रतिबाधक—लज्जा रूप वस्त्र से भी प्रकाश छन रहा है। ३—"वृत्य-नुप्रास"—गनी, धनी इत्यादि में स्पष्ट ही है।

नवासी

पुलक पसीजे गात

['रति लक्षिता' नायिका से सखी पूछती है कि यह वसन्त ऋतु है ? इसमें न बहुत गरमी पड़ती है, जो पसीना आ जाय न ऐसी ठंडी हवा ही चलती है, जिससे रोमाञ्च हो जाये। अरी ! फिर बता कि तेरे पसीना आए हुए शरीर पर ये रोमाञ्च क्यों उठ खड़े हुये हैं ? —स०]

(८९)

यह बसन्त न खरी गरम अरी न सीतल बात।
कह क्यौं प्रगटे देखियत पुलक पसीजे गात॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थः—(यह बसन्त)—यह बसन्त ऋतु है, (अरी)—अरी सखी ! (न खरी गरम)—न अधिक गर्मी है, (न सीतल बात)—न शीतल वायु है। फिर (कह, पसीजे गात)—बतला, पसीजे—पसीना आये हुए—शरीर पर (पुलग प्रगटे क्यौं देखियत)—रोमाञ्च उठे हुए क्यों दीखते हैं !

नायक के सन्निकर्ष से नायिका को सात्त्विक रोमाञ्च और पसीना हो आया है। अथवा 'रतिलक्षिता' नायिका है। उससे सखी पूछती है कि यह बसन्त ऋतु है, इसमें न बहुत गर्मी पड़ती है जो पसीना लावे, और न ऐसी ठंडी हवा ही चलती है, जिससे रोमाञ्च हो आवे ! फिर तेरे शरीर पर यह पसीना और रोमाञ्च क्यों प्रकट हुए दीख रहे हैं ! पसीने के लिए गर्मी और रोमाञ्च के लिए सरदी का बहाना तो चल नहीं सकता, इसका कोई और ही कारण है, जिसे तू छिपाती है, पर वह छिप नहीं सकता !

इस दोहे में क्रम-हीनता दोष की शंका उठाकर, पहले टीकाकारों ने कुछ समाधान किया है, कि दोहे के पूर्वार्द्ध में पहले 'गरमी' फिर 'शीतलबात' है। इसी क्रम से उनके कार्य्य 'पसीजना' (पसीना आना) और 'पुलकित

होना' आने चाहिए थे, परन्तु वैसा नहीं है । पहले 'पुलक' और 'पसीज' है। इस प्रकार यहाँ क्रम-हीनता (प्रक्रमभङ्ग) दोष है।

अमर चन्द्रिका में आधाराधेयभाव की कल्पना करके इसका निवारण किया है। तद्यथा:—

प्रश्न:—
"१ गरम २ सीत कहि पुनि, २ पुलक अरु १ पसीज 'क्रमहीन'
उत्तर—"अरी पसीजे गात में दिखियत पुलक सुलीन ।।"

—अभिप्राय यह है कि 'पसीजे गात' आधार है। 'पुलक' आधेय है। पसीजे गात में पुलक है । इस प्रकार 'पुलक' जो शीतल बात का कार्य है, पीछे ही पड़ा। 'पसीजना' जो गरमी का कार्य है, वह पहले रहा।

इस बात को अमर चन्द्रिका ने एक उदाहरण द्वारा विस्पष्ट किया है —

"जैसे सब तीर्थ पुष्कर में देखे—तहाँ पुष्कर कौ भाव प्रगट होत है (नाम प्रथम ही प्रकट होता है!)"

रसचन्द्रिका में यह समाधान दिया है कि :—

"...... सो यह बात दोहरे के छन्द के वास्ते धरी है याकौ दोष नहीं, बहुत जगह आयो है !"—

यहाँ— क्रम विवक्षित नहीं है—इत्यन्ते।

अथवा —दोहे का 'सोरठा' कर देने से 'क्रमभङ्ग' यथ ा—

"अरी न सीतल बात, यह बसन्तन खरी गरम।
पुलक पसीजे गात, कह क्यौं प्रगटे देखियत ।।"

सतसई में और भी कई सोरठे हैं।

हरि कवि ने खन्डिता की उक्ति में लगाकर यह अर्थ भी किया है कि—

"खण्डिता कहती है कि हे सखी ! तू कहो गात में (नायक के) प्रगट पुलक देखियतु है, जानति हौं (मैं जानती हूं) काहू सो 'पसीजे'—राजी भये"—

अलंकार—१-"विभावना"—बिना गरमी के प्रस्वेद और बिना सरदी (कारण) के रोमाञ्च (कार्य) हुआ।

श्री प्रताप ने 'खरी' क्रिया का अन्वय खरी गरमी और खरी सीतल बात, दोनों के साथ मानकर, "एक क्रिया तें "तुल्ययोगिता" भी मानी है।

नब्बे

जग जानी विपरीत रति

[हे बाले ! मेरे पूछने पर तू बात क्यों छिपाती है, क्यों मुझे बहकावे देती है ? प्रिय के माथे पर बिन्दी लगी देख कर सारे जग ने तेरी विपरीत रति की बात अब जान ली है। —स०]

(९०)

मेरे बूझे बात तू कत बहरावति बाल।
जग जानी विपरीत रति लखि बिंदुली पिय भाल ।।

(नायिका से सखी का वचन *)—

अर्थ :—(बाल) = हे बाल ! (मेरे बूझे बात, तू कत बहरावति) मेरे पूछने पर तू बात को क्यों छिपाती है, क्यों बहकाती है, ! (पिय-भाल, बिंदुली लखि) = प्रिय के माथे पर बिन्दी देखकर, (जग, विपरीतरति जानी) = जगत ने विपरीत-रति जान ली !

* नायिका के अवहित्या सञ्चारी । विपरीत, रति, सखी ने तर्क-भाव-तें लक्षित करी। एक मत से नायिका मध्या। (अनवर चन्द्रिका)

सखी ने नायक के माथे पर बिन्दी लगी देखकर अनुमान किया कि इन्होंने 'विपरीत-लीला' की है—नायिका ने नायक का और नायक ने नायिका का पार्ट part लेकर विपरीत विहार किया है—सो वह नायिका से कहती है कि मेरे पूछने पर क्यों छिपाती है ? तेरे प्रिय के—(विपरीतरति में "नायिकायमान" नायक के)—माथे पर लगी बिन्दी ही से एक मैंने क्या, जगत् ने, तुम्हारी वह 'उलटी बात' जान ली !

अलंकार- १—"अनुमान"— नायक के माथे की बिन्दी से विपरीत रति का अनुमान (अमरचन्द्रिका के मत से)। २— 'काव्यलिंग"—विपरीत रति का समर्थन बिन्दी से किया। (अनवर-चन्द्रिका के मत से)। जग जानी—'लोकोक्ति', और छेकानुप्रास' का एक वाचकानुप्रवेश सकरालंकार। (प्रतापचन्द्रिका)।

इसी दोहे के भाव की एक "आर्य्या" भी है—
"उषसि परिवर्तयन्त्या मुक्तादामोपवीततां नीतम्।
पुरुषायितवैदग्ध्यं व्रीडावति ! कैर्न कलितं ते॥
१२१ (आ० स०)

– सखी, लक्षिता' नायिका से कहती है कि—मोतियों का हार जो तैंने रात जनेऊ की तरह डाल लिया था, उसे अब तू प्रातः काल के समय ठीक कर रही है, (फिर पूर्ववत् माला की तरह पहन रही है) इसी से हे लज्जावति ! तेरी पुरुषायित-विदग्धता, किसने नहीं जान ली !

— अर्थात् मेरे पूछने पर तो तू बड़ी लज्जावती है, परन्तु जनेऊ की तरह पहनी हुई इस मोतियों की माला से एक मैंने ही क्या सबने तेरी विपरीत - रति - चतुरता की धृष्टता जान ली !

— इस प्रसंग में गले के हार को उनेऊ की तरह डालने में दो कारण हो सकते हैं। एक तो वह (हार) नीचे को लटकता हुआ विपरीत व्यापार में बाधक न हो। दूसरे—"पुरुषायमाणा" को पुरुष का चिन्ह—(जनेऊ)—धारण करना ही चाहिए !!

विहारी ने प्रिय के माथे पर बेंदी लगाकर इस भाव को और अच्छी तरह जगत्प्रसिद्ध कर दिया है !

यशवन्तयशोभूषण के ९४ पृष्ठ पर इस दोहे का संस्कृतानुवाद यह दिया है—
'पृष्टे ! मया किमु त्वं गोपायसि ते प्रियस्य भालगतम्।
बिन्दुं विलोक्य विश्वैर्विपरीता ते रतिस्तु संविदिता॥"

इक्यानबे

लाली ओठ अनूप

[नायक के चुम्बन करने से पान की पीक तो छुट गई है, पर चुम्बन के आघात की सुर्खी होठ पर झलक आई है। इस पर सखी कहती है कि तेरी यह सुन्दर कान्ति छिपाये नहीं छिपती। यह तेरी रति के रूप को प्रगट कर रही है। होठ पर से पान की पीक की लाली छुटने से क्या हुआ ? इस पर और ही लाली झलक आई है। —स०]

(९१)

सुदुति दुराई दुरति नहिं प्रगट करति रति रूप।
छुटे पीक औरे उठी लाली ओठ अनूप॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :—(सुदुति दुराई नहिं दुरति) = यह सुन्दर द्युति(कान्ति) छिपाए नहीं छिपती। किन्तु (रतिरूप प्रकट करति)=रति के रूप को प्रकट कर रही है। पीक छुटे) पान की पीक छूटने से (ओठ औरै अनूप लाली उठी)=होठ पर और ही अनुपम लाली चमक उठी !

नायक ने अधरपान किया है, इससे नायिका के अधर से पान की पीक तो छुट गई है, पर चुम्बन के आघात से पान की सुर्खी से विलक्षण एक और ही सुर्खी होठ पर झलक आई है।

अथवा नायक के चुम्बन करने से नायिका के होठ पर पान की पीक लग गई है, जिसे छुड़ाकर वह रति-चिन्ह मिटा रही है। इस पर सखी कहती है कि इस प्रकार छिपाने से यह सुन्दर शोभा नहीं छिप सकती, पान की लाली छुड़ाई तो क्या हुआ, पीक छुड़ाने की रगड़ से एक और लाली चमक आयी !

अलंकार—१—"भेदकातिशयोक्ति", औरै' पद से। २—'तीसरी विभावना"—पीक छुड़ाने रूप प्रतिबन्धक से लाली कार्य्य। ३—'वृत्त्यनुप्रास"।

हरिकवि ने 'अन्यसम्भोगदुःखिता' नायिका की उक्ति-परक यह भी अर्थ किया है कि "हे 'सुदुति !' † है सुन्दर दूती ! ('स्वयं दूती !') छिपाने से छिपता नहीं, तू अपने इस रूप से ही नायक की रति को प्रगट कर रही है…… इत्यादि।" इस अर्थ में स्तुति से निन्दा, "व्याजस्तुति"—अलंकार। "विशेषोक्ति"— छिपाए से नहीं छिपती, (प्रताप)।

बानबे

रँगी सुरत रँग पिय हिये

[सुरत लक्षिता नायिका से सखी कहती है कि तू सारी रात प्रिय के हृदय से लगी हुई जगी है। तभी तेरी देह में यह मस्ती और ऐंड़ है कि तू पग पग पर ठहर कर अभिमान से भरी ऐंड़ाई ले रही है, अँगड़ाई तोड़ रही है और इठला रही है। —स०]

(६२)

रँगी सुरत रँग पिय हिये लगी जगी सब राति।
पैंड़ पैंड़ पर ठठकि कै ऐंड़ भरी ऐंड़ाति॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(सुरत रँग रँगी)—सुरत के रंग में रंगी है। (पिय-हिये लगी, सब राति जगी)— प्रिय के हृदय से लगी, सारी रात जागी है। (पैंड़ पैंड़ पर ठठकि कै)—पग पग ठहर कर (ऐंड़ भरी ऐंड़ाति) अभिमान से भरी एड़ रही है— इठला रही है—! अँगड़ाई तोड़ रही है—!

सुरतान्त में, नायिका रात्रिजागरण के श्रम से और कुछ प्रिय-सभोग के अभिमान से, ठहर ठहर कर एक अदा से ऐंड़ रही है। सो सखी दूसरी सखी से कह रही है। अथवा सखी 'सुरत-लक्षिता' नायिका से ही कहती है कि इस अकड़ने और ऐंड़ने से मालूम होता है कि तू सारी रात प्रिय के हृदय से लगी और जगी है, तभी मस्ती और ऐंड़ है ! ऐंड़ भरी'—क्रिया—विशेषण। "पैंड़ पैंड़"—वीप्सा।

अलंकार—"स्वभावोक्ति" और "छेकानुप्रास"।

—

† "किंवा तेरी (नायकोपभुक्ता दूती की) सुन्दरि जो दूति (शोभा) सो दुरायें नहीं दुरति है"—(हरि प्रकाश)

तिरानबे

बीचहिं बीच बिकान

[सखी परिहास पूर्वक नायिका के रूप की प्रशंसा करती हुई कह रही है कि तेरे कान के कर्ण फूल का सोना तो तेरे कपोल की कान्ति में मिलकर बीच ही बीच में ग़ायब हो गया। उसमें जड़ी लाल लाल चुन्नी अलबत्ता दाँत के चिन्ह के समान रति काल के दन्तक्षत के समान, चमक रही है। —स०]

(९३)

तरवन-कनक कपोल दुति बीचहिं बीच बिकान।
लाल लाल चमकति चुनी चौका-चिन्ह समान ॥

(सखी का वचन सखी से *)—

अर्थ :—(तरवन-कनक)—तरवन†—तरकी, करन-फूल — या ढेढ़ी—कानका आभूषण विशेष— उसका सोना, (कपोलदुति, बीचहि बीच बिकान) - कपोल की कान्ति में मिलकर बीच ही बीच में ग़ायब हो गया ! (लाल लाल चुनी)—तरवन में जड़ी लाल लाल चुन्नी, (चौका-चिन्ह समान चमकति)— दाँत के चौके के चिन्ह के दन्तक्षत— के समान ⊙ चमक रही है !

सखी परिहास पूर्वक नायिका के रूप की प्रशंसा करती हुई कहती है कि तेरे कान का करनफूल का सोना तो कपोल की कान्ति में ऐसा मिल गया कि नज़र ही नहीं आता, और उसमें जड़ी लाल चुन्नी ऐसी पड़ी चमक रही है जैसे नायक के दन्तक्षत का चिन्ह हो !

अलंकार—१-"मीलित"—रंग रंग में मिल गया, अर्थात् सोने की तरकी द्युति मे ऐसी मिल गई कि तरकी और कपोल में भेद प्रतीत नहीं होता।

"मीलितं, यदि साहश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।"
"मीलित' सो, साहश्य तें भेद जबै न लखाय।"

२- 'पूर्णोपमा''-'चुनी'—उपमेय। 'चौका-चिन्ह'—उपमान। 'चमकना'—साधारण धर्म। 'समान'—वाचक पद।

३—"लोकोक्ति"—'बीच ही बीच बिकान' बीच ही में बिक गई, मोल भाव करने की नौबत भी न पहुंची !

४-"वृत्यनुप्रास"— चकार की अनेक बार आवृत्ति से। "एकस्याप्यसकृत् परः" (काव्य प्रकाश)

—एक व्यंजन की भी अनेक बार समता हो तो भी वृत्त्यनुप्रास होता है। और, एकवाचकानुप्रवेशसंकर'— (प्रताप चन्द्रिका)।

"मीलित और पूर्णोपमा का संकर (अमर चन्द्रिका)।

अथवा यदि सखी, सपत्नी से नायिका का रति चिन्ह छिपाने के लिये कहती है कि तेरी यह तरवन की लाल चुन्नी, दन्तक्षत के समान चमक रही है, तो-"व्याजोक्ति"।

---

* यदि नायिका सखी से कहती है तो रूप गर्विता की उक्ति।

† एक ब्रजवासी स्वर्णकार ने 'तरवन' अर्थात् करवन के ये पर्याय बतलाये— १—करनफूल, २—तरकुली, ३—ढेढ़ी, ४—बीर (ड़) और ५ ठेंठी, जो कान की लौर में पहनी जाती है।

⊙ "तरकी का सोना गाल की छटा के बीच ही बीच मिल गया। लाल लाल चुन्नी चमकती है जैसे दन्तक्षत।" (व्यास जी)

चौरानबे

पट कै ढिग कत ढाँपियत

[नायिका होठ पर के रति-चिन्ह अपने दन्तक्षत को कपड़ा आगे सरका कर छिपाती रही है। सखी कहती है कि तू इस दन्त-क्षत को कपड़े से ढक कर क्यों छिपाती है ? अरी सुभगे ! तेरा यह सुन्दर वेष (स्वरूप) बिना ढके ही सुन्दर प्रतीत होता है। यह हाल की बनी दन्तक्षत रेखा तेरे होठ पर हद दर्जे की शोभा दे रही है। —स०]

(९४)

पट कै ढिग कत ढांपियत सोभित सुभग सुबेख।
हद रदछद छबि देत यह सद रद-छद की रेख ॥

(सखी का वचन नायिका से*)—

अर्थः—(पट ढिग कै कत ढांपियत)—कपड़ा आगे को सरका कर क्यों छिपाती है, (सोभित सुभग. सुवेख [ष])—इस सुशोभित सौभाग्य के वेष— (रति-चिन्ह) को। अथवा हे 'सुभग' [गे !] सौभाग्वती ! यह सुवेष (बिना ढके) ही सुन्दर प्रतीत होता है। (यह सद रद-छद की रेख)—यह तुरत की दन्तक्षत की रेखा (रद छद, हद, छवि देत)—रदच्छद—होंठ—पर हदद र्जे की शोभा देती है।

नायिका रति-चिन्ह—दन्तक्षत—को कपड़े से छिपाती है, सखी कहती है, कि क्यों छिपाती है। यह दन्तक्षत इस दशा में क्या ही अपूर्व शोभा दे रहा है !

—अलंकार१—"व्याजस्तुति"– (अमर चन्द्रिका)

२—"विभावना" कपड़े से ढकना प्रतिबन्धक है, तो भी शोभा कार्य हो गया।

३—"पर्यायोक्ति"—एक ढंग से बात कहना, प्रकारान्तर से सुरति के चिन्ह कह दिये। (रस चन्द्रिका)

४—"काव्यलिंग"—दन्तक्षत से सुरति को दृढ़ किया।

५—"वृत्यनुप्रास"—बहुत बार एक वर्ण की आवृत्ति से स्पष्ट ही हैं। (प्रताप चन्द्रिका)।

६—"यमक"—'रदछद-रदछद' दो बार आया है।

'रदच्छद'—होठ। 'सद'—सद्यःकृत। रद-छद = रद—दांत—का, छद—क्षत,– घाव, अर्थात् दन्तक्षत।

इस भाव का एक संस्कृत पद्य भी हैः—

"किं त्वं निगूयसे दूति ! स्तनौ वक्त्रञ्च पाणिना।
खण्डिता एव शोभन्ते शूराधरपयोधराः ॥"

—नायिका दूती से परिहास करती है कि हे दूती ! अपने स्तनों को और मुख को हाथों से छिपाती है ! शूरवीर पुरुष, होठ और स्तन, ये (रण में और रतिरण में) खण्डित हुए ही शोभा पाते हैं !

---

* किसी के मत में यह खण्डिता की उक्ति नायक से है कि हे "सुभग ! इस 'सुवेष' को कपड़े से क्यों छिपाते हो !" परन्तु नायक का, दन्तक्षत को कपड़े से छिपाना अच्छा नहीं मालूम होता। इसी से सुरति मिश्र कहते हैं कि "या को अर्थ 'लक्षिता' को है, नायक सौं पट सौं ढापनौं असम्भव है"—हरि कवि भी ऐसा ही लिखते हैं। पर इसी भाव का एक संस्कृत पद्य है। "कलहान्तरिता" की 'शठ' नायक के प्रति उक्ति है—

"नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ॥"

पञ्चानबे

पिय आवन की बात

[पति ने परदेश से अपने आने की खबर मनभावती प्रिया को कहला भेजी है। इससे वह आँगन में फूली फूली फिर रही है। उसका अंग अंग में नहीं समाता; अथवा उसकी आँगी (कञ्चुकी) में, इसके अंग (कुच) हर्ष से फूल जाने के कारण अब नहीं समा पा रहे। —स०]

(९५)

मुदिता-वर्णन

कहि पठई मन भावती पिय आवन की बात।
फूली आंगन में फिरै आंग न आंग समात॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ:—(पिय आवन की बात)—प्रिय ने आने की बात (मन भावती कहि पठई)—मन चहती प्रिया को कह भेजी है। इससे (आंगन में फूली फिरे—आंगन —मकान के सहन में हर्ष से फूली फिरती है, (आंग आंग न समात)—अंग में अंग नहीं समाता।

"आंगी आंग न मात"—ऐसा पाठ भी है वहाँ यह अर्थ कि आंगी (कञ्चुकी) में अङ्ग (कुच) नहीं समाते! अथवा—अँगिया फूले हुए अंग में नहीं समाती।

पति ने परदेश से अपने आने की खबर भेजी है। जिसे सुनकर "आगमिष्यत्पतिका" नायिका हर्ष से आंगन में फूली फिर रही है!

—अलंकार १—"लोकोक्ति"—"आंग न आंग समात" यह कहावत है!

२—"अधिक अलंकार" आंगी आधार में कुच आधेय नहीं समाते। आधार से आधेय अधिक हो गया!

३—"यमक"—आंगन आंगन" में।

छिआनबे

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति

[कपास का खेत नायिका का संकेत स्थान था। अतः आखिरी बार उसकी कपास बीनते हुए उसे दुःख हो रहा है। वह बार बार दुःखित होकर देखती है। बार बार दुःख से दीर्घ साँसें, उच्छ्वास लेती है। जो कपास अब बीत चुकी है, समाप्त हो रही है, उसे वह ऐसे बीन रही है मानो युवती स्त्री वृद्ध स्वामी के सिर से सफेद बाल चुन रही हो। —स०]

(९६)

अनुशयाना-वर्णन

फिरि फिरि बिल खी ह्वै लखति फिरि फिरि लेति उसास।
साईं सिर कच सेत लौं बीत्यो चुनत कपास॥

(अन्तरंग सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(फिरि फिरि बिलखी ह्वै, लखति) बार बार बिलखी—दुःखित— हो देखती है (फिरि फिरि उसास लेति)—और बार बार उच्छ्वास–दुःख से दीर्घ–सांस–लेती है। (बीत्यो कपास)–बीती–जो समाप्त होने को है, ऐसी कपास को (साईं सिरसेत कच लौं चुनत)—पति के सिर से सफ़ेद बाल की तरह बीन रही है।

अथवा "कपास चुनत, साईं सिर सेत कच (चुनत) लौं बीत्यौ"–कपास चुनते हुए उसे स्वामी के सिरसे सफ़ेद बाल चुनने के समान बीता—अर्थात् दुःख हुआ *।

इसमें ध्वनि यह है कि कपास का खेत, बीनने वाली नायिका का संकेत स्थान था। सो उसकी फ़सल हो चुकी है, बस यह आखरी बार, कपास बीनने की बारी है। फिर कपास के पौदे उखाड़ डाले जायेंगे। यही सोचकर वह बार बार दुखभरी दृष्टि से खेत को देखती है और लम्बे सांस लेती है, उसे कपास बीनते समय ऐसा दुःख हो रहा है जैसे युवति स्त्री को वृद्ध स्वामी के सिर से सफ़ेद बाल चुनते समय दुःख होता है।

वर्त्तमान-संकेत-स्थान-विघट्टना, अनुशयाना, परकीया। ध्वनिपूर्ण होने से उत्तम काव्य।

अलंकार—"पूर्णोपमा"—कपास-उपमान। सिरकच-सेत–उपमेय। लौ—वाचक। बीनना—धर्म।

(अमर चन्द्रिका)

—(प्रकृत में 'कपास–उपमेय। 'सेतकच'—उपमान। ऐसा कहना उचित प्रतीत होता है!)

'फिरि फिरि'—वीप्सा।

'रसचन्द्रिका' में इसका अर्थ इस प्रकार है :—

—"अनुसयाना-नायिका है। अर्थ प्रकट है। हेत यह है— सखी नायक सो कहै है कि हे सांई! कपास जो बीता है, सो नायिका कपास को ऐसे चुनै है जैसे कोई अपने सुपेद बार चुनैतै दुखित होइ"—अलंकार दृष्टान्त, बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव सो कहै, सो यहां कपास ऐसे चुनै है जैसे सांई के सिर के सुपेद बार। 'पूरन उपमा' भी संभवति है॥"

—रस चन्द्रिका के इस अर्थ में तो 'साइं' हे साईं! —सम्बोध्य बना सुन रहा था, और अन्त में 'अलंकार' में आकर 'साईं' के सिर के बाल उखड़ने लगे! अस्तु।

इसी के भाव से मिलती हुई एक यह 'गाथा' भी है :—

"णिप्पच्छिमाइँ असई दुःखालोग्राइँ महुअपुप्फाइं।
चीए बन्धुस्स व अट्ठिआइँ रुअई समुच्चिणई॥"
("निष्पश्चिमान्यसती दुःखालोकानि मधूकपुस्पाणि।
चितायां बन्धोरिवास्थीनि रुदती समुच्चिनोति॥
गा० स० २।४)

× × ×

—मधूक–(महुवा)–वृक्ष के समीप का निकुञ्ज, किसी पुंश्चलीका संकेत–स्थान था। फूल बीनने के बहाने वह वहां नित्य जाती थी और अपने प्रिय से मिलती थी। महुवे के फूलों की फ़सल हो चुकी है, आज फूल चुनमे का अन्तिम अवसर है, सो सकेत–स्थान के विनाश के दुःख से रोती हुई वह बचे खुचे फूल बीन रही है, यह देख कर कोई किसी से कहता है कि —

"—असती, महुवे के फूलों को, रोती हुई ऐसे चुन रही है जैसे चिता से बन्धुजन के फूलों (हड्डियों) को चुनती हो! फूल "निष्पश्चिम" हैं–अब इसके पीछे चुनन को नहीं मिलेंगे—इसीलिये 'दुःखालोक'–हैं–उन्हें देखने से दुःख होता है।

गाथा के 'दुःखालोकानि' और दोहे के 'बिलखी ह्वै लखति' तथा, 'रुदती' और 'फिरि फिरि लेत उसास' 'निष्पश्चिमानि मधूकपुष्पाणि समुच्चिनोति" 'बीत्यो चुनत कपास'- ये पद बिलकुल एक भाव के द्योतक हैं। और

* पाठान्तर—"बीत्यौ बिनति कपास" (अनवर चन्द्रिका)

इसमें सन्देह नहीं कि बिहारी ने इस गाथा की छाया लेकर अपना यह दोहा बनाया है। परन्तु दोहा ध्वनि पूर्ण होने से "उत्तम काव्य" है। गाथा के "असती" शब्द ने ध्वनि का चमत्कार कम कर दिया। 'असती' शब्द सुनते ही मूर्ख मनुष्य भी उसके रोने का कारण समझ सकता है. इसमें 'सहृदयैकसंवेद्यता' नहीं रहती। परन्तु दोहे में ध्वनि निगूढ है। सहृदय ही समझ सकते हैं! दोहे में कपास बीनने वाली व्यक्ति स्त्री है, इसका पता केवल 'बिलखी' पद से चलता है। इसके अतिरिक्त गाथा की 'उपमा'—चिता में बन्धु के फूल की तरह–भी शृंगार में उद्वेगजनक है। बिहारी ने उपमा बदलकर और ध्वनि भरकर गाथा का मज़मून छीन लिया है!

सत्तानबे

हरी हरी अरहर अजौं

[सन, वन (कपास) व ईख के खेत किसी के संकेत स्थल थे। उखड़ गये। इससे दुःखी नारी से उसकी सखी कहती है कि सन सूख गया, वन (कपास) भी बीत चुकी, समाप्त हो गई, ईख भी, उखाड़ ली गई, पर अरहर अभी तक हरी भरी है। इसलिए हे नारी तू हृदय में धीरज धर। —स०]

(९७)

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं धर धरहर हिय नारि॥

(सखी का वचन नायिका से)—

अर्थ :–(सन सूक्यौ)—सन सूख गया, (बनौ बीत्यौ) —बन कपास—भी बीत चुकी—समाप्त हो गई। (ऊखौ उखारि लई)—ईख भी उखाड़ ली गई। पर (अरहर अजौं हरी हरी)—अरहर अभी तक हरी हरी है। इसलिये, (नारि, हिय धरहर धरि)— हे नारी! हृदय में धीरज रख।

सन, बन—(कपास) और ईख के खेत, किसी के संकेत स्थान थे। सो एक एक करके नष्ट हो गये हैं। पहले सन सूखा, फिर बन बीता, पीछे ईख भी उखड़ गई! इस विपत्ति-परम्परा से बेचारी नारी व्याकुल हो धीरज छोड़ बैठी है। उसे सखी धीरज बँधा रही है कि घबरावे मत, अभी अरहर हरी हरी खड़ी है। *

इसमें यह ध्वनि है कि संकेत के लिये अभी अरहर का खेत बना हुआ है और वह खूब हरा है, जल्दी नहीं सूखेगा।

"अनुशयाना" परकीया नायिका।

अलंकार—१—"काव्यलिंग" संकेत स्थान नष्ट होने से दुःखिता नायिका को धीरज बँधाने के लिये अभी संकेत स्थल है, इसका समर्थन हरीहरी अरहर से किया।

(परमानन्द)

* इस गरीब की हालत बिलकुल ऐसी ही हो रही है, जैसी इस उर्दू पद्य के पंछी की—

"बनाया आशियाँ जिस जा वहीं सय्याद आ पहुंचा!
है गुज़री उम्र तिनके चुनते चुनते बाग़बां! मेरी।"

अशियां—घोंसला। सय्याद—बहेलिया— चिड़ीमार।

२—"वृत्यनुप्रास"—(अनवर चन्द्रिका) यथा :—

"हरी हरी है वीपसा यह अति हेत विवेक ।
अरहर घरहर 'छेक' यह प्रास बार जो एक ॥"

हरिकवि ने इसे 'मानिनी' * के मनाने में भी लगाया है । यथा :—

"मानिनी से सखी का वचन :—

'सन'—शनैश्चर और 'सूक्यो'--शुक, सो बीते—अस्त हो गये । हे 'बनो' बन्नो ! (नववधू) "ऊखौ लई उखार" उषा—प्रभातवेला ने भी उखार—उजाली ली । अर्थात् नक्षत्र अस्त्र हो गये और दिन निकल आया । पर तेरी 'अर'—अड़, हठ "हरी" वैसी ही हरी है, वह कम नहीं हुई । "हरि अजौं" अब भी उसे "हर" दूर कर । और "हरि" जो नायक है उसमें चित्त को धारण कर, लगा । मान छोड़कर नायक से मिल, यह भाव ।"

"हरिकवि के मत से इस प्रकार "श्लेषालंकार" भी है ।

"श्लेष" अलंकृति अर्थ बहु जहँ शब्दनि में होय ।"

अट्ठानबे

कहा करौं ह्वै जाति हरि

[सखी मान की शिक्षा दे रही है । नायिका कहती है कि मैं तो अपनी ओर से मान करने में कसर नहीं करती । मैंने भौंहें टेढ़ी कीं, रूखी बातें भी कहीं, किसी तरह मन भी कठोर किया । पर क्या करूँ ये आँखें कृष्ण को देखकर हँस ही देती हैं । —स०]

(९८)

पत्यनुरागिणी-वर्णन

सतर भौंह रूखे बचन करत कठिन मन नीठि ।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं दीठि ॥

(नायिका का वचन सखी से)—

अर्थ :–(सतर भौंह) भौंहें टेढ़ी कीं, (रूखे वचन)–रूखी बातें भी कहीं, (नीठि मन कठिन करत)–किसी तरह मन भी कठोर किया । पर (कहा करौं)—क्या करूँ (हरि हेरि) हरि को देख कर, (दीठि हँसौंहीं ह्वै जाति)—दृष्टि हँसौंहीं— हँसीली हो जाती है ।

सखी मान की शिक्षा दे रही है । नायिका कहती है कि मैं तो अपनी ओर से मान करने में कसर नहीं करती, भौंहें चढ़ा लेती हूँ । बातें रूखी करती हूँ, मन भी किसी तरह कड़ा कर लेती हूँ । पर यह दृष्टि कृष्ण को देखते ही हँस देती है, इसका क्या करूँ !

"भावसंधि ।" ईर्ष्या की शान्ति, हर्ष का उदय ।

अलकार–१—"विभावना" —टेढ़ी भौंहें आदि, दृष्टि के हँसौंहीं होने में पुरे बाधक हैं, तो भी वह वैसी हो ही जाती है ।

"प्रतिबन्धक के होत हू कारज पूरन मानि"

२—वृत्यनुप्रास"—हकार की आवृत्ति से, स्पष्ट ही है ।

इस दोहे का अनुवाद "यशवन्तयशोभूषण" में 'अभावालंकार' के उदाहरण में यह है :—

"कुर्वे भ्रुकुटिमाबध्य कृच्छ्रेण कठिनं मनः ।
तथापि माधवे दृष्टे दृङ् मे भवति हासयुक् ॥"

—:o:—

* मानिनीपक्ष-परक उक्त अर्थ सुरतिमिश्र को दृष्ट नहीं था । यथा— "········ अरु प्रोषितपतिका और मानिनी का अर्थ बलवान् नहीं है ।" (अमर चन्द्रिका)

निन्यानबे

लखि मोहन जौ मन रहै

[मन मोहन को देखकर मन ही वश में नहीं रहता तो मान कहाँ रहे। तू भी कहती है और मैं आप भी बिना किसी के सिखाये पढ़ाये, बहुत सयानपन, चतुराई जानती हूँ। पर मोहन को देखकर जब मन मेरा अपना रहे तभी तो मन में मान रक्खूं। —स०]

(९९)

तु हू कहति हों आप हू समझति बहुत सयान।
लखि मोहन जौ मन रहै तौ मन राखौं मान ॥

(नायिका का वचन सखी से,—

अर्थ :—(तु हू कहति) – तू भी कहती है और (हौं आप हू बहुत सयान † समझति) मैं आप भी—बिना किसी के सिखाए पढ़ाए, बहुत सयानपन–चतुराई–जानती हूं। (मोहन लखि जौ मन रहै) —मोहन को देख कर जो मन रहे (तौ मन मान राखौं) —तो मन में मान रक्खूं !

मन-मोहन को देख कर मन ही वश में नहीं रहता तो मान कहाँ रहे !

अलंकार—१—"विशेषोक्ति"—स्वयं सब सयानपन समझना, और सखी की शिक्षा, यह सहकारिसम्पन्न प्रसिद्ध कारण है, तो भी मान रखना–कार्य नहीं हुआ !

"कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे।"
"पुष्कले-सहकारिसम्पन्ने,प्रसिद्धकारणसमूहे सतीति यावत्।"
"विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजत नाहिं ॥"

२–"सम्भावना"—जो मन रहे तो मान रहे,—
"जो तौ' पद जहँ होइ, 'सम्भावन' है सोइ ॥"

३–"वृत्त्यनुप्रास"।

४–"विभावना" कारन विन काज–(प्रताप चन्द्रिका)

५– 'विशेषोक्ति-"विभावना" का संकर-(रस चन्द्रिका)

अमरुक कवि के पद्य का यह उत्तरार्ध इसी दोहे के भाव से मिलता है।

"दृष्टेनैव मनो हृतं धृतिमुषा प्राणेश्वरेणाद्य मे
तत्केनात्र निरूप्यमाणनिपुणो मानः समाधीयताम्।"

सौ

ये निरखैं हँसि देत

[ये निगोड़ी आँखें जल जायँ अथवा ये निगोड़ी आँखें मुझे जलातीं हैं, मेरा कहना नहीं मानतीं। न तो ये होश ही पकड़तीं हैं न बेहोश ही रहतीं हैं। मैं बहुत खींच तानकर, दृढ़ता से क्रोध करती हूं ये उन्हें देखते ही हँस देतीं हैं। —स०]

(१००)

दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत।
हौं कसिकै रिसकौं करौं ये निरखैं हँसि देति ॥

† "सबै सयान" "सौक सयान"—पाठान्तर।

(सखी से नायिका की उक्ति *)

अर्थ :—(ये निगोड़े नैन दहैं)—ये निगोड़ी आंखें जल जायँ। अथवा ये निगोड़ी आंखें मुझे दहती हैं—जलाती हैं, कहना नहीं मानतीं। (अचेत, चेत न गहैं)—ये अचेत—बेहोश, होश नहीं पकड़तीं! अथवा न 'चेत'—होश ही पकड़ती हैं, न 'अचेत' बेहोशी ही पकड़ती हैं! (हौं कसि-कै रिस को करौं)—मैं खींचकर—दृढ़ता से क्रोध करती हूँ, (ये निरखैं हँसि देत)—ये देखते ही हँस देती हैं।

"ये निरखैं" की जगह "ये निसिखे" भी पाठ है। इस दशा में "निसिखे" नेत्रों का विशेषण है। अर्थात् ये 'निसिखे' हैं—इन पर शिक्षा का असर नहीं होता, सिखाने से भी नहीं सीखते, क्रोध करना सिखाती हूं पर नहीं सीखते, शिक्षा को भूल कर झट हँस देते हैं!

सखी मान की शिक्षा देती है। नायिका कहती है कि इन कमबख्त आंखों के आगे पार नहीं बसाती। ये न चेत 'पकड़ती' हैं, न अचेत ही रहती है, मैं तो बहुत खींच तान कर क्रोध करती हूँ और ये उन्हें देखते ही हँस देती हैं!

अलंकार—१—"लोकोक्ति"—निगोड़े नैन जलें। 'निगोड़ा' स्त्रियों की गाली में रूढ़ है।

२—"तीसरी विभावना।" क्रोध हँसी का प्रतिबन्धक कारण है, तो भी हँसी—कार्य्य होता है।

३—"वृत्त्यनुप्रास।"

(इति सतसई-सञ्जीवनभाष्ये श्रीपद्मसिंहशर्म प्रणीते प्रथमं शतकम्।)

—:०:—

अथ द्वितीय शतक

एक सौ एक

हुलसि मिलैं सब गात

[ये निर्लज्ज सारे अंग-आंख, कान, हाथ, पैर, वाणी, रूप के लोभ से, बातों के रस से, आलिंगन की अभिलाषा से कुछ कहने की उत्सुकता से; प्रिय को देखते ही उल्लास पूर्वक उसकी ओर उठ दौड़ते हैं और मुझे लज्जित कर देते हैं। सूर्योदय होने पर जैसे ओस दूर भाग जाती है वैसे ही प्रियतम के आते ही मान भी न जाने कहाँ चला जाता है। —स०]

(१०१)

मोहि लजावति निलज ये हुलसि मिलैं सब गात।
भानु उदय की ओस लौं मान न जान्यो जात॥

---

* "यह नेत्रोपालम्भ है, सखी नायिका को दृढ़ावति है कि तू मान करि, नायिका अपने नेत्र के स्नेह की अधिकताई सखी सखी सों कहति है।" (कृष्ण कवि)

"नायिका वचन नेत्र सों" (हरि प्रकाश)

(नायिका का वचन सखी से) *

दोहार्थ :—(ये निलज सब गात)—ये निर्लज्ज सारे अङ्ग, (मोहि लजावत)—मुझे लज्जित कराते हैं, क्योंकि (हुलसि मिलै)—नायक को देखकर हुलसि-(उल्लासपूर्वक)-मिलते हैं। (भानु उदय की ओस लौं)—सूर्योदय होने पर ओस की तरह (मान जात न जान्यो)—मान जाता हुआ नहीं जाना जाता।

मान सिखाने वाली सखी से नायिका अपने अङ्गों को उपालम्भ देकर कहती है कि कैसा मान? उलटे ये निर्लज्ज अङ्ग अपनी करतूत से उसके सामने मुझे ही लज्जित करा देते हैं। एक दो नहीं, किसी को तो एक 'निगोड़े नैनों' का ही रोना है, यहाँ ये सबके सब ही, उसे देख कर उछल पड़ते हैं, दूर ही से देखकर मिलने को दौड़ पड़ते हैं! मैं अकेली किसे किसे रोकूं! आंखों को, कि कानों को! हाथों को कि पैरों को, या वाणी को! कोई रूप का लोभी है, तो कोई बातों का रसिया, कोई आलिङ्गन का अभिलाषी है, तो कोई कुछ कहने के लिये उत्सुक है! निदान ये सबके सब उसे देखते ही उठ दौड़ते हैं! मैं अकेली अपना सा मुँह लिए रह जाती हूँ! जैसे, सूर्य्य के उदय होते ही ओस स्वयं उड़ जाती है, ऐसे उसके आते ही मान न जाने कहाँ चला जाता है!

बहुत अच्छी ''पूर्णोपमा'' है—मान—उपमेय। ओस—उपमान। उड़ जाना—साधारण धर्म। लौं—वाचक।

२—पांचवी "विभावना" भी सम्भव है। निर्लज्ज गात. लजाते हैं। विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति।

३—"वृत्त्यनुप्रास"—लकार, नकार को अनेक बार आवृत्ति से स्पष्ट ही है।

"दृष्टान्त"—उपमान उपमेय के, बिम्ब प्रतिबिम्ब के प्रतिपादन से। (कवि परमानन्द के मत में)

एक सौ दो

हँसे दुहुन के नैन

[नायिका को मान नहीं छोड़ता और नायक को अपराध का खिसियानपन घेरे है। अतः खिंचे बैठे हैं। पर मिलन-व्याकुलता बढ़ने पर वे दोनों मिलने को चल ही देते हैं। दोनों की दृष्टि मिलते ही दोनों के नेत्र क्रोध, नाराज़गी और खिसियानपन छोड़ कर परस्पर हँस देते हैं। —स०]

(१०२)

खिंचे मान अपराध तें चलिगे बढ़े अचैन।
जुरत दीठि तजि रिस खिसी हँसे दुहुन के नैन॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थः—(मान अपराधतें खिंचे)—नायिका को मान नहीं छोड़ता और नायक को अपराध पकड़े हुए है—दोनों खिंचे बैठे हैं, पर (अचैन बढ़े चलिगे)—विरह-व्याकुलता बढ़ने पर, दोनों मिलने को चल ही दिये। (दीठि जुरत)—दृष्टि मिलते ही (रिसखिसी तजि)-क्रोध-नाराज़गी और खिसियानपन छोड़कर (दुहुन के नैन हँसे)—दोनों के नेत्र हँस दिये।

* "उत्तम नायिका का बचन, अपने अंगों से कहे है" (रस चन्द्रिका)

अथवा नायिका के नेत्र मान से खिंचे हैं * और नायक के नेत्र अपराधजन्य लज्जा–खिसियान– से खिंचे हैं, पर 'अचैन' बढ़ने पर (दोनों के नेत्र) मिलने को चल पड़े और नज़र मिलते ही, मान के क्रोध (रिस) और अपराध की लज्जा (खिसी को छोड़कर (दोनों के नेत्र) हँस दिये । †

भाव सन्धि—हर्षोदय, ईर्ष्याशान्ति । (मानमुक्ति !)

अलङ्कार—१–"प्रहर्षण"—

"उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम् ।"

......"विना जतन वाँछित फल होय, पहलो भेद कहत ⊙कवि लोय ।"

—सखी की सिफारिश और दूती के उपाय बिना ही मेल हो गया ! इससे अच्छा 'प्रहर्षण' और क्या होगा !

२–"तुल्ययोगिता"—'खिंचे' यह एक क्रिया दोनों को खींचे हुए है !

—'यथासख्य"—१ मान, २—अपराध, १ रिस, २ खिसि । सब यथासंख्य हैं ।

'यथासख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।"

"१शत्रु २ मित्रं ३ विपत्तिं च १ जन्य २ रञ्जय ३ भञ्जय ।"

—क्रमपूर्वक कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से अन्वय होना 'यथासंख्य' कहलाता है ।

जैसे एक दोहे के पूर्वार्द्ध में 'मान, अपराध' है, उत्तरार्द्ध में उसी क्रम से उनसे सम्बन्ध रखने वाले "रिस" और "खिसी" हैं । या जैसे संस्कृत के उदाहरण में—"शत्रुं जय, मित्रं रञ्जय, विपत्तिं भञ्जय"—इस प्रकार क्रम पूर्वक अन्वय है ।

३—द्वितीय–"पर्य्याय" रिस, खिसी, गयी और उनकी जगह हँसी आयी ।

४—'पोष्य-पोषकभाव संकर—सब अलंकार 'पर्याय' के पोषक हैं । (प्रतापचन्द्रिका)

एक सौ तीन

मान न ठिक ठहराय

[मान न करने का कारण पूछती हुई सखी से नायिका नायक की अनुकूलता का वर्णन करती हुई कहती है कि मुझे रात दिन उनके अवगुण ढूँढ़ कर मान करने की हविस रहती है । पर मान ठीक नहीं ठहरता, मान करने का कोई ठीक कारण मुझे नहीं मिलता । मैं जितना ही उनके अवगुण ढूँढ़ने का प्रयत्न करती हूं उतने ही उनके गुण मेरे हाथ आ जाते हैं । —स०]

(१०३)

राति दिवस हौंसे रहै मान न ठिक ठहराय ।
जे तौ अवगुन ढूंढियै गुनै हाथ परिजाय ॥

* "नायिका के नेत्र मान सों खिंचे, नायक के नेत्र अपराध सों खिंचे हैं" (कृष्ण कवि)

† —'नायिका के नैन मान सों खिंचे, और नायक के अपराध सों खिंचे । व्याकुलता बढ़ने पै दोनों चले, जब दीठि दोनों की मिलि गई, तब नायिका ने तौ रिस छाँड़ी, तब नायक ने अपराध की खिसान छोड़ी सो दोनों के नैन हँसे ।' (रस चन्द्रिका) । "खिसी—सरमिन्दगी लिये कछु गोसा, (गुस्सा)" (हरिकवि)

⊙ २—"इच्छितहूतें अति फल लहैं, दूजो भेद सुमति यह कहै ।"

३—"जा को जतन ढूँढियत होइ, वस्तु हाथ आवे पुनि सोइ ।।" त्रिविध 'प्रहर्षन' जानो मित्त, लच्छिन लच्छ अवधारहु चित्त ।" (प्र० च०)

(नायिका का वचन सखी से)—

अर्थः—(राति दिवस) रात दिन (हौंसै रहै)—हौंस– अवगुण ढूढ़ने की हविस– इच्छा– रहती है, पर (मान, ठिक न ठहराय)—मान ठीक नही ठहराता, मान ठानने का कोई कारण नहीं मिलता, या मान ज़रा भी नहीं ठहरने पाता क्योंकि (जै तौ ग्रवगुन ढूंढ़िये)– जितना अवगुण ढूंढो, (गुनै हाथ परिजाय)—गुण ही हाथ आ जाता है।

सखी नायिका से मान न करने का कारण पूछती है, या नायिका स्वयं ही उससे नायक की अनूकूलता का बर्णन करती है कि मुझे रात दिन मान करने की "हौंस" (चाव) ही बनी रहती है कि मान करके देखूं, पर मान करने का कोई कारण नहीं मिलता, मैं नायक के जितने अवगुण ढूढती हूँ, उतने गुण ही हाथ आते हैं।

इस दोहे को लल्लूलाल जी ने "सखी का वचन सखी से" में लगाया है, और लिखा है कि—"इस दोहे में नायका-वचन सखी से कोई कहै तौ न हो सके"—इसकी पुष्टि में 'अमर चन्द्रिका' का प्रश्न का यह दोहा दिया है:–

"अवगुन जामें है नहीं सो ग्रनुकूल विख्यात।
बनै न तिय अनुकूल की ढूँढनि ग्रवगुन बात"—

—अर्थात् जिसमें अवगुण न हो वही "ग्रनुकूल" नायक कहलाता है, इसलिए 'ग्रनुकूल' में उसकी स्त्री का अवगुण ढूँढना नहीं वन सकता ."—*

परन्तु कृष्ण कवि, हरि कवि, परमानन्द कवि तथा रस चन्द्रिकाकार ने इसे "नायिका की उक्ति सखी से" † लिखा है।

हरिकवि ने इसका नायक 'धीरोदात्त' माना है, और कहा है :—

'चावल की रासि में दस बीस कांकर रहैं तो हाथ नहीं आवे।"

अर्थात् अनुकूल और धीरोदात्त में भी अवगुणों का होना और ढूंढना सम्भव है, पर गुणों के ढेर में अवगण हाथ नही आते !

अलंकार—१—"विशेषोक्ति"—(लाल चन्द्रिकाकार के मत से यथा:—

'ढूँढन 'कारण' है जहाँ अवगुण मिलै न 'काज'।
अलंकार यौं जानिये 'विशेषोक्ति' कविराज ।"

२—"विषादालंकार"—(सुरति मिश्र, हरिकवि पं० परमानन्द के मत से) अभीष्ट—'अवगुण' ढूँढने का प्रयत्न किया और अनभीष्ट—'गुण' हाथ आया !

यदि 'पति-प्रेम गर्विता' 'स्वाधीन पतिका' नायिका, अपनी सौभाग्य-सूचना के लिए ऐसा कहती है तो "पर्य्यायोक्ति" भी हो सकती है। 'रस चन्द्रिका' ने यहाँ 'विनोक्ति' अलंकार माना है ! यथा—"अलंकार 'विनोक्ति' —तिसका लक्षण, 'कछु दिन सोभावान होइ' इहां औगुन विन पति को कहौ।" (?) !

किसी संस्कृत कवि का भी इस भाव का यह पद्य है :

"एतत्किं प्रणयिन्यपि प्रणयिनी यन्मानिनी जायते
मन्ये मानविधौ भविष्यति सुखं किञ्चिद्विशिष्टं रसात
वाञ्छा तस्य सुखस्य मेऽपि हृदये जागर्त्ति नित्यं परं
स्वप्नेऽप्येष न मेऽपराध्यति पतिः कुप्यामि तस्मै कथम्।"

—यह क्या बात है कि प्यार करने वाले से भी प्यारी मान ठानकर बैठ जाती है, मैं समझती हूँ कि मान में प्रीति से भी कुछ विशेष सुख है। इसलिए प्रीति छोड़-कर मान किया जाता है। उस मान-सुख की इच्छा मेरे हृदय में भी सदा बनी रहती है, कि किसी तरह मान करके उस ग्रद्भुत सुख का अनुभव करूँ, पर यह स्वप्न में भी मेरे साथ कोई अपराध नहीं करता, फिर इससे कोप कैसे करूँ !

---

* "उत्तर-वार्त्ता—निज सखी के वचन सखी सौं। नायक के औगुन हम ढूंढती हैं मान कराइबे कौं, सो नायक में पइयत नहीं।" (अमर चन्द्रिका)

† 'स्वकीया नायिका है, नायिका की वचन सखी प्रति है, नायक के ग्रवगुण हूँ याको गुण भासते हैं' (कृष्ण कवि)—

"नायिका को वचन सखी सों, नायिका उत्तमा है जो नायक के अबगुण जानती ही नहीं"– (रसचन्द्रिका)

(१०४)

क्यों हूँ रह्यो न जाय

[नायिका सखी से कहती है कि जब तक उस प्रियतम को देखती नहीं हूँ, तभी तक कुल-मर्यादा की कथा मन में निश्चल रहती है। उसे देखने पर तो फिर देखते ही बनता है, वही अच्छा लगता है; फिर किसी तरह बिना देखे रहा ही नहीं जाता। —स०]

एक सौ चार

जौ लौं लखौं न कुल-कथा तौ लौं ठिक ठहराय।
देखे आवत देखिबौ क्यों हूं रह्यौ न जाय॥

(सखी से नायिका की उक्ति)—

अर्थ:—(जौ लौं लखौं न)—जब तक उसे देखती नहीं हूँ, (तो लौं कुल-कथा, ठिक ठहराय)—तब ही तब कुल-धर्म की बात ठीक—निश्चल रहती है. (देखे देखिबौ आवत)—देखने पर, देखना ही बन आता है, वही सुहाता है। (क्यौं हूँ न रह्यौ जाय) फिर किसी तरह बिना देखे नहीं रहा जाता।

सखी सीख देती है कि इस प्रकार परपुरुष के प्रेम पाश में फंसना कुल धर्म के विरुद्ध है। नायिका कहती है कि ठीक है, पर यह कुल कथा का भाव तभी तक चित्त में ठहरता है, जब तक उसे देखती नहीं, देखने पर फिर किसी प्रकार नहीं रहा जाता, देखते ही बनता है।

अलंकार :—१—"संभावना"— जो लौं तो लौं, शब्द से (लल्लू लाल जी)

"ज्यौं यौं होय त्यौं यौं होइगो" सो यहां सो यहां कुलकथा तौ लौं ठहराइ, जौ लौं देखो नहीं है।" (रसचन्द्रिका)

२—"व्याजस्तुति"— (परमानन्द कवि के मत से) नायक के सौन्दर्यातिशय के वर्णन से, तदन्यपुरुषों में ऐसा सौन्दर्यातिशय नहीं। इस प्रकार, (अन्य पुरुषों के सौन्दर्य की निन्दा की प्रतीति होती है।

—जहां स्तुति से निन्दा की या निन्दा से स्तुति की प्रतीति हो वहां "व्याजस्तुति" अलंकार होता है।

३—व्याघात"— (हरिकवि के मत से)— 'सखी नायक सौं प्रीति छोड़ावति है— यातें विरोधी, तासों कार्य साध्यौ, व्याघात—अलंकार।"

"व्याघात जु कछु और तें कीजे कारज और।
बहुरि विरोधी तें जबै, काज ल्याइये ठौर।"

(१०५)

सौंहैं करति न नैन

[सखियों ने सिखा पढ़ा कर नायिका को मान करने को तैयार किया तो उसने बनावट से भौंहें टेढ़ी कर दिखलाईं, मुख से टेढ़ी मेढ़ी बातें भी कह सुनाई, पर यह जानकर कि मेरी ये आँखें तो सहज हँसीली हैं, नायक को देखते ही हँस पड़ेंगी, उसने अपनी आँखें नायक के सम्मुख नहीं कीं। —स०]

एक सौ पाँच

कपट सतर भौंहैं करी मुख सतरौंहैं बैन।
सहज हँसौंहैं जान करि सौंहैं करति न नैन॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थः—(कपट, सतर भौंहैं करी'—कपट—(बनावट) से भौंहैं टेढ़ी कीं, मुख सतरौंहैं * बैन)—मुँह से सतरौंहैं—क्रोध युक्त, वचन कहे, पर (सहज हँसौंहैं जान करि)—स्वभाव ही से हँसौंहैं—हँसीले, जानकर (नैन, सौंहैं न करति)—नेत्रों को सौंहैं—नायक के सामने, नहीं करती।

सखियों ने सिखा पढ़ाकर नायिका को मान करने के लिये तैयार किया, सो उसने बनावट से भौंहैं भी टेढ़ी कर दिखायीं मुंह से...(जी से नहीं!) टेढ़ी बातें भी कह सुनाइँ, पर यह जानकर कि यह देखते ही बिना हँसे न रहेंगी—हँसना इनके स्वभाव में दाखिल है—नायक के सामने आंखें नहीं कीं। आंखों की इस निर्बलता को सखी समझ गई इसी बात को वह दूसरी सखी से कहती है।

'संभोग संचारी मान'—"जो मान मनाने तक न ठहरे पहले ही छूट जाय, (हरिकवि) "नायिका के हर्ष, अवहित्था, संचारी, पूर्ण ईर्ष्याभास। बिब्बोक हाव, मानाभास।" (अनवर चन्द्रिका)

अलंकार—"काव्यलिङ्ग"—आंखों को सामने न करना, सहज हँसौंहैं होने से समर्थन किया। २—"छेकानुप्रास"—भौंहैं–रौंहैं। ३–"यमक"–सौंहैं सौंहैं।

(१०६)

ज्यों ज्यों रुख रूखो करति

[नायक सखी से कह रहा है कि नायिका न तो मेरी ओर नेत्रों के कटाक्ष डालकर देखती है, न मुसकरा कर बोलती ही है; (अथवा हरि कवि के अनुसार एकान्त में संभोग चाहने वाली नायिका के प्रति नायक की उक्ति मानते हुए इसका अर्थ यह किया जाय कि नायिका 'नहीं नहीं' बोलती है, निषेध करती है); पर जैसे जैसे वह अपने चेहरे पर गम्भीर भाव लाकर रूखापन धारण करती है, त्यों त्यों मेरा (नायक का) चित्त और चिकना स्नेह-स्निग्ध होता जाता है। —स०]

एक सौ छः

नहिं नचाय चितवति दृगनि नहिं बोलति मुसकाय।
ज्यों ज्यों रुख रूखो करति त्यों त्यों चित चिकनाय॥

* "अनखौं हैं"—पाठान्तर।

(नायक का वचन सखी से)—

अर्थ :—(दृगनि नचाय, नहिं चितवति)—आँखें नचाकर नहीं देखती, (नहिं मुसकाय बोलति)— और न मुसकराकर बोलती है। अथवा, * 'नहीं नहीं' बोलती है— निषेध करती है— (ज्यौं ज्यौं रुख रूखौ करति)— ज्यौं ज्यौं रुख — (चेहरे) को रूखा बनाती है, (त्यौं त्यौं चित चिकनाय)—त्यौं त्यौं चित्त चिकनाता है। 'चित चिकनाना' स्नेह से रीझना, या ललचाना।

अर्थात् कपट कोप प्रकट करने के लिये यद्यपि वह कटाक्षविक्षेप पूर्वक देखती नहीं, और न मुसकराकर लोलती ही है, पर जैसे जैसे वह गम्भीर भाव धारण करके चेहरा रूखा बनाती है वैसे मेरा मन और चिकनाता जाता है, उसके इस रूखे भाव से मन, और भी स्नेह में सना और प्रेम में पगा जाता है।

हरिकवि ने इसे नायिका के प्रति नायक की उक्ति में लगाया है कि "एकान्त में नायिका संभोग को चाहती है —"तासों नायक वचन।" तैसे तैसे तेरो चित चिकनाय है— यह अर्थ।" (!)।

अलंकार —१— "विभावना" चौथी। रूखे रुख-विरुद्ध कारण से, चित चिकनाहट— कार्य्य। 'नहिं नहिं से'—तीसरा "आवृत्ति दीपक"।

(१०७)

देखत ही ब्रजराज

[सखी सखी से कह रही है कि मान तो ब्रजराज श्रीकृष्ण को देखते ही तभी का छुट गया, उनके दर्शन मात्र से मान समाप्त हो गया, उनके अनुनय विनय करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी; घड़ी भर उसके मन में जो मान करने जैसी स्थिति रही वह वास्तव में नायिका मान नहीं था अपितु मान करने की लज्जा का भाव था जो मान की तरह लक्षित हो रहा था। —स०]

एक सौ सात

तौही कौ छुटि मान गौ देखत ही ब्रजराज।
रही घरिक लौं मानसी मान किये का लाज॥

(सखी का वचन सखी से) —

अर्थ :—(ब्रजराज देखत ही)—ब्रजराज श्री कृष्ण को देखते ही (तौ ही को मान छुटिगौ)— तब ही का मान छुट गया, अर्थात् जब श्रीकृष्ण को देखा मान तो उसी समय छूट गया। (घरिक लौं—घड़ी एक तक (मान किये की लाज मानसी रही)— मान करने की लज्जा, मानसी–मान की तरह रही। अर्थात् मैंने यह व्यर्थ ही मान किया, इस प्रकार की चित में लज्जा घड़ी एक तक मान जैसी प्रतीत होती रही।

* पाठान्तर नहिं बोलत "अनखाय" नाराज़—होकर नहीं नहीं बोलती है।

सखी सखी से कहती है कि इसका मान तो कृष्ण को देखते ही कभी का छूट चुका था, कृष्ण के आने पर जो कुछ देर तक मान सा मालूम होता रहा, वह मान नहीं था, किन्तु मान करने की लज्जा थी !

'मानाभास'। नायिका की प्रीति और कृष्ण का सौन्दर्यातिशय व्यंग्य।

'अमर चन्द्रिका' में "मानसी" पर 'प्रश्न, वार्ता' है कि "यहाँ मान सी' रही न चाहिए, 'मानिनी सी' चाहिए"– उत्तर यह दिया है कि 'घरीक' (घड़ी एक) मान की 'सी' कहिए शोभा (श्री) रही !" तथाहि :—

"मैं जान्यौं अनुमान तैं तोही छुटिगौ मान।
सोभा रही घरीक लौं मान किये की कान !"

—कान, अर्थात् हे कृष्ण ! कृष्ण से सखी का वाक्य।

हरि कवि ने 'नायिका सों सखी वचन' कह कर अर्थ किया है 'तोही को,—'तो'— तेरे, 'ही'– हृदय का मान छुटिगो ...... 'मानसी' मन में जो उपजे सो 'मान करिबे की लाज मानसी रही —। अर्थात् मनमें रही ......"

अलंकार—१–'अनुमान' (अमर चन्द्रिका)
२–"उत्प्रेक्षा"–(अनवर चन्द्रिका)

३–दूसरी "विभावना"–(श्री प्रताप और परमानन्द कवि के मत से) —अनुनयादि के बिना, दर्शन मात्र– अपूर्ण कारण से मान छुटना–कार्य हो गया।

'हेतुनामसमग्रेपि कार्योत्पत्तिश्च सा मता।" —(सा —द्वितीया विभावना—)

"हेतु अपूरन तै जवै कारज पूरन होय।"

४–द्वितीय "पूर्वरूप"– (रस चन्द्रिकाकार के मत में)–

—जहाँ वस्तु का विनाश होने पर भी दशा पूर्ववत् बनी रहे, वहाँ द्वितीय "पूर्वरूप" होता है। मान मिट गया, पर मान समान लज्जा बनी रही।

५– 'चपलातिशयोक्ति" (हरि कवि के मत से)–कृष्ण का दर्शन– कारण, मान छुटना—कार्य, दोनों एक साथ ही हो गये।

"चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे।"— (हेतोः प्रसक्तिर्ज्ञानं तज्जन्ये कार्ये सति)।"

"चपलात्युक्ति जु हेतु के होत नाम ही काम।"

"क्रमालंकार" (?)—स्पष्ट ही है, मान किये की लाज से मान रक्खा ?" (श्री लल्लू लाल जी)

(१०८)

कियौ जु चिबुक उठाय करि

[नायक ने अपने हाथ से नायिका के माथे पर तिलक बनाया है जो सात्विक भाव के कम्प से हाथ काँपने के कारण टेढ़ा बन गया। उसी को लक्षित करके सखी सखी से कह रही है कि पति ने नायिका की ठोड़ी उठाकर; अपने काँपते हुए हाथ से जो टेढ़ा तिलक उसके माथे पर अङ्कित कर दिया है, उसके कारण वह प्रेम-गर्विता नायिका, प्रेम और रूप के गर्व से गुमान भरी टेढ़ी ही टेढ़ी फिर रही है, इतराती फिर रही है। —स०]

एक सौ आठ

कियौ जु चिबुक उठाय करि कंपत कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़े तिलक लिलार॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ— (चिबुक उठाय करि *)— ठोड़ी उठाकर (कंपत कर भरतार)—कांपते हुए हाथ से पति ने (जु कियो *)—जो तिलक किया, (लिलार टेढ़े तिलक)— माथे के उस टेढ़े तिलक से (टेढ़ीयैं टेढ़ी फिरति)— टेढ़ी ही टेढ़ी फिरती है !

नायक ने अपने हाथ से नायिका के माथे पर तिलक बनाया है, जो सात्त्विक कंप से हाथ कांपने के कारण बन गया है। प्रेम-गर्विता नायिका उसी टेढ़े तिलक को लगाए टेढ़ी टेढ़ी—प्रेम और रूप के गर्व से गुमान भरी-इतराती फिर रही है !

अलंकार—१—पांचवीं "विभावना" तिलक क्रिया की अनभिज्ञता का सूचक टेढ़ा तिलक जो लज्जा का कारण है, उससे गर्व रूप विपरीत कार्य हुआ।

२—"परिकर"—तिलक का विशेषण 'टेढ़ा' साभिप्राय है।

३—"छेकानुप्रास—" और —"वृत्यनुप्रास—"।

—:०:—

(१०९)

अपने हिय तें लाल

[प्रिय ने सब सपत्नियों के सामने अपनी छाती से उतार कर नायिका को माला दी है, उसी से वह फूली फिरती है। नायक से सखी कह रही है कि हे लाल सपत्नियों के देखते आपने अपने हृदय से उतार कर जो मैली मुरझाई हुई माला उस नायिका को दे दी है उसी से वह हर्ष से फूली हुई सब के बीच हरी भरी, प्रसन्न घूम रही है। —स०]

एक सौ नौ

तुम सौतिनि* देखत दई अपने हिय तें लाल।
फिरति सबनि में डहडही उहै मरगजी माल॥

(नायक से सखी का वचन)—

अर्थः— (लाल, सौतिनि देखत)—हे लाल ! सपत्नियों के देखते (अपने हियतें तुम दई)— जो अपने हृदय से उतारकर तुमने दी है, (उहै मरगजी माल)—उसी मैली—मुरझायी—माला से (सबनि में डहडही फिरति)—सब में हरी भरी—प्रसन्न हुई—फिर रही है।

प्रिय ने सब सपत्नियों के सामने अपनी छाती से उतारकर नायिका को माला दी है, वह प्रेम के 'सर्टिफ़िकट'—स्वरूप उसी मैली माला को गले में डाले हर्ष से फूली फिरती है।

अलङ्कार—वही पांचवी "विभावना"। मरगजी—मुरझायी माला से, डहडहाना—हरा होना, विरुद्ध कार्य।

भारविका जलकेलि-प्रकरण का यह पद्य बिल्कुल इसी भाव का है—

* पाठान्तर—"कै"। "दियौ"

* पाठान्तर—"बिय सौतिन"। "प्रिय सौतिनि"

"प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां
वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां
वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥"
(किरातार्जुनीय ८ सर्ग)

—सपत्नी के समीप—उसके सामने ही—प्रिय ने (अपने हाथ से) अच्छी तरह गूंथकर, छाती पर डाली हुई माला को, जल में भीग कर खराब हो जाने पर भी, किसी नायिका ने उतार कर फेंका नहीं—उसे वैसे ही पहने रही—सच है—गुण, प्रेम में रहता है, वस्तु में नहीं !

प्रेमास्पद होने पर ही कोई वस्तु चित्ताकर्षक और उपादेय होती है—फिर चाहे वह कैसी ही —मैली कुचैली और गली सड़ी ही—क्यों न हो। दोहे की "मरगजी माल" और पद्य की "जलाविलांस्रजम्"—इसका प्रमाण है।

दोहे और पद्य का भाव सर्वथा समान है।

'विपक्षसन्निधौ संग्रथ्य उपाहितां"— "सौतिनि देखत दई"—"जलाविलांस्रजम्"—"मरगजी माल"—एक ही बात है। पद्य में सपत्नी के सामने गूंथकर "वक्षसि" माला पहनाई है। दोहे में—"सौतनि देखत" 'हिय तें"—वक्षःस्थल से उतारकर दी गई है। भाव एक ही है। पद्य में "वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि"—'अर्थान्तरन्यास' मनोहर है। दोहे में "डहडही फिरति" में चमत्कार है। —मज़मून में "ताज़गी" है।

(११०)

सब दिन पिय खंडित अधर

[प्रिय के अनुराग में तन्मय वियोगिनी प्रिय के दूर चले जाने पर उनके द्वारा किये अपने अधर-क्षत को ही सब दिन देखती रहती है। सखी सखी से कह रही है कि नायक द्वारा किए गए अधर-खण्डन को, अधर-क्षत को वह नायिका एक क्षण के लिए उघाड़ती है, एक क्षण उसे अँगुली से छूती है, फिर क्षण भर के लिए उसे छिपाये रखती है, इस तरह सारा दिन उसे प्रिय के दन्ताघात से कटे हुए होठ को दर्पण में देखते ही बीतता है। स०]

एक सौ दस

छिनक उघारति छिन छुवति राखति छिनक छिपाय।
सब दिन पियखंडित अधर दर्पन देखत जाय॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थः— (छिनत उघारति)—क्षण एक के लिए उघाड़ती है, (छिन छुवति)—क्षण एक तक छूती है, (छिनक छिपाय राखति)—फिर क्षण भर के लिये उसे छिपाए रखती है। (सब दिन)—इस प्रकार, सारा दिन (पिय खण्डित अधर)—पिय के दन्ताघात से कटे हुए होठ को (दर्पन देखत जाय)—दर्पण में देखते ही बीतता है।

नायक-देव, नायिका का अधर-खण्डन करके कहीं परदेश चले गये हैं। सो उनके अनुराग के चिन्ह—अधर क्षत—को वह कभी उघाड़ती है, कभी उसे उंगली से छूती है, कभी छिपा लेती है, सामने दर्पण धरे, सारा दिन इसी प्रकार उसे देखती रहती है !

—वियोग में भी अनुरागातिशय से संयोग का सा सुख मान मान रही है। वह नहीं तो ससकी निशानी ही से जी बहला रही है, अच्छी तन्मयता है ! प्रियानुरागिणी वियोगिनी के स्वभाव का बहुत अच्छा चित्र है।

अलंकार :–१—"स्वभावोक्ति"—२—"लाटानुप्रास" और ३– "पदावृत्ति दीपक"।

'अनवर चन्द्रिकाकार' कहते हैं कि "इस दोहे की नायिका परकीया है"। यथा—

"जो नायिका परकीया होइ तो हर्ष, स्मृति, शंका सचारी क्रियानुभाव तें या के (नायिका के) तो रस है, ही अरु उपपति हू के व्यङ्ग्य न हो सकै; या तें स्वकीया तें परकीया ही कहिये"—

(१११)

छला छबीले छैल को

[नए नए नेह में प्रियतम की अँगूठी उपहार में पाकर नायिका की क्या मनोदशा है इसका वर्णन करती हुई सखी से कह रही है कि पूर्वानुराग में, नवीन स्नेह में, नायिका को अपने छबीले प्रियतम का छल्ला प्राप्त हो गया है। वह उसे कभी चूमती है, कभी उसे छाती से लगाकर प्यार करती है, कभी पहनती है, फिर कोई देख न ले, या यह मलिन न हो जाय, इस भय से उसे उतार कर रख देती है —स०]

परकीया प्रेमगर्विता-वर्णन

एक सौ ग्यारह

छला छबीले छैल को नवल नेह लहि नारि।
चूमति चाहति लाय उर पहरति धरति उतारि॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(छबीले छैल को छला)—छबीले–तरहदार, फबीले–नायक का छल्ला— अँगूठी—(नवल नेह लहि — नवीन स्नेह में— पूर्वानुराग में— पाकर, (नारि)— नायिका, (चूमति)— चूमती है, (उर लाय चाहति)-- छाती से लगाकर प्यार करती है, (पहरति) पहनती है (उतारि धरति)— और फिर उतारकर धर देती है।

पूर्वानुराग में नायिका को छबीले छैल का छल्ला मिल गया है, सो मारे प्यार के कभी उसे चूमती है, कभी छाती से लगाकर प्यार करती है, कभी पहनती है, और फिर कोई देख न ले, या मैला न हो जाय, इस डर से उतारकर रख देती है।

पूर्वानुरागिणी नायिका के स्वभाव का सुन्दर चित्र है।

पूर्वानुराग, शृंगार हर्ष संचारी, और त्रपानुभाव से परकीया नायिका।

अलंकार— "स्वभावोक्ति" और "अनुप्रास की संसृष्टि" (अनवर चन्द्रिका)

"जाति"— (स्वभावोक्ति)—"कारक दीपक"।

(हरिकवि)

सञ्जीवन भाष्य एवं सरलार्थ बोधिनी टीका का शेष अंश ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में मुद्रित है।

प्रोत्साहन के प्राण फूँकने वाले आचार्य पद्म सिंह शर्मा

—पं० अमृतलाल चतुर्वेदी, एडवोकेट

स्व० आचार्यप्रवर पं० पद्म सिंह शर्मा ने मुझे इतना स्नेह और प्रोत्साहन प्रदान किया था कि मैं सोच नहीं पा रहा हूँ कि उनके विषय में क्या लिखूँ, क्या न लिखूँ ?

मर्म की बात तो यह है कि मेरे कवि जीवन में आचार्य जी ने इतने प्रोत्साहन के प्राण फूँके कि मैं कविता के क्षेत्र में आ कूदा।

जहाँ तक मुझे स्मरण है सन् १९२५ में मेरा उनसे परिचय हुआ। सन्ध्या का समय था। भाई पं० बनारसी-दास जी, स्व० आचार्य जी और प०हरिशंकर जी शर्मा के साथ टहलने जा रहे थे। मार्ग में मुझे भी साथ ले लिया। भाई बनारसी दास जी के कहने पर मैंने कुछ छन्द ब्रज-भाषा के सुनाये। अब क्या था ? आचार्य जी रस विभोर हो गये। इन छन्दों में मेरे तो २–४ ही थे, शेष सब पुराने कविजनों के थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुझे आचार्य जी के साथ-साथ फीरोजाबाद से आगरा नागरी प्रचारणी सभा की कविगोष्ठी में सम्मिलित होना पड़ा। यह मेरा मच से कविता पाठ का प्रथम अवसर था। इसके पश्चात भरतपुर, वृन्दावन, मथुरा आदि-आदि स्थानों पर जहाँ कही भी आचार्य जी जाते मुझे अपने साथ ले जाना नहीं भूलते थे। यह क्रम आचार्य जी ने आजीवन चलाया।

वृन्दावन में हिन्दी साहित्य सम्मेलन था। आचार्य जी, भाई बनारसीदास जी, पं० हरिशंकर जी और पं० गणेशी लाल जी, हम सब एक ही स्थान पर ठहरे थे। कवि-सम्मेलन के पश्चात प० गणेशी लाल जी ने मेरे पाठ की प्रशंसा करते हुए, भाई बनारसीदास जी से पूछा कि क्या आप इनके गुरु हैं ? भाई बनारसीदास जी ने अट्टहास लगाते हुए उत्तर दिया कि गुरु तो यह मेरे हैं। आचार्य जी इस पर हँसते-हँसते लोट पोट हो गये। इसके पश्चात् पं० गणेश लाल जी ने मुझसे कहा कि भाई कविता में गुणों का ध्यान रक्खा करो। मैंने विनोद में उत्तर दिया कि रगणों तगणों का ध्यान तो बगड़ों को होता है, कवियों को नहीं। मेरी हिमायत लेकर तुरन्त आचार्य जी बोल पड़े और संस्कृत में कुछ कहा जिसका आशय था कि कवि तो निरंकुश होता है और कहते गये कि गुणों को तो बड़े से बड़ा कवि भी नहीं निभा पाया। बात हँसी में समाप्त हो गई।

आचार्य जी की मेरे ऊपर महती कृपा रही। एक वर्ष दिसम्बर के महीने में मैं और मेरे मित्र स्व० पं० भगवान सहाय फोटोग्राफर फीरोजाबादी, गुरुकुल वृन्दावन के उत्सव पर गये। मुझे पता नहीं था कि आचार्य जी भी पधारे हुए हैं। भगवान सहाय को भी छँटे-छँटे सुन्दर छन्द याद थे। हम दोनों शौच के लिये खेतों में चले गये, जहाँ पर सरसों अपने पूर्ण यौवन पर इतरा रही थी। बस फिर क्या था, छन्द होने लगे। देखते क्या हैं कि आचार्य जी हमारी ओर प्रसन्न मुद्रा में बढ़े चले आ रहे हैं। कुछ झुटपुटा सा हो चला था। आकर मुझसे कहने लगे छन्द क्यों बन्द करा दिये ? मैं तो तुम्हारी आवाज पहिचान कर इतनी दूर से वसन्त वर्षा का आनन्द लेता चला आ रहा हूँ। भगवान सहाय के छन्द "छातीतें छुआय दिया बाती क्यों न बारि लै" की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अनेक बार सुनने पर भी तृप्त नहीं हुए। यह थी उनकी गुण ग्राहकता।

दूसरे दिन हम लोग मथुरा आये। साथ में आचार्य किशोरी दास जी बाजपेयी भी थे। श्री द्वारिकाधीश जी के मंदिर के समीप एक दूकान पर स्व० कविरत्न नवनीत जी के दर्शन हुए और साथ-साथ परिचय भी। कविता का अखाड़ा जम गया। वहाँ पर मैंने एक सवैया पढ़ा जिसकी अंतिम कड़ी थी "ब्रह्महु बेधति लंक लली की"। इस पर वाजपेयी जी और आचार्य जी में, वाद प्रारम्भ हो गया कि इसमें कौन सा अलंकार है और हम सब इसका निर्णय कराने स्व० कन्हैया लाल जी पोद्दार के पास पहुँचे। आवभगत और जलपान के बाद मुझसे सवैया दुहराने को कहा गया और श्री पोद्दार जी से अलंकार के विषय में निर्णय देने को कहा। दोनों ही आचार्य अपने अपने पक्ष पर अटल थे। दोनों को सुनकर श्री पोद्दार जी ने हँस कर कहा कि मुझे किस चक्कर में डाल दिया? दोनों ही ठीक हैं, परन्तु आचार्य पं० पद्म सिंह जी का पक्ष थोड़ा प्रबल है। उन्होंने अलंकार शास्त्र के कुछ उदाहरण भी दिये। सब लोगों ने खूब आनन्द लूटा।

आचार्य जी जब कभी आगरा पधारते थे तो भाई हरिशंकर जी के निवास स्थान पर ठहरते थे। मुझे अपने आने की या तो सूचना भिजवा देते थे या स्वयं पधारते थे। सम्वत् ८१ की बात है कि मुझे उनके पधारने की सूचना मिली तो मैं भाई हरीशंकर जी के यहाँ पहुँचा। आचार्य जी कविवर बिहारी जी पर हजार जान से फिदा थे। उन्होंने बिहारी सतसई पर अपनी टीका की एक पुस्तक मुझे दी। इसमें बिहारी जी के लगभग सवा सौ दोहों पर टीका आचार्य जी ने की है। टीका क्या है, आनन्द का खज़ाना लुटा दिया है। दोहों से अधिक आनन्द उनकी टीका में है। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत के कवियों की तुलनात्मक समालोचना पढ़ते ही बनती है, कहने में नहीं आती। "गिरा अनयन, नयन बिन बानी" वाली बात है। ऐसी जिन्दा, चुस्त और ज़ोरदार ओजपूर्ण टकसाली भाषा आचार्य जी के ही बाँट थी जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलती, न मिलनी है। उनका सब भाषाओं पर समान अधिकार था। हाँ, तो मैं उनकी टीका की पुस्तक का आनन्द ले रहा था। एक दोहे पर मेरी दृष्टि पड़ी—

"यों दलमलियत निरदई, दई कुसुम से गात।
कर धर देखो धर धरा अजहुं न उरतें जात॥"

आचार्य जी उस समय बड़े ही गौर से मेरी ओर देख रहे थे। मेरी मुखाकृति से वे फौरन ताड़ गये कि मैं उनके अर्थ से सहमत नहीं। तुरन्त तपाक से कहा क्या बात है? मैंने बात को टालना चाहा। कहने लगे, सुनो, न मैं चौबे, न कवि और न ब्रजवासी, यदि मुझसे कुछ भूल हुई है तो स्वाभाविक है और यदि नहीं हुई तो यह भगवान कृष्ण की अनुकम्पा है।

आचार्य जी कट्टर आर्यसमाजी थे और यह थी उनकी भगवान कृष्ण में आस्था और भक्ति। मैंने निवेदन किया कि मेरी क्या मजाल है कि मैं कुछ नुक्ता चीनी कर सकूँ? परन्तु आपकी 'निरदई' शब्द की टीका से ही कुछ दूसरी बात सूझी है। 'निरदई' की टीका तो सर्वथा सुन्दर है ही किन्तु दोहे का प्राण 'करधर' है। मैंने अपना अर्थ बताया तो सुनकर फड़क गये और मुझे छाती से लगा लिया। कहाँ मैं और कहाँ आचार्य जी, परन्तु यह थी उनकी विनम्रता, सहृदयता और बड़प्पन। आचार्य जी सबको ही अनुप्राणित करते रहते थे। आचार्य जी ब्रजभाषा के मर्मज्ञ, पारखी, पुजारी तो थे ही साथ साथ प्रोत्साहन और प्रेरणा की साक्षात् प्रतिमा और स्नेह की सुरसरि भी थे।

इसी प्रकार एक दिन और भी आचार्य जी भाई हरीशंकर जी के यहाँ बैठे बैठे कोई परशियन या अरबी का शेर गुनगुना कर आनन्द ले रहे थे। मेरे पहुँचते ही उन्होंने उस शेर को दुहराया। मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा। मैंने उसका अर्थ पूछा और उसका अनुवाद एक दोहे में करके सुनाया। आचार्य जी ने दोहा सुनकर उसकी दाद दी और मेरी पीठ ठोकी। दोहा यह था।

"लाहु लहे किन दरस के, या दरपन नें प्रात।
जो नसीब मुख देखिवौ, भयौ तिहारौ तात॥"

आचार्य जी की अद्भुत स्मरण शक्ति थी। एक बार सुनकर वह कविता याद कर लिया करते थे। उर्दू, परशियन के भी आचार्य जी प्रकाण्ड पंडित थे।

एक दिन एक खाँ साहब उनसे मिलने आये। खाँ साहब ने एक शेर कहा जो ग़लत था, तो आचार्य जी ने उसे ठीक पढ़कर दुहराते हुए उसकी दाद दी। खाँ साहब बोल पड़े 'पंडित साहब शेर जैसा मैंने पढ़ा वही ठीक है।' आचार्य जी हँसते हुए बोले यह शेर अमुक शायर का है और अमुक पुस्तक के अमुक सफ़े पर छपा है, पढ़ लीजियेगा, और उठकर पुस्तक उठा कर खाँ साहब को थमा दी। खाँ साहब बड़े नादिम हुए और आचार्य जी के ज्ञान की प्रशंसा मुक्त कंठ से भूरि-भूरि करने लगे।

आचार्य जी के यदा कदा पत्र भी आ जाते थे जो स्नेह से परिपूर्ण होते थे। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मुझे आचार्य जी का और अधिक दिन तक स्नेह, सत्संग और आशीर्वाद प्राप्त न हो सका और उनको दुर्दैव ने हम लोगों से छीन लिया।

ऐसे ही महा मानव के लिये किसी ने क्या ही अच्छा कहा है—

"लग जाये मौत आग तेरे इन्तखाव को,
तैंने चुना था हाय किसी लाजवाब को"

आचार्य जी की मैं क्या क्या खूबियाँ गिनाऊँ, क्या-क्या संस्मरण लिखूँ ? अन्त में यही कहना पड़ता है—

"खुदा बख्शे बहुत सी खूबियाँ थीं मरने वाले में"

चालीस वर्ष से भी अधिक हो गये परन्तु आचार्य जी आज भी याद आते हैं। उनकी वाक् पटुता और समालोचना क्या कोई भुलाने की वस्तु हैं ? पं० ज्वाला प्रसाद जी मिश्र की बिहारी सतसई की टीका की आचार्य जी ने शिष्ट मीठी चुटकियों से वह धज्जियाँ उड़ाई हैं कि स्व० मिश्र जी की आत्मा तिलमिला उठी होगी।

लेख बढ़ न जाये अतः मैं अपनी श्रद्धांजलि देकर लेख समाप्त करता हूँ।

'पद्मसिंह साँचमाँच पुरुष पदम हे'

वेद विसुआसी आर्य चाँदपुर निकट बासी,
ईस्वर उपासी भाषी "मम न इदम्" हे।
गुरु गुनवारे, गुन गाहक गुनी जन के,
प्रीति, परतीति, रीति साबित कदम हे।
अमृत कहाँ लों उन गुनन बखान करै,
पत्र, लेख, कला महा मानव सदम हे।
बहु भाषा ज्ञाता, दाता, त्राता दुखी दीनन के,
पद्मसिंह साँचमाँच पुरुष पदम हे।

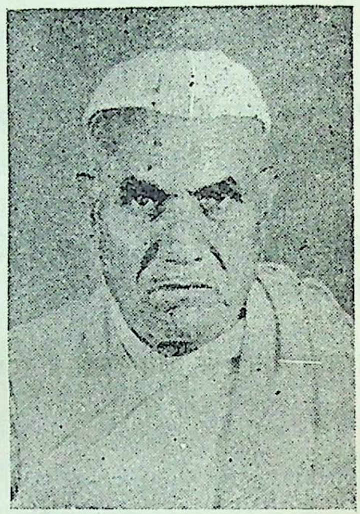
—शीतला गली,
आगरा

पूज्य पंडित पद्मसिंह जी शर्मा : कुछ संस्मरण

—शिवचरण

'फ़ना के बाद भी, अहले कमाल जिन्दा हैं
ज़हे वो काम कि जिससे जहां में नाम रहे'

स्वर्गीय संपादकाचार्य पूज्य पंडित पद्म सिंह जी शर्मा व मेरे पूर्वज एक ही थे। अपनी जमीदारी व्यवस्था के लिये पैंजनियाँ से तीन मील की दूरी पर उन्होंने 'नायक नंगला' को निवास स्थान बना लिया। आज भी इन बदलते हुए हालात में पैंजनियाँ व नायक नंगला के सम्बन्ध पूर्ववत् मीठे हैं। मेरे पूज्य पिता जी चौ० गंगा-सहाय, पू० पंडित जी के आज्ञाकारी श्रद्धालु खानदानी भतीजे थे। मुझे पू० पंडित जी की गोद में खेलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।



लेखक

मेरे पू० पिता जी सन् १६१० ई० में मुझे गुरुकुल कांगड़ी में भरती कराने पू० पंडित जी के पास ले गये परन्तु पू. पडित जी की राय नहीं बनी व मेरी शिक्षा व्यवस्था घर पर ही कराने की आज्ञा हुई। पू० पंडित जी जब जब नायक नंगला पधारते थे, तो पैंजनियाँ को पवित्र करना कभी नहीं भूलते थे। उन दिनों मैं भी अधिकतर 'नायक नंगला' ही रहता था। महापुरुषों व सन्तों का आवागमन वहाँ नित्य ही रहता था। 'नायक नंगला' उन दिनों साहित्य तीर्थ बना हुआ था। उस साहित्यक मेले में मुझे सेवा व दर्शन-लाभ हुआ है। अतिथि सत्कार की सम्पूर्ण व्यवस्था पू० पंडित जी के छोटे भाई नम्बरदार रिसाल सिंह जी चुपचाप करते रहते थे। दो जोड़ी बैल ताँगे चान्दपुर आने जाने के लिए हर समय तैयार रहते थे।

पधारने वालों की फैहरिस्त तो बहुत लम्बी है, सब नाम भी मुझे याद नहीं रहे। कविराज पं० नाथूराम शंकर, पं० हरिशंकर, पं० भीमसेन, पं० उदयवीर शास्त्री, पं० हरिदत्त शास्त्री, राव जी नरदेव शास्त्री, महाप्रभु जी, पं० द्वारका प्रसाद जी (खुदा), मुंशी अजमेरी जी, पं० शंकर दत्त जी, वैद्य रामचन्द्र जी, वैद्य हरिशंकर जी, काशीनाथ जी फिदा, वेदमित्र जी, चन्द्र त्यागी, स्वामी तारकानन्द जी, स्वामी सहजानन्द जी, स्वामी सोमतीर्थ जी स्वामी विशुद्धानन्द जी व और भी अनेक गण्यमान्य व्यक्ति आते जाते रहते थे।

जब तक पू० पंडित जी महाविद्यालय ज्वालापुर में रहे, उनके निवास स्थान पर विद्वानों का मेला लगा रहता था। हम लोग तो वार्षिकोत्सव पर ही जाते थे। दो हफ्ते श्री चरणों में रहने का आनन्द लूटते थे। महाविद्यालय आज भी है व मैं भी हो आता हूँ, मगर अब वह रस कहाँ मिल पाता है? पू० पंडित जी बिरादरीवाद

से बहुत दूर थे तथा बिरादरी के वार्षिकोत्सवों के बुलावे को भी टाल जाते थे। मुझे जाने की प्रेरणा देते थे। ऋषि दयानन्द जन्म शताब्दी पर मुझे मथुरा अपने साथ ले गये थे। प्रयाग, अयोध्या, काशी भी उनके साथ गया हूँ।

पू० पंडित पद्म सिंह जी शर्मा मनुष्यता से परिपूर्ण बुद्धिमान विद्वान थे। संस्कृत-हिन्दी, फारसी-उर्दू पर उनका पूर्ण अधिकार था। बंगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी व अंग्रेजी इत्यादि भाषाओं को भी भली भाँति समझते थे। कविता समझने में तो पू० पंडित जी की निपुण बुद्धि 'रवि व कवि' को भी पीछे छोड़ देती थी। मुझे 'दीवाने गालिब' उन्होंने पढ़ाया है। मैंने गांधी जी व आचार्य गिज्जू भाई बधेका, प्रो० चान्द भाई शेख को 'दीवाने गालिब' सुनाया है।

१३ अप्रेल सन् १९१९ ई० को अमृतसर में जालियाँवाला बाग की खूनी घटना घट चुकी थी। अहले दिल विचारवान् चोट खाये शेर की तरह बैचेन घूम रहे थे। गाँधी जी की आवाज को ध्यान से सुन रहे थे। कुछ करने की ठान रहे थे। वैद्य रामचन्द्र जी कनखल वालों के मकान पर कानपुर से श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी पधारे। वैद्य जी से मशविरा करने लगे। वैद्य जी ने विद्यार्थी जी से मेरा परिचय भी करा दिया। विद्यार्थी जी गुरुकुल कागड़ी, महाविद्यालय ज्वालापुर, ऋषिकुल में मुझे अपने साथ ले गये। पूरा एक सप्ताह विद्यार्थी जी के सत्संग में रहा। विद्यार्थी जी ने मुझ पर जादू कर दिया। वे साथ ही मेरे गांव पैंजनियाँ आये। इसके बाद उनका पैंजनियाँ 'गढ़' बन गया। विद्यार्थी जी की कृपा से अमर शहीद भाई अशफाक उल्ला व भाई रोशन सिंह के चरणों की पवित्र रज से मेरा घर व गांव 'पैंजनियाँ' पवित्र हुए। इन विचारों के महापुरुषों ने अनेक बार पैंजनियां को धन्य किया।

भाई विद्यार्थी जी ने मुझे साबरमती आश्रम, अहमदाबाद में रहने के लिए तैयार कर दिया। मैं सन् १९१९ ई० से सन् १९३६ तक हर वर्ष दो बार एक २ महीने के लिए वहाँ जाने लगा। फिर आश्रम बर्धा भी आना जाना रहा। डांडी मार्च में भी अब्बास जी तैयब के साथ जेल यात्रा की। डाँडी यात्रियों ने प्रण किया था कि 'जब तक स्वराज्य नहीं मिलेगा, हम घर नहीं जायेगें'! उन ८९ यात्रियों में से बाबू दुर्गेश चन्द्र दास, प्रो० गिरिराज, प्रो० भन्साली, लाला सूरजभान, भाई प्रेमराज जी ने मिल कर हरिद्वार में रहने का निश्चय लिया। मैंने वैद्य रामचन्द्र जी कनखल व आचार्य देव शर्मा जी गुरुकुल कागड़ी के सहयोग से गुरुकुल वाटिका मायापुर में उपरोक्त सज्जनों के साथ राष्ट्र सेवा कार्य आरम्भ कर दिया। उसके बाद गांधी सेवा संघ' के नाम से वैद्य जी के बाग में आश्रम बन गया। और भी बहुत से सज्जन आने जाने लगे।

७ अप्रेल सन् १९३२ ई० को साहित्याचार्य पू० पद्म सिंह जी शर्मा का स्वर्गवास हो गया। मैं भटक गया। बाबू दुर्गेश चन्द्र दास प० रामवतार शास्त्री के साथ उनके गांव रतनगढ़ चले गये। लाला सूरज भान जी पंजाब, प्रो० गिरिराज राजस्थान व प्रो भन्साली हिमालय यात्रा पर निकल गये। भाई प्रेम राज जी व स्वामी भूमानन्द जी स्वामी मुक्ता नन्द जी व तारा चन्द जी मेरे साथ पैंजनियां आ गये। लगातार ६ वर्ष तक रहने के पश्चात वृन्दावन वासी हो गये।

आचार्य श्री अभय देव जी, गुरुकुल कागड़ी की प्रेरणा से मैं श्री अरविन्द आश्रम पाण्डेचेरी चालीस दिन रहा। २१ फरवरी सन् १९३७ को श्री अरविन्द के दर्शन के पश्चात लौट आया। शाँतिनिकेतन गया, वहाँ हिन्दी भवन में पू० पंडित पद्मसिंह जी शर्मा का चित्र देखा, मन भारी हो गया। वहाँ पं० हजारी प्रसाद जी उस समय थे। उन से कुछ जानकारी मिली। वहाँ से गांधी जी के पास बर्धा गया और अपने क्षेत्र में शिक्षा प्रसार की योजना बतलाई। बापू ने चिठ्ठी दी व मुझे आचार्य गिज्जू भाई बधेका के पास जाने को सलाह दी। भाव नगर गया। आचार्य जी ने आदर पूर्वक मुझे अपने पास रखा। मैंने बाल मानस शास्त्र की रूप रेखा समझी। आचार्य गिज्जू भाई का विचार हरिद्वार व देहरादून की शिक्षण संस्थाऐं देखने का पहले से था। इसलिये वे मेरे साथ शिक्षण

संस्थाएँ देखने हरिद्वार व देहरादून आ गये। संस्थाओं को देखकर आचार्य जी मेरे गांव पैजनियां में एक सप्ताह रहे। उसके बाद भावनगर लौट गये।

मैं पैजनियाँ में शिक्षा प्रसार की योजना की रूप रेखा बना ही रहा था कि आचार्य गिज्जू भाई का बुलावा आ गया। आचार्य जी भावनगर छोड़ राजकोट में 'टीचर्स ट्रेनिंग कालिज' चलाने लगे। मैं पूरे एक वर्ष राजकोट में आचार्य गिज्जू भाई के साथ रह कर 'बाल मानस शास्त्र' का अध्ययन करता रहा। आचार्य श्री गिज्जू भाई ने मुझे वचन दिया था कि मैं सन् १६४० में पैजनियां चल कर रहूँगा और वहीं शिक्षा प्रसार का कार्य करूँगा मैं बहुत खुश था। अफसोस आचार्य गिज्जू भाई की उम्र ने साथ न दिया। कार्य रुक गया और मुझे निराश लौटना पड़ा।

पैजनियाँ आकर मैंने नायक नगला से पू० पंडित जी के छोटे भाई रिसाल सिंह जी को व चान्दपुर से श्री राम स्वरूप जी रिटायर्ड हेडमास्टर को अपने पू० पिता जी के पास बुलवाया। अपनी योजना तीनों बर्जुगों को सुनाई। वो मेरी योजना पर प्रसन्न हो गये व पैजनियां में विद्यालय खोलने का निर्णय ले लिया।

मेरे पूज्य पिता चौ०गगा सहाय जी ने दस बीघे आमों का बाग व उसमें बने मकानात विद्यालय के लिये दे दिये। एक कमरा हाल पू० पंडित पद्मसिंह जी शर्मा के नाम का पत्थर लगवा कर बनवा दिया। १ जनवरी सन् १६४० को विद्यालय का श्रीगणेश हो गया। विद्यालय सफलता पूर्वक सन १६५० ई० तक चलता रहा।

१५ अगस्त सन् १६४७ को भारत अंग्रेजी चंगुल से निकल चुका था। नई आशाओं ने बुद्धि भ्रम कर दिया। चेयरमैन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के लुभावने बहकावे में आ इस वायदे व उम्मीद पर कि बोर्ड विद्यालय को ५ वर्ष में हाई स्कूल बना देगा, विद्यालय मय बाग, मकानात व शिक्षा सामान, बोर्ड को सौंप दिया। बार बार तकाजा करने पर भी बोर्ड हाई स्कूल बनाने में असमर्थ सिद्ध हुआ। चेयर मैन बदल गये। शिक्षा स्तर भी गिर गया। बिरादरीबाजी रंग लाई, मेरी प्रार्थनाएँ हवा में उड़ गईं। बोर्ड ने अपना विद्यालय १६६७ में बंद कर दिया। बाग व मकानात खाली हो गये।

उसी बाग व मकानों में मैंने तभी 'पू० पंडित पद्मसिंह शर्मा ग्रामोत्थान विद्यालय, पैजनिया, जिला बिजनौर' नाम की संस्था रजिस्टर्ड करा कर पुनः विद्यालय चालू कर दिया, जो अभी तक जूनियर ही है, हाई स्कूल न हो पाया। डिस्ट्रिक बोर्ड ने मुकदमा दायर कर रखा है जिसमें २५००) व्यय हो चुके हैं।

इस पिछड़े हुए क्षेत्र में जहाँ शिक्षा का पूर्ण अभाव था वहाँ इस विद्यालय ने हाई स्कूल व इन्टर पास कराने में, हजारों विद्यार्थियों को अपना योग दिया। सैकड़ों ग्रेजुएट हो गये। अधिकतर रोजगार में लग गये। प्रति वर्ष संख्या वृद्धि पर ही है। चिराग से चिराग जल रहे हैं, गाँव गाँव में स्कूल खुल गये। अध्यापकों का सहयोग व त्याग ही विद्यालय की सहायता है। प्रति वर्ष विद्यालय पर १०००) से अधिक का व्यय मैं अपने पास से करता हूँ।

मैं दस एकड़ भूमि का कृषक हूँ। इस विद्यालय को हाई स्कूल तक करने के लिये दो किस्तों में १००००) लगा देना चाहता हूँ। उम्र ७५ वर्ष हो चुकी है। स्वास्थ्य अभी साथ दे रहा है। अपना यत्न कर रहा हूँ। प्रभु इच्छा पर विश्वास है। पू० पंडित पद्मसिंह जी शर्मा लिखित साहित्य का अभाव है, ढूंढने पर भी निराश होना पड़ता है।

अस्तु, हिन्दी साहित्य प्रेमी विद्वान ही साहित्य के गुदड़ी बाजार की अपूर्णता को पूर्णता में बदल सकते हैं। पू० पंडित जी के साहित्य का प्रसार ही उनके प्रति सच्ची यादगार रहेगी।

'वर्क तमाम हुआ और मदहा बाकी है
सफ़ीना चाहिये इस बहर-ए-बेकरां के लिये'।

पू० पंडित पद्मसिंह जी शर्मा की वंशावली

- चौ० उमराव सिंह
  - पं० पद्मसिंह शर्मा
    - श्री कशीनाथ (मृत)
      - केशव
        - मुन्नू
    - श्री रामनाथ
      - रवेन्द्र
      - सत्येन्द्र
      - राघवेन्द्र
  - नम्बरदार रिसाल सिंह (मृत)
    - मंगल सिंह (मृत)
      - मुनेश (मृत)

पण्डित पद्मसिंह जी की एक पुत्री आनन्दी देवी थीं जिनका विवाह श्री परमानन्द जी सतुपुरा जिला मुरादाबाद निवासी से हुआ था। ये दोनों ही अब स्वर्गीय हैं। इनके सुपुत्र श्री रमेश चन्द्र शास्त्री इलाहाबाद बैंक, मसूरी में सुपरवाइजर हैं। रमेश जी की बहिन श्रीमती कान्ती देवी (पू० पंडित पद्मसिंह जी शर्मा की धेवती) मेरे छोटे भाई स्वर्गीय सुरेन्द्र सिंह से ब्याही थीं। उनके चार लड़के, श्री कृष्ण कुमार एम० ए० बी० एड०, बलराम सिंह इन्टर (विद्युत विभाग में हैं), अर्जुन सिंह एल० एस० जी० ई० डी० में आगरा में ओवरसियर हैं व सुनील कुमार इन्टर के विद्यार्थी हैं।

पू० पंडित जी की धर्मपत्नी का नाम श्रीमती दुर्गा देवी था। पंडित जी की माता जी का नाम रामा देवी था।

—ग्राम पैंजनियाँ
जिला बिजनौर

तुलनात्मक समीक्षा के जन्मदाता : स्वर्गीय श्री पद्मसिंह शर्मा

—गौरी शंकर द्विवेदी 'शङ्कर',
साहित्य वारिधि

समालोचक-प्रवर स्वर्गीय श्री पं० पद्मसिंह शर्मा जी के शुभ-सत्सङ्ग से लाभ उठाने का सुअवसर तो इन पंक्तियों के अकिंचन लेखक को प्राप्त नहीं हो सका किन्तु बन्धुवर श्री दादा जी, पद्मभूषण साहित्याचार्य श्री बनारसी दास चतुर्वेदी, श्री हरिशंकर शर्मा और श्री श्रीराम शर्मा से समय-समय पर उनकी गुण-गरिमाएँ सुनकर प्रभावित होने का अवसर अवश्य प्राप्त हुआ।

आगरा में प्रायः तीस वर्ष पूर्व बन्धुवर डा० श्री हरिशङ्कर जी शर्मा ने जब अपने पूज्य पिता जी की कृति 'अनुरागरत्न' की प्रति मुझे भेंट की तब मैं महाकवि शंकर जी की उदारता और श्री पद्मसिंह जी शर्मा की महानता से और अधिक परिचित हो सका।

महाकवि शंकर जी आखिर भोलानाथ महादेव जी के समान ही उदार हृदय थे। उन्होंने अपने ग्रंथ का समर्पण श्री-सम्पन्न राजा, महाराजा या उपाधिधारी प्रतिष्ठित विद्वान् को न करके ग्रंथ पर "दो शब्द" लिखने वाले श्री पद्मसिंह शर्मा को किया है। इस प्रकार दोनों ही साहित्य-स्रष्टाओं की महानताएँ प्रशंसनीय हो गईं।

"अनुराग रत्न" पर दो शब्द लिखते हुए उन्होंने उचित ही लिखा है कि उत्तम कविता समालोचना की अपेक्षा नहीं रखती, वह अपनें असाधारण गुणों से सहृदय सज्जनों के हृदय पर स्वयं और सहसा अधिकार कर लेती है।

कविता के विषय में किसी संस्कृत कवि की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है:—

ज्योत्स्नेव हृदयानन्दः सुरेव मदकारणम्।
प्रभुतेव समाकृष्टलोका कवयितुः कृतिः॥

अर्थात् सत्कवि की कविता चाँदनी (ज्योत्स्ना) की तरह हृदय को आनन्द देने वाली, 'सुरा' की तरह मस्त कर देने वाली और प्रभुता (हुकूमत) की तरह मनुष्यों को बलात् अपनी ओर खींचने वाली, एक जबरदस्त चीज है।

महाकवि शंकर जी की कविताओं की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए जन साधारण और मुख्यतः आर्य समाज के कार्यकर्ताओं से अनुरोध किया है कि वे "अनुराग रत्न" में प्रकाशित कविताओं से भरपूर लाभ उठाएँ। ध्यान पूर्वक अनुशीलन करें, सस्वर गाएँ, श्रोतागण सुनकर मुग्ध हों और पढ़ने तथा सुनने वाले दोनों ही आत्म-विभोर हो जाएँ।

अपने उक्त "दो शब्द" के अन्त में महाकवि शंकर जी की समर्पण करने वाली भारी भूल की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करने हेतु, उन्होंने जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है:—

कवि शंकर जी का यह समर्पण "आशुतोष" और "वामदेव" नामधारी शंकर भगवान् की विचित्र लीलाओं के ढंग का है। जिस प्रकार (पौराणिक) भोलानाथ (शंकर)

मालती-माल्य का निरादर कर के धतूर पुष्प को धारण करते हैं, मुक्ताहार के स्थान में नर-कङ्काल से कण्ठ को विभूषित करते, अमृत छोड़ विष का पान करते और कैलासोपवन का परित्याग करके श्मशान में आसन जमाते हैं, उसी प्रकार अनेक गुणज्ञ श्रीमानों, विविध उपाधि-धारी विद्वानों और दिगन्त-विश्रुत कीर्ति, समाज-प्रभु लीडरों को छोड़ कर, एक अगण्य और अवन्य सामान्य जन को "अनुरागरत्न" का समर्पण हुआ है। क्यों न हो, आखिर "शंकर" के नाम-साम्य के साथ कुछ तो लीला-साम्य भी चाहिये। अन्यथा:—

"क्वाहं मूढ़मतिर्मन्दो गुणैः सर्वैः बहिष्कृतः।
क्व चायं सुकृतिप्राप्यः शांकरोऽनुग्रहः परः॥

"अनुराग रत्न" में संग्रहीत कविताओं की प्रशंसा करते हुए महाकवि शंकर के अनन्य भक्त श्री नरदेव शास्त्री वेद तीर्थ ने उचित ही लिखा है कि कवि शंकर की प्रत्येक कविता में उनका पाण्डित्य और वैदग्ध्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। "अनुराग-रत्न" शंकर जी की कृति का उत्कृष्ट नमूना है।

श्री पद्मसिंह जी शर्मा का जन्म सन १८७६ ई० (फाल्गुण शुक्ल द्वादशी रविवार सं० १९३३ वि०) में नायक नगला में हुआ था। आप त्यागी-ब्राह्मण-वंश के भूषण थे। पिता जी का शुभ नाम था चौधरी उमराव सिंह।

घर पर ही संस्कृत, फारसी और उर्दू का भरपूर ज्ञान पण्डित और मौलवी द्वारा पा कर के सन् १८९४ ई० में इटावा जा कर श्री प०भीमसेन वेदाचार्य से अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। काशी में जाकर श्री काशीनाथ शास्त्री से दर्शनादि की शिक्षा प्राप्त की।

सन् १९०४ ई० में गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन कार्य किया। सन् १९०८ ई० में 'परोपकारी' के सम्पादक होकर अजमेर चले गए। सन् १९०९ से १९१७ ई० तक महाविद्याय ज्वालापुर में कार्य करते रहे।

सन् १९१८ ई० में ज्ञान मण्डल काशी के प्रकाशन विभाग में काम करने चले गए।

सन् १९२० ई० (सं० १९७७ वि०) में षष्ठ संयुक्त प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, मुरादाबाद में आपकी ही अध्यक्षता में हुआ।

सन् १९२८ ई० (सं० १९८५ वि०) में अखिल-भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मुजफ्फरपुर आप के ही सभापतित्व में हुआ था।

सन् १९२३ (सं० १९८० वि०) में विहारी की सतसई आलोचनात्मक ग्रथ पर आपको १२००) का मंगला-प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

सन् १९२९ ई० (संवत १९८६ वि०) में 'पद्मपराग' और "प्रबन्ध मंजरी" नामक ग्रंथों का प्रकाशन हुआ।

सन् १९३२ ई० (सं० १९८९ वि०) में हिन्दुस्तानी एकेडेमी के समारोह में "हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी" शीर्षक निवंध पढ़ा जो अधिक प्रशंसित हुआ।

पद-लिप्सा से दूर रहकर अनेकानेक साहित्यकारों, और कवियों को उन्होंने जीवन भर मार्ग दर्शन और सहयोग दिया। भूत पूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, राष्ट्र-कवि डा० मैथिलीशरण गुप्त, पद्मभूषण डा० श्री बनारसी-दास चतुर्वेदी, पद्मभूषण डा० श्री हरिशङ्कर शर्मा, श्री श्रीराम शर्मा, बाबू गुलाब राय, महाकवि अकबर आदि अनेकानेक ख्याति प्राप्त विद्वान् उनसे प्रभावित रहे हैं।

७ अप्रैल सन १९३२ ई० में उनका गोलोकवास हो गया था। उनकी पुण्य स्मृति में आचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा था: —

सुहृद्वर

या ते दिवंत्वयि सुहृद्वर पद्मसिंह
तत्रैव सा रसिकतापि गतैव मन्ये।
क्वाहं भवादृशमनन्त सुभाषितज्ञं
प्राप्स्ये हतेन विधिना बहु वञ्चितोऽस्मि।
संस्मृत्य तेऽद्य सरसञ्च कथा कलापं
सत्यं वदामि हृदयं शतधा प्रयाति।
आर्तस्य निर्गत धृतेर्मम शोक शान्त्यै
त्वत्सन्निधौ गमनमेव विनिश्चिनोमि॥

दौलतपुर
२१ जुलाई १९३१ — महावीर प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी संसार में पद्मभूषण डा० श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ही ऐसे महान पथ-प्रदर्शक हैं जिनके द्वारा साहित्यकारों, सुकवियों, कलाकारों और शहीदों के श्राद्ध कार्यों को प्रकाश में ला कर प्रशंसनीय कार्य किया जाता है, अतएव वे इस प्रकार के महायज्ञों की आयोजना करके परम पुनीत यश उपार्जन कर रहे हैं।

आचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा के उक्त ग्रंथ, निबन्ध और लेखादि जन साधारण द्वारा अत्यधिक प्रशंसा प्राप्त कर चुके हैं।

सबसे अधिक प्रशंसित रचना मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त "बिहारी की सतसई" है। बिहारी सतसई का भली प्रकार अनुशीलन करने के पूर्व ही पाठक यह धारणा बना लेते थे कि उसमें केवल श्रृंगार विषयक ही दोहे हैं, किन्तु समालोचक शिरोमणि श्री शर्मा जी ने सुकवि बिहारीदास की बहुज्ञता पर भली प्रकार प्रकाश डालकर डंके की चोट पर यह सिद्ध कर दिया कि बिहारी-सतसई में गणितज्ञान, ज्योतिष-चमत्कार, वैद्यक-विज्ञान, इतिहास-पुराण-परिचय, नीति-निपुणता, दार्शनिक-तत्व, भक्ति-भावनाएँ और अनेकानेक विषयों का समावेश है।

'बिहारी सतसई' की इस समीक्षा के प्रकाशित होने के पश्चात ही बिहारी सतसई को पढ़ने और समझने में जन साधारण की अभिरुचि बढ़ी।

इस विषय पर स्वतन्त्र-लेख द्वारा ही विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। प्रस्तुत लेख का कलेवर बढ़ाना अभीष्ट नहीं है।

राष्ट्रभाषा-हिन्दी के इतिहास ग्रंथों में जैसा चाहिए वैसा उल्लेख श्रद्धेय शर्मा जी के विषय में नहीं मिलता है। उस अभाव की पूर्ति होनी नितान्त आवश्यक है।

श्रद्धेय शर्मा जी ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी के निर्माण में और समीक्षा की दिशा में जो कार्य किया है उससे आगामी पीढ़ी युग-युगों तक प्रेरणा प्राप्त करती रहेगी, ऐसी इस अकिंचन लेखक की ध्रुव-धारणा है।

—शंकर-निवास
झांसी (उ. प्र.)

"पद्म-सुधा बिनु"

बिनु चन्द न सोहत ज्यों रजनी, रवि के बिनु द्यौस कहावत नाहीं।
बिनु जीव शरीर अकारथ ज्यों, बिनु दीपक मन्दिर भावत नाहीं॥
बिनु ज्ञान हिए अँधियार रहे, बिनु नैन ज्यों रूप लखावत नाहीं।
तिमि पद्म-सुधा बिनु है सरसी, अब 'हर्ष' हमैं कहुं पावत नाहीं॥

—निहाल सिंह शर्मा 'हर्ष'
('त्यागी' पत्रिका से साभार)

मैंने भी उन्हें देखा था !

—रामरीझन रसूलपुरी

१९२८ ई० का वर्ष था—वर्षा की ऋतु । मुजफ्फरपुर के नवल थियेट्रिकल हॉल में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था । यद्यपि मैं उस समय हिन्दी-साहित्य का एक जिज्ञासु छात्र मात्र था, फिर भी अपने साहित्य-गुरु तथा स्वागत समिति के प्रधान मंत्री श्री रामधारी प्रसाद विशारद की कृपा से स्वागत-सदस्य बन गया था । जब अधिवेशन प्रारंभ हुआ, मैं स्वागत-सदस्यों की दीर्घा में जा बैठा । मंच पर हिन्दी जगत के गण्यमान्य साहित्य मनीषी विराजमान थे । वहीं प्रथम बार मैंने पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्री वियोगी हरि, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि के दर्शन किए । मंच के मध्य में मसनद के सहारे अध्यक्ष के आसन पर आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा बैठे थे । लम्बा कद, गोरा-गेहुंआ रंग, प्रशस्त ललाट एवं भव्य मुख-मंडल । अधपकी मूँछें, गम्भीर एवं रोबदार व्यक्तित्व, शरीर पर बन्द गले का कोट और सिर पर गाँधी टोपी । बगल में बैठे हुए व्यक्ति ने कहा—यही हैं साहित्य के चूड़ान्त विद्वान और अलोचक-प्रवर आचार्य पद्मसिंह शर्मा, इस अधिवेशन के अध्यक्ष ।

स्वागत-गान के पश्चात् औपचारिक अध्यक्षीय प्रस्ताव उपस्थित करते हुए हास्यावतार पं० जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी ने कहा—"हमारे अध्यक्ष आचार्य पद्मसिंह जी शर्मा इस मुजफ्फरपुर के सुप्रसिद्ध फल लीची के उपमेय हैं । जिस भाँति लीची ऊपर से कटीली-खुरदरी होती है और उसके भीतर सरस-मधुर तृप्तिदायक गूदा छिपा होता है ठीक उसी भाँति आचार्य शर्मा जो बाहर से रूक्ष-शुष्क दीख पड़ते हैं, किन्तु इनके हृदय में साहित्य की सरसता और मधुर भाव की धारा प्रवहमान है ।"

उस सम्मेलन में शर्मा जी का भाषण बड़ा ही गंभीर और महत्वपूर्ण हुआ, किन्तु मेरी स्थिति गोस्वामी तुलसीदास वाली ही थी—

"समुझी नहिं तसि बालपन, तब मैं रहेऊँ अचेत ।"

इसके कुछ वर्ष बाद ही 'सुधा' की 'साहित्य संख्या' निकली । मैं 'सुधा' के प्रकाशन काल से ही उसका नियमित पाठक था । 'साहित्य संख्या' के संपादक आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा ही थे । उन दिनों प्रौढ़-प्रगलभ हिन्दी पाठकों में साहित्य संख्या की काफी चर्चा रही । वह विशेषाँकों की परंपरा में ऐतिहासिक स्वीकार किया गया था । उन दिनों 'बिहारी सतसई' के 'संजीवन भाष्य' और उसकी भूमिका भाष की भी बड़ी चर्चा थी । साहित्य का एक विद्यार्थी होने के कारण, उपर्युक्त माध्यमों से मैं आचार्य पद्मसिंह जी शर्मा के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो गया था और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समक्ष ही उनके प्रति भी श्रद्धालु था ।

सहसा एक दिन २० अप्रेल १९३२ ई० के पाक्षिक 'जागरण' में उसके संपादक आचार्य शिवपूजन सहाय जी की संतापकारी टिप्पणी पढ़ने को मिली—शीर्षक था—

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा

यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि हिन्दी के उद्भट समालोचक और सहृदय साहित्य-मर्मज्ञ पंडित पद्मसिंह शर्मा जी गत ७ अप्रेल को सुबह सात बजे अपने गाँव 'नायका-नगला' (बिजनौर) में, प्लेग से आक्रान्त होकर, अचानक लोकान्तरित हो गये । इस अनभ्र वज्रपात से हिन्दी-सहित्योद्यान का एक बड़ा

सुन्दर वृक्ष चूर्ण हो गया। यदि शब्दों में आन्तरिक शोक-सन्ताप को व्यक्त करने की शक्ति होती, तो ऐसे अवसर पर हृदय का दुःख-भार कुछ हलका हो जाता। किन्तु स्वर्गीय शर्मा जी स्वयं शान्ति-धाम के यात्री हो कर हिन्दी-संसार में ऐसा घोर हाहाकार छोड़ गये कि शब्द सर्वथा असमर्थ हो रहे हैं। इस समय ईश्वर से हमारी इतनी ही प्रार्थना है कि स्वर्गीय शर्मा जी की काव्य-निमज्जित आत्मा को शाश्वत शान्ति और उनके शोकाकुल परिवार तथा इष्ट-मित्रों को धैर्य उपलब्ध हो।"

शर्मा जी के असामयिक निधन से हिन्दी-साहित्य-नभमंडल का शुक्र तारा सदा के लिए अस्त हो गया था। वास्तव में उनका 'पद्मसिंह' नाम उनके गुण-कर्म का ही उद्बोधक था। वे एक ओर जहाँ पद्म की भांति स्निग्ध-सुकोमल थे, उनकी विद्वत्ता का सौरभ संपर्क में आने वालों को मोदित-आमोदित करता था, वहीं दूसरी ओर सिंह की भांति ही वे वज्र-कठोर, पौरुष सपन्न तथा स्वाभिमान-संकुल थे। उनका जीवन सारस्वत-साधना का मूर्त्त-विग्रह था।

उनका जन्म १८७७ ई० में नायक-नगला ग्राम, जिला बिजनौर के त्यागी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। पिता पंडित उमराव सिंह जी आर्य समाजी विचार के धार्मिक व्यक्ति थे और भारतीय संस्कृति तथा वैदिक धर्म पर उनकी गहरी आस्था थी। बालक पद्मसिंह की शिक्षा का प्रारंभ उर्दू-फारसी से हुआ, किन्तु पिता पंडित उमराव सिंह इन्हें देववाणी संस्कृत के विद्वान के रूप में देखना चाहते थे। इसलिए नागपुर-रियासत की संस्कृत पाठशाला में इन्हें व्याकरण पढने के लिए भर्ती किया गया। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर १८९७ ई० में इन्होंने जालन्धर के वैदिक आश्रम में प्रवेश किया और संस्कृत के पारंगत विद्वान महात्मा शुद्ध बोध जी तीर्थ से व्याकरण की उच्च शिक्षा प्राप्त की। इसके पूर्व आप ने ओरियंट कालेज, लाहौर में भी शिक्षा प्राप्त की। पद्मसिंह जी को स्वाध्याय का व्यसन था। शिक्षा समाप्त होने पर भी ये विद्यार्थी बने रहे और रात-रात भर जागकर पुस्तकें पढ़ते रहे।

आर्य समाजी संस्कार इन्हें विरासत में मिला था। इस लिए जीवन का प्रारंभ इन्होंने समाज-सेवा से किया और प्रारंभिक दिनों में कुछ वर्षों तक आर्योपदेशक के रूप में, राजपूताना तथा संयुक्त प्रान्त में आर्य समाजों का संगठन तथा प्रचार किया। फिर आप वैदिक मंत्रालय, अजमेर से सम्बद्ध हो गये और ऋषि दयानन्द सरस्वती के 'ग्रंथों के शुद्ध मुद्रण के निमित्त प्रमुद्र-संशोधन का कार्य किया। परोपकारिणी सभा, अजमेर उस समय 'परोपकारी' मासिक पत्र निकाला करती थी। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने कुछ काल बाद 'परोपकारी' का संपादन प्रभार ग्रहण किया। शर्मा जी के संपादन में 'परोपकारी' विद्वान सुधारकों में बड़ा ही लोकप्रिय हुआ। इन्होंने अनेक अध्ययनपूर्ण प्रामाणिक लेखों के द्वारा 'परोपकारी' का स्तर ऊँचा उठा दिया था।

शर्मा जी किसी शैक्षणिक संस्था की सेवा द्वारा शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करना चाहते थे। अतः प्रथमतः इन्होंने अपनी सेवा गुरुकुल कांगड़ी को समर्पित की और कुछ वर्षों तक वहाँ साहित्य के प्राध्यापक का कार्य किया। किन्तु इन के कई विद्वान मित्र उस काल ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापन करते थे। उनके आकर्षण के कारण ये ज्वालापुर महाविद्यालय में साहित्य के प्राध्यापक-पद पर चले आये और अपनी कार्यपटुता तथा प्रबन्धदक्षता के कारण प्रबन्ध-समिति के मंत्री पद पर निर्वाचित किये गये। अपने मंत्रित्व काल में भारत के प्रमुख नगरों में घूम–घूम कर इन्होंने महाविद्यालय के लिए पर्याप्त धन संग्रह किया।

शर्मा जी ने अपनी स्वाध्याय साधना के द्वारा संस्कृत, उर्दू-फारसी, प्राचीन हिन्दी-साहित्य तथा प्राकृत आदि का चूडान्त ज्ञान प्राप्त किया था। वे जिस खूबी से हिन्दी में तुलनात्मक शैली की गंभीर आलोचना लिख सकते थे, फारसी-उर्दू तथा संस्कृत में भी उसी खूबी से साहित्य रचना कर सकते थे। इनकी साहित्य जगत में प्रसिद्धि, १९०९-१० ई० में, 'सरस्वती' में प्रकाशित 'सतसई संहार' शीर्षक लेख-माला से हुई। सुप्रसिद्ध आलोचक मिश्र

बन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में देव कवि की श्रेष्ठता सिद्ध करने के निमित्त बिहारी पर अनेक भद्दे आक्षेप किये थे। "प्रधानतः तुलनात्मक आलोचना का रूप मिश्र बन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' में देखने को मिला। इसमें श्रेष्ठता के अनुसार हिन्दी के नव कवियों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी और सबसे मुख्य बात यह थी कि इसमें तुलसी और सूर के पश्चात देव को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। देव और बिहारी विषयक विवाद की अविच्छिन्न धारा का सूत्रपात यहीं से होता है। इसके अनन्तर बिहारी पर लगाये गये आरोपों का समुचित उत्तर देने के लिए कमर कस कर इस युद्ध में कूदने वालों में थे, पंडित पद्मसिंह शर्मा। उन्होंने मिश्र-बन्धुओं के भद्दे और पक्षपातपूर्ण विचारों का प्रतिवाद बड़ी निष्ठा एवं गंभीरता से किया।" ('हिन्दुस्तानी' भाग ३०–अंक १–४, पृष्ठ ९९)

'सतसई संहार' लेखमाला के प्रकाशित होने के बाद ही शर्मा जी की विद्वत्ता और आलोचना पद्धति की धाक साहित्य के विद्वानों में जम गयी। उनकी आलोचना की विशेषता थी कि संस्कृत और प्राकृत काव्य परपर का निर्वाह करते हुए बिहारी के काव्य की उत्कृष्टता का सहृदय-संवेद्य शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया। सतसई के दोहों का, अपनी पारदर्शी तर्क-युक्ति द्वारा मौलिक अर्थ प्रस्तुत कर, उनके गूढ़ एवं गंभीर भावों को उद्घाटित किया। बिहारी के काव्यगत सौन्दर्य का उन्होंने अनेक संस्कृत-साहित्य के शतकों एवं सप्तशतियों के मुक्तक छन्दों के आलोक में शास्त्रीय मूल्यांकन प्रस्तुत किया। इस कारण साहित्य-संसार में प्रवेश करते ही उनकी पारंगत विद्वत्ता, प्रखर प्रतिभा और मननशील मनीषा अपना प्रभाव-प्रकाश बिखेरने लगी। विषय-वस्तु के प्रस्तुत करने की शर्मा जी की अपनी निजी शैली थी, जो उनके विद्वान पाठकों को चमत्कृत किये बिना नहीं रहती थी।

शर्मा जी ने ज्वालापुर महाविद्यालय की हार्दिक निष्ठा से सेवा की। इन्होंने १९०९ ई० की जनवरी से 'भारतोदय' नाम का मासिक पत्र निकला। 'भारतोदय' हिन्दी–साहित्य को विकसित–परिष्कृत करने वाला 'सरस्वती' के बाद दूसरा पत्र था। इस कारण यह आर्य समाज के दायरे से ऊपर उठकर हिन्दी-संसार का तत्कालीन प्रहरी बन गया था। शर्मा जी ने 'भारतोदय' में साहित्य के स्थायी महत्व के अनेक गंभीर लेख लिखे और अनेक प्रतिभावान-उदीयमान साहित्यकारों को प्रोत्साहन देकर साहित्य-सेवा के क्षेत्र में अग्रसरित किया।

भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति तथा महान राष्ट्रनायक देशरत्न स्वर्गीय डा० राजेन्द्र प्रसाद का प्रथम लेख जब कि वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्र थे — 'भारतोदय' में ही प्रकाशित हुआ था। उस समाज-सुधार विषयक लेख का शीर्षक था 'समाज संशोधन'। उदीयमान छात्र राजेन्द्र प्रसाद की प्रतिभा को पहचान कर आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने उन्हें 'सरस्वती' में भी लेख भेजने को प्रोत्साहित किया। उत्तर में शर्मा जी को राजेन्द्र बाबू ने लिखा था–'सरस्वती में जो लेख देने की आज्ञा की गयी है सो अनुल्लंघनीय होने पर भी लेख लिखने की असमर्थता के कारण विलम्ब साध्य होगी। कारण, प्रथम तो ऐसा विषय नहीं सूझता जिस पर हिन्दी-रसिकों का अनुराग हो। द्वितीय, हिन्दी लेखन की सामर्थ्य का भी अभाव है। आप कुछ विषय निर्देश करें तो कुछ प्रयत्न हो। 'समाज-संशोधन' वाला लेख आपको इतना पसन्द होगा यह मुझे कभी धारणा न थी। यदि उधर 'भारतोदय' कृतार्थ हुआ तो इधर मैं भी कृतार्थ हुआ।"

राजेन्द्र बाबू का वह लेख स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक स्थिति' के विषय में था। आचार्य शर्मा जी ने जहां हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्नत मानदंड स्थापित किया वहां 'भारतोदय' के माध्यम से अनेक लेखकों का भी निर्माण किया। संपादकाचार्य प० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने अपने 'समाचार पत्रों के इतिहास' पुस्तक में लिखा है कि–"मासिक पत्रों में भाषा और विचारों की दृष्टि से 'भारतोदय' सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।"

'भारतोदय' में प्रकाशित शर्मा जी के लेखों को ही संग्रहीत-संपादित कर बाद में सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री पारसनाथसिंह ने 'पद्मपराग' के नाम से प्रकाशित कराया।

'सतसई-संजीवन-भाष्य' शर्मा जी की अमर कृति है। इस पुस्तक के भूमिका भाग में उल्लिखित तुलनात्मक आलोचना पद्धति के द्वारा इन्होंने बिहारी के काव्य-सौष्ठव का जैसा चमत्कारिक प्रतिपादन किया है और उन पर लगाये गये लांछनों का जैसा मुँह तोड़ उत्तर दिया है वह साहित्य-रसिकों के विद्या-विलास का युगों तक साधन बना रहेगा। 'सतसई संजीवन' का भूमिका भाग हिन्दी-आलोचना-साहित्य का एक दिशा-दर्शक स्तम्भ है। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार, 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' का प्रथम पुरस्कार 'बिहारी सतसई की भूमिका' पर शर्मा जी को प्रदान कर इन्हें सम्मानित किया गया।

साहित्य-जगत के लिए यह क्षोभ और संताप का विषय ही रह गया कि आचार्य पद्मसिंह शर्मा 'संजीवन भाष्य' को पूर्ण नहीं कर पाये। सतसई की 'भूमिका' के अतिरिक्त लगभग सावा सौ दोहों पर ही वे 'संजीवन भाष्य' प्रस्तुत कर सके। अपनी मृत्यु से मात्र दो मास पूर्व शर्मा जी ने हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के मंच से 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' शीर्षक लिखित भाषण का पाठ किया, जो इसी नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित है। इस भाषण के लिए हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने इन्हें एक सहस्र मुद्रा के रूप में भेंट किया था। हिंदी-उर्दू भाषा-विज्ञान तथा साहित्य-इतिहास के अनुसंधायकों के लिए शर्मा जी की यह पुस्तक युग-युग के लिए मार्गदर्शक है।

पं० पद्मसिंह शर्मा वस्तु रूप में साहित्य के आचार्य थे। प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, व्रज भाषा, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं का इतना महान् महारथी कोई दूसरा दृष्टिगोचर नहीं हुआ। आप जहाँ महान् शिक्षा-शास्त्री प्राध्यापक थे. वहाँ वाणी-वैभव-पूर्ण कुशल वक्ता और उपदेशक भी थे। स्वाध्याय कुशल लेखक, बहुश्रुत पत्रकार, तथ्यदर्शी समीक्षक तथा तत्वदर्शी दार्शनिक वे सब कुछ एक साथ ही थे। पंडित जी स्वच्छन्द प्रकृति के साहित्य-साधक थे और जीवन भर इन्होंने किसी प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं किया। आजीवन उन्होंने ज्वालापुर विश्व-विद्यालय को अपनी अवैतनिक सेवाएँ समर्पित कीं, किन्तु महामना पं० मदन मोहन मालवीय जैसे महान् व्यक्तित्व के अनुरोध को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। ज्ञातव्य है कि महामना मालवीय जी ने शर्मा जी को हिन्दू विश्व-विद्यालय के लिए निमंत्रित किया था और उन्हें वहाँ पर विशेष सुविधाएँ देने का प्रलोभन भी दिया था।

आचार्य शर्मा जी हिन्दी-भाषा-साहित्य के अधिवक्ता थे। वे जहाँ हिन्दी महाकवियों—विशेष रूप से महाकवि बिहारी की सूक्तियों का चमत्कारी अर्थ समझाकर महाकवि अकबर साहब को गद्गद् कर डालते थे, वहाँ संस्कृत के पंडितों के सामने भी हिन्दी काव्यों की शास्त्रीय सूक्ष्म व्याख्या कर उन पर हिन्दी काव्यों का प्रभाव डाल देते थे। शर्मा जी के प्रभाव में आकर अनेक संस्कृत के विद्वानों ने हिन्दी-काव्य-साहित्य को अपने अनुशीलन का विषय बनाया। वे जहाँ बिहारी के आलोचकों का पौरुषपूर्ण मान मर्दन करने में नहीं चूकते थे, वहीं उर्दू के मशहूर शायर अकबर साहब तथा व्रज भाषा के समसामयिक कवि पं० सत्य नारायण कविरत्न की कविताओं के परम प्रशंसक भी थे।

शर्मा जी स्वतंत्र विचार के निर्भीक लेखक थे और इन्होंने जो कुछ लिखा आत्म-प्रेरणा के वशीभूत होकर ही लिखा। संस्कृत, फारसी, उर्दू तथा हिन्दी के प्राचीन कवियों के काव्यों का इतना विशाल अध्ययन शायद ही कोई विद्वान् कर पाया हो। बात-बात में काव्य की मार्मिक सूक्तियों को सुनाकर शर्मा जी श्रोताओं को मंत्रमुग्ध बना डालते थे। शर्मा जी का जीवन सादा, शालीन और सरल था। वे विनोदी प्रकृति के सरस स्वभाव वाले निरभिमान व्यक्ति थे। सहसा उन्हें देख कर कोई अपरिचित यह नहीं जान सकता था कि वह युग के महान् सारस्वत-साधक के सम्मुख खड़ा है। शर्मा जी ने साहित्य-सेवा को कभी व्यवसाय नहीं बनाया और जीवन भर अपनी पैतृक संपत्ति की हानि बरदाश्त करते रहे।

आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा हिन्दी-आलोचना-साहित्य के इतिहास में अमर विभूति हैं। इस स्मृति पर्व पर हम उन साहित्य-देवता के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा समर्पित करते हैं।

—उत्तर बिहार कार्यालय,
बुद्ध मार्ग, पटना-१

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा की कहानी : पुराने हिन्दी सेवी पं० उदित मिश्र की जुबानी

—गौरी शंकर गुप्त

पं० उदित मिश्र जी के शुभ नाम से मैं वर्षों से परिचित रहा हूँ। स्थानीय 'बिरला-भवन' के निकट का निवासी होने के कारण, दानवीर स्व० युगल-किशोर जी बिरला के साथ आते जाते अकसर उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे मिलता रहा है; किन्तु कभी उनके सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिल सका था। सन् १९६५ में पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने मुझे लिखा था। "कुण्डी (बड़ागांव) के श्री उदित मिश्र जी भी एक लेख के अधिकारी हैं। उन्हें मेरा प्रणाम कहिये।" नौ साल बीत गये; किन्तु मैं स्वकर्त्तव्य का पालन न कर सका—चाहते हुए भी। बल्कि यह कहना उचित होगा कि उक्त अवधि में मेरा लिखना पढ़ना बन्द सा रहा। हाल में एक दिन मिश्र जी की सेवा में मैंने चतुर्वेदी जी के उक्त पत्र का संदर्भ देते हुए अपने साहित्यक जीवन के अनुभव तथा संस्मरण बताने का अनुरोध किया। तुरन्त उनका संतोषजनक उत्तर मुझे मिला। इतना ही नहीं, पत्र लिखने के २-३ दिन बाद ही मेरे निवासस्थान पर वे कृपापूर्वक पधारे। इसके बाद कई बार उनसे भेंट वार्त्ता हुई। प्रस्तुत निवन्ध उसी सामग्री पर आधारित है। जब चतुर्वेदी जी को मैंने कई वर्षों पूर्व दिये गये उनके आदेश का स्मरण दिलाया, तो उन्होंने मुझे लिखा-'श्री उदित मिश्र पर तुरन्त लिखें, अवश्य अवश्य लिखें उनका व्यक्तित्व बड़ा सजीव है। उनके पास संस्मरणों का खजाना है। वर्षों पहले जो काम आपको सुपुर्द किया गया था, उसे आपने अभी तक पूरा नहीं किया।" इस प्रकार सारा श्रेय चतुर्वेदी जी को ही है।

पं० उदित मिश्र जी ने मुझे बताया कि काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक स्व० पं० रामनारायण मिश्र की प्रेरणा से जब वे गुरुकुल कांगड़ी में 'अष्टाध्यायी' पढ़ाने गए, तब वहाँ उनको स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा जी के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिससे वे काफी लाभान्वित हुए। स्व० पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' और पं० पद्मसिंह जी में काफी घनिष्टता मिश्र जी ने देखी और वर्षों साथ रहकर भी वे यह निश्चय न कर सके कि दोनों महानुभावों में मित्रता थी या गुरु-शिष्य का सम्बन्ध था। मिश्र जी और ज्वालापुर महाविद्यालय के सभी लोग पद्मसिंह जी को सम्पादकाचार्य कहते थे। वे 'शंकर' जी की कविताएँ बात-बात में उदाहरण स्वरूप सुनाया करते थे।

ज्वालापुर महाविद्यालय विद्वानों का स्थल था। उस समय वहाँ पद्मसिंह जी के अतिरित पं० भीमसेन शर्मा, पं० नरदेव शास्त्री तथा पं० काशीनाथ सरीखे परम् विद्वान् गुरुजन थे। पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' भी वहाँ उपस्थित हुआ करते थे। पं० रामचन्द्र वैद्य भी वहीं थे। ध्यान अनेक मूर्त्तियों का आता है मिश्र जी को; किन्तु नाम सबके स्मरण नहीं हैं। 'भारतोदय' का भी मिश्र जी को स्मरण है। पं० पद्मसिंह जी अपनी कुटिया में आसन जमाते थे। जीवन सुखी था। कहीं से भी उनमें कृत्रिमता या गुरुडम की गंध नहीं आती थी। उनका स्वभाव इतना अच्छा था कि किसी के छोटे काम की भी वे दाद देते थे। कविता सुनते और प्रसन्न होते थे। उनके चेहरे पर कभी उदासी नहीं दीखती थी। प्रसन्न मुद्रा में सदा

दीखते थे। उन दिनों सतसई-संहार 'सरस्वती' में निकल रहा था। "काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"–यह पंक्ति उन पर सटीक बैठती है। 'कविरत्न' जी की कविता सुनकर वे निहाल हो जाते थे। वे दिन याद आते हैं तो जी भर आता है।

पद्मसिंह जी दिल्ली में रहे। वाराणसी भी आए और उन्होंने काफी भ्रमण किया। मिश्र जी से प्रायः हर जगह उनकी मुलाकात हुई। कहीं-कहीं साथ भी रहे। अब भी मिश्र जी सोचते हैं कि उनकी शैली को कोई लेखक आज तक न पा सका और न अब किसी के पाने की उम्मीद उनको है। इतनी योग्यता किसी में है ही नहीं। धन्य हैं पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी, जिन्होंने इतने ऊँचे दर्जे के लेखकों को जीवित रखा है।

एक बार स्व० 'रत्नाकर' (जगन्नाथदास) जी पद्मसिंह जी से मिले। निश्चय हुआ कि हरदुआगज (जि० अलीगढ़) चला जाय। उस समय 'रत्नाकर' जी अयोध्या राज्य के दीवान थे। मिश्र जी भी साथ गए। 'शंकर' जी की अवस्था अधिक थी। मिश्र जी का अनुमान है कि पद्मसिंह जी और 'रत्नाकर' जी उनसे छोटे थे; लेकिन शिष्टाचार के नाते 'शंकर' जी ने बहुत ही अभिवादन पूर्वक सबका स्वागत किया। 'शंकर' जी आशुकवि थे। काव्य के सभी अंगों पर उनका अधिकार था। छन्दों का उनका ज्ञान प्रशंसनीय था और उनका ज्ञात बहुत ठोस और विचारधारा दिव्य थी।

इन लोगों के खाने-पीने का क्रम शुरू हुआ। मीठी चीजें बनने लगीं। ये लोग खाते और प्रशंसा करते जाते थे। नमकीन सामग्री भी बनने लगी। पं० पद्मसिंह जी चाय पीने में अव्वल स्थान रखते थे; अतः चाय का क्रम भी जारी हुआ। बीच बीच में कविताओं का ताँता लग जाता था। 'शंकर' जी और 'रत्नाकर' जी की कविता का आनन्द सुनने में ही था। पद्मसिंह जी की स्मरणशक्ति विलक्षण थी। उर्दू और हिन्दी–दोनों पर उनका समान अधिकार था। संस्कृत के तो वे पंडित ही थे। वे कभी अकबर की कविता सुनाते, कभी 'रघुवंश' से श्लोक कहते और कभी हिन्दी–कवियों की चर्चा करते। इस प्रकार कविता का प्रवाह चल रहा था। 'शंकर', 'रत्नाकर' और 'पद्म' की त्रिवेणी प्रत्यक्ष थी। प्रयाग की त्रिवेणी में तो सरस्वती लुप्त हैं; किन्तु हरदुआगंज की त्रिवेणी में तीनों धाराएँ प्रत्यक्ष बहती दिखाई दीं, जिससे आनन्द में वृद्धि हो गई।

एक रोचक प्रसंग रेल का सुनिए। प्रथम श्रेणी में उक्त महारथी बैठे थे। खाने की कुछ सामग्री 'रत्नाकर' जी ने रक्खी थी। उसमें से उन्होंने नमकीन और मीठा सबको दिया। उन्होंने क्या, नौकर ने दिया। खा-पीकर निवृत्त होने पर 'रत्नाकर' जी ने नौकर को बुलाना शुरू किया। वह आया और जिस चीज पर सामग्री रख कर खाई थी, पत्तल या अखबार जो कुछ था, अन्य लोगों ने तो खिड़की में से फेंक दिया लेकिन 'रत्नाकर' जी ने नहीं फेंका। नौकर आया तो उन्होंने उस से उसे फेंकने के लिए कहा। पं० पद्मसिंह जी ऐसा मौका कब चूकने वाले थे। वे रत्नाकर' जी को सम्बोधित कर बोले—

नजाकत इस कदर है उसके पा की।
उठा सकती नहीं बारे हिना की॥

इस पर 'रत्नाकर' जी खूब हँसे। कहकहा लग गया। कुछ उन्होंने भी सुनाया, जो मिश्र जी को याद नहीं।

उपर्युक्त प्रसंग जनवरी, सन् १९२३ के अंत का है। श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी द्वारा सम्पादित पं० पद्मसिंह जी के पत्र-संग्रह में 'शंकर' जी के नाम लिखे एक पत्र से भी इसकी पुष्टि होती है। पत्र दिल्ली से ३०–१–२३ को लिखा गया है, जो इस प्रकार है–

"श्री कवि जी महाराज प्रणाम। श्री 'रत्नाकर' जी आपसे मिलने के लिए वहाँ आना चाहते हैं। आने वाले आदित्यवार को या एक दो दिन बाद यहाँ से चलेंगे। मैं भी साथ आऊँगा। पं० उदित मिश्र का भी इरादा है। चलते वक्त तार से सूचना देंगे। आपके दर्शन करके कृतार्थ होने का अवसर सफल होगा।

सेवक–पद्मसिंह शर्मा।"

—मंत्री, राष्ट्रकवि परिषद्,
ए २/५ कामेश्वर महादेव, गायघाट, वाराणसी

प्रातः स्मरणीय पं० पद्म सिंह जी

डा० चन्द्रभानु "अकिञ्चन"

आँखों से कौन आके इलाही निकल गया।
किस की तलाश में मेरे अश्के-रवां चले ॥

मधुमास एवं मन्मथ, सीमन्त एवं सिन्दूर तथा सुवर्ण और सुगन्ध का संगम सबसे बड़ा सौभाग्य है। इसकी संप्राप्ति कहीं-कहीं होती है।

एक बार जर्मनी के महाकवि गेटे से किसी ने पूछा था कि महाकवि ! आपको अपने हृदय में किस वस्तु के दर्शन होते हैं ? महाकवि ने मधुर मुसकान के साथ कहा कि "मुझे अपने हृदय में कल-कल करता निर्झर बहता दिखाई देता है।"

यही बात एवं यही रमणीय प्रश्न हिन्दी की देवी, महनीया कवयित्री महादेवी से भी किसी ने पूछने का साहस किया था। सदा सुषमामयी मुस्कानों में खेलती महादेवी ने उत्तर दिया था कि "मुझे अपने हृदय में गुलाब के फूल खिले दीखते हैं।"

परन्तु कुछ ऐसे भी कलाकार होते हैं जिनके हृदय में कल-कल करता निर्झर भी बहता है और गुलाब के फूल भी खिले रहते हैं। बस समालोचना शिरोमणि पं० पद्मसिंह शर्मा, जिन्हें गुरुकुल में 'संपादक जी' कहा जाता था, ऐसे ही कलाकार थे।

उनकी हर बात में चारुता थी।

"तेरा हर बोल रामायण,
तेरा हर गीत है गीता।"

की बात उनके विषय में पूर्णतया चरितार्थ होती थी। अर्चनीय पद्मसिंह जी चाय के शौकीन थे। उन दिनों चाय को "पद्मसिही" कहा जाता था।

यह बात सन् १९२८ की है। मैं गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर की तीसरी कक्षा का छात्र था। गुरुकुल में "बद्री भवन" नाम का एक छोटा सा रमणीय भवन था। उसमें बैठे संपादक जी किसी कलाकार की जीवनी लिखने में व्यस्त थे। संभव है महाकवि सत्यनारायण जी पर ही कुछ लिख रहे हों।

मुझे हमारे आचार्य जी ने एक पवित्र काम सौंपा कि मैं उनके घर से एक-एक घण्टे के बाद चाय लेकर संपादक जी की सेवा में उपस्थित हो जाया करूँ।

मेरे बाल हृदय में एक विचित्र सी उत्सुकता थी। मैं जैसे ही कलई की थाली में, कुन्द की कलियों के रंग की कटोरी में, कलाधर की कला से निर्मित से धवल तौलिए से ढकी चाय लेकर, 'बद्री भवन' के द्वार पर पहुँचा, तो मेरे पैर रुक गये। अन्दर से फफक-फफक कर रोने की आवाज़ आ रही थी। धीरे-धीरे यह मौन रुदन क्रन्दन में बदल गया और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि सम्पादक जी के परिवार का कोई व्यक्ति परलोक की ओर प्रस्थान कर गया है। इसीलिये हिमाचल से धीर व्यक्तित्व में यह अधीरता है।

मैं भागा एवं अपने आचार्य जी के सामने सारी घटना को—

"रही सही सबै कहि दीनी हिचकीन सौं।"

का अनुकरण करते हुए प्रस्तुत कर दिया। वे मेरी बाल-विह्वलता पर हँसे और बोले—"नालायक ? तुझे इसीलिये तो भेजा था कि ऐसी ही दशा में उनके सामने चाय रख देना।"

मैं दुबारा आचार्य जी के घर से चाय लेकर फिर

सम्पादक जी के पास पहुँचा। इस बार मेरा हौसला बुलन्द था। परन्तु इस बार 'बद्री भवन' से आती एक मीठी आवाज़ मेरे कानों में पड़ी। इस बार अश्रुमाला के स्थान पर संगीत की सुरसरि बह रही थी। इस बार भी मेरे चरण ठिठके। स्वर की तन्मयता ने मेरी तल्लीनता को आमन्त्रण दिया। मधुर बोल थे—

यास है आँखों के आगे हर नज़र है वर्के दिल,
ऐसी सूरत में इलाजे बेक़रारी क्या करूँ ?
बज्मे इशरत में बिठाना था जिसे वह उठ गया,
अब मैं ऐ: फ़रदा तेरी उम्मीदवारी क्या करूँ ?

ये पंक्तिय इस तरह गुनगुनाई गई कि ज्यों की त्यों स्मृति पटल पर अंकित हो गई। उर्दू के मामले में मेरी अब भी वैसी ही नगद नारायणी अवस्था है। पता नहीं ये पंक्तियाँ ठीक भी हैं या नहीं ? संगीत की मस्ती ने मेरे चरणों में कसक पैदा की—और मैंने बद्री भवन में प्रवेश कर सम्पादक जी को प्रणाम किया तथा चाय उनके सामने प्रस्तुत कर दी।

यही कार्यक्रम संध्या तक चलता रहा। मैं छै बार चाय लेकर 'बद्री भवन' में पहुँचा और इसके बाद उधर तो उपवन तरुओं के झरोखों से झांकता सूरज अस्ताचल की ओर अग्रसर हुआ और इधर सम्पादक जी की चलती कलम ने कागज के कलेवर को गगन का अनुकरण करती नीलिमामयी पंक्तियों से अन्तिम रूप में सँवारा। सम्पादक जी के अधरों पर अब नन्हीं मुस्कान खेल रही थी। मुझे ऐसा लगा कि जैसे कोई गा रहा हो :—

आओ मैं तुमको आशा दूं,
आओ मैं तुम्हें दिलासा दूं।
मेरे दृग् में दोनों रहते,
कुछ गीले कुछ सूखे जलकण।

महर्षि व्यास की अमर वाणी है—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"

इस संसार का सबसे बड़ा रहस्य यही है कि यहाँ मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं। इसलिए मनुष्य से कभी घृणा मत करो। आचार्य पद्मसिंह जी महर्षि की इस वाणी के अमर उपासक थे। उनकी दृष्टि में अथर्ववेद की यह श्रुति अञ्जन की भाँति रमी थी—

"देवस्य पश्यकाव्यं
न ममार न जीर्यति"

यह संसार विधाता का जीता जागता काव्य है। यह न मरता है एवं न जीर्ण होता है। इसीलिए उन्हें प्रत्येक कलाकार में उसी अनन्त का आभास होता था। उनके जीवन में तो यही भावना ओत प्रोत थी कि—

विश्वनियन्ता का देखा था मैंने तुममें भी आभास।
इसीलिए तो आया था मैं प्रियवर दौड़ तुम्हारे पास॥

उनकी अमर लेखनी ने "खलीफ़ा मामू रशीद" को अमर कर दिया।" दिव्य प्रेमी मन्सूर की राम कहानी ऐसी कही कि वह सदा के लिए साहित्यिकों के अनन्वय अलङ्कार का उदाहरण बन गई। "अमीर खुसरो" को ऐसी माधुरी में बाँधा कि वह ध्रुवतारे की तरह साहित्य के तारांकित अन्तराल को सजाता रहेगा। "सरमद शहीद" का चित्रण तो अपने में एक महाकाव्य है। "सरमद शहीद" का यह चित्रण महाकवि बाण की महाश्वेता की भाँति एवं कामायनी के लज्जा सर्ग की भाँति अनुपमेय है।

"महाकवि अकबर" के तो असली पारखी ही पद्मसिंह जी थे। "बुढ़िया और नौशे खाँ" तथा "मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद" आपकी अनोखी प्रतिभा के प्रतीक हैं।

रीतिकाल की महकती मञ्जरियों में आपकी दृष्टि बिहारी पर ही क्यों पड़ी ? यह प्रश्न किसी ने पद्मसिंह जी से पूछा था और इसका उत्तर उन्होंने दिया था—

"यों तो सब पर शबाब आता है,
पै किसी-किसी पै लाजबाव आता है।

पं० पद्मसिंह जी का प्रत्येक क्षण कीमती था। वे शक्तियों का दुरुपयोग कभी नहीं करते थे। एक बार एक लेखक महोदय से आपकी मुठभेड़ हो गई। विभिन्न

पत्र पत्रिकाओं में आपका यह प्रतिपादन और निराकरण चलता रहा। परन्तु अन्त में आपने सबके उत्तर में केवल एक श्लोक लिखा—

"गच्छ शूकर ? भद्रं ते, वद सिंहो मयाजितः।
पण्डिता एव जानन्ति, सिंहशूकरयोर्बलम ॥

इसका अर्थ है—"जा सूअर ? तेरा भला हो। दुनिया में कहता फिर कि मैंने शेर को जीत लिया है। परन्तु विज्ञ लोग जानते हैं कि सूअर क्या है और शेर क्या है ? ऐसे अनेकों परिमित उत्तर उनकी प्रतिभा के प्रतीक हैं। उनकी पैनी दृष्टि कभी-कभी तो तलवार की धार का भी अतिक्रमण करती थी। एक बार उनके पास कुछ साहित्य समालोचना के लिए आया। साहित्य में महाकवि सन्त तुलसीदास के रामचरित मानस का अनुवाद निम्न भाषा में था—

जो पूछा, हमने बयां किया;
वर्ना कहते जी भुनता है।
तुमने तो इतनी बात भी की,
नहि कौन हमारी सुनता है ॥

इस साहित्य की रमणीय आलोचना, समालोचना शिरोमणि पं० पद्मसिंह जी ने की, एवं लेखक महोदय को सूचना दे दी कि अमुक मासिक पत्र में आपकी कृतियों की आलोचना प्रकाशित हो रही है। नवीन साहित्य के महनीय कलाकार ने सहमे से दिल से अपने साहित्य की समालोचना की प्रतीक्षा की। "मासिक पत्रिका" आई और उसमें एक कार्टून बना हुआ था। जिसमें सन्त तुलसीदास सीधे लेटे हुये थे और नवीन साहित्य के लेखक उनकी छाती पर हारमोनियम बजा रहे थे।

ऐसी थी समालोचना-शिरोमणि की समालोचना।

परन्तु वह अमर ज्योति न जाने कहाँ अन्तर्हित हो चुकी है। साथ ही कैसे अभागे दिन आये कि उनके पुत्र साहित्य-मूर्धन्य पं० काशीनाथ जी भी असमय में काल कवलित हो गये और उनकी पौत्री सरला पर जो बीती वह सीता और दमयन्ती पर भी नहीं बीती होगी।

आज उनकी जन्मभूमि "नायक नगला" ग्राम में एक सूनापन छाया रहता है। उनके छोटे पुत्र श्री रामनाथ भी दूसरे भर्तृहरि ही हैं। क्या कहें—

"बे हुनर मसनदनशीं,
औ बाहुनर दर-दर ख़राब।
अक्ले इन्सां से जम्हूरी,
कारखाना दूर है।"

इसीलिए तो मन तड़पता है, साँसें सिसकियों का सितार बजातीं हैं। राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हुई हिन्दी भी अपने समालोचना शिरोमणि को भूलती जा रही है। भविष्य के गर्भ में शायद कोई आशा की स्वर्ण रेख हो। परन्तु हमारी हृदय दशा का चित्र तो संप्रति इन दो पंक्तियों में अंकित है—

"बहना कुछ अपनी चश्म का दस्तूर हो गया।
दी थी खुदा ने आंख सो नासूर हो गया ॥

—प्राचार्य, पोस्ट ग्रजुएट कालेज,
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

—◇—

'विशाल भारत' पद्म सिंह अंक से—

उन्हें (पं० पद्म सिंह शर्मा को) देख कर सहसा यह गुमान न हो सकता था कि यह साधारण सा व्यक्ति इतने ऊँचे दिल और दिमाग का स्वामी है। आजकल हम लोगों में दिखावे का जो रोग लग गया है, यह उन्हें छू भी न गया था।

—श्री प्रेम चन्द

पुण्यमय गुरु-संस्मरण

—आचार्य उदयवीर शास्त्री

काव्य की रचना कवि के क्रान्तदर्शी भाव को अभिव्यक्त करती है। भावपूर्ण अर्थ को प्रकट करने वाले उपयुक्त शब्दों का चयन और उनको आकर्षक रीति पर बैठाना, यह सब मानव'प्रतिभा के सूक्ष्मस्तर का प्रतिफल होता है। कवि के महत्त्व को इतना ऊँचा आँका गया है, कि अचिन्त्यशक्ति प्रभु के लिये भी इस पद का प्रयोग वेद व अन्य वैदिक साहित्य में किया गया है। परन्तु इससे भी अधिक उस प्रतिभा का महत्त्व है, जो कविता के अन्तस्तल तक पहुँच कर उसकी गहन-गम्भीर भावात्मा को खोजकर सामने लाती है, और न केवल बुद्धिजीवी विचारक व्यक्तियों को, अपितु कभी-कभी स्वयं कवि को भी आश्चर्य-चकित कर देती है।

यह वस्तुस्थिति है, कि यदि कविता को गहराई से समझने की प्रतिभा का अभाव है, तो कविता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। वह रचना एक-तरह से निष्फल हो जाती है। कविता में रस का उन्मेष तभी होता है, जब उसकी गहराई में पहुँचकर वहाँ से किसी नवीन भाव-रत्न का उद्भावन हो। इस विषय में किसी मनचले व्यक्ति का उद्गार है—

कवितारसमाधुर्यं सुधीर्जानाति नो कविः।
बालासुरतचातुर्यं पतिर्जानाति नो पिता॥

कवि कविता को बनाता है, उसे उत्पन्न करता है, वजूद में लाता है, वह उसका उत्पादक पिता के समान है। पर उसकी रस-माधुरी का उपभोग किसी षोडशी बाला के पति द्वारा उपभोग के समान कोई सुधी-प्रतिभाशाली व्यक्ति ही करता है। यह विशेषता मेरे साहित्य-गुरु श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा नायक नगला निवासी में प्रकट रूप से उभरकर आई थीं। किसी कविता या काव्य-सन्दर्भ से एकाएक वे अनोखे भावों को अभिव्यक्त करने की चमत्कारपूर्ण क्षमता रखते थे। वाण की कादम्बरी का अध्ययन करते समय यह प्रत्यक्ष अनुभव किया कि उनका अध्यापन नितान्त प्रवाहपूर्ण रहता था। किसी पद के अर्थ, अलंकार एवं सन्दर्भविन्यास की विशेषताओं को स्पष्ट प्रकट करने में, पढ़ाते समय कभी वे सोचने लगे हों, ऐसा स्मरण नहीं आता।

वे बड़े शाही तबियत के व्यक्ति थे। अपने विचार एवं स्थिति में मस्त, किसी तरह की चिन्ता का वहाँ कोई स्थान नहीं था। उनके जीवन की एक घटना का उल्लेख करता हूँ, जिससे उनकी उक्त प्रवृत्ति एवं भावनाओं पर उपयुक्त प्रकाश पड़ता है।

यह उस समय की बात है, जब 'बिहारी सतसई' का 'संजीवन भाष्य' लिखा जाकर अपने प्रकाशन की प्रतीक्षा में था। अपेक्षित धन के अभाव के कारण उसमें विलम्ब होता जा रहा था। इससे पूर्व प्रयाग की 'सरस्वती' में 'सतसई संहार' लेखमाला के प्रकाशित होने से हिन्दी साहित्य संसार में साहित्य-मर्मज्ञ के नाते पण्डित जी का नाम रोशन हो चुका था। सतसई-संजीवन भाष्य के प्रकाशन में विलम्ब के कारणों की बात कानों-कान जब कलकत्ता के साहित्य प्रेमी एवं पण्डित जी के भक्तजनों तथा मित्रमण्डल तक पहुँची तो वे लोग पण्डित जी को एक बार कलकत्ता आने के लिये बार-बार लिखने लगे। उनका लिखना आग्रह की स्थिति तक पहुँच गया; पर पण्डित जी ने उस दशा में भी उस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे इसको कदाचित् आत्म-सम्मान में शिथिलता व हीन भावना के स्तर पर अनुभव करते थे। इसके

उनकी अन्दरूनी मस्ती का आलम जाहिर होता है। वे लोक-वित्त एषणाओं से निर्मुक्त मानो अपने आप में निर्द्वन्द्व पूर्ण पुरुष थे।

उन दिनों पण्डित जी गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर में अध्यापन कराते हुए उस संस्था के मुख्य संचालकों में एक थे। पर कार्यवश कुछ समय के लिये अपने गाँव नायक नगला (जिला बिजनौर) में आये हुए थे। उन्हें कलकत्ता बुलाये जाने का समाचार जब गुरुकुल ज्वालापुर के अन्य संचालकों को ज्ञात हुआ, तब उन्होंने भी पण्डित जी को वहाँ जाने के लिये प्रेरित किया। जब पण्डित जी ने इसकी भी उपेक्षा कर दी, तब महाविद्यालय के संचालकों ने विशेष रूप से एक व्यक्ति को नायक नगला इस निमित्त भेजा कि वह समस्त संचालकों की ओर से पण्डित जी से कलकत्ता जाने के लिये प्रार्थना करें। उसका भी कोई प्रभाव पण्डित जी पर न हुआ और वह तीन-चार दिन गाँव में रहकर निराशा के साथ महाविद्यालय वापस आ गया।

संस्था के संचालक साथियों की उस समय कुछ ऐसी भावना थी, कि यदि इस बहाने पण्डित जी का इस समय कलकत्ता जाना हो सके तो कलकत्ता के धनी मानी जन-समुदाय में संस्था का उपयुक्त एवं वाञ्छनीय परिचय हो सकेगा। इससे कालान्तर में संस्था लाभान्वित हो सकती है। तब इस मुहिम को पार करने के लिये इन पंक्तियों के लेखक को चुना गया कि यह पण्डित जी के पास जाकर उन्हें कलकत्ता जाने के लिये तैयार करे।

इस आदेश के अनुसार वह अगले दिन मुरादाबाद पहुंचा। वहां मौहल्ला किसरौल में पण्डित जी के स्नेही मित्र पं० ज्वालादत्त शर्मा रहते थे, जो 'प्रतिभा' नामक एक अकादमिक मासिक पत्रिका निकालते थे। वे भी पण्डित जी के कलकत्ता जाने में उत्सुकता रखते थे। जब मैं उनके पास पहुँचा, और मेरे आने का कारण उन्हें मालूम हुआ तो हंसकर कहने लगे पण्डित जी के एक शिष्य तो उनके पास होकर वापस चले गये हैं, अब आपकी परीक्षा है, देखें, कहाँ तक सफलता मिलती है।

रात को मुरादाबाद ठहरकर अगले दिन नायक नगला पहुंच गया। प्रणाम कर के अपने आने का उद्देश्य पण्डित जी को बता दिया। सुनकर न उन्होंने जाने की उत्सुकता प्रकट की और न जाने के विषय में कुछ कहा। साधारण रूप से केवल इतना कहा—"हाँ! चलेंगे, अभी तो आये हो, जल्दी क्या है?" इसके बाद इस विषय में उनसे कुछ नहीं कहा। दो-तीन दिन में—कभी कहीं, कभी कहीं—गाँव के विशिष्ट व्यक्तियों से परिचय कराया। एक दिन जंगल में जाकर उनके खेत भी देख आया। कृषि में पारिवारिक परम्परा से रुचि रखता हूं। तीन-दिन अनुकूलता के साथ बीत गये। स्वभाव के अनुसार आगे कार्य का अभाव परेशान न करे, यह सोचकर संकल्प किया कि न तो पण्डित जी से चलने के लिये कहूँगा और न नायक नगला से टलने का नाम लूंगा। वहाँ रहते अनुकूल कार्य के विषय में भी सोच लिया।

गाँव में पण्डित जी के पास अपना समृद्ध पुस्तकालय था।* कुछ समय पहले मद्रास से त० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर भास के कतिपय नाटक प्रकाशित हुए थे। मेरे निवेदन पर पण्डित जी ने अपने पुस्तकालय से भास के नाटक लाकर मुझे दे दिये। मेरा अध्ययन प्रारम्भ हो गया। जहाँ कठिनता होती, पण्डित जी से पूछता रहता। एक महीने में सब नाटकों का पारायण पूरा हो गया। तब एक दिन पण्डित जी ने स्वयं कहा—अब और कुछ पढ़ना है, या कलकत्ता चलना है? उत्तर था—जैसी आपकी आज्ञा! फलस्वरूप तीन-चार दिन तक चलनें की चर्चा चलती रही, अन्त को एक दिन इसी भावना को लेकर मुरादाबाद पहुंचे और पं० ज्वालादत्त शर्मा जी के पास ठहरे। मुझे अच्छी तरह स्मरण है, तब शर्मा जी ने मुझे शाबाशी देते हुए कहा था—तुम गुरु के

* श्री पण्डित जी के दिवंगत हो जाने पर तथा कालान्तर में जल्दी ही उनके युवा ज्येष्ठ पुत्र विद्वद्वरेण्य प्रिय काशीनाथ शास्त्री के भी स्वर्गत होने पर पण्डित जी के कनिष्ठ पुत्र रामनाथ जी की इच्छानुसार कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों की प्रेरणा से वह पुस्तकालय अब आगरा विश्वविद्यालय क० मु० हिन्दी विद्यापीठ ने क्रय कर लिया है।

असली शिष्य हो, आखिर इन्हें कलकत्ता जाने को तैयार कर लिया।

कलकत्ता पहुँचकर आर्य समाज मन्दिर, कॉर्नवालिस स्ट्रीट [अब विधान सरणि] में ठहरे थे। वहाँ का अभीष्ट कार्य सम्पन्न कर लगभग तीन सप्ताह ठहरने के बाद वापसी में बनारस (वाराणसी) रुके। वहाँ दो-तीन दिन ठहरने के बाद पण्डित जी का संकल्प इलाहाबाद चलने का हुआ। उर्दू के प्रसिद्ध शायर श्री अकबर इलाहाबादी से पण्डित जी का बहुत गहरा परिचय था, पर अभी तक वह केवल पत्र-व्यवहार में सीमित था। तब तक दोनों का परस्पर साक्षात्कार कभी नहीं हुआ था। पण्डित जी अकबर साहब की शायरी के बहुत दिल दादा थे। अनेक बार उनके मुख से अकबर साहब की कविता के विषय में प्रशंसापूर्ण वाक्य सुने थे। उनकी कविता को सुनाते हुए भावाभिव्यक्ति में कवि की अनोखी सूझ को समझकर बहुत बार पण्डित जी को भावावेश में झूमते हुए देखा था। उनकी प्रबल इच्छा हुई, कि इस अवसर को खोना न चाहिए। इलाहाबाद चलकर उनका नियाज़ हासिल किया जाय।

उधर अपने पहुँचने की सूचना पण्डित जी ने बनारस से ही दे दी थी। दोनों के पत्र-व्यवहार में पहले भी ऐसी चर्चा चलती रहती थी। यथासमय इलाहाबाद पहुँचकर आर्य समाज मन्दिर में ठहरे। अगले दिन अकबर साहब से मिलने उनके घर पर गये। पण्डित जी के साथ यह लेखक और उनके ज्येष्ठ पुत्र काशीनाथ थे। ड्योढ़ी पर तैनात व्यक्ति ने जब पण्डित जी के पहुँचने की सूचना अन्दर भेजी, तो तत्काल अकबर साहब जिस हालत में बैठे थे, वैसे ही पण्डित जी के स्वागत के लिये लपकते हुए से बाहर चले आये। साधारण पाजामा, मलमल का कुर्त्ता पहने थे, सिर नंगा था, पैरों में चप्पल भी ढंग की न थी। यह सब शायद इसीलिये था कि पण्डित जी के स्वागत में एक लमहा भी गंवाना उन्हें गवारा न था। बड़ी आत्मीयता के साथ स्वागत के शब्द कहते हुए—मुझे अच्छी तरह याद है और उनकी भावमुद्रा अब भी मेरी आँखों के सामने है, वे बोले—अगर आप इजाज़त दें तो यह बन्दा कौली भरकर आपसे मिलना चाहता है। तत्काल पण्डित जी ने अपनी दोनों बाहें पसार दी थीं। बग़लगीर होकर दोनों का वह मिलन स्नेहपूर्ण गहरी भावनाओं का प्रतीक था। जब उस क्षण का स्मरण होता है, तो वह दृश्य आज भी सामने आ जाता है।

अकबर साहब देह के हल्के थे, कद भी साधारण था। कुछ उमर का तकाज़ा भी बदन पर साफ ज़ाहिर होता था। पूछने पर पण्डित जी ने काशीनाथ जी व मेरा परिचय दिया। हम हाथ जोड़कर उनके सामने झुके। उन्होंने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। बहुत आत्मीयता और आदर के साथ पण्डित जी को अन्दर अपनी मुख्य बैठक में ले गये; संकेत पाकर हम भी साथ जाकर यथास्थान बैठ गये। लगभग दो घन्टे तक उनका काव्य सम्बन्धी वार्त्तालाप होता रहा। अकबर साहब की अनेक कविताओं को सुनाते हुए पण्डित जी ने उनमें गहरी व्यञ्जनाओं को जब उभारकर प्रस्तुत किया, तो एकाधिक बार अकबर साहब को यह कहते सुना—यह ख्याल तो लिखते समय मेरे दिमाग में भी नहीं आया था। वे दोनों गहराई के साथ काव्य के रसास्वादन का आनन्द ले रहे थे; पर हम दोनों [यह लेखक और काशीनाथ] फल और मिठाईयों का रसास्वादन अधिक तत्परता से करने में लगे रहे थे।

काव्य की गहराई में उतरकर उसकी अन्तर्हित व्यञ्जनाओं को समझ लेने में पण्डित जी की अद्‌भुत प्रतिभा थी। काव्य के अन्तस्तल तक पहुँचने में कभी उन्हें देर न लगती थी। काव्य के रस-अलंकार मानों हाथ जोड़े उनके सामने आ खड़े होते थे। उस दिन इलाहाबाद की चर्चा में कदाचित् इसी कारण अकबर साहब को कुछ ऐसा कहते सुना था—पण्डित जी! आपने इन रचनाओं को जैसा समझा है, उससे मुझे इसकी कामयाबी का अहसास होता है।

—सन्यास आश्रम, गाजियाबाद।

साहित्यिक झंझावात और पं० पद्मसिंह जी शर्मा

—पं० नरेन्द्र नाथ चतुर्वेदी, एम. ए.

पुरानी बात है। लगभग चार दशाब्दियाँ बीत गयीं। अपने नाना पूज्यपाद महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा जी के साथ गर्मी की छुट्टियों में बहुधा हरिद्वार की सैर को जाया करता था। नाना जी हरिद्वार के ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम में ठहरा करते थे। उस संस्था के प्रति उनमें अपार ममता थी। और क्यों न होती ? अपनी निस्वार्थ सेवा के दूध से उन्होंने उसे पाला-पोसा ही नहीं, वरन् उद्दाम यौवनावस्था तक पहुँचाया था। गुरुवर गिरिधर जी के ऋषिकुल पहुँचने का समाचार पाते ही उनकी शिष्य-मण्डली सेवा में उपस्थित हो जाती थी। सर्वश्री लीलाधर शास्त्री, चन्द्रभानु शास्त्री तथा राधेश जी आदि तो वहाँ या आस-पास रहते ही थे। म० म० परमेश्वरानन्द जी भी लाहौर से तुरन्त आकर शिष्य मण्डली में सम्मिलित हो जाया करते थे। उस समय की अगाध गुरुभक्ति की वर्त्तमान युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज के गुरु जी को तो शिष्यों से अपनी चमड़ी बचाने के लिये न जाने कितने स्तोत्रों के पाठ और रक्षा-कवच धारण करने पड़ते हैं। मुझे भली भाँति स्मरण है पं० किशोरीदास बाजपेयी भी नाना जी के पास बहुत आया करते थे। हाँ, यह अवश्य याद नहीं आता कि वे उस शिष्य मण्डली के सक्रिय सदस्य थे या नहीं। किशोरी दास जी अपनी हाल की लिखी पुस्तक से नाना जी को दोहे सुनाया करते थे और वे उन दोहों की सुन्दरता पर दाद भी खूब देते थे। उस पुस्तक का नाम 'तरंगिणी' था। ब्रज भाषा-काव्य से नाना जी को बड़ा प्रेम था। ब्रजभाषा के सैकड़ों छंद उन्हें कण्ठस्थ थे। बाजपेयी जी की तरंगिणी ब्रजभाषा की रचना थी।

हरिद्वार के नौ वर्षीय निवास काल में नाना जी से पं० पद्मसिंह जी की गहरी मित्रता हो गई थी। पद्मसिंह जी ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापन करते थे और नाना जी हरिद्वार के ऋषिकुल में। सोने में सुगन्ध, शालिग्राम जी शास्त्री भी नाना जी के साथ ही ऋषिकुल में काम करने के लिये आ गये थे। तीनों ही साहित्य महारथी साथ-साथ मीलों पैदल घूमने जाया करते थे। रास्ते में बिहारी-सतसई की ख़ासी चर्चा रहती। पं० पद्मसिंह की आलोचना बहुत हृदय-ग्राहिणी होती थी। नाना जी उसे सुनते न अघाते थे। आगे चलकर यही आलोचना 'सरस्वती' में बहुत दिनों तक छपी और साहित्यिक झंझावात के रूप में परिणत हो गई।

इस बवंडर का मुख्य कारण थी स्व० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत बिहारी सतसई की टीका। ज्वाला प्रसाद जी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के बहुत अनुवाद भी किये थे। किन्तु बिहारी सतसई की टीका उन्होंने स्वतः प्रेरित होकर नहीं, अपितु बम्बई के धनी प्रकाशक खेमराज श्रीकृष्णदास के अनुरोध पर अच्छा द्रव्य प्राप्त करने की इच्छा से की। कहना न होगा कि धनोपार्जन के उद्देश्य से किये गये ऐसे कार्यों में ग्रन्थ के अन्तस्तल तक पहुँच कर उसका मर्म उद्घाटित करने पर ध्यान नहीं दिया जाता। बिहारी-सतसई के साथ यही हुआ। अब क्या था ? पं० पद्मसिंह जी मैदान में उतर आये। मिश्र जी की चुनौती का उन्होंने डट कर सामना किया। यहाँ तक कि आलोचना-जगत में अप्रत्याशित तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। तुलनात्मक आलोचना का वह युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास की अभूतपूर्व घटना कही जावेगी। मिश्र जी की व्याख्या की विस्तृत आलोचना ने, जो पं० पद्मसिंह जी ने अपनी अकाट्य तर्क शैली

और फड़कती भाषा में लिखी—काव्य-मर्मज्ञों की आँखे खोल दीं। बिहारी की प्रतिभा के सम्यक् उद्‌घाटन से लोगों का दृष्टिकोण बिलकुल बदल गया। कवि के सही मूल्यांकन की ओर रसिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। पद्म सिंह जी आलोचना लिखकर ही शान्त नहीं हुए। उन्होंने बिहारी सतसई पर एक 'संजीवन भाष्य' भी लिखा जिस की भूमिका के रूप में वह विस्तृत आलोचना भी पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई।

अपनी टीका की इस बुरी तरह ख़बर ली गई सुनकर और पढ़कर ज्वालाप्रसाद जी आपे से बाहर हो गये। उन्हें वहम होगया या शायद उनसे किसी ने कह दिया कि इस अभिसन्धि में गिरिधर शर्मा जी का हाथ है। यह कुटिल टीका पद्मसिंह जी के नाम से उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशित कराई है। बेचारे नाना जी मिश्र जी के यहाँ तलब किये गये क्योंकि मिश्र जी वयोवृद्ध थे। सफाई में नाना जी ने निवेदन किया कि वह उनकी कल्पना मात्र है, वैसी रोचक और वेगवती भाषा वे लिख ही नहीं सकते। मिश्र जी को इतने पर भी सन्तोष न हुआ और वे नाना जी से कहने लगे—'हम तो यह तब समझें जब तुम उसकी प्रत्यालोचना लिखो, हम अपनी 'सनातन धर्म पताका' में उसे छापेंगे। विवश होकर नाना जी को कहना पड़ा कि उस आलोचना के उत्तर में लिखने को वास्तव में कुछ है नहीं। परन्तु फिर भी 'सतसई संजीवन भाष्य' की, ऋषिकुल के पत्र 'ब्रह्मचारी' में, गिरिधर शर्मा जी द्वारा आलोचना लिखी गई और इतस्ततः कुछ त्रुटियों का उद्‌घाटन भी किया गया, जिससे मिश्र जी को विश्वास हो जाय कि 'सतसई संहार उनका लिखा हुआ नहीं है। मिश्र जी की अवस्था का तो आखिर आदर करना ही था। पद्मसिंह जी ने इस आलोचना को उचित कहा, और उसका बुरा न माना। अन्त में नाना जी ने पद्मसिंह जी की पुस्तक की प्रशंसा इन शब्दों में की थी :—

"इतना हम निष्कपट फिर कह देते हैं कि पुस्तक के असाधारण गुणों के सामने ये तुच्छ त्रुटियाँ बिलकुल नगण्य हैं। हिन्दी साहित्य प्रेमी के नाते हम पं० पद्मसिंह शर्मा जी के इस महान् उपकार के हृदय से कृतज्ञ हैं, और उन की इस महती कृति को सर्वथा निर्दोष देखने की शुभ आशा से जो कुछ सूचना हमें देनी पड़ी है इसके लिये हम उनके आगे क्षमा प्रार्थी हैं।"

यह निवेदन करना अप्रासंगिक न होगा कि यदि समालोचन-प्रवर पद्मसिंह शर्मा अपनी तीखी दृष्टि और पैनी लेखनी लेकर बिहारी की प्रतिभा का रहस्य उद्‌घाटित करने न आते, और अनधिकारी आलोचकों का मुँह बन्द न करते, तो काव्य-गगन के इस उज्ज्वल नक्षत्र की चमत्कारी आभा कभी विकीर्ण न हो पाती। आलोचना के तत्कालीन स्तरीय ग्रन्थ 'मिश्र बन्धु विनोद', 'नवरत्न' तथा 'देव और बिहारी', बिहारी की गरिमा को फूटी आँख भी न देख सके और उन्हें साधारण कोटि का कवि सिद्ध करने के गर्हित प्रयत्न में मग्न रहे। मिश्र बन्धुओं ने तो फतवा ही दे दिया था कि तुलसी और सूर के बाद तीसरा स्थान महाकवि देव का है। बिहारी का तो कहीं पता ही नहीं था। श्रीकृष्णबिहारी मिश्र ने अपने 'देव और बिहारी' आलोचनात्मक ग्रन्थ में देव कवि से बिहारी को गिरा हुआ माना। इस प्रयत्न में वे इधर–उधर के लचर उदाहरण भी खींच कर लाये। किन्तु पद्मसिंह जी की नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि ने सभी पक्षपातारूढ़ आलोचकों को धूल चटा दी, कहीं का न रखा। हो सकता है, शर्मा जी कहीं-कहीं बिहारी का पक्षपात कर गये हों, किन्तु ऐसा नहीं जैसा इन समालोचकों ने किया।

पद्मसिंह जी जैसा व्यापक और विशद पाण्डित्य तथा अनुभव रखने वाला व्यक्ति ही क्रान्तदर्शी बिहारी के रत्नों की परख कर सकता था। हिन्दी संस्कृत उर्दू और फारसी का कालाक्षरी ज्ञान रखने वाला पद्मसिंह जैसा सहृदय ही बिहारी की गागर में सागर भरने वाली सूक्तियों का उचित मूल्यांकन करने में सक्षम सिद्ध हो सका। कोई इधर-उधर का ले भगा नहीं, वस्तुतः तुलनात्मक आलोचना के दुर्गम पथ पर वही सरलता से चल सकता है, जिसका हृदय पूर्वाग्रहों और मनोग्रन्थियों से सर्वथा मुक्त हो।

हिन्दी का आलोचना-साहित्य पं० पद्मसिंह शर्मा का सदा कृतज्ञ रहेगा जिसे उन्होंने एक नया दृष्टिकोण, एक नयी दिशा और एक सर्वथा नयी विधा प्रदान की। हम सभी साहित्यानुरागी तुलनात्मक आलोचना के इस महान सूत्रधार को अपनी मधुर स्मृति का स्थायी अंग बनाये रखने का प्रयत्न करते रहें, यही प्रार्थना है।

—मिश्राना मौहल्ला, मैनपुरी।

साहित्याचार्य स्व० पं० पद्मसिंह जी शर्मा —संस्मरण और श्रद्धाञ्जलि

—श्री युगल किशोर चतुर्वेदी

यद्यपि मुझे स्वनाम धन्य साहित्याचार्य स्व० पं० पद्मसिंह जी शर्मा के साक्षात सम्पर्क में आने का कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु आपके शुभ नाम और आपके द्वारा की गयी सराहनीय साहित्य सेवा से मैं अब से लगभग ५० वर्ष पूर्व ही समाचार पत्रों के माध्यम से उस समय अवगत और प्रभावित हो चुका था, जब मैं कालेज का एक छात्र था।

उन दिनों सर्व प्रथम मैंने यह समाचार पढ़ा था कि आप ब्रजकोकिल पं० सत्य नारायण जी कवि के सन्निकट सहयोगी और उनकी काव्य रचना के अत्यन्त प्रशंसक रहे थे। इतना ही नहीं, आपने ही उनका विवाह किसी एक आधुनिक शिक्षिता कन्या से कराया था, परन्तु उक्त नव दम्पत्ति के गुण-कर्म स्वभाव में ठीक मेल न बैठने के कारण उनका जीवन सुखद और शान्ति पूर्ण नहीं रह सका। तदुपरान्त जब पं० सत्यनारायण का आकस्मिक एवं असामयिक निधन हो गया तो आपने ही अपने कुछ साथी सहयोगियों के साथ उनके गाँव धोधूपुरा (जिला आगरा) पहुँचकर दिवंगत आत्मा को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर दी।

कालान्तर में आपने ही स्व० डा० हरिशंकर शर्मा तथा पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी के सहयोग से उनके प्रकाशित तथा अप्रकाशित साहित्य का संगठन, संकलन तथा सम्पादन कराके उसके प्रकाशन की भी व्यवस्था की थी। साथ ही आपने उनकी एक संक्षिप्त जीवनी भी तैयार कराने का आयोजन किया था। और यह कार्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा सम्पन्न हुआ।

लगभग उन्हीं दिनों पंजाब विश्व विद्यालय की हिन्दी "प्रभाकर" नामक परीक्षा की तैयारी के सिलसिले में मैंने आपकी बिहारी सतसई पर लिखी टीका "सतसई संहार" नामक ग्रन्थ को पढ़ा था, जिससे मुझे आपकी विद्वत्ता, तुलनात्मक आलोचना सम्बन्धी ज्ञान तथा आपके संस्कृत, हिन्दी, उर्दू साहित्य के गहन अध्ययन का भी आभास मिला था। उन दिनों आप सम्भवतः ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहे थे। उस समय मुझे प्रतीत हुआ कि आप केवल स्वयं ही साहित्यकार नहीं थे, अपितु आप अन्य साहित्य-सेवियों का सम्मान करने और उनको प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देने में भी बड़े सिद्धहस्त थे।

आपका यह साहित्यिक सम्बन्ध केवल हिन्दी, सँस्कृत तथा ब्रजभाषा के कवि-कोविदों तक ही सीमित नहीं था। उर्दू के तत्कालीन महाकवि 'अकबर' के भी आप अत्यन्त प्रेमी और प्रशंसक थे तथा उनके साथ समय-समय पर सम्पर्क साधकर साहित्य चर्चा किया करते थे। आपके अन्य साहित्यिक सहयोगियों में स्व० पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा (हरदुआ गंज) उनके सुयोग्य सुपुत्र स्व० डा० हरिशंकर शर्मा (आगरा), स्व० पं० नवनीत जी चौबे (मथुरा) तथा पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी (फिरोजाबाद) प्रमुख थे। मुझे जहाँ तक स्मरण है पं० नवनीत जी चौबे ने आपके निधन पर किसी समाचार पत्र में बड़ा ही मार्मिक और आत्मीयता पूर्ण लेख लिखा था।

पं० पद्मसिंह जी शर्मा के सम्बन्ध में विशेष जानकारी मुझे अहीर हाई स्कूल, रिवाड़ी के मेरे एक सहयोगी

अध्यापक हल्दुआ गंज निवासी श्री रामस्वरूप शास्त्री से मिलती रहती थे, जो पं० नाथूराम जी 'शंकर' तथा पं० हरिशंकर शर्मा के सम्पर्क में रहते थे।

उन दिनों आपके अपने विभिन्न साथी सहयोगियों को लिखे गए पत्र भी समाचार पत्रों में प्रकाशित होते रहते थे, जिनमें आप स्थान-स्थान पर संस्कृत, हिन्दी तथा उर्दू काव्य के उदाहरण देकर अपने अपार साहित्य-ज्ञान का परिचय प्रदान किया करते थे। साथ ही उनमें हास-परिहास का, व्यंग विनोद का पुट भी पर्याप्त मात्रा में रहता था। बहुत दिनों तक किसी एक पत्र का उत्तर न दे सकने पर खेद प्रकट करते हुए आपने अपने पत्र में लिखा था :—

अफ़सोस है कि ज़िन्दा हूँ, लिखना पड़ेगा हाल।
क्या मुख्तसिर जबाव था, लिखता कि मर गया॥

यह और ऐसे न मालूम कितने शेर आप वार्तालाप तथा पत्रों के दौरान सुनाकर व लिखकर अपने साथी सहयोगियों का मनोरंजन के साथ साथ ज्ञान-वर्द्धन भी किया करते थे।

ऐसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी, साहित्य-महारथी श्री स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा को मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

पं० पद्मसिंह शर्मा : एक सरापादिल इंसान

कोई रीडरबाजी में मुबतिला है, तो कोई व्यापारिकता की कीचड़ में गले तक फँसा हुआ है, कोई शिक्षा विभाग के अधिकारियों की खुशामद कर रहा है, तो कोई धनवानों को अपनी पुस्तक समर्पित कर रहा है, कोई ऊपर से सरस्वती का सेवक बनने का दम भर रहा है और भीतर से लक्ष्मी की पूजा करता है, तो कोई चाँदी के टुकड़ों के लिये अपने को बेच रहा है। स्वार्थ के रेगिस्तान में स्वर्गीय शर्मा जी की स्मृति एक नखलिस्तान—हरी-भरी भूमि की तरह है। शहर की गन्दी गलियों के निवासियों को किसी सुन्दर प्राकृतिक पहाड़ी दृश्य को देखकर जो प्रसन्नता होती है वही हार्दिक उल्लास स्वर्गीय शर्मा जी की मधुर स्मृतियों से प्राप्त होता है। स्वर्गीय शर्मा जी बड़े विद्वान थे, उनकी मानसिक शक्ति अद्भुत थी, पर उन्होंने एक ऐसा हृदय पाया था जो संवेदनशीलता में और कोमलता में अपना सानी नहीं रखता था। वे दरअसल "सरापादिल" थे, सिर से पैर तक हृदय ही हृदय थे।

—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

सैनिक पद्मसिंह अङ्क, ५ जुलाई १९३८

बिखरे हुए विचार

—स्व० श्री पं० हरिशंकर शर्मा

अब से प्रायः तीस वर्ष पूर्व की बात है। सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' में पिता जी (श्री पं० नाथूराम शंकर शर्मा) की एक कविता प्रकाशित हुई। सम्भवतः 'सरस्वती' में पिता जी की यह पहली कविता थी। श्री पं० पद्म सिंह जी शर्मा को यह बहुत पसन्द आई। उन्होंने तुरन्त आचार्य श्री पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी को एक लम्बी चिट्ठी लिखकर उस कविता की भरपेट बड़ाई की और दरियाफ्त किया कि 'शंकर' कवि कौन है ?

उस समय श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा हिन्दी साहित्य सेवियों से विशेष परिचित न थे। हिन्दी जगत् भी उन्हें बहुत कम जानता था। द्विवेदी जी ने पं० पद्म सिंह जी शर्मा की उक्त चिट्ठी श्री पिता जी के पास भेज दी और शर्मा जी को लिख दिया—शंकर जी, जो आपके आर्य समाज के ही हैं, आश्चर्य है, आप उन्हें नहीं जानते हैं।

इधर श्री द्विवेदी जी महाराज द्वारा भेजी शर्मा जी की विस्तृत चिट्ठी श्री पिता जी के पास पहुँची। उसे उन्होंने बार-बार पढ़ा, दूसरों से पढ़वाया परन्तु फिर भी तृप्ति नहीं हुई। पूज्य पिता जी कहने लगे—भाई, पं० पद्मसिंह शर्मा तो बड़े काव्य-मर्मज्ञ मलूम देते हैं। उन्होंने जो दाद दी है कविता के वास्तविक मर्म को समझ कर दी है। कविता समझने में इतनी गहराई तक पहुँचना असाधारण योग्यता के विद्वान् का काम है।

श्री द्विवेदी जी महाराज का पत्र पहुँचने पर पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने सीधा श्री पिता जी को पत्र लिखा। इससे पहले ही श्री पिता जी श्री शर्मा जी को चिट्ठी भेज कर उनकी सहृदयता और काव्य मर्मज्ञता की मुक्त कंठ से प्रशंसा कर चुके थे। फिर तो पत्र-व्यवहार की झड़ी लग गयी। प्रायः नित्य एक पत्र आने जाने लगा। श्री पद्मसिंह जी की चिट्ठी बड़ी ही मज़ेदार होती थी। उन्हें पढ़ने-सुनने के लिये हरदुआगंज के कितने ही कविता-प्रेमी सज्जन समुत्सुक रहते थे।

पूज्य पिता जी और पूज्य पं० पद्म सिंह जी का यह पत्र-व्यवहार दिनों-दिन घनिष्ठता में परिणत होता गया। साहित्यिक प्रसंगों के अतिरिक्त घरेलू बातें भी चिट्ठी-पत्रियों में आने लगीं और एक-दूसरे को देखने के लिए अधीर हो उठे।

श्री पद्मसिंह जी शर्मा उस समय ज्लालापुर महाविद्यालय की प्रबन्ध समिति के मन्त्री थे। वहाँ संस्कृत साहित्य पढ़ाने का कार्य भी करते थे और महाविद्यालय के स्तम्भों में से थे। कुछ दिन बाद अजमेर से प्रकाशित होने वाले 'परोपकारी' नामक मासिक पत्र के सम्पादक भी रहे, फिर आपने महाविद्यालय (ज्वालापुर) से 'भारतोदय' निकाला।

पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा सम्पादित 'परोपकारी' और 'भारतोदय' का कदाचित ही ऐसा कोई अङ्क होगा जिसमें पूज्य पिता जी की कविता न छपी हो। श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा पिता जी की कविता के लिये पत्रों को एक-एक और डेढ़-डेढ़ सप्ताह लेट कर देते थे।

परन्तु उनकी कविताएँ अवश्य प्राप्त कर लेते थे। जिन दिनों यह अङ्क निकलते थे, उनमें श्री पं० पद्मसिंह जी की आलोचनापूर्ण ओजस्विनी लेखनी और श्री पिता जी की चुटीली कविताओं द्वारा समाज में तहलका मच जाता था। विरोधी लोग भी इन लेखों को छिप-छिपकर पढ़ते और आनन्द लेते थे।

इस गहरे परिचय के दो-ढाई वर्ष बाद मेरी स्वर्गीय बहन महाविद्या देवी का पाणि-ग्रहण संस्कार हुआ। कितने ही प्रसिद्ध आर्य विद्वान् तथा साहित्यिक विवाह में सम्मिलित हुए। इस अवसर पर श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा श्री पिता जी के निमन्त्रण पर हरदुआगंज पधारे। सबसे पूर्व उसी समय हम सब लोगों ने शर्मा जी के दर्शन कर अपने नेत्र सफल किए।

विवाह में बड़ा आनन्द रहा, एक ओर तो साढ़े चार सौ से अधिक मनुष्यों की बारात चार दिनों तक ठहरी रही और दूसरी ओर श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा और श्री पिता जी के मध्य रात दिन साहित्य-चर्चा होती रही। इस साहित्य-चर्चा में अन्य विद्वानों ने भी खूब भाग लिया। पिता जी को यह भी पता न रहता था कि किस के यहाँ विवाह है और उसका प्रबन्ध क्या होना चाहिए। गनीमत इतनी ही थी कि विवाह का प्रबन्ध करने वाले मित्र-मिलापियों की कमी न थी।

उक्त अवसर पर मालूम हुआ कि श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा के घनिष्ठ मित्र उन्हें 'सम्पादक जी' कहकर पुकारते हैं। अतः उस दिन से हम लोग भी उन्हें 'सम्पादक जी' कहने लगे। 'सम्पादक जी' शब्द हमारे घर गाँव रिश्तेदारों और मित्रों-मिलापियों में शर्मा जी के लिये पेटेन्ट सा हो गया। 'सम्पादक जी' और उनके मित्र, श्री पिता जी को 'कवि जी' के नाम से सम्बोधित करते थे। 'कवि जी' शब्द उनके लिये रुढ़ बन गया।

अब क्या था, 'सम्पादक जी' और 'कवि जी' का गहरा सम्बन्ध हो गया। साल में अनेक बार 'सम्पादक जी' 'कवि जी' के पास आते और कई-कई सप्ताह ठहरते। साथ ही 'कवि जी' से हरिद्वार अथवा दूसरे स्थानों को चलने के लिये आग्रह करते। जब 'सम्पादक जी' 'कवि जी' की आदत पहचान गये कि वह अपनी कुटिया छोड़कर कहीं आने-जाने वाले नहीं तो उन्होंने उनका नाम 'प्रवास भीरु' रख दिया और फिर रोग असाध्य सा जानकर यात्रा सम्बन्धी कभी कोई प्रस्ताव या आग्रह नहीं किया।

सम्पादक जी जितने समय हरदुआगंज रहते थे, बड़ा आनन्द रहता था। दिन में साहित्य चर्चा होती थी, गप-शप उड़ती थी और रात्रि को कविता का सुनाना शुरू होता था। सम्पादक जी कवि जी से भी कभी किसी विषय पर कविता लिखाते और कभी किसी पर। कभी आप प्राचीन प्रसिद्ध संस्कृत कवियों के चुने हुए श्लोक हिन्दी पद्यानुवाद के लिए कवि जी को देते और उनका बढ़िया अनुवाद सुन कर फड़क उठते। धन्य-धन्य और वाह-वाह कहकर बार-बार गर्दन हिलाते तथा जी भरकर दाद देते।

एक दो नहीं ऐसी पचासों कविताएँ हैं जो कवि जी ने केवल सम्पादक जी की फरमाइश से लिखीं और जिन्हें वह कवि जी की परम उत्कृष्ट रचनाएँ समझते थे। साथ ही सम्पादक जी ने भी कवि जी की प्रार्थना पर कितने ही लेख लिखकर प्रकाशित कराये।

हरदुआगंज में कितने ही कविता-प्रेमी सज्जन ऐसे थे, (दो चार अब भी हैं) जिन्हें पुराने कवियों के आठ-आठ सौ कवित्त कण्ठ थे। कवि जी की कविताएँ भी बहुत याद थीं। शाम को श्री पं० शंकर लाल जी शर्मा की बगीची में मण्डली बैठती थी और कभी-कभी तो रात के ग्यारह-ग्यारह बजे तक यह कविता पाठ होता रहता था। उस समय सम्पादक जी बार-बार तकाजा करने पर कहीं उस सभा को बरखास्त करते थे। इसी प्रकार रोज आनन्द रहता था। किसी दिन बाकायदा साज और सामान के साथ संगीत समाज भी जुड़ता था।

१९२३ में जब महाकवि स्वर्गीय श्री जगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर' हरदुआगंज पधारे तो श्री सम्पादक जी महाराज भी वहाँ विराजमान थे। रत्नाकर जी ने अपने

अप्रकाशित 'गंगा वतरण' महाकाव्य के अनेक स्थल पढ़ कर सुनाए, गाना बजाना भी हुआ। सबने बड़ा आनन्द अनुभव किया। श्री सम्पादक जी हरदुआ गंज पधारते समय प्रायः ऐसा प्रोग्राम बनाते थे कि उनकी मौजूदगी में वहाँ कोई न कोई अन्य साहित्य-महारथी भी दर्शन देते थे।

एक बार सम्पादक जी सख्त बीमार हुए। रोग बहुत बढ़ गया। वे दवाओं का ठीक-ठीक सेवन न करते थे। उस समय यही राय ठहरी कि श्री सम्पादक जी को हरदुआगंज लाया जाय। यहाँ कवि जी के कारण वे यथाविधि औषधि सेवन करेंगे। चुनाँचे ऐसा ही हुआ। कवि जी की बीमारी में सम्पादक जी तुरन्त पधारते और उनके निरोग होने तक बराबर हरदुआगंज ठहरे रहते। ऐसा अनेक बार हुआ।

कवि जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अनुराग रत्न' लिखी और उसका समर्पण काव्य-कानन-केसरी श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा को किया। एक श्रीमान पाँच हजार रुपए के लगभग कवि जी को देने वाले थे, यदि अनुराग रत्न का समर्पण उनके नाम होता। परन्तु कवि जी ने यह बात एक क्षण के लिये भी स्वीकार न की और स्पष्ट कह दिया कि मैं अपना प्रचुर परिश्रम एक काव्य कलाविद् के ही अर्पण करूँगा और मेरी राय में पं० पद्मसिंह जी शर्मा इसके लिये सर्वश्रेष्ठ हैं।

श्री सम्पादक जी भी श्री कवि जी की सम्मति को बड़ा आदर देते थे। 'सतसई संहार', 'बिहारी सतसई की भूमिका' तथा बिहारी के दोहों के भाष्य प्रायः सभी को उन्होंने प्रकाशित होने से पूर्व कई-कई बार कवि जी को दिखाने में कभी संकोच नहीं किया। सम्पादक जी और कवि जी ज्यों-ज्यों एक दूसरे को अधिकाधिक पहचानते गये त्यों त्यों उनकी मैत्री गाढ़ी होती गई।

जब कभी कवि जी का चित्त घबराता या चिन्तित होता उस समय वे सम्पादक जी को याद करते और पत्र पहुँचते ही सम्पादक जी तुरन्त आ जाते। जब सम्पादक जी हरदुआगंज से विदा होते थे तो बड़ा ही करुणाजनक दृश्य उपस्थित होता। उस समय कवि जी और सम्पादक जी दोनों ही के हृदय भर जाते और आँखों से आँसू बहने लगते थे।

जब कवि जी ने सम्पादक जी की दुखद मरण वार्त्ता सुनी तो उनके दुख का ठिकाना न रहा। वह गहरी आह भरकर यही कह सके—हाय सम्पादक जी भी चले गये। सम्पादक जी की निधन तिथि के चार-पाँच दिन बाद कवि जी की जन्म तिथि थी, उस दिन हम लोग उत्सव मनाया करते थे। इस उत्सव के समय कवि जी ने कितनी ही बार सम्पादक जी को याद किया।

कवि जी पर पहले ही बड़े-बड़े सदमे पड़ चुके थे परन्तु सम्पादक जी की मृत्यु ने उन्हें अत्यन्त वेदना पहुँचाई। इस घटना से उन्हें इतना क्लेश हुआ कि वे बीमार पड़ गये। उन दिनों रोग शैय्या पर पड़े हुए बीमारी में बराबर सम्पादक जी को याद करते रहते थे।

पूज्य सम्पादक जी के साथ यदि मैं अपने तुच्छ जीवन को जोड़ने लगूं तो यह छोटे मुँह और बड़ी बात होगी। परन्तु वह मेरे ऊपर इतना हित करते थे कि उनकी एक-एक बात याद आकर मुझे रुला जाती है। जब से पूज्य पिता जी के वह मित्र बने तभी से उन्होंने मेरे ऊपर पुत्र और शिष्य के समान हित किया। मैं जहाँ रहा, वहाँ समय निकालकर वह मेरे पास पहुँचे और कई-कई दिन ठहरे रहे। आगरे में तो वह केवल मेरे कारण ही महीनों निवास करते थे।

पूज्य सम्पादक जी किसी महती सभा या बड़े सम्मेलन में जाते तो मुझे जरूर उसमें शामिल होने के लिये बुलाते। बहुधा मैं उनकी आज्ञा मानकर चला जाया करता था। नहीं पहुँच सकता था तो उन्हें बहुत खेद होता था।

पूज्य सम्पादक जी के साथ अनेक बार हरिद्वार यात्रा की। बड़ा आनन्द आया। जब वे मेरा कोई अनौचित्य

देखते तो पूज्य पिता जी या सुयोग्य गुरु की तरह बुरी तरह डाटते थे। वे मुझ पर अपना कुछ अधिकार समझते थे। लगभग ऐसा ही अधिकार वह भाई बनारसी दास चतुर्वेदी और श्री भाई श्री राम शर्मा पर भी समझते थे।

वह मुझे प्रायः 'तुम' कहा करते थे। इस 'तुम' में जो प्रेम वात्सल्य और उदारता के भाव छिपे रहते थे उनसे हृदय में बड़ा ही आनन्द उत्पन्न होता था। मैं कभी सम्पादक जी से किसी पुस्तक के लिये प्रस्ताव करता तो वह बड़े प्रेम से कहते—भाई तुम लोग खाक नहीं करते मुझ बुड्ढे से इतनी आशा क्यों रखते हो ? तुम (बनारसी दास चतुर्वेदी), (रामस्वरूप शास्त्री) कुछ कर सको तो करो, मैं तो तुम्हें बूढ़े पहलवान की तरह दाव-पेंच बताता रहूँगा।

सम्पादक जी विनोदी बड़े थे। खाली वक्त में खूब हाहा-हूहू होती थी और नहीं तो किसी मित्र को ही हम लोग मजाक का 'जमूरा' (मीडियम) बना लेते थे। इस विनोद में घण्टों बीत जाते थे। पूज्य सम्पादक जी हमारी इस गुस्ताखी को माफ ही न कर देते थे, बल्कि उसे एप्रीशिएट भी करते थे। इसलिये इस प्रकार के विनोद में मित्र लोग बराबर भाग लेते रहते थे।

सम्पादक जी के पास जो मित्र जाते उन्हें शीघ्र छुट्टी न मिलती थी। जो लोग एक-एक दिन रहने का इरादा करके उनके पास गये उन्हें एक-एक सप्ताह और एक-एक महीने में छुट्टी मिली। यह उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध बात थी। एक बार सम्पादक जी बहुत बीमार हो गये। मुरादाबाद में चिकित्सा हो रही थी। रोग प्रायः असाध्य हो चुका था। डाक्टरों को विशेष आशा न थी। सम्पादक जी ने मुझे बुलवाया और कहा—काशीनाथ तो मेरी तीमारदारी में लगा रहता है तुम मेरे सब लेखों का संग्रह करो। कहीं ऐसा न हो कि सब लेख यो ही पड़े रह जावें।

मैं पूज्य सम्पादक जी की आज्ञा सहर्ष स्वीकार कर तुरन्त बताये हुए काम में लग गया। सम्पादक जी की चारपाई के पास चटाई पर बैठा-बैठा इधर-उधर से लेख और कतरन इकट्ठा करता रहता था। इस कार्य में दो मास से अधिक समय लगा। यदि ये सब लेख कभी छपे तो लगभग दो ढाई हजार पृष्ठों की बड़ी महत्वपूर्ण पोथी बन जावेगी।

इस बीमारी के दिनों में एक बात बड़ी विचित्र थी। रोज पुस्तकों की वी० पी० आते रहते थे। कभी फारसी की किताबें आ रहीं हैं, कभी संस्कृत के ग्रन्थ छुड़ाये जा रहे हैं और कभी हिन्दी, उर्दू पुस्तकों की वी० पी० आने की सूचना आयी है। जहाँ तक मेरा अनुमान है इस डेढ़ महीने में दो सौ रुपये से अधिक की पुस्तकें सम्पादक जी ने मँगाई होंगी, फिर उस दशा में जब जीवन की कोई विशेष आशा नहीं थी।

सम्पादक जी को पाँच बातें बहुत पसन्द थीं—१—स्वाध्याय २—नवीन लेखकों को प्रोत्साहन ३—साहित्यकों से मिलना-जुलना ४—अतिथि-सत्कार ५—मित्र मण्डली के साथ यात्रा। वे प्रायः साहित्यिक यात्रा बहुत किया करते थे। अब भी मृत्यु से कुछ ही पूर्व कह रहे थे—भाई अब की बार श्रावण में ब्रज-यात्रा करनी चाहिए। आगरे के मित्र भी साथ हों। कलकत्ते से बनारसी दास जी तथा श्री राम जी को भी बुलाया जाय।

वे जहाँ जाते वहाँ के साहित्यिक पुरुषों से अवश्य मिलते। फिर यह साहित्यिक कितनी ही साधारण योजना और स्थिति के क्यों न हों, उन्हें उनके घर जाने और मिलने में बिल्कुल संकोच न होता था।

सम्पादक जी किसी पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने की कोशिश न करते थे, इसलिये कितने ही दुरभिमानी उन्हें अपनी योग्यता के आगे बहुत साधारण समझने लगते थे। परन्तु सम्पादक जी इसका कभी बुरा न मानते थे।

सम्पादक जी के प्रकाण्ड पांडित्य और उनकी विशाल विद्वत्ता का परिचय देना इन पंक्तियों का उद्देश्य नहीं।

वे जो पढ़ते उसे खूब याद रखते थे। एक बार वे एक सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित जी की कथा सुनने गये। उनके अन्य मित्र तथा शिष्यों के साथ मैं भी था। पंडित जी ने बड़े ठाट से कथा कहनी शुरू की। प्रसंग की व्याख्या करते हुए आपने कितने ही काव्य और पुराणों के श्लोक भी पढ़े। कई श्लोकों के कथावाचक जी ने दृष्टान्त भी दिये। परन्तु सम्पादक जी ने बीसियों श्लोकों की ओर संकेत करते हुए कहा, "नहीं" अमुक श्लोक अमुक काव्य या पुराणों का है, पण्डित जी जैसा कह रहे हैं वैसा नहीं है। इस ग़ज़ब की याददाश्त से लोग दंग रह गये।

हिन्दी, व्रजभाषा, संस्कृत, पारसी, उर्दू, प्राकृत जिस भाषा के साहित्य समाज में भी सम्पादक जी जा बैठते थे उसी में उनकी योग्यता का सिक्का जम जाता था। स्व० अकबर जैसे महाकवि को अपनी योग्यता के प्रभाव में ले आना सम्पादक जी का काम था। वे हिन्दी की तरह उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत भी बड़े गज़ब की लिखते थे। बड़े-बड़े साहित्याचार्य और महामहोपाध्याय उनके संस्कृत ज्ञान पर मुग्ध थे।

एक बार हरदुआगँज में पंजाब के एक मुसलमान साहब पधारे। उनकी शायरी की बड़ी शोहरत थी। पण्डित पदमसिंह जी से भी वह मिलने आये और अपना उपनाम 'अफ़ज़ल' या 'अख्तर' बताकर शायरी सुनाने लगे। इस समय हमारे यहाँ हिन्दू और मुसलमानों का अच्छा जमाव हुआ। अलीगढ़ से भी कई शायर आये। सम्पादक जी ने अफ़ज़ल साहब को एक-एक पंक्ति पर दाद दी और शायरी की तारीफ़ की। अफ़ज़ल साहब वाहवाह लूटकर अलीगढ़ चले गये और जलसा बर्खास्त हुआ। शाम को लोगों ने पूछा सम्पादक जी यह तो बड़े अच्छे शायर निकले, आपने उन्हें खूब दाद दी, क्या वाकई उनकी शायरी ऐसी ही थी? सम्पादक जी बोले—"अरे भाई तुम नहीं जानते, उन्होंने जो कुछ सुनाया वह दूसरों के कलाम थे, उनका उसमें क्या था।"

'फिर आपने उन्हें दाद क्यों दी?'

'उन्हें दाद नहीं दी, शायरी की दाद दी थी।'

'आपने इस बात का भण्डा क्यों नहीं फोड़ा?'

'बेचारे को खामखवाह बुरा लगता और भक्तों में उसके प्रति अश्रद्धा फैल जाती।'

सन् १९२० या २१ बात की है हम लोग लगभग २० व्यक्ति श्री सम्पादक जी की अध्यक्षता में यात्रा के लिये निकले। महाविद्यालय ज्वालापुर से मण्डली चली। देहरादून आदि घूमते हुए, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, स्वर्ग-आश्रम आदि भी गये। जब ऋषिकेश पहुँचे तब पण्डित पद्मसिंह का नाम सुनकर काली कमली वाले बाबा (स्वर्गीय श्री रामनाथ जी) ने स्वयं सब का खूब आदर सत्कार किया। हम लोग कई दिन बाबा जी के आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त करते रहे।

उस समय सम्पादक जी ने हरिद्वार में हिन्दी साहित्य सम्मेलन किये जाने का प्रस्ताव बाबा जी से किया। बाबा जी ने बड़ी उदारता और बेतकल्लुफी से कहा—"पदमसिंह सम्मेलन ज़रूर करो, उसमें जो रुपया खर्च होगा मैं दूँगा। चन्दा करके न करना।" फिर न मालूम यह प्रस्ताव क्यों कार्यरूप में परिणत न हो सका।

इस यात्रा में जो आनन्द आया वह जन्म भर नहीं भुलाया जा सकता। उसकी स्मृति भी हृदय में बड़ी गुदगुदी करती रहती है। एक मक्खीचूस मित्र की कंजूसी के कारण ऋषिकेश रोड से सवारी न कर आठ मील तक जाड़ों के बिस्तरे लादकर पैदल चलना बड़ा ही सुखकारी हुआ। सम्पादक जी की सरपरस्ती ने इस यात्रा को अत्यन्त आनन्ददायक बना दिया।

सम्पादक जी पक्के अदृष्टवादी थे। वे सब बातों में भाग्य और भोग को ही प्रधानता देते थे। यों बीमारी के समय दवा खाते थे, परन्तु विश्वास उनका अदृष्ट पर ही रहता था। इसलिये वह रोग के समय पथ्यापथ्य की विशेष परवाह नहीं करते थे। अन्तिम समय जब नायक नगले में आपको प्लेग हुआ, तब भी अदृष्टवाद की थ्योरी ही आपके सामने थी। प्लेग से पीड़ित

होकर भी जब तक होश रहा मित्रों को साहित्य सम्बन्धी चिट्ठी लिखते रहे।

सम्पादक जी तैरने में बड़े कुशल थे। घोड़े की सवारी में बड़े-बड़े शहसवारों को मात देते थे। श्रावण की चढ़ी हुई गंगा को पार कर जाना उनके लिये मामूली बात थी। उनमें कभी भीरु भाव न आता था। वे बड़े ही निर्भीक थे।

एक बार आगरे में हिन्दू मुसलमानों का भयंकर दंगा हुआ। सम्पादक जी भी आगरे में थे। इन पंक्तियों का लेखक चोट लग जाने के कारण चारपाई पर पड़ा था। एक प्रोफेसर मित्र की कुशलता न मिलती थी। वे वज़ीरपुरा में रहते थे। वहाँ दंगे की बड़ी तेज़ ख़बर थी। सम्पादक जी शाम को दो मील पैदल चलकर वज़ीरपुरा पहुँचे और प्रोफेसर साहब की कुशलता जानकर सन्तोष किया। उस समय ऐसा करना खेल नहीं था।

कहाँ तक कहूँ, ये सब छोटी-छोटी बातें हैं, परन्तु उनसे बड़े-बड़े अर्थ निकाले जा सकते हैं। मुझे सम्पादक जी के सहयोग का इतना अधिक सौभाग्य प्राप्त हुआ है, कि अगर मैं सब बातों को संस्मरण रूप में लिखने बैठूं तो कई अंक उनसे भर सकते हैं।

अगर भाई बनारसीदास जी ने सम्पादक जी की जीवनी लिखी, जैसा कि वह निश्चय कर चुके हैं, तो अवश्य ही मैं सम्पादक जी सम्बन्धी अनेक संस्मरण उस जीवनी की भेंट कर सकूंगा।

—'सैनिक', ५ जुलाई १९३८ के पद्मसिंह शर्मा विशेषांक से साभार

"त्यागी" पद्मसिंह शर्मा विशेषाङ्क से—

स्वर्गीय पं० पद्मसिह जी शर्मा सच्चे साहित्य-सेवी थे। साहित्य-सेवा, साहित्य-सेवियों की सेवा, परलोकवासी साहित्य सेवियों की कीर्ति-रक्षा और साहित्य की वेदी पर, वे सब कुछ निछावर करने को तैयार रहते थे। राजा भोज के युग की झलक उनकी प्रतिभा और उनके स्वभाव से प्रकट होती थी। अन्तिम सांस तक वे उसी सेवा-व्रत में रहे। अपने कष्टों को भूलना और दूसरों के कष्ट को दूर करना, यह स्वभाव उनमें तब तक रहा जब तक ख़ून में गर्मी रही।

—पं० श्रीराम शर्मा

सहृदय-शिरोमणि आचार्य पंडित पद्मसिंह शर्मा

—श्री श्यामसुन्दर खत्री

सहृदय-शिरोमणि उदारमना विद्वद्वर्य आचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा अनन्य काव्य मर्मज्ञ, निष्पक्ष समालोचक, सत्काव्यानुरागी अत्युच्च साहित्यकार और नए लेखकों तथा कवियों के परम हितैषी महापुरुष थे। ऐसे महामहिम मनीषी के किंचिन्मात्र सम्पर्क में आना मेरे परम सौभाग्य का विषय था।

पहले दो-एक बार जब शर्माजी का शुभागमन कलकत्ते में हुआ था, तब मैंने उनके पुनीत दर्शन केवल सभाओं में ही किए थे। कविता पाठ करते हुए कवि केवल उनकी ओर निहारा करते थे और यदि किसी की कविता पर शर्माजी के श्रीमुख से एक 'वाह' निकल गई तो वह गद्‌गद हो जाता था।

शर्माजी जब सन् १९२८ में अपने निबन्ध-संग्रह—"पद्मपराग" के प्रथम भाग के छपाने के तथा एक अन्य किसी संस्कृत पुस्तक के प्रकाशन के सिलसिले में कलकत्ते पधारे थे, तब इन्हीं कार्यों के लिए वहाँ कई महीने रहे। उस वर्ष श्रद्धेय पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने अपने दैनिक पत्र—"स्वतंत्र" का दीपावली का विशेषांक शर्मा जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित कराया था। उस अंक में जेल में अनशन करके प्राणोत्सर्ग करने वाले क्रान्तिवीर यतीनदास पर मेरी एक छोटी-सी कविता छपी थी। एक दिन मित्रवर पं० प्रतापनारायण वाजपेयी रास्ते में मिले, तो बोले कि शर्माजी तुम्हारी कविता की तारीफ़ करते थे। फिर क्या था, मैं तो उछल पड़ा। उसके बाद ही एक दिन मैं 'विशाल भारत' के सहकारी सम्पादक श्री ब्रज मोहन वर्मा और पं० रामनारायण चतुर्वेदी 'आज़ाद' के साथ शर्माजी के निवास स्थान पर गया। श्रद्धेय श्री पारसनाथ सिंहजी भी शर्माजी के पास बैठे थे और मुझे देखते ही बोले—मैं जिनका ज़िक्र कर रहा था, वे आ गए। शर्माजी बड़े स्नेह और वात्सल्य से हम लोगों से मिले। वर्माजी तो उनके यहाँ प्रायः जाया करते थे। देर तक बातचीत होती रही। फिर तो मैं अकसर कभी इन मित्रों के साथ और कभी अकेला शर्मा जी के दर्शनों को जाया करता था और उनकी अमृतमयी वाणी से आनन्दित हुआ करता था।

कवि लोग अपनी कविता-पुस्तक की भूमिका लिखवाने के लिए शर्माजी को बहुत घेरते थे। परन्तु शर्माजी किसी के मुलाहिज़े में पड़ कर या किसी के दबाव में आ कर कभी कुछ नहीं लिखते थे। और यदि लिखते भी थे, तो जो कुछ उचित समझते थे, वही लिखते थे, फिर चाहे कोई भला माने या बुरा, इसकी उन्हें परवाह नहीं थी। उन दिनों इलाहाबाद के श्री सुखदेव प्रसाद सिनहा 'बिस्मिल' साहब ने अपने काव्य-संग्रह—'कलामे बिस्मिल' की भूमिका लिख देने के लिए शर्माजी से बहुत आग्रह किया था। बिस्मिल साहब बड़े फ़ख्र के साथ कहा करते थे—मैं तो अब अकबर (इलाहाबादी) के रंग में लिखता हूँ। शर्माजी का कहना था कि भाई, रंग तो अपना ही अच्छा होता है। बिस्मिल साहब का कलाम था—"हमें तो लोग 'बिस्मिल' अकबरे सानी समझते हैं।" यह गर्वोक्ति शर्माजी को गवारा नहीं थी। उन्होंने बहुत टाला, पर बिस्मिल साहब न माने। अन्त में शर्माजी ने जैसी उचित समझी वैसी भूमिका लिखदी और उसे वे स्वयं देने के

लिए कलकत्ते से वापस जाते हुए रास्ते में इलाहाबाद उतरे, परन्तु वहाँ बिस्मिल साहब से उनकी मुलाकात नहीं हुई। अतः उन्होंने उसे उनके पास भिजवा दिया। भला वह भूमिका बिस्मिल साहब को क्यों पसन्द आती ? शर्मा जी ने इस सम्बन्ध में मुझे एक पत्र में लिखा था—"भई बात यह है 'बिस्मिल हो या सय्याद,' सच बात किसी को नहीं सुहाती। – – – – खैर जो हो बिस्मिल जी इससे (भूमिका से) खुश न हुए। एक लम्बा पत्र लिख कर अपनी सफाई पेश की, कुछ तरमीम चाही। मैंने लिख दिया अब्र यह नहीं हो सकता। या तो ज्यों का त्यों जाने दो या बिल्कुल ही न जाने दो।"

कलकत्ते में शर्मा जी के निवास का प्रवन्ध जहाँ श्री पारसनाथ सिंह ने कर दिया था, वहाँ उनकी तवियत खराब हो गई और उन्हें तकलीफ होने लगी। यह देख कर कलकत्त के प्रतिष्ठित लेखक और कवि श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री उन्हें अपने भवन पर ले गये और वहाँ उन्होंने बड़े आदर-सत्कार के साथ रहने की समुचित व्यवस्था कर दी। कलकत्ते के गण्यमान्य साहित्यिक बराबर शर्मा जी से मिलने गांगेय भवन में जाते थे और दो तीन बार साहित्यिक गोष्ठी या सभा आवश्यक विचार विमर्श के लिये हुई थी। सन्ध्या या रात्रि के समय एकांत में शास्त्री जी अपना काव्य-संग्रह लेकर बैठ जाते थे और शर्मा जी को अपनी रचनाएँ सुनाया करते थे। दिन को अधिकतर शर्मा जी 'विशाल भारत' कार्यालय में जाया करते थे और वहाँ श्रद्धेय पण्डित बनारसीदास जी चतुर्वेदी और श्री ब्रज मोहन वर्मा से वातचीत, हँसी-मज़ाक के साथ-साथ 'विशाल भारत' के लिये अच्छे-अच्छे सुझाव दिया करते थे। ये सज्जन तो प्रायः शर्मा जी के यहाँ आते थे।

शर्मा जी जब श्री पारसनाथ सिंह वाले निवास स्थान में थे तभी वर्मा जी ने मुझे समझाया था कि अपनी सब कविताएँ शर्मा जी को दिखाइए। मैंने कुछ हाथ से लिखकर और कुछ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं की कतरने जोड़-जोड़ कर एक संग्रह तैयार कर डाला और उसे लेकर मैं शर्मा जी के चरणों में उपस्थित हुआ। मैंने उनसे प्रार्थना की कि मैं इसे छपाना चाहता हूँ। यदि आप इस पर कुछ लिख दें तो बड़ी कृपा होगी। उन्होंने कहा, "लाइए दीजिये, मैं इसे अवश्य देखूंगा।" वह संग्रह महीनों तक उनके पास पड़ा रहा और मैं हर दूसरे-तीसरे दिन उनके पास जाया करता था, परन्तु मैंने कभी उनसे उसके विषय में कोई चर्चा नहीं की। एक दिन वर्मा जी ने मेरे घर आकर कहा कि शर्मा जी कल चले जायेंगे आप कल सवेरे अपना संग्रह उनके यहाँ से ले आइये। मैं दूसरे दिन शर्मा जी के डेरे पर उपस्थित हुआ। एक अन्य सज्जन उनके पास बैठे थे। शर्मा जी ने मुझसे कहा, "आइए, मैं आपको याद ही कर रहा था, आपकी भूमिका तैयार है, मेरा यहाँ का काम समाप्त हो गया। मैं आज चला जाऊँगा।" उन्होंने पेंसिल से लिखे एक काग़ज़ की नकल उक्त सज्जन से कराके और उस नकल पर अपने हस्ताक्षर करके उसे मुझे दे दिया। मैंने उसे पढ़ा। कभी सोचा भी न था कि उनके कर-कमल से मुझे ऐसी सुन्दर भूमिका उपलब्ध होगी। मैंने हाथ जोड़ कर इस आशय की बात कही कि इस भूमिका को मैं आपके आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करता हूँ, इसमें आपने मेरे विषय में जो लिखा है वैसी कोई बात मुझमें है नहीं। मैंने देखा कि उनकी भौंहें कुछ चढ़ गयीं, बोले—"बाबू श्याम सुन्दर दास, मैं कभी किसी को झूठी दाद नहीं देता।" मुझे अपनी मूर्खता पर पछतावा हुआ और मैंने उनके चरण स्पर्श किये। उन्होंने मुझे मेरे संग्रह के साथ 'पद्मपराग' की एक प्रति देने की कृपा की।

शर्मा जी के कलकत्ते के अवस्थान—काल में विजया-दशमी के अवसर पर सारस्वत खत्री सेवा संघ के विजयोत्सव का समारोह था। ऐन मौके पर उत्सव के मनोनीत सभापति कलकत्ता कार्पोरेशन के कौन्सिलर श्रेद्धय बाबू मदन मोहन बर्मन ने कहला भेजा कि किसी अनिवार्य कारणवश वे नहीं आ सकेंगे। विकट समस्या खड़ी हो गई। सौभाग्य से शर्मा जी वहाँ उपस्थित थे। सभापति पद के लिये सब की निगाह उन्हीं पर उठी। पर मुश्किल यह थी कि शर्मा जी विख्यात आर्य समाजी थे तथा आर्य समाज के यशस्वी सेवक थे और विजयोत्सव का प्रारम्भिक कार्य ही था भगवती शक्ति का पूजन।

साहस पूर्वक संघ के मन्त्री मेरे छोटे भाई चुन्नी लाल मेहरा ने प्रस्ताव रूप में उनसे सभापति का आसन सुशोभित करने की प्रार्थना की। पहले तो शर्मा जी ने इसे स्वीकार नहीं किया, परन्तु जब सभी ओर से उन्हीं के लिये आवाजें उठी तो वे राज़ी हो गये और करतल ध्वनि के बीच उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण किया। कार्यक्रम उनके सम्मुख रखा गया। उन्होंने आचमन कर के भगवती शक्ति की ऐसी विधि पूर्वक पूजा की कि उपस्थित जन समूह गदगद हो गया और उनकी उदारता, सहिष्णुता और विशाल हृदयता पर मुग्ध हो गया।

—३ई० नन्दी स्ट्रीट, कलकत्ता, २६

प्रशस्तिः श्री पद्म सिंह शर्मणः

डा० बलवीर दत्त शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य



डा० बलवीर दत्त शास्त्री

साहित्यपाथोधि विलास-हासो
मणिः समालोचक-कोविदानाम्।
यः पत्रकाराग्र गुणैरुपेतः।
स 'पद्मसिंहो' जयते कवीन्द्रः ।। १ ।।

स्मरामः सप्तमं पुण्यं मासेऽप्रेले दिनं यदा।।
हिन्दी मन्दाकिनी जाता 'पद्म'-हीना विलोचना।।२।।

यः शश्वदयापयदात्मजीवितं
प्रोत्साहनेऽन्यस्य जनस्य विद्वान्।
नम्यो निजां सारवतीं विहाय
प्राकाशयन्नव्य कवेः कृतिं कविः ।। ३ ।।

आसीद् हृषीकेश कविस्तु भट्टो
योऽकब्बरः, शंकरनाम द्वयः।
यः सत्यनारायण काव्यरत्नं
कुशाग्रबुद्धि प्रशशंसुरेनम् ।। ४ ।।

व्रजारबीफारसदेव वाक्षु
यल्लेखनी धावति दुर्निवारा।
महान्समालोचक-लेखकः स
श्री 'पद्मसिंहो' जयते कवीन्द्रः ।। ५ ।।

लेखावली 'पद्मपराग' नाम्ना
हिन्दी जगत्यां प्रथिता नु यस्य।
यशः पताकोल्लसते विकम्पिनी
सा गद्यशैली शिखिनीव तस्य ।। ६ ।।

ज्वालापुरीयेऽत्र गुरोः कुलेऽस्मिन्
योऽभूदुपाध्यायशिरोमणिस्तु।।
तत्पद्मसिंहस्य, समादरे श्री।
जवाहरो न्यासमधाद्गृहस्य ।। ७ ।।

दौर्भाग्यमेव निगदामि कवेस्तदेत।
यत्कीर्ति-रक्षणपरस्य सदा परेषाम्।
सोऽद्यापिशिष्यगण आत्मगुरोः कृतघ्नः
यः 'पद्मसिंह' कविकीर्तिकरो भवेन्न ।। ८ ।।

बनारसीदास कवीश्वरेण
गुरोः स्मृतावेष महान्प्रयासः।
व्यधायि सर्वैः कविभिः समेतै-
रुपाहृतो ग्रन्थ समुच्चयो यः ।। ९ ।।

कवेर्विहारे रचनास्ति विश्रुता
सुर्चचिता सप्तशती स्वटीकया।
तया सुकीर्तिः प्रहिता दिगङ्गनाः
प्रभेव शुभ्रा शशिनाऽमुना नृणा ।। १० ।।

मण्डले बिजनौरेऽस्ति ग्रामो नगलानायकः।
'पद्मसिंहो' जनिं लेभे पद्मं पद्मवने यथा।। ११ ।।

धन्यं मन्ये वचो मे यत् 'पद्मसिंह' गुणान्वितम्।
रसना निर्गतं पूतं बलवीरस्य शास्त्रिणः ।। १२ ।।

—प्रिंसिपल, गुरुकुल आयुर्वेद
महाविद्यालय ज्वालापुर
(हरिद्वार), जिला सहारनपुर

स्वर्गीय सम्पादक जी की स्मृति में—

—स्व० पं० श्रीराम शर्मा

चिड़िया के बच्चे का घोंसले के संकीर्ण दायरे से पहले-पहल बाहर आना उसके जीवन की एक विशेष घटना होती है और मेरी प्रथम हरिद्वार यात्रा मेरे जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना थी। घोंसले से बाहर की प्रथम उड़ान से चिड़ियों के बच्चों को विश्व की विभूति का आभास होता है और मुझे उस वर्ष, और सो भी एक साथ और एक ही स्थान में तीन, विभूतियां देखने को मिलीं। वे विभूतियाँ थीं हिमालय, महात्मा गाँधी और स्वर्गीय आचार्य पंडित पद्म सिंह जी शर्मा।

मार्च सन् १९१५ में हरिद्वार का कुम्भ था और मेरे बड़े भाई बाला प्रसाद जी ज्वालापुर महाविद्यालय के अध्यापक थे। इसीलिए मैट्रीकुलेशन की परीक्षा के बाद मैं महाविद्यालय ज्वालापुर चला गया। गाँधी जी महाविद्यालय ज्वालापुर पधारे थे और उसी समय मैंने पर्वत शिरोमणि हिमालय, अहिंसा के प्रतीक महात्मा जी और सरस्वती के पुजारी 'सम्पादक जी' के दर्शन किये थे। ब्रह्म के उन तीन रूपों, विशालता, अहिंसा और महत्ता की त्रिधारा को मैंने नतमस्तक प्रणाम उसी समय किया था। ज्वालापुर महाविद्यालय में मैं दो मास के लगभग रहा था। मैंने 'सम्पादक जी' की बातों में एक विचित्र ही जादू पाया। उनके मुख से जो बात निकलती थी वह लाजबाब होती थी। यद्यपि मैं उन दिनों कोरा अल्हड़ था तो भी 'सम्पादक जी' की बातें सुनने के लिये तड़पा करता था। उनके कमरे के पास वाले चबूतरे पर सायं काल की बैठक जमती और दबे पाँव मैं भी, अछूत के समान, एक कोने में बैठ जाता। उस मण्डली में मेरा समवयस्क कोई न था और यदि कोई होता भी तो भी क्या होता, मैं जानता ही क्या था, जो अपना मुंह खोलता। हाँ 'सम्पादक जी' का वार्तालाप मेरे हृदय पटल जरूर खोल देता था। कभी सादी की सूक्तियाँ सुनने को मिलतीं तो कभी उर्दू कवियों की दर्द भरी सदायें और बीच-बीच में विनोद भी होता जाता था। एक ही बात को कालिदास ने कैसे कहा है, बाण, भट्ट, बिहारी, सूर, गालिब, ज़ौक, नासिख़ और सौदा ने उसी बात को कैसे अदा किया है, इस बात को समझाने में 'सम्पादक जी' कमाल करते थे। मालूम यह होता था कि मानो 'सम्पादक जी' ने अपने मस्तिष्क में तुलनात्मक साहित्य का वृहद पुस्तकालय रख छोड़ा हो, महाकवियों की मौके-मौके की कृतियाँ उनके हाथ जोड़े खड़ी रहती थीं। महाविद्यालय की साहित्य गोष्ठी की जान 'सम्पादक जी' ही थे। एक तो हरिद्वार में कुम्भ था ही और दूसरा साहित्य कुम्भ पर्व 'सम्पादक जी' के कारण रहता। रेल की लाइन के किनारे उनका कमरा था। कोई सवारी गाड़ी निकली और 'सम्पादक जी' कमरे के बाहर आये और रेल में झाला देते हुए किसी मित्र को देखते ही वह ज्वालापुर स्टेशन किसी न किसी को लेने भेजते और अपने मित्र की आवभगत में लगते। पंजाब, बंगाल, बिहार, संयुक्त प्रान्त और मध्य प्रान्त से लोगों का तांता पुरा ही रहता। आने-जाने वालों की 'परेवा की सी सोवर' लगी ही रहती। साहित्य-चर्चा और आलोचना की चोटें होती ही रहतीं। एक दिन उसी चबूतरे पर उन्होंने एक बनिए को एक हिजड़े की बात सुनाई। बनिए की अनुपस्थिति में एक हिजड़ा उसकी दुकान पर चना चबाने लगा। बनिये ने आकर देखा तो बहुत बिगड़ा। पर वह यह निश्चय नहीं कर सका कि हिजड़े को कैसे सम्बोधित किया जाये। उसको स्त्रीलिंग माने या पुल्लिंग। इसीलिये आवेश में आकर बनिए ने कहा—"सारे चना चबा गई है चबा गया तू चल उठ खड़ा हो उठ खड़ी हो। उठ खड़ी हो तू।

एक दिन 'सम्पादक जी' बैठे ज्वालापुर महाविद्यालय का पोस्टर बना रहे थे कि किसी ने आकर कहा कि 'सम्पादक जी' गुरुकुल वालों ने लिखा है कि गुरुकुल एक महाविद्यालय है। 'सम्पादक जी' ने मुस्करा कर कहा, अरे भई तो क्या हर्ज है। महाविद्यालय एक गुरुकुल है। महाविद्यालय ज्वालापुर का पोस्टर उसी शीर्षक में निकला था। साहित्य और कविता कामिनी पर अत्याचार उनके लिये असह्य था। सरस्वती के मन्दिर में सहृदय, नेक और भक्तजनों को वे न केवल जाने ही देते थे वरन् हाथ पकड़ कर और प्रोत्साहन देकर उन्हें भीतर ले आते थे और धूर्त, ढोंगी और अर्थ का अनर्थ करने वालों और अपने अनर्थ पर डटे रहने वालों पर वह सदा खड्ग-हस्त रहते थे। केवल सिद्धांत के लिये, साहित्य और काव्य की रक्षा के लिये वे ऐसा वार करते थे कि फिर ढोंगियों को सिर उठाने की हिम्मत नहीं होती थी। वे वीर थे और लड़ाई के हामी थे, पर सतयुगी लड़ाई के क़ायल थे और इस सिद्धान्त को वे स्वयं व्यवहार में लाते थे। लड़ाई वाद-विवाद और विवाद और विरोध की उनकी सीमा वाद—विवाद तक ही थी। सामाजिक जीवन में वे अपने—पराये विरोधी तक को गले लगाते थे। गुरुकुल के किसी व्यक्ति ने विद्वत्ता के लिये 'विद्वानता' लिखा था और शायद बाद में 'महानता' शब्द का भी प्रयोग किया था। 'सम्पादक जी' ने 'विद्वानता' की बहिन 'महानता' कहकर या लिख कर लेखक पर बड़ी बढ़िया फब्ती कसी थी। उन्हीं दिनों 'भारत-मित्र' में एक लेख निकाला 'पूर्णाहुति' और लेखक का नाम था 'बम्भोलानन्द महारथी'। लेख पढ़ कर मैं ऐसा मुग्ध हुआ कि 'भारत-मित्र' की उस प्रति को मैंने ५—६ वर्ष तक अपने पास रखा। लेख को पढ़ कर भला ऐसा कौन होगा जो 'सम्पादक जी' की चुस्त भाषा और पैनी लेखन शैली से यह न समझ गया हो उस लेख के लेखक पं० पद्म सिंह जी शर्मा थे।

सन १९१५ ई० में ज्वालापुर महाविद्यालय में मैं रहा तो लगभग २ मास और प्रतिदिन ही सम्पादक जी के दर्शन भी करता था, पर मैं उनके अति निकट तक न पहुँच सका वे मुझे मेरे भाई के नाते से ही जानते थे वे। मिक्नातीस थे पर मैं उस समय तक साहित्यक लोहा न था जो उनकी ओर को खिंचा चला जाता। 'सम्पादक जी' में तो बिजली का, प्रवाह था पर मैं साहित्यिक दृष्टि से काष्ठवत् था। दो मास के सम्पर्क से भी उनकी ज्योति मुझ पर प्रतिबिम्बित न हुई और समय सागर में बारह वर्ष और डूब गये और सन १९२७ ई० का कुम्भ फिर आया। सन १९२७ ई० के कुम्भ में मैं एक सेठ जी के साथ गंगा किनारे ठहरा हुआ था। मकान के द्वार पर खड़ा हुआ था कि सामने से सम्पादक जी आते दिखाई पड़े प्रणाम करके मैं आगे बढ़ा और उनको अपने स्थान पर ले गया और चाय पिलाई और फिर साहित्य चर्चा हुई। सन १५ और सन २७ के बीच मैंने अनेक बार उनके दर्शन किये और साधारण-सी बातें भी कीं पर सन २७ के पूर्व मेरी उनकी साहित्य चर्चा कभी नहीं हुई और जिस दिन से हुई उसी दिन से मेरा उनसे निजी घर का सा सम्बन्ध होगया। उनके हृदय में मेरे लिये भी स्थान और विशेष स्थान निकल आया। इस बात को मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि सन १९२७ से उनका प्रेम मेरे ऊपर अपूर्व था और हरिशंकर जी शर्मा और बनारसीदास जी चतुर्वेदी के बाद उनके साहित्यिक कृपा पात्रों में मेरी गणना हो सकती है। गंगा किनारे लगभग एक घण्टे बात चीत होती रही। मेरा ख्याल था कि 'संपादक जी साहित्यिक और समालोचना और काव्य विषय को छोड़ और किसी विषय में अधिक रुचि नहीं रखते, पर उस दिन की बातचीत से मेरा यह भ्रम दूर हो गया। 'प्रताप' के बारे में बहुत सी बातें कीं और 'प्रभा' में लिखित मेरे नौ वर्ष पहले के लेखों की चर्चा की और पूछा 'प्रताप' से और विद्यार्थी जी से आपका खास सम्बन्ध है। यह बताओ कि 'प्रताप' में चार पाँच वर्ष पूर्व प्रकाशित वह लेख माला किसने लिखी थी! प्रश्न सुनकर मैं दंग रह गया और सोचने लगा कि क्या हिन्दी में 'सम्पादक जी' जैसा पाठक और भी कोई है? समाचार पत्रों को इतने ध्यान से और कौन पढ़ता है। इतने भिन्न-भिन्न विषयों का और कौन विश्लेषण करता है। मैंने हँस कर उनसे कहा कि उस कल्पित नाम से वह लेख माला मैंने ही लिखी थी। सुनकर बाग़-बाग़ हो गये मानो उनके किसी पुत्र को कहीं विजयन्ती मिली हो। उनकी प्रसन्नता से मेरे लिये गौरव की बात थी। 'प्रताप' में मैंने चार या पाँच लेख राजनैतिक विषय पर बीवटान नाम से लिखे थे। उन लेखों की कुछ धूम-सी मच गई थी। हिन्दी उर्दू और किसी दक्षिणी

भाषा के पत्र में वे लेख उदधृत भी हुये थे। सूक्ष्मदर्शी पं० पद्मसिंह जी शर्मा की दृष्टि से वे कैसे निकल जाते। उनमें एक और भी गुण था। जहाँ कहीं कोई अच्छी चीज़ पढ़ने को मिली उसी समय वह लेखक को, अपरिचित तक को, प्रोत्साहन पत्र लिखते थे। नाम और पता न मालूम होता तो दूसरे से उसकी खोज कराते। गरज यह कि शाबाशी की थपकी शब्दों और पत्रों से लेखक के पास पहुँचा देते।

उनसे मेरी 'शिकार' सम्बन्धी बातें पहले पहल हरिद्वार में हुई। कहने लगे—"बाला" में प्रकाशित आपके 'भेड़िया' लेख को पढ़ने के लिये मुझे मेरे छोटे लड़के रामनाथ ने दिया। वह आपके लेखों को बड़े चाव से पढ़ता है। हिन्दी में 'शिकार' विषय तो अछूता है। राजनीतिक और साहित्य के अन्य अङ्कों की पूर्ति और भी कर रहे हैं। आप इसको अपना लें और इस विषय पर लिखें तो साहित्य की एक बड़ी कमी पूरी हो।

'सम्पादक जी' का और मेरा पत्र-व्यवहार भी प्रारम्भ हो गया और साल में चार छः पत्र आ ही जाते थे। मैं न भेजता तो वे ही भेजा करते। गणेश जी के वध पर उन्होंने एक दर्दनाक पत्र लिखा था और मुसलमानों की मनोवृत्ति पर उन्होंने अपने उद्गार लिखे थे। पत्र मैं रखा नहीं करता और अपनी इस भूल पर अब पछताता हूँ।

मेरा शिकार सम्बन्धी 'विशाल भारत' में पहला लेख 'डंडा और वाद विवाद' शीर्षक निकला। उस लेख को पढ़कर आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता बहुत बिगड़े और यहाँ तक कि उस लेख को 'विशाल भारत' में स्थान देने की ग़लती पर उन्होंने सम्पादक से जवाब तलब कर डाला। प्रत्याक्रमण और आक्रमण से अति भयंकर प्रत्याक्रमण करते रहने की आदत से मैं उन आर्यसमाजी सज्जन पर टूट ही तो पड़ा। (यदि उन्होंने मेरे ऊपर बन्दूक चलाई थी तो मैंने उन पर तोप दाग़ने की ठान ली।) पर इस बीच 'सम्पादक जी' का पत्र आया और मुझे उन्होंने उन सज्जन की सज्जनता और नेकनीयती के बारे में लिखा और उनकी लेखन शैली की कटुता और व्यंग को अनुचित ठहराया। फलस्वरूप मैंने उनके प्रतिवाद का कुछ उत्तर न भेजा। कुछ दिनों बाद मैंने अपने शिकार सम्बन्धी लेखों को पुस्तकाकार निकालने का निश्चय किया और 'सम्पादक जी' से पुस्तक के नामकरण के विषय में पूछा उत्तर आया :—

C/o पं० हरिशंकर शर्मा, राजा मण्डी, आगरा

ता० १२-३-१६७१

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप अपने लेखों का संग्रह छपा रहे हैं। मैं आपके लेखों को बड़े चाव से पढ़ता रहा हूँ।.. मैं शिकार का शौकीन हूँ न समर्थक न विरोधी। हिंस्र जन्तुओं के वध को अवश्य उचित समझता हूँ।.. संग्रह का नाम सूझ जायगा तो लिखूँगा। 'विशाल भारत' में आपके कई लेख अच्छे निकले हैं। मैं आपको पत्र लिखने वाला था। चतुर्वेदी जी से पता पूछा था पर वह चुप रहे।

भवदीय

पद्मसिंह शर्मा

स्मरण रहे कि मेरे शिकार सम्बन्धी लेखों के विषय में प्रोत्साहन देने में स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी शर्मा ही थे। यदि कहीं वह मेरी चीज को बुरा कह देते तो शायद ही मैं साहित्य के इस कूचे की ओर अग्रसर होता। सिपाही जब लड़ते हैं तब उनकी रक्षा के लिए पीछे तोप रहती है। मेरी भावना भी कुछ ऐसी ही थी कि जब 'सम्पादक जी' को मेरी चीज़ पसन्द है, जब साहित्य पारखी की सहानुभूति और बल मेरे साथ है, तब फिर औरों की क्या चिन्ता। इसी भावना को लेकर मैं आगे बढ़ा।

गत फरवरी के आरम्भ में स्वर्गीय 'सम्पादक जी' प्रयाग में एकैडिमी के लिये अपना लेकचर लिख रहे थे। गाँव से मैं कलकत्ता जा रहा था। अपने शिकार सम्बन्धी लेखों को अपने से पहले उन्हें दिखाता था, इसलिये प्रयाग उतर पड़ा। हिन्दी प्रेस होता हुआ दारागंज पहुँचा तो अपने निवास लसकाक कुटी से वे पं० मंगलदेव जी शर्मा के साथ टहलने निकले थे और पं० रघुनन्दन जी शर्मा के

आवाज़ लगाने से रुके और मुझे देखकर 'सम्पादक जी' ने कहा—यहाँ भी आपका निशाना ठीक बैठा। उन दिनों वे अस्वस्थ थे, पर सायंकाल से जो बैठक जमी तो रात का एक बज गया। उन्होंने मेरे दो लेख भी देख लिये और बहुत सी बातें होती रहीं। लसकाक कुटी के पीछे मल्लाह लोग रात में दिन भर के परिश्रम के बाद अपनी तान छेड़ते। ग़म-ग़लत भी करते और तबीयत भी बहलाते। 'सम्पादक जी' के यहाँ दिन में दरबार लगा रहता। कोई न कोई आ धमकता उनसे यह कैसे हो सकता था कि किसी मित्र के होते वे लेक्चर लिखने में लगे रहते। लेक्चर तैयार हो या न हो। पिछली बार भी ऐसे ही रह गया था, पर रात तो अपनी थी। चाय के सहारे वे रातों रात पोथे लिख सकते थे, किन्तु मल्लाह लोगों के संगीत से उनके काम में बड़ी अड़चन पड़ती थी। हँसकर उन्होंने कहा—ग्राम गीत लिखने वालों के लिये यहाँ काफी सामग्री है। पं० मंगलदेव जी ने समझाया तब मैं उनका तात्पर्य समझा।

अगले दिन चाय और स्नान के बाद खाना बना। पं० मंगलदेव जी खाना बनाने लगे और 'सम्पादक जी' ने सामग्री जुटाने में हाथ बटाया। एक थाली और लोटे की कमी थी। मैं एक पत्रिका को लेकर पढ़ रहा था। पत्रिका बन्द करके देखा तो 'सम्पादक जी' ने एक विद्यार्थी के झूठे बर्तन माँजना आरम्भ किया। तेज़ी से आगे बढ़कर उनका हाथ पकड़ा और कहा आप तो मुझे काँटों में घसीटते हैं। मुस्कराकर उत्तर दिया अरे भाई क्या होगया। मैंने कहा—हम लोगों के होते हुए आप बर्तन माँजें, यह कैसे हो सकता है। अब उन्होंने गोरखपुर वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बात सुनाई। कहा गोरखपुर में हम लोगों को पानी पिलाने या हाथ धुलाने के लिये भागलपुर के एक धनी मारवाड़ी सज्जन थे। लोगों ने समझा कि उनके मेज़बान का कोई नौकर होगा। अन्त में मालूम हुआ कि हाथ धुलाने वाले व्यक्ति भागलपुर के एक धनी हैं। मैंने कहा कि शिष्टाचार और नम्रता सीखने के लिये लड़कों को उन्हीं के पास भेजना चाहिये। और मेरी राय यह है कि स्वयं 'सम्पादक जी' शिष्टाचार की मूर्ति थे। उनके यहाँ कोई जाय तो उसे पहुँचाने के लिये वे स्टेशन तक जाते थे अपनी विनोदी और सरल बातों से वे किसी की चलने देते नहीं थे। आगरे में मैं इनसे पं० हरिशंकर जी के यहाँ मिलने गया। पं० हरिशंकर जी के चोट लगी हुई थी। चौके में खाना खिलाने ले गये। मैंने ज़िद की कि पहले वे ही खायें पर आपत्तिकाल का धर्म दूसरा होता है। ऐसा कहकर उन्होंने पहले मुझे ही खाना खिलाया। लसकाक कुटी से मैं जो स्टेशन को चला तो वे स्टेशन तक साथ आये। उनकी तबीयत खराब थी। कुछ ज्वर भी था, पर नहीं माने और स्टेशन तक साथ आये और ताँगे वाले को किराया तक खुद ही दिया। मैंने जल्दी में ताँगे वाले को किराया दे दिया था, पर सम्पादक जी कब मानने वाले थे। ताँगे वाले से रुपया लौटाकर और खुद किराया दिया। यह था उनका शिष्टाचार! अपने कष्ट की तनिक भी परवाह न करना और दूसरे की भलाई करने के लिये अपना सब कुछ दे डालना। मेरा तो यह ख्याल है कि दूसरे की भलाई के लिये किसी दुःखी के साथ नरक तक में जाने को वे राजी हो जाते।

अपना कर्त्तव्य पालन करते थे और दूसरा कोई एक बार उनका कृपा भाजन होकर, उनके विरुद्ध भी कोई काम करे, तो वह उसका ख्याल विशेष न करते थे। एक महाशय है जिनको 'सम्पादक जी' नसीम की गज़ल सुना कर उनके कष्ट के दिनों में सान्त्वना दिया करते थे और उन्होंने सम्पादक जी का बहुत समय नष्ट किया था। आज कल एक धनी सज्जन के यहाँ वे महाशय रहते हैं। एक दिन धनी सज्जन के लड़कों ने कहा, "आपका परिचय पं० पद्मसिंह जी शर्मा से है। चलो उनके दर्शन कर आयें या उनको यहाँ बुलावें।" महाशय जी ने फरमाया, "क्या करोगे पं० पद्मसिंह जी से मिलकर। उनसे मिल कर क्या पाओगे?" यह बात स्वर्गीय शर्मा जी को मालूम हो गई थी, पर उन्होंने उन महाशय के प्रति अपने व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आने दिया।

मेरी किताब प्रेस में जा रही थी। दो लेख कम्पोज करने के लिए दे भी चुका था। मेरे ऊपर उनकी कृपा

थीं । यदि मैं उनको लिखता कि शेष लेखों को भी अभी देख दीजिये तो वे लेक्चर की तैयारी बन्द करके लेखों को देखने लगते, इसलिए मैंने तनिक संकेत ही किया कि अवकाश मिलने पर, लैक्चर के उपरान्त, लेखों को देख दीजिये ।

उत्तर आया---लसकाक कुटी, दारागंज,

इलाहाबाद १६--२--३२

प्रिय पं० श्रीराम जी नमस्ते,

..आप अपनी एक धोती यहाँ भूल गये हैं, रक्खी है। आपकी याद दिलाती रहेगी। ..इस समय लैक्चर का भूत सिर पर सवार है । रात के दो-दो बज जाते हैं । बिखरे ख्यालात सिमटने मुश्किल हो रहे हैं । रात थोड़ी है, सांग बहुत है, साथ ही साथ जुकाम और खांसी का दौरा चल रहा है । बिना नहाये भी नहीं रहा जाता । रोटी बनाने को एक बुढ़िया थी । रोटी तो राम का नाम बनाती थी, पर किसी तरह पेट भर जाता था, कुछ बच जाता था । आज वह भी नहीं आई । खैर यह १५--२० दिन संकट के किसी तरह कट जायेंगे । नव पुस्तक का मसाला आप निःसंकोच भेज दीजिये । मैं ध्यान से देख जाऊंगा । यह तो अपना खास काम है । गैर लोग भी ऐसा काम लेते ही रहते हैं । किसी को भी बिना पुरस्कार लिये एक पंक्ति भी न दीजिये । यह व्यवहार का "परम धर्म" बना लीजिये । इस समय जल्दी में हूं । थोड़ा लिखकर खत्म करता हूं ।

भवदीय---
पद्मसिंह शर्मा

'सम्पादक जी' का एक गुण था साफ गोई । बात साफ कहने में वे कभी नहीं चूकते थे । अपने अति प्रियजनों को भी आड़े हाथों लेते थे । दिखावट और पालिसी की बातों से उन्हें घृणा थी । अज्ञान को वे सह सकते थे, उनका कुछ ख्याल न करते थे, पर ढोंग और दम्भ उनको सहन न था । उनका आत्म-गौरव दम्भ के अन्धकार के लिए ग्रीष्म के सूर्य की प्रखर किरणों के समान था ।

आर्थिक संकट होने पर भी वे अपने आदर्श से कभी विचलित न हुये । धनी मानी लोगों की उन्होंने रुपये की खातिर कभी चिरौरी नहीं की । इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्यिक ढोंगी और दम्भी लोगों के लिए, सरस्वती की रक्षा की खातिर वे बरहना शमशेर थे । उनकी कलम का आक्रमण भी बड़ा उग्र हो जाता था । यह उनका शुद्ध स्वभाव था । मीठी पर अति भयंकर तपेदिक के समान उनकी कलम की मार होती थी । स्पष्ट और सीधे साधे आदमियों के वे सखा थे । प्रयाग में उन्होंने एक समाचार श्री पं० अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी के लिए भेजा । श्री वाजपेयी जी ने उनसे कोई साहित्यिक परामर्श किया था । 'सम्पादक जी' ने मुझसे कहा, "वाजपेयी जी से कह दीजिये कि लैक्चर के बाद उनकी बातों का उत्तर दूंगा और यदि उन्हें बहुत जल्दी हो तो अभी लिख भेजूंगा ।" हां, कहकर मैं कलकत्ता चला आया और जान बूझकर मैंने वाजपेयी जी को समाचार न दिया और दो एक दिन बाद उनसे कहने की ठहराई । खयाल था कि कहीं वाजपेयी जी ने लिख दिया तो लैक्चर का काम छोड़ उनके काम में लग जायेंगे। मैंने न तो वाजपेयी जी से कहा, क्योंकि दो चार दिन की देरी से वाजपेयी जी के काम की कुछ हानि न थी, और न 'सम्पादक जी' को मैंने सूचना दी । पर 'सम्पादक जी', जो पत्र लिखाने और तुरन्त उत्तर देने में अपना सानी नहीं रखते थे, मुझ पर बिगड़ पड़े और लिखा, "श्री श्रद्धेय वाजपेयी जी से पूछकर आपने उस बात की बाबत सूचना नहीं दी। चतुर्वेदी जी की छाया आप पर भी पड़ गई ? वह अक्सर पत्रों को पी जाते हैं । जरूरी बात का भी उत्तर नहीं देते ।" मुझे तो फटकार मिली पर साथ में पं० बनारसीदास जी की भी आलोचना कर डाली ।

हिन्दी साहित्यिकों में दो विभूतियां, दो विशेष टाइप थे---स्वर्गीय गणेश जी और स्वर्गीय पं० पद्म सिंह जी शर्मा । पुराने जमाने के जैसे कुछ प्राणी मिट गये हैं, उसी

प्रकार गणेश जी और स्वर्गीय शर्मा जी के टाइप के व्यक्ति मिट गये, (Extinct) हो गये। उस कोटि के प्रथम श्रेणी की बात तो दूर, द्वितीय श्रेणी के साहित्यिक भी नजर नहीं पड़ते। नवीन लेखकों को बनाना, प्रोत्साहन देना, उनकी डूबती जीवन नौका को मझधार से निकालना, स्वयम् कष्ट झेलते हुए औरों को सहायता देना, अपने व्रत और आदर्श पर डटे रहना, ये गुण कितनों में हैं? उनकी चुटीली शैली और चुस्त भाषा का कारण यह था कि उन्होंने उचित शब्द और मुहावरों की संस्कृति (Culture) में अपनी ज़िन्दगी लगा दी थी। कहीं भी एक अच्छा शब्द मिला, नोट कर लिया, जो कहीं किसी की अच्छी कृति मिली उसे स्मरण शक्ति के सुपुर्द कर उसका प्रयोग किया। उचित शब्द भाषा और भावों के प्रयोग की कला में उन्होंने अपना जीवन लगाया था। उस तपस्या के साथ उनकी विनयशीलता गजब की थी। ११ मार्च को अपने देहावसान से २६ दिन पहले उन्होंने एक लम्बा पत्र प्रयाग से लिखा। उसका एक अवतरण यहाँ दिया जाता है। उससे उनके वास्तविक स्वरूप का पता चलेगा।

"मैं दो तीन दिन बाद यहाँ से चल दूँगा। दो एक दिन कानपुर ठहर कर घर पहुँचूगा। यहाँ अब एक मिनट रहने को भी जी नहीं चाहता थक गया हूँ और ऊब गया हूँ। मसल हैं चमार की अर्श से बेगार उतर आती है। साढ़े तीन सेर का एक पोथा जयपुर से आया पड़ा है। उसे देखना है, समझा था छोटी-छोटी कापी होगी, देख दूँगा। अत्यन्त आग्रह करने पर मानना पड़ा था। अब जो देखता हूँ एक पहाड़ सामने है।

दूसरी बेगार सम्मेलन से मिली है। वह भी उतनी ही बड़ी है। उसे पढ़कर सम्मति देनी है। एक महाशय 'वृन्द सतसई' की टीका लिख बैठे हैं ४००-५०० पेज की। सिर हैं कि इसे देख दो और भूमिका लिख दो। इन अन्तिम महाशय का तो आग्रह है कि उनकी पुस्तक देख कर ही यहाँ से उठूं। एक नहीं कई मुसीबतों में फँसा हूँ।

"मुझको तबाह चश्म मुरव्वत ने कर दिया।
मिल जाय तो चुराऊँ किसी की नजर को मैं।"

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी शर्मा सच्चे साहित्य सेवी थे। साहित्य सेवा, साहित्य सेवियों की सेवा, परलोक वासी साहित्य सेवियों की कीर्ति-रक्षा और साहित्य की वेदी पर वे सब कुछ निछावर करने को तैयार रहते थे। राजा भोज के युग की झलक उनकी प्रतिभा और उनके स्वभाव से प्रकट होती थी। अन्तिम साँस तक वे उसी सेवा-व्रत में रहे। अपने कष्टों को भूलना और दूसरों के कष्ट को दूर करना यह स्वभाव उनमें तब तक रहा जब तक खून में गर्मी रही।

गत ७ अप्रैल को उनका स्वर्गवास हुआ। बेहोशी के दौरे पहले से ही आने लगे थे, पर मानवीय जामा को फैंकने से तीन दिन पूर्व बीमारी की अति भयंकरता में वे अपने प्रेमियों और साहित्य सेवा को न भूले। उस गोलन्दाज की भाँति डटे रहे जो यह जानता है कि जीवन तो रहता नहीं, कर्त्तव्य पथ से क्यों डिगें। 'टाइटानिक' जहाज जब डूबा तब सिगनलर अपने स्थान पर डटा जहाज के डूबने की खबर भेजता रहा। उसको बचाने के लिए लोगों ने चेष्टा की और स्थान छोड़ने के लिए उससे कहा गया, पर वह बोला, "चुप रहो। मुझे अवकाश नहीं।" उसके गले तक पानी आया। अन्तिम समाचार भेजा और महासागरों में लीन हो गया। टाइटानिक' के उस सिगनलर का नाम अमर हो गया। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी शर्मा की भी कुछ ऐसी ही बात थी। उनका अन्तिम पत्र ४ अप्रैल का था।

नायक नगला
ता० ४-४-१९३२

प्रिय पं० श्रीराम जी नमस्ते।

इलाहाबाद छोड़ते वक्त आपको एक पत्र लिखा था। कुछ आवश्यक लेख लौटा दिये थे। उसके बाद आपने कोई पत्र नहीं लिखा। उन परिशिष्ट लेखों के सामने आते अक्सर आद आ जाती है। घर पहुँचकर मैं २६-३-३२ को प्लेग की बीमारी से बीमार हो गया। अभी आराम नहीं हुआ। हमारे ज़रा से गाँव में प्लेग ने बड़ा नृशंस

नाच खेला है। चतुर्वेदी जी से प्रणाम कहिये। रामनाथ का प्रणाम स्वीकार कीजिये।

भवदीय
पद्म सिंह शर्मा

यह अन्तिम कार्ड पं० रामनाथ जी का लिखा हुआ है पर हस्ताक्षर शायद सम्पादक जी के ही हैं। कार्ड पा कर मैं घबड़ा गया और मैंने रामनाथ जी को तार से स्वास्थ समाचार भेजने को लिखा और तार न आने पर मैं नायक नगला जाने को तैयार हुआ। तारों की प्रतीक्षा थी। तार आया पर चतुर्वेदी जी के नाम। जाने की जरूरत ही न रही। सम्पादक जी चल बसे। मैं हाथ मलता ही रह गया। मातम छा गया। अभी गणेश जी का घाव पुरा नहीं था कि दूसरी चोट हो गई।

मरने के लिए तो सभी को मरना है, यह भी ठीक है कि मुझ जैसों की मौत पर कुछ पत्र-पत्रिकाओं में शोक सूचक सम्पादकीय नोट के अतिरिक्त और कुछ न निकलेगा और स्वर्गीय पं० पद्म सिंह जी शर्मा उस समय भी जियेंगे जब हम लोग भूल जायेंगे—और हम को तो भूल ही जाना चाहिए। ऐसी दशा में जिनकी साहित्य में अमर कीर्ति हो उसके लिए रोना कैसा? ठीक है, पर एक क़लक़ आता है और वह यह कि स्वर्गीय शर्मा जी में अभी जवानों से अधिक दम था। उनकी शैली में तरुणावस्था पूर्ण रूप से थी और अभी वे शरीर और मन से जवान थे और उनके निधन से अनेक साहित्यरत्न ग्रन्थ रह गये। रही निजी बात, उसके लिए क्या कहा जाय। श्रद्धेय गणेश जी और श्रद्धेय शर्मा जी के लिए सबसे अच्छा रोने का ढंग यह है कि इनके श्राद्ध स्वरूप इनकी जीवनियों और उनके लेखों को प्रकाशित कराया जाय। कुछ स्मारक बनाये जायें।

मैं तो जब प्रयाग की बातों और योजनाओं का ख्याल करता हूँ तो हृदय को एक चोट लगती है। घाव दुख जाता है, दुःख-नासूर में अधिक पीड़ा होने लगती है। एक प्रकार से वे मुझे अपना कनिष्ठ साहित्यिक पुत्र समझते थे। मैंने भी सोचा था कि किसी प्रकार उनसे कुछ सीखा जाय और प्रयाग में मैंने उनसे कहा, अबकी एक लम्बी और तीन चार मास की यात्रा की जाय। हिमालय की ओर चला जाय और अपनी यात्रा की संयुक्त रिपोर्ट निकाली जाय।" सुनकर बहुत खुश हुए और "बहुत ठीक है। जल्दी ही चलना चाहिए, नहीं तो जाने फिर क्या हो।" यात्रा की अभी तैयारी होगी। पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी और श्रीयुत प्रेमचन्द जी ने अपना-अपना नाम मेरी यात्रा सूची में लिख भी दिया था। पर हमारे चलने से पूर्व 'सम्पादक जी' महायात्रा के लिये चल पड़े। अब हमारी यात्रा-माला के मुँगिये योंही पड़े हैं। उस माला का सुमेरु ही खो गया। साहित्याकाश के एक अत्यन्त दैदीप्यमान नक्षत्र का निर्वाण हो गया।

मैंने सोचा था कि 'सम्पादक जी' से विहारी, गालिब और नसीम को मार्मिक दृष्टि से पढ़ूं। मैंने पूछा कि गालिब के दीवान का अच्छा संस्करण कौन सा है? बोले, "दस संस्करण हैं। मेरे पास सब हैं। एक को भी सर्वोत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता।" जिसने विहारी के तीस भिन्न-भिन्न संस्करणों का सत निकाला हो और अन्य गद्य और पद्य लेखकों का गहन अध्ययन किया हो उससे कुछ सीख लिया जाय और यह सब कुछ साथ रहने से ही हो सकता था। यात्रा की योजना बन गई। खयाल था कुछ साहित्यिक काम होगा। कैलाश तक की यात्रा होगी। अपने दिन कुछ सीधे मालूम हुए थे। कुछ आशा बँधी थी, पर।

"खूब उम्मीदें बँधी लेकिन हुई हिरमां नसीब।
बदलियां उट्ठीं मगर बिजली गिराने के लिए॥"

५-७-१९३८ के
'सैनिक' के पद्मसिंह शर्मा विशेषांक से साभार

सहृदय पं० पद्मसिंह शर्मा

--श्रीयुत काशीनाथ जी

सन् १६१६ ई० में जब लखनऊ में कांग्रेस का महत्व-पूर्ण अधिवेशन हुआ था, उन्हीं दिनों श्रद्धेय शर्माजी आर्य समाज के समारोह में इष्ट मित्रों सहित पधारे थे। उस अवसर पर मुझे सर्वप्रथम शर्माजी के स्नेहपूर्ण आशीर्वाद का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय मैं अबोध था, कलम पकड़ने का अभ्यास कर रहा था। इतना ही जान सका कि "सतसई-संहार" के सिद्ध हस्त लेखक आप ही हैं। उन्हीं दिनों 'ज्ञान-मंडल' काशी से यह पुस्तक शायद प्रकाशित होने वाली थी।

समालोचना की तीव्र भाषा पढ़ कर शर्माजी के तेज मिजाज होने का अनुमान मैंने किया था पर उसके विपरीत आप की सौम्य मूर्ति अवलोकन कर हृदय को बड़ा हर्ष हुआ।

सन्ध्या समय हम कई एक मित्र, जिन में प्रयाग डी० ए० वी० स्कूल के संस्कृत अध्यापक पं० वैशम्पायन शर्मा जी थे, कांग्रेस पण्डाल के सामने पुस्तकों की दुकान पर बैठे थे। उस समय कनखल के वैद्यवर पं० रामचन्द्रजी के साथ पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा पधारे। उसी समय बात-चीत में पं० वैशम्पायन जी ने पूज्य पं० बालकृष्ण भट्ट का उल्लेख कर, मेरा परिचय प्रदान किया। यह जान कर आप पुलकित हो उठे और उसी क्षण आपने मुझे छाती से लगा कर आशीर्वाद दिया। उसके पश्चात हमलोग उनके डेरे पर गणेशगंज गए। जबतक लखनऊ में रहे, बराबर साथ रहा। उस थोड़े समय में घनिष्ठता बढ़ गई थी। यह जान कर आप प्रसन्न थे कि मेरी अभिरुचि साहित्य की ओर है।

कुछ दिनों बाद गत १६१८ ई० में मैं बम्बई चला गया और यहाँ मसिजीवी की हैसियत से कितने ही दिन गुजर गये। अनेक वर्षों के बाद प्रयाग आया। इस बार प्रयाग में पहले की अपेक्षा मैंने बड़ी चहल-पहल पाई। साहित्य-सेवियों में साहित्य विनोद का वायुमंडल भी पाया। इन्ही दिनों कालाकांकर नरेश श्री अवधेशसिंह जी के यहाँ एक कवि-सम्मेलन की योजना की गई थी। इस अवसर पर बाहर के कितने ही कवि-कोविद पधारे थे। रसिक मंडल को भी आमन्त्रण मिला था। मित्रवर कंज के अनुरोध करने पर, कवि न होने पर भी, पाँच सवारों में मैं भी दाखिल होगया, और दलबल के साथ कालाँकाकर आया। इस समय रात का समय था। रमणीय गंगातट के राजभवन में कितने ही कवि कोविद डेरा जमा कर पड़े थे। कितने ही गङ्गा तट पर बन्दीगृह से मुक्त कैदियों की तरह विचर रहे थे। यहाँ आकर ज्ञात हुआ कि पंडित पद्मसिंहजी शर्मा की अध्यक्षता में आज रात को कवि सम्मेलन होगा। यह जानकर बड़ी खुशी हुई। कितने ही दिनों बाद अनायास यह दुर्लभ अवसर हाथ आया।

नियत समय पर सभा-भवन में कवि कोविद पधारे। एक छोटे-से मंच पर शर्माजी का आसन था, उनके निकट कालाकाँकर नरेश श्री अवधेशसिंह जी की सौम्य मूर्ति नजर आई और आसपास कितने ही गण्यमान्य कवि कोविद और राज्य के नागरिक उपस्थित थे।

समारोह आरम्भ होने के पहले शर्माजी ने कवि और कविता की सुन्दर विवेचना की। उसके पश्चात् कविगण एक एक कर आगे बढ़े जिनमें खड़ी बोली और ब्रजभाषा

के और छायावादी कवि भी थे। इन सुप्रसिद्ध कवियों के बीच एक दीन आदमी आगे आया। वह राजभवन का चाकर था, किन्तु था काव्य रसिक। उसकी मुखाकृति पर संकोच और भय के चिन्ह थे। उपस्थित जनता व्यंग और कौतुक से उसकी ओर देख रही थी। उस समय सहृदय शर्माजी ने उसे बड़े प्रेम से कविता पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया।

उसने आँख की उपमा के कई छन्द पढ़े, जिसकी समस्या का अन्तिम चरण "आँख" था। उसकी सुन्दर कविता का रंग सभा-भवन में छा गया। सहृदय शर्माजी का यथार्थ परिचय मुझे इसी अवसर पर मिला। एक-एक कर उसने आँखों पर लगभग दस छन्द सुनाए। शर्मा जी ने पुनः पुनः प्रोत्साहित कर उसकी सराहना की। शर्माजी की इस सहृदयता की अमिट स्मृति आँखों के आगे नाचती है।

इसके पश्चात् दूसरे कवि आगे वढ़े, किन्तु मैं उस राज भृत्य की कविताओं से तृप्त होगया था। मुझे प्रतीत हुआ कि आज का यहाँ आना सफल है। सभा भवन से उठ कर अपने कमरे में आकर विश्राम करने लगा। उन कविताओं की मादकता अभी तक जमी थी। कुछ प्यास जान पड़ी, एक नौकर को निकट पाकर मैंने पानी माँगा। जब वह पानी लेकर आया मैंने पहचाना, यह वही सौभाग्यशाली कवि है। मैंने मुक्तकंठ से उसकी सराहना की। उसने विनयपूर्वक कहा—"यह आप ही लोगों की संगति का फल है।" मैंने मन ही मन राजा साहब के सौभाग्य की सराहना की जिनके सेवक ऐसे कवि हैं।

कुछ दिनों बाद प्रयाग के विद्या मन्दिर हाई स्कूल में एक कवि सम्मेलन हुआ था, जिसके संयोजक बाबू बलभद्र प्रसादजी "रसिक" थे। इस सम्मेलन के सभापति शर्माजी थे। प्रयाग के कितने ही कवि उपस्थित थे। कुछ कवि बाहर से पधारे थे। उनमें से कानपुर के "करुणेश" नामी एक तरुण भी थ। उनकी कविता जितनी सुन्दर थी, उतना ही उनका कंठ रसमय तथा मधुर था। जिस समय वह कविता पढ़ने लगे, लोग चकित और मुग्ध हो गये। शर्माजी उनकी कविता पर फिदा थे। उन्हें कविता पाठ का काफी अवसर प्रदान किया, जिससे कितने ही स्थानीय कवियों को अपनी रचना पढ़ने का मौका ही न मिल सका। इतना ही नहीं उन्होंने 'करुणेश' की मुक्त कंठ से सराहना की और जब उन्हें ज्ञात हुआ कि यह एक श्रम जीवी कवि है, तो वह फूले न समाये और कहा, "आज के सम्मेलन का सर्वश्रेष्ठ होनहार कवि यही है।"

उस सहृदय महापुरुष के प्रति श्रद्धांजलि के योग्य शब्द भी मेरे पास नहीं है। एक निर्धन के धन की तरह कुछ स्मृतियाँ मेरे निकट है, जिन्हें टूटे-फूटे शब्दों में यहाँ लिपिवद्ध कर दिया है।

◇◇◇◇

शर्मा जी का त्याग देखिए, भारतादेय के सम्पादन काल में, मासिक २५) लेते थे और वर्षों तक इस जेब खर्च पर रहे। पीछे से उनका वढ़ता हुआ जेव खर्च देख कर ५०) किये गये। एक बार काशी नागरी प्रचारिणी सभा से श्री श्याम सुन्दर दास जी का पत्र आया था कि कोष का काम है, शर्मा जी, को भेजिये—सौ रुपये तक देने को तैयार थे। शर्मा जी ने वह पत्र मुझको दे दिया और कहा—"जैसा उचित समझो, उत्तर दे दो।" मैंने उसी समय श्री श्याम सुन्दर दास जी को लिखा—"भला, ऐसे विद्वान को कोई संस्था कैसे छोड़ सकती है।"

—श्री नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ

पितृ वियोग

श्री पं० रामनाथ शर्मा सुपुत्र पं० पद्मसिंह शर्मा

तुम्हारे नाम से लोग मुझको जान लेते हैं ।
मैं एक खोई हुई वह चीज हूँ, जिसका पता तुम हो ।।

चैत्र मास के दिन थे, हरिद्वार में कुम्भ पड़ रहा था। पूज्य पितृ देव का विचार उधर जाने के लिये कई रोज तक होता रहा। कल को कल पर टालते रहे आखिर ज्यों-त्यों करके एक दिन विचार कार्य रूप में आ ही गया। जाने की तारीख भी निश्चित हो गई। मेरे लिये आज्ञा हुई कि तुम भी चलो। उन दिनों खेती अधपकी खड़ी थी। मैंने कहा मेरा जाना इस वक्त ठीक न होगा। पर मेरा उज्र एक न सुना गया। हम शिवहारा लाइन से चल दिये और शाम के चार बजे गाड़ी ज्वालापुर स्टेशन पर पहुँच गयी। उन दिनों महाविद्यालय ज्वालापुर, गुरुकुल काँगड़ी और ऋषिकुल के उत्सव मनाये जा रहे थे। वैसे तो यह जलसे हमेशा फाल्गुन में होते हैं मगर कुम्भ की वजह से उन लोगों ने अपना कार्यक्रम बदल दिया था।

अपने आने की सूचना पूज्य पितृदेव पत्र द्वारा दे चुके थे। स्टेशन पर श्री माननीय भाई पं० काशीनाथ जी शर्मा और पं० सत्यव्रत जी शास्त्री और कुछ वालन्टियर पहिले ही से मौजूद थे। थोड़ा-थोड़ा सामान सब ने तक़सीम कर लिया। बातचीत करते विद्यालय में आ गये। उन दिनों भरतपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बैठकें हो रही थीं। निमन्त्रण पूज्य पितृदेव को भी मिला था पर दूर के सफर ने हिम्मत तोड़ दी। गर्मी का मौसम आ गया था इसलिये इरादा कैन्सिल कर देना पड़ा। तीन चार रोज़ बाद अचानक सुबह के आठ बजे श्रद्धेय श्री पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ का तार पूज्य पितृदेव को मिला। तार का मजमून यह था "साहित्याचार्य पं० सतीशचन्द्र जी राय एम० ए० (बंगाल) और मैं कल सुबह की गाड़ी से आरहे हैं, विद्यालय में मिलो।" स्वर्गीय पं० सतीशचन्द्र जी राय एम० ए० बंगला साहित्य के एक ओजस्वी विद्वान और हिन्दी साहित्य के अद्वितीय लेखक थे। सारा जीवन साहित्य-मन्दिर के पुजारी रहते हुए सरस्वती देवी की उपासना में ही खपा दिया था। सहृदयता के तो मूर्तिमान अवतार ही थे। उनमें वह आकर्षण शक्ति मौजूद थी कि मनुष्य बरबस उनकी तरफ़ खिंच जाता था। घण्टों बातें किये जाइये तबियत न भरती थी। पुरानी सभ्यता के पक्के वकील थे। अहम्मन्यता के ठेकेदारों से सख्त नफ़रत थी।

तार मिलते ही पूज्य पितृदेव बड़ी उतावली से इन्तज़ार करने लगे। दूसरे दिन सुबह की गाड़ी से पं० सतीशचन्द्र जी राय एम० ए० पधारे। पूज्य पितृदेव और वह दोनों बग़लगीर होकर मिले। चायपान करने के बाद नये और पुराने कवियों की आलोचना प्रत्यालोचना होने लगी। बहुत से विद्वज्जनों ने इस बैठक में भाग लिया। उन दिनों उधर की तरफ महामना पं० मदनमोहन जी मालवीय भी आये हुये थे। विद्यालय के अधिकारी वर्ग को उत्सव में श्री मालवीय जी महाराज के लाने की सूझी। मालवीय जी महाराज एक बहुधन्धी आदमी हैं। उनका एक-एक मिनट और सेकिण्ड काम के लिये होता है। अब लाये तो कौन? सब ने यह तै किया कि पं० जी यानी पूज्य पितृदेव जायें। पूज्य पिता जी ने इन्कार भी किया कि भाई उनका टाइम बहुमूल्य है वह शायद ही आ सकें, अगर बुलाना ही है तो किसी लीडर महाशय से अनुनय विनय कीजिये। मगर सब ने एक स्वर से कहा कि इस काम के लिये आप से उपयुक्त और कोई नहीं जँचता। उनका बढ़ा हुआ

आग्रह देखकर पूज्य पितृदेव को स्वीकार करना ही पड़ा। सुबह के वक्त पूज्य पिता जीने जाने का प्रोग्राम बनाया। अब मिलें तो कहाँ। वैसे तो श्री मालवीय महाराज का हेडक्वार्टर हरिद्वार में ही था। मगर सभा सोसाइटी वाले उनके पास हर वक्त धरना दिये बैठे ही रहते थे। खैर आखिरकार पूज्य पितृदेव ने भी पूछते-गछते पता पा ही लिया। जिस काम के लिये गये थे सारी स्थिति सामने रक्खी। उन दिनों श्री मालवीय जी महाराज हर की पौड़ियों के उस पार एक महायज्ञ का आयोजन करा रहे थे। साथ-साथ उन्हें हिन्दू महासभा और इधर-उधर के झंझटों से दम लेने तक की फ़ुर्सत न थी। पर विद्यालय को दूसरे दिन सुबह के लिये एक घण्टे की मंजूरी दे दी। अपने वादे पर आठ बजते-बजते प्रातःकाल मोटर द्वारा पधार कर अपने पद-पंकजों से विद्यालय की ऋषि-भूमि को अलंकृत किया। शुरू में ब्रह्मचारियों ने सुमधुर वाणी में वेदमन्त्रों से स्वागत किया फिर पूज्य पितृदेव ने महामना मालवीय जी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुये बतलाया कि आपने सारा जीवन अभागी हिन्दूजाति के लिये लगा दिया है और श्री काशीजी में हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव रखकर सब भाषाओं की जननी संस्कृत को जीवन दान देना आप ही का काम था। सत्याग्रह आन्दोलन की तरफ़ को झुकाव हुआ तो इसमें भी आप किसी से पीछे न रहे! ईश्वर से प्रार्थना है कि हिन्दू समाज और हिन्दी भाषा के इन सच्चे उपासक को चिरायु करे। और भी बहुत सी उनके जीवन सम्बन्धी घटनायें बतलाईं। इसके बाद श्री माननीय भाई पं० हरिदत्त जी शर्मा, पंचतीर्थ ने विद्यालय की तरफ़ से मान-पत्र दिया। पत्र की भाषा संस्कृत बड़ी ही लच्छेदार थी, जिसे सुन कर तमाम विद्वन्मण्डली और मालवीय जी भी गद्गद् हो गये। श्री मालवीय जी महाराज ने पूज्य पितृदेव के व्याख्यान तथा मान-पत्र का उत्तर देते हुये, पुरानी संस्कृति और हिन्दू जाति के उत्थान व पतन पर प्रकाश डालते हुये बतलाया कि हिन्दू के हर एक बच्चे को संस्कृत का अध्ययन तथा मनन आवश्यक है, जिससे अपने पूर्वजों का हाल उसे मालूम हो सके। हिन्दू संगठन की तो बड़ी सख्त ज़रूरत है। विद्यालय की भूमि को देखकर आपने कहा कि हरिद्वार की तरफ़ जितने स्थान मैंने देखे हैं, यह उन सब में रमणीक है। अगर यह विश्वविद्यालय की शाखा बन जाये, तो क्या ही अच्छा हो। पर वहाँ के अधिकारी महाशयों ने इधर की तरफ़ ध्यान देने की कृपा न की।

उस समय की घटनाएँ याद आते ही मेरी जो हालत हो रही है उसका चित्र शब्दों में खींचना मेरी शक्ति से बाहर है। मेरा बालपन उक्त महाविद्यालय के अनेक महापुरुषों के चरणों में ही व्यतीत हुआ था। जहाँ पूज्य पितृदेव रहते थे, वह स्थान विद्यालय के मुखद्वार से बिलकुल सटा हुआ, एक सुन्दर बंगला था। इसके सामने ही यज्ञशाला बनी हुई थी, जो अब भी है। २१ अगस्त सन् ३२ को मैं उस जगह बैठकर आँसुओं से श्रद्धांजलि दे आया हूँ। उस बँगले को मिस्मार कराके श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज के भाई श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने अपनी कुटिया की स्थापना कर डाली है। जिस जगह कभी विद्वत्समाज चायपान के साथ साथ साहित्य-रस पान किया करता था, वहाँ आज वीतराग संन्यासियों की गैरिक रागरंग की पीत-पताका फहरा रही है। भगवन्! जिन हाथों से कभी पूज्य पितृदेव की सेवा सुश्रुषा किया करता था, उनसे आज पद्याञ्जों के लिये सामग्री निकाल-निकाल कर दे रहा हूँ। प्लेगराज तुम भी बड़े निर्दयी हो। उनके साथ-साथ मुझे भी इस संसाररूपी बीहड़ बन से मुक्त क्यों न कर दिया। पितृदेव ने मृत्युशय्या पर भी अपनी तकलीफ को महसूस न कर दूसरों के लिये अपने प्राण न्यौछावर कर दिये।

कलकत्ते से पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी, पं० अम्बिका प्रसाद जी बाजपेयी, पं० गांगेय नरोत्तम जी शास्त्री, पं० श्रीराम शर्मा, पं० हरिशंकर जी शर्मा हरदुआगंज से आ रहे हैं। उन्हें अन्तिम समय की घटनाएँ सुनाने के लिये किसका दिल लाऊँगा। पितृ देव आशीर्वाद दीजिए, आपके उपदेश से सब विघ्न-बाधाओं पर विजय पाऊँ।

आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा और उनका बहुमुखी व्यक्तित्व

—डा० श्याम शर्मा "वाशिष्ठ"

आचार्य श्री पद्म सिंह जी शर्मा का व्यक्तित्व संकीर्ण न था। जितनी व्यापक, गम्भीर, अन्तःस्पर्शी, उनकी दृष्टि थी, उतना ही विशाल एवं बहुमुखी उनका व्यक्तित्व था। आचार्य श्री शर्मा जी के बहुविध प्रदेय एवं कृतित्व से उनके अग्रांकित रूप दृष्टिगत होते हैं:—

१–सम्पादकाचार्य—श्री शर्मा जी अपने समय के प्रतिष्ठित एवं सफल पत्रकार तथा सम्पादक थे। उन्होंने अपने जीवन काल में "भारतोदय", "समालोचक" तथा "साहित्य" जैसे पत्रों का वर्षों तक सम्पादन किया।[१] तत्कालीन विशिष्ट विद्वान् उन पत्रों में लेखक रहे। श्री शर्मा जी बहुत ही निर्भीक एवं निष्पक्ष पत्रकार थे। सामयिक घटनाओं एवं विचार धाराओं पर उनके सम्पादकीय विशेष महत्वपूर्ण माने जाते थे। उन्होंने समर्पित सम्पादकों की भाँति निस्वार्थ भाव से सम्पादक के आदर्श को बनाए रखा। सम्पादक के रूप में इतने लोकप्रिय थे कि सम्पादक शब्द उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गया था और वे 'सम्पादक जी' के नाम से ही सम्बोधित होते थे।

२–निबन्धकार—श्री शर्मा जी द्विवेदी युग के प्रमुख निबन्धकार थे, उन्होंने समय-समय पर साहित्य और समाज से सम्बद्ध अनेक उत्कृष्ट निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में लिखे, जिनमें से कुछ का संकलन "पद्म पराग" (प्रथम भाग)[२] में हुआ है। श्री शर्मा जी के निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनमें कहीं सद्भाव निर्माण की चेष्टा है तो कहीं श्री कृष्ण जैसे चरित्रों के माध्यम से तत्कालीन नेताओं पर व्यंग है। कहीं-कहीं श्री शर्मा जी की आलोचना व्यक्तिगत आक्षेप के रूप में परिणत हो गई है। उदाहरणार्थ परोपकारी (फाल्गुन १९६४) में बी० एन० शर्मा की "शिक्षा मञ्जरी" की आलोचना तथा "आर्य-मित्र"[३] में आर्य शब्द की उत्पत्ति को लेकर द्विवेदी जी की आलोचना बहुत ही तेज़ एवं प्रहारात्मक हुई, जिसमें द्विवेदी जी जैसे युग प्रवर्तक को भी विनत होना पड़ा।[४]

उनके निबन्धों की भाषा उर्दू मिश्रित, चलती हुई, बोलचाल की सजीव भाषा है। उसमें कहीं व्यंग है तो कहीं परिहास और कहीं व्याख्यानात्मकता। छायावाद के उन्मेष के समय हिन्दी कविता में हो रहे परिवर्तनों को लक्ष्य करके शर्मा जी ने लिखा था—"हमारे हिन्दी के कवियों की मतिगति बिल्कुल निराली है। वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिये बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़े में पीछे की ओर मरियल टट्टू जोत कर गन्तव्य पथ पर पहुँचना चाहते हैं।"[५]

श्री शर्मा जी काव्य में ब्रज भाषा के पक्षधर थे। अतः खड़ी बोली की खुरदराहट से उन्हें खीझ थी। उसी प्रकार छन्द शास्त्र की छीछालेदर से भी। अतएव उन्होंने लिखा है:—

"आजकल छन्द शास्त्र की पूरी छीछालेदर हो रही है। किसी को 'मुथरा शाही' छन्द पसन्द है तो वह उसी काँटे में सब रसों को बैठा तोल रहा है, किसी को 'शार्दूल-विक्रीडित' की चाल भा गई तो वह उसी से सब विषयों

१–दृष्टव्य; हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० २९९, । २–पृ० सं० १९२९, । ३–देखो-आर्य मित्र, ४ सित० १ अक्टू० १९०८; । ४–दृष्टव्य: सरस्वती, नवम्बर १९०४; । ५–पद्म पराग, भाग १, पृ० ३४१-५४।

का शिकार खेलता फिरता है। हिन्दी के पूरे पाँच छन्दों पर तो अधिकार नहीं और संस्कृत के अनुष्टुप और आर्या छन्दों के अकबरी गज से हिन्दी कविता की गर्दन नापी जा रही है। कोई फारसी बहरों की लहरों में पड़ा बह रहा है, कहीं बँगला से 'पयाल' और मराठी से 'अभंग' माँगा जा रहा है। मानो हिन्दी छन्दों का दिवाला निकल गया हो।"[१]

इसी प्रकार ब्रज भाषा को श्रृंगार की भाषा बतलाने वालों को प्रत्युत्तर देते हुये लिखा है—"श्रृंगार रस की कविता (इश्किया गजलों) के लिये फारसी बेतरह बदनाम है, पर उसी में महाकवि 'फिरदौसी' का 'शाहनामा' भी है, जो रस का उमड़ता दरिया है।...यूरोपियन भाषाओं में फ्रेंच भाषा सबसे अधिक मधुर कही जाती है, उसमें भी वीर रस के वाक्यों की कमी नहीं है।....संस्कृत भाषा का इतिहास श्रृंगार रस से भरा पड़ा है।....मधुरिमा भी इसकी अतुलनीय है। पर रामायण और महाभारत के जोड़ के वीर रस के काव्य किस कड़वी और कठोर भाषा में हैं।[२]

स्पष्ट है कि श्री शर्मा जी कोरे बहुज्ञ न थे, अपितु वाक्कीलन कला में निपुण तथा अपने व्यक्तित्व एवं मन्तव्य के साथ छा जाने की क्षमता रखते थे। उनके निबन्धों में व्यंग-विन्यास अद्भुत है। वस्तुतः द्विवेदी युग में वक्तृतात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैली का श्री गणेश ही पं० पद्म सिंह जी शर्मा ने किया था। श्री शर्मा जी ने संस्कृत में भी अनेक निबन्ध लिखे हैं।

३–पत्र लेखक—श्री शर्मा जी का पत्र साहित्य भी बहुत महत्वपूर्ण है। वे उच्च कोटि के पत्र लेखक थे। श्री शर्मा जी के परम स्नेह-भाजन एवं शिष्य स्व० डा० हरि शंकर जी शर्मा के शब्दों में उनकी सी पत्र-लेखन कला का आनन्द या रस कहीं भी नहीं मिला। वे अपने पत्रों में वह जीवन या सरसता का स्रोत प्रवाहित करते थे कि पंक्तियाँ बोलने लगती थीं।" श्री शर्मा जी के सम्पूर्ण पत्र-साहित्य के प्रकाशित होने पर न केवल पत्र-साहित्य के पुरातन आयाम उद्घाटित होंगे, अपितु अनेक अज्ञात साहित्यिक सन्दर्भों पर से पर्दा उठ जायगा।

४–व्याख्याता—श्री शर्मा जी अपने समय के विद्वान व्याख्याता थे। अपने व्याख्यानों में वे अपना अपार ज्ञान एवं अपरिचित सामग्री उड़ेल डालते थे। किन्तु अपने तीखेपन, परिहास-प्रियता तथा प्रभावशाली वक्तृत्व कला के अभाव के कारण श्री शर्मा जी इस रूप में विशेष लोक-प्रियता अर्जित न कर सके। वाक्पटुता की अपेक्षा उनमें बहुज्ञता अधिक थी। संयुक्त प्रान्तीय षष्ठ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मुरादाबाद के अवसर पर तथा मुजफ्फरपुर में आयोजित अखिल भारत वर्षीय हिंदी साहित्य सम्मेलन पर श्री शर्मा जी सभापति मनोनीत हुए और दोनों अवसरों पर उनके भाषण बड़े विद्वत्तापूर्ण तथा गरिमामय थे। इसी प्रकार 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' प्रयाग में अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व जो भाषण उन्होंने दिया था, उसकी एकेडमी के सभापति जस्टिस सुलेमान ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

५–अध्यापक :—पंडित जी कुशल एवं सिद्धहस्त अध्यापक थे। ज्वालापुर महाविद्यालय में अनेक वर्षों तक आपने अध्यापन किया। अतएव आपकी समालोचना शैली अध्यापकीय सी हो गई। पण्डित जी की शिष्य-मण्डली बहुत व्यापक थी। बड़े-बड़े विद्वान भी उनकी शिक्षण शैली एवं पाण्डित्य से प्रभावित एवं विमुग्ध हो जाते थे। इसी कारण महामना मालवीय जी ने भी उनसे हिन्दू विश्वविद्यालय में उपाध्याय होने का आग्रह किया था।

६–कविहृदय :—श्री शर्मा जी कविहृदय आचार्य थे। प्रारम्भ में तो उन्होंने हिन्दी कविता भी लिखी, किन्तु इसमें उन्हें विशेष सफलता न मिली। फिर भी उनकी समालोचना में प्रसंगवश इतनी भावप्रवणता है कि वह गद्यकाव्य सी प्रतीत होती है।

१–पद्म पराग, भाग १, पृ० सं० ३२३-२४। २–वही पृ० ३५३-५४।

७. **भाषा वैज्ञानिक**— श्री शर्मा जी बहुभाषाविद् एवं भाषावैज्ञानिक थे । 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' प्रयाग में "हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी" पर दिया हुआ उनका भाषण तथा सरस्वती में लिखे लेख इस तथ्य के प्रमाण हैं । वे प्राकृत, संस्कृत के ही नहीं अपितु, उर्दू एवं फारसी के भी विशेषज्ञ थे। किन्तु सामान्य कृतित्व के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं यह रूप सुप्रतिष्ठित न हो सका ।

८. **समालोचक-आचार्य**—श्री पद्मसिंह जी शर्मा अपने समय के गम्भीर अध्येता, चिन्तक एवं पण्डित थे । उनका अध्ययन क्षेत्र बहुत व्यापक था । इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विशेषताओं से भी उनका आलोचक रूप पुष्ट हुआ है तथा उनके आलोचक रूप में उक्त सभी विशेषतायें यथाप्रसंग अभिव्यक्त हो गई हैं । श्री शर्मा जी द्विवेदी युग के प्रमुख समालोचकों में अन्यतम थे । समालोचना के क्षेत्र में उन्होंने इतना विशिष्ट एवं असाधारण कार्य किया कि उनके प्रभावशाली-आलोचक-रूप के सन्मुख उनके व्यक्तित्व के अन्यान्य रूप धूमिल पड़ गये । समालोचना के क्षेत्र में उनके महत्वपूर्ण प्रदेय का विशिष्ट महत्व है ।

(अ) **तुलनात्मक समालोचना के प्रवर्तक**—पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने द्विवेदीयुग में सर्वप्रथम तुलनात्मक समालोचना की दृष्टि से 'सरस्वती' में कुछ निबन्ध लिखे, जिनसे विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। मुख्यतः "बिहारी और फारसी कवि शेख सादी की समालोचना"[१] भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य[२], संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव[३], तथा "भिन्न भाषाओं के कवित्व का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव"[४] आदि निबन्धों के द्वारा पण्डित जी ने समालोचना के क्षेत्र में तुलनात्मक आधार पर नवीन दिशा-निर्देश किया । इससे न केवल उनकी बहुज्ञता एवं पांडित्य ही प्रकट हुआ, अपितु उनकी तुलनात्मक समीक्षण दृष्टि प्रतिष्ठित हुई तथा समालोचना को नया आयाम मिला ।

(ब) **स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के प्रथम सूत्रधार**—समालोचक के रूप में शास्त्रीय आधार ग्रहण करके भी पण्डित जी ने नियमबद्ध रूढ़िग्रस्त संकुचित मार्ग को छोड़ कर स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति का सर्वप्रथम परिचय दिया । अपनी समालोचना द्वारा श्री शर्मा जी ने प्रतिपादित किया कि महाकवित्व के लिए महाकाव्य की रचना आवश्यक नहीं है, मुक्तक काव्य भी इसके लिए पर्याप्त है । इस प्रकार कृति के भव्यतम एवं आकर्षक पक्ष की उपादेयता प्रतिपादित कर शर्मा जी ने स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की आधार-शिला रखी ।

(स) **प्रभाववादी समालोचक**—पं० पद्मसिंह जी शर्मा जितने बड़े विद्वान् थे, उतने ही अधिक सहृदय एवं भावुक भी थे । यही कारण है कि वे बिहारी के काव्य की भावमयता से अभिभूत थे, और उन्होंने समालोचना के क्षेत्र में अपने मन पर पड़े प्रभाव का ही भावमय विवेचन या वर्णन समालोचना के रूप में किया ।

यह पद्धति बाद में समालोचना के क्षेत्र में एकांगी तथा अतिरिक्त पक्षपात की अभिव्यंजक मानी गई, क्योंकि इसमें प्रायः तटस्थता तथा शैली की गम्भीरता लुप्त हो जाती है ।

(द) **सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति के दिशा निर्देशक**—श्री शर्मा जी की समालोचना का मुख्यपक्ष काव्य-सौन्दर्य का उद्घाटन था । अतः काव्य के रूप-सौन्दर्य, उक्तिवैचित्र्य, शब्द-अर्थ के स्वारस्य, अभिव्यंजनात्मकता, अलंकार-प्रयोग तथा सौन्दर्य-बोध पर ही उनका सर्वाधिक आग्रह बना रहा । इस प्रकार की उनकी समालोचना का उद्देश्य मात्र संस्तव करना तथा विपक्षियों का शमन और वाग्वैभव का प्रदर्शन करना माना जाता है ।

२ श्री शर्मा जी के शब्दों में बिहारी के "जरा से दोहे में जो अर्थ सिमट बैठा है, वह वहां से निकलते ही इतना

१—सरस्वती १९०७, २—वही १९११, अनेक लेख, ३—वही १९०८ पृ: ३१८, ४०८, वही १९११ का पृ. ४३८, ६१५; वही १९१२ पृ. ६७२; ४—सरस्वती १९०९ ।

फैला कि कुण्डलियों और कवित्तों के बड़े मैदानों में नहीं समा सका। मानो गंगा का समृद्ध वेग-प्रवाह है, जो शिवजी की लटों से निकल कर फिर किसी के काबू में नहीं आता।"[1] श्री शर्मा जी के समालोचन में किसी भी प्रकार के दुर्भाव, व्यक्तिगत ईर्ष्याद्वेष या पक्षपात की गन्ध आना सर्वथा निराधार है। वे तो उदात्त-उदार तथा साहित्यचेता मनीषी थे। वे अपने साहित्यिक दायित्व के प्रति बहुत जागरूक थे। अतः उन्होंने लिखा है—"तुलनात्मक समालोचना का उद्देश्य भारतीय साहित्य के विधाता संस्कृत-कवियों का अपमान करना नहीं है। उन पर लेखक की बिहारी से भी अधिक पूज्य बुद्धि है। संस्कृत कवियों के भावसाम्य को ही वह बिहारी के काव्योत्कर्ष का कारण समझता है। संस्कृत कवि उपमान हैं, बिहारी उपमेय हैं। उपमान और उपमेय में जो भेद है, वह स्पष्ट है। कहीं-कहीं जो व्यतिरेक प्रदर्शन है, वह मतिभ्रम-मूलक हो सकता है, बुद्धिपूर्वक पक्षपातजन्य नहीं।"[2]

स्पष्ट है कि श्री शर्मा जी यथार्थ में प्रबुद्ध समालोचक एवं काव्य के पारखी थे। उन्होंने शब्द-शक्ति तथा काव्य की प्राणवत्ता का अद्भुत उद्घाटन किया है। अतः यह मानना ठीक ही है कि "वे अभिव्यंजन परीक्षा के आचार्य थे। शब्दगत तथा अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा प्रवेश था, हिन्दी में किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया।"[3]

डीडवाना, राजस्थान

---

[1]बिहारी की सतसई (भूमिका) पृ० ३२। [2]वही पृ० २७३। [3]वाजपेयी हि० सा० बीसवीं शताब्दी, भूमिका पृष्ठ २७।

कम्पोजीटरों के मारे तो मैं परेशान हूँ। एक दफे की बात है कि मैं एक प्रेस में अपनी पुस्तक छपा रहा था। उस पुस्तक में एक जगह लिखा था—"इस रचना का भेद कौन पा सकता है।" परन्तु वहाँ के कम्पोजीटर ने कम्पोज कर दिया—"नौ सेर चना कौन खा सकता है।" प्रूफ संशोधन करते समय मैं मारे हँसी के लोट पोट हो गया।

—स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा

"सैनिक" पद्मसिंह अंक, ५ जुलाई १९३८ ई०

आचार्य पद्मसिंह शर्मा : व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

—डा० कैलाश चन्द्र भाटिया

आचार्य प्रवर स्व० पंडित पद्मसिंह शर्मा हिंदी-समीक्षा जगत् में विशिष्ट स्थान रखते हैं। महाकवि बिहारी पर लिखी गई सामग्री ने उनको प्रथम कोटि का समालोचक सिद्ध कर दिया। इस ग्रन्थ पर ही कालान्तर में मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी आपको प्रदान किया गया। आचार्य जी अनेक पत्रों के सम्पादक रहे जैसे 'सत्यवादी' (काँगड़ी), 'परोपकारी' (अजमेर), 'भारतोदय' आदि। सम्पादन कार्य के साथ-साथ आपने अध्यापन कार्य भी किया। आपका मुख्य क्षेत्र गुरुकुल कांगड़ी तथा ज्वालापुर रहा। पर इन सभी क्षेत्रों से भी अधिक महत्वपूर्ण पक्ष उनके पत्रों से स्पष्ट होता है। आपके द्वारा लिखे गये पत्रों का संग्रह पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तथा पं० हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित किया जा चुका है। यह ग्रन्थ आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली से १९५६ ई० में प्रकाशित किया जा चुका है। उनके पत्रों का, विशेष रूप से सन् १९०५ से १९१३ तक के पत्रों का, काफी बड़ा भाग नागरी प्रचारिणी सभा में है। पर साहित्य का दूसरा पक्ष भी है जो इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है—वह है सँजोया हुआ उस पत्र-साहित्य में जो आचार्य पद्मसिंह शर्मा को लिखे गये थे। लगभग २०० व्यक्तियों ने समय-समय पर आचार्य जी को पत्र लिखे। यह अलभ्य पत्र-साहित्य आचार्य जी की पुस्तकों के संग्रह के साथ-साथ आज क० मु० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय में सुरक्षित है। इस संग्रह में से ही पर्याप्त सामग्री कालक्रमानुसार विद्यापीठ के मुखपत्र 'भारतीय साहित्य' में अक्टूबर सन् १९५९ ई० से (वर्ष ४, अङ्क ४ से) प्रकाशित की जा रही है। उनके तथा उनको लिखे गये पत्रों से उनका पांडित्यमय एवं गरिमामय व्यक्तित्व परिलक्षित होता है। अगर पत्र और पत्र के उत्तर साथ-साथ पढ़े जायँ तो और भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। कवि अकबर इलाहाबादी ने अपने एक पत्र में पंडित जी के इन्हीं गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा था, "आपकी काबिलियत और सुखनफहमी ने मुझे आपका आशिक बना दिया है। मेरे लिए दुआ फरमाया कीजिए।" शर्मा जी को लिखे गये पत्रों से तत्कालीन हिन्दी भाषा तथा साहित्य की अनेक समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्रों का भी काफी विपुल भाग है जो सन् १९०५ से उन्होंने लिखे थे। इन पत्रों के माध्यम से २० वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों का इतिहास अधिक स्पष्ट होता है। आचार्य जी हिन्दी के साथ-साथ अरबी-फारसी तथा संस्कृत के भी दिग्गज विद्वान् थे, यह तथ्य उनको लिखे गये पत्रों से भी सिद्ध होता है।

सर्वप्रथम हम उनके आलोचक रूप को यहाँ लेते हैं। आलोचक के रूप में आपको तत्कालीन सभी साहित्यकार अपनी पुस्तकें भेंट करते थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी अपनी प्रत्येक पुस्तक आपके पास भिजवाते थे। सन् १९०८ में आचार्य ने एक पत्र में सूचित किया कि उनके पास 'सम्पत्ति-शास्त्र' की एक प्रति भेज दी गई है।

"इण्डियन प्रेस ने हमारी प्रेरणा से 'सम्पत्ति-शास्त्र' की एक कापी आपको भेजी है। उसे 'सरस्वती' की ओर से भेंट समझकर स्वीकार कर लीजियेगा।"

आचार्य द्विवेदी आपसे विभिन्न प्रकार के काम लिया करते थे क्योंकि आप उन गिने-चुने साहित्यकारों में से थे जिन पर विश्वास किया जा सकता था। दिसम्बर १९०८ के एक पत्र से उनके विचार देखिए :—

"एक शिलालेख का फोटो भेजते हैं। छत्तीसगढ़ के एक जंगल में एक ऊँची शिला पर यह खुदा हुआ है। वहाँ इस समय प्रायः जंगल है। ज़रा ओझा जी से इसे पढ़ा कर देवनागरी में इसका पाठ, अर्थ और जो कुछ इसमें विशेषता हो, उस पर उनसे पूछ कर नोट्स लिख भेजने की कृपा कीजिए। फोटो उनके पास न छोड़ियेगा। इसको आप खुद करा के तब अजमेर से जाइयेगा।"

प्रायः पत्रों में आपकी लिखी आलोचनाएँ प्रकाशित होतीं थीं जिन पर आचार्य द्विवेदी अपनी टिप्पणी आपको लिखते थे। इसी प्रकार की एक टिप्पणी सन् १९१० के पत्र में लिखी गई।

"इस दफ़े का 'भारतोदय' अवश्य मनोरञ्जक है। कुछ पढ़ लिया, बाकी भी पढ़ूंगा। 'शिक्षा' की समालोचना के लिए धन्यवाद। खूब है। पढ़कर चित्त प्रसन्न हुआ।"

इसी प्रकार की एक और टिप्पणी अन्य पत्र में देखिए–

"दोनों लेख पढ़े। बड़ा मज़ा आया। आप कभी-कभी गज़ब करते हैं।"

इस प्रकार की सामग्री अनेक पत्रों में भरी पड़ी है।

"लेख पढ़ा। खूब मनोरञ्जन हुआ। ऐसे लेख लिखने में आप अद्वितीय हैं।"

"बिहारी का विरह-वर्णन" भी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था।

एक बार सन् १९०५ में आचार्य जी ने 'आर्य' शब्द पर एक लेख की माँग की, "शब्दों के अर्थ हमेशा बदला करते हैं, बुरे का भला और भले का बुरा हो जाया करता है। आर्य शब्द के विषय में भी एक लेख देना है।"

सन १९०७ के एक पत्र में आचार्य द्विवेदी ने जिज्ञासा प्रकट की—

"उस जैन काव्य की आलोचना का क्या हुआ? बिहारी के १०–५ उत्कृष्ट दोहों की ही आलोचना कर भेजिये।"

ऐसा ही अन्य साहित्यकार भी लिखते रहते थे। सन् १९११ के पत्र में आचार्य के अनन्य साथी पं० नाथूराम शर्मा ने लिखा—

"अब का 'भारतोदय' देखा। उसमें आपकी जादूभरी पुड़िया की मात्रा बहुत थोड़ी मिली है।"

अगर सामग्री उल्लेखनीय नहीं होती थी तो पत्रों में आपके मित्र आपको सतर्क भी करते रहते थे।

"भारतोदय" बहुधा उद्धृत लेखों से भरा जाता है यह सम्पादकीय योग्यता का गौरव नहीं।

संभवतः कुछ समय 'भारतोदय' के प्रकाशन में विलम्ब हो गया। फलतः पं० नाथूरामजी ने सन् १९१२ के पत्रों में लिखा—

"कहिये भारतोदय होगा कि नहीं—सारी मुश्किलों को झेल कर जो साहसी काम करते ही करते हैं वे अवश्य सफल मनोरथ होते हैं। हिम्मत हारना मर्दों का काम नहीं है।"

इसी लहज़े में सन् १९१० में पं० नाथूराम जी लिख रहे थे—

"क्या भारतोदय का अस्त, शुक्र की आँख फोड़ कर देवाचार्य बृहस्पति की भी टाँग तोड़कर, दर्शन देने की कृपा करेगा।"

आज जो प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं उनको अपने युग में पंडित जी ने पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था। साहित्य अकादमी के वर्तमान अध्यक्ष डा० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय ने सन् १९३१ के एक पत्र में लिखा—

"हिन्दी संसार के लिये यह मेरा प्रथम प्रयत्न है। मेरे लिये यह बड़े गौरव की बात है कि आप ऐसे साहित्य धुरन्धर पंडित से मुझे बधाई मिली। इससे मैं अपने को विशेष उत्साहित समझता हूँ।"

मुन्शी प्रेमचन्द भी प्रायः अपनी पुस्तकें समालोचनार्थ पंडित जी के पास भेजा करते थे। सन् १९२७ के पत्र में धनपतराय जी ने लिखा—

"रंगभूमि का दूसरा सेट भेज रहा हूँ। कृपया अब बहुत इन्तज़ार न दिखाइयेगा।"

सन् १९७२ के पत्र में इस प्रकार लिखा—"आपकी मुझ पर सदैव कृपा रही है। 'कायाकल्प' की एक प्रति सेवा में भेजी गई थी। आपने लिखा था कि उस पर अपनी सम्मति लिखूगा, मगर अभी तक इन्तज़ार कर रहा हूं। क्या 'रंगभूमि' की भाँति इसे भी तो कोई महाशय उड़ा नहीं ले गये।"

आलोचना के क्षेत्र में "बिहारी सतसई" की टीका से आपकी खूब धूम हो गई थी। जैसे अन्य लेखकों को आचार्य द्विवेदी ने प्रेरित किया था वैसे ही पं० पद्मसिंह जी को भी बिहारी विषय आचार्य ने ही सुझाया था। आचार्य द्विवेदी चाहते थे कि आप विस्तार से दोहों पर अपनी टीका लिखें। सन् १९०७ के पत्र में आचार्य जी ने लिखा—"जो दो दोहे आपने भेजे उनको अकेले क्या छापें, आप और दोहों के साथ भेजिएगा—सतसई की Beauties आप समझाइए।"

सन् १९१० के एक पत्र में आचार्य ने लिखा कि आप आलोचना क्षेत्र में मारठिनी हेनरी के तुल्य हैं।

"सतसई संहार में 'सुधादीविति' पर आपकी आलोचना ने मारठिनी हेनरी का काम किया है।"

सन् १९१० में ही बिहारी के 'विरह-वर्णन' की माँग द्विवेदी जी ने करते हुये लिखा—"बिहारी का विरह-वर्णन भी भेजिये .. विरह वर्णन में शृङ्गारिक भावों को ज़रा सँभाल कर रखिएगा ! पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र का चरित लिखना है।"

इससे पूर्व सन् १९०८ में द्विवेदी जी वर्षा-विषयक दोहे माँग ही चुके थे, "बिहारी के वर्षा-विषयक ५-७ दोहे अपनी टीका सहित भेजिए !"

सन् १९१० में विरह-वर्णन सम्बन्धी जो दोहे और उनकी टीका भेजी गई वह 'सरस्वती' के अगस्त १९११ के अंक में प्रकाशित हुई, जिस पर किन्हीं नन्दकिशोर शर्मा नामक व्यक्ति ने आचार्य जी की सेवा में प्रशंसात्मक पत्र लिखा, जिसकी प्रति उन्होंने प० पद्मसिंह जी के पास भेज दी थी। इस पत्र में पंडित जी की शैली की प्रशंसा की गई। "लेख से विदित होता है पंडितजी हिन्दी तथा उर्दू के एक अच्छे विद्वान् हैं। बिहारी के दोहों पर उस लेख में जो आपने टिप्पणी लिखी है उसने सोने में सुगन्ध का काम किया है। पण्डित जी की टीका के सदृश अभी तक मैंने बिहारी की अन्य टीका नहीं देखी।"

इसी प्रकार की शैली में पं० गिरिधर शर्माजी ने अपने सन् १९१८ ई० के पत्र में लिखा, "यद्यपि आपकी लेखनी से पहले ही बहुत बढ़ी-चढ़ी आशाएँ थीं, अतः आशानुरूप ही पुस्तक मिली— यही कहना चाहिए—तथापि इसमें आपका श्रम और प्रतिभा एवं चातुरी देखकर अवाक् होना पड़ता है, और अन्ततः यही कहना पड़ता है कि आशा से कहीं अधिक फल मिला। जितने विलम्ब से, जितनी प्रतीक्षा के बाद यह वस्तु मिली- वैसी ही आनन्द-प्रद मिली। बिहारी का सौभाग्य-सूर्य आज ही उदय हुआ- कहना चाहिए। इस नीरसशुष्क समय में ऐसी रस की नदी बहाकर आप साहित्यवृक्ष को फिर हराभरा करने के यश के भागी हुये हैं। इसमें सन्देह नहीं। .... आपने अपनी वकालत के ज़ोर से जो बिहारी को सर्वत्र ही डिग्री दिलाई है- इस पर कहीं कहीं कुछ कहने की इच्छा होती है।"

रत्नाकर जी भी जब 'बिहारी-सतसई' लिख रहे थे तो चाहते थे कि प्रकाशित होने से पूर्व एक बार पं०पद्मसिंह जी उसको भली भाँति देख लें।

'आपने कहा था कि उसके (बिहारी की) सतसैया की टीका के पूर्ण होने पर मैं भी देख लूँगा।'....सन् १९२२ ई०'

'बिहारी रत्नाकर आशा है कि अब शीघ्र निकल जायेगा।......गंगावतरण बन कर तो तैयार ही है।' सन् १९२६ ई०।

सतसई के सम्बन्ध में ही श्री कामता प्रसाद गुरु ने लिखा, 'आपने मेरी सम्मति को जो मान दिया है उसके लिए धन्यवाद।'

मिश्रबन्धुओं ने यह कहीं सिद्ध करके नहीं दिखाया है कि सतसई की भाषा ब्रजभाषा नहीं है।' सन् १९१९ ई०

पं० पद्मसिंह शर्मा संस्कृत तथा उर्दू के भी प्रकाण्ड पण्डित थे अतएव सभी लोग उनके इस ज्ञान का लाभ उठाना चाहते थे। आचार्य द्विवेदी आपसे प्रायः अच्छे-अच्छे श्लोक मँगाया करते थे। एकबार १९०९ में आपके भेजे हुए श्लोक की चारों पंक्तियों के पाठान्तर द्विवेदी जी ने लिखकर भेज दिये थे जिससे जो भी पसन्द हो चुना जा सके :—

प्रकाशते यस्य विशेष निश्चयः
.... येन कृतोऽतिनिश्चयः
.... येन कृतो विनिश्चयः

सन् १९१० के पत्र में द्विवेदी जी ने लिखा, 'दो एक लेख भेजिए। शीघ्र। हीला हवाला न कीजियेगा। आपद्गतं न च जहाति। यही समय सहायता का है। कालिदास की कविता की खूबियाँ दिखलाइये। ..या जो आपके जी में आये।' सन् १९११ के एक और पत्र में द्विवेदीजी ने आदेश दिया, 'संस्कृत जानने वाले बहुत कम हैं, इससे बहुत न लिखिये, कृपा करके कुछ और भेजिये, कभी-कभी तो मुझ पर रहम कर दिया कीजिये।' इससे पूर्व १९०६ में आचार्य जी ने 'नैषध' पर लेख माँगा था, "नैषध पर एक लेख भी लिखिए, टालबाजी से काम न चलेगा।" एक अन्य पत्र में लिखा था, "आपकी 'सरस्वती' पर बड़ी कृपा है आप और भी एक आध कविता लिख रहे हैं—"चकास्ति योग्येन हि योग्य संगमः" आपने खूब कही पर 'सरस्वती' अभी अपने को योग्य नहीं समझती। जिस तरह अनामिका बाई ने कालिदास की सहृदयता पर आक्षेप किया था आप श्री हर्ष की सहृदयता पर आक्षेप कीजिए। नैषध से दो चार श्लोक चुनकर आप उनकी आलोचना कीजिए। आप हमारा कभी कहना नहीं करते, कभी हमारी प्रार्थना नहीं सुनते पर हम आपकी आज्ञा यथाशक्ति सदा पालन करते हैं, ऐसा क्यों? अच्छा, बहुत अच्छा, हम 'सरस्वती' के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों के चित्र आपकी आज्ञा से देते जाते हैं, बहुत जल्द इसका आरम्भ होगा और भी दो एक सज्जनों ने इस विषय में हमें लिखा, पर आपकी ही आज्ञा को हम अधिक महत्त्व देते हैं। अब आप 'नैषध' की आलोचना भेजिए और साथ ही अपना एक अच्छा फोटो भी।'

सन् १९०६ के एक पत्र में द्विवेदी जी ने श्री हर्ष के साथ-साथ मोमिन और ग़ालिब की माँग की—

"श्री हर्ष, मोमिन और ग़ालिब के एकार्थ बोधक पद्य ज़रूर देंगे। कृपा करके हमारे लिए एक छोटा-सा नोट भेज दीजिए और उसी में पद्यों का तारतम्य दिखला दीजिए, इतना काम हमारे लिए नहीं तो सरस्वती के लिए कीजिए।"

पं० पद्मसिंह शर्मा जी के प्रिय शायर अकबर रहे हैं अतएव द्विवेदी जी ने सन् १९११ में लिखा "अकबर साहब विलक्षण कवि थे। उनका हाल ज़रूर छापेंगे। चित्र मिलेगा तो उसे भी निकाल देंगे। पर भेजिए जल्द।" आप शेर तथा दोहों पर बड़े विस्तार से लिखते थे जिस पर आचार्य द्विवेदी ने सन् १९०७ में लिखा था "ग़ालिब के शेर पर आपने जो मजमून भेजा है, उसे आपके नाम से जोड़ दिया है। दरहक़ीक़त बिहारी का दोहा ग़जब का है। आपको बहुत फ़ुरसत मालूम होती है।"

एक पत्र में लिखा था, "हाली की दो चार अच्छी-अच्छी सरल कविताएँ हम 'सरस्वती' में छापना चाहते हैं। क्या कृपा करके हमारी मदद करेंगे।"

पं० नाथूराम शंकर जी से आपका घरेलू सम्बन्ध था। एक प्रकार से आप आचार्य द्विवेदी तथा शंकर जी के मध्य कड़ी का काम करते थे। इस प्रकार दोनों ओर से आपको पर्याप्त पत्र ऐसे लिखे गये जिनसे काफी समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है। एक बार शंकर जी की 'हिजड़ों की मजलिस' शीर्षक कविता द्विवेदी जी ने प्रकाशित करने से मना कर दिया तब पद्मसिंह जी को लिखा, "उन्होंने 'हिजड़ों की मजलिस' नाम की कविता

भेजी है। उसके छापने में हमें पस व पेश है, इससे शायद वे कुछ नाराज़ हो जायें।' इस कविता के सम्बन्ध में ही दूसरी ओर पं० नाथूराम जी ने पद्मसिंह जी को लिखा, 'हिजड़ों की मजलिस' नामक निबन्ध पहुँचा होगा। उसे खूब सोच समझकर समुचित होने पर 'परोपकारी' में निकाल दीजिए।' पुनः सितम्बर १९०८ के पत्र में लिखा, 'हिजड़ों की मजलिस' आपको पसन्द तो आगई अब छपे या न छपे इसकी कोई चिन्ता नहीं। ....हिजड़ों की मजलिस आपको तथा अन्य भद्र पुरुषों को पसन्द आई वह 'सरस्वती' और 'परोपकारी' स्त्री पुरुषों ने त्याग दी अब कोई नपुंसक पत्र कहीं से निकलेगा तो उसके छपने का अवसर आ जायेगा—हिजड़ों से मिलान करने वाली किसी पत्र की पालसी नहीं है।'.. .. 'हिजड़ों की मजलिस ५ अङ्क में छप जायगी। इसे दुबारा लिखकर भेजूंगा जो आपके पास है उसे न छपाइये।'

एक बार शंकर जी ने एक कविता 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी थी जिसको आचार्य द्विवेदी कुछ संशोधन के साथ प्रकाशित करना चाहते थे। इस पर शंकर जी ने पं० पद्मसिंह शर्मा जी को लिखा, 'सम्पादक 'सरस्वती' की सेवा में 'सम्मुखोद्गार' नाम की एक बहुत ही बढ़िया कविता भेजी गई। उसे श्री द्विवेदी जी महाराज काटछाँट कर छापना चाहते हैं, पूरी छापने से आपकी महावीरता इनकार करती है।

जब आपकी ही एक अन्य कविता "गर्भरण्डा" को प्रकाशित करने में पं० पद्मसिंहजी ने असमर्थता प्रकट की तो पं० नाथूराम जी ने लिखा, "आपने गर्भरण्डा के लिये भी 'भारतोदय' में जगह देने से मीठा इनकार कर दिया है शायद इस वजह से कि अब मनुष्य की दश दशाएँ आदि सरस कविता मिल सकती है। खैर अब से आगे आपकी आज्ञानुसार कविता भेजी जायगी अन्यथा अलम्, कृपा बनी रहे।

पत्रों में तत्कालीन विवादों पर भी पर्याप्त सामग्री है। सन् १९०० के बाद ही' अन-' तथा 'अ-' उपसर्गों पर पर्याप्त वाद-विवाद छिड़ गया था। सन् १९०५ के पत्र में आचार्य द्विवेदी ने लिखा, बहुत लोगों की राय है कि लुच्चे आदमियों के मुंह न लगना चाहिए, पर आपकी आज्ञा है इससे हम उत्तर का मसविदा तैयार करेंगे और 'सरस्वती' के मालिकों को भी लिखायेंगे। जैसे अनपढ़, अनगिनत आदि शब्द हैं वैसे ही उसे भी रखने में क्या हानि है। हम आपके भेजे हुए प्रमाणों का उपयोग करेंगे। तदर्थ अनेक धन्यवाद।"

पत्रों से पद्मसिंह जी के व्यक्तित्व पर भी प्रकाश पड़ता है, जैसे उन्हें नौकरी पसन्द नहीं थी। पर्याप्त इन्तज़ार के बाद सम्पादकों को सामग्री भेजी जाती थी। इस सम्बन्ध में कुछ गण्यमान्य व्यक्तियों के पत्रों के उद्धरण दिये जा रहे हैं,

"यह सुनकर बड़ी खुशी हुई कि आपको नौकरी की विशेष परवा नहीं।"

आचार्य द्विवेदी—१९०६ के पत्र से

"आपका कृपा पत्र बड़े इन्तज़ार से आया। हम तो फिर लिखने वाले थे।" सन् १९०८ ई०। उत्तम है ज्वालापुर से पत्र निकालिए। ईश्वर आपको और आपके मित्रों को इस कार्य में साफल्य प्रदान करे। नौकरी से यह व्यवसाय कहीं बढ़कर होगा।

"आप चिट्ठियों में और मिलने पर बेहद चुनाचुनी की बातें करते हैं।" "आप हमारे लिए कुछ लिखते उखते तो हैं नहीं— सिर्फ वादे किया करते हैं यह लिखेंगे वह लिखेंगे।" "पर वादा पूरा करना आप नहीं जानते।" "आपकी आज्ञा मान्य है। पहली खेप में एक नोट दे देंगे।" "हम आपके सब प्रणयानुरोधों की रक्षा करते आये हैं। आपको भी हमारे इस अनुरोध की रक्षा करनी होगी।"

धनपतराय (प्रेमचन्द) ने सन् १९२७ के पत्रों में लिखा, "आपके लेख का आठों पहर इन्तजार हो रहा है।" "जनाब आप माशूकाना वादे करना खूब जानते हैं। आपका कल तो कभी आता ही नहीं। — इन्तजार में दम

घुट रहा है।" "आप हीले करना खूब जानते हैं। न लिखने का बहाना यह निकाला कि कुछ सूझता ही नहीं। आपकी जिस वक्त कुछ लिखने की इच्छा होगी, विचार और शब्द हाथ बाँधे हुए आकर खड़े हो जायँगे।"

एक लम्बे पत्र में प० बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा, "जिनकी लेखनी में शक्ति है उन्हीं को मैं बड़ा समझता हूँ और आप इस दृष्टि से मेरे पूज्य हैं। – – दूसरे हिन्दी लेखक का नाम नहीं ले सकता जिसमें आपके समान भावुकता हो और जिसकी लेखनी का भाषा पर उतना ही प्रभुत्व हो जितना आपकी लेखनी का है। — आपके लेखों में भी भावुकता प्रायः पाता हूँ— मेरे क्षुद्र लेख में आपकी भाषा वैसी ही जचेगी जैसी कि गजी में रेशम का टुकड़ा, फिर भी मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप मेरे सम्पादकाचार्य विषयक लेख का सम्पादन करें।"

फिर सन् १६२६ के पत्र में पं० बनारसीदास जी ने लिखा, "आप सहृदय हैं और अपने से छोटों को उत्साहित करना भी खूब जानते हैं। —उस समय सन् १६१५ में उस आलोचना ने जो सान्त्वना दी उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। इस प्रकार आपने समय समय पर मुझे जो उत्साह दिया है उसके लिए मैं आपका ऋणी हूँ।" आगे इसी पत्र में लिखा है, "प्रोपेगैण्डा की सड़क पर लेखों की मोटर दौड़ाते दौड़ाते हैरान हो गया हूँ और साहित्य क्षेत्र की रमणीक स्थलियों की सैर पैदल ही करना चाहता हूँ।"

पं० गिरिधर शर्मा के पत्रों में सतसई की ब्रजभाषा पर पर्याप्त सामग्री है। उनके सुझावों के आधार पर आगे के सँस्करणों में कुछ संशोधन कर भी लिया गया पर बहुत से स्थल ऐसे हैं जिनमें कोई संशोधन नहीं किया गया है। आज भी ब्रजभाषा के मर्मज्ञ विद्वानों के समक्ष 'सतसई' के पाठ प्रश्नवाचक चिन्ह के साथ हैं।

इन पत्रों में जहाँ साहित्यिक गतिविधियों की सामग्री है, वहाँ भाषा सम्बन्धी सामग्री भी मिलती है। तत्कालीन वर्तनी के रूप भी प्राप्त होते हैं, जैसे उनने, बहौत, सकैगा, सकैं, इकदम, छापैंगे, भैजेंगे, मिलैगा, करैं, कमिटी, फैसिला, ज़ियादह, जुबान, साबित, इनकार, इसरार, तरजीह आदि।

किसी शोधार्थी को इन पत्रों के आधार पर भाषिक अध्ययन करना चाहिए। उस युग और आज के सम्बन्धों पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। ऐसे विपुल सामग्री से भरपूर ये पत्र हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

—प्रोफ़ेसर हिन्दी तथा प्रादेषिक भाषाएँ,
ला० ब० शा० राष्ट्रीय प्रशासन एकादमी,
मसूरी।

स्वर्गीय आचार्य पद्मसिंह के प्रति—

—श्री सुरेन्द्रपाल सिंह, श्रम निरीक्षक, हरिद्वार

पद्म-पाणि के पद्म, बिहारी के बिहार की शोभा।
देख तुम्हारी शुचिता मानस का मराल भी लोभा॥
भाव-निबन्धों की बगिया के कलम तराशी माली।
'पद्म पराग' बाँट आकर्षित की विदग्ध भ्रमराली॥
सतसैया के दोहे दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित।
दे 'संजीवन भाष्य' आपने किया उन्हें संजीवित॥
हिन्दी में तुलनात्मक आलोचन का किया प्रवर्त्तन।
करो देव स्वीकार हमारा यह साहित्यिक अर्चन॥

अमर कृती : अमर पुरोधा—

प० पद्मसिंह शर्मा

—कुमारी राधिका, बाल भारती

साहित्य को साहित्यकार रचता सँवारता तो है ही, भले ही यह अनुत्तरित द्विधाग्रस्तता भी हो, पर ऐसे व्यक्तित्व अनेकशः होते आए हैं, जो साहित्य से ही अनन्य बन गए है; बल्कि इसी रूप में वे जाने भी गए है।

आधुनिक काल को एक सीमा तक गद्य के सर्वतो-मुखी विकास काल के रूप में देखने-समझने तथा इस काल में वैज्ञानिकता व बौद्धिकता के प्रसार देखने के पीछे कोई दृष्टि-संकीर्णता नहीं है। बौद्धिकता ने वैसे तो खण्डन मण्डन को कुछ ज्यादा ही तरजीह दी, पर इसके बीच भी शैली की उत्कृष्टता की दुन्दुभी बजाई गई। बिजनौर जिले के नायकनगला गाँव की धरती को सन् १८७६ ई० में स्वावतार से निहाल बनाने वाले, पं० पद्म सिंह शर्मा ही, शैली लोक के सर्वाधिक प्रोद्भासित नक्षत्र माने गये। इनके ही अनूठे योगदान ने हिन्दी के निबं-धादि को एक अनूठापन दिया।

निस्सन्देह हिन्दी में निबंध का जन्म एक बहुत बड़ी सामाजिक अनिवार्यता को लेकर हुआ, जिससे अभिन्न-धर्मा बन गये शर्मा जी। भीमसेन की पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा पानेवाले इस निर्भीक साहित्यवेत्ता ने भी रचना का केन्द्रीय बिन्दु, आदिरेखांकित निबन्धकारों में वरेण्य-अग्रगण्य बालकृष्ण भट्ट की भाँति ही निर्धारित किया— "सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द की कली से दाँत न खिल उठें तो वह लेख ही क्या ?"

वस्तुतः शर्मा जी की एक एक रचना में इनकी विशिष्ट शैली, रसभीनी, भावभीनी और मनभावन है। उसमें विनोद-व्यंग्य-विच्छित्ति, चुहलबाजी और प्रवाहमयी आनन्दगंधी,कल्पना का, बड़े अंदाज से, बलखाना चित्रित है। शर्माजी में साहित्य के स्थायी तत्वों को खोजना ज़रा भी कठिन नही। तब इनकी शैली चित्रोपम बन जाती है।

विषय को नया चोला पहनानेवाले इस कृती व्यक्तित्व को द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकारों में भी अन्यतम होने का गौरव प्राप्त है। उर्दू, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के असाधारण ज्ञाता एवं हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना के जन्मदाता, शर्माजी की भाँति निश्छल व्यक्तित्व-प्रदर्शन, द्विवेदी युग के किसी अन्य लेखक में प्राप्त नहीं है। इनकी अनुपम अद्वितीय, और बेमिसाल विशेष-ताओं के कारण हैं—चुस्त चुभते वाक्य, उद्धरणों की झड़ी, दमकता हुआ हास्य, चुभता हुआ व्यंग, शास्त्रीयज्ञान तथा विविध साहित्यों का अध्ययन। अपनी उर्दू मिश्रित भाषा में, जो जगह-जगह बड़ी चंचल भी हो उठी है—मुशायरों की कद्रदानी वाला लहजा प्रस्तुत करने वाले अनूठे अदा-कार हैं शर्माजी! भाषा का ओज, प्रभाव, युक्तियुक्तता और भाव-विमुग्धता इतनी विशदता और विशिष्टता के साथ अन्यत्र ढूंढे नहीं मिलती। तभी तो वह मान लिया गया है कि इनकी लेखनी से हिन्दी की गद्य-शैली और आलोचना में नया ज्वार आया।

अवसरवश आर्य समाज के उपदेशक बने शर्माजी ने अपनी वक्तृत्व कला का वह निखार दिखाया है कि संकीर्ण हृदय प्रतिद्वन्दी 'आह आह' और सुधीमर्मज्ञ 'वाह-वाह' कर उठे। इस वाग्विदग्ध प्रातिभिक विद्वान् ने अपनी वक्तृता का जबरदस्त आतंक फैला रखा था। अच्छे लेखक के साथ अच्छा वक्ता होना आम तौर पर विरल माना जाता है। पर शर्माजी इसके अपवाद थे। विलक्षण अपवाद। इनकी वक्तृत्व-क्षमता की चरमोत्कृष्टता का प्रमाण तो 'हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी' से ही मिल जाता है, जो एक अभिलषण प्रकाशन है।

पर इतना ही सब नहीं, कुछ और भी है, जो इस अजात प्रतिद्वन्दी के साथ अभिन्न है। सन् १८७६ से १९३२ के बीच अपनी इहलीला दिखानेवाले शर्माजी अपने समय के विलक्षण टीकाकार थे; ऐसे जो अपने सूक्ष्म तथा व्यापक अध्ययन की छाप छोड़ने से बाज न आए। वे थे आदर्श अनूठे संपादक, जिसकी गत सांगीतिक हो, पर हो गंभीर, विनोदशील और तार्किक। निबन्धकार तथा समालोचक भी कोई ऐसे-वैसे नहीं, पैनी दृष्टि वाले समीक्षक। इन्होंने श्रृङ्गार के अवतारी रसज्ञ बिहारी को अपना समीक्ष्य बनाया, पर श्रृङ्गारिकता से संपूर्णतया परे रहते हुए ही। सौ की एक बात यह कि किसी भी साहित्य-समीक्षक का एक भारी व मौलिक कर्त्तव्य होता है। कहना न होगा कि शर्माजी इस निष्कर्ष पर खरे उतरे तथा अपनी मिसाल आप बनकर जिए। वे अमर रहेंगे। अमर कृती व्यक्तित्व होते भी हैं अजर-अमर ही। साहित्य ब्रह्मानन्दसहोदर जो है। इसका रसास्वादन करा देने वाला ही साहित्य का पुरोधा कहा जा सकता है। अपनी निबंध कृतियों के द्वारा इन्होंने शैली की वह त्वरा व लोच और जीवन दृष्टि दी, जिससे संपूर्ण जीवन रसाप्यायित हो जाता है। इनकी रचनाएँ हैं ही ऐसी कि हम कह ही दें—'सच ही वह जीवन का साहित्य रचने आया था। जो अपनी रचनाओं में ही रस-बस जाता है, उस प्रयोग-पर व क्रांतिधर्मा के बारे में इससे ज्यादा कहने की कोई संगति भी नहीं बैठती।

पद्मसिंह शर्मा

--श्री गोविन्द दत्त चतुर्वेदी

सरस सुगन्धि लै खिल्यौ हो बाग भारत में
'गोविन्द', वढ़ैया प्रभा प्रेम फुलवारी कौ।
मैया भारती के करकंज में बसैया श्याम,
पद परसैया भक्ति-भौंर रस भारी कौ।
सम-समालोचना की नींव कौ धरैया नाम,
जग में करैया महा सुकवि बिहारी कौ।
कुटिल कराल काल माली ने मरोरि डार्‌यौ,
'पद्मसिंह'-पुहुप बिचारी काव्य-क्यारी कौ।

—'विशाल भारत' पद्मसिंह अंक
अगस्त १९३२ ई० से साभार

आचार्य पं० पद्म सिंह शर्मा का व्यक्तित्व एवं उनके पत्र

—वृन्दावन दास, बी० ए०, एल० एल० बी०

बातों ही बातों में एक दिन ब्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि और हमारे सम्माननीय मित्र श्री अमृतलाल जी चतुर्वेदी कहने लगे, "बहुत से साहित्यकार देखे और परखे परन्तु पं० पद्मसिंह शर्मा जैसा दयानतदार और दाद देने वाला एक भी देखने में न आया।" चतुर्वेदी जी के इस कथन में बावन तोले पाव रत्ती सत्य था। आचार्य जी सर्वतोभावेन तथा मनसा-वाचा कर्मणा–साहित्यकार थे। वे अपने को न नेता मानते थे और न सामाजिक कार्य कर्त्ता। वे शुद्ध साहित्यिक व्यक्ति थे। साहित्य के प्रति उनकी ईमानदारी ही उन्हें राजनीति एवं समाज-सुधार आदि से दूर रखती थी। उनका मत था कि साहित्य-सेवा के व्रती को व्यर्थ के पचड़ों में न पड़ कर साहित्यिक कार्य निष्ठा के साथ करना चाहिये। उन्होंने श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी को लिखे पत्रों में चतुर्वेदी जी के साबरमती आश्रम और शान्तिनिकेतन में रहने पर व्यंगात्मक पत्र लिखे थे। वे चतुर्वेदी जी की साहित्यिक प्रतिभा के क़ायल थे और उनका मत था कि चतुर्वेदी जी साहित्य-सेवा का कार्य सार्वजनिक या सामाजिक सेवा से अच्छा कर सकते हैं और उन्हें साहित्येतर कार्यों में समय का अपव्यय कर साहित्य की हानि नहीं करनी चाहिये।

समाज में साहित्यिकों की उपेक्षा से उनका जी भर जाता था। उनके लिखे पत्रों से तो विदित होता है कि जब कभी वे अपनी मित्र मण्डली के किसी साहित्यिक की व्यथाओं अथवा उसके निधन का समाचार सुनते, तो रोने लगते थे। साहित्यिक मित्रों के प्रति उनके हृदय में करुणा का अथाह सागर भरा रहता था। जब किसी दिवंगत साहित्यिक मित्र पर उनसे कुछ लिखने को कहा जाता तो वे उसकी बातों को याद कर इतने द्रवीभूत हो जाते कि उस पर कुछ लिख ही न पाते। एक बार सत्यनारायण जी का फोटो देखकर उनको रोना आ गया, उन्होंने श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी को लिखा कि उसे देखकर जीवन की क्षणभंगुरता और संसार की असारता का चित्र आँखों के सामने फिर गया। आचार्य जी सम्वेदन-शीलता और पर-दुःख-कातरता की प्रतिमूर्ति थे।

आचार्य जी पत्र-लेखकों में अग्रगण्य थे। बहुत से विद्वान् उन्हें पत्र-लेखन कला का आचार्य मानते हैं। श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी पत्र-लेखक के रूप में उन्हें विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से भी पहला स्थान देते हैं। डा० हरिशंकर शर्मा का कथन है, "जहाँ तक अपनी जानकारी है हिन्दी में आचार्य पद्मसिंह शर्मा पत्र-लेखन कला में पारंगत थे।" पत्रों की बाबत स्वयं आचार्य जी का मत दृष्टव्य है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'पद्म पराग' में पं० भीमसेन शर्मा के संस्मरणों में एक जगह लिखा है—"पत्र व्यवहार का मुझे एक व्यसन-सा रहा है। पत्र लिखते-लिखते ही मैंने कुछ लिखना सीखा है। पण्डित भीमसेन जी मुझे दाद दे-देकर पत्र लिखने के लिए उत्साहित करते रहते थे। उस समय के उस संस्कृतमय पत्र-व्यवहार का अधिकांश अब भी मेरे पास सुरक्षित है। उस सिलसिले के जो पत्र नष्ट हो गये हैं, उनका अफसोस साहित्य की बहुत-सी पोथियाँ जमा कर लेने पर भी अब तक बाकी है। अब भी जब कभी उन पत्रों को पढ़ता हूँ तो वही आनन्द पाता हूँ। किसी सुलेखक और सहृदय विद्वान् के साथ इस प्रकार का पत्र-व्यवहार भी शिक्षा का एक साधन है।"

जब श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने आचार्य पद्मसिंह शर्मा के पत्रों के संग्रह की एक प्रति डा० वासुदेव शरण

अग्रवाल को भेजी तब उन्होंने (डा०अग्रवाल ने)अपने एक पत्र में चतुर्वेदी जी को लिखा, '-पद्मसिंह शर्मा के पत्र की प्रति हजारीप्रसाद जी के हस्ते मिली। आपकी भूमिका पढ़ कर मैं छटपटा गया कि इस युग में जन्म लेकर भी मैं पं० पद्मसिंह शर्मा से क्यों नहीं मिला ? ऐसे साहित्य धनी व्यक्ति की स्मृति से जब तन मन ताजा हो जाता। अस्तु मुझे तो डाक का रोग है। पत्रों में रस चूसता हूँ। मेरी समझ में किसी व्यक्ति की भारी भरकम कृति आँधी के समान है, उसके साहित्यिक पत्र उन झोकों के समान हैं जो धीरे से आते जाते रहते हैं और थोड़ी-सी मात्रा साथ लाने पर भी साँस बन कर जीवन देते हैं। अन्न की उत्पत्ति और मेघों की वृष्टि के लिए अन्धड़ भी चाहिये पर मन्द वायु में जो फरहरी है उसका भी कुछ अनूठा आनन्द है।" यह है आचार्य पद्मसिंह शर्मा के पत्रों का साहित्यिक महत्व प्रसिद्ध मनीषी डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की दृष्टि में।

आचार्य जी के पत्रों से उनके समग्र जीवन की झाँकी उपलब्ध होती है। कोई भी साहित्यिक उनके पत्रों से उनकी जीवनी का मसाला इकट्ठा करके एक अद्वितीय जीवन चरित्र लिख सकता है। उनके पत्र हृदयग्राही, रोचक और हृदय से निकले हुए स्वरों के सच्चे प्रतिनिधि हैं। जिस प्रकार आचार्य पद्मसिंह जी का पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र लिखने का एक क्रम था लगभग वैसा ही रूप श्रद्धेय बनारसीदास जी चतुर्वेदी का मुझे पत्र लिखने का रहा है। यद्यपि दोनों प्रकार के पत्र व्यवहार में व्यक्तित्व सम्बन्धी स्तरों का महदन्तर है तथापि वातावरण की आश्चर्यजनक समानता है। श्रद्धेय चतुर्वेदी जी 'विशाल भारत' के सम्पादक थे और मैं लगभग दस वर्ष से 'ब्रज-भारती,' पत्रिका का सम्पादक हूँ। आचार्य जी लगभग प्रति मास 'विशाल भारत' की प्रति प्राप्त होने पर चतुर्वेदी जी को लिखा करते थे और उसमें मुद्रित सामग्री की प्रशंसा किया करते थे, कभी कोई बात उन्हें अरुचिकर लगती अथवा कोई अशुद्धि उसमें पाते तो उसे भी इंगित करने से वे नहीं चूकते थे। बीच-बीच में भी वे अनेक पत्र लिख कर बहुत से ऐसे सुझाव देते जिन पर वे कार्यान्वयन की आशा रखते थे। सीमित साधनों, सीमाओं के कारण अथवा विषम परिस्थितियों वश या कार्याधिक्य के कारण समुचित ध्यान न दे पाने के कारण, बहुधा अनेक सुझाव अथवा अपेक्षाएँ कार्यान्वित होने से रह जाती थीं। कभी 'विशाल भारत' में आचार्य जी के बताये लेख, चित्र, कविता आदि न छप पाते अथवा कभी तीन चार पत्र लगातार दिये जाने पर भी चतुर्वेदी जी व्यस्तता के कारण उत्तर न दे पाते तो आचार्य जी चतुर्वेदी जी की अच्छी तरह खबर लेते और पत्रों में ऐसी डाँट फटकार लगाते कि यदि कोई दूसरा होता तो शायद विचलित भी हो जाता। यहाँ मैं अपना यह निष्कर्ष भी लिख देना उचित समझता हूँ कि आचार्य जी चतुर्वेदी जी के प्रति घनिष्ट आत्मीयता का भाव रखते थे और वे उनको तद्वत् लिख देने में कोई अनुचित बात न समझते थे। यह समझ कर कि इस उपेक्षा से किसी का दिल दुःखेगा, आचार्य जी अपनी सम्वेदनशीलता के कारण, चतुर्वेदी जी पर कटाक्ष कर दिया करते थे। अब चतुर्वेदी जी और मेरे पत्र-व्यवहार की कहानी सुनिये। चतुर्वेदी जी के लगभग ५०० पत्र मेरे पास हैं और उनमें उनके सुझावों, अपेक्षाओं और आदेशों की संख्या शर्मा जी की संख्या से कई गुनी होगी परन्तु मेरे साहित्यिक जीवन में मुझे चतुर्वेदी जी से एक बार भी किसी कटाक्ष पूर्ण वाक्य या कटु शब्द सुनने का अवसर नहीं मिला। बहुधा लोग कहते हैं चतुर्वेदी जी पुनरावृत्ति बहुत करते हैं, जो बात प्रातः कही, उसे सन्ध्या समय भी कहते हैं, जो बात आज लिखी उसे चार दिन बाद भी दुहराते हैं। मेरी मान्यता है कि यह उनका बड़ा ही सौजन्यपूर्ण तरीका काम कराने का है। यदि सामने वाला बताये हुए काम को न करे तो बजाय इसके कि वे उसको कटाक्षपूर्ण शब्द लिखें वे नम्रतापूर्वक परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से पहले बताये हुए काम की ओर, बार-बार लिखकर ही, उसके कार्यान्वयन की आवश्यकता की ओर संकेत कर देते हैं। हम लोग भ्रमवश उसे पुनरावृत्ति दोष समझ लेते हैं।

उपरोक्त तुलनात्मक अध्ययन से हमारा आशय दोनों विभूतियों में से किसी एक को दूसरे से ऊपर के आसन पर बिठाना कदापि नहीं है। हमारी दृष्टि में दोनों ही महानुभाव समान आदर के पात्र हैं तथा दोनों ही अपने-अपने दृष्टिकोण में ठीक हैं। आचार्य जी अपने मनोभावों को बिना किसी संकोच के व्यक्त कर देने के पक्षपाती

हैं। जब कभी वे उलाहने देते हैं तो बार-बार क्षमा याचना भी साथ-साथ करते जाते हैं। उन्होंने एक बार चतुर्वेदी जी को लिखा, "कार्य की गुरुता और पुरानी ममता मुझे पत्र लिखने को विवश कर रही है, नहीं तो कभी आपको पत्र न लिखता। मैं जानता हूँ मेरे इस स्पष्ट निवेदन से आपको कष्ट पहुँचेगा। पर मैं मजबूर हूँ।

"रखियो ग़ालिब (चौबे!) मुझे इस तल्खनवाई से मुआफ़,
आज कुछ दर्द मेरे दिल में सिवा होता है।"

आचार्य जी से जब कोई शोक संस्मरण लिखने को कहा जाता तो उन्हें बड़ा कष्ट होता था। उन्होंने एक पत्र के उत्तर में पं० हरिशंकर जी को लिखा था, "हृदय की निर्बलता से डर है कि लिखने दे या न लिखने दे। शोक-संस्मरण लिखने से अत्यन्त कष्ट होता है। ऐसी घटनाओं की निरन्तर स्मृति ने हृदय को निर्बल बना दिया है। खैर, प्रयत्न करूँगा।" एक बार ऐसी ही माँग पर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को इस प्रकार लिखा, "सूखे हुए ज़ख्म हरे होते हैं। पुरानी चोटें ताजा होकर दुःखती हैं। कभी-कभी सोये संस्कार जाग पड़ते हैं और दिल को बेचैन कर देते हैं। पं० भीमसेन जी के दुःखदप्रद संस्मरणों ने हिम्मत की कमर तोड़ दी। इस कूचे में धँसने पर लगता है। ईश्वर का बड़ा अनुग्रह है कि मनुष्य स्वभाव विस्मरणशील बनाया है, पूर्वजन्मों के सम्बन्ध याद नहीं रहते; वर्ना आदमी एक दिन भी जिन्दा न रह सकता। पागल हो जाया करता या मर जाया करता। एक ही जन्म के सम्बन्धों की धुंधली-सी याद बावला बना देती है। सहृदय की तो मौत है। परम ज्ञानी या हृदयहीन की बात दूसरी है। कम से कम मैं तो अपने हृदय की निर्बलता से बहुत तंग हूँ।" ऐसी थी आचार्य जी की सहृदयता, आत्मीयता और गहन संवेदन शीलता। लाला लाजपतराय की शोकसभा में अनेक वक्ता निर्विकार रूप से अपना अपना व्याख्यान देकर चले गये और जब आचार्य पद्मसिंह जी की बारी आई तो बोलना शुरू करते ही गला रुँध गया, जी भर आया और वे हार कर बैठ गये।

आचार्य जी का हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी चारों भाषाओं पर समान अधिकार था। वे इन चारों भाषाओं में समान रूप से साधिकार लिख सकते थे और उन्होंने लिखा भी। हिन्दी के तो सर्वमान्य विख्यात लेखक थे ही, उर्दू वाले भी उनकी भाषा शैली की दाद देते थे। संस्कृत में उनके काव्य-गुरु ने कहा था कि पद्मसिंहजी ऐसी सरल भाषा में कविता लिखते हैं जैसी मैं भी न लिख पाऊँगा। फ़ारसी भाषा के ज्ञाता भी आचार्य जी के फारसी ज्ञान पर मुग्ध थे। ब्रजभाषा तो आचार्य जी को पाकर धन्य ही हो गई। उनका ब्रजभाषा-प्रेम अनन्य था। शायद बिहारी सतसई के गहन मनन और अध्ययन से वह प्रबल से प्रबल तम होगया था। वे ब्रजयात्रा करने को उत्सुक रहते थे और कभी कोई अवसर उस यात्रा का हाथ से न जाने देते थे। वे ब्रजभाषा के कवियों से उनके घरों पर जाकर मिलते थे। सत्यनारायण कविरत्न, नवनीत जी चतुर्वेदी, डा० हरिशंकर शर्मा तथा पं० बनारसीदास चतुर्वेदी से उनके घर के से सम्बन्ध थे। वे पं० नाथूराम शंकर और श्रीधर पाठक को आदर की दृष्टि से देखते थे।

आचार्य जी न केवल पत्र-लेखकों में शिरोमणि थे, वे निबन्धकारों में भी अग्रगण्य थे। उनके अनेक पत्र निबन्धों की श्रेणी में रक्खे जासकते हैं। आचार्य जी के निबन्ध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। आचार्य जी की भाषा सजीव, सशक्त, प्रांजल और परिमार्जित है। उन की शैली मनोहर एवं प्रवाहमयी है। हम जब कभी उनके निबन्धों या पत्रों को पढ़ने लगते तो पढ़ते ही रहते। एक बार पढ़ लेने के बाद भी पढ़ने को जी चाहता है।

श्रद्धेय बनारसीदास जी चतुर्वेदी त्रिमूर्ति के रूप में साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों अथवा पत्रकारों की वन्दनीयता की चर्चा करते रहते हैं। वे गाँधी, टैगोर और गोखले के रूप में एक, डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, राहुलजी और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के रूप में दूसरी ओर रामानन्द चटर्जी, सी. वाई. चिन्तामणी और गणेशशंकर विद्यार्थी के रूप में तीसरी त्रिमूर्ति को वन्दनीय मानते हैं। यदि हम से एक त्रिमूर्ति की ओर और संकेत करने को कहा जाय तो हम कहेंगे, आचार्य पद्मसिंहजी, डा० हरिशङ्करजी शर्मा और पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी।

आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा की साहित्यिक प्रतिभा, उनका सात्विक जीवन तथा हिन्दी के लिए किया हुआ उनका महान् कार्य साहित्यिकों की वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों को सदा अनुप्राणित करता रहेगा।

–प्रकाश भवन, मथुरा।

आचार्य पद्मसिंह शर्मा के पत्रों में व्यंग्य विनोद

—डा० गिरिराज शरण अग्रवाल

आधुनिक विकसित कलाओं के समान ही पत्र-लेखन एक भावपूर्ण और व्यक्तित्व का सहज ही आभास देने वाली कला है। अपने साधारण जीवन में अथवा भाषण और लेखों के माध्यम से किसी व्यक्ति, नेता या लेखक का जो चरित्र और स्वभाव अप्रकट रह जाता है, वह इष्ट-मित्रों, सगे-सम्बन्धियों आदि को लिखे गये पत्रों में, अनजाने ही प्रकट हो जाता है। 'ये निजी चिट्ठियाँ ही, जिनमें हृदय खोलकर बातें की जाती हैं, लेखक के वास्तविक व्यक्तित्व की परिचायक हैं। किसी विशेष स्थिति, प्रसंग या घटना के सम्बन्ध में, किसी के हृदयगत भाव जानने हों तो उसके निजी पत्रों का अवलोकन करना चाहिए। कवि या साहित्यकार जिन उद्‌गारों को कविताओं और निबन्धों में व्यक्त नहीं करते या कर पाते उन्हें वे अपनी चिट्ठियों में अवश्य प्रकट करते हैं।[1]

आचार्य पद्मसिंह शर्मा जहाँ काव्य और साहित्य के असाधारण विद्वान थे, वहाँ 'चिट्ठियाँ लिखने में तो वे अद्वितीय थे। इस दिशा में उन तक कोई नहीं पहुँच सका।[2]

आचार्य जी के पत्रों में जहाँ अपने से छोटों के प्रति आशीर्वादात्मक प्रेरणा, अपने समकक्षों के प्रति सौहार्द और प्रशंसा तथा अपने से बड़ों के प्रति स्वाभाविक श्रद्धाभाव की अभिव्यक्ति हुई है, वहीं पत्रों के माध्यम से समाज, राजनीति, युगधर्म, प्रकाशकों, सम्पादकों, मुद्रकों आदि के लिये व्यंग एवं संगी-साथियों के प्रति सहज विनोद भी प्रकट हुआ है। अपने संगी-साथियों पर भी वे व्यंग्य का प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु ऐसे स्थलों पर उनका उद्देश्य उनकी अप्रशंसा करना नहीं होता वरन् उन विनोदपूर्ण मीठी झिड़कियों में प्रेरणा, स्नेह और सहानुभूति छिपी हुई मिलती है।

हास्य और विनोद—

विनोद ऐसा हास है जिसमें आलोचना, उपहास तथा जगुप्सा के लिए कोई अवसर नहीं होता। विनोद में प्रहसनीय की दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति की हलकी-सी रेखा भी छिपी रहती है। ऐसे हास में ममता होती है तथा जिस पर हम हँसते हैं वह हमारा प्रियपात्र भी होता है। आचार्य जी के अनेक पत्रों में इस प्रकार का स्नेहिल हास प्रकट हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ कहीं भी उनका मूड सरल हुआ है, विनोद का उत्स सहज रूप से फूट पड़ा है। अपने पत्रों के उत्तर न मिलने पर आचार्य जी की लेखनी अनेक स्थलों पर विनोद करती हुई दिखाई देती है।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी को मध्यभारत हिंदी-साहित्य समिति, इन्दौर से लिखे गये इस पत्र में प्रकट विनोद की बानगी लीजिए—

"स्वस्ति श्री सर्वोपमान योग्य सकलगुणनिधान, प्रवासी भारतीयों की जान, परम सुजान, सद्‌गुण रत्नों की खान, घासलेटी-आन्दोलन के महायान, गंगा-जल-निर्मल, यमुना-जल-शीतल, पावन पवित्र, अति विचित्र, ज्ञाति शिरोमणि इत्यादि विविध विरुदावली विराजमान

[1] पद्मसिंह शर्मा के पत्र, प्राक्कथन, डा० हरिशंकर शर्मा, पृ० ७। [2] वही, परिशिष्ट, श्रीराम शर्मा, पृ० २४७

श्री (एक सौ अनगिनत) मान् चतुर्वेदी जी उर्फ 'ऋग्वी जी' महाराज जय जमना मैया की।

अपरञ्च समाचार यह है कि यहाँ श्रीरामजी की कृपा से कुशल छेम है, आपका मंगल सदा जमना मैया से चाहते हैं। अग्रे वार्ता यह है कि बहुत दिनांसुं आपको पत्र नहीं आयो, जे का बात है, जे आप चिट्ठिन को उत्तर नाँय देत ? क्या मटियाबुर्ज वालों ने हमला बोल दिया है या किसी नये आन्दोलन का झण्डा उठा लिया है जो पत्रों का उत्तर देते भी नहीं बनता।"[1]

उपर्युक्त पत्र में श्री चतुर्वेदी जी के लिए प्रयुक्त विविध प्रकार के सम्बोधन और मध्य में बिगड़ी हुई ब्रजभाषा से हास्य की उत्पत्ति की गई है।

गुरुकुल कांगड़ी से अगहन बदि ५, १६८५ रविवार को श्री वियोगी हरि को लिखे गए पत्र में भी इसी प्रकार का विनोद प्रकट हुआ है। पर्याप्त समय की प्रतीक्षा के पश्चात् श्री वियोगी हरि से पत्रोत्तर प्राप्त होने पर आचार्य जी ने अपनी विनोदी वृत्ति के अनुकूल उन्हें लिखा—

"प्रिय वियोगी हरिजी महाराज, नमो नमस्तेस्तु सहस्र कृत्वः। आखिर आपकी निद्रा टूटी, अज्ञातवास से प्रकाश में आना ही पड़ा। मैं हैरान था कि किस कन्दरा में जा छिपे। क्या बात हुई जो इस तरह एकदम मौनी बाबा बन गए।"[2]

आर्यमित्र कार्यालय आगरा से दिनांक २६ अगस्त १६५० में आचार्य जी ने वैद्य कल्याणसिंह को पत्र लिखा था। इस पत्र के माध्यम से दर्ज कराई गई शिकायत में भी आचार्य जी के इसी विनोदी मूड के दर्शन होते हैं—

"अजी वैद्य जी, नमस्ते !

मर्दे खुदा ऐसी भी क्या खुदगर्जी। माना कि 'फसल के दिन हैं' फिर भी दीन-ओ-दुनिया से इतनी बेखबरी। गर्जमन्दों की अर्ज़ सुनने तक की फ़ुर्सत नहीं। जवाब तक नदारद, लाहौल विला कुवत, उस दिन एक दरख्वास्त भेजी थी, पहुँची ज़रूर होगी, मैंने खुद पोस्ट की थी। पत्र बहुत साफ़ लिखा था, न पहुँचती तो लौटकर आती। भेजने वाले का पता भी दर्ज था। इसलिए न पहुँचने का हीला नहीं बन सकता। आखिर आपने उत्तर क्यों नहीं दिया। खत तो 'जवाबतलब' ज़रूरी था। ओझा जी से सम्मति लिखा कर भेज देते कोई बड़ी बात न थी, इन्तज़ार करते-करते आँखें पथरा गई जिस तरह रोगियों की हाय-हाय सुनते तुम्हारा दिल पथरा गया है।"[3]

एक बार पर्याप्त तन्दुरुस्त और हट्टे-कट्टे मास्टर रामस्वरुप गर्ग को बुखार हो आया। उनकी इस विरोधाभासपूर्ण परिस्थिति पर आचार्य जी परिहास किये बिना न रह सके। दिनांक २१ सितम्बर १६२५ को आर्यमित्र, कार्यालय, आगरा से मास्टर जी के नाम लिखे पत्र में आचार्य जी के पत्र में प्राप्त ये पँक्तियाँ उनके विनोदी स्वभाव की द्योतक हैं—

"आप-सा मोहतात मेहनती, वर्जिशी और तकरीर-पसन्द हट्टा-कट्टा हेडमास्टर इस तरह बुखार की जद में कैसे आया। पढ़ने से जी चुराने वाले शरीर लड़कों की बद्दुआ का असर तो नहीं।"[4]

आचार्य जी ने अपने पत्रों में कितने ही स्थलों पर अपने संगी-साथियों को मीठी झिड़कियाँ भी दी हैं, परन्तु उनमें कड़वाहट नहीं आने पायी है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१—"मालूम होता है महात्मा की मदहसराई करके अब तुम मामूली आदमियों से बात करना शान के खिलाफ समझने लगे हो।"[5]

---

[1]—वही पृ० १११, पत्रसंख्या ११६। [2]—वही पृ० २५, पत्रसंख्या २४। [3]—वही पृ० १६६-१७०, पत्र संख्या १७७। [4]—वही पृ० २०८, पत्र संख्या २२६। [5]—वही पृ० ४४, पं० हरिशंकर शर्मा को लिखा गया पत्र, सं० ४४।

२–"मालूम होता है अब आप पूरे सम्पादक बन गए हैं, तभी तो हमारी पसन्द की हुई कविता को नापसन्द करके छापने से इनकार कर दिया ! यह सम्पादकीय मद प्रायः आ ही जाता है।"[1]

आचार्य जी अपने ऊपर हँसने की कला में भी निपुण थे। वास्तव में वही हास्य श्रेष्ठ होता है जो अपने ऊपर हँसाता है। एक बार आचार्य जी को जुकाम हो गया। रात भर नींद नहीं आयी। इसकी सूचना देते हुए उन्होंने दिनांक ८ दिसम्बर १९२२ को अपने सतीर्थ पं० भीमसेन शर्मा को महाविद्यालय, ज्वालापुर से लिखा—

"मुझे कल रात से जुकाम और बुखार भी है। रात भर नींद नहीं आई—

"नाक से बहता है मेरी दोस्ते मन दरियाए गग।
सिर मेरा क्या आज यह कैलाश पर्वत होगया॥"[2]

व्यंग्य—

इस सजलहास और विनोद के साथ ही साथ आचार्य जी के पत्रों में अनेक स्थलों पर व्यंग्य के तीखे छींटे भी हैं। प्रकाशकों, सम्पादकों, मुद्रकों, बुद्धिहीन लेखकों, हिन्दी-सेवियों और नेताओं की वृत्ति पर उनके पत्रों में व्यंग्य का तेज नश्तर चलता हुआ प्रतीत होता है।

प्रकाशकों की अर्थलोलुपता और भ्रष्टरुचि पर व्यंग्य करते हुए आचार्य जी ने चैत्र वदी १३, १९८५, रविवार को गुरुकुल काँगड़ी से श्री वियोगी हरि जी को लिखा था—

"हिन्दी संसार में ऐसा प्रकाशक मिलना दुर्लभ है जो अच्छी चीज की कद्र करे और पेशगी पुरस्कार भी दे दे। प्रकाशक प्रायः अर्थपिशाच हैं। उनके यहाँ सब धानों का भाव १२ पंसेरी है। लोकरुचि को भ्रष्ट करने वाले माल के खरीदार हैं।"[3]

प्रकाशकों के समान पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकगण भी लेखकों का शोषण करते रहे हैं। एक बार 'सरस्वती' में आचार्य जी का एक लेख छपा परन्तु उसका कोई पारिश्रमिक उन्हें नहीं मिला। सम्पादक ने इस पर भी दूसरे लेख की माँग साथ-साथ कर दी थी। इस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए आचार्य जी ने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को दिनांक १ मई १९२९ को गुरुकुल काँगड़ी से लिखा था—

"'सरस्वती' और 'माधुरी' पूँजीपतियों की पत्रिकाएँ हैं। पर उनके सम्पादक अपनी कारगुजारी दिखाने के लिए लेखकों को कोरा टरका देते हैं ! फिर भी लेख लेना अपना हक समझते हैं।"[4]

मुद्रकों का झूठ बोलना और काम को निरन्तर देर से करना प्रसिद्ध है। आचार्य जी भी प्रेस वालों की इस प्रवृत्ति के शिकार हुए थे। अपनी पुस्तक 'प्रबन्ध मंजरी' की छपाई कराते समय इसी सन्दर्भ में दिनांक ८ अक्टूबर '२९ को उन्होंने पं०हरिदत्त शास्त्री को कलकत्ता से पत्र लिखा था, जिसमें मुद्रकों की प्रवृत्ति पर हास्यपूर्ण व्यंग्य किया गया है—

"मैं तो कहता हूँ पुस्तक छपाने से बड़ी मुसीबत और नहीं है। वही लोग अच्छे रहे जो इस छापे के युग से पहले ही मर गये। कहीं व्यास जी को अपने पुराण और महाभारत छपाने पड़ते तो चीं बोल जाते, एकदम मर्त्य-लोक छोड़कर भाग जाते। और कहीं दुर्वासा जी का प्रेस से काम पड़ जाता तो कष्ट कंटक कट जाता। शाप देकर प्रेस वालों की सातकुली को भस्म कर देते। कहीं दुर्वासा जी मिल जाएँ तो ख्याल रखना किसी तरह इन प्रेसवालों से उन्हें भिड़ा दिया जाय, तो संसार का उद्धार हो जाए। पहले लोग हाथ से लिखते थे तो पुस्तक की कद्र जानते थे, पढ़ते थे, याद करते थे और आदर से रखते थे। आज के लोग हैं पैसा फेंका, पुस्तक खरीदी, फाड़-तोड़कर अलग की,

[1]वही पृ० ६७, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा गया पत्र, सं० ६८। [2]वही पृ० २०६, पत्र संख्या २२४।
[3]वही पृ० २६, पत्र संख्या २५। [4]वही पृ० ७९, पत्र संख्या ८१।

इसीलिए कुछ आता-जाता भी नहीं । ग्रंथ-चुम्बक ही रह जाते हैं । ज्यों-ज्यों प्रेस का काम पड़ता है मेरी तो यही धारणा दृढ़ होती जाती है कि वह अच्छा था जब लोग श्रौत (कानों) से काम लेने वाले और स्मार्त (स्मृति से याद रखने वाले) होते थे । लिखना-पढ़ना सब फिजूल है और यह प्रेस-सिस्टम तो एकदम जहन्नुमी चीज है ।"[1]

आचार्य जी हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के प्रवर्तक माने जाते हैं परन्तु नासमझी के साथ तथ्य की हत्या करते हुए तुलनात्मक समीक्षा करने को वे उचित नहीं मानते थे । इसी सन्दर्भ में उन्होंने माघ कृ०१०, १९८४ को काव्य-कुटीर, नायक-नगला, चाँदपुर (बिजनौर) से श्री वियोगी हरि जी को पत्र लिखते हुए अपने जो विचार प्रकट किए , वे ऐसे अज्ञानी लेखकों की वास्तविक स्थिति के अच्छे दिग्दर्शक हैं—

"महारथी" के नवीन अंक में, जिसमें आपका कड़खा छपा है, एक महारथी ने बिहारी और दास के एक दोहे की तुलनात्मक समालोचना लिखी है । कितना अत्याचार और अज्ञान है । दास का दोहा बिहारी की बिल्कुल नकल है । फिर भी 'भाव साम्य बिलकुल नहीं' और दास का दोहा अच्छा है । 'हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का रोग संक्रामक होकर फैल रहा है । दूसरे महारथी 'समालोचक' के नवीन अंक में फर्माते है 'मतिराम सतसई' के प्रकाशन से बिहारी का आसन छिन गया ।' जहाँ ऐसे विवेचक हों, बस साहित्य का बेड़ा पार है ।[2]

हिन्दी लेखकों की पदलोलुपता और पदवीलोलुपता का दिग्दर्शन आचार्य जी की निम्नलिखित पंक्तियों से होता है । ये पंक्तियाँ चैत्र ३०, १९७६ को नायक नगला से श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी को लिखे गए पत्र में से उद्धृत हैं, जिनमें साहित्य सेवी पं० गौरीशंकर ओझा को सम्मेलन के सभापति पद से हटाकर किसी अन्य को सभापति पद सौंप दिया गया था—

"हिन्दी वालों का बाबा आदम ही निराला है । साहित्य सेवियों की कद्र कैसे हो । इन्हें तो रायबहादुर, कोई बड़े भारी लीडर और लक्ष्मीवाहन चाहिएँ । साहित्य सेवी लोग तो यहाँ बेगारी और मजूर हैं ।"[3]

श्री हरिशंकर शर्मा को नायक नगला, चांदपुर से दिनांक ८ सितम्बर १९२६ को लिखे गए पत्र में आचार्य जी ने साहित्यिक संस्थाओं में व्याप्त 'लीडरी' पर व्यंग्य करते हुए लिखा था—

"ढोंगी लीडरों का ज़माना है, मौज है उनकी । चतुर्वेदी जी और कवि जी की कद्र करने वाले कहाँ हैं ! जिधर देखिए यार लोगों ने अखाड़े बना रखे हैं, उनमें खुशामदी, स्वार्थी और मक्कार पड़े दंड पेलते हैं । भले आदमियों को कौन पूछता है ।[4]"

अस्तु, आचार्य जी के पत्रों में जहाँ मार्मिकता और अपने संगी साथियों को स्मरण रखने की महती भावना है, वहाँ उनमें विनोद का भाव और आवश्यकता पड़ने पर व्यंग्य भी प्रकट हुआ है । उनके व्यंग्यों में चरपरापन और तीक्ष्णता के साथ प्रखरता भी है; परन्तु विनोद और परिहासपूर्ण स्थलों पर वे मात्र आनन्द की भावना से भरे हुए प्रतीत होते हैं ।

—हिन्दी विभाग,
वर्धमान कालेज, बिजनौर ।

[1]वही, पृष्ठ १२६-२७, प० सं० १३१ । [2]वही पृ० १२६-१२७, पत्र संख्या १३१ । [3]वही पृ० १७६, पत्र संख्या १९० । [4]वही पृ० ३१, पत्र संख्या ३० ।

पं० पद्मसिंह शर्मा की भाषा और शैली

—श्री किशोरीदास जी बाजपेयी

हिन्दी साहित्य के सर्वोत्कृष्ट समालोचक स्वर्गीय पं० श्री पद्मसिंह जी शर्मा की भाषा में सजीवता और शैली में चुटीलापन है। वे काव्यालोचक थे। काव्य में भी विशेषतः शृंगारमयी रचना की परख आपने की है। आपकी भाषा शृंगार के अनुरूप है और शैली उसका पोषण करती है। यही कारण है कि साहित्य संसार ने एक स्वर से आपकी प्रशंशा की है—उनकी उस आलोचना पर न्योछावर है। 'विहारी की सतसई' का शर्मा जी के 'संजीवन भाष्य' के कारण 'अगनित बढ्यो उदोत।' जिन्होंने कभी आँख उठाकर सतसई की ओर न देखा था और न देखना चाहते थे वे भी उसके पक्के हिमायती बन गये। 'सञ्जीवन' ने अपना काम कर दिया। अँगूठी से बहुत ज्यादा कीमत का उसमें जड़ा हुआ नग निकला, जिसने सबका ध्यान उधर आकर्षित कर लिया। परस्पर एक-दूसरे की छटा बढ़ाई। लोगों की यह आशंसा पूरी हुई कि 'रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन'। विहारी को अनुरूप ही समालोचक मिले। यह कितने सौभाग्य की बात है।

संसार में सब तरह के जीव होते हैं। किसी को कुछ अच्छा लगता है और किसी को कुछ। किसी एक ही वस्तु से सब का प्रसन्न होना प्रायः असम्भव है। फलतः शर्मा जी की समालोचना शैली और भाषा भी हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वानों को पसन्द नहीं पड़ी। श्री राम चन्द्र शुक्ल ने और बाबू श्री श्याम सुन्दर दास जी बी० ए० ने स्वर्गीय शर्मा जी की भाषा और शैली को अच्छा नहीं बताया है। बाबू साहब लिखते हैं—"शर्मा जी की समालोचना शैली बड़ी व्यंगमयी हो गयी है और इसमें कवियों की प्रशंसा में 'वाह-वाह' कहने का उर्दू ढंग पकड़ा गया है। यदि शर्मा जी कुछ अधिक गम्भीरता और शिष्टता साथ लिये रहते तो और अच्छा रहता। कदाचित् उनकी उछलती, कूदती, फुदकती हुई भाषा-शैली के लिये यह सम्भव न था।"

दुख और आश्चर्य का विषय है कि जिस व्यंग को कविता का सर्वस्व कहा गया है, जिस पर साहित्य-ग्रन्थ कुर्बान है, उसे ही बाबू साहब नापसन्द करते हैं! इस पर क्या कहा जाय।

बाबू साहब का यह भी कहना है कि 'शर्मा जी अपने को यदि और अधिक गम्भीर रखते तो अच्छा होता।' मैं कहता हूँ कि यदि ऐसा होता तो बुरा होता। उस दशा में 'सञ्जीवन' सञ्जीवन न रह जाता, कुछ और ही हो जाता। आज तक कितनी काव्य-आलोचनाएँ प्रकाशित न हुयीं? उनमें से कौन ऐसी है, 'सञ्जीवन' के अलावा, जिसने अपने आलोच्य की ओर लोगों को आकर्षित किया हो, और इतनी चमक-दमक पायी हो? काव्य और शृंगारात्मक काव्य—कुछ दर्शन शास्त्र है ही नहीं जिसकी आलोचना में गम्भीरता और शैली में रोना स्वीकार किया जाय। प्रतिपाद्य या आलोच्य विषय के अनुसार भाषा और शैली का होना आवश्यक है। यदि आप किसी वेदान्त ग्रन्थ की आलोचना करते हैं, तो गम्भीरता की आवश्यकता है; पर कविता की आलोचना में यह गम्भीरता अत्यन्त फीकापन ला देगी, विशेषतः शृंगार और हास्य-रस की कविता के विषय में। यही सब सोच समझ कर तो साहित्य-ग्रन्थों में प्राचीन आचार्यों ने लिखा है कि प्रतिपाद्य विषय आदि के अनुसार भाषा और शैली बदलनी चाहिए। सदा एक शैली का स्वीकार

साहित्य में हानिकर है। बाबू साहब की गम्भीरता सर्वथा अवाञ्छनीय है।

बाबू साहब ने शर्मा जी की भाषा को उछलती, कूदती तथा फुदकती हुई बतलाया है। यही तो चाहिए। यही तो सजीव भाषा है। मुमूर्षु निर्जीव भाषा का कविता क्षेत्र में क्या काम? उसे कौन पूछेगा? परीक्षा के विद्यार्थी भले ही जबरदस्ती सिर पर लाद लें, और कोई पूछने वाला नहीं।

कवियों की प्रशंसा में 'वाह-वाह' के उर्दू ढंग को, बाबू जी ने अच्छा नहीं समझा है। अपनी समझ! सहृदय लोग तो रस-सिद्ध कवि की उत्कृष्ट कविता की सहस्र-मुख होकर प्रशंसा करते हैं और उनके मुख से ही नहीं, नेत्रों से भी 'वाह' (वाः, नीर, वाष्य) निकल पड़ता है। 'गुणाधिके वस्तुनि मौनिता' उनके हृदय में चुभती है। तभी तो वे सहृदय हैं। बाबू साहब किसी की प्रशंसा में 'वाह' न निकालें, तो उनकी इच्छा।

जो भी कुछ हो, शर्मा जी की जोड़ का समालोचक अभी तक हिन्दी संसार में पैदा नहीं हुआ है।

—'त्यागी' पद्मसिंह अंक से साभार

स्व० आ० पद्मसिंह शर्मा के प्रति-

श्रद्धाञ्जलि

—श्याम सुन्दर 'बादल'

— १ —

संस्कृत हिन्दी और फारसी भाषाओं के,
मान्य आप आचार्य, विज्ञ, वर-विद्याओं के।
पक्षपात से दूर सुहृदय शिक्षक प्यारे।
समालोचना सूत्रधार तुम ही थे न्यारे।
सतसैया पर लिखित वह
लेख-मालिका आपकी।
परिचायक है पूर्णतः –
सफल लेखनी मापकी ॥

— २ —

निज कृतियों पर उच्च पारितोषिक थे पाए।
सम्मेलन के रहे सभापति जन-मन-भाए।
दयानन्द स्वामी के- मत के रहे प्रचारक।
और उसी के प्रिय व्याख्याता वाणी-साधक!
निज कृतियों के रत्न प्रिय
नित संग्रह करते रहे!
राष्ट्र-गिरा की शक्ति नित
हिन्दी में भरते रहे ॥

— ३ —

कोमल 'पद्म' समान 'सिंह' सम दृढ़ निज पथ के।
यथा नाम गुण तथा 'अन्त' तक साधक 'अथ' के।
'गुरुकुल' के मुख-पत्र "सत्यवादी" सम्पादक।
धनी चौमुखी प्रतिभा के शंकर-प्रण पालक।
स्वामी श्रद्धानन्द की
श्रद्धा के आधार थे।
'पद्मसिह शर्म' लिए
नवयुग का उद्धार थे ॥

—राठ, हमीरपुर

शर्मा जी के संस्मरण

—श्री ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल'

पं० पद्मसिंह शर्मा अब इस संसार में नहीं हैं। हिन्दी जगत में इस भयंकर घटना से किसे दुःख नहीं हुआ? शर्मा जी से परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य रामजीलाल शर्मा की कृपा से मुझे आज से (अक्तूबर १९३२ से) ८ वर्ष पहले प्राप्त हुआ था। तत्पश्चात दिन-ब-दिन उनकी कृपा मुझ पर बढ़ती ही गयी। शर्मा जी जब प्रयाग पधारते, तो अवश्य खोज कर मुझे दर्शन दे जाते थे। अनेक बार उनके सत्संग का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है।

शर्मा जी हिन्दी, संस्कृत, उर्दू तथा फारसी के ज्ञाता थे। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के वे एक मार्मिक पण्डित थे तथा उसके गुणों को परखने वाले थे। उन्हें ब्रजभाषा के सैकड़ों उत्तमोत्तम छन्द याद थे, तथा उनकी नोट-बुकों में दर्ज थे। ब्रजभाषा के कवियों में वे बिहारी, मतिराम, घनानन्द आदि के बड़े भक्त थे, और प्रायः ऐसे लोगों से इनकी सूक्तियाँ सुना करते थे, जिन्हें कवियों के छन्द कण्ठस्थ रहते थे। खड़ी बोली के कवियों में पं० नाथूराम शंकर शर्मा और बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कविताए उन्हें खूब पसन्द थीं। शंकर जी के वे अपार भक्त थे। उनकी कविताएँ पढ़ते-पढ़ते और कविताओं के शब्दों तथा अर्थ-गाम्भीर्य की व्याख्या करते-करते वे थकते न थे। शंकर जी के 'अनुराग-रत्न' के छन्दों को वे प्रायः स्वयं ढूढ़-ढूढ़कर सुनाया करते थे, और जिसका कण्ठ पढ़ने में मधुर होता था, उसे सुनाने के लिए प्रोत्साहित करते थे। संस्कृत के वे पण्डित थे। माघ, मम्मट, बाण, कालिदास के श्लोक वे अक्सर कहते सुने जाते थे। शर्मा जी साहित्य के मर्मज्ञ थे। इसमें सन्देह नहीं कि वे काव्य तथा साहित्य की बारीकियों को खूब समझते थे कभी-कभी वे किसी-किसी कविता का ऐसा चमत्कारिक अर्थ करते थे कि आश्चर्य होता था। महाकवि अकबर के काव्यों का रसास्वादन वे जिस खूबी के साथ कराया करते थे, उनकी कविताओं की बारीकियों और अनोखी सूझ की वे जैसी व्याख्या करते थे, और उससे जो आनन्द प्राप्त होता था, वह वास्तव में उनके चले जाने पर रह-रह कर स्मरण आता है।

किसी भी साहित्यकार या कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह एक छकड़ा पोथी ही लिखकर मरे, तभी अमर हो सकता है, नहीं तो नहीं। पं०पद्मसिंह शर्मा उन छकड़ा-पोथी लिखने वालों में से नहीं थे वरन् उन्होंने हिन्दी में एक ऐसी शैली ईजाद की तथा हिन्दी को एक ऐसी चीज़ भेंट की, जिससे उनका नाम अमर रहेगा। गद्य को ऐसे मनोरंजक रूप में उन्होंने जनता के सम्मुख रखा कि सबका ध्यान इस नयी वस्तु की ओर आकर्षित हो उठा। दूसरी चीज है समालोचना। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी में समालोचना की केवल रस्म अदा की जाती थी। उस समय की समालोचना का समालोचना-साहित्य में कोई विशेष मूल्य नहीं रहता था, परन्तु पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई संहार' लिखकर संस्कृत, उर्दू, फारसी और हिन्दी कवियों तथा उनकी कृतियों की तुलना करते हुए जो आलोचना लिखी, वह एकदम नयी थी। इन्हीं दो कृत्यों ने पण्डित जी का नाम हिन्दी में अमर कर दिया और इसी से वे आचार्य माने जाने लगे।

शर्मा जी बड़े निष्पक्ष समालोचक थे। कुछ लोगों का ख्याय था कि पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र सनातनधर्मावलम्बी थे और शर्मा जी आर्यसमाजी, इसलिए शायद उन्होंने मिश्र जी की सतसई की टीका की आलोचना की। परन्तु यह बात बिलकुल असत्य थी। शर्मा जी से इसी सम्बन्ध में

में हमने एकबार पूछा भी था, परन्तु उन्होंने साफ तौर से बतलाया कि आलोचना लिखने में ज़रा भी भेदभाव नहीं था, केवल साहित्य में धाँधले बाजी और एक इतने बड़े कवि के काव्य की दुर्दशा होते देखकर ही आलोचना लिखी गयी थी। शर्मा जी स्पष्टवादी थे। वे किसी भी पुस्तक के सम्बन्ध में अपनी सच्ची राय देने में ज़रा भी संकोच नहीं करते थे। उनकी 'घूँसेदार आलोचकवृत्ति' से वास्तव में बहुत लोग घबराते थे। जब 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' की उर्दू पुस्तक की समालोचना उन्होंने 'विशाल भारत' में प्रकाशित करवाई, उस वक्त बड़े-बड़े एकेडमी धुरन्धरों—खास कर उर्दूदाँओं के कान खड़े होगये थे। एकबार का जिक्र है कि बिस्मिल इलाहाबादी ने अपनी कविताओं के संग्रह 'कलामे बिस्मिल' में पण्डित जी से भूमिका लिखने का आग्रह किया। वह संग्रह हिन्दी प्रेस के मालिक स्वर्गीय पं० रामजीलाल शर्मा प्रकाशित करने जा रहे थे। बहुत कुछ दबाव डालने पर उन्होंने भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया। खैर, भूमिका लिखी गयी। परन्तु उस भूमिका से बिस्मिल साहब सन्तुष्ट नहीं हुए। इसलिए पंडित जी से यह आग्रह किया गया कि वे उसमें कुछ तरमीम कर दें। पं० रामजी लाल शर्मा ने भी ऐसी ही इच्छा प्रकट की थी, परन्तु शर्मा जी ने यह स्पष्ट लिख दिया कि भूमिका छपे तो वही छपे, नहीं तो नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे अपने विचारों के दृढ़ व्यक्ति थे। यद्यपि बिस्मिल साहब से उनका खासा परिचय था, परन्तु बिस्मिल साहब की कविताओं के बारे में जो उनकी राय थी, उसको उन्होंने स्पष्ट प्रकट कर दिया।

पंडित जी हास्य-प्रिय भी खूब थे। जब वे प्रयाग पधारते, तब बड़ा आनन्द रहता। चाय के बड़े शौकीन थे। गर्मागर्म चाय पिलाते रहिये फिर क्या पूछना। बड़े प्रसन्न रहते थे। हिन्दी प्रेस के मालिक पं० रघुनन्दन शर्मा के छोटे भाई श्री ब्रजनन्दन शर्मा की हाजिरी उन्हें चाय बनाकर पिलाने की थी। चाय पीने के लिए लोगों की जमात बैठ जाया करती थी। हम लोग तो नये पीने वाले थे, इसलिए बूरे की हम लोग अधिक आवश्यकता महसूस करते थे—परन्तु जो वास्तविक रूप से चाय के पियक्कड़ होते हैं, उन्हें बूरे की साधारणतः ही आवश्यकता रहती है। मैंने ब्रजनन्दन से कहा कि ज़रा चाय में बूरा ज्यादा डाल देना। इतना सुनते ही पंडित जी बोल उठे—"नहीं जी तुम्हें मालूम नहीं चाय में बूरा उतना ही होना चाहिए जितना लीडरों में ईमान।"

एक बार 'भारत' में लोढ़ाराम ने रीडर-बाजों पर एक मज़ाक लिख दिया—

"हमारे सैयां होई गैलेन रीडर बाज।
सावन बादर रिमझिम बरसत,
ठहरि ठहरि के मो जिय तरसत
आवन कहिगे अजहुँ न आये—
कनवेसिंग ते आज। हमारे...।

एक अध्यापक महोदय उन दिनों प्रयाग पधारे थे। अध्यापक जी पर भी उन दिनों एक दो मज़ाक निकले थे। इस पद्य के निकलते ही अध्यापक महोदय को सन्देह हुआ हुआ कि यह भी मेरे ही ऊपर मजाक है। हम लोग बैठे हुए थे। पं० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी भी उस दिन, भगवान की दया से, मजलिस को सुशोभित कर रहे थे। पंडित जी तो उन दिनों प्रेस में रहते ही थे। वे भी रीडर बाज़ी के चुटकुलों पर खूब आनन्द लेते थे। हाँ तो मजलिस में अध्यापक जी बिगड़ रहे थे। अध्यापक जी ने कहा—"देखो यह भी मेरे ही लिए है और किसके लिए है, बताइये आप लोग।" शर्मा जी ने हँसते हुए कहा—"अरे अध्यापक जी आप तो विधुर हैं—आपके बिगड़ने से तो मालूम होता है कि आपके कोई उपपत्नी भी है। क्योंकि आप रहते हैं कनवेसिंग में और उपपत्नी सावन के बादल देख-देख घबराती होगी।" बेचारे अध्यापक जी बन गये। सब लोग प्रसन्नता से हँसने लगे।

साहित्य सेवियों का आदर भी शर्मा जी खूब करते थे। वे जहाँ जाते थे, यदि कोई साहित्यिक वहाँ होता, तो उससे अवश्य मिल आते थे। वे इससे अपनी हतक इज्जती नहीं समझते थे। एक बार जब वे प्रयाग पधारे। तब उन्होंने अकबर साहब की कब्र के दर्शन की इच्छा प्रकट की। पता लगा कि लूकर गंज मुहल्ले के

समीप कब्रिस्तान में उनकी कब्र है। पंडित जी एक दिन लीडर प्रेस आये। हमें अपने साथ लेकर अकबर साहब की कब्र की तलाश में गये। बड़ी खोज के बाद कब्र मिली। कब्र की दुर्दशा देखकर वे बड़े दुखी हुए, और उनके पुत्र महोदय को उन्होंने बहुत- धिक्कारा, और कहा कि देखो ! अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है—इतने बड़े कवि की कब्र की यह दुर्दशा हो रही है—एक तख्ती भी नहीं लगायी गयी कि लोग पढ़ कर जान तो लें कि कब्र है कौन सी'। फिर उन्होंने इधर-उधर फूले हुए कुछ फूल तोड़ कर बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उनकी कब्र पर चढ़ाये। इसका उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि उनके हृदय में साहित्य-सेठियों के प्रति कितनी श्रद्धा थी, औरऐसा होना आवश्यक भी है। शेक्सपीयर आदि के स्मृति स्थान आज इंग्लैंड के लिए ही नहीं, वरन् यूरोपीय देशों के लिए भी तीर्थ हो रहे हैं। प्रयाग में रहते हुए वे अक्सर कहा करते कि किसी दिन द्विवेदी जी के दर्शन के लिए दौलतपुर चलना चाहिए। परन्तु उनकी मन की बात मन में ही रह गयी। जिन दिनों द्विवेदी महाराज प्रयाग पधारे, उन दिनों पंडितजी प्रयाग में नहीं थे। द्विवेदी जी के स्वागत की खबर अखबारों में पढ़ कर शर्माजी ने पं० रघुनन्दन शर्मा को जो पत्र लिखा था वह हृदयग्राही था। पत्र में लिखा था— "तुमने द्विवेदी जी का खूब सम्मान और आदर किया, इसे पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई—परन्तु मेरा दुर्भाग्य कि उन के दर्शनों से वंचित रह गया।

पंडित जी का स्वभाव बड़ा सरल था। जिसका उन से सम्पर्क हो जाता था उसका गुणगान वे बराबर करते रहते थे, चाहे वह छोटा हो या बड़ा। इसकी उन्हें फिक्र नहीं थी। जिससे उनकी जान-पहचान हो जाती उसे वे भूलते नहीं थे।

पंडित जी काव्य-प्रेमी भी ऊँचे दर्जे के थे। काव्य चर्चा करते रहिये, कविताएँ सुनाते रहिये, वे रात-दिन और दिन-दिन भर आपसे पिछड़ने वाले नहीं थे। कवि सम्मेलन में जाते थे, और अच्छी कविताओं पर दाद भी खूब देते थे। वे अखाड़िये व्यक्ति थे। बड़े-बड़े मुशायरों और कवि-सम्मेलनों का निरीक्षण भी उन्होंने किया था, इसलिए कवियों को प्रोत्साहन देने और उनसे कविता सुनाने के लिए कहने की तरकीब वे खूब अच्छी तरह जानते थे। नवयुवकों को वे काफी प्रोत्साहन देते थे। आगरे के श्रीपतिलाल दुबे को खास तौर से पंडितजी ने ही ट्रेनिंग दी थी कि वे कविता अवश्य सुनाया करें। पंडित जी में सचमुच यह एक जबरदस्त गुण था कि वे अपने लोगों का विज्ञापन खूब करते थे। अपने किसी भी व्यक्ति की तारीफ करने में वे ज़रा भी संकोच नहीं करते थे। कवि-सम्मेलन के वे बड़े पक्षपाती थे। उनका विचार था कि कवि-सम्मेलन होने चाहिए और वहाँ सुन्दर कविताओं की प्रशंसा होनी चाहिए, तथा उनको दाद भी यथेष्ट मिलनी चाहिए। शर्माजी इसी अपने गुण तथा काव्य मर्मज्ञता के कारण कितने ही कवि-सम्मेलनों के सभापति भी चुने गये थे।

एक बार का जिक्र है कि पिछले दशहरे के अवसर पर कालाकांकर के राजा अवधेश सिंह ने अपने यहाँ कवि सम्मेलन करने का निश्चय किया। कवि सम्मेलन के संयोजक थे राजा साहब के अनुज भाई सुरेश-सिंह जी। श्री सुमित्रानन्दन पन्त भी योग दे रहे थे। इन लोगों ने हमें लिखा कि किसे सभापति बनाना चाहिए। हमने राय दी किसी प्रसिद्ध कवि को सभापति बनाइये। परन्तु कवि सम्मेलन को केवल दो ही तीन दिन रह गये थे कोई कवि काला-काँकर जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। कुछ-न-कुछ अड़चन हर एक को पड़ गयी। उन्होंने फिर हमें लिखा। हमने उन्हें सलाह दी कि पंडित पद्मसिंह शर्मा को सभापति चुन लीजिए। वे इस समय प्रयाग में ही हैं। मैं प्रयत्न करूँगा कि वे कालाकाँकर चले आवें। अन्त में निश्चय भी यही हुआ। उन्होंने पंडित जी को निमन्त्रित किया। शाम को कवि सम्मेलन था, और भाई सुरेश सिंह जी का तार पहुँचा करीब ११ बजे दिन को। बड़ी कठिनाई हुई। पहले तो शर्मा जी राजी ही न होते थे। बड़ी आरजू मिन्नत की गई। खैर साहब, यह निश्चय हुआ कि मोटर से चलना चाहिए। हम शर्माद्वय अर्थात् तीन ब्राह्मण-एक साथ चल पड़े। डर तो लगा कि तीन का साथ चलना खतरनाक ही है। खैर किसी तरह रास्ता पूर्ण हुआ।

रास्ते में एक गाय भवानी की बलि होते-होते बची। हम लोग भी बचे न जाने किस पुण्य के बल से। हाँ, तो रात को कविसम्मेलन कालाकाँकर में हुआ। पहले पंडित जी का एक भाषण हुआ जो काफी सारगर्भित था। राजा साहब बड़े ही प्रसन्न हुए। वे पंडित जी की योग्यता पर मुग्ध हो गये। कवि सम्मेलन में यद्यपि कविता सुनाने वाले थोड़े ही थे, परन्तु पं० पद्मसिंह के कारण ऐसा समाँ बँध गया कि वास्तव में कवि-सम्मेलन बड़ा सफल हुआ। सम्मेलन रात को करीब ३ बजे खत्म हुआ परन्तु अन्त तक आप अपने ट्रेन्ड किये हुए शिष्य श्री श्रीपतिलाल दुबे की याद करते ही रहे। कहते थे कि यदि दुबे जी होते तो कविता वे खूब सुनाते।

पण्डित जी के राजनीतिक तथा सामाजिक विचार भी बड़े ऊँचे थे। राजनीतिक क्षेत्र में वे मुस्लिम कट्टरता के बड़े विरोधी थे। वे हिन्दुत्व के बड़े पक्षपाती थे। लाला हरदयाल और भाई परमानन्द के विचारों के वे समर्थक थे। वे कहा करते थे कि वास्तव में कट्टर पन्थ मुसलमानों को जवाब देने के लिए यही दोनों नेता ठीक हैं। महात्मा जी तो महात्मा हैं। पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय जी गोल-मेज कानफ्रेन्स में जाने के लिए जब विलायत जा रहे थे, तब वे एक दिन के लिये प्रयाग भी पधारे। उन दिनों शर्मा जी प्रयाग में ही थे। उन्हें जब पता चला कि पूज्य मालवीय जी प्रयाग पधारे हैं तब सलाह हुई कि आज उनके दर्शन किये जायें। हम शाम को पूज्य मालवीय जी के यहाँ पहुँचे। पूज्य मालवीय जी उसी समय आये थे, बैठे ही थे। उनके दो मित्र भी उनके पास उपस्थित थे। हम लोग पैर छूकर बैठ गये। आपस में कुछ देर तक बातचीत होती रही। एकाएक शर्मा जी ने कहा—"महाराज आपने तो हिन्दुओं को एक दम ही भुला दिया। सिंध भी आपने सौंप दिया। वह देखिये, काश्मीर एक हिन्दू राज्य था वह भी हाथ से जा रहा है (उन दिनों काश्मीर के विरुद्ध खूब आन्दोलन हो रहा था)।"

पूज्य मालवीय जी—"नहीं शर्मा जी, ऐसी बात नहीं है। हमने जो कुछ किया है हिन्दू महासभा के प्रस्ताव के अनुसार ही किया है। हम अपने अधिकार के लिये अन्त तक लड़ेंगे।"

शर्मा जी—"देखिये काश्मीर पर क्या-क्या बीत रही है। कोई अंग्रेजी पत्र इस पर कुछ भी नहीं लिख रहा है। आप ही जब अलग होते जा रहे हैं तब क्या किया जाय। सुना है 'हिन्दुस्तान-टाइम्स' ने भी काश्मीर के विरुद्ध कुछ छापा है।"

पूज्य मालवीय जी—"नहीं शर्मा जी, क्या करें, बड़ी भारी जिम्मेदारी है। समय को देखकर कार्य करना पड़ता है। 'लीडर' ने दो तीन नोट काश्मीर पर लिखे हैं (अपने सुपुत्र पं० रमाकान्त मालवीय जी की ओर इशारा करके) देखो जी, सुना है, 'हिन्दुस्तान-टाइम्स' ने कोई लेख छापा है, ज़रा देखकर एक पत्र तो उन्हें लिख देना।"

पं० पद्मसिंह जी का हृदय गद्-गद् हो उठा। हम लोग जब पूज्य मदनमोहन मालवीय जी से मिलकर घर आने लगे, तब रास्ते में बोले—"मालवीय जी पूज्य है, महात्मा हैं, क्या करें बेचारे, सब को प्रसन्न रखना चाहते हैं, किसी से बिगाड़ नहीं चाहते। साधु पुरुष हैं।"

आजकल के राजनीतिक क्षेत्र में लीडरों का वे बड़ा मज़ाक उड़ाया करते थे। 'लीडर-लीला' नामक एक मज़ाक भी लिखना चाहते थे।

हिन्दुस्तान एकेडेमी के जलसे के अवसर पर जब उन्होंने अपना व्याख्यान पढ़ा था तब बड़े-बड़े मुल्लाओं ने जो उर्दू के बड़े नामी गरामी थे, 'पंडत साहब' से हाथ मिलाया था। लाहौर के जस्टिस अब्दुल कादिर ने आपका व्याख्यान सुन कर कहा—"पंडत साहब आपका लेक्चर वाकई काबिले तारीफ रहा। हम लोगों के दिल को आपने वाकई बाँध लिया।" जस्टिस सुलेमान ने भी आपका बड़ा सम्मान किया। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उर्दू के लेखक अहम्मन्यता के अवतार होते हैं। वे अपनी भाषा की उन्नति में मुसलमान को छोड़कर दूसरे की रत्ती भर भी परवा

नहीं करते । परन्तु पद्मसिंह शर्मा अपनी उर्दू की योग्यता की बदौलत उन उर्दू वालों में प्रशंसित हुए। हिन्दुस्तानी एकेडेमी के एक साहब तो एक दिन बोले कि जनाब, अगर शर्मा जी का देहान्त न गया होता तो क्या आश्चर्य कि वे एक दिन हिन्दुस्तानी एकेडेमी के मन्त्री हो जाते। व्याख्यान के बाद ही वे कानपुर गये, और कानपुर से गये अपने घर नायक नगला । वहाँ प्लेग का प्रकोप था वहीं उनका देहांत होगया । यह कौन जानता था, कि पं० पद्मसिंह शर्मा हम लोगों के बिछुड़ने के बाद केवल दस-पन्द्रह दिन बाद ही इस संसार में न रहेंगे। उनकी अनेक बातें रह-रह कर याद आती हैं। एक बार पण्डित जी के सामने हमने प्रस्ताव रखा कि आप 'लिप्टन्स टी' के मालिक के पास 'एप्रिसियेशन' लिखकर भेजिए कि हमने तुम्हारी चाय के सबसे अधिक डिब्बे खर्च किये हैं, इसलिये बुढ़ापे में हमें मुफ्त मिलनी चाहिए । इस मज़ाक को उन्होंने खूब पसन्द किया था।

पण्डित जी जब प्रयाग पधारते थे तब वे हिन्दी प्रेस में ही ठहरते थे । पं० रघुनन्दन शर्मा उन्हें पिता-तुल्य अपने यहाँ रखते और सेवा सुश्रूषा करते थे । इसी से हम लोगों के साथ भी अक्सर उठना-बैठना होता था । अब उनके न रहने पर केवल उनकी स्मृति ही बाकी है । अभी उनकी स्मृतियों के अनेक भाव और विचार हमारे दिमाग़ में चक्कर काट रहे हैं, परन्तु. . . . अब अधिक नहीं लिख सकता ।

—विशाल भारत 'पद्मसिंह अङ्क' से आभार
कनखल, हरिद्वार

—::००::—

"यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक तत्सम शब्द उधार लिया हुआ है । यह उधार हिन्दी को अपनी दादी (नानी) से लेना पड़ता है । यदि मैं अपने सम्बन्धियों और मित्रों से प्रायः ऋण लेने की आदत डालूँ तो मैं विनष्ट हो जाऊँगा। इसी प्रकार यदि हिन्दी उस अवस्था में भी, जब उसके लिये ऋण लेना नितांत आवश्यक नहीं है, ऋण लेने का स्वभाव डालती रहे, तो वह भी विनष्ट हो जावेगी।"

पृष्ठ १४५-४६

—पं० पद्मसिंह शर्मा
(हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी)

●●●

आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा

—तोताराम 'पंकज'

हे माँ वाणी के वरद पुत्र ! साहित्य-शिरोमणि युगाधार ।
आचार्यप्रवर ! आराध्यदेव ! थे तुम सच्चे साहित्यकार ।।
तुम सहनशील यद्यपि उदार, पर था न तुम्हें रुचिकर प्रलाप ।
अपने गुण-गौरव-गरिमा की, तुम छोड़ गये हो अमिट छाप ।।
साहित्य-साधना में तन्मय, निर्लिप्त, सहज, शुचि, निर्विकार ।
आचार्यप्रवर ! आराध्यदेव ! थे तुम सच्चे साहित्यकार ।।
निर्बाध तपश्चर्य्या-निर्मल, थे निर्विकल्प, निरपेक्ष-दूत ।
निर्द्वन्द्व-निलय-निर्भीक-निपुण, भारतमाता के थे सपूत ।।
युगनिर्माता, युग के प्रतीक, दृढ़ पूर्वजन्म के संस्कार ।
आचार्यप्रवर ! आराध्यदेव ! थे तुम सच्चे साहित्यकार ।।
संकीर्ण समीक्षा पर डटकर, तुम नित, प्रहार करते प्रचण्ड ।
रच 'पद्म-पराग' विकीर्ण किया— वेदान्त-प्रवर्षण माप-दण्ड ।।
थे सत्यं शिवं सुन्दरम्मय, भाषा में अनुपम चमत्कार ।
आचार्यप्रवर ! आराध्यदेव ! थे तुम सच्चे साहित्यकार ।।
तुम सजग समीक्षक शिल्पी थे, छू तक न सका तुमको प्रमाद ।
कर दिया सृजनकर निर्विवाद, कवि 'देव-विहारी' का विवाद ।।
सतसई काव्य–सौष्ठव में तुम, दृढ़ता से लाये थे निखार ।
आचार्यप्रवर ! आराध्यदेव ! थे तुम सच्चे साहित्यकार ।।
सम-तुल्य समालोचना लिखी, हिन्दी का गौरव-मान बढ़ा ।
खटकी थो तुम्हें खड़ी बोली, मृदु ब्रजभाषा का रंग चढ़ा ।।
थे भीष्मपितामह, मेरुदण्ड, दे गये भगीरथ पुरस्कार ।
आचार्यप्रवर ! आराध्यदेव ! थे तुम सच्चे साहित्यकार ।।
दिग्भ्रमवश जिनको था अभीष्ट पाण्डित्य प्रदर्शन एक मात्र ।
कर गये मार्ग–निर्देश उन्हें, हर क्षेत्र तुम्हारा कृपापात्र ।।
मिल गया तेज में तेज ब्रह्म, साकार हो गया निराकार ।
आचार्यप्रवर ! आराध्यदेव ! थे तुम सच्चे साहित्यकार ।।

—सम्पादक,
साहित्यालोक, आगरा ।

पं० पद्मसिंह शर्मा का हिन्दी समीक्षा में योगदान

—डा० ओम प्रकाश शर्मा शास्त्री

पं० पद्मसिंह शर्मा हिन्दी आलोचना के आधुनिक काल के सूत्रधारों की अग्रणी पंक्ति में माने जाते हैं। द्विवेदी युग के उन दिनों में मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दर-दास, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि आलोचक समीक्षा-क्षेत्र में स्थान ग्रहण करने जा रहे थे। मिश्रबन्धुओं से पं० पद्मसिंह शर्मा का बिहारी और देव के बड़प्पन को लेकर साहित्यिक विवाद चरम सीमा का स्पर्श कर चुका था। देव और बिहारी के पक्ष को लेकर साहित्यिक जगत् इन प्रतिभाओं के साहित्यिक वाग्युद्ध का आनन्द ले रहा था। 'सरस्वती' पत्रिका के पृष्ठ इस समालोचना के लिए भरे जा रहे थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इसके द्रष्टा थे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पं० पद्मसिंह शर्मा के सम्वन्ध में विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि– 'इसके उपरान्त (मिश्रवन्धुविनोद के) पंडित पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। उसमें उस साहित्य परम्परा का बहुत ही अच्छा उद्‌घाटन है, जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध 'सतसई' की रचना की। 'आर्या सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' के वहुत से पद्यों के साथ विहारी के दोहों का पूरा-पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आई हुई साहित्यिक परम्परा के बीच बिहारी को रख कर दिखाया। किसी चली आयी हुई साहित्यिक परम्परा का उद्‌घाटन भी साहित्य-समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है। हिन्दी के दूसरे कवियों–मिलते-जुलते पद्यों की, बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा किया। इस पुस्तक में शर्मा जी ने उन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहार किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिए बिहारी पर किए गए थे। हो सकता है कि शर्मा जी ने भी बहुत से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होंने जो कुछ किया है वह अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है। हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३०।

ऊपर दिये इस उद्धरण का वाचन यह सिद्ध करता है समसामयिक होते हुए आचार्य शुक्ल ने समालोचक पं० पद्मसिंह शर्मा के तीन गुणों की स्वीकृति करली। एक तो साहित्यिक परम्परा का उद्‌घाटन करना साहित्य समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है। दूसरा तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा होना और तीसरा उनके (पं० पद्मसिंह के) बिहारी-पक्षपात का साहित्यिक मूल्य है। इन टिप्पणियों में आचार्य शुक्ल ने पं० पद्मसिंह शर्मा में आलोचक के पांडित्य, निष्ठा परम्पराज्ञान आदि गुणों को मान्यता दी है। आलोचक के निष्पक्ष होने के गुण को उन्होंने 'साहित्यिक मूल्य' कहकर पक्षपात मानते हुए भी आवरण चढ़ा दिया है। परन्तु इससे पं० पद्मसिंह शर्मा का बिहारी-पक्षपात उजागर हो गया है। जो अभी तक अमिट है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में यह भी कहा है कि 'शर्मा जी की पुस्तक से दो बातें हुईं। एक तो 'देव बड़े कि बिहारी' यह भद्दा झगड़ा सामने आया। दूसरे 'तुलनात्मक समालोचना' के पीछे लोग बेतरह पड़े। इस से यह प्रमाणित होता है कि पं० पद्मसिंह शर्मा 'तुलनात्मक समालोचना' के प्रारम्भकर्त्ता थे। हिन्दी साहित्य के आलोचक, केशव एवं चिन्तामणि के रीतिकाल के प्रवर्त्तक होने के विवाद को आज तक नहीं मिटा सके हैं। इसी भाँति हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्त्तक पं० पद्मसिंह

शर्मा हैं या आचार्य मिश्रबन्धु ? यह विषय भी विवादास्पद है। परन्तु पद्मसिंह शर्मा ही तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्त्तक हैं। चाहे उनसे पहले भी तुलनात्मक आलोचना के बीज एवं अंकुर, भक्ति-रीति काल के कवियों के सम्बन्ध में कही गयी उक्तियों में विद्यमान हों, परन्तु प्रखर रूप से तुलनात्मक समालोचना का स्वप्रतिभानुसार स्तर स्थापित करने का श्रेय पं० पद्मसिंह शर्मा को ही प्राप्त है। पं० शर्मा ने कवि बिहारी की आलोचना कवि देव से नहीं की। इसी से मिश्रबन्धुओं ने देव के काव्य को उठाया। इस बात की स्वीकृति 'देव और बिहारी' ग्रन्थ की भूमिका में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इन शब्दों में की है—

इस पक्षपात का चूडांत उदाहरण पाठकों को इसी बात से मिल जायेगा कि 'देव सदृश उच्चकोटि के शृंगारी कवि की कविता से बिहारी के दोहों की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक 'संजीवन-भाष्य' के प्रथम भाग में नहीं आने पाया है। यदि 'देव' और 'बिहारी' की तुलना होती और यह भी दिखलाया जाता कि बिहारीलाल देव से श्रेष्ठ हैं, तो बात ही दूसरी थी। ऐसी दशा में सर्वसाधारण के सामने उभय कविवरों के पद्य विशेष रहते और उन्हें अपनी राय भी कायम करने का मौका मिलता। चाहे वह राय बिहारी के अनुकूल ही क्यों न होती। पर भाष्यकार महोदय ने ऐसा अवसर ही नहीं आने दिया, मानो 'दास', 'पद्माकर', 'तोष' और 'सुन्दर' आदि कवियों से भी 'देव जी' को 'हीन' मान कर उन की कविता से तुलना करना भाष्यकार ने व्यर्थ समझा।" 'देव और बिहारी'—पृष्ठ ५१-५२।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि मिश्रबन्धु तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में पं० पद्मसिंह शर्मा की समालोचना की प्रतिस्पर्धा में ही उतरे थे और तब विवाद चल पड़ा, जो उत्तर प्रत्युत्तरों में चलता रहा।

तत्कालीन तुलनात्मक समीक्षा के सम्बन्ध में भी आचार्य मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा के तुलनात्मक समालोचक के रूप को समझने के लिए इन विचारों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है।

"आइए पाठक, अब आप तुलनात्मक समालोचना के बारे में भी हमारा वक्तव्य सुन लीजिए।.... कविता विशेष के गुण समझने के लिए उसमें आये हुए काव्योत्कर्ष की परीक्षा करनी पड़ती है। यह परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है। जाँच के अनेक ढंग हैं। कभी उस कविता को सब ओर से उलट-पलट कर देख लेने में ही पर्याप्त आनन्द मिल जाता है। कविता के यथार्थ जौहर खुल जाते हैं; पर कभी इतना श्रम पर्याप्त नहीं होता। ऐसी दशा में अन्य कवियों की उसी प्रकार की, उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने वाली सूक्तियों से पद्य विशेष का मुकाबला करना पड़ता है। इस मुकाबले में विशेषता और हीनता स्पष्ट झलक जाती है। यही क्यों ऐसी अनेक नई बातें भी मालूम होती हैं, जो अकेले एक पद्य के देखने से ध्यान में भी नहीं आती। ज़रा सा फर्क कवि की मर्मज्ञता की गवाही देने जारहा है"—(देव और बिहारी) पृष्ठ ३७-३८

२—"अब "तुलनात्मक समालोचना", की बात लीजिये। उसकी ओर लोगों का कुछ आकर्षण देखते ही बहुतों ने "तुलना" को समालोचना का चरम लक्ष्य समझ लिया और पत्रिकाओं में तथा इधर-उधर भी लगे भिन्न-भिन्न कवियों के पद्यों को लेकर मिलान करने। यहाँ तक कि जिन दो पद्यों में वास्तव में कोई भाव साम्य नहीं उनमें भी बादरायण सम्बन्ध स्थापित करके लोग इस 'तुलनात्मक समालोचना' के मैदान में उतरने का शौक जाहिर करने लगे।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५३१)

३—"प्राचीन टीकाओं के आधार पर—उनकी शैली पर या उनसे सहायता लेकर—जो कुछ लिखा गया है, उसमें भूल की कम सम्भावना है, भूलें जरूर हुई होंगी पर वह सबके साझे की होंगी। इसलिए "पंचों मिल कीजे काज, हारे जीते आवे न लाज" और मर्गे अम्बोह, जशने दारद (बहुत से आदमियों का मिलकर मरना भी एक खुशी का जशन है) का ध्यान करके कुछ संतोष है। पर "तुलनात्मक समालोचना" के तौर पर जो कुछ लिखा गया है उस की यथार्थता में संदेह का पूरा अवकाश है, क्योंकि यह मार्ग लेखक को स्वयं ढूंढ-भाल कर निर्माण करना पड़ा है।

इस पर किसी 'चन्द्रिका' या "प्रकाश" ने प्रकाश नहीं डाला। इस में किसी प्राचीन या नवीन टीका से रत्ती भर या इंच बराबर सहायता उसे नहीं मिली। इस की भूलों का उत्तरदायित्व केवल उसी पर है।"

(बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ, २५)

पहला उद्धरण पं० कृष्ण बिहारी के ग्रन्थ का है जिसमें तुलनात्मक समालोचना का गुण दो कवियों के पद्यों की तुलना में एक के उत्कर्ष और दूसरे के अपकर्ष का पता लगाना ही इस आलोचना-विधि का मुख्य कार्य माना गया है। कविविशेष की मर्मज्ञता का ज्ञान भी तुलनात्मक समीक्षा से होने का स्पष्ट संकेत दिया गया है।

दूसरा उदाहरण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास का है, जिस में केवल "तुलना" को ही तुलनात्मक समालोचना का उद्देश्य नहीं माना गया है। भावसाम्य न होने पर भी खींचतान करने वाले समालोचकों पर क्षोभ भी प्रकट किया गया है।

तीसरा उद्धरण पं० पद्मसिंह शर्मा की अपनी कृति का है जिस में उन्होंने 'तुलनात्मक समीक्षा, का मार्ग स्वयं बनाने का दावा किया है और कवियों की तुलना में भूलें होने का उत्तरदायित्व भी अपने कन्धों पर सहर्ष स्वीकार किया है।

इन तीनों टिप्पणियों से सिद्ध होता है कि तुलनात्मक समालोचना में किसी भी कवि के काव्य की आलोचना पूर्ववर्ती कवियों के काव्य के उद्धरणों से तुलना करके की जा सकती है। पूर्ववर्त्तियों का प्रभाव परवर्तियों पर सिद्ध किया जा सकता है, जैसे बिहारी पर पूर्व वर्ती सप्तशती लेखकों का प्रभाव प्रमाणित किया जा सकता है। तुलनात्मक समीक्षा समसामयिक कवियों के काव्य की भी की जा सकती है, क्योंकि उनकी सामाजिक धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदि परिस्थितियाँ प्रायशः समान होती हैं। इन मानदंडों के आधार पर पं० पद्मसिंह शर्मा दोनों रूपों में खरे उतरते हैं। उन्होंने बिहारी के काव्य की समालोचना संस्कृत और उर्दू के कवियों के काव्य से तुलना करते हुए, प्रौढ़ता से की, क्योंकि संस्कृतएवं फारसी आदि भाषाओं के साहित्य का प्रौढ़ ज्ञान उन्हें प्राप्त था। ब्रजभाषा के केशव, सुन्दर, सेनापति, तोषनिधि, पद्माकर, घासीराम एवं कालिदास के काव्य से बिहारी की कविता की तुलनात्मक समीक्षा उन्होंने की। गुण-दोषों की चर्चा भी कर दी। परन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है कि देव को उन्होंने क्यों छोड़ दिया। कवि देव के काव्य की आलोचना करने से उनका पांडित्य और अधिक निखर आता। मुझे लगता है कि देव के काव्य की विशालता से पं० पद्मसिंह शर्मा चिढ़ गए होंगे, क्योंकि देव ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण अन्य ग्रन्थों की काँट छाँट से किया है। अथवा पं० पद्मसिंह शर्मा देव कवि की यायावरी और रसिक वृत्ति से खार खा गए होंगे; अथवा औरसिया देव उन्हें भाये न होंगे। उनके कवित्त और सवैयों से अठखेलियाँ करना पं० पद्मसिंह शर्मा को रुचिकर न लगा होगा। देव भी श्रीकृष्ण भक्त थे और बिहारी भी। दोनों राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे। तब भी देव और बिहारी के काव्य की तुलना न करना पं० पद्मसिंह शर्मा की वैयक्तिक रुचि का ही द्योतक है ओर इसी पक्षपात को आचार्य शुक्ल ने साहित्यिक मूल्य का द्योतक माना है। इतने पर भी देव का तुलनात्मक मूल्यांकन न करने की बात आ ही जाती है ?

"सतसई-संहार" नामक लेख में पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने गम्भीर पांडित्य का परिचय दिया था। परम्परागत संस्कृत समालोचना के मानदंडों के द्वारा बिहारी के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ व्यक्त की थीं। इस से साहित्यिक जगत् में उनके पांडित्य का सिक्का जम गया था। वास्तव में तुलनात्मक समालोचना का एक उद्देश्य तो अवश्य पूरा हो गया था कि देव और बिहारी के काव्य-सम्बन्धी गुण-दोषों का भरपूर विवेचन हो गया। व्यक्तिगत पांडित्य सम्बन्धी आक्षेपों को छोड़ दिया जाए तो इस समालोचना-पद्धति से हिन्दी समालोचना का हित ही हुआ कि समालोचकों का ध्यान ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवियों पर जम गया और उनके काव्य का अध्ययन-मनन एवं चिन्तन होने लगा। हिन्दी काव्य शास्त्र के क्षेत्र में श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर पं० मोहन वल्लभ पन्त, पं० रामदहिन मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० करुणापति त्रिपाठी,

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' आदि की जो परम्परा आज तक दृष्टिगत हो रही है, वह इसी विवाद की प्रच्छन्न देन है । रीतिकालीन काव्य का गम्भीर अध्ययन इसी से प्रारम्भ हुआ । इसलिए पं० पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक समालोचना का सूत्रपात करके आने वाले समालोचकों के लिए मार्ग निर्माण कर दिया ।

पं० पद्मसिंह शर्मा में अगाध पांडित्य के साथ अद्भुत प्रतिभा का योग था । कवि के गम्भीर तल तक सहज ही उनकी पहुँच हो जाती थी । इसलिए उसके सौन्दर्य को वे अपने पाठकों तक तत्काल पहुँचा देने में, समर्थ समालोचक थे । विविध भाषाओं के कवियों के काव्य के मणिमुक्ताओं को तुलना में सजा कर वे अपनी वाञ्छित मनोकामना को अभिव्यक्त कर देते थे ।

पं० पद्मसिंह शर्मा पर अनेक आलोचकों ने बिहारी-पक्षपाती होने का जो आरोप लगाया था, उस का उत्तर भी उन्होंने सहज रूप से दिया है । उनका कहना है कि—

'तुलनात्मक समालोचना और दोष परिहार प्रकरण को पढ़ कर कई सज्जन लेखक पर बिहारी विषयक अन्ध-भक्ति और पक्षपात के दोष का आरोप करते हैं । संस्कृत के कुछ विद्वान् इसे संस्कृत कवियों का अपमान समझते हैं कि संस्कृत कवियों की सूक्तियों से बिहारी के दोहों की तुलना की गयी । लेखक पहले इस विषय में निवेदन कर चुका है—कि तुलनात्मक समालोचना का उद्देश्य भारतीय साहित्य के विधाता संस्कृत कवियों का अपमान करना नहीं है, उन पर लेखक की बिहारी से भी अधिक पूज्य-बुद्धि है । संस्कृत कवियों के भाव के साम्य को ही वह बिहारी के काव्योत्कर्ष का कारण समझता है । संस्कृत कवि "उपमान" हैं बिहारी "उपमेय" हैं । "उपमान" और "उपमेय" में जो भेद है, वह स्पष्ट है । कहीं कहीं जो 'व्यक्तिरेक' प्रदर्शन है, वह मति-भ्रम मूलक हो सकता है, बुद्धि-पूर्वक पक्षपात जन्य नहीं ।"

इस आत्मस्वीकृति से प्रमाणित हो जाता है कि पं० पद्मसिंह शर्मा ऐसे "भाषक" हैं जो अपनी बौद्धिक चेतना को किसी से दबने नहीं दे सकते । उन्होंने अपने युग के बिहारी-काव्य के समालोचकों से अपने गुरु-ज्ञान के बल पर टक्कर ली थी । वे सभी क्षेत्रों में जमे । केवल देव के सम्बन्ध में थोड़े चूक गए ।

पं० पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक समालोचना के केशव, पद्माकर, सुन्दर आदि कवियों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु तन्दुल परीक्षण विधि से दो उदाहरण ही आज के पाठक के लिये यथेष्ट है—

"बिहारी—नैंकु हँसौही बानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि ।
चौका चमकनि चौंध में, परति चौंध सी दीठि ।।४८३

केशव— तैसीये जगति जोति सीस-सीस फूलन की
चिलकत तिलक तरुनि ! तेरे भाल को,
तैसीयै दसन दुति दमकत 'केसो राय'
तैसोई लसत लाल कंठ कंठमाल को ।
तैसीयै चमक चारू चिबुक कपोलन की,
झलकत जैसो नाक मोती चलचाल को ।
हरे-हरे हँसि नैंक चतुर चपल नैनि,
चित्त चकचौंधे मेरे मदन गोपाल को ।।

केशवदास जी ने अपने मदनगोपाल के चित्त की चकाचौंध के लिये इतनी चमकीली चीजें एक जगह जमा कर दी हैं कि उन की मौजूदगी में चकाचौंध न हो तो ताज्जुब है । सिर पर जगमगाता सीस फूल, माथे पर चमकता तिलक, दाँतों की चमक, कंठ में लाल रत्नों का कंठा, नाक में हिलता हुआ आबदार मोती, फिर चिबुक और कपोल की दमक, उस पर चपल-नैनी का ज़ोर-ज़ोर से हँसना, इतने पर भी चकाचौंध न हो तो कब हो ? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हुई ।

पर बिहारी के यहाँ कमाल है नायिका के हँसने में जो ज़रा दाँतों का चौका खुलता है तो उसी के प्रकाश से देखने वाले की आँखों में ऐसी चकाचौंध छा जाती है कि मुँह मुश्किल से नज़र आता है । आँखों के सामने जब

बिजली कौंध जाती है तो सामने की चीज़ नज़र नहीं आती। इस अकेली दशन प्रभा के सामने केशव दास की इधर-उधर से जुटायी हुई सारी चमकीली चीज़ें मात हैं।

(२) "बिहारी—

प्रिय बिछुरन को दुसह दुख हरषि जात प्यौसाल।
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान यह बाल ॥३५॥

तोष–आये पिय परदेश ते, गये सौति के धाम।
हरष विषाद भयो भई, दुरजोधन सी बाम ॥

'तोष' यहाँ भी 'बिहारी' का अनुकरण करने चले हैं पर निभ नहीं सके।

सादृश्य यह कह कर रो दिया:—

किसी की जब कोई तकलीद करता है, मैं रोता हूँ।
हँसा गुल की तरह गुँचा जहाँ उसका दहन बिगड़ा॥
(आतिश)

बिहारी ने जो उपमा का सामंजस्य दिखाया है—चूल से चूल मिलाई है वह 'तोप' के यहाँ कहाँ!"

इन दो उदाहरणों से सिद्ध है कि उनकी तुलनात्मक समालोचना में गरिमा थी, जिसमें उन्होंने कभी न्यूनता नहीं आने दी थी।

इस विवेचन से सिद्ध है कि हिन्दी के तुलनात्मक समालोचना के प्रवर्त्तक पं० पद्मसिंह शर्मा अपने युग में परम्परा एवं रूढ़ियों के निर्वाहक थे। अपने विविध-भाषा-साहित्य के पांडित्य के कारण भाषा-निर्माता भी थे। उनकी भाषा में संस्कृत एवं उर्दू-फारसी के शब्दों का मणिकांचन योग छविमय है। उन्होंने अपना स्थान साहित्यिक संघर्ष के बल पर बनाया और आज भी ब्रज भाषा साहित्य को गम्भीरता से समझने के जिज्ञासु पाठकों के लिये वे आलोक स्तम्भ की भाँति प्रकाश दे रहे हैं। आज भी उनका समालोचक अध्ययनशील पाठकों एवं भावकों को स्पष्ट कह रहा है कि परम्परागत साहित्य के गम्भीर अध्ययन के बिना कोई सहृदय पाठक अथवा समालोचक नहीं बन सकता है।

◇◇◇◇

"भाषा देश को एकता के सूत्र में बांधने का—जातीयता का–कारण होती है, लेकिन दुर्भाग्य से यहाँ बात उल्टी हो रही है। एक ही भाषा, मिथ्या नामभेद के कारण, भयंकर सम्प्रदाय-भेद का कारण बन रही है। संसार में कहीं ऐसा उदाहरण ढूंढ़े भी न मिलेगा।"
पृ० सं० ४२

—पं० पद्मसिंह शर्मा
[हिन्दी, उर्दू, और हिन्दुस्तानी]

पं० पद्मसिंह शर्मा और संस्कृत-साहित्य

—डा० विश्वनाथ शुक्ल, एम० ए०, पी०एच०डी०

स्वनाम धन्य पुण्य श्लोक आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा, (१९३३–१९८९ वि०) हिन्दी के द्विवेदी युग के एक ऐसे भास्वर रत्न हैं, जिनकी आभा काल की घनी कुहेलिका में कभी धूमिल न होगी। अत्यन्त प्रखर प्रतिभा के धनी, वश्यवाक् आचार्य जी का व्यक्तित्व हिन्दी को आधुनिकता प्रदान करने वाले इने-गिने साहित्यकारों में अन्यतम है। सम्पादक, समालोचक, निबन्धकार और टीकाकार के रूप में उनका व्यक्तित्व मौलिकता की दृष्टि से निराला और अनूठा है। आचार्य जी के इस निराले और अनूठे साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में, उसकी पृष्ठ भूमि में उनका संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रकाण्ड पाण्डित्य एक अक्षय-शक्ति स्रोत के रूप में विद्यमान है। इनका प्रमाण उनके साहित्य में पद-पद पर मिलता है। अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में साहित्यिक समीक्षाओं में, निबन्धों और भाष्यों में, पदे-पदे संस्कृत साहित्य से उच्चस्तरीय उपयुक्त उद्धरणों से वे मानो संस्कृत साहित्य के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा और पूज्य बुद्धि का प्रमाण देते चलते हैं। युग के प्रभाव से उर्दू, फ़ारसी के ज्ञान का बड़ा ही समुचित प्रयोग करके अपनी रचना शैली को एक नितान्त मौलिक रूप देने पर भी उनका स्रष्टा रूप मूलतः संस्कृत प्रधान है। उनके वाक्य विन्यास में शतशः स्थलों पर रूपकों का प्रयोग संस्कृत शैली के प्रति उनकी सहज-संस्कार-जन्य-रुचि और आकर्षण का स्पष्ट प्रमाण है।

आचार्य जी का यह संस्कृत-प्रेम आकस्मिक या अप्रत्याशित नहीं था। अपने शैशव में ही उन्होंने संस्कृत भाषा और साहित्य की जिस संजीवनी-सुधा का आस्वाद प्राप्त कर लिया था, वही आजीवन उनमें शक्ति संचार करती रही। अपने संस्कृत पाण्डित्य के बल पर ही वे उस समय साहित्य-क्षेत्र के एक अजेय महारथी बने रहे, और आज के संस्कृत-ज्ञान शून्य, पल्लवग्राही पाण्डित्य वाले साहित्य व्यवसायी समाज में तो, उनका गीर्वाण-वाणी-ज्ञान-गरिमामय व्यक्तित्व और भी महनीय हो उठा है। उनके दिवंगत होने पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत में ही जो श्रद्धाञ्जलि उन्हें अर्पित की थी वह बड़ी मार्मिक थी—

"याते दिवं त्वयि सुहृद्वर पद्मसिंह !
तत्रैव सा सुजनताऽपि गतैव मन्ये।"

"हे श्रेष्ठ मित्र पद्मसिंह ! तुम्हारे स्वर्ग चले जाने पर मुझे लगता है कि सज्जनता भी वहीं चली गई है।" (अब संसार में सौजन्य का मानो अभाव हो गया है।) आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने वास्तव में ही अपने सुसंस्कृत व्यक्तित्व से आजीवन उस सौजन्य का प्रमाण भी दिया। एक बार जब उनके किसी निन्दक ने पत्र में उन्हें अनेक दुर्वचन लिखे तब उसे प्रत्युत्तर में कोई दुर्वचन न लिख कर केवल यह श्लोक टाँक भेजा—

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानाम् ,
येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव ।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति ,
ये स्वल्प पीडनवशान्न वयं तिलास्ते ॥

हमें तुम वे धान (अक्षत, चावल) समझो जो मूसल के प्रचण्ड आघात पर आघात खाने पर भी श्वेतता (श्लेष से सात्विक सौजन्य) ही प्राप्त करते जाते हैं। हम वे तिल नहीं हैं जो जरा-सी पीड़ा (पेरने) से स्नेह (तेल) छोड़

कर खलता (खली बन जाना, श्लेष से दुष्टता) को प्राप्त हो जाते हैं।

अपनी संस्कृत-ज्ञान-निधि का कितना मार्मिक, कितना उपयुक्त प्रयोग विरोधी के प्रति आचार्य जी ने किया है। परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था। वह निन्दक पश्चात्ताप-पुरस्सर क्षमा याचना करने पण्डित जी के चरणों में उपस्थित हुआ था। पुरानी पीढ़ी के निन्दक भी कितने सहृदय साहित्यिक, संस्कृतज्ञ और नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान थे। आचार्य जी के जीवन के ऐसे कितने ही प्रसंग हैं, जिनसे पता चलता है कि उनकी 'अवसर-पठिता' संस्कृत सूक्ति ने प्रहारक पर वह 'गम्भीर घाव' किया, जो किसी बर्छी भाले से भी सम्भव न था।

प्रकृतमनुसरामः। आचार्य जी के पिता ने अपने मेधावी पुत्र को बिल्कुल शैशव से ही संस्कृत की घुट्टी पिलाई थी। घर पर एक सुयोग्य संस्कृत अध्यापक से उन्हें संस्कृत की आधारभूत शिक्षा दिलाई। अद्भुत स्मरण शक्ति, सँस्कृत की असंख्य मार्मिक सूक्तियों को कण्ठस्थ करने में प्रयुक्त हुई। अपनी भावी रचनाओं में इनके प्रभविष्णु प्रयोग से वे प्रमाणिकता ही नहीं लाये, अपितु उन्होंने अपनी शैली को एक पृथक् रंग भी प्रदान किया। १९५१ वि० में वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के शिष्य पं०भीमसेन जी वेदाचार्य से पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन करने इटावा गये और उसी वर्ष महान् वैयाकरण और दार्शनिक काशीस्थ प्रसिद्ध पण्डित काशीनाथ जी से दर्शन का भी अध्ययन किया। इस प्रकार उनका संस्कृत ज्ञान महान् गुरु-परम्परा प्राप्त था। १९६१ वि० में गुरुकुल काँगड़ी में और १९६६ वि० से १९७४ वि० तक संस्कृत महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापन किया। संस्कृत के उद्भट वैदुष्य, भारतीय संस्कृति और वैदिक सिद्धान्तों में आस्था के कारण आर्य-समाज की आर्य प्रतिनिधि सभा ने उन्हें १९६१ वि० में उपदेशक नियुक्त किया था। उनके अन्तःकरण में सतत विद्यमान संस्कृत की अन्तःसलिला सरस्वती ने उनमें मंचीय वक्तृत्व की अद्भुत शक्ति सींच दी थी। उनके लेखों और समीक्षात्मक निबन्धों में जो शास्त्रार्थ जैसे खण्डन मण्डन की सजीव शैली है, उसका मूलाधार संस्कृत तर्क शास्त्र है, जिसके वे प्रकाण्ड पण्डित थे। 'बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन' से उन्होंने हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का एक नवीन द्वार उद्घाटित किया। बिहारी की श्रेष्ठत्व सिद्धि का प्रधान अस्त्र उन्होंने अपने संस्कृत काव्य शास्त्र के गहन अध्ययन को ही बनाया। उन्होंने भरत मुनि (प्रथमशती) से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ (१७ वीं शती) तक संस्कृत काव्य शास्त्र की सुदीर्घ स्वाध्याय यात्रा बड़ी सावधानी से की थी। उनकी रचनाओं में भरत, दण्डी, भामह, भोजदेव, रुद्रट, मङ्कक, शंकुक, अप्पय दीक्षित, राजशेखर, आनन्द वर्धन, अभिनवगुप्त पादाचार्य, मम्मट, विश्वनाथ आदि प्रख्यात काव्य शास्त्राचार्यों के उद्धरणों से, शास्त्रीय गाम्भीर्य एवं प्रमाणिकता की प्रतिष्ठा हुई है। काव्य के उच्चस्तरीय लक्षण ग्रन्थों के उपजीव्य लक्ष्य ग्रन्थों का उनका अध्ययन और भी महत्वपूर्ण था। वे संस्कृत महाकवियों के बड़े भारी प्रशंसक एवं उपासक थे। उनकी त्रिकालाबाधित दिव्य दृष्टि और मार्मिक सूक्तियों के वे बड़े समर्थ भाष्य कार थे। वेद संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, स्मृति, काव्य, कोष के असंख्य उद्धरण उनकी तीन प्रमुख रचनाओं—बिहारी सतसईः तुलनात्मक अध्ययन, पद्मपराग, और प्रबन्ध मंजरी में विकीर्ण हैं, जो उनके संस्कृत साहित्य के प्रति अगाध प्रेम और पांडित्य का उद्घोष करते हैं। बाल्मीकि, व्यास कालिदास, भारवि, माघ, बाणभट्ट, भवभूति, गोवर्धनाचार्य, अमरुक, विजयाका, धोयी, विकटनितम्बा, श्रीहर्ष, जयदेव, भर्तृहरि, पण्डितराज जगन्नाथ आदि उनके प्रिय संस्कृत कवि हैं।

आचार्य जी संस्कृत व्याकरण, दर्शन, काव्य और काव्य शास्त्र के मर्मज्ञ तो थे ही, इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य की अन्य ज्ञानशाखाओं, यथा ज्योतिष, वैद्यक शास्त्र, संगीत शास्त्रादि के भी अच्छे ज्ञाता थे। बृहज्जातक, शीघ्रबोध, मानसागरी पद्धति (ज्योतिष्), शार्ङ्गधर संहिता (वैद्यक शास्त्र), नाट्य शास्त्र आदि के उदाहरणों से उनकी बहुज्ञता प्रमाणित होती है। संगीत से तो उनका सहज प्रेम था। इसी से उनके 'संगीत-रत्नाकर' आदि ग्रन्थों के अध्ययन का अनुमान किया जा सकता है।

आचार्य जी अपने लेखन की तरंग में कहीं-कहीं पूरे-पूरे संस्कृत के वाक्य ही रच डालते थे, जिससे उनकी रचना शैली में एक अनूठा रंग और प्रभाव आ जाता था। बिहारी को कई बार संस्कृत कवियों से अधिक प्रतिभा शाली सिद्ध करने के लिए वे ऐसे संस्कृत वाक्य लिख जाते हैं–इति "सूक्ष्मेक्षिकया निभालयन्तु विचक्षणः" (विद्वान् लोग ज़रा सूक्ष्म दृष्टि से इसे समझें।)

आचार्य जी अपने मंतव्य को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के लिए कभी-कभी मूल संस्कृत उद्धरणों में भी परिवर्तन करके लिख देते थे। उदाहरणार्थ उन्होंने गीत गोविन्दकार महाकवि जयदेव के प्रसिद्ध श्लोक—

'शृंगारोत्तर सत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विद्यते' को बदल कर बिहारी की प्रशंसा में लिख दिया है—

'शृंगारोत्तरसत्प्रमेय रचनैराचार्य गोवर्धनस्पर्धी कोऽपि **विराजतेऽत्र भुवने हिन्द्यां बिहारी कविः**' (अर्थात् शृंगार रस की उत्कृष्ट रचना करने वाले कवियों में संस्कृत कवि आचार्य गोवर्धन से स्पर्धा करने वाला हिन्दी कवि बिहारी इस संसार में विद्यमान हैं।) इसी प्रकार विज्ञान के अतिरेक और कविता पर उसे हावी होते देख आचार्य जी ने गीता के—

"ज्ञानाग्निः **सर्वकर्माणि** भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।" को "ज्ञानाग्निः **कविकर्माणि** भस्मसात् कुरुते **ध्रुवम्**।" लिख कर क्षोभ प्रकट किया था।

संस्कृत साहित्य के उद्भट विद्वान् और भक्त होने पर भी आचार्य जी लकीर के फ़कीर नहीं थे। अपने स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर ही वे किसी कवि या साहित्यकार की श्रेष्ठता का तारतम्य स्थापित करते थे। उनका समय वह समय था जब संस्कृत के विद्वान् 'भाखा', 'भाखा' कहकर हिन्दी की उपेक्षा और अवहेलना करते थे, और हिन्दी कवियों की रचना को सराहना तो दूर, उनको सामान्यतया पढ़ना भी निम्नस्तर का कार्य समझते थे।

ऐसी परिस्थिति में आचार्य जी ने हिन्दी कवि बिहारी का न केवल शोध परक गम्भीर वैज्ञानिक दृष्टि से विधिवत् अध्ययन ही किया, अपितु संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध और रससिद्ध कवियों की रचना से तुलना करके अनेक स्थलों पर प्रतिभा के क्षेत्र में उसे संस्कृत कवियों से कहीं आगे सिद्ध किया और यह सब किया उन्होंने रस, ध्वनि, अलंकार, शब्द शक्ति, औचित्यादि काव्य शास्त्रीय सामग्री के प्रमाणों के आधार पर। यह बड़ी मौलिक प्रतिभा और निर्भीकता का कार्य था। उन्होंने लिखा—

'उसकी तुलना संस्कृत, प्राकृत उर्दू फारसी की कविता से की। अनुशीलन के इस संघर्ष में बिहारी का रंग और भी पक्का होता गया। वह हृदय-मन्दिर में संस्कृत-कवियों के बराबर आसन जमाकर बैठ गया।" (बिहारी सतसई तुलनात्मक अध्ययन पृ० ३१) उन्होंने कवितार्किक शिरोमणि श्रीहर्ष का वह अमर कथन उद्धृत किया है कि 'गुणशाली वस्तु की प्रशंसा न करके मौन रह जाना वाणी के जन्म की विफलता और असह्य शल्य है'—

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।" इस आधार पर उन्होंने मुक्त कण्ठ से बिहारी की विशिष्ट प्रतिभा की प्रशंसा की है। उन्होंने संस्कृत के राजशेखर जैसे काव्य शास्त्राचार्यों के मतानुसार ही शुद्ध काव्य प्रतिभा और मौलिकता के आधार पर ही कवियों को 'कविराज' जैसी सर्वोच्च पदवी से मण्डित करने का समर्थन किया है। फिर वह चाहे किसी देश, काल, भाषा, रस आदि का कवि हो। राजशेखर को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है—

"यस्तु तत्र तत्र भाषा विशेषे तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः ते यदि जगत्यपि कतिपये।"

हमारे बिहारी, जगत् के उन्हीं कतिपय कविराजों में हैं। हमें अभी आगे चल कर 'गाथा सप्तशती'- 'आर्या सप्तशती' और 'अमरुक शतक से' ख़ास तौर पर 'बिहारी सतसई' की तुलना करनी है। यदि इस तुलना में बिहारी पूरे उतर जाएँ अर्थात् उन की कविता इनकी बराबरी की या

कहीं इनसे बढ़ी चढ़ी सिद्ध हो जाय, इनके मुक़ाबले में उसका पलड़ा नहीं झुक जाय तो जो बात सिद्ध होगी, उसे क्या अभिधा वृत्ति से कहने की आवश्यकता होगी ? मैं डरता हूँ कि देववाणी वाले देवता लोग मुझे **'भाषा'** का अनुचित पक्षपाती, छोटा मुँह बड़ी बातें कहने वाला, विभीषण आदि पवित्र पदवियों का पात्र बनाकर, शाप और अभिशाप की वर्षा न करने लगें। पेशगी दुहाई है, सहृदयता की ! मेरा ऐसा अभिप्राय स्वप्न में भी नहीं है, मैं अपने परमाराध्य प्रातः स्मरणीय संस्कृत कवियों की निन्दा करने नहीं चला हूँ, उनमें मेरी अविचल भक्ति है, अशिथिल श्रद्धा है। मेरे स्वाध्याय समय का अधिक भाग, संस्कृत साहित्य के अनुशीलनानुराग में ही व्यतीत हुआ है। अधिक समय नहीं बीता है। तब तक हिन्दी कविता के विषय में मेरी धारणा भी कुछ ऐसी ही थी। हिन्दी भाषा की कविता में भी ऐसा मनोमोहक चमत्कार हो सकता है, इसका विश्वास नहीं था। चिर संचित अज्ञानान्धकार को बिहारी के कविता-प्रकाश ने अचानक आकर दूर कर दिया।" ('बिहारी सतसई,' तुलनात्मक अध्ययन पृ० ३०) उक्त उद्धरण से जहाँ आचार्य जी का संस्कृत कवियों के प्रति पूज्य भाव व्यक्त होता है, वहाँ वे विशुद्ध प्रतिभा का आदर करने की निर्भीकता भी प्रमाणित करते हैं और जहाँ न्याय है, वहाँ हिन्दी कवि बिहारी को महत्व देते हैं। उदाहरणार्थ बिहारी के प्रसिद्ध दोहे, 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' के भाव सौन्दर्य को, आचार्य जी ने, इसी भाव को व्यक्त करने वाले 'गाथा सप्तशती' के पद्य 'जाव ण कोस विकासं' . . ,'आर्या सप्तशती' के 'पिव मधुप वकुल कलिकां' तथा विकटनितम्बा के पद्य 'अन्यासु तावदुपमर्द सहासु भृंग . . , के अर्थ सौन्दर्य से, अनेक तर्कों के आधार पर, कहीं श्रेष्ठ सिद्ध किया है। इसी प्रकार बिहारी के एक अन्य प्रसिद्ध दोहे—

'पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि, नहिं कपोल ठहरायँ।
आँसुवा परि छतियाँ छनक, छन छनाय छपि जायँ॥४२६॥

के अर्थ चमत्कार को 'अमरुक' के पद्य—"तप्ते महाविरह-वह्नि ... नूनं छमच्छमिति वाष्पकरणाः पतन्ति।" के अर्थ चमत्कार से बढ़ा चढ़ा सिद्ध किया है। वे लिखते हैं, "इस दोहे की रचना के समय बिहारी की दृष्टि में 'अमरुक' का यह 'छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति' नूनं (निश्चय ही) घूम रहा था। तथापि दोहा उससे कहीं उत्कृष्ट होगया है। दोहे में शब्द चमत्कार के अतिरिक्त अर्थ चमत्कार का आधिक्य भी बहुत बढ़ा चढ़ा है।" (सतसई का सौष्ठव, बिहारी सतसई तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ५५) इस प्रसंग में पण्डित जी कालिदास के 'कुमार सम्भव' के प्रसिद्ध ध्वनि प्रधान श्लोक—'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः' का निर्देश करना नहीं भूले हैं। इस प्रकार पण्डित जी को ही शब्दावली में 'स्थाली पुलाक न्याय' (खिचड़ी में एक चावल देख लेने) से उनके गुरु गम्भीर संस्कृत पाण्डित्य का अनुमान हो जाता है। इस लघुकलेवर लेख में उसकी ओर इंगित मात्र ही शक्य है। संस्कृत साहित्य के प्रति उनका 'वासनान्तर्विलीन पूज्य भाव' किसी की प्रतिभा स्वीकृति के कार्य में आड़े नहीं आया। उन्होंने बाबा वाक्यं प्रमाणं न मान कर अपनी स्वतन्त्र समीक्षा चेतना का उपयोग किया। यही उनकी आधुनिकता का सच्चा प्रमाण है। सम्भवतः वे कालिदास की इस चिरन्तन उक्ति को प्रमाण मानते थे —

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

"जो कुछ पुराना है, वह सब ठीक है और जो नया काव्य है, वह सब बुरा है, यह बात नहीं है। बुद्धिमान् सज्जन दोनों का परीक्षण करके जो अच्छा होता है, उसे चुन लेते हैं, और मूढ़ पुरुष तो दूसरों के बहकावे में आ जाता है।"

आचार्य पद्मसिंह शर्मा जी हिन्दी के ऐसे ही स्वतन्त्र चेता, उदारमना उन्नायक थे जो आत्म-सत्य को व्यक्त करने में किसी संकट से भय नहीं मानते थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य की अमूल्यनिधि से हिन्दी की श्री वृद्धि की और संस्कृतज्ञों को हिन्दी की शक्ति का साक्षात्कार कराने का पुण्य कार्य किया। महामहोपाध्याय स्व० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के शब्दों में, जिनसे वे आचार्य जी को अपने पत्रों में सम्बोधित करते थे, हम उन 'समानास्पद' 'विद्वत्-प्रवर' 'साहित्यकुमुदपीयूषकर' आचार्य जी की अजरामर आत्मा के प्रति प्रणति निवेदन करते हैं।

—२ श्रीवत्स, भारती नगर
मेरिसरोड, अलीगढ़ (उ०प्र०)

पंडित पद्मसिंह शर्मा की भाषा-नीति

— प्रो० आनन्द नारायण शर्मा

पँडित पद्मसिंह शर्मा हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक आलोचना के जनक माने जाते हैं। तुलनात्मक आलोचना में सामान्यतः दो या दो से अधिक समान भावधारा और शैली-शिल्प के कवियों को आमने-सामने लाकर उनके कृतित्व के पारस्परिक उत्कर्षापकर्ष का विवेचन किया जाता है। शर्मा जी ने भी 'विहारी सतसई' की, 'गाथा सप्तशती','आर्या सप्तशती, 'अमरुक शतक','शृंगार सतसई' तथा अनेक उर्दू-हिन्दी के कवियों की कृतियों से तुलना कर बिहारी का काव्योत्कर्ष प्रमाणित किया है। पर तुलनात्मक आलोचना का मूल उद्देश्य आलोच्य कवियों की श्रेष्ठता-हीनता का निदर्शन मात्र नहीं होता। वह अप्रत्यक्ष रूप से भिन्न-भिन्न भाषाओं की अथवा एक ही भाषा के विभिन्न कवियों की कृतियों में अन्तर्व्याप्ति समानता का भी उद्घाटन करती है। इस प्रकार वह मूलतः अनेकता में एकता के तत्त्व को उजागर करती है। शर्मा जी की तुलनात्मक आलोचनाएँ भी इसी दृष्टि से महत्त्व पूर्ण हैं।

यही अनेकता में एकता का सिद्धांत उनके भाषा-विवेचन का भी मूलाधार है। शर्मा जी वहुभाषा-विद् थे। संस्कृत, प्राकृत, फ़ारसी, उर्दू आदि पर भी उनका हिन्दी के समान ही अधिकार था। इसी अधिकार के कारण वे विभिन्न भाषाओं के आंतरिक सम्बन्ध-सूत्र को पकड़ सके और आजीवन उन्हें एक दूसरे के निकट लाने के लिए प्रयत्नशील रहे। यों तो शर्मा जी के भाषा-सम्बन्धी विचार उनकी अनेक कृतियों में बिखरे हुए हैं, पर इनका सवसे विशद और क्रम-बद्ध रूप उनकी 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' नामक पुस्तक में, जो १९३२ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडमी के तत्त्वावधान में दिये गये उनके तीन व्याख्यानों का संग्रह है, उपलब्ध है। यह एक प्रकार से उनकी अन्तिम साहित्यिक कृति है, क्योंकि इन व्याख्यानों के आयोजन के ठीक एक महीने वाद यानी ७ अप्रैल १९३२ ई० को उनका आकस्मिक अवसान हो गया।

अंग्रेजों ने इस देश में फूट के जो वीज वोए, उनका प्रभाव केवल राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में भी शीघ्र ही अपना रंग दिखाने लगा। विशेष रूप से हिन्दी और उर्दू नामक एक ही भाषा की न सिर्फ दो कलमें तैयार हो गई, बल्कि इनके हिमायतियों में स्थायी शत्रुता की भी नींव पड़ गई। यों यदि गहराई से देखा जाय तो हिन्दी केवल हिन्दुओं की भाषा नहीं और न उर्दू खालिस मुसलमानों की जवान है। हिन्दी की क्यारी को सींचने वाले अब्दुल रहमान से रसखान और रसलीन तक अनेक मुसलमान कवि हो चुके हैं और उसी प्रकार उर्दू के बाग़ में भी अनेक हिन्दू कवियों ने एक से एक खूबसूरत गुल खिलाए हैं। पर उन्नीसवीं शताब्दी तक आते न आते उर्दू के कुछ खास सुखन शायरों ने उस पर फ़ारसी और अरवी का ऐसा पानी चढ़ाया और न केवल उन्होंने विदेशों से शब्द उधार लिए, बल्कि उपमा रूपक और काव्यरूढ़ियाँ भी इस सीमा तक ग्रहण कीं, कि उर्दू इस देश में जन्म लेकर भी यहाँ की बहुसंख्यक जनता के लिए परकीया बन गई। इस बात की प्रतिक्रिया हिन्दी के पंडितों में भी हुई और उन्होंने भाषा के कलेवर को तत्सम शब्दों से आक्रांत कर दिया। दुर्भाग्यवश इन भाषाओं का सम्बन्ध दो ऐसे धर्मों से भी जुड़ गया, जिनके बीच कटुता की खाई खुदी थी। परिणाम स्वरूप इनका आपसी सम्बन्ध सूत्र सर्वथा विच्छिन्न हो गया और संवाद की स्थिति पूर्णतः समाप्त हो गई।

शर्मा जी ने ऐतिहासिक और भाषा-वैज्ञानिक आधार पर इस पुस्तक में विस्तार पूर्वक यह दिखाने का प्रयास किया है कि हिन्दी और उर्दू दो जुदा-जुदा भाषाएँ नहीं, एक ही भाषा के दो रूप हैं और उनके बीच का भेद पूर्णतया कृत्रिम और मिथ्या है। सर्वप्रथम वे हिन्दी और उर्दू के नामगत विभेद की जड़ काटते हुए कहते हैं— "हिन्दी उर्दू की अपेक्षा बहुत ही पुराना और सर्वमान्य नाम है। जिस भाषा का नाम आजकल उर्दू प्रचलित है, इसके लिए उर्दू के पुराने लेखकों और कवियों ने 'हिन्दी' शब्द का ही अपने ग्रंथों में सर्वत्र व्यवहार किया है, उर्दू का नाम कहीं नहीं आया।"[1] इतना ही नहीं, उनके अनुसार भाषा के लिए 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' शब्द के प्रारम्भिक प्रयोक्ता भी मुसलमान कवि ही हैं। हिन्दू कवि तो प्रायः 'भाषा' या 'भाखा' का ही व्यवहार करते थे। अमीर खुसरो के कोश 'ख़ालिकवारी' में बारह बार 'हिन्दी' और पचपन बार 'हिन्दवी' शब्द का भाषा के अर्थ में प्रयोग हुआ है। बाद के कवियों में सौदा के उस्ताद शाह हातम, आतिश वाक़र आगा आदि भी अपनी भाषा के लिए निस्संकोच 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार करते है। यहाँ तक कि उर्दू के आचार्य इंशा अल्ला खाँ, जो भाषा की शुद्धता के बेतरह पक्षपाती थे और जिन्होंने दिल्ली और उसमें भी लालकिले के आस-पास के शरीफ और नजीब लोगों की भाषा को ही आदर्श माना है, अपने फ़ारसी ग्रंथ 'दरिया ए लताफ़त' में दो बार उर्दू के पर्याय के रूप में हिन्दी शब्द का इस्तेमाल करते हैं।[2]

पद्मसिंह शर्मा जी ने उस्मानिया कालेज के प्रोफेसर मौलवी सैयद वहीउद्दीन 'सलीम' पानीपती की पुस्तक 'वज़ै इस्तलाहात' (परिभाषा-निर्माण-शास्त्र) का हवाला देकर यह दिखाने का प्रयास किया है कि उर्दू के कोशग्रंथ 'फरहंगे आसफ़िया' में जहाँ कुल चौअन हज़ार नौ शब्द हैं, वहाँ मुश्किल से अरबी के साढ़े सात हज़ार और फ़ारसी के छह हज़ार इकतासील शब्द हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उलमाओं की तमाम कोशिशों के बाद भी उर्दू में आर्य और सामी भाषा-परिवार के शब्दों का अनुपात छह और एक का है। दूसरी ओर उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में समाविष्ट अरबी फ़ारसी के हज़ारों शब्दों का उल्लेख कर यह व्यवस्था दी है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग हिन्दी में निन्दनीय या निषिद्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि बुनियादी तौर पर हिन्दी और उर्दू के शब्द भंडार में उतना अन्तर नहीं, जितना साधारणतः समझा जाता है।

भाषा की संरचना के मूलाधार उसके क्रियापद होते हैं। क्रियापद ही विभिन्न भाषाओं की प्रकृतिगत समानता अथवा विभेद के निर्णायक होते हैं। हिन्दी और उर्दू के मूलभूत शब्द-भांडार में जो समानता है, वह सर्वाधिक क्रिया-पदों के क्षेत्र में लक्षित होती है। इससे भी इन भाषाओं की मौलिक एकता का अनुमान किया जा सकता है। शर्मा जी उर्दू साहित्य में नवोत्थान के अग्रदूत मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली के प्रसिद्ध ग्रंथ 'मुकद्म-ए-शेरोशायरी' से एक उद्धरण देकर इस एकता को रेखांकित करते हैं। हाली का कथन है—"उर्दू पर कुदरत (अधिकार) हासिल करने के लिये सिर्फ दिल्ली या लखनऊ की ज़बान का ततव्वो (पैरवी) ही काफ़ी नहीं है, बल्कि यह भी ज़रूरी है कि अरबी और फ़ारसी में कम से कम मुतवस्सित दर्जे (मध्यम कोटि) की लियाक़त और हिन्दी भाषा में फ़िल् जुमला दस्तगाह बहम पहुँचाई जाय (अच्छी योग्यता प्राप्त की जाय।) उर्दू जुबान की बुनियाद जैसा कि मालूम है, हिन्दी भाषा पर रखी गई है। उसके तमाम अफ़आल और तमाम हरूफ और गालिब हिस्सा अस्मा का हिन्दी से माखूज है (क्रियापद, कारक चिन्ह और संज्ञापद हिन्दी से लिए गए हैं।) अतः शर्मा जी का निष्कर्ष है—"हिन्दी से वाकिफ (परिचित) हुए बगैर उर्दू का सही इदराक (ज्ञाता) होना मुश्किल ही नहीं करीब-करीब नामुमकिन है।"[3]

इसी प्रकार हिन्दी के विशुद्धता-वादियों की नीति का विरोध करते हुए वे कहते हैं—"इस समय हिन्दी में

---

१. हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी—पृ०१६। २. वही पृ० १६। ३. हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी—पृ० १५६।

फारसी के अनेक शब्द जो तत्सम या तद्भव रूप में प्रचलित हो गए हैं, उनके बहिष्कार की चेष्टा करना भाषा के भंडार को रीता करना है।"[४] उनकी यही धारणा अंग्रेजी, पुर्तगाली, तुर्की आदि के उन शब्दों के प्रति भी है, जो हिन्दी भाषा के कलेवर में रच-पच कर उसके स्वाभाविक अंग बन गए हैं। मगर तब यह ज़रूरी है कि इन्हें उसी रूप में स्वीकार किया जाय, जिस रूप में ये घिस पिस कर जन सामान्य द्वारा गृहीत हो चुके हैं। "अब इन्हें इनके उस पूर्व रूप में धकेलना—हिन्दी या उर्दू में भी इनका वही उच्चारण करना, जो असल अंग्रेजी रूप में है—उलटी गंगा बहाना है।"[५] हाँ, तब प्रयोग में इन्हें अपनी भाषा के व्याकरण द्वारा ही अनुशासित किया जायेगा, न कि मूल भाषा के व्याकरण का अनुधावन उचित होगा। जैसे हिन्दी में 'किताब' का बहुवचन 'किताबें' और 'कप्तान' का 'कप्तान' या 'कप्तानों' चलेगा, 'कुतुब' अथवा 'कैप्टेन्स' नहीं।

शर्मा जी ने अमीर खुसरो और फरीउद्दीन शकरगंज से लेकर वली, सौदा, मीर और इंशा तक की रचनाओं से ऐसे बहुतेरे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनमें उर्दू के साथ हिन्दी पदों का खुले दिल से प्रयोग किया गया है और इससे भाषा की चारुता बढ़ी है तथा अभिव्यक्ति में निखार आया है। यहाँ तक कि औरंगजेब जैसा कट्टर मुसलमान शासक भी हिन्दी भाषा के प्रति उदार था और उसने अपने बेटे बहादुरशाह द्वारा भेजे गए आमों का नाम 'सुधारस' और 'रसनाविलास' रखा था।[६] उसकी बेटी शाहज़ादी ज़ेबुन्निसा की बनाई हुई तो हिन्दी में 'नैन-विलास' नाम की एक कविता-पुस्तक भी कही जाती है, जिसका अन्तिम दोहा है—

ज़ेबुन्निसा जहान में दुख्तर आलमगीर।
'नैन बिलास' बिलास में खास करी तहरीर॥

दूसरी ओर उन्होंने सूर, तुलसी और बिहारी की भी वैसी अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनमें हिन्दी के साथ अरबी-फारसी शब्दों का मिश्रण निस्संकोच हुआ है। तुलसी दास ने तो, जिनकी सांस्कृतिक चेतना के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते, न केवल अरबी शब्दों का ग्रहण किया है, प्रत्युत उनमें संस्कृत उपसर्ग प्रत्यय भी लगाए हैं और उनका संस्कृत शब्दों के साथ समास बनाया है, जैसे—"लोकहु वेद सुसाहिब रीती।' इसमें साहिब शब्द अरबी का है, जिसके साथ संस्कृत उपसर्ग 'सु' जुड़ा है और रीति के साथ उसे समस्त भी किया गया है। बिहारी में अरबी फारसी शब्दों का अनुपात कदाचित् उनके दरबारी वातावरण के कारण और अधिक है। बिहारी भी यथावसर फारसी-अरबी के संज्ञा, विशेषणों से नाम धातु बनाने में संकोच नहीं करते, यथा 'काहिल' से 'कहलाना' (कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।)

शर्मा जी हिन्दी और उर्दू को मूलतः एक ही भाषा मानते हुये एक सच्चे इतिहासकार की भाँति विमोहक नीति की शुरुआत के लिये मुसलमान लेखकों को जिम्मेदार ठहराते हैं। वह यह कहने में संकोच नहीं करते कि —"भाषा-भेद का प्रारम्भ उर्दू लेखकों ने किया और इन्हीं की कृपा से भाषा पर मज़हबी रंग भी चढ़ा और अफसोस की बात यह है कि भाषा में ही नहीं, दो जातियों में भी भेद बढ़ाने वाला यह मज़हबी रंग अब तक बराबर चढ़ाया जा रहा है।"[७] लेकिन उन पर पक्षपात का दोषारोपण न हो, इसलिये अपनी बात के समर्थन में वे अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय के प्राध्यापक और तारीखे नसर उर्दू (उर्दू के गद्य-साहित्य का इतिहास) के विद्वान् लेखक मौलाना अहसन मारहरवी का निम्नलिखित कथन उद्धृत करते हैं—'उर्दू के जामा जेब जिस्म पर भारी-भारी लफ्जों का बार (भार) डालना उसकी असली और फ़ितरी (प्राकृतिक) सूरत को बिगाड़ देना है। दस-बीस बरस से यह बवा-ए-आम फैली हुई है कि ख़ास कदो काविश (विशेष प्रयत्न) के साथ ग़ैर मुरव्विज तरकीबें (अप्रचलित वाक्य-विन्यास) और नामूस (अपरिचित) अरबी-फारसी अल्फ़ाज़ का इस्तेमाल उर्दू इंशापरदाजी (लेखन कला) का इम्तियाज़ी निशान (विशेषता सूचक चिन्ह) समझा

४. वही पृ० १७२। ५. वही पृ० ७। ६. रुक्कआते आलमगीरी (रुक्का सं० ८)। ७. हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी–पृ०४५।

जाता है। मुसलमानों की इस हरक़त ने हिन्दुओं को भी निचला बैठने नहीं दिया और अब वह भी अपने हल्के-फुल्के बयान को संस्कृत के भारी-भरकम शब्दों से मिला कर गुट्ठल करते जाते हैं।"[८]

शर्मा जीं की दृष्टि में हिन्दी और उर्दू के बीच विभेदक तत्व हैं—शब्द-भंडार, लिपि, व्याकरण, पिंगल और शैली। उनका कथन है—"उर्दू लेखकों में फ़ारसी और अरबी पढ़े-लिखे विद्वानों की आरम्भ से ही अधिकता रही है। इसलिये उन्होंने उर्दू में अरबी और फारसी के कठिन शब्दों का व्यवहार ही अधिकता से नहीं किया, बल्कि व्याकरण और पिंगल में भी अरबी-फारसी के ही अस्वभाविक और अनावश्यक नियमों का अनुकरण किया। यहाँ तक कि वह रस्मोरिवाज़ और ऋतु आदि के वर्णनों में भी फारस आदि दूसरे देशों के प्राकृतिक दृश्यों का ही समा बाँधते रहे, उपमान और उदाहरण सब उन्हें वहीं के सूझते रहे।"[९] इस प्रवृत्ति के पीछे बहुत कुछ मज़हबी जोश भी वर्त्तमान था, जिसने अपने ही घर के आँगन में दीवार खड़ी कर दी। मगर दीवार चाहे जितनी भी कोशिश से खड़ी की गई हो, वह पुख्ता नहीं और कृत्रिम तो है ही। जहाँ तक उर्दू भाषा के लिये अरबी व्याकरण की अनुवर्तिता का प्रश्न है, शर्मा जी ने 'अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू' के सेक्रेट्री और त्रैमासिक 'उर्दू' के सम्पादक मौलाना अब्दुल हक की किताब 'क़वायदे उर्दू' की भूमिका का यह अंश उद्धृत किया है—"हमारे यहाँ अब तक तक जो पुस्तकें व्याकरण की प्रचलित हैं, उनमें अरबी-व्याकरण का अनुकरण किया गया है। उर्दू ख़ालिस हिंदी ज़बान है और इसका सीधा सम्बन्ध आर्य भाषाओं से है। इसके विरुद्ध फारसी भाषा का ताल्लुक सेमेटिक (सामी) भाषाओं के परिवार से है। इसलिये उर्दू का व्याकरण लिखने में अरबी का अनुकरण किसी तरह जायज़ नहीं?।"[१०]

इसी भाँति पिंगल के सम्बन्ध में अब्दुल हक़ साहब का मंतव्य है—"उर्दू शायरी पर फारसी का ज्यादातर असर इसलिए भी हुआ कि इसने शुरू से फारसी अरूज़ (पिंगल) अख्तियार किया और हिन्दी अरूज़ अख्तियार न करने से वह बहुत सी खूबियों से महरूम (वंचित) रह गई।"[११] शर्मा जी ने दिखाया है कि भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, बालमुकन्द गुप्त, नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर', हरि औध, लाला भगवानदीन 'दीन', गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि अनेक हिन्दी कवियों ने उर्दू बहर में अच्छी कविताएँ लिखी हैं, मगर उर्दू कवियों ने हिन्दी पिंगल के मैदान में कभी कदम नहीं रखा, जब कि हिन्दी का छंदशास्त्र अरबी अरूज़ की अपेक्षा कहीं अधिक सरल, सुबोध और भाषा की प्रकृति के अनुकूल है।"[१२] (नज़ीर अकबरा बादी जैसे कवि को अपवाद ही समझना चाहिए, जिनका काव्य भारत की सामाजिक संस्कृति की जीती जागती तस्वीर है और इसीलिए जिन की शर्मा जी ने उचित प्रशंसा की है।)

लिपि के सम्बन्ध में शर्मा की धारणा है—"लिपि की एकता का प्रश्न भाषा की एकता का ही नहीं, जाति की एकता का भी प्रश्न है। भारत की मुख्य लिपि अपने विशेष गुणों के कारण देव नागरी ही है। बँगला, गुजराती, गुरुमुखी, मराठी आदि लिपियाँ भी उसी का कुछ हेर-फेर से रूपान्तर मात्र हैं।"[१३] दूसरी ओर फ़ारसी लिपि का उर्दू भाषा से वे कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं मानते। वे कहते हैं—"फ़ारसी लिपि का भारत से या भारत निवासी मुसलमान भाइयों से धार्मिकता या जातीयता की दृष्टि से, कोई अटूट सम्बन्ध नहीं है। फिर भी इसने एक धार्मिक रूप धारण कर लिया है। यह लिपि भेद दोनों भाषाओं और जातियों में एकता नहीं होने देता।"[१४] उन्होंने विस्तार पूर्वक फ़ारसी लिपि की अपूर्णता और पेचीदगी पर भी प्रकाश डाला है और अपने कथन के समर्थन में 'तमद्दुने हिन्द' के लेखक शमसुल उलमा सैयद अली बिलग्रामी, त्रैमासिक 'उर्दू' के सम्पादक मौलवी अब्दुल हक़ आदि उर्दू भाषा-साहित्य के अनेक मर्मज्ञों के मंतव्य उद्धृत किये हैं।

---

८. तारीखे-नसर उर्दू-मुकद्दमा—पृ० २९-३०। ९. हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी—पृ० ४२। १०. 'कवायदे-उर्दू'-मुकद्दमा-पृ० १८। ११. त्रैमासिक 'उर्दू'-जनवरी १९२३ ई०। १२. 'हिन्दी,' उर्दू और हिन्दुस्तानी पृ० ७१। १३. वही, पृ० ७५। १४. वही' पृ० ७५–७६।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि पण्डित पद्मसिंह जी ने प्रथकतावादी मनोवृत्ति के लिए केवल उर्दू के उलमाओं को ही दोषी ठहराया है। वे उसी ईमानदारी और खरेपन से हिन्दी के भाषा पण्डितों की भी ख़बर लेते हैं। उन्होंने एक ओर यदि मौलाना 'हाली' और 'सलीम' पानीपती का हवाला देकर उर्दू के कतिपय साहित्यकारों के कठमुल्लेपन की आलोचना की है तो दूसरी ओर डॉ० ग्रियर्सन और महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के विचार उद्धृत कर हिन्दी के संस्कृतीकरण का विरोध किया है। कबीर के समान ही उनकी भी धारणा है। 'इन दोउन राह न पाई।' जहाँ वे राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समन्वयकारी प्रयत्नों की सराहना करते हैं, वहीं लल्लू जी लाल और गोविन्दनारायण मिश्र की आलोचना भी। उनका कथन है–"उर्दू" वाले उर्दू को उसके आर्य परिवार से निकालकर दूसरे गिरोह (सामी खानदान) में जबरदस्ती दाखि़ल कर रहे हैं और विशुद्धतावादी हिन्दी वाले कुछ विदेशी शब्दों के संपर्क से 'स्वधर्म'-भ्रष्ट हुई भाषा को बहिष्कार का दण्ड दे रहे हैं। उसे हिन्दी मानने को किसी तरह तैयार नहीं। इस तरह इन दो मुल्लाओं के बीच बेचारी भाषा की मुर्गी हलाल हो रही है।"[१५]

अन्त में उन्होंने बड़े दर्द के साथ हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के साहित्यकारों से मार्मिक अपील की है– "कुटुम्ब के बटवारे की तरह भाषा का यह बटवारा भी कुटुम्ब कलह और सम्पत्ति-विनाश का कारण है।..यदि हिन्दी-उर्दू दोनों संयुक्त परिवार की दशा में आ जाएँ फिर इसकी साहित्य सम्पत्ति का संसार की कोई भाषा मुक़ाबला न कर सके।" और "बिना एकता के भाषा और जाति का कल्याण नहीं।"[१६]

विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि शर्मा जी ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक (हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी) में जिस भाषा-नीति का निर्धारण किया है, उसका उनके साहित्य में सम्यक् परिपालन भी दीख पड़ता है। एक तो स्वयं इसी पुस्तक की भाषा-शैली उनके समन्वयवादी सिद्धान्तों का आदर्श उदाहरण है। पर यदि विशेष दृष्टि कोण से लिखित होने के कारण थोड़ी देर के लिए इसकी भाषा को छोड़ भी दिया जाय तो सतसई का 'संजीवन भाष्य' और उनके अनेकानेक निबन्ध, उनकी भाषा-नीति के प्रकृष्ट परिचायक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सब से अधिक सम्भव होता है।"[१७] इस दृष्टि से शर्मा जी के वैयक्तिक निबन्ध 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' को उनकी भाषा शैली का आदर्श उदाहरण माना जा सकता है। इस निबन्ध की भाषा बड़ी सरस, सजीव, चलती और मुहावरेदार है। सहजता इसकी शक्ति है, चुटीलापन इसका गुण। यह बोल-चाल सर्वथा स्वाभाविक भाषा-शैली का नमूना है। इसमें न तो तत्समता का अनावश्यक आग्रह है और न पाडित्य-प्रदर्शन का अवांछनीय मोह। इसके पहले ही अनुच्छेद में जहाँ प्रभावोत्पादक, दीन, दशा, निर्लज्जता, वाणी, शुष्क, हृदय जैसे तत्सम शब्द हैं, वहीं तर्ज़, क़द, शख्स, शक्ल, खुलासा जैसे फ़ारसी-अरबी और मिनट, स्पीच जैसे अंगरेजी के शब्द भी। इन शब्दों के सहज और सटीक प्रयोग से ही इसमें सजीवता और संर्मस्पर्शिता आई है।

शर्मा जी भाषा की सुबोधता और चुटीलेपन के अनन्य उपासक थे। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी उन्होंने संस्कृत और अरबी-फारसी के कठिन तथा अप्रचलित शब्दों का जो विरोध किया, उसके मूल में भाषा की सुबोधता के प्रति उनका झुकाव ही है। उन्होंने छायावादी काव्य की आलोचना प्रधानतः उसकी अस्पष्टता के कारण ही की। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर अधिवेशन वाले अपने अध्यक्षीय भाषण में छायावादी कवियों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा था—

१५. हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी–पृ० ५७-५८। १६. वही, पृ० १८३। १७. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृ० ५०५।

अगर अपना कहा हम आप ही समझे तो क्या समझे ।
मज़ा कहने का तब है जब कहे इक दूसरा समझे ।।

संस्कृत के अलंकृत काव्य और उर्दू शायरी के अध्ययन ने उनके मन में उक्ति-वैचित्र्य और भाषा की चुस्ती तथा तराश के प्रति विशेष मोह उत्पन्न कर दिया था, यहाँ तक कि वे आलोचना की भाषा भी सपाट देखना पसन्द नहीं करते थे । हम आज उनकी समालोचनाओं की भाषा को भले ही हल्की-फुल्की चुहलभरी या 'महफ़िली' कहकर उसका अवमूल्यन कर लें, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन दिनों हिन्दी गद्य का निर्माण हो हो रहा था और 'व्याकरण की शुद्धता' उसके आचार्यों की सबसे बड़ी चिंता थी, उन दिनों शर्मा जी ने उसे जिन्दादिली और कलात्मक संस्पर्श प्रदान कर, ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया और विरोधियों की ज़बान बन्द कर दी।

मुंगेरीगंज बेगूसराय (बिहार)

शत शत बार प्रणाम !

श्री कुलदीप नारायण राय 'झड़प'

(१)

धर्म-मर्म के संरक्षक थे, राष्ट्र भाव के सिंह उदार ।
शुचि साहित्य-सरोवार के थे, विकसित पद्म सुमन अविकार ।।
थे आचार्य सुपथ के दाता, विद्यामण्डित पण्डित धीर ।
एकसंघ, आचार्य, सुपण्डित, 'पद्मसिंह शर्मा' गम्भीर ।।

(२)

भाषा-शिल्पी, उन्नायक कवि, जन-मन के प्रतिभा-आगार ।
तप्त हृदय भू-सस्य-जलद-जल, सब से निजता, सब से प्यार ।।
सहृदयता के स्रोत उमड़ते, दया-उदधि, करुणा-साकार ।
सुधी-समालोचक, वाणी के वैभव, कुशल, कलित व्यवहार ।।

(३)

थे हिन्दी की फुलवाड़ी के, पालक, रक्षक, मालाकार ।
धन्य गुणों की मूर्ति मनोहर, शिक्षा-शास्त्र-कला-अवतार ।।
दिव्य-भाव के सुरसरि-संगम, वाणी शुचि, व्यवहार ललाम ।
श्रद्धांजलि-गत-सुमन निवेदित, करता शत-शत बार प्रणाम ।।

—ग्राम व पोस्ट–लिलकर (बलिया)

पण्डित पद्मसिंह शर्मा के पत्र

सम्पादकाचार्य पं. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

पण्डित पद्मसिंह शर्मा उच्चकोटि के साहित्य-शास्त्री ही नहीं लेखक भी थे। उसकी 'बिहारी सतसई' की टीका हिन्दी साहित्य का अपूर्व ही नहीं कमनीय ग्रन्थ है। मैं तो समझता हूँ कि उनका सा हिन्दी लेखक एक सौ वर्षों में दूसरा नहीं हुआ। विद्वान् और लेखक अनेक हुए हैं पर जिन भाषाओं पर शर्मा जी का अधिकार था उन पर दूसरे का नहीं था। वे एक साथ ही संस्कृत, फारसी, हिन्दी और उर्दू पर समान अधिकार रखते थे। संस्कृत का काव्य शायद ही कोई हो जो शर्मा जी न पढ़ा हो। उन्हें जानकर आश्चर्य हुआ था कि पं० राम अवतार शर्मा ने क्षेमेन्द्र जैसे कवि का नाम ही न सुना था।

बत्तीस हिन्दी लेखकों और कवियों को शर्मा जी के लिखे २६८ पत्रों का एक संग्रह 'पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र' शीर्षक से पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और पं० हरिशंकर शर्मा ने आत्माराम एंड संस, दिल्ली से प्रकाशित कराया है। ये पत्र हिन्दी भाषा साहित्य और देश की उस समय की गति-विधि के दर्पण हैं। शर्मा जी समझते थे कि कौंसिलें निठल्ले और लीडरत्व-लोलुप लोगों के लिये हैं। प्रकारान्तर से यही गाँधी जी का भी मत था, जिससे उन्होंने कौंसिल बाहिष्कार की योजना बनायी थी। पर अब तो पासा पलट गया और निकम्मे अपाहिज, अनपढ़ और बूढ़े लोगों की ये कौन्सिलें पिंजरा-पोल हो रही हैं। लीडरत्व-लोलुपों की संख्या इनमें कम नहीं है। अच्छे ग्रंथों के प्रकाशक नहीं मिलते यह बात आज भी है। एक पैसा पेज पर अनुवाद करने वाले भी उस समय मिल जाते थे। पर विशेष आश्चर्य की बात इस पत्रावली में यह पढ़ी कि शर्मा जी के लेख संग्रह के लिये ८ आने पेज से चलकर १) रु० पेज पर एक प्रकाशक, बात पक्की करना चाहते थे। जब पं० पद्मसिंह जैसे सिद्ध हस्त लेखकों के साथ प्रकाशकों का ऐसा व्यवहार हो सकता है तब औरों की बात ही क्या? एक नामी लेखक अपने एक मित्र प्रकाशक की बात बताते थे कि मेरी पुस्तक की हजारों प्रतियाँ छापकर बेच लीं, पर मुझे कानी कौड़ी भी न दी।

पण्डित पद्मसिंह जी अपने मित्रों में भी किसी को नहीं बख्शते थे। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० हरिशंकर शर्मा और बाबू पारसनाथ सिंह को वे "स्लोथ" ढिल्लड़ ही कहा करते थे।

चतुर्वेदी जी के विषय में उन्होंने मुझे अरबी की एक कहावत लिख भेजी थी, जिसका अर्थ था लम्बा आदमी बेवकूफ होता है। वही बात इन चिट्ठियों में भी लिखी मिल गयी। अपने १३६ वें पत्र में जो उन्होंने पं० हरिदत्त शास्त्री को लिखा था, वे कहते हैं "चतुर्वेदी जी विचित्र प्रकृति के आदमी हैं। स्पष्टवादिता का कोई न कोई बहाना ढूंढते रहते हैं। निष्पक्षता की छाप बिठाने का खब्त है। अक्सर ऊल-जलूल बातें कह जाते हैं, जिनका सिर पैर नहीं होता, पर हृदय के अच्छे हैं, जरा लम्बे हैं। इससे कुछ बेवकूफी का अंश भी है। अरबी में एक कहावत है—"कुल् उल् तवीउल अहमकुन" लम्बे आदमी बेवकूफ होते हैं। खैर आदमी अच्छे हैं। लिखने भी अच्छा लगे हैं।"

७५वाँ पत्र चतुर्वेदी जी को जो उन्होंने लिखा है, उसमें कहा है—"लीडर तो आप हैं, पर फण्ड की कमी है। लीडर के लिये तीन चीजें जरूरी हैं। फण्ड, अखबार और प्लेटफार्म। इन चीजों की बदौलत लीडर टोटे में नहीं रहते। व्यापारियों से कहीं अच्छे पड़ रहते हैं। लीडरी बड़े नफे का सौदा है। वे पूंजी की तिजारत हैं। पर जरा ढंग आना चाहिए, आपको वह ढंग नहीं आता,

आयगा भी नहीं। आपके हिस्से में तो नुकसानात सहना ही है। खैर कोई लीड़र ऐसा भी चाहिए।" ७८वें पत्र में चतुर्वेदी जी को लिखा है—"आपके सादा चोले में 'धूर्तता' भी छिपी है। इसका कोई अनुमान भी नहीं कर सकता।"

पं० पद्मसिंह जी विद्याव्यसनी थे। लिखने-पढ़ने के सिवा कोई व्यवसाय न था। इस काम में वे दिन-रात एक कर डालते थे। जब पढ़ने बैठते थे, हाथ में पेंसिल ले लेते थे और जहाँ उन्हें कोई गलती दिखाई देती थी, वहाँ झट निशान लगा देते थे। कोई अच्छी बात पढ़ते थे तो उसके नीचे भी पैंसिल का निशान होता था। इस उत्तर प्रदेश में जो लोग उर्दू, फारसी नहीं जानते वे भी अक्षरों के नीचे नुकते लगाते हैं। पर ऐसे नुकते अक्सर गज़ब ढाते हैं। इसलिये शर्मा जी ने नुक्ते लगाने बन्द करने की सलाह दी है। पर हिन्दी वाले क्या जो किसी की नेक सलाह पर अमल करें। मैंने तो 'अ' के नीचे लगी बिन्दी भी देखी है। जिसका अभिप्राय यही हो सकता है कि यह 'अलिफ' नहीं, 'ऐन' है। पर हिन्दुस्तान में कितने लोग 'ऐन' का उच्चारण कर सकते हैं।

इस पत्र संग्रह में जो बात सबसे अधिक खटकने वाली है, वह प्रूफ की गलतियां हैं। एक तो हम लोग प्रूफरीडर नहीं। मैं तो सबसे खराब प्रूफ रीडर हूँ, दूसरे कम्पोजीटर गलतियों पर चार चाँद लगा देते हैं। समझते हैं लेखक बड़ा बेवकूफ है। उससे तो ज्यादा अकल हम में है। इस पुस्तक में प्रायः सर्वत्र 'श्रीयुत्' की जगह 'श्रीयुत' छपा है। इसके सिवा २१वें पृष्ठ पर सन् १६५१ छपा है। वह सम्वत् भले ही हो सन् तो हो ही नहीं सकता। बाबू बालमुकुन्द गुप्त का बैकुण्ठ वास हुए ५० वर्ष हुए और १६५१ को केवल ६ वर्ष ही हुए हैं। हमारे मास्टर बाबू दीनानाथ देव कहते थे कि प्रूफ रीडिंग का काम कम पढ़े लिखे आदमी को देना चाहिए जो वही पढ़ेगा जो लिखा होगा। अब कुछ भूलों की चर्चा किये बिना काम नहीं चलता।

'भ्रमतीव च मे मनः' हो गया है 'भ्रम तवि च मो मनः' (पृष्ठ ७) 'E. W. Cowell' की जगह 'E. W. Cawell' (पृष्ठ ११) छपा है। कावेल साहब किसी समय कलकत्ता संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल थे। मैंने वररुचि कृत भामह की टीका सहित इनका 'प्राकृत-प्रकाश' का संस्करण देखा है और भी इसी तरह की बहुत गलतियां हैं। नुक्तों की गलतियों की चर्चा छेड़ने से बड़ा समय नष्ट होगा और लेख बेतरह बढ़ जायगा। इसलिये 'थोरेहि महँ समुझिहैं सयाने' सोचकर उन्हें छोड़ता हूँ। 'विद्योदयाक' पृष्ठ १२७ 'विद्योदय' का चाहिए, 'प्रकाश पिष्यमाण' पृ० १२८, 'प्रकाशलिप्यमाणा' होना चाहिए। 'अलमति विस्तरेण !'

महाकवि पं० नाथू राम शंकर शर्मा पर पं० पद्मसिंह की बड़ी श्रद्धा थी। यह लेखक भी उनका यथेष्ट आदर सम्मान करता था। पर हिन्दी वालों का दूसरों की योग्यता नापने का गज ही अलग है। वे अक्सर सबको तथोक्त 'द्विवेदी-युग' में लाकर बैठा देते हैं। किसी छायावादी कवि ने शंकर जी को 'सरस्वती' काल का कवि लिख मारा था। इस पर शर्मा जी ने लिखा 'यानी द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से ही उन्होंने खड़ी बोली में नये ढंग की कविता लिखनी शुरू की। पर यह बात तो इतिहास विरुद्ध है न। उस छायावादी कवि की क्या कहें काशी नागरी प्रचारणी सभा के अर्द्ध शती महोत्सव पर लेखकों को जो अभिनन्दन-पत्र रूपी सार्टिफ़िकेट दिये गये थे, उनमें उनसे 'भारतेन्दु' और 'प्रसाद' का अनुकरण करने का अनुरोध किया गया था और क्या आप जानते हैं कि ऐसा ही सार्टिफिकेट महामहोपाध्याय पं० गौरी शंकर, हीराचन्द ओझा को भी दिया गया था जो प्रसाद जी के पितामह नहीं तो कम से कम पिता के समवयस्क तो होंगे ही।'

जैसे कहा जाता है कि जिसे अपना गोत्र न याद हो वह अपना गोत्र 'कश्यप' कहें वैसे ही पं० पद्मसिंह समझते थे कि पं० बनारसीदास सभी परलोक गत, हिन्दी लेखकों की सम्पत्ति के अधिकारी न होने पर भी, उनके श्राद्ध के अधिकारी अवश्य हैं। कलकत्ते में एक हिन्दू सत्कार समिति है, जो लावारिस हिन्दुओं के शव नीमतल्ला घाट श्मशान में ले जाकर अग्नि-संस्कार कर देती है। इसलिये शर्मा जी ने अपने ६०वें पत्र में चतुर्वेदी जी

को लिखा है—"भाग्यशाली हैं वे हिन्दी लेखक जो आपके सामने मर जायेंगे, मरने वालों को जल्दी करनी चाहिए। एक मसीहा है और मरने वाले बहुत हैं। अकेला मसीहा हार जायगा।"

हिन्दी के प्रत्येक प्रेमी को इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य रखनी चाहिए। इसमें जो अवतरण उर्दू, फारसी आदि के दिये हुए हैं उनके अर्थ समझकर उपयुक्त स्थान पर उनका प्रयोग जो कर सकेगा वह अच्छा पण्डित समझा जायगा। प्रत्येक पुस्तकालय में इसे स्थान मिलना चाहिए।

इस पत्रावली के अन्त में सम्पादकों ने परिशिष्ट १ में किसी इतिहास लेखक का यह मत उद्धृत किया है, 'उनकी भाषा उछलती कूदती महफिली ढंग की होती थी। वे साहित्य के पारखी न थे। समालोचक तो वे थे ही नहीं। इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं। आदमी की अक्ल जहाँ तक जा सकती है, वहीं तक वह सोच समझ सकता है।

बंगाल में एक बड़े पण्डित शशधर तर्क चूणामणि थे। उन्होंने एक बार कहा था, मेरे व्याख्यान को जो कोई अच्छा कहेगा या जो कोई बुरा कहेगा, तो मैं उसकी बात पर ही उसे अच्छा या बुरा न मान लूँगा! पहले मैं विचार करूँगा कि वह कितना जानता है और जब मैं जान लूँगा कि वह मत देने का अधिकारी है, तब उसके कहने पर उसे अच्छा या बुरा मान लूँगा। उस इतिहास लेखक को साहित्य का कितना ज्ञान था?

तुलसी बुरा न मानिये जो गँवार कहि जाय।
जैसे घर का नर्दवा भला बुरा बहि जाय॥

कुछ लोग योग्यता में नहीं परिस्थिति-वश बहुत ऊँचे चढ़ जाते हैं और फिर फतवे जारी करते हैं। उनके विषय में सूक्ति ध्यान देने योग्य है। 'प्रसादशिखरस्थोपि काको न मयूराजयते।'

—नज़र बाग, लखनऊ

(स्वतन्त्र भारत दिनाङ्क २६-७-५७ से साभार)

❀ ❀ ❀

"कुटुम्ब के बटवारे की तरह भाषा का यह बटवारा भी कुटुम्ब-कलह और सम्पत्ति-विनाश का कारण है। यदि हिन्दी-उर्दू दोनों सयुक्त परिवार की दशा में आ जाएँ तो फिर इसकी साहित्य-सम्पत्ति का संसार की कोई भाषा मुकाबिला न कर सके।"

पृष्ठ १८३

—पं० पद्म सिंह शर्मा

(हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी)

आचार्य पद्मसिंह शर्मा और अमर शहीद गरोश शंकर विद्यार्थी

—डा० लल्लन मिश्र

पंडित पद्मसिंह् शर्मा और अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। वैसे गणेशजी शर्मा जी से आयु में १४ वर्ष छोटे थे। पर दोनों लेखकों को समसामयिक ही माना जा सकता है। दोनों एक दूसरे पर मुग्ध थे। दोनों एक-दूसरे की गरिमा को समझते थे और सबसे बड़ी बात तो यह है कि दोनों आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के भक्त थे, प्रशंसक थे। शर्मा जी 'प्रताप' (गणेश शंकर विद्यार्थी द्वारा संपादित कानपुर का प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र) को नियमित रूप से पढ़ा करते थे। ज्येष्ठ सुदी ३ संवत् १९८५ मंगलवार को श्री वियोगी हरि को लिखे अपने पत्र में उन्होंने लिखा था :—

"कल 'प्रताप' (कानपुर) में यह पढ़ कर बड़ी चिंता हुई कि श्री टण्डन (रार्जषि पुरुषोत्तम दास टण्डन) जी को निमोनिया हो गया था।" दोनों औपचारिकता या कृत्रिमता से दूर थे। यश और सम्मान की परवाह न करके अपनी धुन में मस्त थे। आचार्य शर्मा जी जहाँ उपयुक्त पुस्तकों के प्रकाशन के समर्थक थे वहाँ वृथा-पुष्ट पोथियों के आलोचक भी। विद्यार्थी जी उत्तम विचारोत्तेजक साहित्य को समाज के लिये आवश्यक समझते थे और इस दिशा में दोनों महानुभाव दूसरी भाषा में लिखी पुस्तकों के हिन्दी में अनुवाद के भी समर्थक थे। अश्लील साहित्य के प्रति दोनों के हृदय में घृणा थी। विद्यार्थी जी तो उस की चर्चा करना भी उपयुक्त नहीं समझते थे। उनका विचार था कि महत्वहीन वस्तु की अधिक चर्चा करने से लोगों का उधर ध्यान चला जाता है जिससे उसका महत्व बढ़ जाता है। उन्होंने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा अश्लील साहित्य (घासलेटी साहित्य) के विरुद्ध चलाए गये आंदोलन के सन्दर्भ में गोरखपुर के अखिल भारतीय साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर वैसा कहा था। अश्लील साहित्य के विरुद्ध पद्मसिंह जी का भावोद्‌गार पं० हरिशंकर शर्मा को लिखे ६-१२-१९२६ के पत्र में इस प्रकार प्रकट हुआ:—

'चाँद' के मारवाड़ी अङ्क की समालोचना 'आर्यमित्र' में आज पढ़ी। खूब लिखी है। 'चाँद' बड़ा ही नारकीय पत्र है। मुझे तो इससे शुरू ही से घोर घृणा रही है। इस का वायकाट होना चाहिए। खैर, जाने दो दोजखी जन्तु को।"

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि विद्यार्थी जी ने भी 'प्रताप' में मारवाड़ी अङ्क की आलोचना लिखी थी और उसे लेकर 'चाँद' के तत्कालीन सम्पादक श्री रामरख सिंह सहगल से काफी विवाद हुआ था।

विद्यार्थी जी तो स्वयं देश के प्रसिद्ध नेता थे। पं० पद्म सिंह शर्मा के हृदय में त्यागी नेताओं—मालवीय जी, तिलक जी आदि के प्रति श्रद्धा थी, किन्तु स्वाँगधारी लीडरों के प्रति घृणा थी। अपने लेखों और पत्रों में भी उन्होंने ऐसे नेताओं की खूब खबर ली है।

दोनों महानुभाव गरीब दुखियों की मदद तो करते ही थे, मित्रों के लिए भी जान देने के लिए तैयार रहते थे। विद्यार्थी जी ने चतुर्वेदी जी (पं० बनारसीदास चतुर्वेदी) को अपने १९-११-१९२० के पत्र में इस प्रकार लिखा था—"प्रताप आपका है। आप वैसे कहें तो 'प्रताप' की सारी शक्तियाँ आपके चरणों में अर्पित हो जाएँ।"

इसी प्रकार पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने १३-४-२६ के पत्र में श्री वियोगी हरि को लिखा था:—"आपका मन भला क्यों दबा जा रहा है ? ऐसी तो कोई बात नहीं है। 'मनुष्यता' की कमी मुझ में भी नहीं है। इसके पीछे मैंने भी अपने को तबाह कर लिया है, पर किसी मित्र के लिए तो भीख माँगने में भी मुझे संकोच नहीं, फिर यह तो एक व्यवहार की बात है, अपना कर्त्तव्य है।"

दोनों लेखक साहित्य-सेवियों की आर्थिक विपन्नता को देखकर दुखी हो जाते थे और यथासाध्य उनकी मदद की कोशिश करते थे। शर्मा जी और विद्यार्थी जी के जीवन में ऐसी बहुत सी घटनाएँ हुई थीं जब उन्होंने दूसरों की सहायता के लिये स्वाभिमान को भुला कर धन माँगा था। पूज्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को १९-१-३१ को लिखे पत्र में शर्मा जी के हृदय का करुण क्रन्दन इस प्रकार व्यक्त हुआ—

"प्रिय चतुर्वेदी जी, प्रणाम ! ७-१-३१ का कृपा पत्र यथा समय मिल गया था, अनुगृहीत हुआ। आप जिस परिस्थिति में काम कर रहे हैं, यह आप ही का हौसला है। मैं तो उसके ध्यान मात्र से विचलित हो जाता हूँ। 'लीडर' की पुरस्कार की बात से—दूसरे महीने का पुरस्कार अन्त्येष्टि (पत्नी का दाह-संस्कार) में लगा–दिल पर एक चोट लगी। ऐसी घटनाएँ बड़ी हृदय-विदारक होती हैं। जीवन को भारभूत बना देतीं हैं।"

दोनों महानुभावों ने सेवा-भाव से साहित्य-साधना की थी। उनके लिये हिन्दी-सेवा देश-सेवा का ही पर्याय थी। उन्होंने अन्तिम क्षण तक मानवता का ध्यान रखा, अपनी देह का नहीं। पूज्यवर शर्मा जी दस दिनों से प्लेग से बीमार थे। 'लोकमान्य' (कलकत्ता) के संपादक श्री मदनलाल चतुर्वेदी ने बिहारी के एक दोहे के प्रति उन्हें लिखे अपने एक पत्र में जिज्ञासा प्रकट की थी। स्वयं समर्थ न होते हुए भी शर्मा जी ने अपने छोटे पुत्र श्री रामनाथ द्वारा चतुर्वेदी जी के लिए, पत्र लिखवाया था। आचार्य जी उत्तर न भी देते तो मदनलाल जी कभी भी इसका बुरा न मानते, पर किसी साहित्यिक जिज्ञासु की उपेक्षा करना उनके विचार से अक्षम्य अपराध था। उन का अन्तिम पत्र इस प्रकार है—

काव्य-कुटीर, नायक नगला,
चाँदपुर (बिजनौर)
४-४-३२

"प्रिय चतुर्वेदी जी प्रणाम।

आपने अचानक ही इस मामले में पड़ कर बड़ी सफाई दिखलाई। यह मामला शुरू से ही बेकार मालूम दे रहा है। इसकी ज़रा भी ज़रूरत न थी। सफ़र सर्व-सम्मत पाठ है। राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' ने अपने गुटके में यही पाठ लिखा है। गुटकों के अनेक संस्करणों में ऐसा ही पाठ छपता रहा है। इस पर कभी किसी को आपत्ति नहीं हुई।, आपत्ति होने की कोई बात भी नहीं, यह व्यर्थ का वितण्डा है।

मैं २९-३-३२ रविवार की शाम से प्लेग में बीमार हूँ। पत्र भी चि० रामनाथ से लिखवाया है।"

भवदीय—
पद्मसिंह शर्मा

इसी प्रकार विद्यार्थी जी ने भी अपना अन्तिम पत्र कलकत्ता की ही रहने वाली श्रीमती इन्दुमती गोयनका को निधन से ७-८ घंटे पूर्व लिखा था, जो कानपुर के दंगे में विद्यार्थी जी की मदद करना चाहतीं थीं। उन्होंने उस पत्र में श्रीमती गोयनका के प्रति आभार प्रकट करते हुए उनके साहस की प्रशंसा की है।

हिन्दी-सेवा का व्रत लेने वाले बहुत से लेखक और कवि छोटे पत्र-पत्रिकाओं में इसलिए नहीं लिखते कि उन्हें अच्छा पुरस्कार नहीं मिलेगा। कवि-सम्मेलनों में जाने के लिए लोग अग्रिम धन माँगते हैं। मैंने एक विश्वस्त मित्र से यह भी सुना है कि हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि को जो अपने कण्ठ के लिए काफी प्रसिद्ध हैं, अग्रिम धन भेजकर लोगों ने बुलाया और फिर तवायफों की तरह फरमाइश करके उनसे गीत सुने। इसी सन्दर्भ में आचार्य शर्मा जी की सहृदयता को देखिए।

'विशाल-भारत' की आर्थिक स्थिति अच्छी न रहने पर उसके द्वारा मिले हुए पुरस्कार पर उनकी क्या प्रतिक्रिया होती है--

"प्रिय चतुर्वेदी जी नमस्कार !

पुरस्कार के रुपयों का मनीआर्डर मिल गया । धन्यवाद । पर 'विशाल भारत' की आर्थिक दशा को देखते हुए मुझे इसे लेने में संकोच हुआ ।"

आज वैसी स्थिति नहीं रह गई है । अब तो 'वर मुवै चाहे कन्या हमै तो दछिना से मतलब' की कहावत कवियों और लेखकों पर चरितार्थ हो रही है ।

शर्माजी कई भाषाओं के पंडित थे--हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत आदि के । उर्दू के कई कवियों से उनका घनिष्ठ संबंध भी था । मौलाना हाली और महाकवि अकबर इलाहाबादी उनकी जबाँदानी और जिन्दादिली के कायल थे । विद्यार्थी जी भी हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू के अच्छे जानकार थे । दूसरी भाषा के सम्बन्ध में दोनों लेखकों का उदार-दृष्टिकोण था । अपनी भाषा के विकास और प्रभावोत्पादकता के लिए दोनों ने ही दूसरी भाषा के शब्दों का काफी प्रयोग किया है, पर कहीं भी कृत्रिमता नहीं दिखाई पड़ती । उसे आत्मसात् कर लिया है ।

विद्यार्थी जी शर्मा जी के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। शर्मा जी भी विद्यार्थी जी के प्रति स्नेह की वर्षा करते थे। एक बार विद्यार्थी जी लोहामण्डी, आगरा, पं० हरिशंकर शर्मा के यहाँ गये हुए थे । संयोग से आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा भी वहीं पधारे थे । वे उस समय कुछ पढ़ रहे थे । विद्यार्थी जी ने उनकी ओर ध्यान न दिया । जब हरिशंकर जी से कुछ देर बातचीत करके विद्यार्थी जी अन्यत्र किसी से मिलने जाने लगे तब मार्ग में हरिशंकर जी ने कहा--"क्या संपादक जी से मिलने न चलेंगे ?" विद्यार्थी जी ने कहा--"कौन संपादक जी ?" इन्होंने कहा--"आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा ।" विद्यार्थी जी ने पूछा--"क्या वे यहाँ आये हैं ?" हरिशंकर जी ने कहा--"हाँ, वे मेरे यहाँ ही हैं । आपको देखकर लेटे से कुछ उठने से लगे थे, किन्तु आपका ध्यान अन्यत्र देखकर वे पुनः पढ़ने लगे थे ।" फिर क्या ? विद्यार्थी जी लौट पड़े । भाव-विभोर होकर उन्होंने आचार्य जी को प्रणाम किया और अपनी गलती के लिए बार-बार क्षमा याचना की । दोनों व्यक्ति पुलकित थे । दो घंटे तक बैठक फिर चली । इस घटना से शर्मा जी के प्रति विद्यार्थी जी के हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा दिखलाई पड़ती है ।

इसी प्रकार विद्यार्थी जी के निधन पर चतुर्वेदी जी को लिखे पत्र में शर्मा जी का शोकोद्गार देखिए--

"आर्यमित्र, आगरा
१-४-३१

प्रिय चतुर्वेदी जी, नमस्कार ।

बड़े दुर्भाग्य की बात है कि प्रतापी विद्यार्थी जी सत्यानाशी हिन्दू-मुस्लिम समझौते की भेंट हो गए । समझौते के इस प्रयत्न में हिन्दुओं की अपार हानि हो रही है । कानपुर में तो यह समझौता बड़ा ही महँगा पड़ा ! विद्यार्थी जी की हानि किसी तरह भी पूरी न होगी । यह दुर्घटना बड़ी ही हृदय-विदारक है । हा हन्त !"

काश ! शर्मा जी के निधन के समय विद्यार्थी जी जीवित रहे होते तो उन्होंने भी उनके प्रति ऐसा ही शोकोद्गार प्रकट किया होता ।

शर्मा जी तथा विद्यार्थी जी दोनों ही सम्पादक थे। शर्मा जी 'परोपकारी' के सम्पादक थे । उन्होंने 'सुधा' (लखनऊ की मासिक पत्रिका) के साहित्यिक विशेषांक का भी उत्कृष्ट सम्पादन किया था । विद्यार्थी जी 'प्रताप' (पहले साप्ताहिक फिर दैनिक) के सम्पादक के रूप में हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में यशस्वी स्थान प्राप्त कर चुके हैं । ये दोनों ही पत्रकार निर्भीक थे । दोनों की भाषा में जान है, एक खास अदा भी । उनके शब्द, विचार, भावनाएँ, अन्तरतम को छूती हुई निकलतीं हैं । यही कारण है कि इन दोनों लेखकों की शैली पर बहुत से लेखक रीझ गये थे और उन्होंने उसका अनुसरण करने का प्रयत्न किया था ।

शर्मा जी पूर्णतः साहित्यिक थे, साहित्यानुरागी थे। विद्यार्थी जी साहित्यिक और राजनीतिक दोनों ही थे। अतः दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। किन्तु उनके कुछ निबन्ध—"कर्मवीर महाराणा प्रताप", "अनुताप की महिमा", "कर्मवीर गाँधी" आदि ऐसे हैं जिनमें केवल साहित्य का ही हृदय बोलता है।

दोनों अपने सिद्धान्त के पक्के थे, उससे ज़रा भी हटने वाले नहीं। अतः कुछ लोगों ने उन्हें हठी एवं अभिमानी भी समझा था। किन्तु दोनों के हृदय में करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती थी। वे दूसरों की पीड़ा को देख या सुनकर बेचैन हो जाते थे, मदद करने के लिए दौड़ पड़ते थे। उन्होंने कितने ही दीन-दुखियों की सहायता की थी; किन्तु उसका ढोल नहीं पीटा था।

जिस प्रकार लोग पं० पद्मसिंह जी शर्मा को केवल तुलनात्मक समीक्षा का जन्मदाता कहकर सन्तोष कर लेते हैं उसी प्रकार विद्यार्थी जी को केवल 'प्रताप' के सम्पादक, एक पत्रकार के रूप में जानते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि ये दोनों ही महानुभाव हिन्दी के उच्च कोटि के निबन्धकार थे। जिसे विश्वास न हो वह आचार्य जी का 'भगवान श्रीकृष्ण' शीर्षक लेख तथा विद्यार्थी जी का 'महाराणा प्रताप' या 'आत्मोत्सर्ग' नामक निबन्ध पढ़ सकता है। इन लेखों की भाषा विषय के अनुकूल एवं स्वाभाविक है। साथ ही इनमें सम्बन्धित लेखक का व्यक्तित्व भी झाँकता हुआ दिखाई देता है।

विवेच्य दोनों लेखकों के व्यक्तित्व की छाप उनके पत्रों पर भी पड़ी है। इन्होंने हजारों पत्र लिखे होंगे। शर्मा जी तो कुशल संस्मरण लेखक भी थे। महाकवि अकबर इलाहाबादी तथा अध्यापक पूर्णसिंह के संस्मरण अपने ढंग के बेजोड़ हैं। शर्मा जी के बहुत से पत्रों को श्रद्धेय पं० बनारसी दासजी चतुर्वेदी ने प्रकाशित करा दिया है। पर विद्यार्थी जी के अधिकांश पत्र अब उपलब्ध नहीं हैं। जो थोड़े मिलते हैं उन्हें प्रकाश में लाने का श्रेय चतुर्वेदी जी तथा श्री लक्ष्मी शंकर जी व्यास को है।

आज हिन्दी के बहुत से लेखकों ने 'अपनी डफली अपना राग' छेड़ कर हिन्दी की कुछ पुरानी मूर्तियों को तोड़ने का संकल्प कर रखा है। ऐसे मूर्ति-भंजक लेखकों से हिन्दी का लाभ कौन कहे उसकी हानि ही अधिक होने की संभावना है। पर हिन्दी की जो मूर्तियाँ फौलाद की बनी हुई हैं उन्हें कोई भी तोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता। आचार्य पद्मसिंह शर्मा और अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी इस्पात के बने थे। आधुनिक साहित्य की बाढ़ में वे कुछ दिनों के लिए हमारी आँखों से ओझल हो सकते हैं; पर वे नष्ट नहीं हो सकते। वे मिट्टी की मूर्ति नही हैं जिसे बरसात में छाता लगाने की जरूरत पड़ेगी। वे अपनी रक्षा करने में स्वयं समर्थ हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् साहित्य का क्षेत्र काफी बढ़ गया है। बहुत से असाहित्यिक व्यक्ति भी साहित्य के झण्डे के नीचे राजनीति की चाल चलने लगे हैं। कुछ लोग आधुनिकता और नवीनता के नाम पर बुद्धिवाद और हृदय-दारिद्रय को बढ़ावा दे रहे हैं। इस समय जैसे सर्वत्र निरंकुशता का बोलबाला है वैसे ही साहित्य में भी। ऐसे अनास्था, स्वार्थपरता एवं विक्षोभ के परिवेश में पं० पद्मसिंह शर्मा और गणेश जी जैसे कृती साहित्यकारों की याद सहज ही आजाती है।

—बुद्धस्नातकोत्तर महाविद्यालय,
(हिन्दी विभाग),
कुशीनगर, देवरिया (उ० प्र०)

"लिपि की एकता का प्रश्न भाषा की एकता का ही नहीं, जाति की एकता का भी प्रश्न है। भारत की मुख्य लिपि अपने विशेष गुणों के कारण, देवनागरी ही है। बँगला, गुजराती, गुरुमुखी, मराठी आदि लिपियाँ भी उसी का कुछ हेर-फेर से रूपांतर मात्र हैं।" पृष्ठ ७५

—पं० पद्म सिंह शर्मा
(हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी)

सम्पादन के क्षेत्र में—

पं० पद्मसिंह शर्मा की परम्परा को अग्रसर करने वाले

निष्पक्ष एवं निर्भीक पत्रकार पं० श्रीराम शर्मा

—डा० रामस्वरूप आर्य

श्रीयुत पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने पं० श्रीराम शर्मा का 'रेखाचित्र' निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है—"कद मझौला, शरीर सुगठित, चेहरे पर मर्दानगी, आँखों में लालिमा, बातचीत में जनपदीय शब्दों का प्रयोग, चाल में दृढ़ता और स्वभाव में अक्खड़पन, श्री राम जी के इस रूप में एक पौरुषमय अदा है, निराला आकर्षण है जो उनके व्यक्तित्व को विशेषता प्रदान करता है।"[१] उनके विचार में—"श्री राम जी जन्मतः ब्राह्मण होने पर भी स्वभावतः क्षत्रिय हैं।"[२] स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने उन के लेखों पर मुग्ध होकर लिखा था—"श्री राम शर्मा प्रसिद्ध और सिद्ध अचूक निशाना लगाने वाले शिकारी हैं। आपके लेखों का निशाना भी सीधा पाठकों के हृदयों पर जाकर बैठता है।"[३]

उपर्युक्त उद्धरण पं० श्री राम शर्मा के व्यक्तित्व और शैली पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। उनके संस्मरणात्मक एवं शिकार सम्बन्धी लेखों में उनके इसी व्यक्तित्व की छाप है। पं० श्रीराम शर्मा न केवल एक कुशल शिकारी, रेखाचित्र तथा शिकार-साहित्य के लेखक थे, बल्कि एक निष्पक्ष एवं निर्भीक पत्रकार भी थे। उन्होंने २० वर्ष से भी अधिक समय तक हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्र 'विशाल भारत' का सम्पादन किया। इसकी सम्पादकीय टिप्पणियों के माध्यम से उन्होंने साहित्य, समाज एवं राजनीति सभी विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं।

दिसम्बर' ६० के 'विशाल भारत' में उन्होंने लिखा था—"सम्पादक सत्य और शिष्ट बात करने में देशहित की खातिर किसी का ख्याल न करे। जिससे लोकहित हो उसे पाठकों के सामने रखे। चाटुकारी, स्वार्थपरता और राजनीतिक क्लीवता का 'विशाल भारत' ने हमेशा विरोध किया है। ढोंगी, दंभी और अहंकारी प्रशासकों, राजनीतिज्ञों और साहित्य-सेवियों की खरी आलोचना करने में 'विशाल भारत' कभी नहीं चूका।"

मार्च' १९६३ के 'विशाल भारत' की सम्पादकीय टिप्पणी 'अखबार के सम्पादक कैसे हों ?' में वे लिखते हैं "आजकल अधिकाँश पत्रकार मीरासगीरी करते हैं और वे प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री, मालिकों के रुख की ओर ताका करते हैं। पत्रकार एक उच्च-न्यायाधीश के समान होते हैं जो दोनों पक्षों को समझकर निर्णय देता है। हमारे मत में जो पत्रकार किसी दलगत राजनीति पर बल देता है और विपक्ष को समझने का प्रयत्न नहीं करता है, वह

१. रेखाचित्र, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पृ० १८७। २. वही, पृ० १८८। ३. वही, पृ० १९१।

चिन्तन-शक्ति को कुंठित करता है तथा उनके मानसिक विकास के लिये बाधक होता है।"

उनकी मान्यता थी कि पत्रकार को व्यक्तिगत स्वार्थ तथा पक्षपात से ऊपर रहना चाहिए। सार्वजनिक हित उसकी दृष्टि में सर्वोपरि होना चाहिए। 'विशाल भारत' अप्रैल १९६१ के 'चिट्ठी-पत्री' स्तम्भ में उन्होंने लिखा था, "पत्रकार को हम न्यायाधीश समझते हैं और उसके पास जो प्रमाण होता है उसी के आधार पर उसे बात कहनी चाहिए। व्यक्तिगत तथा पक्षपातपूर्ण बात कहना पतनोन्मुखी प्रवृत्ति है। यदि किसी प्रशासक के कार्य से अवांछनीय प्रवृत्तियों को शक्ति अथवा अन्याय को प्रोत्साहन मिलता हो तो उसे नज़रन्दाज़ करना सार्वजनिक हित में नहीं है।" अनावश्यक दबाव से क्षुब्ध होकर वे कहते हैं; "जब तक हम पत्रकार रहेंगे तब तक हम किसी गलत चीज़ के विरोध में लिखे बिना न रहेंगे। दम्भ और अहंकार की कड़ी आलोचना करनी है। हमारा प्रशासन ढीला हो रहा है। चाटुकार और ठकुरसोहाती कहने वालों पर अँकुश न लगेगा तो न जाने इस देश की क्या हालत हो ?" चिट्ठी पत्री 'विशाल भारत' मई १९६१ ई०।

पं० श्रीराम शर्मा सम्पादन क्षेत्र में भीष्म पितामह की इस युक्ति के अनुयायी थे—

"शत्रोरऽपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोऽपि।"

देश की दुर्दशा एवं राजनीतिज्ञों की अदूरदर्शिता से दुखी होकर उन्होंने देश के महान् राजनीतिज्ञों के प्रति प्रखर व्यंग्य-बाणों का प्रयोग किया।

विषय की विविधता की दृष्टि से 'विशाल भारत' की 'कांगो की गम्भीर स्थिति' (दिसम्बर १९६० ई०), 'उत्तर प्रदेश की गुटबन्दी की चरम सीमा' (नवम्बर १९६० ई०), 'उत्तर प्रदेश कांग्रेस राजनीति की थुक्का-फ़जीहत' (फरवरी १९६१ ई०), अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच (जून १९६१ ई०), कश्मीर सम्बन्धी अमरीकी नीति का कारण (सितम्बर १९६२ ई०), नेपाल और भारत (अक्तूबर १९६२ ई०), मजहब और राजनीति (दिसम्बर १९६२ ई०), चीन बेशर्म या कृतघ्न (जनवरी १९६३ ई०) आदि सम्पादकीय टिप्पणियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनमें पं० श्रीराम शर्मा के चिन्तन के भी दर्शन होते हैं।

'विशाल भारत' की सम्पादकीय टिप्पणियों की उसके पाठकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। विशेष रूप से, पाठक इनमें सम्पादक की स्पष्टवादिता तथा निर्भीकता से प्रभावित हुए हैं। यहाँ ऐसे ही दो पाठकों के मत उद्धृत किए जाते हैं—

"विशाल भारत की निर्भीक, स्पष्ट और गम्भीर टिप्पणियाँ हिन्दी जगत् की बहुमूल्य सम्पत्ति समझनी चाहिए।"

अ० प्र० द्विवेदी, लखनऊ
चिट्ठी पत्री, 'विशाल भारत' नवम्बर १९६१ ई०

"मैं तो 'विशाल भारत' केवल सम्पादकीय टिप्पणियों तथा पत्र स्तम्भ के लिये पढ़ता हूँ। निर्भयता के साथ आप लिखते हैं, उसके लिये आपके चरणों में शत्-शत् प्रणाम्।"

अयोध्या सिंह
चिट्ठी पत्री, 'विशाल भारत' अक्तूबर १९६२ ई०

पं० श्रीराम शर्मा के अभिन्न साथी श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गये अपने एक पत्र में उनकी निर्भीकता एवं निष्ठा आदि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है—

"मैं श्रीराम की निर्भीकता और संनिष्ठा और सहृदयता पर अपने जैसे बीसियों कांग्रेस जन न्यौछावर कर सकता हूँ।"[४]

४ 'नवीन जी पत्र लेखक के रूप में; पं० बनारसीदास चतुर्वेदी 'विशाल भारत' नवम्बर १९६३ ई०।

पं० श्रीराम शर्मा के कठोर रुख को देखते हुए मैंने उनसे विनम्र व्यवहार की प्रार्थना की थी जिसके उत्तर में उन्होंने अपने दिनाँक १७-४-६३ के पत्र में मुझे लिखा था—"जब बिरादरीबाजी और सम्बन्धों से प्रशासन की क्षमता बिगड़े तब वह अक्षम्य है। एक ईमानदार पत्रकार का कर्त्तव्य है कि वह लोगों के सामने शिष्ट और सत्य आलोचना रखे।"

इसी प्रकार हिन्दी सम्बन्धी विधेयक पर उन्होंने अपना क्षोभ इन शब्दों में व्यक्त किया था—"हिन्दी के विषय में मैं बहुत लिख चुका हूँ और मई के अंक में भी कुछ लिख रहा हूँ। हिन्दी के मामले को राजनैतिक रूप दे दिया गया है और कांग्रेस दल के सामने अपनी सत्ता बनाये रखने का प्रश्न है। देश का प्रश्न गौण है।".... लेखक को दिनाँक १-५-६३ को लिखे गए पत्र से।

पं० श्रीराम शर्मा में निर्भीकता के बीज बालकाल से ही विद्यमान थे। अपने 'स्मृति'[५] शीर्षक लेख में, उन्होंने बचपन में कुए में उतरकर साँप को मारने की जिस रोमाँचक घटना का वर्णन किया है, वह इसका स्पष्ट प्रमाण है। वे पं० पद्मसिंह शर्मा के कृपापात्रों में थे। पंडित जी उन्हें अपना कनिष्ठ पुत्र मानते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा अपनी स्पष्टवादिता तथा निर्भीकता के लिये प्रसिद्ध थे। पं० श्रीराम शर्मा के शब्दों में "सम्पादक जी (पं० पद्मसिंह शर्मा) का एक गुण था साफगोई। साफ बात कहने में वे कभी नहीं चूकते थे। अपने अति प्रियजनों को भी आड़े हाथों लेते थे।"[६] ऐसा प्रतीत होता है कि पं० श्रीराम शर्मा ने अपने साहित्यिक गुरु पं० पद्मसिंह शर्मा से इस गुण को ग्रहण किया था। पत्रकारिता के क्षेत्र में इनके आदर्श, पत्रकार शिरोमणि श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय थे। राजनैतिक जीवन में वे क्राँतिकारी रहे। क्राँतिकारियों की संगति तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस[७] जैसे नेताओं के सम्पर्क से वे और भी निर्भीक होते गए। पत्रकारिका के क्षेत्र में भी उनकी यह निर्भीकता निरन्तर बनी रही और जीवन के अन्तिम समय तक वे अपने विचार निर्भीकतापूर्वक व्यक्त करते रहे। उन जैसे निष्पक्ष एवं निर्भीक पत्रकार अब कहाँ हैं?

रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ० प्र०)।

---

५. यह लेख पं० श्रीराम शर्मा की "वे जीते कैसे हैं" पुस्तक में संकलित है।

६. "स्वर्गीय सम्पादक जी की स्मृति में" पं० श्रीराम शर्मा 'त्यागी' पत्रिका 'पद्मसिंह अंक' अक्तूबर १६३२ ई०, पृ० ३५।

७. ज्ञातव्य है कि पं० श्रीराम शर्मा ने अंग्रेजी में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का विस्तृत जीवन चरित्र लिखा है, जो शिवलाल एण्ड कं० आगरा से प्रकाशित हुआ है।

"लिपि की महत्वा यही है कि जो लिखा जावे वही पढ़ा जावे। सुवाच्य सुबोध और वैज्ञानिक लिपि वही है जिसके अक्षरों का विन्यास उच्चारण अनुकूल हो। अन्यथा वह लिपि भ्रामक और दुर्बोध होगी और उच्चारण की जटिलता को बढ़ा देगी।"

पृष्ठ ६२–६३

—पं० पद्म सिंह शर्मा
(हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी)

श्री पं० पद्मसिंह शर्मा की याद में—

——श्री चन्द त्यागी

हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पै रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।।

पण्डित पद्मसिंह शर्मा जैसे दीदावर, रौशनज़मीर, दिव्य प्रकाश, किसी युग में, कभी-कभी, कहीं-कहीं, इस संसार में प्रकाशमान् होते हैं।

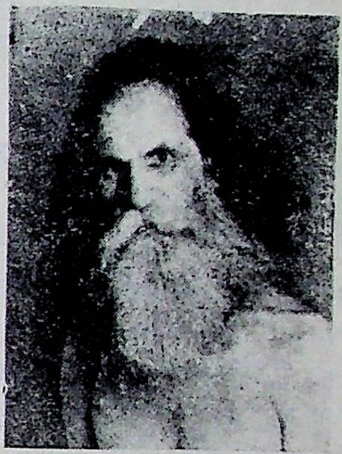
कोई छप्पन वर्ष पहले की बात है। सन् १९१८ में मैं मेरठ जिले के मुण्डाली ग्राम में मुख्याध्यापक था। तभी अपने सगोती आत्मीय पं० मथुराप्रसाद शर्मा की खोज में मुझे काशी जाना पड़ा।

बनारस की गलियाँ छानते-छानते मुझे पता चला कि वे गुदौलिया से आगे रेवड़ी तालाब पर पं० पद्मसिंह शर्मा के पास हैं। उन्हीं के पास पढ़ते हुए, मुस्कराते हुए मथुराप्रसाद मुझे मिले और प्रेमाकर्षित करते हुए, पंडित जी ने मुझे उठकर अपना लिया।

वाराणसी के 'ज्ञान मंडल' में उन दिनों उनका प्रसिद्ध 'बिहारी सतसई भाष्य' छप रहा था। पंडित जी स्वयं प्रूफ देखा करते थे। इस पुस्तक पर बाद को, 'मंगला प्रसाद' पारितोषिक मिला, और साहित्य संसार में उसकी कमाल शोहरत होगई।

इसके पहले भाग के सिर्फ सवा सौ दोहों की व्याख्या पर तो पंडित जी ने कमाल की हद करदी! इन दोहों में विभिन्न शायरों व कवियों की रचनाओं का बहुत गहराई से मुकाबला किया गया है।

उन दिनों सम्पादक जी, साहित्य-चर्चा से अपने रसिक प्रेमियों को प्रमोद प्रेमरस से तरबतर करते रहते



श्री चन्द त्यागी

थे। जुदा नहीं होने देते थे। इजाज़त मांगते तो कहते सारनाथ आदि घूम आओ। उस समय की रहन-सहन और अपनी सैरगाही के साथी याद आते रहते हैं—मथुराप्रसाद और सुखवंशलाल, सरजूप्रसाद, हापुड़ के, धर्मवीर जी रहरा के, श्री पं० विश्वनाथ व रामपाल, रतनगढ़ के और दो चंचल लड़के बलवीर नारायण व प्रेम नारायण, प्रायः पैदल साथ घूमते, और दाल चावल, बाटी बनाते, पत्तों पर खाते, आनन्द लेते थे।

उन सैर-सपाटों का सानन्द वर्णन और उन पर पंडित जी की शिक्षा-वार्ता मैं कहां तक लिखूं? प्रिय पाठकवृन्द कल्पना से ही अनुभव आनन्द लेते रहें। आखिर दशहरा की छुट्टियों पर रेलवे कन्शेशन टिकट मिलने के बहाने, हमें इजाजत मिल गई, और अयोध्या में सरयू, लखनऊ में गौमती का स्नान ध्यान करते हुये हम वापिस चले आये।

एक बार पं० पद्मसिंह जी का सन्देशादेश मिला कि हम आ रहे हैं । मेरठ वैद्यपाड़े में वैद्य हरिशंकर जी के मकान पर मिलो ।

पंडित हरिशंकर जी के यहाँ दो दिन, प्रेम-मिलन, सत्संग, प्रेमभोज होता रहा । अगले दिन मेरठ की मशहूर खस्ता रेवड़ी, नानख़ताई, रसमलाई के लड्डू, पंडित जी अपने हाथ से बाँटते रहे और खाते रहे । फिर सतसई के दोनों हिस्सों की सुन्दर-सुन्दर जिल्द मुस्कराते हुए प्रेमोपहार में लिख-लिखकर सबको दीं । मैंने कहा पंडित जी सबको मुफ़त ! कुछ भी क़ीमत नहीं ! तो बोले—

बिके मुफ्त में हम ज़माने के हाथों ।
जो देखा तो थी यह ही क़ीमत ज़िआदा ॥

उन्हीं दिनों श्री स्वामी सोमतीर्थ जी महाराज, व गुरुस्वामी, जगतगुरु श्री ११०८ स्वामी त्रिविक्रम तीर्थ जी महाराज के साथ मैं, हस्तिनापुर के सामने गंगा पर विदुर कुटी, दारानगर गंज गया था । रास्ते में एक दिन हम सुन्दर पद्म कुटीर, काव्य कुटीर (नायक नगला) ठहरे थे । तब पंडित जी नहीं आसके और कविवर सेठ कन्हैयालाल जी के साथ माछरें के प्रोग्राम पर भी नहीं पहुँच सके । इस मौके के मेरे उर्दू पत्र का कैसा मार्मिक जवाब है—

कनखल,
१० अगस्त १६२१

प्रियवर चन्द जी ! नमस्ते !

आपका कृपापत्र मिला, हालात मालूम हुए, जो बातें आपने अपने गुज़िश्ता सफ़र के मुताल्लिक़ तहरीर फ़रमाई हैं वह मुझे एक ख़ार्जी जर्ये से मालूम हो गई थी। मुझे अपनी उस वक्त की अदम मौजूदगी का दर हक़ीक़त निहायत अफ़सोस और क़लक़ है। माछरा श्री स्वामी सोम तीर्थ जी महाराज से मिलने का इरादा हो रहा है । भादों के बाद ख़याल है वह इधर ही आजायेंगे। माछरे के सफ़र में मुमकिन होसका तो आपसे मिलने की कोशिश करूँगा, जाते वक्त या लौटते वक्त। बरना इत्तिला दूँगा। बहरहाल मेरा इरादा माछरे जाने का जरूर है । उस वक्त होसका तो आपके दोस्त, सेठ कन्हैयालाल से भी निआज़ हासिल करूँगा । उनसे मेरा नमस्ते कहिये !

पिलखुवा, मैं समझता हूँ, मुरादाबाद-ग़ाजियाबाद लाइन पर रेलवे स्टेशन है । मेरी सेहत अभी तक खराब है। एक हफ्ते से यहाँ—वैद्य रामचन्द्र जी के पास मुक़ीम हूँ । आज शायद महाविद्यालय चला जाऊँ ।

बन्दा—पद्मसिंह शर्मा

सन् १६३३ में महात्मा गाँधी को सज़ा होते ही मैंने क़स्बे पिलखुवा के सरकारी स्कूल की नौकरी छोड़ दी। तब आचार्य शिवनारायण शुक्ल ने मुझे वृन्दावन बुला लिया । वहाँ वार्षिक उत्सव पर कवि सम्मेलन व मुशायरे के सदर थे पं० पद्मसिंह शर्मा । हिन्दी समस्या थी—

केहि कारन हाथ मलै मधु माखी ।

मेरी समस्या पूर्ति थी—

....जिमि मोमहि बाती जरा तिन राखी ।
तेहि ऊपर चन्द पतंग जर्‌यो,
यहि कारन हाथ मले मधु माखी ॥

पंडित जी झूमने लगे 'वाहवा खूब बाँधा है'—

मगस को बाग में जाने न देना ।
कि नाहक़ खून परवाने का होगा ॥

क्योंकि मक्खी बाग़ से शहर जायगी । मोम बनेगा फिर उसकी बत्ती पर परवाना (पतंग) जलेगा ।

उर्दू की मेरी पूर्ति थी–

"हो महवे राहे उल्फ़त था कि पत्थर मील का होजा।
खिला ठोकर किसी को तू न संगे रह गुज़र होकर ॥"

इस पर भी सदर साहिब ने खूब दाद दी, और शेर बोला-

वना चाहते हो जो दुनिया के रहवर।
तो बन जाओ सड़कों पै मीलों के पत्थर ।।

अगले दिन पंडित जी अपनी टोली के साथ वृन्दावन के कवियों से मिलने गये जहाँ कुछ कवि महन्त ऐसे भी थे जो नखरे से मिले और उनकी कविता भी फीकी सी थी। पंडित जी ने घण्टों उनके साथ लगा दिये। यह शिकायत मैंने अपने ख़त में लिख दी। इसका जवाब पढ़िये जिस पर ग़ौर करने से जीवन को सहारा मिलता है।

(चित्र) काव्य कुटीर
नायक नगला — पद्मसिंह शर्मा
चाँदपुर बिजनौर — १६-१-१६३१

"प्रिय चन्द जी,

१२ तारीख का कार्ड मिला। याद आवरी का मशकूर हूँ। उस रोज़ वृन्दावन में उन लोगों से मिलना हमारा फ़र्ज़ था। वृन्दावन में बड़े बड़े बाकमाल गुज़रे हैं। ये लोग उनका नाम लेते हैं। अहले दिल कोई हो और कहीं हो इन्सान को चाहिये कि उससे मिले। आर्यसमाजियों में यह सब से बड़ी कमी है, ख़ास कर संस्था वालों में। हर एक बजाय खुद महन्त और ज़ाहिद खुश्क है। यह लोग किसी भले आदमी से मिलना, उस पर बड़ा भारी एहसान समझते हैं।

तुलसीदास जी का यह मशहूर दोहा बड़ा ही पुर मआनी है—

तुलसी जग में आय के सब से मिलिये धाय।
ना जाने किस भेस में नारायन मिल जाय ॥

अकबर का वह शेर इस तरह है—

मानी को छोड़कर जो हों जिद्दत तराज़ियाँ।
वो शेर क्या है, रंग है, लफज़ों के खून का ॥

कस्तले वाले सेठ साहिब से ख्याल है एक मर्तबा कहीं मुलाकात हुई थी। कस्तला जाने का तो इत्तिफ़ाक नहीं हुआ। कभी मौक़ा मिला तो देखा जायगा, हापुड़, असौड़ा तो आना जाना होता रहता है। आजकल तो एक मुसीबत में मुब्तला हूँ। घर में काशीनाथ की माता को तकलीफ़ है। मैं चार महीने से बराबर बीमार हूँ। कल वैद्य हरिशङ्कर जी को मेरठ से बुलाया था। काशीनाथ भी रुख़सत लेकर तीमारदारी के लिये आया हुआ है। गरज़ कि घर भर परेशान है। उम्मीद है आप बखैरियत हैं।"

यह पत्र राष्ट्रीय आन्दोलन में काम करते हुए मुझे फर्रुखाबाद मिला जहाँ भारती पाठशाला (इण्टर कालिज) के मैनेजर श्री पं० वन्शीधर के मकान की तलाशी के वक्त मेरे महत्व पूर्ण ख़ास पत्रों का बण्डल फूंक दिया गया था, जिसमें पाँडीचेरी से आये वारिन्द्रकुमार घोष के पत्र थे। उसी में पण्डित जी के पत्र भी थे। पद्मसिंह शर्मा, त्यागी अङ्क निकलने और उनकी शारीरिक जुदाई के समय मैं जेल में था। इसलिये उन पर कुछ लिखने का कभी मौका नहीं मिला।

पं० पद्मसिंह शर्मा दिलचस्प शेर या कविता मौके पर सुनने या कहने के मौके के मुन्तज़िर रहते थे वे जिस पर अपने मनोयोग की छाप डाल देते उसी को अपने अनुरूप बना लेते थे। उनकी अदाकारी पर फ़रेफ़्ता थे बहुत से कद्रदान। उन्हीं में बरतर हैं भाई शिवचरन जी, जिनका हमेशा से भारतीय गुणियों का सत्संग रस लेते रहने का स्वभाव है और उन पर वे कुर्बान है। जो लिखते हैं तो गुम रहों के कान खोलते हैं। इनका हाफ़ज़ा वसीय दीवानखाना है जिससे ग़मखारों के भी ग़म ग़लत होते हैं।

गजरौला रेलवे स्टेशन पर कभी रात भर मुसाफ़िरों का बड़ा जमघट रहता था क्योंकि चाँदपुर को सुबह के वक्त ही गाड़ीं मिलती थी। पण्डित जी की टोली ने भी वहीं बिस्तरे जमा लिये, एक मनचले क़िस्सागौ ने अपना लम्बा क़िस्सा छोड़ दिया। वैद्य हरिशङ्कर बोले पण्डित जी यह तो रातों कान खा जायेगा। पण्डित जी ने जोर से डाटते हुए यह मिसरा बोल दिया :—

कान खा जायगा ज़ालिम जान भी खा जायगा।
वाय क़िस्मत आज नासह मेरा मेहमां हो गया ॥

तब सारे में शान्ति छा गई।

एक आख़िरी मिसाल और लिखता हूँ जो मेरे ही साथ गुजरी। गुरुकुल (कांगड़ी) मायापुर में मैं शिक्षक था। सामने सड़क पार अपने कुएँ में लाल दवा डाली हुई थी। मैं ब्रह्मचारियों के। साथ लगाये हुए पानी निकलवा रहा था। इतने में कनखल से पण्डित जी की टोली आ गयी। पण्डित जी बोले आओ चलो चन्द जी। रामदास गौड़ जी बोले जरा पानी तो पिला दो। मैं लोटा भर लाया। उन्होंने ओक वना के पानी पी लिया। पी कर बोले यह लाल-लाल क्या है ? मैंने ताना देते हुए बड़े नाटकीय ढंग से कहा—

पसे 'मर्ग मेरे ख़ूं को, लोगों से पूछते हैं।
कहियो ख़ुदा के बन्दो, यह लाल-लाल क्या है॥

सुनते ही पण्डित जी झूम गये और बोले वाह खूब मौके पर कहा—यह लाल-लाल क्या हैं। साथ में पण्डित ईश्वरचन्द्र व पं० रामचन्द्र वद्य आदि कई प्रेमी थे। कवि विद्यापति पर वार्ता चल रही थी। जब नहर के पुल पर पहुँचे और गंगा की तरफ देखा, तो आश्चर्य करते हुये पण्डित जी बोले—वाह खूब मौके पर कहा, 'यह लाल-लाल क्या है !'

गङ्गा किनारे चलते हुये हरिद्वार की तरफ़ एक कोठी पर पहुँचे जिसकी नीचे की मंजिल में गङ्गा की धार बह रही थी। वहीं चौकियों पर बैठ गये। ठण्डाई का सामान आगया। पण्डित जी ने हरेक चीज़ को देख के ठीक बताया।

ठँडाई घुटवाई, छनवाई, पी और पिलवाई। फिर पंडित जी कुछ झूमते से बैठ गये। ईश्वरचन्द्र जी बोले इसमें तो भंग नहीं है। तो—झूमते-झूमते बोले वाह ! खूब मौके पर कहा — 'यह लाल-लाल क्या है' !! ऐसे थे सुहृद् और क़द्रदान पद्मसिंह शर्मा।

वह ख्याल भुलाने से नहीं भुलाया जाता। बस लिखना बन्द करता हूँ। और जो-जो ख़याल उनकी याद में उमड़ रहे हैं, उन्हें भुला देना चाहता हूँ और उनकी याद में कहता हूँ:—

नहीं मुस्कराने को जी चाहता है,
न आंसू बहाने को जी चाहता है।
तुम्हें भूल जाना तो है ग़ैरमुमकिन,
मगर भूल जाने को जी चाहता है॥

फाल्गुन शुक्ला एकादशी
२०३० विक्रमी
चन्द्रवार,
४ मार्च १९७४ ई०

—सन्त सेवा सदन
मतवाली नगरी,
शिवराजपुर
जि० नैनीताल।

"उर्दू वाले उर्दू को उसके आर्य परिवार से निकाल कर दूसरे गिरोह (सामी खानदान) में जबरदस्ती दाख़िल कर रहे हैं और विशुद्धतावादी हिन्दी वाले कुछ विदेशी शब्दों के सम्पर्क से स्वधर्म भ्रष्ट हुई भाषा को बहिष्कार का दण्ड दे रहे हैं। उसे हिन्दी मानने को किसी तरह तैयार नहीं। इस तरह इन दो मुल्लाओं के बीच बेचारी भाषा की मुर्गी हलाल हो रही है।"

पृष्ठ ५७—५८

—पं० पद्म सिंह शर्मा
(हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी)

विधवाऽऽक्रन्दम्

मूल लेखक:— महाकवि श्री मौलाना हाली

संस्कृतानुवादकः–श्री डा० हरिदत्त शास्त्री, कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (सहारनपुर)

उत्थानिका—उर्दू के मशहूर शायर हाली ने "मुनाजाते-बेवा" शीर्षक कविता की रचना जिस बहर में की है वह शङ्कराचार्य कृत "चर्पट पंजरिका" के छन्द में है। इसी का अनुवाद यहाँ "विधवाऽऽक्रन्दम्" द्रुतविलम्बित, उपजाति, विद्युन्माला, आदि छन्दों में किया गया है। हाली के मुहावरों को संस्कृत में पूर्णरूप से अनूदित करना कठिन है। इस अनुवाद के लिए साहित्यमहारथी श्री पण्डित बनारसीदास जी चतुर्वेदी की सतत प्रेरणा ही कारण है, इसके बिना यह कार्य असम्भव था। मैं इसे पितृचरण-श्रद्धाञ्जलि या पितृ-मित्र (आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा) श्रद्धाञ्जलि के रूप में प्रस्तुत करता हूँ।

मूल	संस्कृत अनुवाद
ऐ! मेरे ज़ोर कुदरत[1] वाले!	अयि! मदाश्रय! शक्तिधर प्रभो!
हिक्मत[2] और हुकूमत वाले।	सकल - बोध - विधायक, नायक,
मैं तेरी लौंडी दुखियारी,	त्रिजगतस्तव, दुःखित सेविका,
दरवाज़े की तेरी भिखारी ॥१॥	प्रधरणमेति शरण्य! दयाम्बुधे ॥१॥
मौत की ख्वाहा[3] जान की दुश्मन;	निधनं शरणं न जीवनम्,
जान पै अपनी आप अजीरन[4]।	ननु मृत्युर्वरमत्र जीवनात्।
अपने पराये से दुत्कारी,	स्वजनैश्च परैस्तिरस्कृता;
मैके और ससुराल पै भारी ॥२॥	भारभूता पतिमातृवंशयोः ॥२॥
सह के बहुत आज़ार[5] चली हूँ,	बहु दुःख - परम्परा - सहा,
दुनियाँ से बेचार[6] चली हूँ।	परनिर्वेद विषण्णधीः सृतौ।
दिल पर मेरे दाग हैं जितने,	दधती हृदये व्रणावलीम्,
मुँह में बोल नहीं हैं उतने ॥३॥	जित - संख्या वचनावलेर्मुखे ॥३॥
दुख दिल का कुछ कह नहीं सकती,	विवरीतुमहं न [illegible]सक्षमा,
इसके सिवा कुछ कह नहीं सकती।	निज कृच्छ्रं वचनेऽपि वा क्षमा।
ब्याह के, दम न पाई थी लेने,	परिणीति - दिनान्तिमे दिने,
लेने के यहां पड़ गये देने ॥४॥	मदभर्त्ता त्रिदशालयं गतः ॥४॥
खुशी में भी सुख पास न आया;	प्रमोद कालेऽपि न मोदलेशः,
गम के सिवा कुछ रास न आया।	दुःखातिरेकातिशयो विशेषः।
एक खुशी ने गम ये दिखाये,	एकः स हर्षो मम दुःख हेतुः,
एक हँसी ने गुल ये खिलाये ॥५॥	एकस्मितं तत् सुख-राहु-केतुः ॥५॥

१. कुदरत = शक्ति, २. ज्ञान, ३. इच्छुक, ४. तृप्ति न चाहना, ५. दुःख, ६. घबराई हुई।

कैसा था वह व्याह न नावाँ[1] ,
ज्यौंही पड़ा उसका परछावाँ ।
चैन से रहने दिया न जी को ,
कर दिया मटियामेट खुशी को ॥६॥

रो नहीं सकती तंग हूँ यहाँ तक ,
और रोऊँ तो रोऊँ कहाँ तक ।
हँस-हँस के दिल बहलाऊँ क्यों कर ,
ओसों प्यास बुझाऊँ क्यों कर ॥७॥

एक का कुछ जीना नहीं होता ,
एक न हँसता भला न रोता ।
लेटिए गर सोने के बहाने ,
पाँयती कल औ' न सिरहाने ॥८॥

जागिये तो भी बन नहीं पड़ती ,
जागने की आखिर हो कोई हद भी ।
अब कल हमें पड़ेगी मर कर ,
गोर[2] है सूनी सेज से बेहतर ॥९॥

बात से नफरत काम से वहशत[3] ,
टूटी आस और बुझी सी तबियत ।
आबादी जंगल का नमूना ,
दुनिया सूनी औ' घर सूना ॥१०॥

दिन भयानक और डरानी ,
यूँ गुजरी सारी ये जवानी ।
बहनें और भनेलियाँ मेरी ,
साथ की जो थीं खेलियाँ मेरी ।
मिल न सकीं जी खोल के मुझ से ,
खुश न हुईं हँस बोल के मुझ से ।
जब आईं रो-धोके गईं वो ,
जब गईं बेकल होके गईं वो ॥११॥

कोई नहीं दिल का बहलावा ,
आ नहीं सकता मेरा बुलावा ।
आठों पहर का है यह जलापा ,
काटूँगी किस तरह रंडापा ॥१२॥

कीदृश एष विवाहो जातः ,
यद्दिनन्नुस्तच्छायापातः ।
ध्वस्तं चित्तं कौतुक - हीनम् ,
व्यनाशद्यो हर्षं पीनम् ।
दन्दस्येऽत्र कुकूलस्याग्नौ ,
वैधव्यं बत दाहोऽनग्नौ ॥६॥

नाहं रोदितुमस्मि स्वतन्त्रा ,
कियद् भवेयं रोदन तन्मा ।
मिथ्याऽऽमोद विनोदैः किंवा ,
ना वश्याय कणैस्तृनि शंवा ॥७॥

नहि जीवनमेकलं शुभम् ,
नहि चैकस्य विलाप-हास-शोभा ।
शयनाय निशि क्रमे कृते ,
ववनु निद्राऽङ्ग विवर्तनम् परम् ॥८॥

यदि न स्वपनं प्रजागरः ,
परमस्याऽप्यवधिः स्वजीवन ।
मरणे सति मे सुखासिका ,
ननु शून्याच्छयनाद् वरं चिता ॥९॥

वक्तुं कर्तुं नेच्छा पृच्छे ,
विच्छायोऽयं चाशादीपः ।
संसारोऽयं किल कान्तारः ,
शून्यो गेहः शाखी नीपः ॥१०॥

धस्रे रात्रौ भीता मोता ,
यौवन - वेला शून्या नीता ।
सख्यो याश्च भगिन्यः सर्वाः ,
धूलि क्रीड़ा व्रीडा खर्वाः ।
नो सम्भाविन वत्यो हा ! माम् ,
नोतम्वा हर्षितवत्यो वा माम् ।
याता एत्य विलापं कृत्वा ,
चित्ते भूयस्तापं धृत्वा ॥११॥

चित्ते नास्ति च कौतुकलेशः ,
कृता प्रतीक्षा नो सन्देशः ।
यामा नष्टौ चित्तऽनिष्टम् ,
वैधव्यायुः क्षपणे कष्टम् ॥१२॥

१—गौना, २—कब्र, ३—भय

थक गई मैं दुःख सहते सहते,
थम गये आँसू बहते बहते।
आगे खुली दिल की न किसी पर,
घुल गई जान अन्दर ही अन्दर ॥१३॥

देख के चुप जाना न किसी ने,
जान को फूँका दिल की लगी ने।
दबी थी भूबल में चिनगारी,
ली न किसी ने खबर हमारी ॥१४॥

कौम में वो खुशियाँ व्याहों की,
शहर में वो, धूमें साहों की।
त्यौहारों का आये दिन आना,
औ' सब का त्यौहार मनाना॥
वो' चैत औ' फागुन की हवायें,
वो सावन भादों की घटायें।
वो! गर्मी की चाँदनो रातें,
वो! अरमान भरी बरसातें ॥१५॥

किस से कहूँ किस तौर से काटीं,
खैर कटीं जिस तौर से काटीं।
चाव के औ' खुशियों के समाँ सब,
आते हैं खुश, 'कल' जान को हो तब।
रंज में ये सामान खुशी के,
और जलाने वाले जी के ॥१६॥

यह बरखा और पिया विदेशी,
आई हो बरखा नहीं न ऐसी।
दिन ये जवानी के काटे ऐसे;
बाग में पँछी कैद हो जैसे।
रुत गई सारी सर टकराते,
उड़ न सके पर होते-साते ॥१७॥

किसी ने होगी कुछ कल पाई,
मुझे तो शादी रास[1] न आई।
आस बँधी लेकिन न मिला कुछ,
फूल लगा पर फल न मिला कुछ ॥१८॥

रह गया देकर चाँद दिखाई,
चाँद हुआ पर ईद न आई।

श्रान्तं दुःखं सोढ्वा सोढ्वा,
नास्राः सस्तु वोढ्वा वोढ्वा।
मनोव्यथा नो प्राकट्य विरामा,
प्रालेयाश्म विलीना भामा ॥१३॥

ना ज्ञासीन्यद् दुःखं मौनात्,
भस्मीभूतश्चात्मा शोकात्।
भस्मौघावृतमासीदर्चिः,
नास्मानार्चीत्कोऽपि चिदर्चिः ॥१४॥

अस्मज्जाति विवाहाऽऽमोदः,
रथ्यायां वरयात्रा तोदः।
होली दीपावल्यागमनम्,
सर्वेषां तद्विधि सन्नहनम्।
मेघानां ताः भाद्रे मालाः,
ज्योत्स्ना रात्र्यो घर्म विशालाः।
वातोच्छूनां प्रावृट् कालाः,
हा! मां दग्धुं प्रोन्नतमालाः ॥१५॥

यापनमेषां वर्णा वर्ण्यम्,
सोढं - सर्वं दुःखाऽऽकर्ण्यम्।
मानसरंग तरङ्गित - रागोऽ–
नेहा एत्यपयाति न भागः।
उत्सव एषाऽऽमोदित बालः,
दुःखित वृत्तौ काल व्यालः ॥१६॥

विद्युत ससूत्रो जलदो विभातः,
विप्रोषिते भर्तृ वज्रपातः।
दिनानि वर्षास्वतिवाहितानि,
यत्पञ्जरान्तः शकुनेः कुलानि॥
प्रावड् ययौ मार्ग विचेयतायाम्,
न चोद् पप्तन् धृत् पक्षतायाम् ॥१७॥

कयाऽपि मन्येऽस्तु कृता सुखानि,
न मत्कृतेऽभूत् सुखदा कराप्तिः।
आशा घटायां न जलस्य बिन्दुः,
पान्थस्तृषार्त्तो सजलश्च सिन्धुः ॥१८॥

चन्द्रोऽतन्द्रो दत्तोऽमन्दम्,
नैव वलक्षे राका ऽऽ नन्दम्।

१–शुभ।

रुत बदली पर हुई न बरखा ,
बादल गरजा और न बरसा ।।१९।।

फल की खातिर बरछी खाई ,
फल न मिला और जान गँवाई ।
रेत में जर्रे देख चमकते ,
दौड़ पड़ी मैं झील समझ के ।।२०।।

चारों खूंट नज़र दौड़ाई ,
पर पानी की बूंद न पाई ।
देन से तेरे ऐ ! मेरे मौला ,
सब हैं निहाल अदना औ' आला ।।२१।।

आम है सब पर तेरी रहमत ,
हैं महरूम मगर वदकिस्मत ।
पेड हों छोटे या कि बड़े यहाँ ।
फैज हवा का सब पै यकँ साँ ।।२२।।

जलते हैं जो जलने वाले ,
फलते हैं जो फलने वाले ।
जब अपनी ही जमीन हो कल्लर ,
फिर इल्जाम नहीं है तुम पर ।।२३।।

सब को तेरे इन आम थे शामिल ,
मैं ही न थी इन आम के काबिल ।
गर कुछ आता बाँट में मेरी ,
सब कुछ था सरकार में तेरी ।।२४।।

थी न कमी कुछ तेरे घर में ,
नोन को तरसी मैं साँभर में ।
राजा के घर पली है भूखी ,
सदाबरत से चली है भूखी ।।२५।।

फिर सोचती हूँ यह जी में ,
आई थी क्यों मैं इस नगरी में ।
होने से मेरे फायदा क्या था ,
किसलिये मुझ को पैदा किया था ।।२६।।

आन के आखिर मैंने लिया क्या ,
मुझको मेरी किस्मत ने दिया क्या ।

प्रावृषि सत्यामपि नो वर्षा ,
स्वात्यम्भोदे चातक तर्षा ।।१९।।

फलसम्प्राप्त्यै कुन्ताघातः ,
नैव फलाप्तिः प्राण - निपातः ।
दूराद् बालुक कणगत नीरम् ,
मत्वाऽपप्तं गर्तं गभीरम् ।।२०।।

दृष्टिः प्रहिता सर्व दिशासु ,
जलं न लब्धा खिन्नं पिपासु ।
सुखिनः सर्वे देव ! महीनाः ,
दीना दानात्तव धन - पीनाः ।।२१

सर्वे तेऽत्राऽनुग्रह पात्रम् ,
रिक्तं ब्रत मे भाग्याऽमत्रम् ।
क्षुद्रे कक्षे महति वृक्षे ,
वातकृपा - समतां समवेक्षे ।।२२।।

जाज्वलयन्तां ज्वलन प्रवणाः ,
पाफलयन्तां फल संवननाः ।
स्यादिरिणा यदि भाग्याऽनन्ता ,
दुष्टि जंगतो ऽ वितुरसदन्ता ।।२३।।

सर्वेभ्योऽभूत परितोषप्रदानम् ,
कि तुं न मह्यं तोष-निधानम् ।
भाग्ये चेदम विष्यत् सौख्यम् ,
देवो नूनं दास्यत् सौख्यम् ।।२४।।

नासीदौन्यं दैन्यं देवे ,
लवण-खनौ नहि लवण सेवे ।
बुभुक्षिता ऽ हो राज-सुता ऽ पि ,
तृप्ताऽन्नस्य न सत्र गताऽपि ।।२५।।

चिन्तादूना भवामि चित्ते ,
उपागता किं नगरी भित्ते ।
गर्भे निहिता किमहं मात्रा ,
लोके प्रहिता किमु वा धात्रा ।।२६।।

अत्रागत्य मया किं लब्धम् ,
धात्रा भाग्ये किं संदब्धम् ।

नैन दिए और कुछ न दिखाया ,
दाँत दिए औरु कुछ न चखाया ।।२७।।

जिन्दगी दी और खुशी न बख्शी ,
दिल बख्शा दिल्लगी न बख्शी ।
रही अकेली भरी सभा में ,
प्यासी रही भरी गंगा में ।।२८।।

चैन से जागी और न सोई ,
मैं न हँसी जी भर के न रोई ।
आके ख़ुशी ही चीज़ न पाई ,
जैसी आई वैसी न आई ।।२९।।

खाया तो कुछ मज़ा न आया ,
सोई तो कुछ चैन न पाया ।
फूल हमेशा आँख में खटके ,
औ' फल सदा गले में अटके ।।३०।

हो न सकी कुछ दिल से इबादत ,
औ' न जमी कामों में तबीयत ।
काम सँवारा कोई न यहाँ का ,
औ' न किया कोई धंधा वहाँ का ।।३१।।

काम आया यहाँ कोई न मेरे ,
और न मैं काम आई किसी के ।
किस्मत ने जब से मुँह मोड़ा ,
आदमियों का हो गया तोड़ा ।।३२।।

बाप और भाई चचा भतीजे ,
सब रखती हूँ तेरे करम[1] से ।
पर नहीं पाती एक भी ऐसा ,
जिसको हो मेरी जान की परवा ।।३३।।

नातियों में शफकत[2] नहीं पाती ,
अपनों में अपनायत नहीं पाती ।
घर है एक हैरत का नमूना ,
सौ घर वाले और घर सूना ।।३४।।

नेत्रद्वितये सति ना द्राक्षम् ,
नाचर्वं सति दन्ते भैक्षम् ।।२७।।

जावनमाप्तं हर्षापायम् ,
चित्तं नाऽऽपं दुःखविलायम् ।
संभृत संसद्येकैवाऽऽहम् ,
गङ्गा मध्ये तृषितैवाऽऽहम् ।।२८।।

शान्त्या शयनं नो जागरणम् ,
नो वा हर्षो रोदन करुणम् ।
नैवानन्दम् विन्दं लोके ,
याताऽऽयाते विगते शोके ।।२९।।

भुक्तं सर्वं नीरसमेव ,
सुप्तमसुप्त नीरस मेव ।
पुष्पं नेत्र - द्वितये शूलम् ,
फलमासक्तं गल आमूलम् ।।३०।।

नैवाकारि हरेरपि भक्तिः ,
नैवाधारि च कर्मासक्तिः ।
ऐहिक कर्म न कश्चिदकारि ,
नैवाऽऽमुष्मिक धर्मोऽधारि ।।३१।।

लोके कोऽपि न मे सम्बन्धी ,
नाहं कस्यचनापि सगन्धी ।
यतो दिनाद् भाग्यं विपरीतम् ,
मां प्रति मर्याऽऽयातमपीतम् ।।३२।।

पितृ पितृव्यौ भ्रातृ जमाता ,
सर्वे सन्ति न सन्त्यथ माता ।
किन्तु न कश्चित् तेषु स तादृक् ,
यो मां चिन्तति सा का कीदृक् ।।३३।।

दौहित्रादिषु हार्द - लवो नो ,
तेषु च कश्चिदपि स्वजनो नो ।
दृष्टे गेहे विस्मय एव ,
जनैः परीतो विजनश्चैव ।।३४।।

(अपूर्ण)

१–कृपा, २–प्रेम ।

पूज्य सम्पादक जी - जो हमारे घर के मेम्बर थे !

पं० विष्णु दत्त जी वैद्य सुपुत्र स्व० पं० रामचन्द्र जी शर्मा वैद्य

[स्व० पं० रामचन्द जी शर्मा वैद्य (कनखल) का और स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था । "सैनिक" के पद्मसिंह शर्मा विशेषांक में स्व० वैद्य श्री रामचन्द्र शर्मा ने पं० पद्मसिंह शर्मा के विषय में अपने मार्मिक संस्मरण प्रस्तुत किये थे । उनके सुपुत्र पं० विष्णु दत्त वैद्य भी पण्डित जी के लिये वैसे ही श्रद्धालु हैं । उनके संस्मरण प्रस्तुत हैं । —सम्पादक]

आचार्य पं० पद्मसिंह जी शर्मा अपने मित्रों में "सम्पादक जी" के नाम से प्रसिद्ध थे । वे अपने समय के गण्यमान्य साहित्यमूर्धन्यों में अन्यतम थे । उनकी लेखन-शैली की उस समय बड़ी धाक थी । उनसे प्रेरणा प्राप्त करके बहुत से महानुभाव न केवल लेखक बने अपितु कुछ ने तो उस शैली को अपनाने का भी प्रयत्न किया । पंडित जी हमारे परिवार के विशेष परिचितों में थे । यदि मैं उनको अपने घर का मेम्बर भी कहूँ तो शायद यह अत्युक्ति न होगी । या यों कहिए कि जिन परिवारों से उनका निकट का सम्बन्ध था, उनमें हमारा भी एक घर था । जिस समय हमारे पिता जी स्व० पं० रामचन्द्र जी शर्मा अपने ग्राम पुरमाफी से महाविद्यालय में आये उसी समय से (सन् १९१५ से) सम्पादक जी से हमारे परिवार की जो आत्मीयता बढ़ी वह अन्त समय तक एक रस रही । पंडित जी अक्सर हमारे निवास स्थान-को अलंकृत करते रहते थे । मुझे याद है कि एक बार सम्पादक जी ने हमारे यहाँ कनखल में छः मास तक निवास किया था ।

हमारे घर का छप्पर–साहित्य–मनीषियों की संगम-स्थली—जहाँ आजकल हमारी निर्माणशाला है वहाँ पिता जी ने एक जाफरीदार सुन्दर सा छप्पर डलवा दिया था । यह छप्पर उन दिनों बड़े-बड़े साहित्य मनीषियों की संगम-स्थली बन गया । वहाँ पर सब प्रकार की साहित्य चर्चा चलती रहती थी । रात को प्रतिदिन पं० सुन्दर लाल जी सूरदास के पद सुनाते थे। पंडित जी के पद पाठ करने का अपना ही तरीका था। वह सुनने वाले को बरबस खींच लेता था । वे केवल गायक ही नहीं थे अपितु परम कृष्ण-भक्त भी थे। पंडित सुन्दरलाल जी, जिनको उनकी मण्डली सम्पादक जी के दिये हुए 'महाप्रभु' नाम से पुकारती थी, उनके अन्यतम मित्र और सहयोगियों में से एक थे। वे दोनों ही एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते थे ।

आचार्य जी का स्वभाव—आचार्य जी हमेशा प्रसन्न मुद्रा में रहते थे और कुछ न कुछ साहित्य-चर्चा करते ही रहते थे या कवि-विशेष की सूक्तियों पर विवेचनात्मक व्याख्या होती रहती थी । उनकी समालोचना का आधार प्राचीन सूत्र थे । वे एक अध्ययनशील व्यक्ति थे। रात को बहुत समय तक पढ़ते रहते थे । पढ़ने का उनको व्यसन था । इसी आदत ने उनको बहुश्रुत या बहुपठित बना दिया था । वे दूसरों को उनके लेख और रचनाओं पर दाद देते रहते थे और उनको उत्साहित करते रहते थे । दूसरों की स्मृति-रक्षा की विशेष चिन्ता करते थे।

खाने पीने में भी विशेष शौकीन थे । सब्जी बनाने में

और चाय बनाने में भी निपुण थे। हमारे यहाँ चाय का प्रवेश उनके ही द्वारा हुआ था। वे कहा करते थे कि चाय में इतना मीठा होना चाहिये जितना लीडरों में ईमान।

हाज़िर जवाबी भी उनका विशेष गुण था। उनके समय में देव और बिहारी विशेष चर्चा के विषय थे। कोई देव के पक्षपाती थे और कोई बिहारी के। आपस में खासा वाग्युद्ध चलता था। पं० जी बिहारी के पक्षधर थे। एक बार वे हरद्वार के प्लेट फार्म पर घूमने गये हुए थे वहां पर एक सज्जन देव की कोई कविता सुना रहे थे। उस पर पं० जी ने दाद दे दी, इस पर उन्होंने कहा कि देखो यहाँ देव ने बिहारी को लात मार दी। पं० जी ने जवाब दिया कि "लात तो गधा भी मार देता है।" बहुत से विद्वान् उनकी सतसई की भूमिका की भाषा से नाराज़ हैं। उसकी कठोरता को वे सहन नहीं कर पाते। मेरा ख्याल है कि अनधिकृत व्याख्याओं से वे इतने उत्तेजित हो गये थे कि बरबस उनकी लेखनी से वह शैली प्रकट हो गई। वे अक्सर कहा करते थे कि इस दिले बेताब का कसूर है साहब, मैं नहीं।"

भाषा का सौष्ठव—यदि उनकी भाषा का सौण्ठव देखना हो तो वह 'पद्म पराग' में देखा जा सकता है। मेरे ख्याल में उन्होंने जो समालोचना पद्धति जारी की थी उसके वे प्रथम और अन्तिम पुरुष थे।

उत्पत्स्यते ममनु कोऽपि समानधर्मा।
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

विशेष परिचित—उनके विशेष परिचितों में मेरी याद में निम्नलिखित व्यक्ति थे जिनके सम्पर्क में हम आये। १—पं० शालिग्राम जी शास्त्री २-प्रातः स्मरणीय महामहोपाध्याय पं० धरगिरि शर्मा ३-पं० झावरमल जी शर्मा ४-श्री रामजीलाल जी शर्मा ५—पं० भीमसेन जी शर्मा ६—कविवर पं० नाथूराम जी शर्मा और उनका परिवार ७—पं० दिलीपदत्त जी उपाध्याय ८—श्री रत्नाकर जी ९—श्री रामस्वरूप जी शास्त्री १०—पं० हरिदत्त जी शास्त्री, ११—सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त जी।

पद्य-लेखक तो कवि कहा जाता है पर गद्य-लेखक क्यों नहीं? "गद्यंकवीनां निकषं वदन्ति" के आधार पर पं० जी का 'पद्मपराग' गद्य-काव्य का उत्कृष्ठ उदाहरण है। पण्डित जी सरल प्रकृति के हँसमुख और स्वभाव में बालक के समान थे। जब मैं कभी उन दिनों की याद करता हूं पं० जी की चाल ढाल, बात का तरीका, उनकी चाय और सुरति (सुर्ती तम्बाकू) का स्मरण, बरबस हो आता है। मन भारी हो जाता है। अजीब किस्म की बेचैनी का अनुभव करने लगता हूँ। यह सोचता हूँ कि भगवान युग-युग में ऐसे ही संयोग मिलें। ऐसे ही महापुरुषों का संयोग प्राप्त हो जैसा इस जन्म में हुआ है।

हमारे पिता और पं० जी के सम्बन्ध—हमारे पिता पं० रामचन्द्र जी उदार प्रकृति के पुरुष थे। उनका जिनके साथ सम्बन्ध हुआ वे उनके बन जाते थे। यही कारण था कि पं० जी जैसे साहित्यिक से एक वैद्य का इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध बन सका। हमारे विशेष सम्बन्ध का एक और भी कारण था, वह थी हमारी माता लालदेवी जी। वे उनके गाँव नायक नगले के पास के गाँव राहु नगली की रहने वाली थीं। वे बड़ी ही उदार प्रकृति की थीं। जो उनके सम्पर्क में आया वह उनका हो गया। वे पं० जी को भाई कहतीं थीं और वे भी उनको इसी तरह मानते थे।

अब जब कभी कहीं पर साहित्य-चर्चा होती है पं० जी का स्मरण हो आता है और आँखें सजल हो जातीं हैं। मैं उनको अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हूँ, प्रणाम करता हूँ।

—विष्णु फार्मेसी, कनखल

●●●

पण्डित पद्मसिंह शर्मा की जीवनी–

"काव्य-कुटीर"-वासी की राम कहानी

जन्मभूमि—कवि कालिदास की मनोज्ञा कृति शकुन्तला का प्रणय-प्रसंग जिस मालिनी नदी के तट पर स्थित कण्व-आश्रम में अभिनीत हुआ था, उसी के पास पुण्य-सलिला गंगा का भी तट है। ज़िला बिजनौर इन्हीं दो पवित्र नदियों के जल से पूत और शीतल होकर अतीत के रम्य आख्यानों की कथा आज भी कह रहा है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल'-प्रथित मालिनी-तट से कुछ दूर जिला बिजनौर में ही ग्राम बासठा अवस्थित है। यहाँ बादशाह अकबर के विख्यात महामन्त्री फैजी का जन्म हुआ था। इसके खण्डहरों में आज भी हर साल सैकड़ों मुसलमान इबादत के लिए जाते हैं और "बासठा की धूलि को अपने बच्चों से चटवाते हैं, ताकि वे मेधावी हों और फैज़ी के से गुण उनमें आवें।"[1] इसी के पास चाँदपुर कस्बा है, जहाँ के विख्यात उर्दू कवि 'कायम चाँदपुरी' का कलाम हमारे चरित्र नायक पं० पद्मसिंह शर्मा को बहुत प्रिय था।[2] चाँदपुर से चार कोस के फासले पर स्थित है ग्राम 'नायक नगला', जिसने हिन्दी के आधुनिक युग के उत्थान काल के एक अग्रणी नायक को जन्म देकर अक्षय कीर्ति का यश पाया। इस ग्राम में पण्डित पद्मसिंह शर्मा का निवास स्थान 'काव्य-कुटीर' नाम से अभिहित था। इस कुटीर से ही निस्सृत होकर उस ज्ञान-धनी सहृदय की भाव-राशि एवं ज्ञान की किरणें पत्रों, लेखों, पुस्तकों के माध्यम से समस्त हिन्दी-जगत् को आलोकित, उत्प्रेरित एवं अभिभूत करतीं रहीं हैं। अब से ८८ वर्ष पूर्व फाल्गुन शुक्ला द्वादशी रविवार संवत् १९३३ (सन् १८७६) को पं० पद्मसिंह शर्मा का यहाँ जन्म हुआ। इनके पिता चौ० उमराव सिंह उर्दू, फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। प्रपितामह चौ० निधासिंह बड़े उदार तथा प्रभावशाली व्यक्ति थे। अब से कुछ मास पूर्व नायक नगला जाने पर पं० जी के सुपुत्र श्री रामनाथ शर्मा ने हमें अपने घर के पिछवाड़े का एक विशाल पक्का कुआ दिखलाते हुए बतलाया था कि यह उनके प्रपितामह का बनवाया हुआ है। उसके जल में भी कुछ विशेषता बतलाई। पं० जी का कमरा इस कुएँ के सामने के गलियारे में अन्दर जाकर दूसरी तरफ है। उस कमरे के सामने खुली जगह है, जहाँ पं० जी के परिवार के तथा अन्य स्नेही ग्रामीण जन हमें तथा डा० रामस्वरूप आर्य को वहाँ आया जान कर तत्काल ही इकट्ठे होगए थे। उन्होंने हमें बताया कि पं० जी के न रहने पर दूर दूर से हिन्दी के विद्वान्, साहित्यकार, पत्रकार, कवि सब इस स्थान पर आए थे। यहाँ बहुत कविताएँ सुनाई गईं थीं। मेरे मन में चित्र उभर रहा था कि इस काव्य-कुटीर-वासी की सच्ची श्रद्धाञ्जलि उन काव्य-पाठकों ने ही दी। कविता के अनन्य प्रेमी की, स्वर-पूर्वक पढ़े जाने वाले काव्य के इस अथक श्रोता की इससे और बढ़िया श्रद्धाञ्जलि हो भी क्या सकती थी। बच्चन के शब्दों में—

प्राणप्रिये ! यदि श्राद्ध करो तुम, मेरा तो ऐसे करना।
पीने वालों को बुलवा कर खुलवा देना मधुशाला॥

यह सोच कर हृदय को अमित आनन्द की अनुभूति होती है कि उन हिन्दी प्रेमियों ने इस 'काव्य-कुटीर' पर आकर काव्य की मदिरा ही पं० जी के तर्पण में उँडेली। जिस रस से वह कभी तृप्त नहीं हुए उसी का आप्यायन उन्हें कराया।

१–विशाल भारत अगस्त १९३२ पृष्ठ १५७

२–कायम चाँदपुरी पर पं० जी का लेख हिन्दुस्तानी एकेडेमी से छपा था – पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का २९-५-६४ का पत्र लेखक के नाम।

अस्तु, यही वह पुण्य-स्थल है जिसे पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'काव्य-कुटीर' की संज्ञा दी थी। उनके पत्रों पर 'काव्य कुटीर' नायक नगला, डा० चाँदपुर, बिजनौर छपा रहता था। इसी पते से वे हिन्दी जगत् में विश्रुत थे।

आरम्भिक शिक्षा—पिता जी के उर्दू फारसी के विद्वान् होने के कारण पं० जी की भी आरम्भिक शिक्षा उर्दू फारसी में हुई। चौ० उमराव सिंह आर्य समाजी विचारों के थे। अतः अपने सुपुत्र को संस्कृत का अच्छा ज्ञान दे देना चाहते थे। इस हेतु आरम्भ में घर पर ही कई पंडितों से संस्कृत-अध्यापन कराया। एक मौलवी व एक मुंशी उर्दू, फारसी पढ़ाते थे। संस्कृत में 'सारस्वत', 'कौमुदी', 'रघुवंश' आदि पढ़ा। १०-११ वर्ष की आयु में पिता जी से अक्षराभ्यास प्रारम्भ किया था फिर पण्डितों से संस्कृत और उर्दू, फारसी का आरम्भिक अध्ययन करने के बाद अठारह वर्ष की आयु में वे सन् १८६४ में प्रयाग चले गये। वहाँ स्वामी दयानन्द जी सरस्वती के शिष्य और महाविद्यालय, ज्वालापुर के वर्तमान कुलपति प्रो० हरि दत्त शास्त्री के पिता, पं० भीमसेन शर्मा वेदाचार्य की पाठशाला में अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। वहाँ से काशी पहुँचकर श्री १०८ पूज्यपाद ऋषि-कल्प पं० काशी नाथ जी शास्त्री से दर्शनादि का अध्ययन किया। बाद में मुरादाबाद, लाहौर, जालन्धर, ताजपुर (बिजनौर) में भी अध्ययन किया। [1]ताजपुर में ही एक बार पंडित जी को, 'बिहारी सतसई' की एक पुरानी प्रति मिली थी, जिस ने उन्हें बिहारी के प्रति आकृष्ट किया। ताजपुर में एक बार एक इन्सपेक्टर ने 'रजिस्ट्री' शब्द की संस्कृत पूछी। उसका उत्तर कोई नहीं दे पाया। केवल पं० जी ने ही उत्तर देकर अपनी तीव्रबुद्धि का परिचय दिया।[2] इस अध्ययन काल के बीच-बीच में भी पं० जी घर पर रह कर उर्दू-फारसी का अभ्यास एक मुँशी और दूसरे मौलवी साहब से करते रहे।

यही हमारे तेजस्वी लेखक की औपचारिक शिक्षा-दीक्षा थी, जिसने उनके अखण्ड, ज्ञान-पिपासु स्वाध्याय के बल पर वह वाग्मिता उनके चैतन्य में प्रतिष्ठारित कर दी, कि बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान उसके आगे नतशिर हो गए। अपने समय के सभी शिखरस्थ विद्वानों और साहित्यकारों से पँ० जी का साहित्यिक संलाप, टकराव हुआ और सभी ने उन्हें एक स्वर से उच्चकोटि का विद्वान्, समालोचक एवं शैलीकार स्वीकार किया। उनके समसामयिक विद्वान् मित्रों की सूची बड़ी लम्बी है। श्री गौरी शंकर, हीराचन्द ओझा, अध्यापक रामदास गौड़, पं० श्रीधर पाठक, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री वियोगी हरि, पण्डित अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर, श्री प्रेमचन्द जी, पं० मदन मोहन मालवीय, डा० रवीन्द्रनाथ टैगौर, डा० सुनीति कुमार चातुर्ज्या प्रभृति अनेकों समसामयिक शीर्षस्थ विद्वान्, कवि, साहित्यकार पण्डित जी के सम्पर्कीय थे। उर्दू के महाकवि अकबर, हाली, चकबस्त, इकबाल आदि सभी उनकी सखुन-फहमी के कायल थे। उनकी चमत्कारी प्रतिभा और अमृतवर्षिणी रस-ग्राहिता का प्रकाश और स्वारस्य किसी समसामयिक प्रातिभ विद्वान् की तुलना में किञ्चिन्मात्र छायाग्राही सिद्ध नहीं होता। उसकी समुज्जवल प्रभा साहित्य के आँगन में मध्याह्न को सूर्य सा प्रखर आलोक विकीर्ण करती है। उसकी प्रखर ज्योति ने अनेक विद्वत्ताभिमानी लेखकों को हतप्रभ एवं चकाचौंध कर दिया।

प्रतिभा के कीर्तिमान—सन् १८६४ से १६०४ तक १८ वर्ष की आयु से २८ वर्ष की अवस्था तक प्रयाग, काशी आदि के अधिकारी गुरुजनों से शिक्षा पाकर, विवेक की जो आधारशिला पं० जी के मन-मस्तिष्क में आधृत हुई, वह उनके प्रबल स्वाध्याय से, जीवन के अन्त तक, प्रतिभा के नए कीर्तिमान छूने वाली चोटियों से सुशोभित साहित्य-प्रासादों के निर्माण से मण्डित होती रही। उनका एक-एक पत्र, एक-एक लेख, एक-एक संस्मरण, एक-एक वक्तृता, हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि बन गई। उन्होंने पढ़ा बहुत, लिखा कम, पर जो कुछ प्रयास से या बिना प्रयास के लिख गये वह टकसाली

१. विशाल भारत, अगस्त १६३२ पृ० २१७।

२. विशाल भारत अगस्त १६३२, पृ० २१७।

बन गया। साहित्य-मन्दिर में उनकी प्रतिमा मध्य-मञ्च की अधिकारिणी है। उसे इस मन्दिर से निष्कासित या विस्मृत करने की अज्ञान-जन्य उपेक्षा सहृदय विद्वानों को कभी सह्य नहीं होगी। उनके बीच उस मूर्ति की प्रतिष्ठा चिरजीवित एवं चिरउन्मेषशालिनी है।

अध्यापक-सम्पादक— १६०४ में अट्ठाईस वर्ष की अवस्था में आप गुरुकुल काँगड़ी में अध्यापक हो गये। महात्मा मुंशीराम, बाद में स्वामी श्रद्धानन्द ने, तभी हरिद्वार से पं० रुद्रदत्त जी सम्पादकाचार्य के सम्पादकत्व में 'सत्यवादी' साप्ताहिक निकाला। पं० जी भी उसके सम्पादकीय विभाग में थे। तभी से हिन्दी-लेखन, सम्पादन का कार्य शुरू हुआ। 'सत्यवादी' के लिये पं० जी ने कई लेख लिखे।

१६०८ में बत्तीस वर्ष की आयु में पं० जी अजमेर चले गये। वहाँ वे 'परोपकारी' के सम्पादक नियुक्त हुए और साथ ही 'अनाथ-रक्षक' का भी सम्पादन किया। पण्डित जी ने 'परोपकारी' में हाली की कविता 'मनाज़ात बेवा' का पं० भीमसेन शर्मा कृत संस्कृत अनुवाद क्रमशः प्रकाशित किया था। १८ अगस्त १६०८ के अपने पत्र में मौलाना हाली ने 'परोपकारी' सम्पादक पं० पद्मसिंह शर्मा को लिखा था—

"रिसाला 'परोपकारी' की एक कापी मरसल जनाब पहुँची। याद-आवरी का शुक्रिया अदा करता हूँ। मुझे इस बात के दरियाफ्त होने से बेइन्तहा खुशी हुई कि पं० भीमसेन जी ने 'मनाजात बेवा' को बहुत पसन्द किया और उसको इस काबिल समझा कि संस्कृत में उसका मनजूम तरजुमा किया जाय। . . रिसाला 'परोपकारी' के पर्चे जब तक कि उसमें संस्कृत का मनजूम तरजुमा छपता रहे मेरे पास भेजते रहेंगे।"

स्पष्ट है कि पण्डित जी ने अपने सम्पादक जीवन के आरम्भ काल में ही उर्दू के चोटी के कवियों को भी अपनी गुणग्राहिता से आकृष्ट करना शुरू कर दिया था। काश, हिन्दी-उर्दू का यह गहरा सम्बन्ध, उनकी आपस की ये दिली बातें, पं० जी की परम्परा के सूत्र को पकड़ कर, आगे भी चलती रहतीं; उनकी आपस की बोलचाल बन्द न हो गई होती।

महाविद्यालय और 'भारतोदय'—सन् १६०६ के प्रारम्भ में पं० जी ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापक नियुक्त होकर आ गये और सन् १६१७ तक महाविद्यालय से उनका सम्बन्ध रहा। अपनी आयु के तैंतीसवें साल से इकतालीस वर्ष की आयु तक उनका कर्म-क्षेत्र महाविद्यालय, ज्वालापुर ही रहा। 'भारतोदय' का सम्पादन महाविद्यालय का ही नहीं, हिन्दी पत्रकारिता की भी एक स्मरणीय घटना है। 'भारतोदय' जो पहले मासिक था, पं० जी की जादूभरी लेखनी के प्रभाव से, साप्ताहिक हो गया था। महाकवि शंकर की रचनाएँ, पं० जी के यात्रा विवरण, सामायिक घटनाएँ, व्यक्तियों एवं आन्दोलनों पर उनकी टिप्पणियाँ और खास तौर से १६१२-१३ के 'भारतोदय' के अङ्कों में प्रकाशित गुरुकुल काँगड़ी और ज्वालापुर महाविद्यालय के वाग्युद्ध का फड़कता हुआ वर्णन, पं० जी की लेखनी के जादू को और उनके सम्पादन कौशल को, हिन्दी के मानस पर गहरी रेखाओं में उकेर रहा था। लोग विस्मित, अवाक् और मन्त्रमुग्ध होकर हिन्दी शैली के इस उत्कर्ष का मज़ा लूट रहे थे। ज्येष्ठ शुक्ल १६६६ (सन् १६०६) में पं० पद्मसिंह शर्मा के सम्पादकत्व में 'भारतोदय' के वर्ष १ का अङ्क १ प्रकाशित हुआ। उनकी 'उदय कथा' में जिन विद्वानों ने अपनी 'लेखमालिका' द्वारा पत्र को 'अलङ्कृत करने का 'प्रण' किया था, उनकी नामावली इस प्रकार दी गई है:—

"श्रीयुत रायबहादुर मास्टर आत्माराम जी, श्रीमान् कविवर पण्डित नाथू राम शंकर शर्मा, श्रीयुत् प्रोफेसर पूर्णसिंह जी इम्पीरियल फारेस्ट कैमिस्ट, श्री बाबू गङ्गा प्रसाद जी बी० ए०, श्री बाबू आशाराम जी बी० ए०, श्री पं० राम नारायण मिश्र बी० ए०, श्री पं० रामचन्द्र शर्मा इन्जीनियर, वैद्यराज श्री कल्याण सिंह जी, श्री स्वामी मङ्गल देव जी संन्यासी इत्यादि।"

"भारतोदय" वर्ष १ अङ्क १ पृष्ठ ३३।

'हिन्दी साहित्य की पूर्ति और सुधार भी' इस पत्र का 'प्रधान लक्ष्य' था (भारतोदय, १-१-पृष्ठ ३३)। समाज के विभिन्न वर्गों के सहयोग ने इस पत्र को जीवन की बहुमुखी प्रतिकृति प्रस्तुत करने का सुन्दर अवसर, आरम्भ से ही दिया। समाज और साहित्य दोनों का प्रौढ़ अवलोकन पं० जी के सुयोग्य सम्पादकत्व में इस पत्र में हुआ। विशेषतः पं० जी की ही लेखनी इसमें सबके आकर्षण की वस्तु थी, क्योंकि जो कुछ वहाँ से निकलता था वह गहरी अनुभूति, मार्मिक अभिव्यक्ति एवं प्रौढ़ विवेचना से संवलित होकर, सप्राण होकर निकलता था औरहृदय और मस्तिष्क को बरबस अभिभूत कर लेता था। कल्हण की 'राज तरंगिणी', बाण का हर्षचरित, 'वेदों की कतर-ब्योंत' आदि के लेखों ने 'भारतोदय' को उच्चकोटि का साहित्यिक गौरव प्रदान किया।

सत्य की खोज—पं० जी की सत्य की जिज्ञासा कितनी प्रबल और सच्ची थी इसका उदाहरण 'हर्ष चरित' विषयक उनके एक पत्र में देखिए :—

"गुरुकुल काँगड़ी
४–११–२८

प्रिय पारस नाथ जी, नमस्कार !

श्री राधा कुमुद मुकर्जी के ग्रन्थ की विषय सूची तथा भूमिका का सारांश जो आपने भेजा है, वह संक्षिप्त होने पर भी काम का है। रा० कु० जी के ग्रन्थों में 'हर्ष चरित' के अवतरणों का यदि कहीं हों, पूरा अनुवाद भेजिये। यदि कुछ ऐसी घटनाएँ हों जिनका उल्लेख बाण ने और चीनी यात्री ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया हो तो उनका अनुवाद भी भेजिये। बाण के विषय में जो लिखा हो उसका पूरा अनुवाद चाहिये। बाण की जन्म-भूमि, वंश, बाण जब हर्ष के दरबार में पहुँचा है, तब हर्ष की राजधानी थानेश्वर में थी या कन्नौज में ? बाण ने जो 'हर्ष चरित' में अपने पहुँचने का हाल लिखा है, उस से तो यह मालूम होता है कि वह कहीं छावनी में जाकर मिला है। सम्भव है, उस समय हर्ष दौरे में हों। बाण के लेख से कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। आप 'हर्ष चरित' का अँग्रेजी अनुवाद by E. W. Cowell पढ़ जाइए। उसके पहले उच्छ्वास में बाण ने आत्म चरित्र लिखा है और दूसरे उच्छ्वास में हर्ष के दरबार में पहुँचने का हाल है। बाण हर्ष के दरबार में 'कृष्ण' के द्वारा पहुँचे हैं। यह 'कृष्ण' कौन थे ? मुकर्जी के ग्रन्थ में इसका कुछ उल्लेख है। हर्ष के प्रसिद्ध हाथी दर्पशात का बाण ने बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। क्या इसका उल्लेख चीनी यात्री ग्रन्थ में है ? चीनी यात्री के ग्रन्थ का अनुवाद यदि हिन्दी में हुआ हो तो उसका पता दीजिए। बाण ने 'हर्ष चरित' में जिन घटनाओं का उल्लेख किया है उसकी पुष्टि दूसरे ऐतिहासिक ग्रन्थों से कितने अँशों में होती है। इस पर विशेष रूप से प्रकाश डालिये। बाण के बारे में मुकर्जी ने या 'हर्ष चरित' के अनुवाद में जो कुछ लिखा हो उसका अनुवाद जरूर भेजिये। बाण की कादम्बरी का भी अँग्रेजी में अनुवाद हुआ है। सी० एम० रीडिंग ने किया है। उसे भी देखिये। उसकी भूमिका में शायद कुछ लिखा हो। 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी' का अँग्रेजी अनुवाद कलकत्ते में मिल सकेगा। चिन्तामणि वैद्य की पुस्तक भी देखिये। हर्ष के तमाम पत्रों की नकल यदि किसी पुस्तक में छपी हो तो वह भी चाहिए। पहले बाण के सम्बन्ध का मसाला भेजिये। बाण ने हर्ष के दरबार में पहुँचने की यात्रा का वर्णन 'हर्ष चरित'.के दूसरे उच्छ्वास में किया है। कई गाँवों और चण्डी के मन्दिर का उल्लेख भी किया है। वह कहाँ थे ? बाण का घर किस जगह था ? वह हर्ष के दरबार में किस जगह पहुँचा? थानेश्वर में, कन्नौज में या दौरे की छावनी में ? बाण के सम्बन्ध में कोई उपलब्ध बात छूट न जाय। चीनी यात्री के ग्रन्थ में हिन्दी अनुवाद का पता भी दीजिए। 'हर्ष चरित' का अँग्रेजी अनुवाद जरूर देख जाइये।

पहले पत्र में मैंने जायसवाल जी की लिखी एक पुस्तक के पते की एक चिट भेजी थी। उसे भी देख लीजिये।

भवदीय
पद्म सिंह शर्मा"

(पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ ११,१२)

पाठक-गण स्वयं देख लें कि यह पत्र कितनी जानकारी से भरा हुआ है और पुराने कृती साहित्यकारों के जीवन की सीमाओं को छूने की कितनी उत्कट लालसा इसमें झलक रही है। श्री पारसनाथ सिंह ने यदि इस पत्र में उल्लिखित सभी तथ्यों का विवरण अपने पत्र में दिया होता तो वह पत्र पी–एच० डी० की थीसिस से क्या कम होता। (उन्होंने उत्तर में भूमिका का अनुवाद ही पं० जी को भेज दिया था)। ऐसे जिज्ञासु, गम्भीर अध्ययन शील, सुधी विद्वान् थे पं० पद्मसिंह शर्मा। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न होने पर भी उसमें सञ्चित ज्ञान राशि का ज्ञान उन्हें अपटुडेट रहता था।

'सतसई संहार'–जब पं० जी 'भारतोदय' का सम्पादन महाविद्यालय ज्वालापुर में कर रहे थे तभी उनकी दृष्टि विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत 'बिहारी सतसई' की 'भावार्थ प्रकाशिका' टीका पर पड़ी। 'दुर्व्याख्या विष मूर्च्छिता' 'बिहारी सतसई' की इस दुर्दशा पर उन्हें अत्यन्त क्षोभ हुआ और बिहारीलाल की कविता-कामिनी पर हुए इस अत्याचार से पीड़ित होकर उन्होंने 'सतसई संहार' शीर्षक लेखमाला 'सरस्वती' में संवत् (१९६७) सन् १९१० –११ में प्रकाशित कराई। इसकी विद्वत्ता की उठान से, कविता की गहराई तक तुरन्त पहुँच जाने वाली सूक्ष्म दृष्टि की बारीकी से, प्रतिपक्षी की खिल्ली उड़ाती हुई चुटीली, भाव-प्रवण शैली की चमत्कारिता से, विस्मय विमुग्ध होकर, हिन्दी जगत् की आँखें पण्डित जी पर आ टिकीं। हिन्दी दिगन्त उनके नाम की धूम से गुन्जरित होने लगा।

इस लेखमाला ने उन्हें हिन्दी का चूड़ान्त समालोचक सिद्ध कर दिया। उनके इस प्रताप से मलिन-मन होकर लोगों ने उन पर आक्षेप भी किये, प्रहार भी किए, नीयत पर शक भी किये, पर उनका निश्छल 'सिंह–विक्रम' इस सारस्वत-युद्ध में तनिक-सा भी पराभूत या हत-प्रभ नहीं हुआ। असल में पं० जी की शैली, शास्त्रार्थ–परक, कथोपकथन प्रणाली की, प्रतिपक्षी को वाणी की वाग्मिता और तर्कों की अटूट परम्परा से अवाक् कर देने वाली, संस्कृत-दर्शन की पूर्व-परपक्ष निरूपिका, खण्डन–मण्डन प्रधान, विवेचन की शैली थी, जिसे अपनी अनुभूति की प्रवणता से उन्होंने पूर्णतः सजीव और जिन्दादिल बना दिया था। यह तभी सम्भव हो सका था जब कि उनकी निष्ठा, उनकी लगन, उनकी भाव-प्रवणता, उनकी मर्मज्ञता, उनकी विद्वत्ता, किसी अनधिकारी की चेष्टा से बेहद घायल होकर, अपने अन्तस्तल की गहराइयों से उचट कर, एक दम फण फैलाये हुए सर्प की तरह फूत्कार भर उठी थी। उनका यह आवेग सात्विक था और उनका यह आक्रोश भावुकता से उत्प्रेरित था। मिश्र जी ने सतसई का उद्धार न करके 'संहार' कर दिया था। यही बात 'सतसई संहार' शीर्षक से ध्वनित है। इस बात का प्रमाण पं० जी ने इस लेख माला में प्रति-पद पर दिया है। एक उदाहरण देखिए। बिहारी का दोहा है—

अपनी गरज न बोलियत, कहा निहोरों तोहि।
तू प्यारो मो जीय को, मो जी प्यारो मोहि ॥३११॥

इस पर पं० जी की टिप्पणी देखिये: —

'बोलने वाली का यह कहना कि मैं 'अपनी गरज से बोलती हूँ' इस दशा में व्यर्थ है क्योंकि जब एक दूसरे को बराबर जी से चाहते हैं तो बोलने में दोनों की 'गर्जें मुश्तर्कां' हुई, इसमें एक की गरज बतलाना, सरासर खिलाफ़ कानून है। चाहे आप इस बात को किसी वकील से पूछ देखिए। दोहे की यह दुर्दशा करके भी आप फर्माते हैं— "काव्य लिङ्ग", विद्यावारिधि जी! इसमें तो आपने काव्यत्व की एक बूंद भी नहीं छोड़ी, यह तो सूखे छिलके रह गये। अब इन कोरे शब्दों में आप कहाँ काव्य का लिङ्ग ढूँढ रहे हैं? कृपा कीजिए, काव्य वाव्य का नाम लेकर सहृदय काव्य-रसिकों के साथ मज़ाक न कीजिये, कविता के ज़खमों पर नमक न छिड़किये। आपकी टीका की प्रचण्ड ज्वाला ने (टीकाकार पं० जी का नाम पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र था) काव्य-लतिका भस्म कर डाली। अब यहाँ 'काव्य लिंग' कहाँ है। हाय ग़ालिब! तुमने यह शेर इसी मौके के लिये तो नहीं कहा था—

जला है जिस्म जहाँ दिल भी जल गया होगा,
कुरेदते हो जो अब राख, जुस्तजू क्या है?

सहृदय पाठकगण ! आपने देखा, बिहारी की इस अत्युत्कृष्ट उक्ति को किस प्रकार जला कर राख किया है ?"

—सतसई संहार पृष्ठ ५१,५२

विशिष्ट शैली—इस सजीव, फड़कती हुई शैली का सृजन पं० जी का ही काम था, क्योंकि आर्यसमाजी-सनातनी शास्त्रार्थों में प्रतिपक्षी को कथपोकथन शैली से चुटीले तर्कों से हतप्रभ कर देने की कला के वे माहिर थे। यहाँ पर भी वे ऐसे ही प्रवृत्त होरहे हैं मानो 'विद्यावारिधि जी' उनके सामने विराजमान हैं और सहृदय पाठक गण की यह सभा, उनके और 'विद्यावारिधि जी' के शास्त्रार्थ का रस लूट रही हैं। शास्त्र का अर्थ न सही, सतसई के काव्य का अर्थ सही। रंग वही है, शैली वही है।

गम्भीर आलोचनाओं में जहाँ दृष्टि व्यक्तिपरक (subjective) न रह कर वस्तुपरक (objective) हो जाती है, वहाँ यह अति-वैयक्तिक शैली काम नहीं देती। पर साहित्य के विकास के आरम्भ के चरणों में हिन्दी साहित्य के रस का चसका सामान्य पाठक के मन में डाल देने का उपयोगी काम, उपर्युक्त वैयक्तिक, सरस, सरल, चुटीली, पर गम्भीर विवेचन से शराबोर और अकथनीय पांडित्य से ओतप्रोत, विस्मय-विमुग्ध कर देने वाली शैली से ही सम्भव हो सका। 'सतसई-संहार' के लेखों को 'सरस्वती का प्रत्येक पाठक बड़े चाव से पढ़ता था और प्रसन्न होता था, विस्मय-विमुग्ध होता था। पं० जी के संस्मरण लेखकों में से अनेक ने इस तथ्य का उल्लेख किया है।

उस समय सूक्ष्म-तर्क-समन्वित शुष्क आलोचना हिन्दी के बिरवे को सुखा कर ही मार डालती। उसके पनपने, हरे-भरे होने की नौबत ही नहीं आती। सामान्य पाठक के लिए वह शैली आज भी उपन्यासों जैसे आकर्षण की पुन्ज है। उसका रस कभी कम नहीं होगा। हिन्दी आलोचना में उसका ऐतिहासिक स्थान कोई छीन नहीं सकता।

साहित्यिक अन्याय और प्रतिकार—'हिन्दी भाषा और साहित्य' नाम के 'वृथा पुष्ट पोथे' में बाबू श्यामसुन्दरदास ने जहाँ एक ओर पं० माधवप्रसाद मिश्र का नामोल्लेख न करके साहित्यिक भूल या मति-भ्रम का परिचय दिया, वहीं पं० जी की भाषा शैली को 'उछलती कूदती, फुदकती हुई'[1] कह कर भी घोर साहित्यिक अन्याय किया। पं० जी ने अपने जीवनकाल में उनकी इस ऊल जलूल बात का नोटिस लिया था। उनके एक पत्र में इसका कुछ संकेत है।[2] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस अन्याय का कुछ प्रतिकार किया। वर्तमान आलोचना पं० जी को हिन्दी आलोचना के आदि काल के शीर्षस्थ समालोचकों में प्रतिष्ठापित करके सही काम ही करेगी। वैसे हिन्दी आलोचना के किसी भी स्तरीय परिचयात्मक ग्रंथ में, पं० पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना का अनुल्लेख अब कभी नहीं होता है। लेकिन पाठ्यक्रम निर्धारण में जो व्यक्ति और प्रवृत्तियाँ आजकल कारगर हैं, उनके दायरे से पं० जी का कृतित्व अवश्य छूट जाता है। इसका परिणाम यह है कि हिन्दी आलोचना के इस सूर्य को एम० ए० का विद्यार्थी भी अपने ज्ञान के क्षितिज से अपरिचित पाता है। इस अन्याय का प्रतीकार होना ही चाहिए। हाईस्कूल से लेकर एम० ए० तक, मध्यमा से लेकर शास्त्री तक, जहाँ कहीं भी हिन्दी पढ़ाई जाती हो, पं० पद्मसिंह शर्मा के कृतित्व को स्थान मिलना चाहिए। तभी हम हिन्दी भाषी कृतघ्नता के दोष से बच सकेंगे। पं० जी के समर्पित जीवन ने हिन्दी की वाटिका को जिस अगाध परिश्रम से सींचा है, वह व्यक्ति का नहीं, संस्था का भी नहीं, अपितु अनेक संस्थाओं के युगपत किए गए, एकजुट कार्य का, समकक्षी है। उसकी गरिमा का अवमूल्यन कभी भी नहीं होना चाहिए।

महाविद्याय की संरक्षा—महाविद्यालय, ज्वालापुर में पं० जी विद्यालय के मन्त्री भी रहे। विरोध काल में उसकी संरक्षा भी उन्होंने की। उसके लिए दान इकट्ठा करने को मित्रों के साथ अनेक स्थानों पर वे भ्रमण भी करते थे।

---

१. हिन्दी साहित्य – बाबू श्याम सुन्दर दास – पृष्ठ ३२०। २. पद्मसिंह शर्मा के पत्र–पृष्ठ ६२ १८-११-३० का पत्र पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम।

मित्र मण्डली— महाविद्यालय में उनका जीवन मित्र मण्डली के हँसी-विनोद, साहित्यचर्चा, अतिथि-सत्कार, पुस्तक–आलोचन, स्वाध्याय, अध्यापन, पत्र-पत्रिकाओं के आलोचन-सम्पादन का जीवन था । वहाँ वे 'सम्पादक जी' कहकर जाने जाते थे। 'विशाल भारत' के यशस्वी सम्पादक पं० श्रीराम शर्मा के भाई पं० बालाप्रसाद शर्मा १६१५ में महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापक नियुक्त हुये थे । सैनिक ५ जुलाई १६३८ के अंक में उनके संस्मरण पं० जी के उस जीवन का बहुरंगी परिचय देते हैं । दो उद्धरण पर्याप्त होंगे—

"मैं...स्नान करने नित्य गंगा जी पर उनके साथ ही जाता था । उनको भी ऐसा प्रेम था कि अपने साथ जाने वाले जब तक न आ जायें तब तक वे जाते न थे । प्रायः वे बुलावा भेज दिया करते थे । उनके साथ-साथ श्री उदित मिश्र, श्री चौधरी हुलास वर्मा, और श्री पं० सुन्दर लाल जी उपनाम 'महाप्रभु' भी जाया करते थे । गङ्गाजी की नहर के किसी एकान्त स्थान पर बैठ कर तरह-तरह के विनोद हुआ करते थे । कभी-कभी गुरुवर्य १०८ पं० काशीनाथ जी महाराज से भी वहीं भेंट हो जाया करती थी । आर्य समाज के उत्सव में होने वाले भजन और उपदेशों की नकल का पार्ट मेरा था । सम्पादक जी बार बार मुझसे उसी पार्ट को कराया करते थे और कभी-कभी तो ऐसी हँसी होती थी कि लोटते-लोटते पेट में पीड़ा होने लगती थी ।...एक दिन श्री गुरुवर्य पण्डित काशीनाथ जी और स्व० पं० भीमसेन जी के सामने भी मुझे वही अभिनय कर दिखाना पड़ा ।"

"महाप्रभु," (यह सम्पादक जी का दिया हुआ नाम था), पं० सुन्दरलाल जी की गर्दन लम्बी थी । अतः उन्हें 'ऊँट' नाम से बहुत चिढ़ थी । पं० जी ने दिवाली पर उनके पास खाँड़ का ऊँट, लपेट कर भिजवा दिया । महाप्रभु जी आपे से बाहर हो गए । भाई लोगों को खूब मजा आया । जवासे के खेत में 'महाप्रभु' जी के बैठ जाने पर काव्य रचना हुई कि 'ऊँट को जवासा' बहुत भाता है । मित्रों में एक मित्र 'महाप्रभु' जी को मनाने चले तो पं० जी बोल उठे, भई सावधान रहना ! शुतर बे मुहार (बिना नकेल का) है । यह सुनकर सब हँस पड़ ।"

ऐसा था पं० जी का विनोदी जीवन । एक समय हरिद्वार के किसी संगीत विद्यालय की श्रीमती सत्य बाला अपने बालक बालिकाओं के साथ सड़क पर घूम रहीं थीं। पं० जी की मण्डली काव्य-चर्चा में निमग्न थी । एक भगवा वस्त्रधारी युवा संन्यासी भी श्रीमती जी के साथ घूम रहे थे । पता लगा कि वे अक्सर देवी जी के साथ घूमते हैं । पं० जी की मण्डली में से एक समस्या पेश की गई—

"किहि कारण स्वामि घुमावत बालहिं ।"

संस्कृत हिन्दी सभी में इस समस्या की पूर्ति की गई। वेदान्त, ब्रह्म और माया का निरूपण किया गया । यह था उनका शिष्ट परिहास ।

पं० जी की यही दूसरों को बनाने वाली प्रवृत्ति 'सुधा' के सम्पादक पण्डित दुलारे लाल भार्गव को बहुत बुरी लगती थी । उन्होंने पं० जी को पत्र लिखकर एक लेख की माँग की और लिखा 'आप लोगों को बनाते बहुत हैं । सो बनाइये नहीं ।' पं० जी ने उत्तर दिया कि 'मुझे तो बनाना ही आता है । बिगाड़ना आता ही नहीं।' गुणानुरूप नामकरण करने में पं० जी पटु थे । दुलारेलाल भार्गव का संक्षिप्त नाम उन्होंने एक पत्र में 'दुलर्गव' लिखा है । उनके इस नामकरण में काफी ध्वनि, व्यञ्जना, प्रसाद और चमत्कार है ।

अध्यापन-वैशिष्ट्य—यहीं पर पं० जी के अध्यापक रूप की चर्चा कर देना उचित होगा । पं० जी अत्यन्त कुशल एवं योग्य अध्यापक थे । अनेक स्थानों से विद्यार्थी उनसे संस्कृत साहित्य की गुत्थियाँ सुलझाने आया करते थे। पंडित जी विद्याव्यसनी इतने थे कि गुरुवर पंडित काशीनाथ जी के चरणों में बैठ कर विद्यार्थी की भाँति गूढ़ विषयों का निरन्तर अध्ययन करते थे ।

पंडित जी के एक शिष्य स्व० पं० चन्द्र दत्त जी शास्त्री 'सैनिक' पद्मसिंह अंक (५ जुलाई १६३८) में लिखते हैं :—

"स्वच्छ सलिला भगवती भागीरथी नदी की नहर के किनारे पर ज्वालापुर महाविद्यालय का उद्घाटन होने पर एक वर्ष बाद आपका (पं० पद्मसिंह शर्मा का) मेरा गुरुशिष्य भाव प्रारम्भ होता है। उस समय आपके शिष्यों की संख्या ५० थी जो इस समय शास्त्री, तीर्थ आदि उपाधियों से भूषित हैं। उनमें उल्लेख योग्य पं० हरिदत्त शास्त्री, पंचतीर्थ, पं० काशीनाथ जी, काव्य तीर्थ (आपके स्वर्गीय ज्येष्ठ पुत्र), पं० सत्यव्रत शास्त्री और पं० भगीरथ शास्त्री हैं। आप शरीर से हृष्ट पुष्ट और भव्याकृति थे। आपकी बोलचाल सरस मधुर थी। आप अपने गुरु स्व० शुद्धबोध तीर्थ जी महाराज के अनुरोध से महाविद्यालय के स्तम्भ बन कर रहे।

······आपका पढ़ाने का ढंग अनूठा था। कार्य व्यग्र होते हुए भी वाह्य विचारों को फेंक देते थे, मानो अन्तरिन्द्रिय होकर पढ़ा रहे हों। छात्रों को बार-बार फुटकर नोटों के वास्ते आदेश करते रहते थे। फाउन्टेन पेन और रँगीली पेन्सिल आपकी चिर संगिनी थी और पढ़ाते समय अन्य कवियों की तुलनात्मक समीक्षा करते रहते थे। पढ़ते समय छात्र के हाथ में पाठ्य पुस्तक न होना आपको बुरी तरह खटकता था। इसलिये निज व्यय से ही छात्रों को(पुस्तकें खरीद देते थे)। उनकी जिल्दें बँधवानी पड़ती थीं और कभी-कभी मासिक निर्वाह के लिए घर से मनी आर्डर मँगाना पड़ता था। 'दश बर्षाणि ताडयेत्' के वे अपवाद रूप थे। 'रघुवंश' 'कादम्बरी' आदि का पठन श्रीमुख से ही सुनने में छात्र-मण्डल अपना गौरव समझता था। साहित्य ग्रन्थों को सपाटे से पढ़ाते थे। इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में हाई कोर्ट के समान ही आपका निर्णय मान्य होता था। आपका साहित्य विषयक घण्टा रखाने के लिये हम लोग स्वर्गीय मुख्याध्यापक पं० भीमसेन जी शर्मा से घण्टों आग्रह करते रहते थे और वे अन्त में लाचार हो हमारा आग्रह पूर्ण करते ही थे। प्रणाम, अभिवादन का प्रत्युत्तर 'आयुष्मान् भव', 'सौम्म' आदि शब्दों से न देकर 'नमो ज्येष्ठाय कनिष्ठाय च नमस्ते' की विधि से करते थे। आपके व्यवहार से छात्र सन्तुष्ट रहते थे। आधुनिक अध्यापकों की तरह व्याघ्र नहीं समझते थे। आपकी शीत ऋतु की चर्या कुल-वासियों के विनोद का पात्र बनी रहती थी। शीतोपचार के वास्ते तीन आवृत्ति चाय की होतीं थीं। फिर कुर्त्ते, कोट, ओवर कोट, कम्बल, काश्मीरी टोपी, कानों में गुलूबन्द बाँध कर, पढ़ाने आते थे। हम लोग एक कुर्त्ता, पहन कर विद्यालय में आते थे, तो आप बड़े रुष्ट होकर अन्य वस्त्र पहनने के लिये बाध्य करते थे। इस तरह स्वभाव से परिचित होने पर छात्र भी आपके घण्टे में वस्त्र पर वस्त्र ओढ़ कर आते थे। तब आप प्रसन्नचित दीख पड़ते थे। एक समय मासिक परीक्षा हो रही थी। दैवयोग से आपको उत्तर-पत्र जाँचने के लिये दिये गये। आपने सबको अनुत्तीर्ण कर दिया। इसका कारण पूछने पर आपने कहा कि परीक्षा में कविता का मर्म बिना समझे ही शब्दार्थ मात्र लिखने से छात्र प्रशंसा का पात्र नहीं हो सकता, किन्तु उसकी भावी उन्नति को लक्ष्य कर असफल कर देना ही अधिक श्रेयस्कर है।"

संस्कृत कवियों में कवि कालिदास और राजतरङ्गिणी-कार कल्हण आपको अधिक प्रिय थे। कालिदास में आप की अत्यधिक भक्ति थी। संस्कृत विषय पर भाषण करते हुए उनका ज़िक्र अवश्य करते थे। ···सत्य भावना वाले पुरुषों के लिए (वे) 'पद्म' थे, अनृत भावना वालों के लिये "सिंह"।

पं० जी के एक अन्य शिष्य श्री भागीरथ शास्त्री लिखते हैं :—

दुनियाबी धन्धों से, सांसारिक प्रलोभनों से मुँह मोड़ कर चिरदारिद्रय-व्रत धारण कर, आपे को खपा कर, जो सरस्वती–समाराधना उन्होंने की थी, जो कुछ लिखना पढ़ना सीखा था, उसे औरों को देने की, सरस्वती के सेवकों को आगे बढ़ाने की, उनकी दिली ख्वाहिश थी। विख्यात होने के लिए वे किसी उपाधि-व्याधि के फंदे में न फँसे थे। बिना किसी सिलसिले के पुरानी पद्धति के दो चार पंडितों से थोड़ा बहुत पढ़ा लिखा था। किन्तु बाद में अभ्यास करते-करते वे यहाँ तक पहुँचे थे। एक बार मुझे हिन्दी के लिये प्रोत्साहन करते हुए उन्होंने कहा था, "मैंने गुरुमुख से बहुत कम पढ़ा है। आज मुझे जो कुछ

लिखना-पढ़ना आता है वह मेरी सतत स्वाध्याय-व्यसनिता का ही प्रतिफल है। दृढ़ अध्यवसायी मनुष्य साहित्य सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित कर, उस पर बद्ध-परिकर होकर किस प्रकार लोक-यात्रा सफल कर सकता है, स्वर्गीय साहित्याचार्य शर्मा जी का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।"

आँसुओं से सिक्त संस्मरण—महाविद्यालय में रहते हुए पंडित जी से जिन विभूतियों का निकट सम्पर्क हुआ, उनके दिवंगत होने पर उनके हृदय के चीत्कार ने जो संस्मरणों का रूप धारण किया, वह हिन्दी की अनुभूति की अक्षय निधि हैं। पं० जी ने उन्हें रो रोकर लिखा है। कविवर सत्यनारायण, पं० भीमसेन शर्मा, श्री गणपति शास्त्री के संस्मरण वे लिखते जाते थे और टप-टप आँसू गिरते जाते थे। इसकी पुष्टि पंडित जी के पत्रों से भी होती है।

पण्डित जी अत्यन्त भावुक एवं सच्ची प्रीति रखने वाले प्राणी थे। अपने प्रियजन के वियोग में संस्मरण लिखना उनके लिये अत्यन्त कष्टकर व्यापार था। उन्होंने कई पत्रों में अपनी इस मजबूरी का ज़िक्र किया है। २–१२–१६२८ को श्री पारसनाथ सिंह को पं० जी ने लिखा—

"लाला जी के स्मारक दिन वाला पत्र आज मिला। अकबर के संस्मरण आपको पसन्द आ गये मेहनत ठिकाने लगी। अगर आपका अनुरोध है तो दो-एक संस्मरण और लिखूंगा। पर इन संस्मरणों का लिखना मेरे लिये बड़ा दुःखद व्यापार है। भूली-बिसरी बातें कुरेद-कुरेद कर उखाड़नी पड़ती हैं। तबियत बेचैन हो जाती है। इस बारे में मैंने एक पत्र चतुर्वेदी जी (पं०बनारसीदास जी चतुर्वेदी) को कई दिन हुये लिखा है। कलकत्ता पहुँच कर आप उसे देखिये तो कैफियत मालूम हो कि इन संस्मरणों से मैं क्यों पहलू बचाता हूँ।" (पद्मसिंह शर्मा के पत्र पृ०१२,१३)

अपने १८–८–२८ के पत्र में चतुर्वेदी जी को उन्होंने लिखा था––

"आज मुश्किल से लेख समाप्त कर पाया हूँ। एक विमुक्त मित्र की स्मृति ने अधीर कर दिया। लेख लिखते समय किसी दिन घण्टों आत्म विस्मृति की सी दशा में बैठा रहा हूँ। दिल उमड़-उमड़ आया है। लेखनी रुक-रुक गई है। लेख बहुत बढ़ गया, फिर भी बहुत-सी बातें छोड़नी पड़ीं।"

इसके बाद २१–११–२८ के पत्र में फिर पं० जी ने चतुर्वेदी जी को लिखा ––

"आपको अकबर के संस्मरण न जाने क्यों इतने पसन्द हैं.. "वसन्ति हि प्रेम्णि गुणाः न वस्तुनि"...फुरसत हो तो खासा पोथा–संस्मरण-पुराण-बन सकता है। पर काम बड़ा मुश्किल है। सब के रोने को किसका जिगर लाऊँ।

कहाँ से लाऊँगा खूने जिगर इनके खिलाने को।
हजारों तरह के ग़म दिल के मेहमाँ होते जाते हैं॥

सूखे हुये ज़ख्म हरे होते हैं। पुरानी चोटें ताजा होकर दुखतीं हैं। कभी-कभी सोये संस्कार जाग पड़ते हैं और दिल को बेचैन कर देते हैं। पं० भीमसेन जी के दुःखप्रद संस्मरणों ने हिम्मत की कमर तोड़ दी। इस कूचे में धँसते जी डरता है। ईश्वर का बड़ा अनुग्रह है कि मनुष्य का स्वभाव विस्मरणशील बनाया है। पूर्व जन्मों के सम्बन्ध याद नहीं रहते। वर्ना आदमी एक दिन भी ज़िन्दा न रह सकता। पागल हो जाया करता या मर जाया करता। एक ही जन्म के सम्बन्धों की धुँधली-सी याद बावला बना देती है। सहृदय की तो मौत है, परम ज्ञानी या हृदयहीन की बात दूसरी है। कम से कम मैं तो अपने हृदय की निर्बलता से बहुत तङ्ग हूँ। कभी-कभी तो ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि इस आफत से बचा––

"इलाही है सकत[1] नेमुल्बदल[2] के तुझको देने की।
मुझे इसके एवज तू कुछ न दे पर फेर ले दिल को॥

कल यहाँ लाला लाजपतराय की शोक सभा थी। बहुत से व्याख्यान हुए। सब अपनी-अपनी कह गये, बेरुके निर्विकार भाव से सुना गये। मुझसे भी कुछ कहने को

१. सकत — शक्ति। २. नेमुल्बदल—बदले की चीज़।

कहा गया। गला रुँधने लगा, जी भर आया, हार कर बैठ गया। संस्मरणों की ओर ध्यान दिला कर आपने मुझे एक जंजाल में फँसा दिया।

मैं जान बूझ कर इस ओर से अनजान बन रहा था। कभी-कभी विमुक्त मित्रों की स्मृतियाँ व्याकुल करती थीं, तो भुलाने की चेष्टा करता था। मन मार कर रह जाता था। पण्डित भीमसेन जी के संस्मरण की लोग दाद देते हैं, और मेरे दिल पर चोट लगती है। रोता हूँ और पछताता हूँ कि यह क्या कर बैठा। दिल का दर्द दिल में ही क्यों न छिपा रहने दिया। यद्यपि मुझे मजबूरी में यह लिखना पड़ा। दो महीने तक बहुत टाला, पर रहा न गया।' (पद्मसिंह शर्मा के पत्र पृष्ठ ७३,७४)

इन पत्रों से पण्डित जी के हृदय की अत्यन्त सम्वेदन-शील भावुकता का पता लगता है, जिसने उनके संस्मरणों में उतर कर, अपने आँसुओं से उन्हें सदा के लिए सहृदय-हृदय-द्रावक बना रक्खा है। एक भावुक साहित्यकार की यह तस्वीर हिन्दी में क्या, समस्त विश्व-साहित्य में, बेमिसाल है। कौन लिखता है, यों रो-रो के दोस्तों की याद में, बीती बातों के संस्मरण ? हिन्दी उन्हें पाकर धन्य हो गई है। सत्यनारायण कविरत्न' अकबर, भीमसेन और सरदार पूर्णसिंह, पं० जी द्वारा लिखित सभी के संस्मरण, हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

महाविद्यालय की आफिस-गोष्ठी-महाविद्यालय में पं० जी की सारस्वत-साधना सहृदय मित्र-मण्डली के बीच अविरत रूप से चलती रहती थी। "उनका आफ़िस एक गोष्ठी के रूप में काम करता था, जहाँ प० जी 'सम्पादक जी' के नाम से जाने जाते थे। 'उस गोष्ठी में गुरुकुल, कांगड़ी, ऋषिकुल और महाविद्यालय के अनेक विद्वान् समय समय पर सम्मिलित होते थे, और कभी-कभी बाहर के आये हुए विद्वद्गण भी भाग लेते थे, परन्तु सम्पादक जी, मुख्याध्यापक जी (पण्डित भीमसेन शर्मा) और हम (साहित्यचार्य पण्डित शालिग्राम शास्त्री) इस गोष्ठी में अन्तरंग थे। पहले से सलाह मशविरा करके कोई काम करना, किये हुए किसी काम पर विचार करना या अपनी ही भली बुरी समालोचना कर डालना, एकान्त में हुआ करता था।" (विशाल भारत, अगस्त १९३२ पृष्ठ २११) इस तरह महाविद्यालय के प्रबन्ध, संरक्षण, अध्ययन साहित्यचर्चा, मित्र-मण्डली की गोष्ठियों में मनोरञ्जन, में पं० जी का सन् १९०८ से १९१७ तक का समय आनन्द से बीत गया। 'भारतोदय' ने तथा 'सतसई संहार' आलोचना के 'सरस्वती' में नियमित प्रकाशन ने, पं० पद्मसिंह जी का स्थान हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित कर दिया था।

'अहार' ग्राम में संजीवन-भाष्य का लेखन-"एक बार वे महाविद्यालय से रुठे थे, बस उन्हीं रुठा राठी के दिनों में उन्हें सतसई संजीवन भाष्य लिखने की स्फूर्ति हुई, और अहार (बुलन्दशहर) जैसे उजड़ ग्राम में बैठ कर तीन मास में उन्होंने उसे लिख डाला वह भी आधा। जब तक वह लिखते रहे हम भी (महाविद्यालय के मुख्या-धिष्ठाता श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ) नहीं बोले। जब सुना कि सम्पादक जी आराम कर रहे हैं, तभी हम पहुँचे, और मनाकर फिर वापस लाये। उसी स्फूर्ति के झपाटे में संजीवन भाष्य पूरा हो जाता तो क्या ही बहार आती। कम से कम पचास बार तो लेखक ने उनसे कहा होगा। पर शर्मा जी को उस प्रकार की स्फूर्ति फिर उठी ही नहीं।" (विशाल भारत अगस्त १९७२ पृष्ठ १७९)

उस 'अहार' ग्राम की चर्चा भी यहाँ पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में ही कर देना अप्रासांगिक न होगा। प्राचीनता के भक्त पं० जी के लिये यह महाभारत प्रथित अहार (अहिहार) ग्राम अपने पूर्व इतिहास के कारण आकर्षण का केन्द्र था। [1]'भारतोदय' के अंक ५, ६, कार्तिक शुक्ल संवत् १९६६ पृष्ठ ५३ में पं० जी ने 'हमारी यात्रा' शीर्षक से अपनी अहार यात्रा का विवरण दिया है। पाठकों के मनोरंजनार्थ, एवं ज्ञानवर्धन हेतु भी, हम उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"१८ जुलाई की महाविद्यालय कमेटी की अन्तरङ्ग सभा ने पास किया कि महाविद्यालय के लिये धन एकत्रित करने एक डिपुटेशन बुलन्दशहर और आगरा आदि होता हुआ राजपूताने की ओर जाय। उसी समय श्री पं. द्वारका प्रसाद जी, पं. वासदेव जी तथा पद्मसिंह

१. सन् १९०० में पं० जी अहार (बुलन्दशहर) की वैदिक संस्कृत पाठशाला में मुख्याध्यापक भी रह चुके थे। [पद्म पराग–भाग–१, पृष्ठ ८५]

शर्मा की एक मण्डली इस कार्य के लिये बनाई गई। इसके पश्चात् कई ऐसे कारण उपस्थित हो गये कि यह मण्डली निर्दिष्ट समय पर न जा सकी। पं. द्वारका प्रसाद जी को और मुझे एक आवश्यक कार्य के लिये शिमला जाना पड़ा, फिर पं० वासुदेव जी के आने की प्रतीक्षा में कुछ दिन ठहरना पड़ा। निदान योंही देर होती गई, अस्तु, सब सामग्री प्रस्तुत होने पर १३ अगस्त को ४ बजे दोपहर पीछे मण्डली ने प्रयाण किया। उस दिन रात को हम लोग सहारनपुर रहे। अगले दिन प्रातःकाल चल कर मेरठ, हापुड़ होते हुए बुलन्दशहर पहुँचे और वहाँ से दुपय्यों में बैठकर उसी दिन शाम को जहाँगीराबाद पहुँच गये। रात भर वहाँ रहे।

अहार पहुँच कर काम प्रारम्भ करना था इसलिये बुलन्दशहर और जहाँगीराबाद को वापिसी के लिये छोड़-कर १५-८-६ को दोपहर तक अहार पहुँचे। जहाँगीराबाद से अहार ६-७ कोस उत्तर पूर्व की ओर है। रास्ता कच्चा है। बरसात के दिन थे। कीच पानी ने वह और भी दुर्गम बना दिया था। इत्तफ़ाक से ताँगा भी मिला "दिन भर चले अढ़ाई कोस"। खैर ज्यों-त्यों, राम-राम करके अहार पहुँच ही गये।

अहार—गङ्गा के किनारे बड़े-बड़े ऊँचे टीलों पर आबाद एक बहुत पुराना कसबा है। वहाँ बस्ती के इधर-उधर मीलों तक पुरानी आबादी के चिन्ह मिलते हैं। मगर मकानों के इतने खण्डहर हैं कि अहार वालों को नया मकान बनाने के लिये ईटें खरीदने या पजावा लगाने की ज़रूरत नहीं पड़ती, खण्डहरों से ही पर्याप्त ईटें मिल जातीं हैं। नये सब मकानात इसी प्रकार पुरानी सामग्री से बनते हैं। अहार बहुत पुराना ऐतिहासिक स्थान है। कहते हैं कि महाराज जनमेजय ने भारत प्रसिद्ध सर्प सत्र यहीं किया था, इसलिये इसका नाम 'अहिहार' पड़ा जिसका अपभ्रंश 'अहार' हो गया। वहाँ का कथन है कि अब भी जमीन खोदने पर प्रायः सर्पों के अस्थि-पञ्जर निकलते हैं, जो सर्प-सत्र की सत्यता को प्रमाणित करते हैं। स्वर्गीय राजा लक्ष्मण सिंह जी ने बुलन्दशहर ज़िले का उर्दू में एक इतिहास लिखा था, उसमें भी अहार पर लिखते हुए 'सर्पसत्र' के विषय में बहुत कुछ लिखा है। अहार के समीप ही एक बड़ा रम्य स्थान है जहाँ पर अवन्तिका देवी का मन्दिर है। कहते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान ने इसी स्थान से रुक्मिणीहरण किया था। इस विषय पर कुछ दिनों से सरस्वती, में विवाद चल रहा है जिसमें मतद्वैध है। एक मत है कि रुक्मिणी-हरण का पुराण प्रसिद्ध स्थान यही है, और दूसरा मत है कि नहीं, वह विदर्भ-बरार में किसी जगह पर है। अस्तु रुक्मिणी-हरण कहीं भी हुआ हो, चाहे यहाँ या वहाँ, पर अहार की प्राचीनता में सन्देह नहीं हो सकता। इस जगह बहुत बड़ा लम्बा चौड़ा अगाध और अथाह गहरा गङ्गा का कुण्ड है, जिसमें सैकड़ों भीमकाय मगर रहते हैं। यह मानों मगरों का हेड क्वार्टर है। वहाँ के 'सुरसा के बदन' को मात करने वाले भयंकर खोले अपनी डाढ़ों में पुराने मकानों के अस्थिपन्जरों को दबाये हुए, संसार चक्र की वक्रगति का पता दे रहे हैं। टूटे फूटे मकानों के ऊँचे टीले टेर-टेर कर बड़े ही कारुणिक स्वर में प्राचीनता का गीत गा गाकर अपनी वर्त्तमान अधोगति का वर्णन कर रहे हैं, जिसे सुनकर सहृदय समझने वाले के चित्त-पट पर संसार की अनित्यता का चित्र खिंच जाता है। जहाँ कभी बड़े-बड़े अभ्रंकष प्रासाद थे वहाँ आज सैकड़ों हाथ गहरी दरारें (खोलें) हैं, जिस जगह कभी बाज़ार और सड़कें थीं, वहाँ भगवती भागीरथी बरसों विहार करके, अपने स्थानापन्न नाले को छोड़ स्वयं दूर हट गई है, यह दशा विपर्यास भवभूति के इस प्रसिद्ध पद्य को बार-बार स्मरण कराता है—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्।
विपर्यासं यातो घन-विरल-भावः क्षितिरुहाम्॥ इत्यादि

तब्दीली का यहीं से खात्मा नहीं हुआ। इसका दौर दूर तक चला है और अभी जारी है। अहार में नागर ब्राह्मणों की आबादी अधिक थी जो सबके सब औरंगजेब के ज़माने में जबरन मुसलमान बना दिये गये थे। वे ही नागर मुसलमान अभी तक अहार के बहुत से हिस्से को घेरे हुए हैं। मुद्दत तक ये ही लोग अहार के मालिक हुए, ज़मीदार रहे, पर अफसोस—धर्म जैसे

अमूल्य पदार्थ को खोकर जो धन दौलत और ज़मीन मिली वह भी बहुत दिनों तक न रह सकी। जमींदारी छिन गई, धन दौलत भी उड़ गई। अब कोरे इस्लाम के बन्दे रह गए।

आजकल अहार स्वर्ग वासिनी रानी किशोरी साहिबा के धेवते श्रीयुत कुँवर कर्ण सिंह जी की जमींदारी में है। अब से ५ हजार वर्ष पूर्व भी अहार सुप्रसिद्ध शूर और दानी कर्ण के राज्य में था। या अब इतने दिनों बाद फिर अहार को कर्ण का अश्रय मिला है। गंगा के किनारे का यह इलाका जिसमें अहार व अनूप शहर, कर्ण वास आदि शामिल हैं, महाभारत के समय अंग देश के नाम से प्रसिद्ध था। महाभारत में लिखा है कि कौरव और पांडव कुमारों की युद्ध शिक्षा समाप्त होने पर शस्त्र संचालन कौशल की परीक्षा के लिये एक सुविशाल रंग-शाला की आयोजना की गई, जहाँ राज कुमारों में कर्त्तव्य दिखाते द्वन्द्व युद्ध की नौबत पहुँच गई। गदा-युद्ध में तो भीम का प्रतिद्वन्दी दुर्योधन था, परन्तु वाण-विद्या में अर्जुन का समकक्ष कौरवों में कोई न निकला। इस बात को कि अर्जुन के मुकावले पर कोई नहीं आता—भीड़ में खड़ा हुआ कर्ण न सहन कर सका। उसने भीड़ को चीर कर आगे बढ़ कर, भुजा ठोक कर, अर्जुन को द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारा। अर्जुन की तरह कर्ण भी धनुर्विद्या में अद्वितीय था। इस अजनबी वीर को देखकर सब आश्चर्य में पड़ गये। अर्जुन धनुष सँभाल, कर्ण के सामने पहुँचे ही थे कि भीम ने बढ़ कर अर्जुन को रोका कि तुम किस के साथ लड़ते हो? यह राजपुत्र नहीं है, इस साधारण मनुष्य का और तुम्हारा क्या मुकाबला? कोई राजा या राजपुत्र हो तो तुम्हारे सामने आवे।

यह देख दुर्योधन ने कर्ण की पीठ ठोकी और उसे गले लगाया तथा उसी समय कर्ण को अंग देश का राज्य देकर उस कमी को पूरा किया कि कर्ण राजा या राजपुत्र नहीं है। फिर अर्जुन को द्वन्द्व युद्ध के लिये चैलेंज दिया। यह दशा देख भीष्मादि कुछ वृद्धों ने उस कलह को शान्त किया, क्योंकि वह आयोजन केवल परीक्षार्थ किया गया थी। परस्पर शत्रुता पूर्वक युद्ध के लिये नहीं। बस रंग भंग करके सब चले गये। उस दिन से 'आधिरथ' 'राधेय' कर्ण अंगाधिपति कहलाये।

हा ! क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः ।
वियोगसाक्षिणी येषाँ भूमिरद्यापि तिष्ठति ॥

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से अहार एक महत्व की जगह है। बस्ती की आजकल बुरी दशा है। दिन प्रति दिन जन संख्या घटती जा रही है, मकान ढहते जाते हैं, बाजार पट्ट होता जाता है, चहल पहल और रौनक का पता नहीं, जिधर को निकलो तो एक रुदन सा बरसता है। हिन्दुओं के वंश के वंश नष्ट हो गये और होते जाते हैं।

नागर मुसलमानों की संख्या बेशक बढ़ रही है। पर अहार के आस पास का जंगल और भूमि बड़ी सुहावनी है, भूमि उपजाऊ है। खिरनी वहाँ बहुत कसरत से होती है। खिरनी के सैकड़ों वर्ष पुराने बड़े-बड़े हज़ारों पेड़ हैं। गङ्गा-तट होने से प्रायः अच्छे-अच्छे साधु महात्मा आते रहते हैं। परमपदारूढ़ श्री स्वामी दयानन्द जी यहाँ कुछ दिनों रह गये हैं। स्वर्गीय धर्मवीर पंडित, लेखराम आर्य-पथिक भी स्वामी जी की जीवनी लिखते यहाँ पहुँचे थे।

पाठक ! इस लम्बी कहानी को पढ़ते-पढ़ते आप ऊब गये होंगे कि यह क्या चर्चा ले बैठे ! 'क्या कहना था क्या लगे कहने हमें यही अचम्भा है।

भई क्या करें तबियत नहीं मानती। किसी प्राचीन स्थान को देख कर जी भर आता है। उसकी राम कहानी कहे बिना रहा नहीं जाता। अच्छा आगे इसका ध्यान रक्खेंगे। इस प्रासंगिक कथा के लिये अब तो क्षमा कीजिये। प्रकृतमिदानीमनुसारमः श्रूयताम्— (अपूर्ण)[1]

'अहार' ग्राम के इस ऐतिहासिक वृत्त को पं० जी के लेखनी से ही प्रस्तुत करने के मोह में, हम भी कुछ प्रसंग–पराङ्मुख हो गये थे। अब फिर विषय पर आते हैं।

'बिहारी सतसई', प्रथम भाग का प्रकाशन (१६१८)—संजीवन भाष्य' इस प्रकार पं० जी के महाविद्यालय अध्यापन-सम्पादन काल में १६१२ के आसपास ही सम्पन्न हो चुका था।[2] 'बिहारी की सतसई', प्रथम भाग का प्रथम प्रकाशन १६१८ में हुआ। पं० जगन्नाथ

१–'भारतोदय'–वर्ष १ अंक ५, पृष्ठ ५३ से ५६ तक। २–अपने ७-१२-१६१२ के पत्र में पं० भीमसेन शर्मा को पं० जी ने लिखा था 'हो सका तो सतसई वहीं (संभवतः अहार में) बैठकर लिख डालेंगे (पत्र-संख्या २२३, पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ २०५)।

प्रसाद चतुर्वेदी को ज्ञानमण्डल, बनारस से लिखे अपने १-११-१६१८- के पत्र[1] में पं०जी ने लिखा था-" 'बिहारी की सतसई' आज प्रेस से निकली है सो आपकी सेवा में पहली कापी भेजता हूँ। इसे अपनाइये, स्वीकार कीजिए, यानी कबूल फरमाइये। उसे कड़ा जी करके शुरू से आखिर तक एकबार पढ़ जाइये तो बड़ी बात हो, सम्मति लिख सकें तो और भी अनुग्रह हो और बिहारी जी के सम्बन्ध में कोई छिपा भेद बतलावें तो क्या ही बात है। मैं अगले भाग में बिहारी की जीवनी देना चाहता हूँ, उसमें सहायता दीजिए। उनके वंशज सुना है बूँदी मे या कहीं हैं। आपको यह बात अवश्य मालूम होगी। मेरी तो प्रार्थना है कि बिहारी की जीवनी आप ही लिख दें तो बड़ा अच्छा हो। बिहारी के विषय में आप जो लिखेंगे सो प्रामाणिक होगा, यह आपका एक 'कौमी फ़र्ज़' भी है। मैं आपसे इसकी अदायगी का मतालबा करता हूँ और सुनना चाहता हूँ कि आप क्या फरमाते हैं।" 'बिहारी की सतसई' के भूमिका भाग के तृतीय संस्करण का लेखन सम्वत् १६८२(१६२५) में पूरा हुआ था। पं० झाबर मल शर्मा को आषाढ़ वदि १६८२ शुक्रवार के पत्र में पं० जी ने यह सूचना दी थी। (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ १६७)। भादों सुदि १६८२ के पत्र[2] में फिर सूचना दी थी कि भूमिका भाग का तृतीय संस्करण आगरे में छपा रहा हूँ।[3]

'बिहारी सतसई' की टीका[4] १६२२-१६२३ में प्रकाशित हुई। इस की बिक्री पर्याप्त नहीं हुई। सन् १६२८ में हरिद्वार, कनखल में पं० रामचन्द्र शर्मा वैद्य के यहाँ पं० झाबरमल शर्मा की भेंट पं० पद्मसिंह शर्मा से हुई थी। तब वे शाहपुरा, राजपूताना के महाराज कुमार श्री उमेद सिंह की धर्मपत्नी (खतेड़ी की राजकुमारी) स्वर्गीया श्रीमती सूर्य कुमारी जी की स्मारकनिधि से प्रदत्त सहायता द्वारा नियत, गुरुकुल महाविद्यालय (काँगड़ी) में, 'हिन्दी साहित्य' की 'चेयर', पर आसीन थे। उसी समय वैद्यराज जी से यह जानकर पं० झाबरमल्ल शर्मा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि "जिस बिहारी की सतसई' की टीका के लिये पं० पद्मसिंह जी की इतनी तारीफ हुई, वाहवाही मिली, हिन्दी के पाठकों की नाकद्री से उसकी प्रतियाँ काफी संख्या में बँधी पड़ी हैं और प्रेस की छपाई का बिल, कागजों के दाम भी पूरे अदा नहीं हुए हैं। "किमाश्चर्यमतः परम् ।" त्यागी, पद्मसिंह अङ्क, १६३२, पृष्ठ ८३।

"संजीवन भाष्य' के प्रणयन, मुद्रण और विक्रय की यह कथा हिन्दी संसार की अद्भुत मनोवृत्ति का परिचायक है। खैर, पं० पद्मसिंह शर्मा जैसे सुधी साहित्यकार अपनी प्रतिभा का योगदान, 'स्वान्तः सुखाय' कार्य करके, हमें दे ही जाते हैं। यह हमारे पूर्वजन्म के सुकृतों का ही फल समझना चाहिए। अन्यथा हमने उसके प्राप्त करने के लिये इस जन्म में तो नितान्त उपेक्षा-वृत्ति का ही परिचय दिया है।

संजीवन भाष्य फिर पूरा नहीं हुआ—इन परिस्थितियों में कोई आश्चर्य नहीं कि पं० जी को 'संजीवन भाष्य' पूरा करने की स्फूर्त्ति फिर नहीं हुई। श्री वियोगी हरि को माघ कृष्ण १०, १६८४ (सन् १६२७ ई०) में पंडित जी ने लिखा था, "संजीवन भाष्य' अब पूरा नहीं होगा। चित्त नितान्त निर्विण्ण हो गया है। उत्साह ही नहीं होता। हिन्दी में अब बड़े-बड़े महारथी पैदा हो रहे हैं। 'महारथी' के नवीन अङ्क में, जिसमें आपका कड़खा छपा है, एक महारथी ने बिहारी और दास के एक दोहे की तुलनात्मक समालोचना लिखी है। कितना अत्याचार और अज्ञान है। दास का दोहा बिहारी की बिलकुल नकल है। फिर भी 'भाव साम्य बिलकुल नहीं' और दास का दोहा अच्छा है। हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का रोग संक्रामक होकर फैल रहा है। दूसरे महारथी 'समालोचक' के नवीन अङ्क में फरमाते हैं, "मतिराम सतसई के प्रकाशन से बिहारी का आसन छिन गया।" जहाँ ऐसे विवेचक हों, बस साहित्य का बेड़ा पार है।"

(पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ २१-२२)

'तुलनात्मक आलोचना की' इस दुर्गति से भी वे दुःखी थे।

मित्रों के आग्रह से पण्डित जी की 'संजीवन भाष्य' को पूरा करने की इच्छा तो बराबर रही, पर उनके मन को इस ओर एकाग्र भाव से लगा देने वाली आन्तरिक

१—पत्र-संख्या १८८, पृष्ठ १७८, पद्मसिंह शर्मा के पत्र। २—वही, पृष्ठ संख्या १८६। ३—भूमिका का द्वितीय संस्करण सन् १६०६ में छपा था। ४—'संजीवन भाष्य' टीका का प्रकाशन, वेताब प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली में छपकर, १६२२-२३ में होचुका था—डा० हरदत्त शर्मा, 'त्यागी', पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ३६। श्री रामचन्द्र शर्मा ने १६२३ में दिल्ली में इसके हिसाब किताब की जाँच की थी—विशाल भारत, अगस्त १६३२, पृष्ठ २५४।

व बाह्य परिस्थितियाँ फिर पैदा नहीं हो सकीं। १०-१०-१९२९ के पत्र में पं० हरिशंकर शर्मा को पण्डित जी ने लिखा था कि 'सतसई' पूरी करने का विचार तो है, पर यह काम होता नहीं दीखता। कोई सहायक नहीं मिलता। देखिए क्या होता है।" (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ ४६) बैशाख कृष्ण २, १९८३ (सन् १९२६) मे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को पं० जी ने लिखा था कि "इस बार जाड़ों में सतसई पूरी करने का पक्का विचार था। पर बीमारी ने कुछ न करने दिया। अब कनखल जाकर रहने का संकल्प था। डेढ़ महीने बीमारी और तीमारदारी में निकल गया। अभी तक छुट्टी नहीं मिली।" (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ ६०)

अन्त में ज्येष्ठ सुदि ३,१९८४ (सन् १९२७) में प्रो० रामदास गौड़ को पंडित जी ने लिखा था—"संजीवनी भाष्य की ओर जो आपने मार्मिक शब्दों में ध्यान दिलाया है, इसने मुझे थोड़ी देर के लिये इस समय विचित्र दशा में पहुँचा दिया है। अफसोस होता है कि कुछ न हुआ।

"ए बसा आरज़ू कि खाक शुदः।"

अपनी हालत को देखकर हिम्मत छूट रही है। मीर का यह शेर हस्ब हाल मालूम होता है—

"है सुबह का सा अरसा पीरी का इसमें क्या है ?
अब वक्त ही है कितना ? फुरसत कहाँ रही है।"

फिर भी "जब तक साँस तब तक आस।" (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ २१३)

इस प्रकार अहार के ऐतिहासिक स्थल में सन् १९१२ जिस 'संजीवन भाष्य' का शुभारम्भ हुआ था, वह फिर वहाँ से हटने के बाद, कहीं अन्यत्र नहीं लिखा जा सका। कुल १२६ दोहों का यह अधूरा भाष्य ही, उसके पूरा न होने की कसक, हिन्दी के दिल में सदा के लिये छोड़ गया है।

उपलब्धि काल का फल भोग—१९२२ में मंगला प्रसाद पारितोषिक—महाविद्यालय में अपने निवास-काल में पण्डित जी ने जो श्लाघनीय हिन्दी सेवा की उससे वे हिन्दी के शीर्षस्थ लेखकों में आ चुके थे। बाद का काल उस उपलब्धि-काल के फल-भोग का समय समझना चाहिए। मंगला प्रसाद पारितोषिक और मुज़फ्फरपुर (बिहार) में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व, ये वे चरम उपलब्धियाँ थीं जो हिन्दी संसार उनके सम्मान में उस समय दे सकता था। सन् १९२२ में पं० जी को 'बिहारी सतसई' की भूमिका और संजीवन भाष्य पर मंगला प्रसाद पारितोषिक मिला और १९२८ में वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर के अष्टादश अधिवेशन के सभापति चुने गये। १९३२ में हिन्दुस्तानी ऐकेडमी ने उन्हें 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी' पर व्याख्यान देने के लिये आमन्त्रित किया। ऐकेडमी से व्याख्यान देने के बाद ही पंडित जी घर पर आकर प्लेग से पीड़ित हो गये और ७ अप्रैल १९३२ को इहलीला संवरण कर ली। अपने छप्पन वर्ष के लघु जीवन में पंडित जी ने हिन्दी को जो कुछ दे दिया, वह अमूल्य और अविस्मरणीय है।

१९२९ में 'पद्म-पराग' और प्रबंध-मञ्जरी' का प्रकाशन—उनके पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे लेखों का प्रथम संग्रह 'पद्म पराग', प्रथम भाग, नाम से १९८६ विक्रमाब्द (सन् १९२९) में मुजफ्फरपुर (बिहार) से प्रकाशित हुआ। अपने ४-११-१९२८ के पत्र में पंडित जी ने श्री बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखा था—"मेरे लेखों के छपने का प्रबन्ध बाबू राजेश्वर प्रसाद नारायणसिंह जी मुजफ्फरपुर से कर रहे हैं। लेखों के सम्पादन का भार श्रीयुत बाबू पारसनाथ सिंह जी ने अपने ऊपर ले लिया है। कुछ दिन बाद लेख संग्रह की सामग्री उनके पास भेजने वाला हूँ।" (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ ७२) 'आर्य मित्र' आदि सभी सामयिक पत्र पत्रिकाओं में 'पद्म-पराग' के प्रकाशन[1] पर उसकी प्रशंसात्मक समालोचनाएँ छपी थीं। हिन्दी जगत् में इसका खूब स्वागत हुआ था। 'पद्म पराग' द्वितीय भाग में पंडित जीके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह प्रकाशित होना था। पंडित जी के जीवन में यह कार्य नहीं हो सका[2]। उनके सुपुत्र पं० रामनाथ शर्मा ने इसकी पांडुलिपि पंडित जी के शिष्य श्री सत्यव्रत शास्त्री, धामपुर (बिजनौर) के सुपुत्र विनय कुमार को प्रकाशनार्थ दे दी थीं। वे आजकल दिल्ली[3]

१–१९२९ में कलकत्ते में कई महीने रह कर पं० जी ने 'पद्मपराग' प्रथम भाग का मुद्रण स्वयं कराया था।

२–१९२२ में पं० जी जब मुरादाबाद में संग्रहणी से बीमार थे तभी हरिशंकर शर्मा ने इसकी पांडुलिपि वहीं तैयार कर दी थी। पं० काशीनाथ शर्मा ने भी इसमें सहायता की थी।–'त्यागी', पद्मसिंह अंक, पृष्ठ ९।

३–उनका पता–हाउस नं० ४।५५, न्यू मोतीबाग, नई दिल्ली–२ है।

में हैं। पाँडुलिपि उनसे प्राप्त करने का संयोग अभी नहीं हो सका । वे उसे प्रकाशित करने की स्थिति में भी सम्भवतः नहीं हैं। इस सूचना को पाकर हिन्दी संसार पंडित जी के इन अमूल्य लेखों को प्रकाश में लाने का समुचित उद्योग करेगा, इसी आशा से ये पंक्तियाँ लिपिबद्ध कर दीं गई हैं।

पिता जी का स्वर्गवास (१६१७)—सन् १६१७ में पं० जी के पूज्य पिता पं० उमरावसिंह का देहावसान हो गया और पं० जी को महाविद्यालय छोड़ना पड़ा। वे फिर घर चले आये। चौ० शेरसिंह नहटौरी ने विशाल भारत अगस्त १६३२ (पृष्ठ १५७) में लिखा था कि "उनके पिता के ऋणी होने का कुअवसर यद्यपि उनकी युवावस्था से ही आरम्भ हो गया था, तो भी उन्होंने आत्मप्रतिष्ठा और आत्म-सम्मान को बनाये रखा। किसी ने कानों-कान नहीं जाना कि इस होनहार ने किन-किन कठिनाइयों और आपत्तियों में विद्याध्ययन किया, और इस असार-संसार में कठिनाइयाँ होते हुए भी अपनी आयु सब से मिलजुल कर कितनी अच्छी तरह बिताई"

इससे पं० जी के आर्थिक संकट-मय जीवन की कुछ झलक हमें मिलती हैं। पर सरस्वती के इस उपासक ने लक्ष्मी की कभी परवाह ही नहीं की। वह निर्भीक, निर्द्वन्द्व, सरस्वती-समाराधन में अन्त तक लगा रहा।

ज्ञानमंडल में–१६१८ में बा०शिवप्रसाद जी गुप्त के अनुरोध से पं० जी 'ज्ञानमण्डल' में बनारस चले गये। 'भारत-मित्र' के सम्पादक श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे विशाल भारत, अगस्त १६३२ (पृष्ठ २३८) में लिखते हैं—

"इसके बाद ऐसा संयोग हुआ कि पं० पद्मसिंह शर्मा 'सतसई संहार' और 'सतसई संजीवन भाष्य' के साथ काशी में आए—बाबू शिवप्रसाद गुप्त के ज्ञानमण्डल में बैठकर अपना जगन्मान्य ग्रन्थ प्रकाशित कराने के लिए। ज्ञानमण्डल में उन दिनों पं० रामदास गौड़ काम करते थे और मैं भी था। पद्मसिंह जी और गौड़ जी की साहित्यिक बैठकें बहुत हुआ करती थीं। गौड़ जी मुझ से कहा करते थे कि उनके पेट में जाने क्या-क्या भरा हुआ है। मुझे इस में बड़ी प्रसन्नता होती थी।" 'बिहारी सतसई' की भूमिका भाग का प्रथम संकरण इसी समय ज्ञानमण्डल से प्रकाशित हुआ था (संवत् १६७५ सन् १६१८)।

माता जी का स्वर्गवास (१६२०)—संवत् १६७७ (सन् १६२०) में पण्डित जी की माता जी श्रीमती रामा देवी का भी देहावसान हो गया। पं० जी को अपने माता पिता के प्रति अपूर्व भक्तिभाव था। उनका कहना था कि उनके पिता जी की उदारता और संस्कृत प्रेम के कारण ही वे शिक्षा के अनुकूल अवसर प्राप्त करके संस्कृत साहित्य की अपूर्व योग्यता प्राप्त कर सके। उन्होंने 'पद्मपराग' प्रथम भाग का समर्पण 'श्री मातुः पादपद्मयोः' कह के श्री माता जी के चरणों में ही किया है। पं० जी के आर्यसमाजी मित्र स्वामी सहजानन्द, 'त्यागी' (१६३२) पद्मसिंह अंक (पृष्ठ ७२) में लिखते हैं—

"मैंने उनके धार्मिक विचारों के बारे में कभी उनसे प्रश्न भी नहीं किए और इसकी आवश्यकता भी कभी नहीं आई। लेकिन जब मैंने आरम्भ में ही उनके 'पद्म पराग' या 'सतसई की भूमिका' में यह श्लोक पढ़ लिया कि —

"श्रीमत्सु तात पादेषु स्वर्यातेषु समर्प्यते।
पत्रपुष्पाञ्जलिस्तेन प्रीयन्तां पितृदेवताः॥"

तो फिर शंका या प्रश्न का अवसर ही कहाँ रहा ?"

पं० जी वास्तव में तैत्तरीय उपनिषद् के इस उपदेश के पालक थे 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव।'

उनकी मातृ-पितृ-गुरु-निष्ठा अपूर्व एवं असाधारण थी।

मुरादाबाद युक्तप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन-आश्विन संवत् १६७७ (१६२०) में ही पं० जी युक्त प्रान्तीय षष्ठ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुरादाबाद अधिवेशन के सभापति बने। हिन्दी-साहित्यिक जगत् अब पं० जी की प्रतिभा को पहचान कर उनके अनुरूप अवसर प्रदान करने की प्रक्रिया में लग गया था।

मंगला प्रसाद पारितोषिक की कथा:–संवत् १६८० (सन् १६२३) में मंगला प्रसाद पारितोषिक । प्रथम बार प्रदत्त किए जाने की घोषणा हुई । 'प्रिय प्रवास' और 'भारत भारती' के साथ 'संजीवन भाष्य' की चर्चा इस पारितोषिक के विषय में हुई । निर्णय एकमत न हो पाने पर दूसरी निर्णायक समिति वनाई गई और निर्णय 'संजीवन भाष्य' के पक्ष में रहा । इसकी रोचक कथा दूसरी निर्णायक समिति एक सदस्य श्री रामदास गौड़ के शब्दों में सुनिए—

"मंगला प्रसाद-पारितोषिक कलकत्ते के बाबू गोकुल चन्द के दान से स्थापित हुआ । कानपुर के सम्मेलन में पहला पारितोषिक दिया जाने वाला था । पहली निर्णायक समिति में किसी एक ग्रन्थकार के लिए मतैक्य न हो सका । तब दूसरी समिति बनाई गई । इसमें स्वर्गीय पं. श्रीधर पाठक, श्री वियोगी हरिजी और मैं–यही तीन निर्णायक नियुक्त हुए । पाठक जी के यहाँ एकत्र हो, हम तीनों ने छै पुस्तकें छाँटी, जिन्हें हमने सर्वोत्तम समझा । इनमें से किसी एक के पक्ष में मतैक्यपूर्वक सम्मति देनी थी । अब बड़ी मुश्किल यह थी कि यह छहों ग्रन्थकार तीनों निर्णायकों के मित्र ही थे, पारस्परिक पक्षपात से बचना कठिन था । हम लोगों ने इन छै पुस्तकों पर आपस में आलोचनात्मक विचार किया, परन्तु उस दिन भी निर्णय न किया, यह निश्चय कर हम लोग अलग हुए कि कल प्रातः हम लोग फिर इकट्ठे हों, और हर निर्णायक अपना निर्णय लिफाफे में बन्द लाये, और इकट्ठे होने पर ही लिफाफे खोले जायँ । दूसरे दिन जब साथ ही लिफाफे खोले गये, तो तीनों ने सम्पादक जी का ही नाम लिखा था । मुझे इस वात की बड़ी खुशी हुई, और कमाल खुशी हुई । मुझे बड़ा खटका था कि सम्पादक जी पर जो मेरी ममता है, वही तो नहीं उन्हें चुनवा रही है । सौभाग्यवश वियोगी हरिजी से सम्पादक जी की उतनी घनिष्ठता न थी । इतने पर भी जब स्वतन्त्र रीति से उन दो निर्णायकों का मतैक्य उन्हीं के पक्ष में देखा, तो मुझे अपनी ईमानदारी पर सन्तोष हुआ । फिर भी कानपुर की स्थायी समिति में, जो सम्मेलन के पहले हुई थी, कई सज्जनों को पक्षपात का सन्देह था, और उनकी राय में सतसई की भूमिका-मात्र पर पारितोषिक देना उचित न था । उन्होंने सम्पादक जी की साहित्य-सेवा का ठीक मूल्य नहीं आँका । सम्पादकजी ने हिन्दी-साहित्य में एक अनूठा काम किया, जिसके लिये भावी हिन्दी साहित्यिक उनके कृतज्ञ होंगे । उनसे पहले इस ढंग की तुलनात्मक समालोचना किसी ने लिखी न थी । यह वास्तव में एक मौलिक रचना थी, जो उनकी अद्भुत और अनुपम शैली के मनोहर आवरण में हिन्दी-साहित्य को सुशोभित कर रही थी और यह तो प्रकट ही है कि आज तक, इन पन्द्रह वीस बरसों में भी, कोई न तो उस ढंग की समालोचना लिख पाया है, और न उनकी शैली का ही अनुकरण कर सका है ।"

(विशाल भारत, अगस्त १६७२, पृष्ठ १६१)

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मुजफ्फरपुर (बिहार) के सभापति (१९२८)–मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त करने के पाँच वर्ष बाद संवत् १६८५ (सन् १६२८) में पंडित जी अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, मुजफ्फरपुर (बिहार) के अठारहवें अधिवेशन के सभापति चुने गए । उनका इस सभापति पद से दिया गया भाषण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है । छायावादियों पर इसमें कठोर प्रहार किया गया है । उन लोगों ने भी पंडित जी को खूब खरी-खोटी सुनायीं, पर पंडित जी स्थितप्रज्ञ की भाँति इनसे अविचलित ही रहे । वैद्य कल्याण सिंह को लिखे अपने २५-७-२८ के पत्र में पण्डित जी ने लिखा था कि मैं सम्मेलन की यात्रा से एक महीने बाद परसों २४-७ को ही यहाँ लौट कर पहुँचा हूँ । आकर आपका पत्र पढ़ा (७-७) का । आपको भाषण पसन्द आया । सन्तोष की बात है । 'आज' की तरह दूसरे पत्रों ने भी भाषण पर अग्रलेख लिखे हैं । खूब दाद दी है । 'मतवाला' विश्व मित्र' 'भारत मित्र', 'लोक संग्रह' इत्यादि ने बहुत कुछ लिखा है । सम्मतियों की कटिंग्स का फाइल भाषण से कई गुना बढ़ गया है । 'बींडिया' शब्द टकसाली है, हाली ने भी इस का प्रयोग किया । हाली ने हैदराबाद की तारीफ में एक कसीदा लिखा है, उसमें–

"दूसरे प्रान्तों में बेशक यह शब्द व्यवहृत नहीं है, पर बींडिया जोता सब जगह जाता है, पूरब में बिहार तक मैंने देखा है। यह टकसाली शब्द प्रचार पाने योग्य है। इसलिये मैंने इसका प्रयोग किया है। बनारस में बींडिया को शायद 'धौरा' कहते हैं।"

भाषण की समालोचना से छायावादी बहुत बिगड़े थे। पर किसी भी समझदार विद्वान् और प्रतिष्ठित पत्र ने इस समालोचना को अनुचित नहीं बतलाया।"

(पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ १६६)

१६२८ में गुरुकुल काँगड़ी में—नौकरी की परवाह नहीं—सन् १६२८ (संवत् १६८५) में ही पं० जी गुरुकुल काँगड़ी में हिन्दी के प्रोफेसर भी रहे। पर उन्हें नौकरी की कभी परवाह नहीं थी। अपने १०-१०-१६२६ के पत्र में पं० जी ने पं० हरिशंकर शर्मा को लिखा था, 'हाँ मैंने काँगड़ी छोड़ दी,' (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ ४६)। कल्याणसिंह जी के उपरोक्त २५-७-२८ के पत्र में पं० जी ने यह भी लिखा था कि "मैं गुरुकुल में शाहपुर की चेयर पर ही नियत हुआ हूँ।" इस तरह पं० जी ने गुरुकुल में लगभग १ वर्ष ही जुलाई, १६२८ से अक्तूबर १६२६ तक कार्य किया। उन्हें पं० मदन मोहन मालवीय काशी विश्व विद्यालय बुलाना चाहते थे, पर वे वहाँ नहीं गए। उन्हें काशी की जलवायु अनुकूल नहीं पड़ती थी। बाबू श्याम सुन्दर दास ने कोष के सम्पादन हेतु उन्हें १००) मासिक पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा में बुलाया था। महाविद्यालय में वे उस समय ५० रुपये पाते थे, पर वे काशी नहीं गए। उन्हें 'अर्थ' की चिन्ता कभी रही ही नहीं। केवल 'काव्य' के अर्थ की चिन्ता ही उनकी सतत संगिनी थी। उन्हें नौकरी की कितनी परवाह थी—इसका निरूपण श्री चन्द्र गुप्त विद्यालंकार की लेखनी से देखिये—

'सम्मेलन (अ० भा० हिन्दी सा० सम्मेलन मुजफ्फरपुर, १६२८ ई०) के अन्तिम दिन श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल के निमन्त्रण पर मान्य भाई सत्यकेतु जी के साथ मैं पटना चला गया। शर्मा जी का प्रोग्राम था कि सम्मेलन समाप्त होते ही या तो वे भी हम लोगों से पटने में ही आ मिलेंगे, अथवा दो चार दिनों बाद गुरुकुल में पहुँच जायेंगे। मगर हमारे गुरुकुल में पहुँच जाने के बाद एक सप्ताह गुजर गया, न तो शर्मा जी आये और न उनका कोई पत्र ही आया। हम लोगों को चिन्ता हुई कि बात क्या है, मगर अगले ही दिन समाचारपत्रों में पढ़ा कि शर्मा जी टण्डन जी के साथ बिहार प्रान्त में सम्मेलन के लिये चन्दा जमा कर रहे हैं।

एक सप्ताह और गुजर गया, मगर शर्मा जी नहीं आये। पढ़ाई के दिन थे गुरुकुल कार्य में विघ्न पड़ने लगा। मजा यह था कि गुरुकुल आफिस तक में शर्मा जी का कोई पत्र नहीं आया। प्रिन्सिपल साहब हैरान थे, कि वे करें तो क्या करें। यह भी तो नहीं मालूम कि शर्मा जी कब तक लौट आयेंगे, ताकि तब तक के लिये कोई अन्य प्रबन्ध ही कर लिया जाय। मगर कोई चारा नहीं था। क्रमशः तीसरा और चौथा सप्ताह भी निकल गया। प्रिन्सिपल साहब बड़ी परेशानी में पड़े। गुरुकुल के नियमों के अनुसार किसी कार्यकर्ता की इतनी अवज्ञा (चाहे वह बिना इरादे के ही की जा रही हो) अत्यधिक गम्भीर नियम भंग था। आखिरकार पाँचवें सप्ताह के एक सुन्दर प्रातःकाल शर्मा जी अचानक ही गुरुकुल आ पहुँचे। गुरुकुल के विद्यार्थियों का विचार था कि सम्मेलन के सभापति बन कर अब यह गुरुकुल लौटेंगे, तो वे उनका विशेष रूप से स्वागत करेंगे, मगर वह तो इस तरह अचानक लौटे कि कुछ भी किया ही न जा सकता था। फिर भी दोपहर के समय उनके सम्मान में एक भोज तो दिया ही गया।

उचित समय पर गुरुकुल के प्रिन्सिपल महोदय ने शर्मा जी को अपने पास नियम सम्बन्धी 'रुटीन' को पूरा करने के लिए बुलाया। शर्मा जी ने बड़ी सरलता के साथ स्वयं ही कहा—'मेरे कारण प्रबन्ध में जो असुविधा हुई है, उसके लिये मुझे हार्दिक खेद है, परन्तु असल में बात यह थी कि मुझे यहाँ लौटने की इतनी अधिक चिन्ता थी और आपके नियमों से मैं इतना अधिक डरता था कि उसी से मेरा केस और भी अधिक बिगड़ गया।

प्रिन्सिपल महोदय ने मुस्कराकर पूछा—"यह कैसे ?"

शर्मा जी ने कहा—"इस चिन्ता के कारण मैं निश्चय कर लेता था कि बस, कल तो हरिद्वार के लिए जरूर ही रवाना हो जाऊँगा। जब यह निश्चय हो जाता था, तो सोचता था कि जब मुझे परसों तक पहुँच ही जाना है तो खामख्वाह पत्र क्यों लिखूँ। मगर अगले दिन परिस्थितियों से बाधित होकर चल भी नहीं सकता था। परिणाम यह हुआ कि इतने दिनों तक न तो मैं आ ही सका और न पत्र ही लिख सका।

इस पर खूब हँसी हुई। अन्त में प्रिन्सिपल साहब ने सम्पूर्ण स्थिति उनके सामने रखकर पूछा—"अब आप ही बताइये कि हम लोगों को क्या करना चाहिये।"

शर्मा जी ने बड़ी सरलता के साथ कहा—"इन पाँच सप्ताहों का मुझे अवैतनिक अवकाश दे दीजिये।"

हुआ भी यही। शर्मा जी के हितचिन्तकों ने उन्हें सलाह दी कि आपको सम्मेलन के कारण इतनी आर्थिक हानि उठानी पड़ी है, अतः आपको राशि सम्मेलन से ही वसूल कर लेनी चाहिए। मगर सम्मेलन से यह राशि लेना तो एक तरफ रहा, शर्मा जी ने अपने भाषण की छपाई पर जो व्यय किया था, आर्थिक मामलों में अपनी असावधान मनोवृत्ति के कारण, वे उस राशि का वास्तविक से न्यून बिल दे आये थे।"

(विशालभारत, अगस्त १९३२, पृष्ठ १७५-१७६)

कुछ दिनों सन् १८९७ ई० में,[1] पण्डित जी आर्यसमाज के आनरेरी उपदेशक भी रहे। श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ लिखते हैं कि :—

"पण्डित पद्मसिंह शर्मा कई वर्ष आर्य प्रतिनिधि-सभा संयुक्त-प्रान्त के आनरेरी उपदेशक रहे। वैसे तो प्रान्त-भर में सभी जगह जाते थे, किन्तु विशेषतया रोहेलखण्ड और मेरठ डिवीजन में आपने खूब प्रचार किया। आप नोटबुक के नोटों के आधार पर व्याख्यान दिया करते थे, और व्याख्यानों में प्रमाण-रूप से श्लोकों का ताँता बँधा रहता था। पं० पद्मसिंह शर्मा को सहस्रों श्लोक याद क्यों थे, इसका रहस्य इसी से आपकी समझ में आ जायगा।

सम्पादक जी (हम लोग इनको सम्पादक जी ही कहते थे) में एक विशेष गुण था कि पेंसिल और नोटबुक हर समय साथ रहती और किसी के मुख से कोई नई बात निकली, कोई नया श्लोक सुना, किसी पुस्तक में कोई संग्राह्य बात समझी कि झट नोट कर लेते थे। यह व्यसन बहुत ही जबरदस्त था। उनकी बहुश्रुतता का कारण यही है।"

(विशाल भारत, अगस्त १९३२, पृष्ठ १७८)

इक्कीस वर्ष की आयु में ही पं० जी सूक्तियों के समुद्र हो गये थे।

संवत् १९८६ (सन् १९२९) में 'पद्मपराग' एवं 'प्रबन्ध-मञ्जरी' का प्रकाशन कलकत्ते से हुआ। पं० जी को इसके लिये कई महीने कलकत्ते रहना पड़ा और प्रेस की कठिनाइयों ने उन्हें विचलित सा कर दिया। उस समय के उनके पत्रों में प्रेस के विषय में अनेक मनोरंजक विचार देखने को मिलते हैं। पाठकों के मनोरंजनार्थ हम उन्हें यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

१–प्रेस वालों और दर्जियों का वायदा एक सा– "क्या कहूँ मैं तो इस बार कलकत्ते में आकर मर मिटा। 'पद्म पराग' के तैयार होने में देर देख कर मैंने पं० हृषीकेश शास्त्री के संस्कृत निबन्धों का काम शुरू कर दिया। एक प्रेस ने १५ दिन में छाप देने का वायदा किया था, पर प्रेस वालों और दर्जियों का वायदा एक सा होता है। आज २० दिन में ३ ही फार्म छापे हैं और अभी ७-८ और बाकी हैं।" (पं० ज्वालादत्त शर्मा को, का. व. ५, ८६, बुधवार, को लिखे पत्र से - पृष्ठ १८५)

२–'कहीं व्यास जी को अपने पुराण और महाभारत छपाने पड़ते तो चीं बोल जाते'–'प्रबन्ध मंजरी' की छपाई का काम शुरू हो गया, पहला गेली प्रूफ आ गया पर लक्षण दीखते हैं कि यह 'पद्म पराग' से भी अधिक जान मारेगा या मारेगी। 'मंजरी' है न। [2]पाँच दिन में

१–'पद्मपराग'–भाग १ पृष्ठ ८०। २–'हिजड़े' के लिंग निर्धारण में दिक्कत के कारण एक बनिये ने यह दोहा कहा– सारे चने चाब गई, चाब गया है तू। उठ खड़ा हो, उठ खड़ी हो, उठ खड़ा हो तू॥ भारतोदय वर्ष१२अंक१०-११पृष्ठ३५

एक फार्म से भी अधूरा कम्पोज हुआ है। यही गति रही तो कार्तिकी पर भी उधर न आ सकूँगा। मैं तो कहता हूँ पुस्तक छपाने से बड़ी मुसीबत और नहीं है। वही लोग अच्छे रहे जो इस छापे के युग से पहले मर गये। कहीं व्यास जी को अपने पुराण और महाभारत छपाने पड़ते तो चीं बोल जाते, एकदम मर्त्यलोक छोड़कर भाग जाते। और कहीं दुर्वासा का प्रेस से काम पड़ जाता तो कष्ट-कण्टक कट जाता। शाप देकर प्रेस वालों की सातकुली को भस्म कर देते। कहीं दुर्वासा जी मिल जायें तो ख्याल रखना। किसी तरह इन प्रेस वालों से उन्हें भिड़ा दिया जाय तो संसार का उद्धार हो जाय। पहले लोग हाथ से लिखते थे तो पुस्तक की कद्र जानते थे, पढ़ते थे, याद करते थे और आदर से रखते थे। आज के लोग हैं पैसा फेंका, पुस्तक खरीदी, फाड़-तोड़ कर अलग की। इसीलिए कुछ आता जाता भी नही। ग्रन्थ-चुम्बक ही रह जाते हैं। ज्यों-ज्यों प्रेस से काम पड़ता है मेरी तो यही धारणा दृढ़ होती जाती है कि वह युग अच्छा था जब लोग श्रौत (कानों से काम लेने वाले) और स्मार्त (स्मृति से याद रखने वाले) होते थे। लिखना-पढ़ना सब फिजूल है और यह प्रेस सिस्टम तो एकदम जहन्नुमी चीज़ है।"

(पं० हरिदत्त शास्त्री को लिखे ६-१०-१६२६ के पत्र से—पृष्ठ १२७)

३—माँ के पेट से बच्चा और प्रेस से पुस्तक निकलना—'प्रवन्ध-मंजरी' जब छप रही थी तो पं० जी ने हरिदत्त शास्त्री को लिखा था—"माँ के पेट से बच्चे का सही-सलामत बाहर निकल आना आसान है, पर प्रेस से पुस्तक का बाहर निकलना कहीं कठिन है। तुम तो पीछे से दाद का एक पत्र लिखकर छुट्टी पा जाओगे। विद्यार्थी मुफ्तार्थी मुफ्त माँगेंगे—एक हमें भी, एक हमें भी। और प्रूफ़ पढ़ते-पढ़ते मेरी आँखों का तेल और कमर का कचूमर निकल जायगा। मौत नजदीक तो आ ही गई है और जल्दी केश ग्राहं ग्रहीष्यति।"

(विशाल भारत—अगस्त १६३२—पृष्ठ २२)

४—अशुद्धियाँ फिर भी नहीं निकलीं—"प्रूफ पढ़ते-पढ़ते आँखों का तेल और कमर का कचूमर निकल गया, पर अशुद्धियाँ फिर भी न निकलीं।" श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द को मार्गशीर्ष सुदी ५, ८६ को लिखे गये पत्र से-पृष्ठ १५०)

कलकत्ते में 'पद्म पराग' छपाते समय श्री स्वामी सोमतीर्थ को पं० जी ने लिखा था—

"भगवान प्रेत-बाधा भले ही किसी को दें पर प्रेस-बाधा न दें।" (त्यागी—पद्मसिंह अंक, पृष्ठ ५१, चौ० शिवनाथसिंह शांडिल्य, माछरा, मेरठ।)

"विशाल भारत" के कम्पोजीटर श्री देवीप्रसाद ने लिखा है कि एक बार किसी कम्पोजीटर ने 'इस रचना का भेद कोई नहीं पा सकता।' इस वाक्य की जगह कम्पोज किया 'नौ सेर चना कौन खा सकता है।" प्रूफ़ पढ़ते समय पं० जी को वेअखतयार हँसी आई। (सैनिक, पद्मसिंह अंक, पृष्ठ ५१)

प्रकाशकों को भी पं० जी 'अर्थपिशाच' के रूप में देखते थे। (श्री वियोगी हरि को लिखा पत्र सं० २५) 'सरस्वती', 'सुधा' के सम्पादकों को भी पारिश्रमिक न देने पर वे लताड़ते थे। वास्तव में पुस्तक प्रकाशन और मसि-जीवी होकर साहित्य-सेवा करने का काम हिन्दी के लेखक के लिये तब भी वहुत कठिन था और आज भी। इस समस्या के निदान के लिये कोई जागरूक भी नहीं है।

'प्रन्बध मन्जरी'-इसमें संस्कृत के 'विद्योदय' मासिक संस्कृत पत्र से संगृहीत पण्डित हृषीकेश शास्त्री के निबन्धों का संग्रह है। इनमें समसामायिक समस्याओं पर बड़ी प्राञ्जल एवं सुबोध संस्कृत में तर्कपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किए गए हैं। उदाहरणार्थ विधवा-विवाह के समर्थकों से पूछा गया है कि वे कन्याओं को सीता और सती सावित्री का आदर्श क्यों पढ़ाते हैं। उन्हें तारा, मन्दोदरी का आदर्श सिखाना चाहिए। 'दारा' शब्द का अर्थ स्त्री इसलिये है कि वे रात में शिक्षा देकर भाइयों के हृदयों को परस्पर विदीर्ण कर देतीं हैं। इन लेखों को पण्डित जी ने बड़ी ममता से और बड़ी कठिनाई से छपाया था। इसकी विस्तृत कथा पण्डित हरिदत्त शास्त्री को लिखे उनके ६-१०-१६२६ के पत्र में वर्णित है।

(पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ १२७)

पण्डित जी ने एक पाठ्य पुस्तक 'गद्य गौरव' भी सम्पादित की थी जो कानपुर से मार्च १६३२ में प्रकाशित हुई थी। पंडित जी के यहाँ पंजाब यूनिवर्सिटी के हिन्दी के पाठ्यक्रम पर टीका टिप्पणी होने पर उस चर्चा में भाग लेने वाले प्रिंसिपल महोदय ने पाठ्यक्रम बदलवा दिया था। पण्डित जी सत्साहित्य के सच्चे पारखी थे। कई मित्रों से उन्होंने संस्कृत हिन्दी की स्वाध्याय-योग्य पुस्तकों की सूची बनाने का वायदा किया था। हिन्दी में आज भी पालग्रेव की 'गोल्डेन ट्रेज़री' जैसी काव्य-संकलन की कोई पुस्तक नहीं है।

समालोचना, भूमिका-लेखन—पण्डित जी के पास समालोचना के लिए आई हुई पुस्तकों का ढेर लगा रहता था। पण्डित श्रीराम शर्मा को ११-३-३२ को लिखा, पत्र संख्या १२६, इस विषय में दृष्टव्य है। प्रेमचन्द जी जैसे अनेक विख्यात लेखक अपनी नई कृति उनके पास सम्मत्यर्थ भेजते थे। भूमिका तो न जाने कितने लोग उनसे लिखवाने को उत्सुक रहते थे। पर ऐसी पुस्तक, जिसे पढ़ने में मन न लगे, केवल समालोचना के लिये पढ़ना, पण्डित जी को बेहद नागवार था। १२-३-३० के अपने पत्र में उन्होंने पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा, 'इस भूमिकावाज़ी की आपत्ति से मुझे बचाइये, मैं इससे बेहद तंग आ गया हूँ। ख्वामखाह भूमिका या सम्मति लिखने के लिए पुस्तक पढ़ना मुझे बहुत ही अखरता है। मैं ऐसी एक पंक्ति भी नहीं पढ़ना चाहता, जिसे पढ़ने को जी न चाहता हो। लोग मार-मार कर गवाते हैं।.. जबर्दस्ती दाद लेना चाहते हैं।"

(पद्मसिंह शर्मा के पत्र-पृष्ठ ७६)

'कलामे बिस्मिल' की भूमिका लिखकर उन्होंने बिस्मिल साहब का अकबरेसानी होने का भ्रम भंग कर दिया था। बिस्मिल साहब ने उसमें संशोधन चाहा तो पं० जी ने इनकार कर दिया। उनकी समालोचना ऐसी ही खरी होती थी।

'सतसई-संहार' और 'हिन्दी नवरत्न' में बिहारी पर किये गये आक्षेपों के, पं० जी द्वारा दिये गये उत्तर, उनकी उग्र आलोचना शैली के प्रतीक हैं। एक सज्जन ने इसे 'घूँसे मार आलोचना' की संज्ञा दी है। बाबू घासीराम, एम. ए. लिखते हैं कि 'जब वह किसी पण्डितमानी का दोष देखते थे तो उसे एक के बदले पचास सुनाते थे। वह गिरे हुए को जब तक ठोकर न लगा लें तब तक उन्हें चैन न पड़ता था।' ('त्यागी', पद्मसिंह अंक, पृष्ठ ४२)

स्वयं पं० जी ने इस प्रकार की आलोचना को 'हण्टर पाणि' की संज्ञा दी थी। मार्गशीर्ष कृ० १३, १६८० को पं० शालिग्राम शास्त्री को लिखे पत्र में वे लिखते हैं :--

"आखिर आप बेचारे 'पन्थ जी' पर 'हण्टरपाणि' हो ही पड़े, बरस ही पड़े। महाकवि भास के नाम पर गरीब पन्थ जी का काम तमाम कर ही डाला। 'माधुरी' के मधुर प्याले में गरम-मसाले और नमक की पुड़िया घोल ही तो दी। भार्गव जी का सुरुचि-संचारु व्रत भंग कर ही डाला। उन्होंने कई बार अपनी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा था कि 'माधुरी' समालोचना मार्ग को सुरुचि-सम्पन्न बना देगी। 'सतसई संहार' की शैली की जहरीली समालोचनाओं का साहित्य की बाटिका से एकदम बहिष्कार करके दम लेगी। श्रीमान् ने कोठे वाली को जीने पर नहीं, सहन में लाकर पटका। बधाई है, कविराज जी की बहादुरी को।"

(पद्मसिंह शर्मा के पत्र-पृष्ठ २२५)

वास्तव में पं० जी नृशंस और क्रूरकर्म पर क्रोध प्रकट करना स्वाभाविक धर्म समझते थे। उनका कहना था कि "दुष्ट, धूर्त लोक-वंचक लोगों की जितनी भी भर्त्सना की जाय उचित है, विहित है .. धूर्त और नृशंस व्यक्ति की पोल खोलना, शब्दों के कोड़े लगाना, आज से हजार वर्ष बाद भी विहित समझा जायगा।" (पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे ८-४-३० के पत्र से, पृष्ठ ८१)।

अपनी इस उग्र लेखनी के कारण पं० जी एक बार एक मुकदमे की विपत्ति में भी पड़ गए। अपने अनन्य

मित्र महाकवि शंकर को उन्होंने २६-५-२८ को लिखा था–"..लेख के विरुद्ध जो मुकदमा चल रहा है, उसमें एक सवाल बेढंगे तौर पर आ पड़ा है। लेख में लिखा है कि देवियों पर हाथ डालने में जैसे लंका और हस्तिनापुर का नाश हो गया, ऐसे ही..का नाश हो जायेगा। लेख का तात्पर्य स्त्रियों पर हाथ डालने से उनको पीट कर अपमानित करने से था। परन्तु वादी का कहना है कि इस वाक्य के द्वारा मुझ पर औरतों के साथ बदचलनी का इलज़ाम लगाया गया है। इसलिए आप हिन्दी या उर्दू ग्रन्थ से कोई प्रमाण ऐसा दीजिए जिससे स्त्रियों पर हाथ डालने का अभिप्राय उनको पीटना–अपमानित करना होता है।" (पद्मसिंह शर्मा के पत्र-पृष्ठ २४३)

पर निर्भीकता उनके स्वभाव का अंग थी। वे सदा निर्भीक भाव से ही लिखते थे। आगरे के दंगे में भी वज़ीर पुरे जाकर मित्र की क्षेम कुशल लाने में उन्होंने प्राणों का मोह नहीं किया था। गांव में प्लेग फैल जाने पर वे ग्रामवासियों की सेवा-परिचर्या छोड़ कर बाहर नहीं गये और अपने प्राणों की आहुति दे दी। उनकी सिद्धान्तों के प्रति यह एकान्त निष्ठा निर्भीकता की जननी थी, जो उनसे कमज़ोर निष्ठा, सहृदयता, एवं साहस वाले व्यक्ति के लिये, जीवन में व्यवहृत कर पाना आसान नहीं है।

पत्र--लेखन—पत्र लेखन पं० जी का खास व्यसन था। उनकी शैली अत्यन्त प्रौढ़ और विनोदमयी होती थी। भाषा, लिपि, लिंग, पाठ, अर्थ, संदर्भ न जाने कितने विषयों के मत इन पत्रों में भरे रहते थे। लिंग की विवेचना के लिये श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी को लिखे गये उनके पत्र संख्या १८४, १८५ पठनीय हैं। लिंग के लिए लोक व्यवहार ही प्रमाण है, इसका सूक्ष्म विवेचन है। पं० भीमसेन शर्मा के संस्मरण में पं० जी ने एक जगह लिखा है—

"पत्र-व्यवहार का मुझे एक प्रकार का व्यसन सा रहा है। पत्र लिखते-लिखते ही मैंने कुछ लिखना सीखा है।"

(पद्मसिंह शर्मा के पत्र-भूमिका-पृष्ठ १५)

पत्रों के उत्तर न आने पर पं० जी को दुःख होता था। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को उन्होंने उत्तर न मिलने पर १५-८-२७ को यह शेर लिख भेजा था—

"रखियो ग़ालिब (चौबे) मुझे इस तल्लखनवाई में मुआफ़,
आज कुछ दर्द मेरे दिल में सिवा होता है।"

(पद्मसिंह शर्मा के पत्र-संख्या ६२)

पं० सत्यनारायण कविरत्न तो उनकी 'पाती' पाने के लिये बेहद व्याकुल रहते थे। बहुत दिनों बाद पं० जी का पत्र पाने पर उन्होंने लिखा था—

"आई तव पाती
नहिं बिसरायो अजहुँ मोहि यह जानि सिरानी छाती॥"

उनकी प्रीति भरी 'पाती' पाकर किस सहृदय की 'छाती' नहीं सिरा जाती। ऐसे ही प्रेम की मूर्ति थे पं० जी। चिट्ठियों में वे कलेजा ही निकाल कर रख देते थे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक पत्रों का प्रकाशन कराने हेतु पं० जी ने काफी लिखा-पढ़ी की थी। (पत्र संख्या १०६ पृष्ठ १००)

पं० जी को पत्र हजम करना अच्छा नहीं लगता था। (पत्र संख्या ४४, पृष्ठ ४५) बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन से पत्रोत्तर न मिलने पर पं०जी को विशेष खेद हुआ था। (पत्र संख्या २४, पृष्ठ २५)। २३-५-२५ को उन्होंने हरिशंकर जी को लिखा था कि "मुझे स्वयं पत्र लिखने में तो अब प्रायः प्रवृत्ति नहीं होती। आज लिखूं कल लिखूं में ही कभी-कभी महीनों हो जाते हैं। पर ऐसा बहुत कम होता है कि मैं किसी के उत्तरणीय पत्र का उत्तर न दूं।" (पत्र संख्या, २६ पृष्ठ ३०)

अपने २-६-२७ के पत्र में उन्होंने हरिशंकर जी से शिकायत की थी कि 'आप पत्रोत्तर में बड़ी बेपरवाई करते हैं।' (पत्र संख्या ३३, पृष्ठ ३५) कभी-कभी पंडित जी को एक ही दिन में ८, १० लम्बे पत्र भी लिखने पड़ जाते थे (पत्र संख्या ३७ पृष्ठ ३८)। अपने प्राइवेट पत्र किसी अन्य व्यक्ति को दिखाने पर पण्डित जी को क्षोभ

भी बहुत होता था। पत्र संख्या ६६ (पृष्ठ ६५) इसका उदाहरण है। पत्र संख्या २१, पृष्ठ १६४ में एक दोहे का पूरा अर्थ ही स्पष्ट किया गया है।

२७-२-२६ को पं० जी ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा था कि आप से या किसी दूसरे मित्र से पत्र-व्यवहार करके सार्वजनिक प्रसिद्धि प्राप्त करना नहीं चाहता।" (पत्र संख्या ७६, पृष्ठ ७७)

पं० जी के पत्रों में विनोद की मात्रा भी पर्याप्त रहती थी। पत्र संख्या २०१ पृष्ठ १८६ में पं० ज्वालादत्त शर्मा को पं० जी लिखते हैं–"थोड़ा ताज़ा गुड़ खास तौर पर तैयार कराकर भेंट के लिए ले गया था....'नमूनार्थ' बनवा लिया था....'रिक्तपाणिर्न पश्येत्' इस शिष्टाचार के पालनार्थ....इस बार रामनाथ को कह आया हूँ कि गुड़ बनवा कर खुद मुरादाबाद पहुँचा आवें, इति गुड़ाध्यायः।"

पत्र संख्या २०२ पृष्ठ १८७ में लिखते हैं "ज़रा ध्यान धर के इधर कान दीजे।..मुझे तसल्ली बख्श या 'सन्तोष-बख्श' अथवा 'तसल्लीप्रद'....जवाब दीजिए।" पत्र संख्या २०३ पृष्ठ १८ में लिखते हैं 'मेरे पहले कार्ड की सद्गति गङ्गा जी पर हो गई, यह जान कर खुशी हुई। कार्तिक पर मैं न पहुँच सका तो मेरा कार्ड ही पहुँच गया। ....कुछ दिनों वहीं गङ्गातट पर धूनी रमाऊँगा।"

पत्र संख्या १०६ पृष्ठ १०१ में २२-६-३१ को पं०जी लिखते हैं–" 'विशाल भारत' का साहित्यांक बढ़िया रहा, उस पर भवानी चरण जी की राय पठनीय है। आपके "कौन कैसे पत्र लिखता है" शीर्षक लेख को उन्होंने बहुत पसन्द किया है। आज़ाद, हाली, अकबर और शिवली आदि के प्रकाशित पत्र संग्रहों का पता दो चार दिन में देख कर लिखूँगा।"

तात्पर्य यह कि पत्र-लेखन पं० जी का एक साहित्यिक व्यसन था और कवियों तथा लेखकों के पत्रों को वे संग्रहणीय समझते थे। पं० जी के प्रकाशित पत्रों से उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की गहरी झाँकी हमें उपलब्ध हो जाती है।

प्राचीन स्थानों का भ्रमण–पं० जी को संस्कृत के पुराने कवियों तथा महापुरुषों से संबद्ध स्थानों में घूमने का बहुत शौक था। उनकी आत्मा वहाँ कालिदास और भोज को खोजती थी। पं० सूर्यनारायण व्यास ने (सैनिक–पद्मसिंह अंक, पृष्ठ २२) अपने संस्मरण में लिखा है कि उज्जैन में महाकालेश्वर के मन्दिर में पं० जी हरिदत्त शास्त्री की बनाई स्तुति के श्लोक सुन रहे थे—

देव त्र्यम्बक महा कलिकाल काल
कालानलार्चित विशाल ललाम भाल।
राका दिवाकर करम्बित नेत्र युग्म
त्वत्पादपद्म युगले कलये नमस्याम्॥

"पण्डित जी को उज्जैन आकर कालिदास, भर्तृहरि और विक्रम के नाम का कोई चिन्ह, संस्था नहीं मिली उन्होंने बहुत तलाश की।" बाद में उन्होंने एक सभा में व्याख्यान देकर कालिदास–स्मारक बनाने की प्रेरणा दी। गोरखपुर सम्मेलन के अवसर पर पं० जी 'कल्याण' के सम्पादक स्व० पं० हनुमान प्रसाद पोद्दार के अतिथि थे। वहाँ से साहित्यकारों के साथ उन्होंने कसिया यात्रा की थी।

कालिदास पर तो पण्डित जी की इतनी भक्ति थी कि कालिदास की आत्मा ने स्वप्न में उन्हें एक अज्ञात स्वरचित अनुष्टुप सुनाया था। इसे भूल जाने का पण्डित जी को जीवन भर अफसोस रहा। तब वे अजमेर में रहते थे। श्री आत्माराम शास्त्री ने सैनिक, पद्मसिंह अंक में अपने संस्मरण में (पृष्ठ ४३) इसका उल्लेख किया है।

पण्डित जी के पत्र संख्या १७ (पृष्ठ १७,१८ दिनांक १-६-३०), ८७ (पृष्ठ ८५, ८६ दिनांक २०-५-३०), ८८ (पृष्ठ ८६, दिनांक २८-५-३०) में मालवा और धार की यात्रा के हृदयस्पर्शी उल्लेख मिलते हैं। पण्डित जी लिखते हैं– (पृष्ठ ८६) "भोजदेव की नगरी धार-देखने का सौभाग्य प्राप्त हो गया।..धार को देखकर जो भाव मन में उठ रहे थे, कह नहीं सकता, लिखना तो और भी कठिन है। जगह-जगह बैठ कर रोने और ज़मीन पर लेटने को जी चाहता था।" ऐसी थी पण्डित जी की पुरातन संस्कृति के प्रति दृढ़ अनुरक्ति, विगत स्वर्ण अतीत की प्रत्य-

क्षानुभूति की उत्कट अभीप्सा। चण्डीदास और जयदेव की भूमि (पृष्ठ १३०), पांचाल प्रदेश (पृष्ठ २११) सभी की धरती को जाकर निहारने की पण्डित जी की वलवती इच्छा रहती थी, क्योंकि उस कवि या प्रदेश से सम्वन्धित साहित्य के द्वारा वे उस काल और व्यक्ति का मानस-साक्षात्कार करते रहते थे। उनकी आत्मा उनमें रमण किया करती थी।

दिवंगत साहित्यकारों की कीर्तिरक्षा—पं० जी का कोमल मन सहृदय साहित्यकारों के प्रति अतिशय श्रद्धावान् था। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय और मूल्यांकन होना उन्हें बहुत अभीष्ट था। हिन्दी लेखकों की जीवनियाँ लिखी जाएँ, इस बात के बड़े आग्रही थे। बाबू श्याम सुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य" नामक ग्रन्थ, जिसे पं० जी ने 'वृथा पुष्ट पोथा' नाम से अभिहित किया है, जब प्रकाश में आया, तो पं० जी को इस बात से बड़ी निराशा हुई कि उसमें स्व० पं० माधव प्रसाद मिश्र का नामोल्लेख तक नहीं था। 'विद्यार्थी' के स्मृति अङ्क में तब पं० जी ने लिखा था—

"हिन्दी समाज अपने लेखकों की कद्र करना नहीं जानता। इसमें सर्व साधारण जतना ही नहीं, उनके उत्तराधिकारी और मित्रता का दम भरने वाले सज्जन भी शामिल हैं। किसी साहित्य सेवी के मरने पर शोक सूचक प्रस्ताव पास करके और बहुत हुआ तो किसी पत्र का विशेषांक निकाल कर ही चुप हो जाते हैं और स्वर्गीय व्यक्ति को, उसके उपकारों को—सदा के लिये भूल बैठते हैं। फिर भूल कर भी उसे याद नहीं करते। हिन्दी वालों की इस 'कृतज्ञता' के अनेक उदाहरण हैं। अभी अक्टूबर के 'विशाल भारत' में उसके सुयोग्य सम्पादक पण्डित बनारसी दास चतुर्वेदी ने स्वर्गीय पण्डित माधव प्रसाद मिश्र के सम्बन्ध में यही रोना रोया है। मिश्र जी के सुयोग्य सहोदर भ्राता मौजूद हैं। अनेक अन्तरंग मित्र भी हैं। पर उनके ओजस्वी लेखों का संग्रह आज तक नहीं हो सका। यहीं तक नहीं, लोग इतनी जल्दी उनके सदा संस्मरणीय नाम को भूल गये। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' के नाम से अभी हाल ही में एक बड़ा सा 'वृथा पुष्ट पोथा' प्रकाशित हुआ है। जिसमें हिन्दी के उस परम ओजस्वी उद्भट विद्वान् लेखक का नाम तक नहीं आया, यद्यपि मिश्र जी के 'सुदर्शन' के सैकड़ों प्रेमी पाठक अभी जीते हैं। मिश्र जी की निराली शैली को मुक्त कंठ से सराहने वाले अनेक विद्वान लेखक वर्तमान हैं। बहुतों के पास 'सुदर्शन' की फाइल भी सुरक्षित है। हिन्दी के पारखी उसे पढ़ते हैं और सिर धुनते हैं, पर 'हिन्दी साहित्य' के यह दिवान्ध लेखक मिश्र जी के प्रकाशमान् नाम को भी नहीं देख सकते। कृतघ्नता, अज्ञान और प्रमाद की पराकाष्ठा है। परमात्मा ही हैं जो हिन्दी के इन स्वयम्भू आचार्यों और धींग धनी-धीरियों से हिन्दी-साहित्य की और स्वर्गीय साहित्य-सेवियों की रक्षा करें!

'तुलसी जे कीरति चहैं पर कीरति कों खोय।
तिनके मुँह मसि लागिहै मुये न मिटिहै धोय॥

ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वह ऐसी 'मसि' हिन्दी संसार में किसी भले आदमी के मुँह पर न लगने दे।

सम्पादक और पाठक क्षमा करें यह पैरा कुछ बड़ा हो गया। स्वर्गीय साहित्य-सेवियों के साथ असह्य अन्याय की प्रवृत्ति को बढ़ती हुई देख कर न रहा गया। चित्त-क्षोभ ने इतना लिखने को विवश कर दिया। हिन्दी के इन इतिहास लेखकों को भी आखिर एक दिन स्वर्गीय होना है। समय रहते सावधान हो जाएँ। सर्वकष काल के दण्ड से डर कर चलें तो अच्छा है। उसी उद्देश्य से यह अप्रिय प्रसंग छेड़ना पड़ा।"

('विशाल भारत' अक्तूबर १९३२, पृष्ठ ४७८)

दिवंगत साहित्य-सेवियों के प्रति यह उपेक्षा का भाव पं० जी को मर्माहत कर देता था। पं० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० सत्य नारायण 'कवि रत्न, पं० नन्द कुमार देव शर्मा, 'कूलद्रुम' हो रहे महाकवि शंकर, पं० बालकृष्ण भट्ट, सभी की कीर्ति-रक्षा हेतु, उनके विषय में लेख और जीवनियाँ लिखे जाने की उत्कट अभिलाषा, पं० जी के विभिन्न पत्रों से प्रकट होती है। इस सम्वन्ध में निम्न पत्र उल्लेखनीय हैं—

(१) **सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा** की जीवनी के सम्बन्ध में—पं० बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे गये पत्र सँख्या ५२ (दीपमालिका १९८१), ५४ (कार्तिक कृ० ६, १९८१), ५७ (दिनांक ६-२-२५), ७६ (दिनांक अगहन सुदि १२, १९८६), १०३ (दिनांक २९-४-३१), १२० (दिनांक रहित) तथा पं० नन्द कुमार जी को लिखे गये पत्र संख्या २३२ (दिनांक फाल्गुन कृष्ण ४, १९८२) इन पत्रों में पं०जी ने पं०रुद्रदत्त शर्मा की जीवनी लिखे जाने, 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में उनका उल्लेख किये जाने का, बार-बार आग्रह किया है। सम्पादकाचार्य जी की जीवनी के तथ्य भी इन पत्रों में पं० जी ने लिखे हैं। ये पत्र ही उनकी जीवनी और कृतित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालने में समर्थ हैं।

(२) **पं० सत्यनारायण 'कविरत्न'** की जीवनी से सम्बन्धित उल्लेख-पत्र संख्या ५३ (दिनांक भाद पद सुदि ८, १९८१ वि०), ५४ (कार्तिक कृष्णा ६, १९८१) ५९ (वैशाख कृष्णा २, १९८३), ७६ (दिनांक अगहन सुदि १२,१९८६) में है। पं०जी ने श्री बनारसी दास चतुर्वेदी को सत्य नारायण जी की जीवनी के विषय, में मार्मिक शब्दों में लिखा है। उनका फोटो देखकर पं० जी को रोना आ जाता था। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी की स्वयं की साहित्य सेवा की भी पं० जी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सत्य नारायण की जीवनी के विषय में लिखा है कि "जो काम सावित्री को करना चाहिये था वह आपने (पं० बनारसी दास चतुर्वेदी) ने किया है और सावित्री ने जो किया वह उनके दुश्मनों को भी नहीं करना चाहिए था।"

(३) **पं० श्रीधर पाठक की जीवनी के संबंध में**—पत्र संख्या ७० (दिनांक १८-८-२८), ७४ (दिनांक ७-१२-२८) तथा पत्र संख्या १२० (दिनांक रहित) में पं० बनारसी दास जी चतुर्वेदी से, पं० श्रीधर पाठक की जीवनी के विषय में, पं० जी ने अपील की है।

(४) **पं० माधवप्रसाद मिश्र** का नामोल्लेख बाबू श्याम सुन्दर दास के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ में न होने पर, पं० जी ने अपना आक्रोश, पं०बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे पत्र संख्या ९६ दिनांक १८-११-३० प्रकट किया है।

(५) बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन जी द्वारा **पं० बालकृष्ण भट्ट** की जीवनी लिखे जाने की इच्छा का उल्लेख पं० बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे पत्र संख्या ५७ दिनांक ६-२-२५ में आता है।

(६) 'कुलद्रुम हो रहे' **महाकवि शंकर जी** की जीवनी लिखे जाने की आवश्यकता पर, पत्र संख्या ५४ दिनांक कार्तिक कृष्णा ६, १९८१ में, पं० जी ने बल दिया है। पत्र संख्या १२० (दिनांक रहित) में स्वयं ही शंकर जी की जीवनी लिखने की इच्छा प्रकट की है।

(७) **पं० नन्दकुमार देव शर्मा** को साहित्य-सेवियों की जीवनी का 'छोटा-मोटा विश्वकोष, पं० जी ने पत्र संख्या ५७ दिनांक ६-२-२५ में बतलाया है। वे पं० रुद्र दत्त जी की जीवनी का मसाला तैयार कर रहे थे। पर काम पूरा हुए बिना वे स्वयं दिवंगत हो गये। पं० जी ने अगहन सुदी १२, १९८६ के पत्र संख्या ७६ में पं० बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखा कि पं० नन्द कुमार देव शर्मा के सम्बन्ध में कुछ लिख कर 'सम्मेलन-पत्रिका' में भेज दीजिए।

(८) उपरोक्त पत्र में ही बिहार के हिन्दी सुलेखक **पं० राधाकृष्ण जी एम० ए०** के भी दिवंगत होने का समाचार है। पं० जी ने उस पर अपने हृदय की अधीरता व्यक्त की है। वे उनके प्रेमी मित्र थे।

(९) **गुलेरी जी** की कीर्ति-रक्षा की भी पं० जी को बड़ी चिन्ता थी। पत्र संख्या ९६ दिनांक १८-११-३० में वे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखते हैं "सुना है कि गुलेरी जी के लेख कोई सज्जन प्रकाशित कर रहे हैं। आप कुछ न कुछ चर्चा चलाते रहिये। शायद किसी के कान पर जूँ रेंग जाय या 'कबहूँ दीनदयाल के भनक परेगी कान' वाली बात हो जाय।"

(१०) **राजा लक्ष्मणसिंह** की जन्म शताब्दी मनाये जाने पर अपने आश्चर्य-मिश्रित हर्ष का उल्लेख पं० जी

ने इस प्रकार किया है—

"क्या सचमुच शताब्दी मनाई जायगी ? राजा साहब का भाग्य इतने दिनों के बाद जाग कर रहेगा। मैं तो कहता हूँ भाग्यशाली हैं वह लेखक जो आपके सामने मर जाएँगे। मरने वालों को जल्दी करनी चाहिये। एक 'मसीहा' है और मरने वाले बहुत हैं। अकेला मसीहा हार जाएगा।"
(पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे पत्र सं० ६० दिनांक आश्विन, अमावस्या १९८३, पृष्ठ ६१, पद्मसिंह शर्मा के पत्र)

(११) विवेकानन्द के मित्र **राजा अजीत सिंह** जी की जीवनी के प्रकाशन के विषय में अपनी चिन्ता पण्डित जी ने पण्डित झावर मल्ल शर्मा को लिखे पत्र संख्या २१४ (दिनांक आषाढ़ वदि १८८२) में व्यक्त की है।

(१२) स्वामी **दर्शनानन्द** की जीवनी की चर्चा पत्र संख्या १५ दिनांक २२–६–२९ में पं० जी ने श्री पारसनाथ सिंह से की है।

(१३) चौं० शिवनाथ सिंह शाण्डिल्य, माछरा मेरठ 'त्यागी' पद्मसिंह अंक पृष्ठ ५१ पर लिखते हैं कि 'स्वर्गीय शर्मा जी को प्राचीन कवियों और लेखकों की कीर्तिरक्षा का बड़ा ख्याल रहता था। मेरठ जिले के हापुड़ नामक क़स्बे में **चौधरी सेढू सिंह** एक बड़े प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। यह जाति से त्यागी ब्राह्मण थे। हापुड़ में उनका स्मारक भी बना हुआ है। इनकी कविताओं का संग्रह देखने की स्व० शर्मा जी की बड़ी इच्छा थी। इस उद्देश्य से वह स्वयं भी एक बार हापुड़ गये थे पर परिश्रम व्यर्थ गया।"

(१४) 'सैनिक,' पद्मसिंह अंक, पृष्ठ २६ पर श्री ब्रजमोहन लाल भटनागर ने मुन्शी जगन किशोर द्वारा दाग़ के एक मिसरे को बदलकर यों कहने का उल्लेख किया है।

'जी उठूँ गर हो मिरा मातम तुम्हारे सामने।'
दाग़ ने लिखा था–

'आरज़ू यह है कि निकले दम तुम्हारे सामने।
तुम हमारे सामने हो हम तुम्हारे सामने।'

मुन्शी जी ने दूसरा मिसरा बदला था जो पं० जी को बहुत पसन्द आया। उसी प्रसंग में पण्डित जी ने श्री ब्रजमोहन स्वरूप भटनागर को **घनानन्द जी** के जीवन सम्बन्धी तथ्य खोजने का निर्देश दिया था। घनानन्द जी भी भटनागर थे और सिकन्दराबाद (बुलन्द शहर) के रहने वाले थे। बादशाह शाह आलम के मीर मुन्शी थे।

पण्डित **हृषीकेश शास्त्री, पं० गणपति शास्त्री, पं० नवनीत चतुर्वेदी** प्रभृति अनेक विद्वानों कवियों की कीर्तिरक्षा तो पण्डित जी अपने अविस्मरणीय संस्मरणों द्वारा ही कर गये। ऐसे सहृदय साहित्यकार की स्वयं की कीर्तिरक्षा हिन्दी संसार का परम पावन कर्तव्य है।

आर्य समाजी नहीं सनातनी—यद्यपि पण्डित जी अपने पूज्य पिता के प्रभाव से आर्य समाज के अनुयायी बने, उसके आनरेरी उपदेशक भी रहे पर अपनी आस्था में वे पक्के सनातनी थे। विशेषत: पार्थिव पूजन, देवस्तुति गंगा-स्नान आदि में उनकी दृढ़ आस्था थी। मालवीय जी का बताया हुआ संक्षिप्त पूजन मन्त्र 'हरये नमः' उन्हें सदैव याद रहता था। दूसरों को भी उसकी तीन आवृत्तियाँ करके कार्यारम्भ करने की सलाह देते थे (पत्र संख्या २ दिनांक २१–९–१९२५) उन्होंने उपरोक्त पत्र में श्री पारसनाथसिंह जी को लिखा था, "प्रस्ताव पेश करते समय तीन बार 'हरये नमः' का उच्चारण अवश्य कर लीजिये। श्रीमद्भागवत् के सिद्धान्त और पूज्य श्री मालवीय जी के नियमानुसार यह 'विघ्न-निवारण' का अमोघ मन्त्र है। काशी के हिन्दू सभा वाले पहले अधिवेशन में इसी मन्त्र के प्रताप से मालवीय जी महाराज ने धर्म-प्राण पण्डितों के आक्रमण से अपनी जान बचायी थी। सो आप भी उस रक्षा कवच को न भूलें।"

इसी मन्त्र का उल्लेख करते हुए 'प्रतिभा' के सम्पादक मुरादाबाद निवासी स्वर्गीय पण्डित ज्वालादत्त शर्मा लिखते हैं–"उन्हें (पण्डित पद्मसिंह शर्मा को) भूख बहुत तेज़ लग रही थी। इसका मुझे पता था। विनोद के लिए मैंने भोजन का प्रोक्षण करके आँखें बन्द करलीं। पण्डित जी भूख के मारे परेशान थे। उधर भोजन सामने रक्खा था। 'पातर पर की भूख' का मामला दरपेश था। पहले

तो पं० जी ने कुछ प्रतीक्षा की। जब उन्होंने देखा कि यह आँख खोलता ही नहीं तो 'ॐ हरये नमः' कह कर भोजन आरम्भ कर दिया। मैंने आँख खोलकर कहा—यह आपने क्या किया। मैं तो भोग दे रहा था। आपने भोजन जूठा कर दिया। पण्डित जी बोले—'भाई, ऐसा लम्बा भोग तो कभी न देते थे, मैं समझा मुझे खिझा रहे हो। इसलिए मालवीय जी का बताया हुआ 'ॐ हरये नमः' मन्त्र पढ़कर मैंने अपना काम शुरू कर दिया।" मालवीय जी ने किसी व्याख्यान में कहा था कि समय कम हो, पूजा पाठ का अवसर न मिल सकता हो, तो 'ॐ हरये नमः' इतना श्रद्धा से कहने पर भी सब विधि सांग हो जाती है। पं० जी प्रायः 'ॐ हरये नमः' का उच्चारण किया करते थे। उनमें इतनी श्रद्धा और भक्ति थी कि आश्चर्य होता था। आर्य समाज में बहुत काल तक रहने पर भी उनकी गंगा भक्ति, शिव-भक्ति, और मृत पितरों के श्राद्ध की भक्ति में ज़रा भी कमी नहीं आयी थी। वे इस बात को अपने समाजी मित्रों से कभी न छिपाते थे।"

(सैनिक, ५ जुलाई १६३८, पृष्ठ ६)

गङ्गा-भक्ति – पंडित जी ने १०-११-२७ को गढ़-मुक्तेश्वर से पं० ज्वालादत्त शर्मा को लिखा था (पत्र संख्या १६७ पृष्ठ १८४)—"परसों चन्द्र-ग्रहण पर आपके दर्शनों की लालसा थी। जनाबे लीडर से भी मैंने कह दिया था कि आवें और स्नान से गङ्गा को पवित्र करें। पर यह न हुआ। यानी आप न आये।"

संयोग से ये पंक्तियाँ जब (४-६-७४ को) मुरादाबाद में लिखीं जा रही हैं तब चन्द्रग्रहण का योग इसी रात्रि में है और लेखक का संकल्प गंगास्नान को जाने का बन रहा है। गङ्गा मैया की कृपा से पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा का उनके जल जैसा निर्मल यह जीवन-चरित, हिन्दी प्रेमियों का मन पावन करे, यही उनसे प्रार्थना है।

बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' के 'गङ्गावतरण' काव्य का पाठ पण्डित जी ने हर की पौड़ी, हरिद्वार में बैठकर ही सुना था। उसका वर्णन पण्डित बाला प्रसाद शर्मा ('विशाल-भारत' सम्पादक पण्डित श्रीराम शर्मा के भाई) के शब्दों में सुनिये—

" मुझे किसी काम से हरिद्वार आना पड़ा। दूर से देखा कि हर की पौड़ी पर एक दरी बिछी हुई है और उस पर कई सज्जन बैठे हैं। सम्पादक जी को मैं न देख पाया था। उन्होंने मुझे देख लिया। वह इतने सहृदय थे कि मेरे पास चले आए और फिर मेरी भेंट रत्नाकर जी से कराई और उनसे 'गङ्गावतरण' काव्य भी सुनवाया।"

('सैनिक'-५ जुलाई १६३८, पृष्ठ १५)

उजैन में महाकालेश्वर मन्दिर में पण्डित हरिदत्त शास्त्री की शिव-स्तुति पर पं० जी की तन्मयता को देख कर पण्डित सूर्यनारायण व्यास ने इसका जिक्र भाई गोपी बल्लभ जी से किया। भाई गोपी बल्लभ ने बताया कि पण्डित जी ने पुरी में जगदीश मूर्ति के चरण छूने के लिए चार आने भेंट किए थे और चरणों में सिर रक्खा था।

(सैनिक, ५-७-१६३८, पृष्ठ २२)

'वे श्री काशी विश्वनाथ जी के मन्दिर में कई बार पधारे थे और विश्वनाथ जी की पूजा भी की थी।' (सैनिक ५-७-१६३८ पृष्ठ १५)

स्वामी सहजानन्द लिखते हैं कि मैंने उनके धार्मिक विचारों में कभी संकीर्णता नहीं पाई। 'प्रीयन्तां पितृ-देवताः' का श्लोक सतसई या 'पद्मपराग' की भूमिका में पढ़ कर शंका का अवसर ही नहीं रहा।

(त्यागी, पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ७२)

पण्डित झावरमल्ल शर्मा लिखते हैं कि "मैंने उनके विशाल हृदय को आर्यसमाज की संकीर्ण परिधि से बाहर अगाध प्रेम से पूरित पाया।"

(त्यागी, पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ८०)

"उजैन में पं० जी ने श्री महाकाल भगवान के और महाराज विक्रमादित्य की देवी के दर्शन किये।..देवी के दर्शन कर आप वहीं दुर्गापाठ करने बैठ गए।"

(सैनिक, ५-७-१६३८, पृष्ठ ३१)

श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह को २५-३-३२ के पत्र में पं० जी ने लिखा था, "पर्यटन् विविधान् लोकान्"

इस मर्त्यलोक में कब पधारेंगे ?" । संस्कृत का यह उद्धरण सत्यनारायन की कथा के श्लोक उद्धरण हैं । पं० जी की सनातनी निष्ठा इसमें भी ध्वनित है ।

२६-६-३० को पं० जी ने ज्वाला दत्त शर्मा को लिखा था कि उनके हिन्दुस्तानी एकेडेमी के लेक्चर की सफलता के लिये वे 'चण्डीपाठ' कर दें । (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ १६२)। ८-१-१६३२ को पं०जी ने ज्वालादत्त शर्मा को लिखा था कि उस दिन हम रामायणी पंडित जी की कथा सुनने गए थे, जिनकी कथा में आप गतवर्ष लखनऊ ले गये थे । वह बहुत दिनों से यही कथा कर रहे हैं । कई अभिज्ञ और पारखी नेताओं ने प्रशंसा की ।" (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ १६२)

रामायण के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री राजबहादुर लमगोड़ा के व्याख्यान में पं० जी आगरा और प्रयाग में सम्मिलित हुए थे और उनकी बहुत प्रशंसा की थी ।

(सैनिक ५-७-१६३८, पृष्ठ १८)

जीवन के अन्तिम वर्षों में पं० जी को आर्यसमाज के प्रति अधिक उत्साह नहीं रह गया था और वे उसकी गतिविधियों से सन्तुष्ट नहीं थे ।

(पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृष्ठ १६०)

श्री विष्णु दत्त शुक्ल ने काशी में पं० जी द्वारा विश्वनाथ दर्शन और गुरु काशीनाथ के दर्शन का विस्तार से उल्लेख किया है ।

(विशाल भारत, अगस्त १६३२, पृष्ठ १७०)

'त्यागी' के पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ८२ पर पं० झावरमल्ल शर्मा लिखते हैं—"श्रद्धा समन्वित हृदय से दक्ष के दर्शन करने के साथ-साथ हम लोगों ने गङ्गा स्नान करने का पुण्य-लाभ किया था । दक्ष के मन्दिर के दायरे में श्री हनुमान जी की प्रतिमा बड़ी विशाल है । वहाँ दर्शन कर भक्ति पुरस्सर प्रणाम करने में भी पं० पद्मसिंह जी हमारे साथ थे ।"

पं० जी एक बार अपनी छात्र मण्डली को भी विश्वनाथ दर्शन को ले गये, पर शर्त यह लगाई कि पहले गङ्गा स्नान करके गङ्गा-जल और फूल माला लेकर श्रद्धा-भक्ति पूर्वक दर्शन करने चला जाय ।

('विशाल भारत' पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ २३८)

तर्पण करते हुए पं० जी को उनके किसी मित्र ने स्वयं देखा था । उनके सुपुत्र पं० रामनाथ ने (विशाल भारत पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ २३१ में) लिखा है कि "२५ मार्च को महा शिवरात्रि थी । उस दिन पिताजी जी भी व्रती रहे और हम लोग भी ।"

बिहारी के दोहों की व्याख्या में 'नन्दकुमार' और 'बिहारीलाल' शब्दों की ओर इंगित करके पं० जी कहते हैं कि इनकी कृपा से ही बिहारी के दोहों में यह अनूठा चमत्कार आ गया है । 'पद्मपराग' की जीवनी में 'भगवान श्री कृष्ण' के पाथेय का उल्लेख है । मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त होने पर उन्होंने महाकवि शंकर को लिखा था कि यह 'भगवान शंकर, की ही कृपा है ।"

कलकत्ता की खत्री सभा में पं० जी ने बड़ी श्रद्धा से जगदम्बा की स्तुति करके कार्यारम्भ किया था ।

निष्कर्ष यह कि पं० जी की भक्ति भावना, किसी भी सनातनी से कम नहीं थी । जीवन के पग-पग पर वे भगवत्कृपा का अनुभव करते चलते थे । उनका मजहब साहित्य-सेवा था । भक्ति उनके जीवन का संबल थी। इसके अलावा और कोई धार्मिक बंधन उनके विशाल हृदय को नहीं बाँध पाता था । **पण्डित जी का स्वरूप, स्वभाव, सद्गुण और व्यसन स्वरूप**—श्री हरिशरण श्रीवास्तव 'मराल' दयानन्द शताब्दी पर मथुरा में हुए कवि सम्मेलन में पं० जी से मिले थे । वे पं० जी के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"गठीला बदन, मध्यम क़द, भाव भरी काव्य रस-लोलुप आँखें तथा मुख की सरल सौम्य आकृति, ये ऐसी ही बातें थीं जो प्रथम परिचय के समय ही किसी व्यक्ति को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकतीं थीं ।"

[त्यागी, पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ६१]

साधारण सा व्यक्ति ऊँचे दिल और दिमाग का स्वामी–प्रेमचन्द जी पं० जी के विषय में लिखते हैं कि "वे चाय को शरबत की तरह पीते थे। नई सभ्यता की शायद यही एक चीज़ थी, जिसे उन्होंने अपनाया था और सभी बातों में वे पूरे स्वदेशी थे। वेषभूषा में नयापन कहीं छू भी न गया था। जूते भी पुराने ढंग के ही पहनते थे। उन्हें देखकर सहसा यह गुमान न हो सकता था कि यह साधारण सा व्यक्ति इतने ऊँचे दिल और दिमाग का स्वामी है।"

(विशाल-भारत 'अगस्त १९३२, पृष्ठ १५३)

शिष्टाचार–पं० जी में शिष्टाचार कूट-कूट कर भरा था। पं० हरीशंकर शर्मा के चोट लगी हुई थी। पं० जी पं० श्रीराम शर्मा को चौके में खाना खिलाने ले गए। बहुत आग्रह करने पर भी 'आपद्धर्म' की दुहाई देकर पहले पं० श्रीराम शर्मा को ही भोजन कराया, खुद नहीं किया।

(त्यागी : पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ३४)

सेवाव्रत–पं० जी का जीवन सेवा का जीवन था चाहे वह साहित्य की सेवा हो चाहे दीन दु:खियों की सेवा। 'राजा भोज के युग की झलक उनकी प्रतिभा और उनके स्वभाव से प्रकट होती थी। अन्तिम साँस तक वे उसी सेवा-व्रत में रहे। अपने कष्टों को भूलना और दूसरे के कष्ट को दूर करना, यह स्वभाव उनमें तब तक रहा जब तक खून में गरमी रही।"

(पं० श्रीराम शर्मा, त्यागी : पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ३६)

'अर्थपिशाच'–साहित्य सेवियों से मुफ्त काम लेने वाले या नहीं के बराबर देकर काम लेने वाले सज्जनों को पं० जी 'अर्थपिशाच' संज्ञा से अभिहित करते थे। यह उनका प्रिय शब्द था।

(त्यागी : पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ४१)

जलवायु–आगरे की गर्मी से, पटना के मच्छरों से, और कलकत्ता, काशी की जलवायु से पं० जी को बड़ा भय लगता था। पूरब जाने पर उनका स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रहता था।

चाय का सत्कार–चाय तो पं० जी कई बार पीते ही थे। "वे इतने नम्र और सुसभ्य थे कि चाय अकेले ही अकेले पी लेना उनके लिए असम्भव था। सबको पूछते, सबको देते और तब पीते थे। सामने वाले की विनय-प्रार्थना सब व्यर्थ जाती" (त्यागी : पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ४४) चाय को वे 'श्याम पर्णी' कहते थे और जड़ता को दूर कर स्फूर्ति देने वाली महौषधि मानते थे।

मिलने में ताज़गी–महाविद्यालय में पं० जी सवेरे चाय पं० उदित मिश्र के यहाँ पीते थे, जो तुलसी दल से बनती थी। उनके छोटे भाई बलवन्त मिश्र का सितार और भजन सुनते थे। सन्ध्या को मिश्र जी उनके पास पहुँच जाते और घण्टों साथ रहते। उनसे मिलने में 'उन्हें रोज़ ताज़गी रहती थी।'

(त्यागी: पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ४७)

अविस्मरणीय बातें–श्री राजबहादुर लमगोड़ा (रामायणी) लिखते हैं–"उनका प्रेम भरे शब्दों से सम्बोधन करना, हाथ मिलाना और मेरी तुच्छ साहित्य सेवा को अपने भाषण द्वारा प्रशंसित कर मुझे प्रोत्साहित करना.. ये ऐसी बातें हैं जो कभी भुलाये नहीं भूल सकतीं।"

(सैनिक ५-७-१९३८, पृष्ठ १८)

विद्यार्थियों से प्रेम–श्री आत्माराम शास्त्री ने (सैनिक पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ४१ में) लिखा है कि "पं० जी को विद्यार्थियों से स्वाभाविक प्रेम था। एक बराये नाम उन्हें जानने वाले विद्यार्थी ने उनसे कुछ रुपये माँगे। पं० जी न फौरन उसे १०) रु० दे दिये और कहा कि मेरे पास अभी तो इतने ही हैं, और होते तो और दे देता।"

मित्र-वियोग का दुःख–सत्यनारायण 'कविरत्न' की चर्चा होने पर पं० जी की आँखों से टप-टप आँसू टपक पड़े थे। वे चुपचाप बैठे रहे। इससे उनके साथियों को पता चला कि वे कितने सहृदय थे और मित्र-वियोग उन्हें कितना दारुण दुःख देता था।

साहित्यकारों से मिलने का स्वभाव–गोरखपुर साहित्य-सम्मेलन से पं० जी की पार्टी सीधी आने वाली

थी पर अपनी आदत के मुताबिक पं० जी ने "एक सप्ताह बनारस और प्रयाग में मिलने जुलने में ही ले लिया। बनारस में रत्नाकर जी, बाबू श्यामसुन्दर दास जी, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, रायकृष्ण दास जी, श्री जयशंकर प्रसाद जी, कविवर मैथिलीशरण गुप्त जी, प्रयाग में पं० रामजीलाल शर्मा इत्यादि सज्जनों के साथ साहित्य चर्चा से खूब आनन्द आया।"

(सैनिक ५-७-१९३८, पृष्ठ ४३)

बीमारों की परिचर्या-सहृदयता—"संसार में पं० जी को किसी से घृणा नहीं थी।..ऐसे बीमारों का जिनके पास कोई फटकता तक न था, शौच उठाना, कपड़े धोना उनका साधारण काम था। परहेज उनके लिये कोई चीज़ नहीं थी। दुष्टों को भी वे अपनाते थे। उन्हें इस बात की परवाह नहीं थी कि वह उनकी बुराई करता है।..हृदयहीन अथवा दम्भी आदमियों पर और कविता पर कुठाराघात करने वालों पर वे बुरी तरह बिगड़ते थे। ..कविता के सौन्दर्य पर शिशु की तरह भोले और मुग्ध हो जाते थे, पर खरी समालोचना में हित-चिन्तक डाक्टर की तरह कठोर भी।"

(सैनिक : ५-७-१९३८, पृष्ठ ४३)

"सरस्वती के मन्दिर में सहृदय, नेक और भक्त जनों को वे न केवल जाने ही देते थे वरन हाथ पकड़ कर और प्रोत्साहन देकर उन्हें भीतर ले आते थे। धूर्त, ढोंगी और अर्थ का अनर्थ करने वालों पर और अपने अनर्थ पर डटे रहने वालों पर वे सर्वदा खड्ग हस्त रहते थे।"

(पं० श्रीराम शर्मा, त्यागी : पद्मसिंह अंक, पृष्ठ ३१)

मित्रों की विपत्ति में दुःखी-उनसे उत्कट प्रेम, मिलन-लालसा—अपने मित्रों की विपत्तियों में उनका हृदय एकदम द्रवित हो जाता था। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी की पत्नी की मृत्यु पर बड़ी हार्दिक संवेदना का पत्र उन्होंने लिखा था। प्रेम भी उनका अद्भुत था। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी से वे इस बात पर नाराज़ थे कि निष्पक्षता की झोंक में वे अपने छोटे भाई पटे की अच्छी कविता को भी 'विशाल भारत' में नहीं छापते थे। वे आगरे जाकर पटे को ढूंढते-ढूँढते आगरे भर में चक्कर लगा आते थे और बोर्डिंग हाउस जाकर उनसे मिलते थे।

मथुरा में सैंया जी, नवनीत जी और अन्य मित्रों से मिलने में इतना समय लगा देते थे कि साथियों की गाड़ियाँ छूटती ही चलीं जातीं थीं। बरेली में पं० शालग्राम शास्त्री के यहाँ ऐसे डटे कि पं० ज्वाला दत्त शर्मा को चुपचाप बिस्तर उठाकर मुरादाबाद खिसकना पड़ा। उनका प्रेम ही ऐसा अद्भुत था। प्रयाग के हिन्दी प्रेस में पं० राम जी लाल शर्मा के यहाँ जब पं० जी पहुँचते थे, तो आनन्द का जो समुद्र उमड़ता था उसका वर्णन पं० श्री पति लाल दुबे की ब्रज भाषा में सुनिये—

"एक दिन साँझ को समैआ हो। कोऊ आदमी प्रेस में आयौ। वाके उत्तखन हल्ला मचि गऔ। सम्पादक जी आइ गये, सम्पादक जी आइ गये। तू चलि, मैं चलि। सब लोग बागन ने अपनौ-अपनौ काम छोड़दयो। सम्पादक जी शर्मा जी से तो गले लिपट गये। रघुनन्दन जी ब्रिज नन्दन जी ने पैर पकल्लये।"

यह था वह उल्लास जो पं० जी के पहुँचने पर उनके परिचितों में उमड़ पड़ता था। ऐसी गहरी आत्मीयता थी उनके कोमल स्वभाव में। "पं० पद्मसिंह जी सत्य स्नेही थे जिससे भी उनका मिलना हुआ उसी को अपना कर लिया, स्वीयत्व के बन्धन में बाँध लिया।"

(त्यागी : पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ८४)

सुर्ती—"पं० जी सुर्ती (खैनी) भी खाते थे, इसलिए उनसे 'सुरति-सेवन' की दिल्लगी हुआ करती थी।" (त्यागी, पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ८०—पं० झाबरमल्ल शर्मा)।

विनोद-शीलता—पं० जी विनोदशील भी बड़े थे। रसगुल्ले मँगाने के लिए एक मीमांसक पं० जी से वे बोले 'मीन-प्रतिनिधि ले आओ'। अर्थ पूछने पर बताया कि बंगालियों की मिठाई भी उनकी प्रिय मछली की तरह पानी में तैरती है। इसीलिये वह 'मीन-प्रतिनिधि' है। बात-बात में साहित्यिक चुटकी लेकर हँसी के पटाखे छोड़ देना पं० जी का सहज स्वभाव था। "वे केवल

हँसी-मजाक की पुड़िया देकर ही" रोगी को भला चंगा कर देते थे। (त्यागी—पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ २६ पं० शालिग्राम शास्त्री)। उनके ज्येष्ठ पुत्र काशीनाथ गुरुकुल में प्राणायाम करके खूब हृष्ट-पुष्ट हो गये थे। एक मरखने दुबले बैल को वे पं० जी के कहने पर चारा डालने गए। वह अपनी आदत के मुताबिक मारने दौड़ा। उन्होंने पं० जी से कहा कि यह मारता है। पं० जी ने कहा कि 'और क्या वह तुम्हें प्यार करेगा? वह देखता है कि उस का मालिक तो इतना हट्टा-कट्टा है और वह बेचारा इतना दुबला—खाने को भी नहीं मिलता।' विनोद के साथ-साथ प्राणी मात्र के प्रति करुणा की व्यापक भावना भी इस प्रसंग में स्फुट है।

करुणा और स्नेह—"करुणा भरे स्वभाव के कारण वे किसी को भी व्याकुल देख कर तड़प उठते थे। सहृदय विद्वानों को विषम दशा में देख कर उन्हें अपार वेदना होती थी। प्रायः दरिद्रता से पीड़ित साहित्य सेवियों के कष्टों का वर्णन करते-करते उदास हो जाते थे।"

(त्यागी: पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ८७, ईश्वर चन्द्र शर्मा)।

स्नेह वश पं० जी अपने को बिल्कुल भूल जाते थे। पं० ईश्वर चन्द्र शर्मा को काव्य-पाठ करते-करते रात के तारे निकल आए। पं० जी साथ में जाकर दो-तीन मील मायापुर तक चले गये। **'ओदकान्तँ स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः'** का उपदेश भी नहीं माना। वापसी में ईश्वर चन्द्र भी साथ ही ज्वालापुर लौट आये। फिर रात को जाने ही नहीं दिया। ऐसा था उनका प्रेम।

काव्य के अथक श्रोता—पं० जी को कविता सुनने में कभी ऊब नहीं होती थी। हरदुआगंज में "पं० शंकर लाल जी शर्मा की बगीची में मण्डली बैठती थी। रात के ग्यारह-ग्यारह बजे तक कविता पाठ होता रहता था। उस समय सम्पादक जी बार-बार तकाज़ा करने पर कहीं उस सभा को बरखास्त करते थे।"

('त्यागी: पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ७—पं० हरिशंकर शर्मा)

असौड़ा, हापुड़ में कवि गोष्ठियाँ तो अक्सर हुआ करती थीं। मुँशी अजमेरी, श्री मराल, महाकवि शंकर, सभी की काव्य-सुधा का पान वहाँ छक कर हुआ था।

आर्थिक चिन्ता से मुक्त प्रकृति—"द्रव्यात्मक मूल्य की पं० जी ने कभी परवाह नहीं की हालाँकि उनकी जैसी आर्थिक स्थिति वालों को झख मारकर ऐसा करना ही पड़ता है। वह सहृदय साहित्यिक या विद्वान् हो क्या जो कौड़ी का गुलाम बना दर-दर नाचता फिरे। वह सरस्वती ही क्या जो पैसे से खरीदी जा सके।"

('त्यागी, पद्मसिंह अंक, पृष्ठ ६६, स्वामी सहजानन्द)

मित्रों को पुस्तकें भी पं० जी अपने खर्च से भेज देते थे। छपे हुए फार्म अपरिचितों को भी पुस्तक का पात्र जानकर उनके पास भेज देते थे। मित्र मंडली के साथ खाने-पीने का खर्च अपनी जेब से ही करते जाते थे। आर्थिक उदारता उनके स्वभाव का अङ्ग थी। वे एकदम स्वतन्त्र स्वभाव के थे। आर्थिक बंधन उन्हें कभी बाँध कर नहीं रख सके।

शील-स्वभाव—पं० बालकृष्ण मिश्र लिखते हैं कि "आपका वह शील-स्वभाव, वह वचनस्निग्धता, वह स्वभाव की कोमलता, जब स्मृति में आती है, उस समय आत्मा अचेत होकर, शोक सागर की तरङ्गों में बहने लगती है।"

('त्यागी: पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ५८)

बिना बुलाये भी जाने वाले—पं० जी साहित्यिक मित्रों के साथ आयोजनों में बिना निमन्त्रण भी पहुँच जाते थे। मानापमान का ख्याल नहीं करते थे। १९२७ में गुरुकुल में प्रेमचन्द जी के साथ वे ऐसे ही चले गये थे।

लिखने की लहर—"लिखने की पं० जी को लहर सी आती थी। तब वे रात-रात भर लिखते रहते थे।"

(सैनिक: ५-७-१९३८, पृष्ठ १३)

सस्वर पद्य के प्रेमी—शर्मा जी के पास सस्वर पद्य कहने वाला कोई-न-कोई अवश्य रहता था। एक ठाकुर साहब सतसई के दोहे अच्छी तरह पढ़ते थे। "वे दिल्ली में पण्डित जी के साथ तीन-चार महीने तक रहे।"

(सैनिक: ५-७-१९३८, पृष्ठ १२)

बदपरहेजी—पं० जी मिठाई और अच्छे भोजन के शौकीन थे। हरदुआगंज में बीमार होने पर भी रेल में उन्होंने काशीनाथ से मिठाई मँगाकर खा ली। सन् १६२१ की 'संग्रहणी' में भी पं० जी बदपरहेजी कर लेते थे।

स्वाध्याय शीलता—पढ़ने का तो पण्डित जी को रोग ही था। इसे वे भस्मक रोग कहते थे। संग्रहणी की बीमारी में भी पुस्तकों की वी० पी० आती रहती थी और खुद न पढ़ सके तो दूसरों से पढ़वा कर सुनते रहते थे। पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने का तो नित्य का नियम था। उनका पुस्तकालय विविध भाषाओं की पुस्तकों का भंडार था। इसे अब क० मु० हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्व-विद्यालय ने खरीद लिया है।

घर से महीनों बाहर—साहित्य-सेवा में पण्डित जी घर से महीनों बाहर रह जाते थे। कलकत्ते में 'पद्म पराग', 'प्रबन्ध मञ्जरी' छपाने गये तो ८ महीने बाद घर लौटे।

आलोचना के प्रति सहिष्णुता—कुछ लोगों की मात्सर्य-जन्य आलोचना का भी पण्डित जी को सामना करना पड़ा था। उनके साथी यदि उत्तर देना चाहते थे तो वे मना कर देते थे। कभी उत्तर भी दिया जाता था तो पण्डित जी का कहना था कि 'गधे को धँगना बाँध कर छोड़ दो, टाँग मत तोड़ो।' पं० किशोरी दास वाजपेयी ने 'संजीवन भाष्य' की कुछ आलोचना 'माधुरी' में की थी। पं० जी ने एक पत्र में लिखा था कि बाजपेयी जी बिहारी की सतसई को अलंकार-विहीन लेडी साबित करना चाहते हैं। अपनी आलोचना के लिये वे बड़े सहिष्णु थे। गलती होने पर सुधार भी कर लेते थे। किन्हीं ठाकुर लक्ष्मण सिंह की आलोचना पर 'मंगल बिन्दु सुरंग' वाले दोहे की व्याख्या में उन्होंने 'बिहारी की सतसई' प्रथम भाग के तृतीय संस्करण में सुधार कर दिया था।

सामाजिक, राजनैतिक विचार— सामाजिक, राजनैतिक जीवन में ढोंगी लीडरों से उन्हें अरुचि थी। वे लाला लाजपतराय के विचारों के समर्थक थे। गाँधी जी के मुस्लिम पक्षपात के रवैये के विरोधी थे। हिन्दू संगठन में आस्था थी। अपनी तगा बिरादरी को बिहार की भूमिहार बिरादरी से जोड़ने के लिये एक शादी असौड़ से बिहार में उन्होंने कराई थी। वे बिरादरी को भी व्यापक बनाना चाहते थे।

प्रोत्साहन और दाद देना–नवयुवकों को प्रोत्साहन और श्रेष्ठ कृतिकारों को दाद देना उन्हें बहुत प्रिय था। प्रेमचन्द, सत्यनारायण 'कविरत्न', बालकृष्ण राव, डा० राजेन्द्रप्रसाद, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० हरिशङ्कर शर्मा, पं० श्रीराम शर्मा प्रभृति अनेक विद्वानों, साहित्यकारों, लेखकों को पं० जी ने अपने प्रोत्साहन पूर्ण अभिमतों से आगे बढ़ने का हौसला दिया। महाकवि अकबर, हाली, शङ्कर आदि उनकी सखुनफहमी और दाद के लिये उत्सुक रहते थे।

निराली शैली–पं० जी की भाषा शैली अपने ढंग की निराली थी। उसकी प्रभावोत्पादकता बेजोड़ थी। 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी' में इन तीनों भाषाओं के अलग-अलग रंग, पं० जी के इन भाषाओं पर पूर्ण अधिकार का परिचय देते हैं। व्याकरण, लिंग की शुद्धियों पर उन्होंने प्रतिपद पर हिन्दी गद्य का मार्ग-दर्शन किया। लिपि के बारे में भी अपना विचारपूर्ण अभिमत वे देते रहते थे।

वीर-सतसई–श्री वियोगी हरि की 'वीर सतसई' पर मंगला प्रसाद पारितोषिक का निर्णय उन्होंने 'रंग भूमि' के मुकाबले में दिया था। वे 'वीर सतसई' को स्थायी मूल्य की चीज़ समझते थे। रङ्ग भूमि' को सामयिक। उनके निर्णय गम्भीर विचार पर आधारित होते थे।

'सुधा' आदि के साहित्यांकों का सम्पादन–'सुधा' 'विशाल भारत', 'स्वतन्त्र' के साहित्यांकों का सम्पादन उन्होंने बड़ी कुशलता से किया था। हिन्दी संसार में इन अंकों का बड़ा स्वागत हुआ था।

कलकत्ते का हिन्दी साहित्य सम्मेलन—कलकत्ते के हिन्दी सम्मेलन को सफल बनाने के लिये वे वहाँ के

स्थानीय कार्यकर्ताओं को सतत प्रेरणा देते रहे थे। मुन्शी अजमेरी की योग्यता का वहाँ उपयोग न हो पाने का उन्हें खेद था। पर सम्मेलन की सफलता से उन्हें अतीव प्रसन्नता हुई थी।

रवीन्द्र से भेंट—रवीन्द्रनाथ टैगोर से उन्होंने १६२६ में शान्ति निकेतन में भेंट की थी। वहाँ हिन्दी चेयर बनाने के लिये विश्वकवि से उनका परामर्श हुआ था। 'विश्व भारती' में हिन्दी के प्रवेश के लिये पं० जी बहुत प्रयत्नशील रहे थे। सम्वत् १६८६ के शारदोत्सव में पं० जी ने नटराज रवीन्द्र का अभिनय भी देखा था।

अन्तिम दिनों की चिन्ता—अन्तिम दिनों में उनकी पत्नी दुर्गावती[1] का स्वास्थ्य सन् १६३०–३१ में बहुत खराब रहा। इससे पं० जी बहुत चिन्ता-ग्रस्त रहे। पर भगवत्कृपा से वे स्वस्थ हो गई थीं। श्री कल्याण सिंह वैद्य को लिखे १०–२–३१ तथा २३–२–३१ के पत्रों में पं० जी ने इस विषय में अपनी विशेष चिन्ता और निरुत्साह व्यक्त किया है।

परिवार—पं० जी के परिवार में इस समय उनके कनिष्ठ पुत्र पं० रामनाथ जी नायक नगले में रहते हैं।

स्व० काशीनाथ के पुत्र-पौत्र भी हैं। रामनाथ जी के भी तीन पुत्र हैं। पं० जी के दौहित्र श्री रमेशचन्द्र शर्मा मसूरी में इलाहाबाद बैंक में सुपरवाइजर हैं। बेटी आनन्दी देवी का स्वर्गवास हो चुका है।

प्लेग—७ अप्रेल १६३२ को प्लेग से पीड़ित होकर पं० जी का देहावसान हो गया। नायक नगले में प्लेग फैलने पर भी उन्होंने गाँव नहीं छोड़ा। ग्रामवासियों की सेवा में वे लगे रहे और अपने प्राणों की आहुति दे दी। इस तरह [2]"एक सरल स्वभाव सीधे-साधे, अहम्मन्यता रहित विद्वान् साधु" का जीवन दीप-असमय में ही बुझ गया। हिन्दी का मन्दिर इसकी प्रतिभा-प्रभा से सहसा ही वंचित होगया।

चले गये सौजन्य मूर्ति तुम,
वहाँ जहाँ थे सत्य नरायन।
भीमसेन गणपति शास्त्री थे,
जहाँ प्रतीक्षा में रत प्रति क्षण॥

यहाँ तुम्हारे जाने से यह,
हिन्दी का आँगन सूना है।
सुन कर किसका प्रोत्साहन अब,
होता कवि का मन दूना है॥

कौन सुनेगा रस में डूबा,
सुन्दर काव्य पंक्तियाँ सस्वर।
कौन पिला कर प्रेम-सुधा निज,
हर लेगा मन का दुःख सत्वर॥

ईश तुम्हारी पुण्यात्मा को,
दें स्वर्गीय शान्ति चिर अक्षय।
हिन्दी के मस्तक की बिन्दी,
बन कर तुम चमको नित द्युतिमय॥

रमेश चन्द्र दुबे
एम० ए० (हिन्दी–संस्कृत),
एल–एल० बी०,
साहित्यचार्य, साहित्यरत्न,
पी० सी० एस०।

ए–६० गांधी नगर,
मुरादाबाद।
ज्येष्ठ पूर्णिमा, ४ जून, १६७४।

१. 'चतुर्मुख', मासिक, वाराणसी, के पं० पद्मसिंह शर्मा स्मृति अङ्क के पृष्ठ २ पर पं० जी के सुपुत्र पं० रामनाथ शर्मा के पत्र के आधार पर यह सूचना दी गई है कि पं० जी की धर्म-पत्नी का नाम 'शिवरानी देवी' था। पं० जी उन्हें 'दुर्गावती' कहते थे। इसी तरह उनकी माता जी का नाम 'चन्नन देवी' था। पं० जी उन्हें 'अन्नपूर्णा' कहते थे। प्रस्तुत लेख में माता जी का नाम रामा देवी, पं० शिवचरण, पँजनिया के लेख के अनुसार लिखा गया था। पाठक सही नाम 'चन्नन देवी', 'अन्नपूर्णा' नोट कर लें। वे बिजनौर के महुवा ग्राम में जन्मी थीं। 'शिवरानी देवी' सीकरा बुजुर्ग (बिजनौर) के प० रामविलास राम की सुपुत्री थीं। उनके पौत्र पं० बुद्धिसेन शर्मा, सीकरा बुजुर्ग में मौजूद हैं।

२. सैनिक, पद्मसिंह अङ्क, पृष्ठ ३२—परिपूर्णानन्द वर्मा।

पं० पद्मसिंह शर्मा की जीवनी–

बिखरे सिमटे सन्दर्भ

श्री रमेश चन्द्र दुबे

पं० पद्मसिंह शर्मा के जीवन के अनेक संदर्भ 'त्यागी', 'सैनिक', 'विशालभारत' के पद्मसिंह अंकों में, तथा 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' नाम से प्रकाशित उनके पत्रों में, बिखरे पड़े हैं। इनको उनकी जीवनी में समेटने के प्रयास में " 'काव्य कुटीर–वासी की राम कहानी" शीर्षक निबन्ध बहुत लम्बा हो गया। फिर भी बहुत सारे संदर्भ छूट गए। इन संदर्भों का अनुल्लेख तस्वीर को कुछ अधूरा सा छोड़ देता है। अत: पं० जी की ज़िन्दगी की पूरी तस्वीर की इन शेष पेन्सिली रेखाओं को भी हम यहाँ हलके से उतार देना चाहते हैं। इन पर रंगीन तूलिकाओं का हाथ फिर कोई भी फेर देगा। सहृदय जन तो स्वयं ही इन रेखाओं को देखकर अपने मानस-पटल पर उस चित्र का पूर्ण विम्ब आकलित कर लेंगे। विस्तार भय से यहाँ केवल उपरोक्त पत्रों और पुस्तक के नामोल्लेख के साथ पृष्ठ-संख्या और विषय का संकेत ही किया जा रहा है। 'राम कहानी' वाले लेख के पूरक तथ्यों की यह विवरणिका मात्र है।

१–साहित्यकारों से सम्पर्क-परिचय –'पद्मसिंह शर्मा के पत्र'–पृष्ठ ८०–सुमित्रानन्दन पन्त, ६३ नवनीत चतुर्वेदी १०७ गुरुभक्तसिंह, १०० सतीशचन्द्रराय, १०१ भवानीचरण राय, ५५ अवध उपाध्याय, १६१ बद्रीनाथ वर्मा, विहार, बाबू गोकुलप्रसाद–मंगलाप्रसाद पारितोषिक के दानदाता, ४५, ६५, २०६, ११५, ५१, ५५, ५७, ५८, ६०, ६१, ७६, ८८ सत्यनारायण कविरत्न, २·६, अकबर, २३१ चकवस्त, १००, १०२ मेहर वेदान्ती (१४-१-१६३१), २५१ राजेन्द्र प्रसाद, २४६ शर्मा जी पर प्रेमचन्द, **'त्यागी'** पृष्ठ ७३ महावीरप्रसाद द्विवेदी, **'सैनिक'** पृष्ठ ४७, अकबर, ग़ालिब पढ़े।

२–सम्मेलन के सभापति-पद के योग्य साहित्यकार–'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' पृष्ठ २०१, ६१ – भरतपुर सम्मेलन–द्विवेदी जी, ६२ ओझा जी, १०२ वाजपेयी जी, १७८ सभापति पद के लिए योग्यता, साहित्य सेवियों की कद्र, १६८ ओझा जी।

३–अकबर की समाधि पर–''पद्मसिंह शर्मा के पत्र' पृष्ठ १६२।

४–कवि-सम्मेलन, कविता-पाठ, कवि-गोष्ठियाँ–'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' १६, ६, ७–असौड़े में शंकर जी, मुंशी अजमेरी, रामनाथ का विवाह, ३२ मेरठ कवि-सम्मेलन पढ़े-लिखे हुरदंगों का हुल्लड़, ४१, ४३ असौड़े के कविसम्मेलन पर (१७-२-१६२६), रामनाथ के विवाह में जरूर आओ–हरिशंकर शर्मा, (११-;-१६२६) २१५ दयानन्द जन्म शताब्दी पर मथुरा। **'सैनिक'** पृष्ठ १= कवि और कविता–दास का छंद (उदित मिश्र), ११ 'दाद' शब्द शर्मा जी की याद दिलाने को काफी हैं, दिल्ली में 'गंगावतरण'–विवाह की वेदी पर सत्यनारायण 'ग्रामीण' का कविता पाठ (उदित मिश्र) ३७ रद्दी कवि सम्मेलन–प्राचीन कविता। **'त्यागी'** पृष्ठ ८१–देहरादून हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कवि दरबार (पं० झाबर मल्ल शर्मा) पृष्ठ ४, ६४, ७४, ७५ काव्य के अथक श्रोता (हरिशरण श्रीवास्तव 'मराल', रामावतार शास्त्री), ६४ असौड़ा, २८, कालाकाँकर।

५–अच्छा भोजन प्रिय–चाय, संग्रहणी–'सैनिक' पृष्ठ ५० मिलक सोडा के कारण रिटर्न टिकट से 'एलर्जी', ८

संग्रहणी में बदपरहेज़ी–मिठाई का पार्सल, १३ काशीनाथ से रेल में मिठाई। 'त्यागी'–पृष्ठ ७६–वैद्य हरिशंकर जी शास्त्री को संग्रहणी ठीक करने का सर्टिफिकेट, ७७ चाय श्यामपर्णी के गुणों का वर्णन, बंगला वैद्यक ग्रंथ के श्लोक।

हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी पर लेक्चर–'पद्मसिंहशर्मा के पत्र'–पृष्ठ ६५ रामनाथ की माता की बीमारी के कारण लेक्चर कैसे लिखा जाता (१६-१-१६३१), ११७, ११८–रात के दो बजे हैं, १५, २० दिन संकट के हैं। (१६-२-१६३२), ११६ लैक्चर तैयार, फेयर कापी–२०० पेज, ५-३-१६३२ को होगा, १६२ (२६-६-१६३०, पं० ज्वालादत्त शर्मा को) ऐकेडमी ने लेक्चर का निमन्त्रण दिया है। सफलता के लिए चण्डी पाठ कर दीजिए–२११ (३-११-१६३१), लेक्चर अब जनवरी में होगा। **"सैनिक"** पृष्ठ ४१–सभा विसर्जित होने पर प्रशंसा, बधाई, मुसलमान सज्जन वक्ता का नाम पूछ रहे थे–शमशेर बहादुर सिंह।

साहित्यिक व्यस्तता और भ्रमण में घर से महीनों बाहर–"पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र"–पृष्ठ ५७ सापेक्ष परदेशी–तीन महीने बाद, १२१ (२१-३-१६३२) आठ महीने बाद गाँव लौटा हूँ, १२२ आठ महीने बाद, १२३ (संवत् १६८५ सन् १६२८) आठ नौ महीने बाद आया हूँ, पूरे तीन महीने हो जायेंगे–२४-१०-१६२६ को, १७० १८६ श्रावणी, जन्माष्टमी भी सब यहीं बीत गई, कलकत्ते में स्वास्थ्य खराब, वायु मण्डल कहाँ से लाऊँ।

मात्सर्य जन्य प्रतिकूल आलोचना पर पं० जी की प्रतिक्रियायें–"सैनिक" पृष्ठ ५८–पं० श्रीपति लाल दुबे को, आलोचना का उत्तर मत दो, २१ 'मंगल बिन्दु सुरंग' की टिप्पणी पर ठाकुर लक्ष्मण सिंह की सही आपत्ति-तृतीय संस्करण में सुधार, ४५, ३८ प्रयाग के 'भारत' में कटु आलोचना, भूंकने वाली कुतिया की कहानी, ३१ 'सतसई' चरित्र पर बुरा असर डालने वाली–इसका उत्तर–शृंगार-नवरसों में प्रधान–साहित्यिक वृद्धि के लिहाज से भाष्य, आलोचना–बातें तिनक कर कहीं। **"पद्म सिंह शर्मा के पत्र"**–पृष्ठ २१५ मुँह से कुछ न बोल-'माधुरी', ११० उछलती-कूदती भाषा–चेले-चाँटे– साहित्यिक दलबन्दी, ७६ मतवाले का नोट २६-१-१६३२, २१२ श्यामसुन्दर दास ने इधर-उधर से कुछ लिखा है, २४३ 'देवियों पर हाथ डालना'–इस पर मुकदमा १३६, १३७ किशोरीदास बाजपेयी की आलोचना–'सतसई' अलंकार-विहीन लेडी, १०८ 'भारत'। **"त्यागी"** पृष्ठ ८८, मंखक, देव कवि की प्रशंसा–बिहारी से पक्षपात नहीं।

पत्नी की बीमारी-स्वयं की अस्वस्थता–"पद्मसिंह शर्मा के पत्र'–पृष्ठ २२८ बहुत अस्वस्थ हूँ। पत्नी ५-६ महीनों से बीमार (१४-२-१६३१), १६० बीमार। (७-४-१६३०), १०२ लिख नहीं सकता (२२-६-१६३१), १०८ मेरा स्वास्थ्य अभी ठीक नहीं, ६५ मानसिक दशा निर्बल (१६-१-१६३१) २० वियोगी हरि के ३-१२-१६२७ के पत्र का देर से दिया गया उत्तर–चिन्ताओं ने चित्त को बेचैन कर रखा है। लिखने-पढ़ने का उत्साह नष्ट, २५४ इतिहासकारों का अन्याय–अध्यापकों का अज्ञान (श्रीराम शर्मा), २४१ शर्मा जी के एक-एक गुण पर पृथक्-पृथक् निबंध की आवश्यकता।

सामाजिक–राजनैतिक–"पद्मसिंह शर्मा के पत्र—पृष्ठ २१५-२१६ लाला लाजपत राय, हिन्दू सभा, कलकत्ता, १५७ समाज और परिस्थिति, ५१ स्वाँग धारी लीडरों से, ५२ पं० बनारसी दास चतुर्वेदी की प्रवासी यात्रा के कष्ट पर मनस्ताप, ५६ लीडर ७० महात्मा नहीं–तिलक ७३ लीडरी–तिजारत, ८४ स्त्री-शिक्षा, ८८ महात्मा गाँधी–गीता १४२ बिरादरी के वीरों ने–सहजानन्द, १४५ रघुबीर नारायण सिंह (असौड़ा) से मिले, १६८ गुरुवर मुरारीलाल–बुड्ढे का ब्याह-विरोध, १७१ मुरारी लाल याद आते हैं (१०-१२-१६३१), १६८ ग्राम्य जीवन, मित्रों को आमंत्रण, ६८ देश में महत्वाकांक्षा, प्रतिष्ठा-लोलुपता का दौरात्म्य, २०७, २१८, २१६ महाविद्यालय पर लेख, संस्मरण २ तगा बिरादरी (पारस नाथ सिंह को प्रस्ताव) १५ व्यक्ति से वैनमस्य की आशंका हो तो लेख का अंश काट दें। **"त्यागी"** पृष्ठ ७२ अनासक्ति

योग पर, ७१ अस्पृश्योद्धार **"सैनिक"** पृष्ठ ४४ स्वदेशी का व्रत १६०३– लाहौर से, १५ महाविद्यालय को सहायता–कलकत्ते से, १३ मालवीय जी, लाजपत राय के भक्त, ४६ भोजन का प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं, ४० आर्य समाज–जाति की सभाओं में जाना उचित, वैद्यनाथ धाम का उत्सव, १२ पेशेवर लीडर–एक देवी जी। **"विशाल भारत"**–पृष्ठ १८८ काश्मीर हिन्दू राज्य–मालवीय जी १५४ हिन्दू-मुस्लिम पृथकता का भाव–प्रेम चन्द।

संस्थाएँ, साहित्य जगत्–**"पद्मसिंह शर्मा के पत्र"**–पृष्ठ २३१, २३२, २३६–महाकवि शंकर की वार्त्ता, २३७ मेहर को कविता पुस्तकें भेज दीजिए (१२-१-१६२३), २३३, २३६ तन्मयानुवाद, १३६, १४७ पारस नाथ सिंह के लिए दो विरुद्ध काम–बिड़ला–सेवा, साहित्य–सेवा, १३४ संस्थाओं के उत्सव। १०८, १०६ साहित्यिक दलबन्दी, दम्भगढ़ पर बम्ब का गोला–साहित्य सेवी को राजनीति में नहीं, २०१, ६२ भरतपुर सम्मेलन-साका–बड़े आदमियों की प्रदर्शनी, द्विवेदी जी–'माधुरी', ७८ विपद ग्रस्त की सहायता, ६४ साहित्य सेवियों के जीवन में दुःख ही दुःख भरा है, १०२ गोकुलचन्द का दान १०७ सम्पूर्णानन्द-साहित्य-सेवी का सैनिक बनना उचित नहीं, २२१ अन्त समय में भी साहित्यिक जिज्ञासा का उत्तर-मृत्यु से तीन दिन पूर्व ४-४-१६३२ का पत्र। **"त्यागी"** पृष्ठ ७० संस्थाएँ मार डालती हैं, ४१ रीडरबाज़ी। **"विशाल भारत"** पृष्ठ २१५ हिन्दी जगत् से निर्विण्ण।

भक्ति—**"पद्मसिंह शर्मा के पत्र"** पृष्ठ ५६ लमगोड़ा ८४ भरत की तरह, महात्मा गाँधी–रामचन्द्र जी, २४२ शंकर भगवान् की कृपा।

भाषा, लिपि, लिंग, शैली, विविध प्रसंग—**"पद्मसिंह शर्मा के पत्र"** पृष्ठ २२०, २२१ ब्रजभाषा-कविता में ध्यान देने की बातें, ८२ लैम्प को स्त्रीलिंग का लँहगा' ६६ व्याकरण की शुद्धता, १०३ नुकता उठा देना चाहिए ११३ 'आलोक' शब्द का गलत प्रयोग, विशुद्ध भाषा ज्ञान, 'बगल' का लिंग, १३५ अशुद्धियाँ, १७४ 'तलाश' 'झंझट' का लिंग, १७५ 'पीतल', 'कोश'-लिंग-लोक व्यवहार, १७५ १७६ 'झंझट'-लिंग, १७८ हिन्दी लिंग विचार (पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी) पर दाद, २०३ शब्द–शुद्धि-सम्पादक, १८० 'मेवा' स्त्रीलिंग २२५ सम्पादकों को इसलाह का रोग। **"सैनिक"** पृष्ठ २५ लिंग, २६ लिपि, ४३ अंग्रेजी पढ़ सकता था, ३१ मासिक पत्रों पर राय, १३ उर्दू सम्मिश्रण १७ वाणी में वागमृत-नाटे क़द-तेज़ चाल, २१, ४८ 'भारतोदय-'सद्धर्म प्रचारक-संघर्ष, रामचन्द्र शर्मा वैद्य-अवनीन्द्र विद्यालंकार।

"विशाल भारत"पृष्ट २३७ शैली निर्माता, २२४ फारसी के फाज़िल, २२८, २३५ महाशिवरात्रि के व्रती-परमज्योति लीन। **"त्यागी"**-पृष्ठ ५५, ५७, भाषा शैली, ५८ संस्कृत शैली-वक्तव्य, ५६ शैली, ७३ 'भारतोदय' 'सद्धर्म-प्रचारक'–संघर्ष, ८० चतुर वार्ता, ८१ मौज में लिखते थे।

"स्वभाव, सद्गुण"—**"त्यागी"** पृष्ठ ६१ गुणग्राहकता, मिलनसारी, ७१ जेल में मित्र सहजानन्द को पुस्तकें भेजीं, ६१ अच्छे लिपिकार, ६६ सहृदयता–बिना परिचय पुस्तक प्रेषण, कविता पाठ प्रिय, द्रव्यात्मक मूल्य की परवाह नहीं, १२ कीर्तिरक्षा, प्रोत्साहन, ५६ गुणग्राही, अद्भुत साहित्य रसिक, रामजीलाल शर्मा के शोक में रो पड़े, ६१ प्रथम परिचय में प्रेम, ८७ संस्कृत के लिए प्रतिकूलता का वातावरण, करुणा **६१**–स्वरूप-गठीला बदन, ७० स्वतन्त्र प्रकृति, ५७ जनमनोरंजन-संलाप शक्ति, ५८ शील स्वभाव, ६७ सौम्य, सौजन्य, ६८ आस्तिक, ८६ ईश्वर चन्द्र शर्मा को तीन मील पहुँचाने साथ गए, फिर दोनों लौट कर वापस, ८४ सत्यस्नेही, २३, २४ काव्य श्रोता, ५१ दिल के पाक, नीयत के साफ ३१ 'विद्वानता' की बहिन 'महानता' की फबती ८१ 'सुरति-सेवन' ३४ शिष्टाचार, ३६ राजा भोज के युग की झलक, ४३ नम्र स्नेही, कृपालु (उदित मिश्र), ४४ फराखदिली, ४७ अजब आज़ाद मर्द, १८ बोलचाल-स्मित पूर्वाभिभाषिता, २२ "कागज़ पै रख दिया है कलेजा निकाल के" २६,

हँसी मज़ाक की पुड़िया देकर, मस्तिष्क विचित्र, हृदय विशाल, ८५ रसगुल्ला–'मीन प्रतिनिधि' २६ तैराक और गोताखोर।

"पद्मसिंह शर्मा के पत्र" पृष्ठ ४२ 'जनाब बेताल की ख्याति लिप्सा-व्यर्थ बढ़ावा, ४४ छायावादी का लेख-शंकर जी 'सरस्वती काल' के कवि- क्षोभ ४५ पत्र हजम करने की आदत अच्छी नहीं, ११ सहृदयता के हाथों तंग हूँ, १३ लेख की कापी नहीं होती, १० "न वैरमद्दीपयति प्रशान्तम्" १६ (काँगड़ी) छोड़ना चाहते हैं। (६-१२-१६२६) २८ मेरे पास भी प्रेमी का दिल है-मनस्विता-मित्र के लिये भीख, ३४ गरमी से तंग-ज्वालापुर की ज्वालायें २१३ "आगरे में आजु कालिह आगि बरसति है" ६० जीवन में दो बार मिल भेंट लें-पेशगी नहीं लिखा जाता, २४०, २४१ शंकर जी की कविता का पाठ प्रिय, १५८ सहृदयता-करुणाजनक वर्णन पढ़ कर रोना, १३०, १३१ मेरी निन्दा स्तुति सदा यथार्थ ही होती है-न दोषैकदृक् न गुणैकदृक्, २०८ हट्टा कट्टा हेडमास्टर-विनोदशीलता २०५ भीमसेन शर्मा दुलाई नहीं लाये-जाड़ा लगने की चिन्ता, १६२ कल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली'-उपकार; ६१ पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की पत्नी की मृत्यु पर सहानुभूति भरा पत्र-(१४-१०-१६३०), १०५ साहित्य और संगीत के आकर्षण की तुलनात्मक परीक्षा, २०६ ब्लाकटानन्द, जुकाम—

नाक से बहता है मेरी दोस्तेमन दरियाये गंग।
सिर मेरा क्या आज यह कैलास पर्वत हो गया॥

सांख्य तीर्थ का विवाह–पृष्ठ १३६ विवाह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। १८२ तोंद फड़क जाती १८४ 'शंकर' जी को लाना स्थावर को जंगम करना–चुप्पी, सबब, वजह कारण हेतु आखिर कुछ तो बतलाइये, १८८ 'भेड़िया-धसान' पसन्द आई-जो है सो सिर धुन कर सराहना।

"सैनिक" पृष्ठ १५,१६ उदार, सहृदयता, मजहब साहित्य–सेवा, ४६ बिना निमन्त्रण प्रेमचन्द के साथ गुरुकुल में, १३ रात भर लिखना, ३२ काम लायक चीज़ नहीं तो परिपूर्णानन्द वर्मा को लेख नहीं भेजा, २ दूसरों का व्यय महीनों उठाना, १६ चतुर्वेदी जी से शिकायत, भाई 'पटे' की कविता 'विशाल भारत' में नहीं छापते थे, १२ आजाद, २० लेख लिखते जाते थे, कम्पोज़ होता जाता था, १३ सूक्ति सिन्धु, २८ प्रेम का स्वभाव, १६ सम्बन्ध अमर, ६ साहित्य रसिक, आस्तिक, २ हृदय, १६ सहृदयता, विनोद शीलता, ३८ आलस्य-निरालस्य।

प्रोत्साहन-दाद देना—"सैनिक" पृष्ठ **२४ बाल कृष्ण राव** की **'कौमुदी'** की प्रशंसा १८ लमगोड़ा–मेरे शिष्य श्रीराम शर्मा सत्य कहते हैं—पण्डित जी सहृदयता युक्त प्रोत्साहन द्वारा साहित्य-सेवी उत्पन्न करते थे, ३६ बीसियों उनके बनाये लेखक अनाथ, ४१ शमशेर बहादुर सिंह की कविता और शायरी पर प्रोत्साहन ४५ 'निरुत्साह न करो' का सिद्धान्त।

पद्मसिंह शर्मा के पत्र—पृष्ठ १६, २० 'वीर सतसई' पर बधाई–भावोद्रेक, १०० सम्मेलन का वर्णन,–दर्शक लेखक को मालूम करके बधाई, १७७ ब्रजभाषा–सिंहाव-लोकन पर दाद, २२२, २२३ मोहन लाल महतो 'वियोगी के 'इकतारा', 'निर्माल्य' पर प्रोत्साहन, छायावादियों में आपका लिखने का ढंग अभिनन्दनीय है, १०२ सुनीति कुमार चटर्जी की प्रशँसा, ३७ साहित्यिक विनोद पर हरि शंकर शर्मा को दाद, ६२ चिड़ियाघर की चर्चा खूब ८२ लेखक (पुष्य मित्र, अग्निमित्र पर लेख के) उनको बधाई, ६२, ६३ हरिशंकर शर्मा, श्रीराम शर्मा के कृतित्व की प्रशंसा, ६६ जयचन्द्र जी का लेख अच्छा–पारसनाथ जी की भूल मज़ेदार, १५८ प्रवासी भारतवासी–साधुवाद ८६,६० 'आकाशदीप' की समालोचना अच्छी, बहुत से सज्जनों से पढ़ने का अनुरोध, उमराव सिंह चतुर्वेदी का लेख (इनकी 'भाव साम्य' पर पुस्तक हाल में निकली है) सं० ८३ मुरादाबाद के सूफी कवि की प्रशंसा, शेर का उद्धरण, ८१, ८२ मार्च के 'विशाल भारत' और धन्य कुमार जैन की प्रशंसा–तीन बार पीठ थपक दीजिए, ७६ सुन्दर अनुवाद के लिये बधाई ४७,४८ इण्टरव्यू–प्रशंसा का पुलिन्दा–अमरीका

में मूर्खता—अत्युक्ति—आत्म प्रशंसक के दम झाँसे में न आ जाया करो, ४८ बेताल की ख्याति—लिप्सा मत बढ़ाओ, ४१ घासलेटी-विनोद बिन्दु—स्वाद, ६१, ६२ 'फास्ट' पर सम्मति बनारसी दास चतुर्वेदी की प्रशंसा—कीबे साहब की सम्मति—सत्यनारायण का ध्यान।

स्वाध्याय शीलता—**"त्यागी"** —पृष्ठ ७४—रात के तीन बजे तक पढ़ना, २७—संग्रहणी—हिंदी की मोटी सी पुस्तक सिरहाने २८ किताब अखबार वगैरह पढ़े वगैर नहीं मानते ३२ 'प्रताप' में चार-पाँच वर्ष पूर्व प्रकाशित लेखमाला किसने लिखी थी—श्रीराम शर्मा, ३६ संस्कृत प्रसन्न, मधुर ६३, ६४—उस पर झट निशान लगा देते थे—पुस्तक को विद्यार्थी के कोर्स की पुस्तक की तरह पढ़ते थे—निरन्तर स्वाध्याय, ५२ इन्दौर आने पर ईश्वर चण्द्र शर्मा के यहाँ पुस्तकों की पड़ताल, ८१ शर्मा साहित्य कुटीर, १५ 'प्यारे लाल' अंक, विद्यासागर जैसे परोपकारी।

पद्मसिंह शर्मा के पत्र—**"वीर सतसई"** का अध्ययन, रवीन्द्र प्रशंसित कवि ज्ञानदास, ४६ अखबार..को तरस गये, १६८ कई आलमारियाँ ठसाठस भरी हैं, १८१ पढ़ने का भस्मक रोग है—सुन्दर पुस्तक, विद्यासागर अवश्य पढ़ें, १६८ ओझा जी का इतिहास पढ़ना चाहते हैं, खरीदने में अर्थ संकट, २३१ 'शिव सिंह सरोज', 'काव्य प्रभाकर' ध्यान से पढ़ रहा हूँ।

'वीर सतसई'—**'पद्मसिंह शर्मा के पत्र'** पृष्ठ २० ब्रजभाषा का कलंक मिटा रहे हैं, २१ 'वीर-सतसई' की समालोचना, 'ब्रजभाषा में वीर रस' शीर्षक २०, १६-५-(१६२८) का पत्र पाकर प्रसन्नता हुई—पारितोषिक समिति का निर्णय बहुत ही उचित हुआ है।

'सुधा', 'विशाल-भारत', 'स्वतन्त्र' के साहित्यांक—**'पद्मसिंह शर्मा के पत्र'**, पृष्ठ ६७ 'हंस' से 'मुंशी' का भाषण 'विशाल भारत' के साहित्यांक में उध्दृत कीजिए—'साहित्य का ऋण', पारसनाथ जी से रवीन्द्र पर लिखवाइये, ६८ रुद्रदत्त पर साहित्यांक में नोट, ६६ ईश्वरी प्रसाद (डाक्टर) पर नोट, १८३ 'सुधा'—पुरस्कार के लिये कड़ा पत्र १८२ 'सुधा' का विशेषांक, १०१ 'विशाल भारत' साहित्याँक अच्छा—भवानी चरण राय २२-७-३१, १३८ पारसनाथ सिंह, राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह से फोटो—'सुधा' के लिये, ६ 'सुधा' की साहित्य संख्या में पारसनाथ सिंह का प्रश्नोत्तर—छायावाद—अज्ञेय मीमांसा, ६ 'सुधा' का संकट—पछता रहा हूँ—टिप्पणियाँ भेजिए, २३ वियोगी हरि से—'सुधा' के काम में हाथ बटाइये, ७१ 'विशाल भारत' के लिये ग्वाल कवि पर नवनीत जी का लेख, ६१ 'विशाल भारत' के साहित्यांक के लिये कुछ-न-कुछ जरूर भेजूंगा।

अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन—**'सैनिक'** पृष्ठ ४४ छायावाद की आलोचना से रुष्ट नवयुवकों ने रात भर खरी खोटी लिखीं, **'पद्मसिंह शर्मा के पत्र'** पृष्ठ ७, ८, सम्मेलन का सभापतित्व गले पड़ गया (११-५-२८) १६७ साहित्य सेवा-धर्म संगर २४२ सम्मेलन के सभापति का पाश-शंकर जी को लिखा, ६७ रामचन्द्र शुक्ल, श्याम बिहारी मिश्र का हक था १६६ भाषण पत्रों में १८२, १८३ छायावादी २४१ पल्लव-धृष्टता (१६२७), ६८-आगामिनी विपत्ति सम्मेलन, ३६, ४० तूफान, भाषण, निमंत्रण-पण्डित ब्रजनाथ शर्मा गोस्वामी, अनूप शर्मा।

कलकत्ते का सम्मेलन—**'पद्मसिंह शर्मा के पत्र'** पृष्ठ २२८, २२६ मुन्शी अजमेरी, ८६ गांगेय को प्रोत्साहित किया ६३, ६४ सफल बनाइये १०० सफल हुआ, २२७ उद्योग—१४-६-३१, ६-८-३०, २२८ सम्मेलन में नहीं आ सकूँगा। (१३-५-१६३१) २२६ सम्मेलन की रिपोर्ट।

रवीन्द्रनाथ टैगोर—**पद्मसिंह शर्मा के पत्र**—१६, २१, ४६ दो दिन शान्ति निकेतन—६-१२-२६, १२६ रवीन्द्र से भेंट, १५० विश्वभारती में हिन्दी—राजेन्द्रप्रसाद १५१—हिन्दी आन्दोलन, हिन्दी पत्र की वापसी, १८६ शारदोत्सव पर नटराज रवीन्द्र का अभिनय (संवत् १६८६) सन् १६२६।

अकबर की समाधि पर—**पद्मसिंह शर्मा के पत्र**—पृष्ठ १६२।

प्लेग-परिचर्या—पद्मसिंह शर्मा के पत्र–पृष्ठ १२१ प्लेग का नृशंस नाच, २७-३-१९३२ को प्लेग सें बीमार, ४-४-३२ का पत्र, 'सफर' पाठ ठीक है। १८१ तीमारदारी, १५३ अर्द्धांग की परिचर्या श्रेय ६० डेढ़ महीना तीमारदारी में।

उपरोक्त विवरणिका से पं० जी के जीवन के अनेक पहलुओं की ओर दृष्टि जाती है। इन पर पृथक्-पृथक् निबन्धों में विचार करके उनके महिमामय व्यक्तित्व को उजागर करना सम्भव होगा। इन संकेतों से उसकी विशाल क्षितिज के विस्तृत आयामों का कुछ आभास ही हमें मिल सकेगा। उन्हें पूर्णरूपेण हृदयङ्गम करने की उत्सुकता हमें इससे उदित होगी, इस आशा से इन तथ्यों को यहाँ संग्रहीत कर दिया गया है।[1] इत्यलम्।

—ए ९०, गांधी नगर,
मुरादाबाद।
(उ०प्र०)

● ● ●

माँ दुर्गावती तथा अन्य परिवारी जन एवं गुरुजन

--पं० रामनाथ शर्मा, सुपुत्र स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा

पं० पद्मसिंह शर्मा की पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी, मेरी माँ, सीकरा बुजुर्ग (बिजनौर) के धनीमानी-प्रसिद्ध पं० रामविलास राम की सुपुत्री थीं। शिवरानी देवी के दो भाई थे—श्री बलदेव सिंह और श्री हरि सिंह। बल्देव सिंह के पुत्र बुद्धिसेन शर्मा और उनके कई पुत्र पुत्रियाँ विद्यमान हैं। शिवरानी देवी की माता बड़ी ही मृदु स्वभाव की थीं और उन्हीं के समान शिवरानी देवी भी बड़ी ही उदार और दयाशील थीं।

पण्डित जी शिवरानी देवी को 'दुर्गावती' कहकर सम्बोधित करते थे। वे प्रतिदिन नियमित रूप से बड़े सवेरे उठतीं और स्नान, संध्या-वंदन से निवृत होकर शर्मा जी के लिये चाय तैयार करतीं। वे विविध प्रकार के व्यंजन बनाने और पाकशाला के काम में निपुण थीं। पण्डित जी के अनुरूप ही आतिथ्य सत्कार करने में उन्हें सुख मिलता था। पण्डित जी के यहाँ अतिथियों का बराबर ताँता लगा रहता था। ऐसी स्थिति में उनकी पत्नी को दो बजे दिन तक पाक-कर्म से छुट्टी नहीं मिलती थी। बराबर नौकर से अतिथियों के लिये चाय भेजती रहतीं और खिलाने पिलाने की तैयारी में लगी रहती थीं। दिन का आतिथ्य समाप्त होते ही, सायंकाल के आतिथ्य की तैयारी होने लगती और यही क्रम रात तक चलता रहता था। वे सदा इस बात का ध्यान रखती थीं कि किसी अतिथि देव के स्वागत-सत्कार में कोई त्रुटि न होने पाये। पण्डित जी और उनके पिता चौ० उमराव सिंह जी चरखा से कते सूत की खादी, पहनते थे, अस्तु समय निकाल कर उनके कपड़े के लिये सूत भी कात लेती थीं। इस कार्य में उनकी सहायता उनकी सास चन्नन देवी भी करती थीं।

सन्तान–पण्डित जी की ५ सन्तानें-तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। सबसे बड़े पुत्र जगन्नाथ शैशव-काल में ही काल कवलित हो गये। मँझले काशीनाथ शर्मा काव्यतीर्थ विद्या भास्कर, विविध भाषाओं के विद्वान, कवि और लेखक थे। वे अपने पिता के अनुरूप ही गुणवान थे, परन्तु

---

१. चतुर्मुख–वाराणसी-आषाढ़ २०३१ में, पृष्ठ ४१ से पृष्ठ ७४ तक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा संकलित त्यागी, 'विशाल भारत' 'सैनिक' के पं० जी के व्यक्तित्व सम्बन्धी अंश प्रकाशित हैं।

अल्पायु में ही स्वर्गवासी हो गये। इनके दो पुत्र श्री केशवदेव शर्मा और श्री वसिष्ठदेव शर्मा हैं। एक मात्र पुत्री सरला देवी दिवंगत हो चुकी हैं। केशवदेव शर्मा के दो पुत्र नवीन कुमार और श्रवण कुमार तथा तीन पुत्रियाँ रीता, पुनीता, और सुनीता में रीता को छोड़ सभी विद्यमान हैं। पण्डित जी के तीसरे पुत्र का नाम श्री रामनाथ शर्मा है। इनकी सहर्धमिणी भगवती देवी असौढ़ा (मेरठ) ग्राम निवासी श्री आनन्द स्वरूप शर्मा की कन्या एक विदुषी महिला हैं। प्रतिदिन सन्ध्या-वंदन करती हैं। पाक शास्त्र प्रवीण हैं एवं घर-गृहस्थी की सारी व्यवस्था भी करती हैं। श्री रामनाथ शर्मा के तीन पुत्र रवीन्द्र कुमार, सत्येन्द्र कुमार, राघवेन्द्र कुमार एवं कन्या उर्मिला देवी हैं। पण्डित जी की बड़ी पुत्री का नाम कलावती देवी और छोटी का आनन्दी देवी था। आनन्दी देवी को दिवंगत हुये अभी ४ वर्ष हुये। ये दोनों ही मृदु स्वभाव की विदुषी और मिष्ट-भाषिणी थीं एवं नियमित रूप से संध्यादि कर्मकाण्ड में प्रवृत हुआ करतीं थीं। आनन्दी देवी के पुत्र पं० रमेश चन्द्र शास्त्री एम० ए० इलाहाबाद बैंक में अकाउन्टेन्ट हैं। इनकी तीन बहिनों कान्ति देवी, सुमित्रा देवी और शकुन्तला देवी में शकुन्तला देवी का स्वर्गवास हो गया। रमेशचन्द्र जी के तीन पुत्र हैं।

बन्धु-वान्धव-पण्डित जी के छोटे भाई रिसाल सिंह भी सुशिक्षित और विद्वान थे। इनके एक पुत्र नौबहार सिंह और एक पुत्री विमला है, जो सुशिक्षिता हैं। परिवार सम्पन्न है पर उनके पति नतेन्द्र कुमार शर्मा, ग्राम मलेपुरा (मुजफ्फरनगर) स्वर्गीय हो चुके हैं।

शिक्षा-दीक्षा और शिक्षक-पण्डित जी की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई, जिसके लिये उन दिनों की परिपाटी के अनुसार पण्डित और मौलवी रखे गए। संस्कृत और हिन्दी के प्रारम्भिक शिक्षक पं० झब्बूदत्त शर्मा और पं० डालचन्द शर्मा तथा फार्सी के शिक्षक मौलवी अली रज़ा साहब थे, जो उसी गाँव के निवासी थे।

घर पर की पढ़ाई समाप्त होने पर पण्डित जी ताजपुर (बिजनौर) की संस्कृत पाठशाला में भेज दिये गए। यहाँ पं० जीवाराम और पं० हेतराम पढ़ाते थे। इसी पाठशाला में इनके छोटे भाई ने भी शिक्षा पाई थी। ताजपुर स्टेट के स्वामी चौधरी प्रताप सिंह शर्मा ने जो एक समाज- हितैषी विद्वान पुरुष थे, इस संस्कृत पाठशाला की स्थापना की थी। इस पाठशाला में ३०० तीन सौ विद्यार्थियों के पढ़ने और भोजन-वस्त्र की व्यवस्था थी एवं अपने विषय के सुयोग्य शिक्षक रखे गये थे। इस पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करते हुए शर्मा जी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए, जिससे प्रसन्न होकर चौधुरी प्रताप सिंह ने इन्हें पुरस्कृत किया और इनको अपने व्यय से विदेश में शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजना चाहा। इनके पिता श्री उमराव सिंह शर्मा को बुलाकर उन्होंने जब अपना उक्त मत व्यक्त किया तो उमराव सिंह ने कहा--क्षमा कीजिए, मैं अपने लड़के को संस्कृत पढ़ने के लिये काशी भेजना चाहता हूँ और उसका व्यय भार स्वयं उठाने में समर्थ हूँ। अस्तु ताजपुर से वे काशी भेज दिए गए।

महर्षि स्व० दयानन्द जी सरस्वती के प्रसिद्ध विद्वान शिष्य इटावा निवासी पं० भीमसेन शर्मा वेदाचार्य से इन्होंने अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। काशी में इनके गुरु दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान पं० काशीनाथ जी पांडेय थे। इन्हीं के कहने से दर्शनानंद जी (गृहस्थी का नाम कृपाराम) ने पं० काशीनाथ जी को ज्वालापुर महाविद्यालय (हरिद्वार) में बुलाया था। पण्डित जी में अगाध गुरुभक्ति थी। वे गुरुजी को साष्टाँग दण्डवत करते थे। स्वामी शुद्ध बोध तीर्थ (गृहस्थी का नाम गंगादत्त शर्मा) पं० जी के गुरुभाई (पं० काशीनाथ जी के शिष्य) और गुरु भी थे।

('चतुर्मुख' वर्ष १२, अङ्क २,
पृष्ठ सख्या २, ३ से साभार)
नायक नगला (बिजनौर)।

द्वितीय खण्ड

[आचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा के साहित्य से सङ्कलन]

पण्डित श्री सत्यनारायण कविरत्न

—पं० पद्मसिंह शर्मा

पण्डित सत्यनारायण, सरलता की–विनयकी-मूर्ति, स्नेह की प्रतिमा और सज्जनता के अवतार थे। जो उनसे एक बार मिला, वह उन्हें फिर कभी न भूला। मुझे वह दिन और वह दृश्य अब तक याद है। सन् १६१५ ई० में, (अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह में) उनसे प्रथम बार साक्षात्कार हुआ था। पण्डित मुकुन्दराम जी का तार पाकर वह ज्वालापुर आये थे। मैं उन दिनों वहीं महाविद्यालय में था। वह स्टेशन से सीधे (पं० मुकुन्दराम के साथ) पहले मेरे पास पहुँचे। मैं पढ़ा रहा था। इससे पूर्व कभी देखा न था, आने की सूचना भी न थी। सहसा एक सौम्य मूर्ति को विनीत भाव से सामने उपस्थित देख कर मैं आश्चर्य चकित रह गया। दुपल्लू टोपी, वृन्दावनी बगलबन्दी, घुटनों तक धोती, गले में अंगोछा। यह वेष-भूषा थी। आँखों से स्नेह बरस रहा था। भीतर की स्वच्छता और सदाशयता मुस्कराहट के रूप में चेहरे पर झलक रही थी। उस समय 'किरातार्जुनीय' का पाठ चल रहा था। व्यास-पाण्डव-समागम का प्रकरण था। व्यास जी के वर्णन में भारवि की ये सूक्तियाँ छात्रों को समझा रहा था—

'प्रसह्य चेतः सु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम्'।
'माधुर्य-विस्रम्य-विशेष-भाजा कृतोपसंभाषमि वेक्षितेम'।

इन सूक्तियों के मूर्तिमान् अर्थ को अपने सामने देखकर मेरी आँखें खुल गईं। इस प्रसंग को सैकड़ों बार पढ़ा, पढ़ाया था, पर इसका ठीक अर्थ उसी दिन समझ में आया। मैं समझ गया, हों न हों, यह सत्यनारायण हैं, पर फिर भी परिचय-प्रदान के लिए पं० मुकुन्दराम जी को इशारा कर ही रहा था कि आपने तुरन्त अपना यह मौखिक 'विजिटिंग कार्ड' हृदयहारी टोन में स्वयं पढ़ सुनाया—

'नवल-नागरी-नेह रत, रसिकन ढिंग बिसराम।
आयौं हौं तुव दरस कौं, सत्यनरायन नाम॥'

मुझे याद है, उन्होंने 'निरत नागरी' कहा था (सत्यनारायण जी की जीवनी में इसी रूप में, यह छपा भी है) 'निरत' 'रत' में पुनरुक्ति समझ कर मैंने कहा—'नवल नागरी' कहिये तो कैसा? फ़िकरा चुस्त हो जाय।' हस्बहाल मज़ाक (समयोचित विनोद) समझकर वह एक अजीब भोलेपन से मुसकराने लगे, बोले—'अच्छा, जैसी आज्ञा।'

यह पहली मुलाकात थी। इस मौके पर शायद दो दिन पं० सत्यनारायण जी ज्वालापुर ठहरे थे। उनके मुख से कविता-पाठ सुनने का अवसर भी पहली बार तभी मिला था।

सत्यनारायण जी से मेरी पहली भेंट दिसम्बर १६१७ ई० में हुई थी, जब वह 'मालती माधव' का अनुवाद समाप्त करके हम लोगों को—मुझे और साहित्याचार्य श्री पण्डित शालग्राम जी शास्त्री को–सुनाने के लिये ज्वालापुर पधारे थे। परामर्शानुसार अनुवाद की पुनरालोचना करके छपाने से पहले एक बार फिर दिखाने को कह गये थे, पर फिर न मिल सके। उनके जीवन-काल में दो बार मैं धांधूपुर भी उनसे मिलने गया था। एक बार की यात्रा में श्री पं० शालग्राम जी साहित्याचार्य भी साथ थे। उन की मृत्यु के पश्चात् भी दो तीन बार मैं धांधूपुर गया हूँ और सत्यनारायण जी की याद में जी खोलकर रो आया

हूँ। अब भी जब उनकी याद आती है, जी भर आता है। एक प्रोग्राम बनाया था कि दो-चार ब्रजभाषा-प्रेमी मित्र मिलकर छः महीने ब्रज में घूमें, ब्रज की रज में लोटें, गांवों में रहकर जीवित ब्रज भाषा का अध्ययन करें, ब्रज-भाषा का एक अच्छा प्रामाणिक कोष तैयार करें। ऐसी बहुत सी बातें सोची थीं, जो उनके साथ गईं। अफ़सोस।

'ख्वाब था जो कुछ कि देखा,
जो सुना अफ़साना था।'

सत्यनारायण जी के कविता-पाठ का ढंग बड़ा ही मधुर और मनोहारी था। सहृदय भावुक तो बस सुन-कर बेसुध से हो जाते थे, वह स्वयं भी पढ़ते समय भावा-वेश की सी मस्ती में झूमने लगते थे। ब्रजभाषा की कोमल कान्त पदावली और सत्यनारायण जी का कोकिल कंठ, 'हेम्नः परमामोदः'—सोने में सुगन्ध का योग और मणि काञ्चन का संयोग था। पठ्यमान—गीयमान विषय का आँखोंके सामने चित्र सा खिंच जाता था और वह हृदय-पट पर अङ्कित हो जाता था। सुनते-सुनते तृप्ति न होती थी। कविता सुनाते समय वह इतने तल्लीन हो जाते थे कि थकते न थे। सुनाने का जोश और स्वर-माधुर्य, उत्तरो-त्तर बढ़ता जाता था। उच्चारण की विस्पष्टता, स्वर की स्निग्ध गम्भीरता, गले की लोच में सोज और साज़ तो था ही, इसके सिवा एक और बात भी थी, जिसे व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं मिलता। किसी शाइर के शब्दों में यह कह सकते हैं—

'जालिम में थी इक और बात इसके सिवा भी।'

सत्यनारायण जी के श्रुति मधुर स्वर में सचमुच मुरलीमनोहर के बंशीरव के समान एक सम्मोहनी शक्ति थी, जो सुनने वालों पर जादू का सा असर करती थी। सुनने वाला चाहिये, चाहे जब तक सुने जाय, उन्हें सुनाने में उज्र न था। एक दिन हम लोग उनसे निरन्तर ६-७ घंटे कविता सुनते रहे, फिर भी वे न थके, न हमारा जी भरा।

सत्यनारायण जी स्वाभाविक सादगी के पुतले थे, गुदड़ी में छिपे लाल थे। उनकी भोली सूरत, ग्रामीण वेष-भूषा, बोल-चाल में ठेठ ब्रजभाषा, देख सुनकर अनु-मान तक न हो सकता था कि इस करामाती चोले में इतने अलौकिक गुण छिपे हैं। उनकी सादगी सभा-सोसाइटियों में उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार का कारण बन जाती थी। इसकी बदौलत कभी-कभी उन्हें धक्के तक खाने पड़ते थे। प्लेटफार्म की सीढ़ियों पर मुश्किल से बैठने पाते थे। उनकी जीवनी में ऐसे कई प्रसंगों का उल्लेख है। इस प्रकार की यह एक घटना उन्होंने स्वयं सुनाई थी।

मथुरा में स्वामी रामतीर्थ जी महाराज आये हुए थे। खबर पाकर सत्यनारायण जी भी दर्शन करने पहुँचे। स्वामी जी का व्याख्यान होने को था, सभा में श्रोताओं की भीड़ थी, व्याख्यान का नान्दी पाठ—मंगलाचरण हो रहा था, अर्थात् कुछ भजनीक भजन अलाप रहे थे। सद्यः कवि लोग अपनी अपनी ताजी तुकबन्दियां सुना रहे थे। सत्यनारायण जी के जी में भी उमङ्ग उठी, यह भी कुछ सुनाने को उठे। व्याख्यान वेदिका की ओर बढ़े, आज्ञा माँगी, पर 'नागरिक' प्रबन्धकर्ताओं ने इस 'कोरे सत्य, ग्राम के वासी' को रास्ते में ही रोक दिया। दैवयोग से उपस्थित सज्जनों में कोई इन्हें पहचानते थे। उन्होंने कह-सुनकर किसी तरह ५ मिनट का समय दिला दिया। वेदि के पास पहुंच कर श्रीकृष्ण भक्ति के दो सवैये इन्होंने अपने खास ढंग में इस प्रकार पढ़े कि सभा में सन्नाटा छा गया, भावुक शिरोमणि श्री स्वामी रामतीर्थ जी सुनकर मस्ती में झूमने लगे। ५ मिनट का नियत समय समाप्त होने पर जब यह बैठने लगे तब स्वामी जी ने आग्रह और प्रेम से कहा कि अभी नहीं, कुछ और सुनाओ। यह सुनाते गये और स्वामी जी अभी और, अभी और, कहते गये, व्याख्यान सुनाना भूलकर कविता सुनने में मग्न हो गये। ५ मिनट की जगह पूरे पौन घंटे तक कविता-पाठ जारी रहा। मथुरा की भूमि, ब्रजभाषा में श्री कृष्ण चरित की कविता, भावुक भक्त-शिरोमणि स्वामी रामतीर्थ का दरबार, इन्हें और क्या चाहिये था—

'मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वागुणानां गणः।'

का सुन्दर सुयोग पाकर रस-वृष्टि से सबको शराबोर

कर दिया—यमुना तट पर ब्रजभाषा सुरसरी की हिलोर में, सबको डुबो दिया। कहा करते थे, वैसा आनन्द कविता-पाठ में फिर कभी नहीं आया।

हिन्दी साहित्य की निःस्वार्थ सेवा और ब्रजभाषा की कविता का प्रचार—लोकरुचि को उसकी ओर आकृष्ट करना, ब्रज-कोकिल सत्यनारायण के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। उन्होंने भिन्न-भाषा-भाषी अनेक प्रसिद्ध पुरुषों के अभिनन्दन में जो प्रशस्तियां लिखी हैं, उनमें प्रशस्ति पात्रों से यही अपील की है:—

'जैसी करी कृतारथ तुम अंग्रेजी भाषा,
तिमि हिन्दी उपकार करहुगे ऐसी आशा।'

—(कवीन्द्र रवीन्द्र के अभिनन्दन में)

'नित ध्यान रहे तव हृदय में ईशचरन-अरविन्द को,
प्रिय सजन, मित्र निज छात्रजन हिंदी हिन्दू हिन्द को।'

—(डाबसन साहब के अभिनन्दन में)

स्वामी रामतीर्थ जी के वह इस लिए भी अनन्य भक्त थे कि उन्हें—'व्रज-ब्रजभाषा-भक्त, भक्ति-रस रूचिर रसावन' समझते थे। अपने समय के महापुरुषों में सब से अधिक भक्ति उनकी स्वामी रामतीर्थ जी में ही थी। स्वामी जी भी सत्यनारायण जी के गुणों पर मुग्ध थे। उन्हें अपने साथ अमेरिका ले जाने के लिए बहुत आग्रह करते रहे, पर सत्यनारायण जी अपने गुरु की बीमारी के कारण न जा सके, और इसका सत्यनारायण जी को भी सदा पश्चाताप रहा। अस्तु सत्यनारायण, सभा-सोसाइटियों में भी इसी उद्देश्य से कष्ट उठाकर सम्मिलित होते थे जैसा कि उन्होंने एक बार अपने एक मित्र से कहा था—

'मैं तो ब्रजभाषा की पुकार लै कैं जरूर जाऊंगो'
और कछू नायँ तो ब्रजभाषा सुरसरी की हिलोर में
सबको भिजायँ तो आऊंगो।'

सत्यनारायण मनसा, वाचा, कर्मणा, हिन्दी के सच्चे उपासक थे, और अपनी वेष-भूषा, आचार-व्यवहार और भाव-भाषा से प्राचीन हिन्दुत्व और भारतीयता के पूरे प्रतिनिधि थे। बी० ए० तक अंग्रेजी पढ़कर और अंग्रेजी के विद्वानों की संगति में रात दिन रह कर भी वह अंग्रेजी से बचते थे। अनावश्यक अंग्रेजी बोलने का हमारे नवशिक्षितों को कुछ दुर्व्यसन सा हो गया है। इनकी हिन्दी में भी तीन तिहाई अंग्रेजी की पुट रहती है। सत्यनारायण इस व्यापक दुर्व्यसन का एक अपवाद थे।

एक बार जब वह ज्वालापुर आये हुए थे, हिन्दी-भाषा-भाषी एक नवयुवक साधु से मैंने उनका परिचय कराया। मैं भूल से यह भी कह गया कि सत्यनारायण जी अंग्रेजी के भी विद्वान हैं। फिर क्या था, यह सुनते ही साधु-साहब प्लुत स्वर में हां ३, कह कर अंग्रेजी बोलने लगे। यद्यपि वार्तालाप का विषय हिन्दी भाषा का प्रचार था। 'साधु महात्मा' बराबर अंग्रेजी बूकते रहे और सत्यनारायण जी अपनी सीधी-सादी हिन्दी में उत्तर देते रहे। कोई एक घंटे तक यह अंग्रेजी हिन्दी संग्राम चलता रहा, पर सत्यनारायण जी ने एक वाक्य भी अंग्रेजी का बोलकर न दिया, वह अपने व्रत से न डिगे। अन्त में हारकर साधु साहब ने पूछा—'क्या अंग्रेजी बोलने की आपने कसम तो नहीं खा रक्खी है?' इन्होंने गम्भीरता से कहा- 'मैं किसी ऐसे मनुष्य के साथ, जो टूटी-फूटी भी हिन्दी बोल समझ सकता है, अंग्रेजी नहीं बोलता। हिंदी बोलने समझने में सर्वथा ही असमर्थ किसी अंग्रेजीदां से वास्ता पड़ जाए तो लाचारी है, तब अंग्रेजी भी बोल लेता हूं।' उक्त साधु अंग्रेजी के कोई बड़े विद्वान न थे, इन्ट्रेन्स तक पढ़े थे। कुछ दिनों मद्रास की हवा खा आये थे और उन्हें अंग्रेजी बोलने का संक्रामक रोग लग गया था।

सत्यनारायण जी ने समय अनुकूल न पाया। कविता के लिए यह समय वैसे ही प्रतिकूल है, फिर ब्रजभाषा की कविता से लोगों को कुछ राम-नाम का वैर हो गया है। ब्रजभाषा की कविता का उत्कर्ष तो क्या, उसकी सत्ता भी आजकल के साहित्य धुरन्धरों को सह्य नहीं। सत्यनारायण जी के रोम-रोम और श्वास श्वास में ब्रजभाषा और ब्रज भूमि का अनन्य प्रेम भरा था। यह पूर्वजन्म की प्रकृति थी :—

'सतीव योषित प्रकृतिश्च निश्चला
पुमांससभ्येति भवान्तरेष्वपि।'

जन्मान्तरीण संस्कार थे, जो उन्हें बरबस इधर खींच रहे थे :—

'मोहिं तो ब्रज छोडि कें अन्त कहूँ अच्छौ
नाय लगैगो।
मैं तो ब्रज में ही आऊँगौ—मेरी ब्रज की
ही वासना है।'
—(जीवनी, पृष्ठ २४८)

उनके इन उद्गारों से दृढ़ धारणा होती है कि अष्ट-छाप वाले किसी महाकवि महात्मा की आत्मा सत्यनारा-यण के रूप में उतरी थी। अन्यथा इस…काल में यह सब कुछ कब सम्भव था। यह तो दलबन्दी का जमाना है, विज्ञापनबाजी का युग है, सब प्रकार की सफलता 'प्रोपगंडा' पर निर्भर है, जिसे इन साधनों का सहारा मिला, वह गुब्बारा बनकर ख्याति के आकाश में चमक गया। गरीब सत्यनारायण को कोई भी ऐसा साधन उपलब्ध न था। यही नहीं, भाग्य से उन्हें कुछ मित्र भी ऐसे मिले, जिन्होंने उनके बेहद भोलेपन को अपने मनोविनोद की सामग्री या तफरीह-तबाका सामान समझा, जिन्होंने दान देने या उत्साह बढ़ाने की जगह उनकी तथा ब्रजभाषा के अन्य कवियों की, कविताओं की हास्योत्पा-दक समालोचना करके उन्हें बनाना ही सन्मित्र का कर्तव्य समझ रक्खा था। और हाय उनकी उस जन्म भर की कमाई 'हृदय तरङ्ग' को, जिसे याद करके वह सदा दुःख के साँस लेते रहे, दरिद्र के मनोरथ की गति को पहुँचाने वाले भी तो उनके सुहृच्छिरोमणि कोई सज्जन ही थे। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में पलकर और ऐसी 'कद्रदान' सोसा-इटी पाकर भी आश्चर्य है, सत्यनारायण 'कविरत्न' कैसे कहला गए। इसे स्वामी रामतीर्थ जैसे सिद्ध महात्मा का आशीर्वाद या अदृष्ट की महिमा ही समझना चाहिये।

सत्यनारायण के सद्गुणों का पूर्ण परिचय अभी संसार को प्राप्त नहीं हुआ था। नन्दन-कानन का यह पारिजात अभी खिलने भी न पाया था कि संसार की विषैली वायु के झोकों ने झुलस दिया। ब्रजकोकिल ने पंचम में आलाप भरना प्रारम्भ ही किया था कि निर्दय काल-व्याल ने गला दबा दिया। 'भारतीय आत्मा' कृष्ण को पुकारती ही रह गई और कोकिल उड़ गया—

'वह कोकिल उड़ गया, गया,
वह गया कृष्ण! दौड़ो आओ।'

संसार में समय समय पर और भी ऐसी दुर्घटनायें हुई हैं, पर सत्यनारायण का इस प्रकार आकस्मिक वियोग भारत-भारती हिन्दी भाषा का परम दुर्भाग्य ही कहा जायेगा।

सत्यनारायण जी की जीवनी में उनके सार्वजनिक जीवन पर उनकी साहित्य-सेवा और व्यक्तित्व पर अनेक विद्वानों ने भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया है, और खूब किया है, कोई बात बाकी नहीं छोड़ी। मैं भी प्यारे सत्यनारायण की याद में 'चार आँसुओं की' यह जलांजलि दे रहा हूँ। मेरी इच्छा थी कि उनकी कविता पर (और देखा जाय तो यही उनका वास्तविक जीवन था) जरा और विस्तृत रूप से विचार करूँ। पर सोचने पर अपने में इस कार्य की पात्रता न पाई, क्योंकि मैं ब्रज-भाषा की कविता का पक्षपाती प्रसिद्ध हूँ, और सत्य-नारायण मेरे मित्र थे। सत्यनारायण की कविता की समालोचना का यथार्थ अधिकारी कोई तटस्थ विद्वान ही हो सकता है, जो इस समय तो नहीं, पर कभी आगे चलकर सम्भव है—

'कालो ह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।'

दुर्भाग्य की बात है कि सत्यनारायण जी की उत्कृष्ट कविता का अधिकांश 'यार लोग की इनायत' से नष्ट हो गया। जिसके लिए वह अन्त समय तक तड़पते रहे। फिर भी उनकी बची-खुची जो कविता इस समय उपलब्ध है, वह उन्हें 'कविरत्न' प्रमाणित करने के लिए, मैं समझता हूं पर्याप्त है। भले ही कुछ समालोचक उन्हें 'महाकवि' मानने को तैयार न हों, अपनी अपनी समझ ही तो है। सत्यनारायण के सम्बन्ध में यह विवाद उठ चुका है। ब्रजभाषा के प्रवीण पारखी श्री वियोगीहरि जी ने 'ब्रजमाधुरी सार' में लिखा है—

'इसमें सदेह नहीं कि सत्यनारायण जी ब्रजभाषा के एक महाकवि थे।'

इस पर एक विद्वान् समालोचक ने यह कहकर आपत्ति की—

'... सत्यनारायण को महाकवि कहना उनकी स्तुति भले ही हो, पर उसका औचित्य भी मानने के लिए कम से कम हम तो तय्यार नहीं हैं।'

इस पर वियोगीहरि जी ने 'नम्र निवेदन' किया—

'जो कवि एक आलोचक की दृष्टि में महाकवि है, वही दूसरे की नजर में साधारण कवि भी नहीं है। स्वर्गीय सत्यनारायण को अभी चाहे कोई महाकवि न माने पर कुछ काल के बाद वे निःसदेह महाकवियों की श्रेणी में स्थान पायेंगे। यह अनुमान मुझे महाकवि भवभूति, वर्ड्सवर्थ और देव का स्मरण करके हुआ है।'

—(सम्मेलन पत्रिका-भाग ११, अंक १०)

भगवान करे ऐसा ही हो। अब न सही, आगे चलकर ही सत्यनारायण को समझने वाले पैदा हों और श्री वियोगीहरि जी की इस सूक्ति का अनुमोदन करें—

'जगव्योहारन भोरौ कोरौ गाम-निवासी,
ब्रज साहित्य प्रवीन काव्य-गुन-सिन्धु-विलासी।
रचना रुचिर बनाय सहज ही चित आकरषै,
कृष्ण-भक्ति अरू देश भक्ति आनंद रस बरषै।'

पढ़ि 'हृदय-तरंग' उमंग उर प्रेम रंग
दिन-दिन चढ़ै।
सुचि सरल सनेही सुकवि श्री सत्य-
नारायण जसु बढ़ै॥

—(कवि कीर्तन)

सत्यनारायण की जीवनी करुण-रस का एक दुःखान्त महानाटक है। जिस प्रतिकूल परिस्थिति में उन्हें जीवन बिताना पड़ा और फिर जिस प्रकार उन्हें 'अनचाहत को संग' के हाथों तंग आकर समय से पहले ही संसार से कूच करने के लिए विवश होना पड़ा, उसका हाल पढ़ सुनकर किसी भी सहृदय को उनकी भाग्यहीनता पर दुःख और समवेदना हो सकती है। पर एक बात में सैकड़ों से वह बड़े ही सौभाग्यशाली सिद्ध हुए। गहन अन्धकार में भटकते को दीपक दीख गया, अपार सागर में थके हुए पछी को मस्तूल मिल गया, सत्यनारायण को मरने के बाद ही सही 'चुप की दाद देने वाला' एक 'भारतीय हृदय', मुर्दा हड्डियों में जान डालने वाला—यशः शरीर पर दया दिखाने वाला—एक 'मसीहा' मिल गया। जिस के कारण सत्यनारायण जी की स्वर्गीय, संतप्त आत्मा अपने सांसारिक जीवन की समस्त दुःखदायी दुर्घटनाओं को भूलकर सन्तोष की साँस ले सकती है, और अन्यान्य परलोकवासी हिन्दी के अभागे कवि, लेखक जिनका नाम भी यह कृतघ्न और स्वार्थी संसार भूल गया, सत्यनारायण की इस खुशनसीबी पर रश्क कर सकते हैं उनकी इस सौभाग्यशीलता को स्पृहा की दृष्टि से देख सकते हैं। यही नहीं, हिन्दी के अनेक जीवित लेखक और कवि भी, यदि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि मुर्दों को जिन्दा करने वाला कोई ऐसा 'मसीहा' हमें भी मिल जाएगा, तो सुखपूर्वक इस संसार से सदा के लिए विदा होने को उस लेडी की तरह तैयार हो जायें, जिसने आगरे के 'ताज' को देखकर अपने पति द्वारा पूछा जाने पर कि—'कहो इस अद्भुत इमारत के बारे में तुम्हारी क्या राय है?' उत्तर दिया था कि 'मैं इसके सिवा कुछ भी नहीं कह सकती कि यदि मेरी क़ब्र पर ऐसा स्मारक बनावें तो मैं आज ही मरने को तैयार हूँ।' मेरा मतलब सत्यनारायण जी की जीवनी के लेखक 'भारतीय हृदय' पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी से है। चतुर्वेदी जी की परःदुखकातरता और दीनबन्धुता प्रसिद्ध है। प्रवासी भारतवासियों की राम-कहानी सुनाने में जो काम आपने किया है, वह बड़े-बड़े दिग्गज लीडरों से भी न बन पड़ा।

अब उससे भी महत्वपूर्ण कार्य में आपने हाथ लगाया है। अर्थात् साहित्य-सेवियों की—(जिनकी राम-कहानी प्रवासी भारतवासियों से कुछ कम करुणाजनक नहीं है) जीवनी लिखने का पुण्य कार्य प्रारम्भ कर दिया है, जिस का प्रारम्भ सत्यनारायण की इस जीवनी से हुआ है। इस के सम्पादन में जितना परिश्रम चतुर्वेदी जी ने किया है, वह उन्हीं का काम था और इसकी जितनी दाद दी जाए, कम है। हिन्दी संसार में अपने ढंग का वह बिल्कुल

नया अनुष्ठान है। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि हिन्दी के किसी भी कवि या लेखक की जीवनी का मसाला, उसकी मृत्यु के बाद, इस परिश्रम, लगन और खोज के साथ इकठ्ठा नहीं किया गया। जानने वाले जानते हैं कि सत्यनारायण की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाली एक एक चिट्ठी के लिये जीवनी-लेखक को कितना भगीरथ-प्रयत्न करना पड़ा है। यदि इन सब बातों का उल्लेख किया जाए तो एक खासा जासूसी उपन्यास तैयार हो जाए। जो चाहे सत्यनारायण जी की जीवनी के उस मसाले को हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के कार्यालय में जाकर देख सकता है।

सच तो यह है कि सत्यनारायण जी की जीवनी पं० बनारसीदास जी ही लिख सकते थे। यों कहने को सत्यनारायण जी के अनेक अन्तरंग और गाढ़े मित्र थे, और हैं; पर मित्रता का नाता चतुर्वेदी जी ने ही निवाहा है। मानों मरते वक्त सत्यनारायण की आत्मा इनके कान में कह गई थी—

'यों तो मुँह देखे की होती हैं मुहब्बत सब को।
मैं तो तब जानूं मेरे बाद मेरा ध्यान रहे।।'

जीवनी लिखने का उपक्रम करके चतुर्वेदी जी प्रवासी भारतवासियों के पुराने राजरोग में फँसकर जीवनी के कार्य को स्थगित कर बैठे थे, इस पर मैंने तकाजे के दो-तीन पत्र लिखकर उन्हें जीवनी की याद दिलाई, शीघ्र पूरा करने की प्रेरणा की, और पूछा कि क्या इस पचड़े में पड़कर सत्यनारायण को भी भूल गये? इसके उत्तर में जो पत्र उन्होंने लिखा, उसके एक एक शब्द से निःस्वार्थ प्रेम, गहरी सहृदयता और सच्ची सहानुभूति टपकती है। मैं उस पत्र का कुछ अंश इस अभिप्राय से यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ कि मित्रता का दम भरने वाले और बात-बात पर सहृदयता की डींग मारने वाले हम लोग उसे पढ़ें, सोचें और हो सके तो कुछ शिक्षा भी ग्रहण करें। (चतुर्वेदी जी इस 'दोस्त फरामोशी' के लिए मुझे क्षमा करें।)—'भारतीय हृदय' ने लिखा है:—

"···सत्यनारायण के अन्य मित्र भले ही भूल जायें पर मैं कभी नहीं भूल सकता। जितना लाभ उनकी जीवनी से मुझे हुआ है उतना किसी दूसरे को नहीं हो सकता। उनकी कविताओं ने मेरा मनोरंजन किया है, उनके गृह जीवन के दुखान्त नाटक ने मुझे कितनी ही बार रूलाया है, उनकी निःस्वार्थ साहित्य-सेवा ने मेरे सामने एक अनुकरणीय दृष्टान्त उपस्थित किया है, उनकी 'हृदय-तरंग' ने मुझे कीर्ति प्रदान की है। उनकी सरलता के स्मरण ने मुझे समय समय पर अलौकिक आनन्द दिया है, (उनके सा भोलापन कहाँ मिल सकता है?) और उनके निष्कपट व्यवहार और प्रेमपूर्ण स्वभाव की स्मृति ने मेरे हृदय को कितनी ही बार द्रवित करके पवित्र किया है··· 'जीवन के कण्टकाकीर्ण पथ में जब निराशा के मेघ हमें भयभीत करेंगे, जब चारों ओर व्याप्त 'व्यापारिकता' का अन्धकार चित्त को बेचैन करेगा, जब धन का भूत साहित्य क्षेत्र को अपनी भयंकर क्रीड़ाओं से कलङ्कित करेगा, उस समय सत्यनारायण का निःस्वार्थ साहित्यमय जीवन विद्युज्ज्योति का काम देकर हमारे पथ को आलोकित करेगा।'···सत्यनारायण जी उस सक्रामक भयंकर रोग से, जिसका नाम व्यापारिकता (Commercialism) है, और जो कुछ हिन्दी-साहित्य-सेवियों को बेतरह ग्रस रहा है बिलकुल मुक्त थे। न उन्होंने धन के लिए लिखा, न कीर्ति के लिए। जैसे कोकिल का स्वभाव ही मधुर स्वर से गान करना है उसी प्रकार उस ब्रज-कोकिल का स्वभाव ही सुन्दर कविता का गान करना था··· 'ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अनेक साहित्यसेवी, 'सहृदयता' के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। दूसरों को उत्साहित करना, दूसरे के गुणों की प्रशंसा करके उन्हें ऊँचे उठाना धैर्यपूर्वक दूसरों की आकांक्षाओं को सुनना और उन्हें यथोचित परामर्श देना, ये बातें तो वे जानते ही नहीं। विद्वान तो संसार में बहुत से हैं, लेखक भी सहस्रों हैं, पर सहृदय कितने हैं? सच बात तो यह है कि हृदयहीन विद्वान् के सम्मुख मेरी तबियत तो घबराती है, मुझे इस बात की आशंका है कि हिन्दी साहित्य-सेवी व्यापारिकता के कारण अपने कोमल भावों को तिलांजलि देकर शुष्क 'पुस्तक-लेखन-मशीन' बनते जा रहे हैं···।"

जीवनी लिख चुकने के बाद चतुर्वेदी जी ने एक पत्र में मुझ लिखा था :—

…'सत्यनारायण जी के विषय में मैंने कई काम सोचे थे

१-बची-खुची फुटकर कविताओं का संग्रह - यह 'हृदय-तरंग' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

२—जीवन-चरित — यह समाप्त करके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को दे दिया गया है। इसके लिये मुझे चार बार धांधूपुर जाना पड़ा, सैकड़ों ही चिट्ठियां लिखनी पड़ीं, उनके बीसियों मित्रों से मिलना पड़ा।

३-चित्र —एक रंगीन चित्र अपने पास से १००) रुपये व्यय करके भारती-भवन फीरोजाबाद को दिया, और भारत-भक्त एन्ड्रूज साहब को फीरोजाबाद लाकर उद्घाटन संस्कार कराया और दूसरा चित्र ४५) रु० व्यय करके प्रयाग हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को दिया।

४—सत्यनारायण कुटीर—इसके लिए ८००) रु० इकट्ठे करने का वादा कर चुका हूँ, जिसमें से ३२४) रु० भिजवा चुका हूँ।

सत्यनारायण जी की 'जीवनी' से या उनके 'हृदय-तरंग' से एक पैसा मैंने नहीं कमाया। इसमें अपने पास से कम से कम ३००) व्यय कर चुका हूँ …।'

पण्डित सत्यनारायण के चरित्र में चतुर्वेदी जी का कितना अधिक अकृत्रिम अनुराग है. इसका कुछ आभास उक्त अवतरणों से मिल जाएगा, इससे भी अधिक भक्ति-भाव की झलक देखनी हो तो जीवनी का अन्तिम अध्याय—'मेरी तीर्थयात्रा' ध्यान से पढ़ जाइये। जब तक किसी चरित्र-लेखक को चरित्र-नायक के साथ इतनी गहरी हार्दिक सहानुभूति न हो—उसपर ऐसी अशिथिल श्रद्धा न हो,--तब तक इस प्रकार का चरित्र लिखा ही नहीं जा सकता। उक्त अवतरणों के उद्धरणों से यहाँ यही दिखाना इष्ट है।

परमात्मा दया करके 'भारतीय-हृदय' का सा विशाल, सहानुभूतिपूर्ण और प्रेमी-हृदय हम सबको भी प्रदान करे, जिससे हम लोग अपने साहित्य-सेवियों का सम्मान करना सीखें और अपने सन्मित्रों की स्मृति और कीर्ति-रक्षा के के लिए इनके समान प्रयत्नशील हो सकें।

चतुर्वेदी जी ने सत्यनारायण के अनेक मित्रों को कीर्तिशेष, स्वर्गीय मित्र के गुणगान द्वारा वाणी और हृदय पवित्र करने का अवसर देकर उनपर एक बड़ा उपकार किया है। मैं चतुर्वेदी जी का कृतज्ञ हूँ कि मुझे भी उन्होंने इस बहाने सत्यनारायण जी की याद में 'चार आंसू' बहाने का मौका देकर अनुगृहीत किया।

मैं प्रत्येक सहृदय साहित्य प्रेमी से सत्यनारायण की इस जीवनी की राम-कहानी पढ़ने की सानुरोध प्रार्थना करूँगा।

★

यह संस्मरण मूलत: पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी द्वारा लिखित 'सत्यनारायण कवि-रत्न की जीवनी' को भूमिका के रूप में 'चार आंसू' शीर्षक से लिखा गया . स०

'महाकवि अकबर'

—पं० पद्मसिंह शर्मा

महाकवि अकबर इस युग के एक अलौकिक महा-पुरुष थे। उर्दू और हिन्दी में ही नहीं, भारत की दूसरी किसी भाषा में भी ऐसा क्रान्तिदर्शी और क्रान्तिकारी कवि इधर बहुत समय से नहीं हुआ। मुझे उनकी कविता का रंग और ढंग बहुत पसन्द रहा है। सबसे पहले कानपुर के 'जमाने' में (जनवरी १९०४ ई० के पर्चे में) मैंने उनकी यह कविता पढ़ी थी, जो खास 'जमाने' के लिये लिखी गई थी—

'फ़लक के सामने क्या मजहबी बहाना चले,
चलेंगे हम भी उसी रुख जिधर जमाना चले।'

यह पहली कविता ही नजर पर चढ़कर दिल में बैठ गई। मैं अकबर की कविता के लिए बेताब रहने लगा, कहीं एक मिसरा भी उनका मिल जाता तो उसे नोट कर लेता, बार-बार पढ़ना और जी न भरता। उनका 'दीवान' देखने के लिए दिल दीवाना रहने लगा। बड़ा आदमी समझकर अकबर साहब को पत्र लिखकर कुछ पूछने में संकोच होता था। थोड़े ही दिनों में 'अकबर' की कविता की धूम मच गई। कविता के प्रेमी सहृदय समाज ने अकबर साहब को 'दीवान' (काव्य सग्रह) प्रकाशित करने के लिए मजबूर किया, और 'कुल्लियाते-अकबर' का पहला हिस्सा छपकर निकल गया। पत्रों में समालोचना पढ़कर मैंने 'कुल्लियाते अकबर' का पहला हिस्सा मँगाया!

कविता का नशा

यह जून सन् १९११ के प्रारम्भ की बात है। वह दिन अब तक याद है। अकबर का 'दीवान' पाकर दिले-दीवाना खुशी से मस्ताना हो नाचने लगा। एक मुद्दत की आरजू पूरी हुई थी, उस खुशी का बयान नहीं हो सकता। मैं उन दिनों ज्वालापुर महाविद्यालय में था। दिन में पढ़ने की फुर्सत न मिली, 'भारतोदय' के संपादन में और विद्यार्थियों के पढ़ाने में लगा रहा। दो एक मित्र भी बाहर से आये हुए थे। मेरे पास ठहरे थे उनसे छुट्टी न मिली। गरमी का बड़ा दिन पहाड़ की तरह टलता न था—छिपता न था, रात की प्रतीक्षा में दिन की स्थिति असह्य हो रही थी—दिन काटे न कटता था, रात आती न थी, उत्सुकता और बेचैनी बढ़ रही थी। ज्यों त्यों करके दिन मुँदा, रात आई। चाय पीकर लैम्प जलाया, किताब हाथ में उठाई, पढ़ने बैठा ही था कि आगान्तुक मित्रों की मण्डली ने आ घेरा—अजी रहने भी दो, इस गरमी में पढ़ने बैठे हो? किताब कहीं भागी जाती है, दिन में पढ़ लेना। एक साहब उठे, लैम्प उठाकर दूर रख आए, दूसरे किताब छीनने लगे। वर्षों के भूखे के आगे से भले आदमियों ने परसा हुआ थाल उठा लिया। उन्हें अपनी समुत्सुकता कैसे समझाता। उनके दिल में अपना दिल कैसे डालता। बहुत कहा कि मैं अलहदा बैठकर पढ़ लूंगा, आप लोग आराम कीजिए, पर कौन सुनता था—वाह अच्छे पढ़ने वाले आये, हम यहाँ यों ही आये हैं। क्या उकता गये हो? हम क्या यहाँ बैठे रहेंगे? ऐसा ही है तो हम प्रात:काल चले जायेंगे, फिर पढ़ते रहना। अब पढ़ोगे, और हमसे बातें न करोगे? मैं मन-मन में मनाने लगा—इस स्तोत्र का पाठ करने लगा—

'या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥'

भगवती देवी! निद्रे! कृपा करो, इन्हें लेकर सो जाओ, मेरा उद्धार करो। पर उन्हें नींद कहाँ? एक

बात खत्म नहीं होती थी कि दूसरी का सिलसिला छिड़ जाता था। राम-राम करते दस बजे के करीब नींद ने मेरी पुकार सुनी, वह आई, और उनकी आँखों में छा गई। मैं आहिस्ता से उठा और लैम्प लेकर अन्दर बरांडे में जा बैठा। गरमी कुछ कम न थी, पसीने पर पसीने आ रहे थे, पखा झलूं कि किताब पढ़ूं। पतंगे कमबख्त अलहदा नाक में दम कर रहे थे, मानों सोने वालों ने अपना चार्ज पतंगों को दे दिया था। उनकी ड्यूटी पर यह आ डटे थे। झुंड के झुंड पतगे (परवाने) चिमनी की दीवार पर सिर दे दे मार रहे थे, लौ से लिपटने को जूझ रहे थे, मानों ज़बानेहाल से अकबर के इस शेर का मतलब सुना रहे थे—

'फानूस को परवानों ने देखा तो यह बोले,
क्यों हमको जलाते हो कि जलने नहीं देते।'

और इस न जल सकने की जलन को मुझ पर उतार रहे थे। नहीं, शिक्षा दे रहे थे कि 'सच्ची लगन है तो हमारी तरह लिपट जाओ किताब से, गरमी का खयाल न करो, हमारी तरफ मत देखो।' आखिर पढ़ने की प्रबल इच्छा-शक्ति ने इस विघ्न पर विजय पाई, मैं तन्मय होकर पढ़ने लगा। पढ़ते–पढ़ते समाधि सी हो गई, आँखें और पुस्तक के पृष्ठ खुले थे, बाकी इन्द्रियों का व्यापार बन्द था। बड़े साइज के २८२ पृष्ठ से ऊपर की पुस्तक एक आसन से लेटे लेटे पढ़ गया। पढ़ता था और मस्ती का एक नशा सा चढ़ता जाता था, पेन्सिल हाथ में थी, चमत्कृत पद्यों पर चिन्ह करता जाता था। सारी पुस्तक रंग डाली, खांड की रोटी जिधर से तोड़ी, मीठी निकली। हृदय में विविध भावों का तूफान-सा उठ रहा था, हृदय के प्रसुप्त—वासनान्तर्विलीन–भाव जागृत हो उठे, अपने बहुत से अनुभव कविता के दर्पण में प्रतिबिम्बित दिखाई देने लगे—ग़ालिब का यह मशहूर शेर उस समय अकबर की कविता पर चरितार्थ हो रहा था—

'देखना तकरीर की लज्जत कि जो उसने कहा,
मैंने जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।'

कभी आह निकलती थी, तो कभी वाह। कभी रोता था, तो कभी हँसता था। एक अनिर्वचनीय दशा थी, जो लिखकर नहीं बताई जा सकती। आज इतने दिनों बाद इस समय उसकी स्मृति भी आनन्द दे रही है। पढ़ते-पढ़ते रात बीत गई, सूर्य निकल आया, पर मैं होश में न आया। उसी मस्ती की धुन में पड़ा पढ़ता रहा। एक आवृत्ति हो गई, तो दूसरी शुरू कर दी। मैं किताबों का कीड़ा हूँ, जाड़े, गरमी और बरसात की सैकड़ों रातें तल्लीनता से पढ़ते-पढ़ते यों ही आँखों में निकल गई हैं, पर उस रात का सा ब्रह्मानंद-सहोदर आनन्द दो-चार बार ही कभी मिला होगा। खैर, मित्र-मण्डली उठ बैठी, और उसने आकर मुझे उठा दिया—'सूर्य चढ़ आया और तुम्हें खबर न हुई। लैंम्प तो बुझा दिया होता।' मजबूरी थी, कोई बहाना बाकी न रहा था। उठना ही पड़ा। दिन भर रात की वह कैफियत दिमाग में चक्कर काटती रही, एक नशा सा छाया रहा।

पत्र-व्यवहार

पहला हिस्सा पढ़कर मैंने अकबर साहब को खत लिखा और दरयाफ्त किया कि दूसरा हिस्सा कब तक निकलेगा। पहले हिस्से की कुछ थोड़ी सी डरते-डरते दाद भी दी, दूसरे के लिए इश्तियाक का इजहार किया—हलका सा तकाजा किया। उसके उत्तर में १६ जून सन् १६११ को अकबर साहब ने खुद अपने कलम से मुख्तसिर सा कार्ड लिखा, यह उनका पहला पत्र था—

'डियर सर, मुझको मसर्रत हुई कि आप मेरे नाचीज अशआर की ऐसी कद्रदानी फ़रमाते हैं। हिस्सा दोयम छप रहा है। मतबे वाले निहायत सुस्ती से काम करते हैं, क्या किया जाय। उम्मीद है, माह जुलाई में किताब की अशाअत हो जाय। आपका इस्मे-गरामी मुन्दर्ज-रजिस्टर कर लिया है।

नियाज़मन्द
अकबर हुसैन

मेरा नाम अकबर साहब के रजिस्टर में लिख लिया गया। इसे अपनी खुशकिस्मती समझकर खुश हुआ। पत्र-व्यवहार का एक बहाना हाथ आ गया—

'ख़त लिखेंगे गरचे मतलब कुछ न हो,
हम तो आशिक़ हैं तुम्हारे नाम के।'

दूसरा खत लिखा और जरा खुलकर लिखा, एकदम दर्जन भर बातें पूछ डालीं। इस बीच में दूसरा हिस्सा भी छप चुका था। मेरे खत के जवाब में अकबर साहब ने लिखा, यह दूसरा खत था,--

'डियर सर, हस्ब इरशाद। एक कापी हिस्से दोम की वेल्यूपेबिल इरसाल खिदमत है। आपके खत के मजामीन ने मुझको एक और ही आलम में पहुँचा दिया। आपने बहुत ज्यादा क़द्रदानी की है, आपकी तबीयत बहुत बुलन्द और मानी-फहम मालूम होती है। मैं एक सख्त मजबूरी से इस वक्त एक सफर में जा रहा हूँ, दो तीन दिन बाद आपके खत का जवाब लिखूंगा। खातिर-जमा रखिए।'

अकबर के दरबार से 'सखुन फहमी' का सार्टीफिकेट मिल गया। मुझे कलाम-अकबर के मुतल्लिक अपनी समझ पर कुछ शक था, वह जाता रहा, समझा कि ठीक समझा हूं। अब कलामे-अकबर को और गहरी नजर से देखने लगा। काव्य-सागर की तह में गोते लगा लगा कर सूक्ति-रत्न निकालने लगा। कई अनर्घ रत्न ऐसे अछूते हाथ लगे, जिनकी कीमत अभी जौहरियों के बाजार में कूती न गई थी, किसी की नजर न चढ़े थे। मैंने उन्हें आँका तो बहुत कीमती मालूम हुए। पर साथ ही शक हुआ, शायद मैं गलती पर हूँ परख में भूल हुई हो, रत्नों के विधाता से—खुदाए सखुन से ही न पूछूँ कि इनका 'भाव' यही है, या और कुछ? कतिपय ऐसे ही पद्य-रत्नों की विवेचना लिखकर मैंने अकबर साहब के पास भेजी। अपनी जांच पर उनकी सम्मति सुनकर सन्तोष हुआ कि वही भाव है, जो मैंने समझा था। इस प्रकार अपनी कविता का पारखी और प्रेमी भक्त जानकर अकबर साहब मुझ पर विशेष कृपा करने लगे। कृपा बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ी कि अपने 'खास-अहबाब' में मेरा शुमार करने लगे। उन्हें मुझसे एक 'रूहानी-ताल्लुक' (आत्मिक सम्बन्ध) हो गया। इस रूहानी ताल्लुक का जिक्र उन्होंने अपने कई खतों में किया है। शुरू-शुरू में मुझे उनसे पत्र-व्यवहार में संकोच होता था। फसीह उर्दू में मैं अपना मतलब शाइराना ढंग से इस तरह अदा कर सकूंगा कि वह समझ जायें, इसका मुझे विश्वास न होता था। मैं उर्दू साहित्य पढ़ता तो बहुत था, पर लिखने का मुझे इतना अभ्यास न था। कुछ उर्दूदाँ मित्रों को उर्दू में पत्र लिखने के सिवा बहुत कम उर्दू में लिखने का मौका पड़ता था। मैं सोचता था कि इतने बड़े शाइर और जबरदस्त इन्शापरदाज अहले-कलम को टूटी-फूटी उर्दू में क्या लिखूँ, लेकिन इसके सिवा कोई सूरत न थी। मैं जानता था कि वह हिन्दी नहीं जानते, मैंने हिम्मत करके उर्दू में ही लिखा, और मुझे यह देखकर खुशी हुई कि अकबर साहब को मेरी उर्दू पसन्द आई। यही नहीं दाद देकर उन्होंने मेरा हौसला बढ़ाया। एक खत में लिखा था—

'××× आपका अलताफनामा (कृपा पत्र) इस वक्त पेशे-नजर है। माशा-अल्ला! आप क्या जीती-जागती उर्दू लिखते हैं।

दूसरे खत में लिखते हैं— 'पन्दरह दिन से रोज इरादा करता हूँ कि कल जवाबे खत लिखूँगा और कल को फिर कल पर टालता हूँ। बात यह है कि आपका इनायतनामा ऐसा है कि उसका जवाब दो हरफ़ों में देना सितम है। अव्वल तो आपकी काबलियत की दाद, मेरे बाज अहबाब (मित्र) आपकी तहरीर सुनकर फड़क गये···।'

उस दिन से मुझे विश्वास हो गया कि मैं उर्दू में अपना मतलब अच्छी तरह अदा कर सकता हूँ। जनाब अकबर और उनके बाज़ अहबाब, मेरी तहरीर सुनकर चाहे फड़क न भी गए हों, तो भी मेरा मतलब जरूर समझ गये। उर्दू के बहुत से अहम्मन्य मुसलमान लेखक जो फसीह उर्दू का मालिक खुद को समझ बैठे हैं, और कहते हैं कि हिन्दू और वह भी हिन्दी दाँ हिन्दू, अच्छी उर्दू लिख ही नहीं सकते, यह बात ग़लत है। हिन्दू के लिए उर्दू हव्वा नहीं है, मुसलमानों के लिए हिन्दी भले ही हव्वा हो। कम से कम अकबर साहब ऐसा नहीं समझते थे, वह एक हिन्दीदाँ हिन्दू की उर्दू को भी पसन्द आने पर दाद देते थे। गुण-ग्राहकता अकबर का असाधारण गुण था। उर्दू के सुलेखक 'ज़माना' सम्पादक श्रीयुत

मुन्शी दयानारायण निगम (बी०ए०) को आपने यह लिखकर दाद दी थी—

'आपका (निगम साहब का) खत पढ़कर पहली ही जो बात ज़हन में आई वह यह थी अजीज अज जान ! यह उर्दू आपको किस तरह आ गई। आप कहेंगे भला यह भी कोई बात है, जी हाँ यह एक बात है, और बड़ा बात है।'

परिचय के प्रारम्भ में मुझे सन्देह था कि अकबर के दरबार से पत्नोत्तर पाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा, पर आगे चलकर नौबत यहाँ तक पहुँची कि यदि कभी मैं पत्र लिखने में देर करता था, तो उन्हें खुद तरहद्दुद होता था, मेरा हाल दूसरों से पूछते थे। एक बार जब मेरा पत्र पहुंचने में विलम्ब हुआ, तो आपने श्रीयुत मित्रवर रामदास गौड़ को पत्र लिखा। इत्तफ़ाक़ से उसी वक्त मेरा पत्र भी पहुंच गया। आपने लिखा—

'××× मेरे प्यारे पंडित साहब ! आपकी खैरियत दर्याफ्त करने को मैंने बाबू रामदास को बनारस खत लिखा। आज अभी उसका जवाब आया और उसी के बाद आपका खत भी आ पहुँचा। मुझको बड़ा ताज्जुब हुआ।' सच है, दिल को दिल से राह है, ×× आपकी मुहब्बत के मजे लेता हूं, अपनी खैरियत से महीने में दो एक बार मुत्तला किया कीजिये।'

मेरी माता जी के देहान्त का हाल उन्हें गौड़ जी के पत्र से मालूम हुआ, तो यह हमदर्दी का पत्र लिखा—

'आपकी वालदा-साहिबा के इन्तकाल की खबर सुनकर निहायत अफसोस हुआ। मां बड़ी नियामत होती है। तहे-दिल से इस रंज में आपका हमदर्द हूं। अपना हाल क्या लिखूं, दुनिया से दिल-बरदाश्ता, सफरे-आखरत का मुन्तजिर बैठा हूं, याराने-मुवाफिक कम मिलते हैं।'

अपनी महायात्रा से कुछ दिनों पहले अपने आखिरी खत में (६ अगस्त सन् १६२१ ई० को) लिखा था—

'××× अगरचे बहुत नातवाँ व अलील हूं, दुनिया से रूख़सत का वक्त है, लेकिन आपका इश्तियाक और आपकी याद दिल में है—आपकी खैरियत बाबू रामदास जी से पूछी है।'

जब आपसे मुलाकात होती, तो बड़ी मुहब्बत से मिलते थे। घन्टों बातें होती थीं, अपनी नई कविता सुनाते थे। सन् १६१२ में उनसे पत्र-व्यवहार द्वारा मेरा प्रथम परिचय हुआ था। कई बार मैंने प्रयाग जाकर उनके दर्शन भी किए। उत्तरोत्तर आत्मीयता तथा स्नेह बढ़ता ही गया

अकबर की कदामत-पसन्दी

मुझे उनकी कदामत-पसन्दी (अपनी प्राचीन संस्कृति में आस्था) बहुत पसन्द थी। इस पर अक्सर बातें होती थीं और बहुत मजे की बातें होती थीं। अब याद आती है तो दिल थाम कर रह जाता हूं। एक बार की मुलाकात में मुझसे पूछा तुमने अपने लड़के को क्या तालीम दिलाई है?' मैंने कहा 'संस्कृत पढ़ाई है।' सुनकर बहुत ही खुश हुए और उठकर मेरी पीठ ठोकी। इसी सिलसिले में बात करते हुए कुछ सोचने लगे, मैं ताड़ गया कि इस प्रसंग की कोई सूक्ति सोच रहे हैं जो इस वक्त याद नहीं आती। मैंने कहा, आपका एक शेर है, इसी की तलाश तो नहीं हो रही—

'बदन में रूह आ जाती है जब बे-गोरी रंगत के,
तो बे-इंग्लिश पढ़े रोटी भी भी मिल जाती है नेटिव को।'

सुनकर फड़क गये, और उठकर फिर मेरी पीठ थपकी। कहा, 'शाबाश ! मैं इसी शेर को सोच रहा था जो ज़हन से उतर गया था। आप कैसे समझ गये कि मैं इसी की तालाश में हूँ ? सचमुच इस वक्त आपको इलहाम हुआ है।' मैंने अर्ज की—इलहाम तो नहीं, पर मुझे आपका हर मौके का चुना हुआ कलाम याद है, मैं समझा कि इसी की तलाश है—यही इस मौके के लिए मौज़ूं है।

धर्महीन शिक्षा से चिढ़

धर्महीन नवीन शिक्षा से उन्हें चिढ़-सी थी। उन्होंने

नई तालीम और मगरबी तहजीब पर अपने कलाम में जा-बजा बड़ी मजेदार चुटकियाँ ली हैं—

'नई तालीम को क्या वास्ता है आदमीयत से,
जनावे डारविन को हजरते-आदम से क्या मतलब।'

'नई तहजीब में भी मजहबी तामील शामिल है,
मगर योंही कि गोया आबे जमजम मैमें दाखिल है।'

'हम ऐसी कुल किताबें काबिले जब्ती समझते हैं,
कि जिनको पढ़के लड़के बाप को खब्ती समझते हैं।'

'अतफाल में बू आये क्या मां-बाप के अतवार की,
दूध डब्बे का पिया तालीम है सरकार की।'

'तालीम जो दी जाती है हमें, वह क्या है
फकत बाजारी है,
जो अक्ल सिखाई जाती है, वह क्या है
फकत सरकारी है।'

'ईमान बेचने पे हैं सब तुले हुए,
लेकिन खरीद हो जो अलीगढ़ के भाव से।'

एक खत में लिखा है—'××× तर्ज-तालीम ने लड़कों को सत्यानासी कर रखा है। देखिए कब इसलाह होती है।'

एक बात का अफसोस है, जो कभी कम न होगा। (उनका अनुरोध था कि मैं उनकी कविता पर व्याख्या और समालोचना लिखूं) मैंने उनसे निवेदन किया कि इस शर्त पर लिख सकता हूँ कि आप अपनी अप्रकाशित कविता का प्रकाशनीय अंश मुझे लिखा दें। बोले —'बड़ी खुशी से, और किसी को तो नहीं, पर तुम्हें लिखा दूंगा। मगर यह तभी मुमकिन है कि जब १५-२० दिन तुम मेरे पास रहो, या फिर मैं उधर आ जाऊँ। मैं सुनता जाऊँगा तुम्हें जो पसन्द आवे, नोट करते जाना।'—मैंने चाहा भी कि लगे हाथों यह काम कर डालूं, पर मुझे कार्यवश जल्दी ही लौटना था ज़्यादा ठहर न सका। फिर जाने का वादा और इरादा करके चला आया, पर दुर्भाग्य से फिर मौका न मिला। उन्होंने कई बार याद भी दिलाई मैं इरादा भी करता रहा, अवसर की प्रतीक्षा में रहा, पर ऐसे अच्छे काम के लिए अवसर किसी सौभाग्यशाली को ही मिलता है। समय आता है और चला जाता है। वह कब देखता है कि किसी का कोई काम बाकी है। समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। इस घटना को याद करता हूँ तो इस अनुपम उपदेश की यथार्थता के सामने सिर झुक जाता है, और दुख होता है कि इसकी यथार्थता का अनुभव उसी समय क्यों न हुआ, तभी जमकर क्यों न बैठ गया—

'श्व: कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
नहि प्रतीक्षते मृत्यु: कृतमस्य न वा कृतम्॥'

अकबर की अमर रचना पर अपने विचार प्रकट करने का विचार है। सम्भव है, यह विचार कार्य में परिणत भी हो जाय – स्वर्गीय महाकवि का अनुरोध और मेरा संकल्प पूरा हो जाय, पर जो बात रह गई, उसकी पूर्ति अब असम्भव है।

इस बार मैंने उन्हें पत्र लिखा कि 'कुल्लियाते-अकबर' का तीसरा हिस्सा जल्दी छपाइये। उसके उत्तर में आपने लिखा—

'हिस्सा सोम' (तृतीय) मुरत्तब (सम्पादित) तो हो गया, कोशिश की जाएगी कि जल्द छप जाए, लेकिन जब मैं खुद मुरत्तब (सम्पादित) होकर आपके दिल में छप गया हूँ तो यह काफी है। बातों की तो हद नहीं है।'

फिर इसी बारे में दूसरे खत के जवाब में लिखते हैं –

'तीसरा हिस्सा जेर-तरतीब है, और दुनिया जेर-इन्कलाब है। और मैं मरने के करीब हूं देखिए क्या होता है। दुनिया से दिलसर्द है, सिर्फ आप ऐसे बामानी दोस्तों की याद आती है।'

गालिब की तरह आप भी जिन्दगी से बेज़ार थे। अक्सर खतों में अपनी बेजारी जाहिर करते रहते थे। एक खत में लिखते हैं –

आबे-ज़मजम = मुसलमानों के एक पवित्र कूप का पानी, जो काबे के पास है। मैमें-शराब में। अतफ़ाल = बच्चे। अतवार = रंग ढंग : आचार-व्यवहार।

'जिन्दगी से दिल बिलकुल उचाट है, मगर जिन्दगी मालूम नहीं, क्यों हनोज, (अब तक) मुझ को कैद किए हुए है।' एक पत्र में लिखते हैं–'न तबीयत सही, न दिल को मसर्रत (खुशी), मालूम नहीं, क्यों जी रहा हूँ? 'कहाँ रहूँ कि मुझे भी मेरा पता न चले।' एक पत्र के उत्तर में लिखते हैं—

'आपके खत के और आपकी याद से रूह (आत्मा) को शगुफ्तगी (प्रसन्नता) होती है, और यों तो दुनिया से दिलमर्द हैं, कूवते-हाफ्जा (स्मरण-शक्ति) तबीयत पर बार (भार) है, बहर-हाल मुअम्माते-आफरीनश (सृष्टि-रहस्य) की पेचीदगियाँ और जहन का उनमें उलझा रहना एक दिलचस्प शगले-जिन्दगी है।' एक दूसरे खत में लिखते हैं—

'××× आपके खत को आँखें ढूंढती थी', मुद्दत के बाद इनायतनामा आया, बहुत मसर्रत हुई, खुदा करे आपके दर्शन भी मयस्सर हों, ××× आपकी काबलियत और सुखन-फहमी ने मुझको आपका आशिक बना दिया है, मेरे लिए दुआ फरमाया कीजिए, अब बजुज यादे—खुदा और जिक्रे-आखिरत के कुछ जी नहीं चाहता, लेकिन इस रंग के सच्चे साथी नहीं मिलते। आप बहुत दूर हैं।'

एक बार गरमियों में इधर-हरद्वार, देहरादून की ओर—आने का इरादा जाहिर किया था। मैंने याद दिलाई, तो उत्तर में लिखते हैं—

'अगर जिन्दगी बाकी है, तो आइन्दा मौसम गरमा में कस्द (इरादा) देहरादून का है। उस मौके पर आपसे मुलाकात हो सकेगी। आपका दीदार मेरे लिए गिजाए-रूह (आत्मतृप्ति का साधन) है। बीमारी ओ नातवानी से लाचार हूँ, वर्ना आप ही के इंस्टीट्यूशन में (ज्वालापुर-महाविद्यालय में) धूनी रमाता।'—एक दूसरे पत्र में लिखते हैं—

'क्या कहूँ, मुसलसिल नादुरुस्तीए-मिजाज से बहुत मजबूर हूँ' वर्ना अक्सर आपसे मिलता, हरद्वार ही में धूनी रमाता।'

अकबर और हिन्दी

अकबर साहब दिल के बड़े साफ और स्वभाव के मिलन-सार थे। प्रयाग में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जो उत्सव श्रीयुत बाबू श्यामसुन्दर दास जी के सभा-पतित्व में (संवत् १९७३ में) हुआ था, उस अवसर पर बहुत से हिन्दी-साहित्य-सेवियों की मुलाकात मैंने अकबर साहब से कराई थी। जो मिला, वही तारीफ करता हुआ लौटा। प्रो० रामदास जी गौड़ और पं० श्रीधर पाठक जी भी पहली बार मेरे साथ अकबर साहब से मिले थे। कुछ सज्जनों ने सम्मेलन के उत्सव में पधारने के लिए मेरे द्वारा अकबर साहब से अनुरोध किया। अकबर साहब किसी सभा या सोसाइटी में शरीक न होते थे! जब मैंने उनसे सम्मेलन में पधारने की प्रार्थना की, तो कहने लगे कि—'बीमारी और कमजोरी के सबब मैं कहीं आता जाता नहीं हूँ। अक्सर दोस्त अहबाब बुलाते रहते हैं, जिद्द करते हैं, पर मैं किसी जलसे में शरीक नहीं होता। दिल चाहता है कि आपके जलसे में चलूं, लेकिन फिर और लोगों को भी मौका मिल जाएगा कि मुझे जलसे में घसीट ले जाया करें, इस लिए माफ कीजिए।' मैंने कहा—'कहीं आप इस लिए पहलू तो नहीं बचाते कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जलसे में शरीक होने से उर्दू के हिमायती नाराज हो जायेंगे।'

फ़रमाने लगे 'यह बात नहीं, मैं तो हिन्दी सीखना चाहता हूं। मेरी ख्वाहिश है कि कुछ दिन आपका साथ रहे तो हिन्दी पढ़ूं। मैं चाहता हूँ कि अपने कलाम में हिन्दी अलफाज ज्यादातर इस्तेमाल करूं और यह तभी मुमकिन है जबकि आप-से हिन्दीदां दोस्त हिन्दी सिखा दें।'

मैंने कहा, अच्छा जाने दीजिए। यह बात है तो तशरीफ न ले चलिये, पर अपना कोई पैग़ाम तो दीजिए, जो वहाँ सुना दूँ। आपने उसी वक्त यह पैग़ाम लिखकर दिया—

'हो सकूं किस तरह हाजिर, है मेरी सेहत खराब,
खानए तन में मेरे बद-इन्तज़ामी क्यों न हो।
मेरी जानिब से व लेकिन दिल को रखिए मुतमइन,
बुत का जो मद्दाह हो हिन्दी का हामी क्यों न हो।'

यह मेरे उस परिहास-सन्देह का उत्तर था। जब मैंने सम्मेलन में अकबर साहब का यह सन्देश सुनाया, तो लोग खूब हँसे। न आने का बहाना और हिन्दी की हिमायत किस शाइराना ढंग से जाहिर की है, 'बुत का जो मद्दाह हो हिन्दी का हामी क्यों न हो।'

हिन्दी संसार को अकबर के परिचय देने का सौभाग्य सर्वप्रथम मुझे ही प्राप्त है। जब मैंने अपने लेखों में अकबर के तथा दूसरे उर्दू कवियों के शेर उद्धृत करने प्रारम्भ किये, तो विशुद्ध पण्डिताऊ हिन्दी के पक्षपाती कई सज्जन बिगड़े थे। वह इस प्रथा को—'गङ्गा की गैल में मदार के गीत' बताते थे मुझ पर भाषा के भ्रष्ट करने का दोष आरोपण करते थे, पर आगे चलकर यह प्रथा चल पड़ी। जबकि हिन्दी वाले अकबर को समझने लगे, तो वह भी अपने लेखों को उर्दू कवियों की सुन्दर सूक्तियों से सजाने लगे, और अब तो उर्दू की लम्बी-लम्बी कवितायें हिन्दी-पत्रों में बराबर छपती हैं। यह एक आम बात हो गई है।

मेरे एक पत्र के उत्तर में (जिसमें मैंने अपने हिन्दी-लेखों में उनके पद्यों के उद्धरण का उल्लेख किया था) लिखते हैं—

× × ×'आपने मेरे नाचीज अशआर की बड़ी क़द्र की, कि हिन्दी तसनीफ में उनको दाखिल किया और इज्जत-अफजायी की, मैं चाहता हूँ कि आइन्दा हिन्दी के खूबसूरत और सुबुक (हलके) और मानी खेज (भावपूर्ण) अलफाज को ज्यादातर उर्दू में दाखिल करूँ। अफसोस है कि मैंने हिन्दी नहीं पढ़ी, उम्मीद है कि कोई जी-इल्म दोस्त मदद दे।'

एक बार जब मैं उनसे मिलने गया, तो 'आज़ाद' बिलग्रामी की फारसी किताब 'सर्वे-आजाद' दिखाकर बोले कि 'फारसी कलाम के साथ इसमें कुछ हिन्दी-कलाम भी हैं, जो समझ में नहीं आता, सही पढ़ा नहीं जाता। इसमें से हिन्दी कलाम (कविता) कुछ सुनाइये तो।'—मैंने सुनाया, उसका अर्थ भी समझाया। सुनकर बहुत खुश हुए और कहने लगे—

'आज हिन्दू-मुसलमान हिन्दी, उर्दू के लिये भी लड़ते हैं दूसरी बातों के सिवा जबान का सवाल भी लड़ाई का सबब बन रहा है, देखिये यह पहले मुसलमान लोग आलादरजे के शाइर होने के बावजूद हिन्दी में भी शाइरी करते थे। काश मुझे हिन्दी आती होती, तो मैं भी हिन्दी में कुछ लिखता।'

मैंने कहा—'इतना तो आप अब भी कर सकते हैं कि हिन्दी के आम-फहम अलफाज— (जिन्हें आजकल के उर्दू लेखक बिला-वजह छोड़ते जा रहे हैं और उनकी जगह अरबी फारसी के मुशकिल अलफाज ढूंढ कर इस्तेमाल करते हैं)—अपने कलाम में कसरत से दाखिल कीजिए, जिससे दूसरे भी तकलीद करें, जबान और सलीस और आमफहम हो जाए।' इस पर फ़रमाया—

'मुनासिब तो यही है, पर अफसोस है कि मुझे हिन्दी नहीं आती, वर्ना मैं जरूर ऐसा करता। हिन्दी आ जाए तो आपके महावरे पर अमल कर सकता हूं। कोई हिन्दी-दाँ दोस्त इसमें मेरी इमदाद करें तो हो सकता है। आप मुझे हिन्दी सिखा दीजिए।'

कविता की भाषा और भाव

दिल्ली और लखनऊ की जबान का जिक्र चला, तो आपने अपने यह शेर सुनाये और कहा—'अदाय-मतलब के लिए जो लफज मुनासिब हो, वही ठीक है। इसमें तास्सुब या बेजा तकलीद को दखल न होना चाहिये—

'छोड़ देहली लखनऊ से भी न कुछ उम्मीद कर,
नज़्में भी वाज़े-आज़ादी की अब ताईद कर।
साफ है रोशन है और हैं साहिबे-सोज़ो-गदाज़,
शाइरी बस ज़बाने-शमा की तक़लीद कर।'

—शमा की जबान की तरह शाइरी की जबान भी साफ रोशन और दिलों को गरमाने-पिघलाने वाली होनी चाहिए! शमा की जबान 'मोमबत्ती की लौ' अर्थ को (वस्तु को) चमकाने और प्रकाशित करने वाली होती है। वह गरमी पैदा करके मोमबत्ती को पिघलाती भी है।

आपने ये लाजबाब शेर भी शाइरी के मुतल्लिक सुनाए—

'दिल छोड़कर ज़बान के पहलू पै आ पड़े,
हम लोग शाइरी से बहुत दूर जा पड़े।'

'मानी को छोड़कर जो हों नाजुक बयानियाँ,
वह शेर क्या है रङ्ग है लफ्ज़ों के खून का।'

'मैं अपने आपमें इन शाइरों में फ़र्क़ करता हूं,
सखुन इनसे संवरता है सखुन से मैं संवरता हूं।'

—कविता के उद्देश्य और उपयोगिता की क्या सुन्दर व्याख्या है।

—इन शेरों में शेर की सच्ची तारीफ किस अच्छे ढंग से बयान की है। वह कविता ही क्या जिसमें भारी शब्दाडम्बर के भार से दबकर अर्थ कुचला गया हो। 'वह शेर क्या है, रङ्ग है लफ्ज़ों के खून का।'

आजकल की कविता का अधिकांश लफ़्ज़ों के खून का रंग होता है।

कविता का उद्देश्य केवल मनोरञ्जन न होना चाहिए, जो कविता आदमी को सँवार दे–सुधार दे–विचारों को उत्तम बनाकर परमार्थ-पथ का पथिक बना दे, वही सच्ची कविता है। अकबर की कविता ऐसी ही है।

'सखुन इनसे सँवरता है सखुन से मैं सँवरता हूँ।'

अकबर साहब की उस उक्ति में जरा भी अत्युक्ति नहीं है। वह अपनी कविता से स्वयं तो संवरते ही थे दूसरों को भी सँवारते थे। उनकी कविता उच्च भावों को उभारने वाली है, आत्मसाक्षात्कार का एक साधन है।

अकबर का अध्यात्मवाद

सर्वसाधारण कविता-प्रेमी अकबर की कविता के व्यंग्य और बांकपन पर लट्टू हैं। निस्संदेह उनकी कविता में यह गुण बहुत अधिक मात्रा में है, और लाजवाब है। किसी नये पुराने कवि की कविता इस गुण में उसका मुकाबला नहीं कर सकती, पर अकबर साहब को अपनी कविता के जिस विशेष गुण पर गर्व था वह अध्यात्मवाद है। उन्होंने अपने एक खत में लिखा था—

'××× मेरी तबीयत अब तसव्वफ और फ़िलसफ़े की तरफ ज्यादा मायल है। दुनिया की जिन्दगी निहायत बेहकीकत नजर आती है, फिर भी कभी तकलीदी शाइरी पर काफिये खीच ले जाते हैं। अब लिटरेरी ताल्लुकात से भी दामन बचाता हूं, जबर-दस्ती का सौदा रह गया है। सवादे-अदम पेशे-नजर है - (परलोक का दृश्य दृष्टि के सामने है)।'

अकबर साहब पक्के वेदान्ती और सच्चे सूफी थे। मैं उनके अध्यात्मवाद का प्रशसक था। सूफियाना कलाम की ज्यादा दाद देता था, इससे खुश होते थे। एक बार आपने लिखा था—

'आपकी याद में लिटरेरी खयाल से ज्यादा एक रूहानी ख़याल पाता हूँ। इस सबब से आपसे मुरासलत में—(पत्र-व्यवहार में) दम नहीं घबराता।'

एक बार मैंने उनके एक सूफियाना—किते की लम्बा खत लिखकर दाद दी थी। उसके उत्तर में लिखते है—

'××× मुझ को आज तक इसकी दाद नहीं मिली थी। दाद एक तरफ, एक साहब ने मुझसे फरमाया था कि 'मैं इस किते के मानी नहीं समझा', वह साहब बहुत जी-इल्म (विद्वान) और खुद साहिबे-सुखन (कवि) थे, खामोश हो रहा। खुदा ने आपके लिये यह बात रक्खी थी कि इसका मतलब समझिये और दाद दीजिए। असल यह है कि आप साहिबे-दिल हैं। आपने अपनी जबान और मजहब में फिलसफा पढ़ा है, और मजाके-तसव्वफ और हकपरस्ती आप में पैदा हो गया है। खुदा जाने किसने-किसने किन-किन मवाके (अवसर) पर किन अशआर की दाद दी, लेकिन यह तफसीली नजर इस वज्द लज्जत के साथ गालिबन किसी ने नहीं की। ज्यादातर 'सोशल और 'मारल' पहलू पर जो नई पुरानी रोशनी के मुतल्लिक मेरे अशआर में नुमायां है, अहबाब ने नजर की, (इस गजल के इस शेर की) दाद अलबत्ता मौलवी शिबली साहब और हजरत इकबाल ने दाद दी थी—

'किया अच्छा जिन्होंने दार पर मन्सूर को खींचा,
कि खुद मन्सूर को जीना था मुश्किल राजदां-
होकर।'

एक दफ़ा जब मैं अकबर साहब से मिलने उनके मकान पर इशरत-मंजिल में गया, तो इत्तफाक से आपके बड़े साहबजादे जनाबे इशरत हुसैन डिपुटी-कलक्टर भी वहीं थे, वह किसी बड़े अफसर से मिलने जा रहे थे। दूसरे कमरे में पोशाक पहन रहे थे—कपड़े बदलने की तय्यारी में थे। आपने उन्हें आवाज दी – 'मियाँ इशरत हुसैन इधर आओ।' वह आये तो उनसे मेरा परिचय कराया। कहा – 'पण्डित साहब से मुसाफा (शेक-हैंड) करो, यह हमारे खास दोस्त हैं।' वह बड़ी विनम्रता से मिले, मुख्तसिर सी बातें कीं। जाने की जल्दी थी, चले गए। अकबर साहब फरमाने लगे—

'पण्डित साहब, आप जमाने का रंग देखते हैं। मियां इशरत अपने ख्याल में मस्त हैं। नई तहजीब, तालीम और सोहबत का असर है। बाप से बेटे का रंग नहीं मिलता। ख्यालात में तफ़ावत है। यह अपनी नौकरी पर बाहर रहते हैं, मैं यहाँ तन्हाई में अकेला पड़ा रहता हूं। फिर भी खुदा का हजार शुक्र है, मियां इशरत मेरे इस शेर को पसन्द करते हैं, इससे समझता हूँ कि साहबे-दिल हैं, आखिर मेरे लड़के हैं—

दुनिया के तग़य्युर का नहीं हिस,
शैदाए-जमाले-बारी के,
परवाने को मतलब शमा से है,
क्या काम हैं रंगे - महफिल से।*

अपने गुणवान् विद्वान और प्रतिष्ठित पदाधिकारी सुपुत्र में उन्हें बस एक ही खूबी दिखाई दी, कि वह उनके एक सूफियाना शेर को पसन्द करते हैं।

हज़रत इक़बाल को वह बहुत मानते थे। परस्पर सौहार्द था, लेकिन जब 'इकबाल' ने अपनी फारसी मसनवी में तसव्वुफ के खिलाफ ख्यालात जाहिर किये, तो अकबर साहब को सख्त नागवार गुजरा था। एक दिन इक़बाल की 'मसनवी' दिखाकर कहने लगे देखिये तो इकबाल को क्या हो गया है। योरप में जाकर बहक गए। ख्यालात ही बदल गये।' इसका उन्हें मलाल था, इस बारे में आपस में दिलचस्प लिखा-पढ़ी भी हुई थी।

अकबर में तास्सुब न था, पर अपने ख्याल के पक्के थे। जिससे विचार मिल जाते थे, उसे आत्मीय समझते थे। एक पत्र में लिखते हैं—

'× ×अगर्चे जाहिरी इन्तजामें-फितरत ने मुझको आपको अलहदा-अलहदा हलकों में जगह दी है, लेकिन आप तो मेरे दिल के साथ हैं, और ऐसे बहुत कम है, और जो हैं, सब एक हैं।'

अकबर साहब बिलकुल सूफियाना जिन्दगी बसर करते थे—साधुओं की तरह रहते थे। एक बार गरमी के मौसम में मैं उनसे मिलने गया। सख्त गरमी थी और वह भी इलाहाबाद की। फ़रश पर बैठे थे। एक दस्ती पंखा पास पड़ा था। मैं गरमी से घबरा गया, पंखा उठाकर झलने लगा। मैंने कहा, आपने मकान में पंखा नहीं लगवाया? फरमाने लगे—

'किसके लिए और किस लिए पंखा लगवाऊं? इतने बड़े मकान में अकेला हूँ। तबीयत घबराती है, बरदाश्त करता हूं। जिन्दगी से प्यार नहीं – 'जब फक़त मरना ही बाकी है तो अच्छा क्यों रहूँ।' अक्सर अहबाब बिजली का पंखा लगाने की तहरीक करते हैं, मैं टाल जाता हूँ, नफस को आराम पहुँचाना, साँप को दूध पिलाना है। जब कोई साहब मिलने आ जाते हैं, तो अलबत्ता जरूरत मालूम होती है, फिर ख्याल नहीं रहता।

* ईश्वर के अनन्य प्रेमी की दृष्टि संसार के परिवर्तन पर नहीं पड़ती, अपने ही लक्ष्य पर रहता है। पतंगे को अपनी दीपशिखा से मतलब है, महफिल के रंग से——फ़रनिचर की सजावट से——तसवीरों और पर्दों से——उसे क्या काम!

हाशम की मौत

छोटे लड़के हाशम की बे-वक्त मौत के सदमे ने उन्हें निढाल कर दिया था। और वैराग्य-भाव को और दृढ़ कर दिया था। † हाशम बहुत होनहार और होशियार लड़का था। उसे खुद ही पढ़ाते थे, स्कूल में न भेजा था। हाशम की मौत पर जो समवेदना पत्र मैंने लिखा था, उसके जवाब में लिखते हैं –

अगरचे हवादसे-आलम (सांसारिक विपत्तियों की दुर्घटनायें) पेशे-नजर रहते हैं और नसीहत हासिल किया करता हूं, लेकिन हाशम मेरा पूरा कायम-मुकाम* तय्यार हो रहा था, और मेरे तमाम दोस्तों और क़द्र अफजाओं से मुहब्बत रखता था। उसकी जुदाई का नेचरल तौर पर शाक हुआ है, और जरूरत थी कि आप ऐसे अहले-दिल व जो-इख्लास तसकीन दें। आपका ममनून हूँ कि आपने ताज़ियत- शोक समवेदना) का खत लिखा। मैं खुद आपको लिखने वाला था, लेकिन लिख न सका था। कोशिश करता हूँ कि क़ूवते-तबा इस ग़म पर ग़ालिब आए।'

राजनीतिक कविता

खालिश पालटिक्स पर जो कुछ लिखते थे, उसे प्रकाशित न करते थे, हर किसी को सुनाते भी न थे, बहुत शंकित रहते थे। एक बार मुझे एक शेर सुनाया, पर साथ ही हिदायत कर दी कि इसे अपने तक ही महदूद रखिये। जब मैं रूखसत होने लगा, तो उस हिदायत को फिर दोहराया। मैंने अर्ज की–इतमीनान फ़रमाइए, ऐसा ही होगा। मैं अभी गली से निकल कर कोतवाली के पास बाजार में पहुंचा ही था कि पीछे से मुन्शी ने आवाज दी —'पण्डित साहब ज़रा ठहरिये।' मैं रूका, मुन्शी जी ने पास आकर आहिस्ता से कहा– 'सैयद साहब ने फ़रमाया है, उस शेर को अपने ही तक रखिएगा।' मैंने कहा—'सैयद साहब से अर्ज़ कर दीजिए, ऐसा ही होगा। किसी को हर्गिज़ न सुनाऊँगा।' अगले दिन जब मैं फिर मिला तो मैंने पूछा आप को यह शक क्यों होता है? उस शेर में ऐसी तो कोई बात नहीं है, जिसे इस तरह छिपाने की जरूरत हो। आखिर आप इतना घबराते क्यों हैं? फ़रमाने लगे –

'ज़माने की हालत बदली हुई है। जासूसी और चुगलखोरी का बाजार गर्म है। लोग समझते नहीं। बात को कहीं से कहीं पहुँचा देते हैं, तिल का ताड़ बना देते हैं, इससे परेशान हूँ।'

लार्ड कर्जन ने जो कनवोकेशन वाली अपनी मशहूर स्पीच में हिन्दुस्तानियों को झूठा कहा था, उस पर अकबर साहब ने बड़ी मीठी चुटकी ली थी —'झूठे हैं हम तो आप हैं झूठों के बादशाह।' इस कविता को कुल्लियाते अकबर में न देखकर मैंने उनसे पूछा, कि यह नज़्म कैसे छूट गई, कुल्लियात में क्यों नहीं आई? इस पर आपने लिखा था–

'× × कर्जन पर रीमार्क, यह नज़्म ग़लत तौर पर मुझसे मनसूब हुई है, सिलसिले-तक़रीर में मेरे बयान से लखनऊ में किसी ने कोई बात अख़ज करके मौज़ूं कर दिया था। ख़बर नहीं।'

---

† हाशम की जुदाई पर जो करुण कविता आपने लिखी थी, वह बड़ी ही हृदयद्रावक है, दिली दर्द का दर्पण है; दिल थाम कर देखिये –

'आगोश से सिधारा मुझसे यह कहने वाला, अब्बा! सुनाइए तो क्या आपने कहा है।'
अशआर हसरत आगीं कहने की ताब किसको, अब हर नजर है नौहा हर सांस मरसिया है।'

× × ×

नासहा! अकबर मैं दिल की पासदारी क्या करूँ? यह तो बतला करके तर्के-आहोज़ारी क्या करूँ?
वह चमन ही जल गया जिसमें लगाए थे शजर, अब तुझे पाकर मैं ऐ बादे बहारी! क्या करूँ।
जान ही का जिस्म में रहना है मुझको नागवार, दोस्तों से इद्दआए-दोस्तदारी क्या करूँ।
याद है आंखों के आगे हर नज़र है बर्के-दिल, ऐसी सूरत में इलाजे-बेक़रारी क्या करूँ?
बज़्मे-इशरत में बिठाना था जिसे वह उठ गया, अब मैं ऐ: फरदा तेरी उम्मीदवारी क्या करूँ।
कहते हैं अहबाब 'अकबर' काम कुछ दुनिया में कर, हसरतो-इबरत मगर मुझ पर है तारी क्या करूँ?'

* क़ायम मुक़ाम = प्रतिनिधि। कविता–सम्पत्ति का सच्चा उत्तराधिकारी।

पर दरअसल यह नज्म आपही की थी। दूसरा कोई इस रंग में लिख ही नहीं सकता था खुमखानए-जावेद' में यह आप ही के नाम से छपी भी है। इस रहस्य-गोपन का कारण था जिसका आभास उनके इस पत्र में मिलता है। कुल्लियाते अकबर का तीसरा हिस्सा छपने को था। उसके प्रकाशन में बहुत विलम्ब होता देखकर मैंने पूछा कि देर क्यों हो रही है। उत्तर में आपने लिखा था :—

'××× हिस्सा सोयम तय्यार है, उसकी अशाअत सिर्फ इस सबब से नहीं हुई कि रोज़ों बदगुमानियों का बाज़ार गर्म है, अशआरकी यह हालत है कि जो मानी चाहिये, पिन्हा लीजिये, फिर अगर इस्तफ़सार (पूछ-ताछ) हो तो तौज़ीहका मौक़ा भी होता है। बिला इस्त-फसार बदगुमानियाँ पैदा कर दी जाती है; इस शशो-पज में मुब्तला हूँ; बल्कि अफ़सोस होता है कि ज़हन को फ़ितरत ने (प्रकृति ने) यह कूवत-(कवित्व-शक्ति) क्यों दी है······××'।

राजनीति-विषयक आपकी बहुत सी उत्कृष्ट कविताएँ अप्रकाशित ही रह गई। अफसोस हैं, उस अद्भुत कविता से सहृदय समाज बञ्चित रहा। क्या-क्या अपूर्व रत्न होंगे, जो कहीं कोने में छिपे पड़े हैं। वह राष्ट्र की सम्पत्ति है। और बहुमूल्य सम्पत्ति है। क्या उसके उद्धार का कोई उपाय है? शायद नहीं है।

पहली मुलाकात की एक रात

अकबर साहब मान-मर्यादा और पद-प्रतिष्ठा की दृष्टि से बहुत बड़े आदमी थे। जज के ओहदे से रिटायर हुए थे। अंग्रेजी के विद्वान थे। अंग्रेजी सभ्यता के सब रंग देख चुके थे, पर रहन-सहन और आचार-व्यवहार में पक्के स्वदेशी थे। अपनी संस्कृति के उपासक और प्राची-नता के परम प्रेमी थे। स्वभाव के सरल और मिलनसार थे। सबसे पहली मुलाक़ात की एक बात अकसर याद आ जाती है। पत्र-व्यवहार तो बहुत दिनों से चल रहा था। दोनों ओर से मुलाक़ात की तमन्ना का इज़हार होता आ रहा था, पर उससे पहले मिलने का मौक़ा न मिला। कलकत्ते से लौटता हुआ मैं मिलने की गरज से ८ मार्च सन् १९१५ ई० को प्रयाग उतरा। एक जगह असबाब रखकर सीधा इशरत-मञ्जिल पहुँचा। पहले से कोई सूचना नहीं दी थी। गया और सलाम करके कुछ फ़ासले पर पड़ी हुई सामने की कुरसी पर अदब से बैठ गया। अकबर साहब उस वक्त एक सज्जन से बातें कर रहे थे। थोड़ी देर बाद नज़र मिली, तो पूछा—कहाँ से आप तशरीफ लाये! मैंने नाम बताया तो बड़ी उत्सुकता से उठे और मेरी ओर बढ़े, मैं खड़ा हो गया। पास आकर बड़े प्रेम से मुसकराते हुए बोले—'माफ कीजिये, मालूम न था, आप हैं। पण्डित साहब! कुछ हर्ज तो न होगा—आपको नागवार तो न गुजरेगा मैं बग़लगीर होकर मिल लूं?' मैंने झुककर कहा — 'जहे-क़िसमत, बगल-गीरी क्या कदम बोसी भी हासिल हो जाय तो मुराद पाजाऊं।' फिर बड़े प्रेम से गले मिले और देर-तक खूब खुलकर बेतकल्लुफी से बातें करते रहे। जब मैं रुखसत होने लगा, तो कहने लगे—'इतनी जल्दी आपका असबाब कहाँ है? यह न होगा। आपको यहीं क़याम करना होगा।' तशरीफ रखिए। अभी आदमी जाकर असबाब उठवा लाएगा।' मैंने अर्ज किया कि मुझे आज ही रात को जाना हैं। दो एक जगह और मिलना है। जाने को जी तो नहीं चाहता, फिर कभी हाजिर हूंगा। अब इजाजत दीजिये। मुश्किल से इज़ाजत मिली। बाग़ के हिन्दू माली को बुलाकर हुक्म दिया—'बाजार से दो रुपये की उम्दा मिठाई और कुछ फल लाओ, और पंडित जी के डेरे पर पहुंचा आओ।' मैंने हर-चन्द कहा, इसकी क्या जरूरत है, पर एक उज्र न सुना, मिठाई और फल मँगवा कर ही मानें। 'प्रसाद' समझ कर स्वीकार करना पड़ा।

मेरा कोई सहृदय मित्र या आत्मीय जब किसी काम से इलाहाबाद जाता था, तो मैं उससे अकबर साहब से मिलकर आने का अनुरोध कर दिया करता था। एक बार मेरे आत्मीय श्रीयुत रामचन्द्र जी दत्यानवी, एक मुकद्दमे के सिलसिले में इलाहाबाद गये। अकबर साहब से मिले, और एक रुपया हाशम को (अकबर साहब के छोटे लड़के को) मिठाई के लिए दे आये। इस घटना के बाद मेरे एक पत्र के उत्तर में अकबर साहब ने जो पत्र मुझे

लिखा था, उसे मैं यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत करता हूँ। उसके पद-पद से कितना गहरा प्रेम और अकृत्रिम कृतज्ञता का भाव टपक रहा है, यह उसके पढ़ने से मालूम होगा। पत्र क्या है, सहृदयता का मनोहारी चित्र है—मुँह बोलता फ़ोटो है।

इलाहाबाद
इशरत-मंजिल
९ फरवरी, सन् १९१३ ई०

'शफीके-मुकर्रम, ज़ाद-लुत्फ़हू'

वाज़ तरद्दुदातो—मकरूहात में मुबतला रहा, इस सबबसे अल्ताफनामे के जवाब में देर हुई। आपकी मुहब्बत व क़दर-अफ़ज़ाई का शुक्रगुज़ार हूँ। आपने—'हातम भी मुमसिक है'—के मतलब को खूब समझा, माशा-अल्ला चश्म-बद्दूर। आपकी सखुनफहमी और नाजुक-ख्याली की कहाँ तक दाद दूं। खैर, नाजुक-ख्याली और सखुनफ़हमी एक तरफ, बड़ी नामत आपको यह हासिल है कि इल्म ने दुनियाए-नापायदारकी हकीकत को आप पर मुनकशिफ़ और खुदा से आपको नजदीक कर दिया है, यह बरकत सस्कृतदानी और दिल की खूबी की है।

चन्दरोज हुए आपके एक दोस्त तशरीफ़ लाये थे। उन्होंने हस्ब-हिदायत आपको, कुल्लियाते-अकबर की दोनों जिल्दें खरीद कीं। उनका कोई मुकद्दमा था। चिराग जला चाहता था, मुझको आँखों की शिकायत है। मेरा छोटा लड़का हाशम सामने आया, उनको सलाम करके कुरसी पर बैठ गया। आपके दोस्त ने हाथ बढ़ा कर हाशम के हाथ में कुछ दिया। मैं न समझ सका कि क्या बात हुई, फिर वह मुझसे रुखसत होकर कह गये थे कि फिर मिलूंगा। उनके जाने के बाद हाशम ने मुलाज़िम को एक रुपया यह कहकर दिया कि पण्डित साहब किताब की कीमत दे गए हैं। मुझ को ताज्जुब हुआ, क्योंकि किताब की कीमत तो आपके दोस्त मुलाज़िम को पहले ही दे चुके थे। उस वक्त हम लोगों को यह मालूम हुआ कि आपके दोस्त ने हाशम को रुपया इनाम के तौर पर मिठाई खाने को दिया था। हाशम के सामने किताब की कीमत नहीं दी गई थी वह यह समझा कि पण्डित साहब ने एक जिल्द हिस्से दोयम की खरीद की है, और उसकी यह कीमत अदा की। हाशम बहुत अफसोस के साथ मुझसे कहने लगे कि अब्बा! बड़ी गलती हुई। न मैंने सलाम किया, न शुक्रिया अदा किया। मुझको भी निहायत नदामत हुई, और इसके साथ ही अगले वक्तों की मेल मुहब्बत और शफाकत की बातें याद आईं। आपके दोस्त ने एक बड़ी पुरानी रस्म का बर्ताव किया, जिसका अब वजूद न रहा, और मुझको वहमो-गुमान भी न था। यही बातें थीं कि दिलों को मिला देती थीं, भाई बना देती थीं। अब तो जनाब! अग़यार क्या मानी, आपस ही में ऐसी शफ़कतों के इजहार का ख्याल कम है। एक एक बादए-खुदपरस्ती में महबोसरशार है। कौन्सिल और कमेटी, कोतवाली और अखबार मौजूद हैं, फिर आपस में मुहब्बत बढ़ने, भाईचारा करने की क्या जरूरत है। दरहक़ीकत उनके इस बरताव पर आबदीदा हो गया। यह भी ख्याल आया कि आपके दोस्त आपके कैसे सच्चे मोतक़िद और अज़ीज बावफ़ा और खैरतलब हैं कि मुझ को आपका नियाज़मन्द समझकर उन्होने यह रस्म अदा की। मैंने उसी वक्त आदमी को दौड़ाया कि आपके दोस्त अभी गली में जा रहे होंगे जरा बुला लो, मगर वह न मिले और फिर उनसे मुलाकात न हुई न यह मालूम हुआ कि उस मुकद्दमे में क्या हुआ मेरा इरादा था कि उनकी दावत करता। अगरचे उजलत-गर्जी हो गया हूँ

तरद्दुदातो—मकरूहात में मुब्तला = अवांछनीय चिन्ताओं में व्यस्त। अलताफ़नामा = कृपापत्र। मांशा-अल्ला = ईश्वर करे। चश्म-बद्दूर = बुरी नजर (कुदृष्टि) दूर रहे।

नदामत = लज्जा, पछतावा। शफ़क़त = प्रेम। फ़र्कमज़ाहब = धार्मिक भेद-भाव। जांनिसार = प्राण निछावर करने वाले, सहायक। अग़यार = ग़ैर, दूसरे, ऊपरी लोग। बादाए खुदपरस्ती में महबोसरशार = अहंकार के मद्य से मत्त। आबदीदा = आँसू भर लाना। मोतक़िद = भरोसा रखने वाले। अज़ीज़ बावफ़ा = सच्चे प्यारे। नियाज़मन्द = प्रेमी, मित्र। उजलत ग़र्जी = एकान्तवासी। गोश-गुज़ार करदें = कानों तक पहुँचा दें, सुना दें।

लेकिन बशर्ते जरूरत उस मुकद्दमे की पैरवी में खुद भी कुछ तहरीक करता। निहायत नदामत हुई कि शुक्रगुजारी की नौबत न आई, एक हर्फ भी जबान से न निकला। वह मुसाफिर थे मुझ पर मेहमांदारी वाजिब थी। यह अमर तो मैंने उनसे अर्ज भी किया था कि आप यहाँ ठहरें, लेकिन उन्होंने फरमाया कि मैं एक मुनासिब जगह ठहर गया हूँ।

यह सारी दास्तान मैंने इस लिए लिखी कि आप अपने दोस्त के गोश-गुजार कर दें, और खुद भी मुत्तला हों। आप उनसे फ़रमा दीजिये कि मैं निहायत शुक्रगुजार हूँ, वह मुझ को अपना इखलाकी मदयून बना गये और मुझको इल्म भी न हुआ। जोफ़े-बसारत ने आँखों पर पर्दा डाल दिया। मैं बहुत उज्र करता कि इसकी क्या जरूरत है।

अपनी खैरियत से मुत्तला फरमाइये।

आपका खैरतलब और नियाज-मन्द
अकबर हुसैन

अकबर साहब मेल-मिलाप के बड़े हामी थे, आपस के झगड़ों से उन्हें सख्त नफ़रत थी। एक खत में लिखते हैं—

'× × ज़माने का रंग आप देख रहे हैं। झूठी इज्जत और नुक़सान रसां लज्जतों का शौक़ तबीयतों पर ग़ालिब है? नाम है मुल्की तरक्कियों का, लेकिन कोशिश उन बातों की हो रही है जिनसे सोसायटी टुकड़े टुकड़े हो जाए, जिन्दगानी बएवज़ शीरीं होने के तल्खी से कटे। बहर-कैफ़ हमको और आपको खुदा से दुआ करनी चाहिए कि हालतकी इसलाह हो।'

रिफ़ार्म-स्कीम पर एक खत में क्या अच्छा रीमार्क किया है—

'× × × आजकल वोट-ख्वाहों ने नाक में दम कर रखा है। एक दोस्त से ख्वाहमख्वाह बेलुत्फी की सूरत पैदा है। क्या न्यू स्कीम (New Scheme) खुदा की रहमत है। यह महज़ फ़िकरा है कि शुरू तरक़्क़ी में ऐसा ही होता है।'

अकबर की जीवनी

एक बार मैंने अकबर साहब की जीवनी लिखने के लिए मसाला मांगा था। देरयाफ्त किया था कि आपने खुद या किसी दूसरे साहब ने आपके हालात लिखे हों तो मुझे भिजवाइये या पता दीजिये। इसके जवाब में आपने लिखा था—

'× × × मुफस्सिल हालात व खयालात की तहरीर का हनोज़ इत्तफ़ाक़ नहीं हुआ अगरचे बहुत दिनों से अहबाब की फरमाइश है। सेहत खराब है दीगर तरद्दुदात रहते हैं, लेकिन मेरे अशआर से उन अशआर को जो तकलीदी तौरपर-क़ाफ़िया पैमायी के तौरपर लिखे गये हैं, खारिज कीजिए, तो वह मेरी तबीयत और खयालात के आईना हैं।'

सचमुच कवि की कविता ही कवि की सच्ची जीवनी है, उसमें विचारों का जीता-जागता, बोलता हुआ चित्र है, वह उसका यशः शरीर है, आत्मा का अमर प्रतिबिम्ब है। किसी स्त्री ने अपने दर्शनाभिलाषी कवि को लिखा था—

"हमचु बू पिनहा शुदम् दर-रंगे-गुल मानिन्दे-गुल।
हरके दीदन मैल दारद दरसुख़न बीनद मरा॥"

– जिस तरह फूल में उसकी गन्ध छिपी रहती है, उसी तरह मैं अपनी कविता में छिपी हूं। जो मुझे देखना चाहे, वह कविता में देखे, वही मेरा असली स्वरूप है। गुल को (फूल को) छोड़ कर गन्ध बाहर दिखाई नहीं दे सकती।

अकबर साहब भी अपनी कविता में छिपे हैं। उनके स्वरूप का ज्ञान उनकी कविता में ही हो सकता है। सूक्ष्मदर्शी इन संक्षिप्त संस्मरणों में भी उनके स्वरूप का स्पष्ट आभास देख सकते हैं। ★

इखलाकी मदयून = सदाचार के व्यवहार का ऋणी। जोफे-बसारत = आँखों की कमजोरी।

सतसई–संहार

—पं० पद्मसिंह शर्मा

बहुत लोगों की राय है कि किसी सृष्टि में दोषोद्घाटन करना बुरी बात है। मनुष्य का कोई काम सर्वथा निर्दोष हो ही नहीं सकता। इसलिए जिस प्रकार हंस पानी में से दूध ग्रहण कर लेता है, वैसे ही मनुष्य को भी सारग्राही होना चाहिए। अथवा :—

धवतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

अर्थात् दौड़ते हुए आदमी का कहीं गिर जाना सम्भव है, वहाँ बुरे आदमी तो गिरनेवालों को हँसने लगते हैं, और अच्छे आदमी उसे सम्भाल लेते हैं।

यह मत बहुत ठीक है, ऐसा होना ही चाहिए। परन्तु जहाँ पानी में दूध बिलकुल ही न हो, या दूध के स्थान में सेलखड़ी या खड़िया मिट्टी घुली हुई हो (जिससे दूध का भ्रम होता हो) वहाँ हंस क्या ग्रहण करें? और जो आदमी साफ सुथरी सड़क पर चलता हुआ भी बार-बार कदम-कदम पर ठोकर खाकर मुँह के बल गिरता है उसे कोई कहां तक सम्भाले!! उसे तो यही कहना पड़ेगा कि "भाई! पहले तुम अपना इलाज कराओ, टाँगों में बल आने दो, फिर चलने की कोशिश करना। तुममें चलने फिरने तक की ताकत तो है नहीं, और तुम आँख मीचकर दौड़ना चाहते हो। यह अच्छा नहीं करते।"

और यदि चलने फिरने में असमर्थ आदमी किसी दूसरे पुरुष के ऐसे पात्र को जिसमें कि उस पात्र के स्वामी का सर्वस्वभूत और सर्वोपयोगी कोई रसमय पदार्थ भरा हो, इस दौड़-धूप में लेकर गिर पड़े, तो इस दशा में वह स्वयं तो चोट खायगा ही, पर उस पदार्थ को भी नष्टभ्रष्ट कर देगा!

अर्थात् कोई मनुष्य यदि अपनी स्वतन्त्र रचना में किसी विशेष प्रकार की त्रुटि रहने देता है, या भारी-भारी अशुद्धियाँ करता है, तो इससे वह अधिकतर अपनी ही हानि करता है—अपने ही ग्रन्थ को अनुपादेय बनाता है, और अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करता है।

परन्तु यही बात यदि किसी प्राचीन ग्रन्थ की टीका या अनुवाद में की जावे तो अनुवादक या टीकाकार अपनी अज्ञता का प्रकाश करने के साथ-साथ ग्रन्थकर्त्ता के नाम को भी कलंक लगाता है, उसे ऐसी पब्लिक में जो उससे अच्छी तरह वाकिफ नहीं है, बदनाम करता है, और उस पर से सर्वसाधारण की श्रद्धा को कम करता है।

क्या ऐसी अवस्था में भी चुप ही रहना ठीक है?

मनागनभ्यावृत्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमते कः॥

जो क्षमाशील पुरुष है वह कई बार थोड़ा-थोड़ा अपराध करने वाले को या एक बार बहुतसा अपराध करने वाले को भले ही क्षमा करदे, पर बार-बार और एक से एक बढ़कर अपराध करने वाले आदमी को कोई कैसे क्षमा करे।

किसी पुस्तक की दस बीस साधारण अशुद्धियाँ क्षन्तव्य हो सकती हैं, पर जो पुस्तक सब प्रकार के दोषों से "सर्वांग भूषित" हो, और "सर्वसाधारण की बुद्धि में कविवर का आशय प्रकट हो जाय" इस निमित्त सर्वसाधारण के उपयोगार्थ बनी हो, उसके गुण-दोष सर्वसाधारण पर अवश्य प्रकट होने चाहियें।

'सतसई' की वह टीका जिस पर हम इस समय कुछ लिखना चाहते हैं, खेद है कि इसी प्रकार की है। उसमें दोहों के अर्थों का अनर्थ और भावों का अभाव है। यद्यपि टीकाकार महाशय अलंकारों का नाम नकल करते गये हैं, जिससे यह तो पता चल जाता है कि यहाँ अमुक

अलंकार था, पर उन्हें इस प्रकार तोड़ा मरोड़ा गया है कि उनकी सूरत नहीं पहचानी जाती। कौन किससे कह रहा हैं, अथवा किसका वर्णन है, इस अत्यन्त आवश्यक बात को जिसे सब प्राचीन टीकाकारों ने लिखा है, और जिसके निर्देश की 'सतसई' जैसे कोषात्मक काव्य की टीका में बड़ी जरूरत है, बिल्कुल ही छोड़ दिया है। मूल पाठ को भी शुद्ध नहीं रहने दिया। उसे भी यत्र-तत्र भ्रष्ट करके सन्निवेशित किया है। यह दशा दस पांच जगह नहीं किन्तु प्रायः सब ग्रन्थ में समान रूप से वर्त्तमान है।

अच्छा, अब जरा सावधान होकर विद्यावारिधि जी (पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र) का "साहित्य-परिचय" सुन लीजिए, कहते हैं :—

"सतसई में साहित्य विषय का जो वर्णन आया है, उसको संक्षेप से वर्णन करते हैं साहित्य दर्पण में वाक्य रसात्मक काव्यम् और काव्य प्रकाश में तददोषै शब्दार्थौ सगुणवनलंकृतिः पुनः क्वापीति" और रसरहस्य के कवि कहते हैं :—

जगते अद्भुत सुखसदन, शब्दरु अर्थ कवित्त।

इसमें जगत् के अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कार का ही नाम काव्य कथन हुआ है इत्यादि।"

जरा ठहरिए, इतनी जल्दी एक साँस पाठ कर जाने से सर्वसाधारण न समझ सकेंगे। पहले बताइए श्रीमान् ने यह दो संस्कृत-वाक्य क्यों उद्धृत किये थे? इनसे क्या अपराध हुआ जो आपने इनकी बात तक न पूछी? सर्व-साधारण इसका कुछ अर्थ न समझे। कहीं यह बात प्रकट करने के लिए ही तो इन्हें तकलीफ नहीं दी गई कि जिससे सर्वसाधारण जान जायँ कि आपकी पहुँच साहित्य दर्पण और काव्य प्रकाश तक है। अस्तु, महाराज जी। 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' यह वाक्य कौन से काव्य प्रकाश में है? विश्वनाथ वाले साहित्य दर्पण में तो "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह पाठ है। सम्भव है, आपके पुस्तक में वैसा ही पाठ रहा हो, तब "वाक्य रसात्मक काव्यम्" इस समस्त पद का अर्थ क्या होगा? और "तददोषै शब्दार्थौ सगुणवनलंकृतिः पुनः क्वापीति॥ इसमें "तद-दोषै?' का सम्बन्ध किसके साथ है? तथा "सगुणवनलकृतिः क्या चीज है? कृपा करके बतलाइए तो, "जिस कविता में रस सुख लोकोत्तर चमत्कार है वही काव्य कहाता है" आपके इस लोकोत्तर वाक्य से जाना जाता है कि कविता और काव्य में कुछ भेद जरूर है, सो आप जानते ही होंगे। पाठकगण! 'साहित्य परिचय' में आगे चलकर जो दोहे लिखे हैं, वे टीकाकार के अपने तो हैं नहीं, आपने यह भी नहीं लिखा कि वे कहाँ स लिये गये हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह प्रायः साहित्यदर्पण के कुछ श्लोकों का अति दूषित अनुवाद है। कहीं-कहीं आपने अपनी ओर से भी कुछ-कुछ बढ़ाया है, 'साहित्य दर्पण' का नाम लेने की आपने जरूरत नहीं समझी। ऐसी दशा में यह अच्छा ही हुआ। नाम ले देने से साहित्य दर्पण की कौन इज्जत बढ़ जाती। उसे और लज्जित ही होना पड़ता। 'वाक्य रसात्मक काव्य' की दुर्दशा पर ही उसे अफसोस है कि ऐसी दशा में उसे क्यों बदनाम किया गया। अस्तु, रसों का कुछ हाल लिखकर आप फर्माते हैं :—

"इसके आगे काव्य की ध्वनि, व्यंजना लक्षण (?) का विस्तार होता है परन्तु हम सतसई मात्र का विषय संक्षेप से दिखाते हैं" (सा० प० पृ० २४) फिर इससे आगे चलकर ३०वें पृष्ठ पर लिखते हैं—"इसके आगे ध्वनि अर्थ लक्ष्य व्यंजना आदि के अनेक विषय चलते हैं परन्तु यहाँ अब प्रयोजनीय अलंकार विषय कहे जाते हैं।"

चलते होंगे, आपके राम को इससे क्या प्रयोजन। उधर न देखिए अंगूर खट्टे हैं। आप सतसई मात्र का विषय संक्षेप में दिखाइए। आपने तो ध्वनि आदि का नाम लेकर उनकी याद भी व्यर्थ दिलाई। अब जब कि आप जिक्र छेड़ ही बैठे तो बात पर बात याद आ गई, क्यों महाराज! 'सतसई मात्र में' ध्वनि व्यंजना या लक्षणा का पता नहीं। अर्थात् अभिधा, लक्षणा, व्यंजना ये शब्द की तीन शक्तियाँ और वाक्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य ये तीन प्रकार के अर्थ सतसई में नहीं है। इसलिए आपने अपने 'साहित्य परिचय' में (जो 'सतसई मात्र का' विषय समझाने के लिए लिखा गया है) इनको स्थान नहीं दिया। फिर उसमें और है क्या? ब्रजभाषा के जानने वाले बड़े-

बड़े विद्वान तो कहते हैं कि 'सतसई' अत्युत्कृष्ट काव्य है, और काव्य के दो ही उत्तम भेद हैं जैसा कि साहित्यदर्पणकार लिखते हैं "काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्य चेति द्विधा-मतम्।" आप 'ध्वनि' आदि को 'सतसई मात्र' का विषय ही नहीं बतलाते, इससे उनको काव्यता भी गई! आपने अपनी इस प्रतिज्ञा को टीका में खूब निबाहा है। चाहिए भी ऐसा ही, आदमी जो बात कहे उसे सांगोपांग पूरी उतार दे। टीका पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि सतसई में ध्वनि आदि कुछ भी नहीं। इस दशा में यदि कोई आपसे कुछ कहने लगे तो आप कह सकते हैं कि "भाई तुम पहले मेरी टीका आद्योपान्त पढ़ जाओ। उसमें यदि कहीं भी ध्वनि का गन्ध तुम्हें मिल जाय तब मुझसे कहना। सतसई को मैं जैसा समझता हूं वैसा ही उसका टीका किया है, लोगों की राय का मैं जिम्मेदार नहीं, वह उसे कैसा ही समझा करें।" ठीक है, बस हम भी चुप हैं।

अच्छा, अब 'साहित्य परिचय' सुनिये। २६ पृष्ठ पर नायिकाओं का भेद बतलाते हुए विद्यावारिधि जी आज्ञा करते हैं—'और अधीरा कठोर वचन कहती है यह सब में लगा लेना।' बहुत अच्छा, जो आज्ञा, सब में लगा लेंगे, अर्थात् धीरा कठोर वचन कहती हैं, अधीरा कठोर वचन कहती है, धीराधीरा कठोर वचन कहती है। कहाँ तक गिनावें, नायिका मात्र कठोर वचन कहती हैं, कठोरवादिता उनका स्वाभाविक गुण है, वह उनसे किसी प्रकार किसी अवस्था में दूर नहीं हो सकता। क्यों महाराज! इसी प्रकार लगा लें न?

'प्रगल्भा यदि धीरा होती है तो क्रोध छिपा कर बहुत आदर दिखाती है।' आपके इस वाक्य में वह लगा लें? तब तो यों कहना होगा—यदि प्रगल्भा धीरा होती है तो क्रोध छिपाकर बहुत आदर दिखाती है। कठोर वचन कहती है।' पर यदि कोई इसका अर्थ पूछने लगे तो क्या कहा जाय? कठोर वचन कह कर आदर कैसे दिखाया जाता है? खैर, कुछ चिन्ता नहीं, कह देंगे कि विद्यावारिधि जी की ऐसी ही आज्ञा है—

"अविद्यावारिधियन्तु भवति यथान्यासमेवास्तु।"

स्वाधीनभर्तृका का विलक्षण लक्षण सुनिये—? "जो अपने स्वामी के सदा प्रेम में अधीन रहे यह स्वाधीन-भर्तृका' (सा० प० २७)

किस साहित्य में लिखा है? जरा इस शब्द की व्युत्पत्ति पर तो ध्यान दीजिए। विश्वनाथ जी से तो पूछिए वह क्या कहते हैं—

'कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्।
विचित्र विभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका।'

अर्थात् रतिगुणाकृष्ट कान्त जिसके पास से न टले वह स्वाधीनभर्तृका। आपकी बोली में 'जिसके प्रेम के अधीन सदा स्वामी रहे, वह। (स्वाधीनो भर्त्ता-यस्याः सा, 'नद्युतश्चेति-कप्)। प्रोषितभर्तृका का लक्षण भी सुनने लायक है—जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो उसकी कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है।' उसकी किसकी? जिस (पुरुष) का पति कार्यवश परदेश गया हो-- वह स्वयं घर पर ही मौजूद हो।) उस पुरुष की स्त्री प्रोषित-भर्तृका अथवा जिस (स्त्री) का पति परदेश गया हो, उस (स्त्री) की (वह स्वयं नहीं किन्तु उसकी स्त्री!!) कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है। तीसरी तरह 'उसकी' की खपत हो नहीं सकती।

विद्यावारिधि जी! यह आप किस लोक की रीति का वर्णन कर रहे हैं? इस लोक में तो पति का पति या स्त्री की स्त्री होते नहीं!!!

पाठक वृन्द! 'जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो वह कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है।'

इस सीधी सी बात को विद्यावारिधि जी ने कैसा जटिल बना दिया। आपको आशा है कि यह बिहारी के काव्य का ठीक अर्थ करेंगे।

अच्छा, अब भाव आदि का भी कुछ-कुछ भाव विद्यावारिधि जी से सुन लीजिए।

'भाव—निर्विकारात्मक चित्त में पहला विकार (विभाव?) भ्रूनेत्रादि के विकार से सम्भोग की इच्छा

प्रकट करनी थोड़ा संलक्ष्यं विकार हाव है। खेलादि के अत्यन्त प्रगट विकार का नाम हेला है।'

वाचक महोदय ! इन लक्षणों का भाव आप समझे ? विकार और भ्रू नेत्र के बीचोबीच ब्रैकिट के अन्दर जो यह 'विभाव' देव विराजमान हैं, यह बेचारे किसके महमान हैं ? और यह "खेलादि का अत्यन्त प्रगट विकार" क्या बला है ? साहित्यदर्पण में तो 'हेलात्यन्त समालक्ष्यं विकार: स्यात् स एव च।' अर्थात जिसमें विकार के चिह्न अति स्पष्ट प्रतीत होने लगें, ऐसा भाव ही हेला कहलाता है। इसमें खेल कूद का नाम भी नहीं। लीला का लक्षण सुनिये—'अगवेश अलकार धारणपूर्वक प्रीतियुक्त प्रेम भरे वचन कहकर प्रिय की अनुकृति का नाम लीला है।' क्या बात हुई ? 'अगवेश अलंकार धारण पूर्वक' इसका क्या अर्थ हुआ ? अंगधारण पूर्वक, वेशधारण, अलंकार धारण का तो कुछ अर्थ हो भी जाएगा, इस 'अंग धारण' का क्या होगा ? और 'प्रीतियुक्त प्रेम भरे वचन कह कर' यहाँ प्रीति और प्रेम में क्या भेद है ? पाठक ! यह अपूर्व लीलामयी व्याख्या साहित्यदर्पण के जिस श्लोक की है, वह यह हैं—

"अंगैर्वेशैरलंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि ।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः।'

अब विलास की बारी आई—

इष्ट के देखने से यान स्थान, आसनादि तथा मुख-नेत्रादि की विशेष विचित्रता का नाम विलास है। कैसा अच्छा लक्षण है ? इष्ट, यान, आसन, स्थान इन पदों का अर्थ लिखने की आपने जरूरत नहीं समझी। इष्ट वस्तु अनेक प्रकार की होती है, यथा, धन, विद्या, स्त्री, पुत्र आदि। यान भी, व्योमयान, धूनयान आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। स्थान के भी कई अर्थ हैं, यथा, कण्ठ तालवादि, गृह आदि। रहा आसन सो वह कुशासन ऊर्णासन, पीठासन तथा वीरासन, उष्ट्रासन और सिंहासन आदि अनेक भेदों में विभक्त है। साहित्यदर्पण के जिस श्लोक का यह सरस अनुवाद विद्यावारिधि जी ने किया है, वह इस प्रकार है—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसनदर्शनादिना ।।

अर्थात् प्रिय के देखने आदि से, चलने, खड़े होने, और बैठने में, तथा मुखनेत्रादि की क्रिया में कुछ विशेषता—तबदीली आ जाती है, इसका नाम विलास है।

मोट्टायित का लक्षण सुनिये—

'प्रीतम की कथा आदि में भाव रखकर कान आदि खुजाते जाने का नाम मोट्टायित है।'

अर्थात् विद्यावारिधि जी के मत से इस भाव (मोट्टायित) में 'कान आदि का खुजाते जाना' लाजमी शर्त है, प्रधान लक्षण है। परन्तु सतसई के २५१ दोहे की चोटी पर विद्यावारिधि जी ने स्वयं "मोट्टायित हाव वर्णन" लिखा है, उसमें इस 'कान खुजाते जाना' का पता नहीं, देखिए—

"सकुचि सरकि पिय निकट, मुलकि कछुक तन तोरि।
कर आंचर की ओट कर जमुहानी मुख मोरि।।"

इसके अतिरिक्त शिवराम त्रिपाठी कृत 'रस-रत्नहार' में मोट्टायित के उदाहरण में यह श्लोक दिया है—

चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्वादेशे न चेतासि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ।।

इसमें भी 'कान आदि खुजाते जाना' नहीं आया। विश्वनाथ ने भी 'कर्णकण्डूयनादिकम्' लिखा है, अर्थात् कान खुजाना आदि।

'कुट्टमित' का सिर किस प्रकार कूटा गया है, सो देखिए—

"प्रीतम के केश, स्तन, अधरादि के स्पर्श करने से जो सम्भ्रम से हाथ पैर का विधूनन है, उसको कुट्टमित कहते हैं।"

'प्रीतम के केशस्तन······यह आप क्या कह गये ? खूब, "पुंस्वेव योषिदू भ्रमः।" आपकी पद-विन्यासचातुरी की बलिहारी।'

"शिरः करविधूननम्" 'सिर और हाथ का हिलाना' की जगह आप लिखते हैं "हाथ पैर का विधूनन" 'शिरः'

का अर्थ आप ने 'पैर' कर दिया। और विधूनन को ज्यों का त्यों ही रहने दिया। परन्तु यह न सोचा कि हाथ पैर हिलाना, हिन्दी में, उद्योग करने को कहते हैं, और केवल हाथ हिलाना या सिर हिलाना, अनिच्छाद्योतक क्रिया है। अच्छा आगे सुनिए—

"मुग्धा कन्या केवल देखती है, बहुत पूछने से कुछ कहती है।"

केवल देखती है? और कुछ नहीं करती? सुनती भी नहीं? और कान भी नहीं खुजाती क्या? यह 'मुग्धा' को आपने कन्या का विशेषण ही माना है, तब तो श्रीमान् के मत में प्रौढ़ा कन्या भी होती होगी? इसलिए तो कन्या के साथ 'मुग्धा' विशेषण लगाने की जरूरत हुई। पर साहित्यदर्पण की १५४ कारिका की उत्थानिका में "अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि" यह है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है 'मुग्धा' और 'कन्या' भिन्न हैं। क्योंकि मुग्धात्व नवोढ़ा में भी होता है, सिर्फ कन्या में ही नहीं।

दूती का लक्षण सुनिये—

……भक्तिमान् (?) तत्वज्ञाता (?) स्मृतिवान् (?) मधुरभाषी (?)……दूती होनी चाहिये। सो तो ठीक पर स्त्रीलिंग दूती शब्द के विशेषणात्मक ये शब्द भी इस प्रकार होने चाहियें—भक्तिमती, तत्वज्ञा या 'तत्वज्ञात्री' स्मृतिमती, मधुरभाषिणी इत्यादि। आगे जैसी आपकी आज्ञा।

अच्छा, अब सिर्फ विदग्धा (?) अनुप्रास और वृत्यनुप्रास का लक्षण और सुन लीजिये।

"जहाँ बहुत से वर्ण एकबार फिर आवें वह विदग्धा अनुप्रास है।" "अनेक व्यंजन का एकधा स्वरूप से वा बारम्बार अनेक प्रकार क्रम से एक व्यंजन का बार-बार समभाव से जो वर्त्तना है उसको वृत्यनुप्रास कहते हैं।"

जरूर कहते होंगे, पर आपकी स्पेशल ट्रेन की घड़घड़ाहट में कुछ समझ नहीं पड़ता कि आप क्या कह रहे हैं।

यद्यपि विद्यावारिधि जी ने प्रायः प्रति दोहा की टीका में कुछ न कुछ कारस्तानी दिखाई है, तथापि प्रबन्ध बढ़ जाने के भय से हम कुछ ही दोहों की टीका लिखेंगे। हम अपने इस लेख में सतसई का मूल पाठ वही रखेंगे जो विद्यावारिधि जी ने अपनी टीका में रखा है। विद्यावारिधि जी ने मूलपाठ पर भी खूब हाथ साफ किये हैं, जहाँ तहाँ उसके सौष्ठव का मूलोच्छेद कर डाला है। अब जरा टीका सुनिये—

मोर मुकुट की चंद्रिका (?) यों राजत नँदनंद।
मनु शशि शेखर को (?) अकस, किय शेखर शतचद ॥३॥

"मोर पंख के मुकुट धारण किये उस मोर पंख की चन्द्रका (रेखा) से 'नंद सुवन' इस प्रकार शोभायमान होते हैं मानों (शशि शेखर) शिवजी के 'मन' (?) की अकस 'वैमनस्वता' (?) विचार कर कृष्ण ने आपके सिर पर सौ चन्द्रमा धारण किये हैं, इत्यादि। (पृ० ३)

'नंदनंद' का अर्थ आपने 'नंद सुवन' किया है, इससे तो 'नंदनंद' ही बहुत सुगम है। यदि 'नंद को ढोटा' लिख देते तो आपकी व्रजभाषा प्रवीणता और भी प्रकट हो जाती। 'सुवन' शब्द पुत्र के अर्थ में आजकल की हिंदी में नहीं आता, व्रजभाषा में भी यह शब्द प्रायः पद्य में ही आता है। इसी का नाम है 'मघवा मूल विडौजा टीका!'

मूल में उत्प्रेक्षा व्यंजक 'मनु' शब्द आता है, उसे आपने दो जगह घसीटा है। एक जगह उसका अर्थ 'शिवजी का मन' कर डाला है, जो एक दम व्यर्थ है। 'शिवजी के मन की वैमनस्यता' (?)* विचारने की क्या आवश्यकता थी? यदि उसे—'वैमनस्यता' कह सकें तो वह मुद्दत पहले कार्य रूप में परिणत हो चुकी थी, जब कि उन्होंने काम को भस्म कर दिया था, 'वैमनस्यता' मन में थोड़े ही छिपी रह गई थी, और फिर शिवजी तो योगिराज थे, वह किसी से मन में 'वैमनस्यता' क्यों रखते? आपने 'मन' 'विचार कर' मूल के किन शब्दों का अर्थ किया है? 'मनु जनु' 'मनो' 'मानो' यों तो उत्प्रेक्षा वाचक

---

* यहाँ भाववाचक एक प्रत्यय की कसर रह गई, 'त्व' और जोड़कर 'वैमनस्यतात्व' रखते तो और अधिक सुन्दर हो जाता।

शब्द हैं। यदि 'मनु' पद 'शशि-शेखर को' के आगे धरा होता तब भी आपकी कल्पना या भ्रान्ति के लिए कुछ अवलम्ब हो सकता। मूल पाठ में भी आपने दो जगह कतर-ब्यौंत की है। 'शशि शेखर की अकस' के स्थान में '......को अकस' बना डाला। 'अकस' को यदि आप पुल्लिंग ही मानें तो भी– "—के अकस' ऐसा होना चाहिए था। '...को अकस' तो नितान्त अशुद्ध है। 'चन्द्रिकन' की जगह 'चन्द्रिका' कर दिया, दोनों में जो भेद है, उसे सहृदय काव्य-रसज्ञ आसानी से समझ सकते हैं। आपके ये पाठान्तर सब प्राचीन टीकाओं के विरुद्ध हैं। आप टीका करने बैठे हैं या मूल को भी बिगाड़ने? बाज आये ऐसी टीका से !!

मकराकृत गोपाल के, कुण्डल सोहत कान।
धस्यो मनो हिय घर समर, ड्योढ़ी लसत निशान।४

"मकर के आकार के कुण्डल श्री कृष्ण के कान में इस प्रकार शोभित होते हैं मानों इनके हृदय रूपी भवन में काम (स्मर) प्रवेश कर गया है। "निशान रूपी द्वार-पाल बाहर ड्योढी पर शोभा देते हैं।" इत्यादि (पृ० ३)

देखा आपने ! कैसा निशान रूपी द्वारपाल' ड्योढी पर बिठलाया है? धन्य महात्मन्! इस अपूर्व अर्थ को सुनकर बिहारीलाल की आत्मा–भी स्वर्ग में फड़क उठी होगी! जो खास बात दोहे में थी उसी को आपने धूल में मिला दिया।

मकर की आकृति वाले कुण्डलों पर उत्प्रेक्षा है कि मानों स्मरदेव हृदय रूप अपने मन्दिर में प्रविष्ट हो गए हैं और अपनी ध्वजा 'निशान' बाहर हृदय-मन्दिर की ड्योढ़ी पर छोड़ गए हैं। काम का नाम 'मनसिज' और 'मकर-ध्वज' भी है। काम के ये नाम, और कुण्डलों की 'मकरा-कृति' यही इस अपूर्व उत्प्रेक्षा की जड़ है।

कहा लडैते दृग करै (?) परे हाल बेहाल।
कहुं मुरली कहुं पीतपट कहूं मुकुट बनमाल ॥२२७

"हे लाड़ले ! ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किए हैं जो तुम बेहाल पड़े हो, कहीं मुरली, कहीं पीला वस्त्र, कहीं मुकुट, कहीं बनमाला पड़ी है। चलकर तो देख।
व्याजं स्तुति (पृ० ७९)'

व्याज स्तुति काहे को इसे तो 'व्याज छुरी' कहना चाहिये! अर्थ के बहाने कविता के कमनीय गले पर यह कुन्द छुरी फेरी जा रही है, जिसके तले बेचारी पड़ी हुई छटपटा रही है! अर्थ, भाव, अलङ्कार, ये सब एक-एक करके इस कठिन अवस्था में इसका साथ छोड़ गये हैं, नि: सहायावस्था में पड़ी पैर पीट रही है, दम तोड़ रही है !!

सच कहा है किसी ने –

"कौन होता है बुरे वक्त की हालत का शरीक,
मरते दम आँख को देखा हैं कि फिर जाती है।"

बिहारी की कविता के रसिक प्रेमियो ! देखते हो, तुम्हारी प्यारी कविता का क़त्लेआम किस तरह खुले मैदान हो रहा है। बिहारी की पीयूषवर्षिणी कविता-मेघमाला को यों आँधी के प्रचण्ड झोंके किस प्रकार छिन्न-भिन्न कर रहे हैं। इस लतिका को अनर्थ की प्रचण्ड ज्वाला किस तरह जला रही है !!! हो सके तो इसके प्राण बचा लो, यह चली !

कितना सरल और सीधा दोहा है! "जो इतने पर भी न समझे तो उस बुत से खुदा समझे।"

सखी, नायिका से, नयनों की चोट खाये हुए कृष्ट की दयनीय दशा सुनाकर लड़ैते नेत्रों की शिकायत करती हुई खबर लेने की प्रार्थना कर रही है कि तैंने अपने नेत्र कैसे लड़ैते–लड़ने वाले किये हैं, जिनकी चोट खाकर लाल (कृष्ण) बेहाल पड़े हैं कहीं मुरली पड़ी है, कहीं पीताम्बर कहीं मुकुट और कहीं बनमाला पड़ी है, उन्हें कुछ सुध नहीं।

लड़ैते–शब्द का अर्थ नेत्रों ही का विशेषण मानकर हरिप्रसाद और लल्लू लाल जी ने 'लाड़' किया है, परन्तु यहाँ लड़ैते का अर्थ है यदि लड़ने वाले किया जाय तो बहुत ठीक हो, 'लड़ैत'-'डकैत' की तरह हिन्दी में 'लड़ैत' आया भी है, जैसे कहा जाता है कि अमुक आदमी बड़ा 'लड़ैत' है। 'आँखें लड़ाना' हिन्दी और उर्दू में महावरा

है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'मोमिन' का शेर है :—

"दिल गया दम पर बनी, आँखें लड़ी कहती हैं हाल,
बेकरारी आहोज़ारी अश्कबारी आपकी।"

विद्यावारिधि जी ने लड़ते' को सम्बोधन समझकर 'हे लाड़ले !' बना दिया, और तो मजा देखिए, कहते हैं: — 'ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किये हैं जो तुम बेहाल पड़े हो।' यह तो आप कहीं लिखते ही नहीं कि 'किस का वचन किससे' तथापि 'हे लाड़ले' और 'पड़े हो' इन पदों से पता चलता है कि सखी श्रीकृष्ण से कह रही है। ऐसा मालूम होता है कि श्रीकृष्ण की आँखें बड़े जोर से दुखने आगई हैं, उनकी प्रबल पीड़ा से वह व्याकुल हैं, उन्हें अपने मुरली, मुकुट और कपड़े लत्ते की कुछ सुध नहीं, अचेत पड़े हैं। आँखों की तीव्र पीड़ा ऐसी ही होती है। उसमें कुछ होश नहीं रहता। शायद श्रीकृष्ण ने कुछ कुपथ्य भी कर लिया है, इससे पीड़ा और बढ़ गई, तभी तो सखी उन्हें समझा रही है और धमका रही है, कि 'तुमने अपने नेत्रों की यह क्या दशा करली। जिससे इस तरह बेहाल पड़े हो, सिर पैर की कुछ खबर नहीं। लाड़ में आकर (हे लाड़ले। इसे हेतु गर्भ विशेषण का अर्थ ?) तुम दिन-दिन बिगड़ते जाते हो। 'चलकर तो देख' अब सखी क्रोध से पागल हो गई जान पड़ती है, 'तुम' से 'तू तड़ांग' पर उतर आई। 'चलकर तो देख' न जाने कहां लिए जाती है और क्या दिखाना चाहती है। कदाचित् 'वनमाला' और 'पीताम्बर' दिखाना चाहती हो, परन्तु नेत्ररोग में तो ऐसी चीजों से बचना चाहिए।

और फिर वह बेचारे तो बेहाल पड़े हैं, उनमें चलकर देखने की हालियत कहां ? देखो ! कैसी गुस्ताख (सखी) है। कोई पागल हुई है। हटे परे दूर हो, आई कहां से, इलाज मालजा गया; दम दिलासा गई बेहाली में उन्हें पड़ा भी नहीं रहने देती, जब होश होगा आप जाकर देख लेंगे !!

चलत घरै (?) घर-घर तऊ, घरी न घर ठहराति।
समुझि उही घर को चलै, भूलि उही घर जाति।।२४६।।

'अपने घर की कोठरी कोठरी में घूमती है, तो भी घर में घड़ी भर नहीं ठहरती। जानकर भी उसी घर को जाती है। भूल कर भी उसी घर को जाती है' इत्यादि। (पृष्ठ ८५)

यदि कोठरियों की संख्या और उनकी लम्बाई-चौड़ाई भी लिख देते तो और अच्छा होता। और यह भी लिखने से रह गया कि कोठरी कोठरी में वह क्या ढूँढ़ने के लिए घूमती है, और जल्दी-जल्दी घूमती है या आहिस्ता-आहिस्ता ? क्या उसके घर में कोई बड़ा बरांडा, दालान या कमरा घूमने के लिए नहीं था ? और यह और भी विचित्र बात है कि अपने ही घर की कोठरी कोठरी में घूमती है, तो भी घर में घड़ी भर नहीं ठहरती ? जबकि वह घर में घड़ी भर भी नहीं ठहरती तो 'कोठरी कोठरी में किस वक्त घूमती है ?' आखिर को घूमने में कुछ देर तो लगती ही होगी ? मालूम होता है, घर में दो एक छोटी-छोटी कोठरियां होंगी। उनकी परिक्रमा जल्द-जल्द दो-चार मिनट में करके चल देती है। क्यों महाराज ! यही बात है या कुछ और ? पाठकगण ! इन तिलस्मी 'कोठरियों' का दोहे में कहीं पता नहीं। न मालूम विद्या-वारिधि जी ने यह बेबुनियाद इमारत कहां से खड़ी करदी? तभी तो वह ठहर न सकी, धम से नीचे गिर गई। 'घैर' इस निन्दात्मक शब्द का 'घरै' बना दिया। कुछ तो चाहिए था।

दोहे का अर्थ है कि—नायिका यह जानकर भी कि घर-घर में इसकी चर्चा और निन्दा होती है उसी के (नायक) घर को जाती है, और जब प्रेमोन्माद में लोक-चर्चा और निन्दा को भूल जाती है, तब भी उसी के घर जाती है, सब कुछ भूल कर भी उसका घर नहीं भूलती ! 'दीवानाबकार ख्वेश हुशियार'।

मानहु विधि तनु अच्छ छबि, स्वच्छ राखिवे काज।
दृग-पग पोंछन को किये, भूषन पायनदाज।।५१५।।

मानो शरीर की अच्छी छवि स्वच्छ रखने के निमित्त विधाता ने दृग और पग के पोंछने को भूषणों को पायन-दाज किया है जो फरश के आगे देहली में पग पोंछन होता है उसे पायनदाज कहते हैं। 'उत्प्रेक्षालंकार' (पृष्ठ १६६)।

अफसोस ! न हुए इस समय बिहारी लाल अधिक नहीं तो उन ७०० (सात सौ) में से आधी मोहरें (अशरफियाँ) तो हम आपको (विद्यावारिधि जी को) दिलवा ही देते, जो उन्हें जयपुर दरबार से (प्रति दोहा १ मोहर के हिसाब से) पुरस्कार में मिली थीं। उर्दू और फ़ारसी के महाकवि ग़ालिब का कथन है कि 'सखुनमन्ज (कवि) से सखुनफहम (कविता का मर्म समझानेवला) आदमी किसी प्रकार भी योग्यता और प्रतिष्ठा में कम नहीं है।

इसी तरह यदि श्रीमान् 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' 'विद्यावारिधि' महाराज 'सर्वसाधारण की बुद्धि में कविवर का आशय प्रगट करने की" इच्छा से प्रवृत होकर अपना यह अमूल्य "अति ललित मधूर मुरव" टीका न बनाते तो भला बिहारी के काव्य के ऐसे-ऐसे रहस्यपूर्ण भाव और निराले अर्थ संसार को कैसे मालूम होते।

विद्यावारिधि जी अपनी महिमा का वर्णन सुनकर प्रसन्न हो रहे होंगे परन्तु शोक है कि हम उन्हें ज्यादह देर तक खुश नहीं रख सकते। हमने तो अपनी तरफ से बहुत ज़ोर लगाया कि किसी तरह विद्यावारिधि जी को पुरस्कार की मोहरों में से हिस्सा मिल जाय, परन्तु कविता क्रन्दन ने मामला बिचाल दिया, इनाम का नाम सुनते ही बड़े दर्दनाक लहजे (कारुणिक-स्वर) में कविता चीख उठी कि हाय यह क्या ग़जब करते हो। मेरे क़ातिल को उलटा इनाम कैसे देते हो। खूब रहा :—

"यह अजीब माजरा है, मुझे रोजे ईद कुर्बा,
वही ज़िवह भी करे है, वही ले सबाब उलता ।।"

देखते नहीं हो, इन्होंने किस तरह 'दृग और पग के पोंछने को भूषणों का पायनदाज किया है'—मानो नायिका के शरीर को सड़क बनाकर उस पर अनर्थ का पत्थर फोड़ कोल्हू चलाया है !!! कविता की कोमल काया को दुर्भाव के 'दुर्मट' से इस बुरी तरह कुटवाया है कि उसने देखने वालों को खून के आंसू रुलवाया है !!

सोचने की बात है कि जब नायिका का शरीर 'पगडण्डी' (?) बन गया, लोग उसे पैरों से रौंदकर चलने लगे तो 'भूषणों का पायनदाज' क्या काम देगा ? वह शरीर की अच्छी छवि को स्वच्छ कैसे रख सकेगा? 'भूषणों का पायनदाज' तो राहगीरों के पैरों से टूट टूटकर, नायिका के शरीर में घुस जायेगा ! उसे और क्षतविक्षत करके महाभयानक और वीभत्स बना देगा ? शिव-शिव ! इस कारुणिक दृश्य से किस सचेता पुरुष का हृदय न पिघलेगा ? कौन सहृदय न रो पड़ेगा ?

"अपि ग्रावा रुद्यादपि च विदलेद्वज्रहृदयम् !!"

सहृदय पाठकगण ! यह दोहा 'सतसई' के चोटी के दोहों में से है। इसमें कवि ने अपनी नाजुकख्याली और कल्पनाशक्ति का कमाल दिखला दिया है। कविता-सृष्टि में इस दोहे का और जवाब नहीं है। बस, कलम तोड़ दिया है !

"मानहु विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पौंछन को किये, भूषन पायनदाज ।।"

उर्दू कवि के 'ख्याली बोसों* से माशूक के गुलेरुखसार पर नीले दाग़ पड़ने' में भी वह लुत्फ नहीं जो इस दोहे के भाव में है।

शरीर की कोमलता और कान्ति की यह पराकाष्ठा है कि नजर के पड़ने से भी वह मैली हुई जाती है। इसी लिए मानो ब्रह्मा ने भूषणों का पायनदाज बना दिया कि दृष्टि अपने पग उससे पौंछ कर तन्वी के तन पर पड़े। शरीर रूपी स्वच्छ चांदनी को आँखों के मैले पैर खराब न करदें, इसीलिए भूषण रूप पायनदाज बनाया गया है। (आँखों के पैर और उनसे शरीर की कान्ति का मैला होना। कितनी नजाकत, सफाई और नाजुक ख्याली है ! कुछ ठिकाना है !!!) अन्यथा 'दर्पण में मोरचे की तरह प्रतीत होने वाले इन भूषणों की आवश्यकता क्या थी ?

* क्या नजाकत है कि आरिज उनके नीले पड़ गये।
हमने तो बोसा लिया था ख्वाब में तस्वीर का।।"
आरिज=कपोल।

"पहिर न भूषण कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दर्पन के से मोरचा, देह दिखाई देत ॥५२६॥"

सखी नायिका से कह रही है कि मैं जो तुझे सोने के आभूषण पहनने का निषेध कर रही हूँ सो इसलिए कि वह तेरे शरीर में इस प्रकार दिखाई देते हैं जैसे दर्पण में मोरचा।

जिस शरीर की उज्ज्वलता को देखकर आंख उज्ज्वल होती है, वह यदि आँखों के पैरों से मैली हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है?—

कहा कुसुम कहँ कौमुदी, कितिक आरसी जोति,
जाकी उजराई लखे, आँख ऊजरी होति ॥५१९॥

फूल, चांदनी या आरसी (दर्पण) में भला वह आब-ताब और चमक-दमक कहां है? उसके उजाले से तो स्वयं आंख उजाला पाती है।

'सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु।
विना में मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिद जगत् ॥"
(भर्तृहरिः)

विद्यावारिधि जी ने उक्त दोहे के सौन्दर्य को कितना बिगाड़ा है—कुछ ठिकाना है? कवि-कल्पना समुद्भूत दृग के पगों को 'दृग और पग के पोंछने को' कहकर सचमुच के पैर निकाल दिये! 'दृगपग' इस समस्त (षष्ठी तत्पुरुष) पद में द्वन्द्व युद्ध (?) (दृग और पग?) कराकर दृग की टाँगें तोड़ डलीं। मानो सहृदयता की आँखें फोड़ डालीं!! जो निर्मल शरीर दृष्टि के पड़ने से भी मैला होता था, उसे पगडन्डी बना दिया!!!*

* सन् १९१० की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'सरस्वती हीरक-जयन्ती' अङ्क से साभार।

'बिहारी और उर्दू कवि'

—पं० पद्मसिंह शर्मा

बिहारी और उर्दू कवियों की कविता में कहीं-कहीं भावसाम्य है। पर वह छायात्मक नहीं। उसे इत्तफाकिया 'तवारुद'[1] कह सकते हैं। 'सौ स्याने एकमत' के अनुसार तबीयतें एक नतीजे पर जा पहुँची हैं। जान-बूझकर या एक दूसरे को देखकर ऐसा नहीं हुआ। जिन उर्दू कवियों के पद्यों से बिहारी के दोहों का मुकाबला किया गया है, वे सब बिहारी के पश्चाद्वर्ती हैं। पर जहाँ तक मालूम है उन्होंने भी बिहारी की कविता को देखकर अपने यह पद्य नहीं लिखे, वे हिन्दी नहीं जानते थे। अचानक मज़मून लड़ गये हैं। अस्तु इसके भी कुछ नमूने सुन लीजिये—

शेर–'उनके देखे से जो आ जाती है रौनक मुँह पर।
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।।
—(गालिब)

अर्थात् अपनी विरहजन्य कृशता या दयनीय दशा, प्रेमी अपने, प्रेमपात्र पर किसी प्रकार ज़ाहिर नहीं कर सकता, क्योंकि विरह की दशा में प्रेम-पात्र उसके पास नहीं होता और जब वह आता है तब हर्षातिरेक से उसकी दशा बदल जाती है।

इस शेर की मौलाना हाली ने बहुत प्रशंसा की है। 'दीवानेहाली के मुकदमे' और 'यादगारे ग़ालिब' में इसे उद्धृत कर के दिखलाया है कि यह शेर कवि की प्रतिभा शक्ति का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इसके शब्द और अर्थ दोनों में समान रूप से प्रतिभा का प्रकाश झलकता है इसके साथ एक शेर शेख़सादी का यह लिखा है—

गुफता बूदम चु बियाई ग़मे-दिल बा तो बगोयम्,
चे बगोयम् के ग़म अज़ दिल बरवद चूं तो बिआई।'

अर्थात् प्रेमी अपने प्रेम-पात्र से कहता है कि मैं कहता था कि जो तू आवे तो दिल का ग़म तुझसे कहूं, पर अब क्या कहूं, क्योंकि अब तू आता है तब दिल से ग़म ही जाता रहता है। हाली कहते हैं कि इन दोनों शेरों का अभिप्राय तो यही है कि किसी प्रकार अपना दुख या सन्ताप प्रेमपात्र पर ज़ाहिर नहीं किया जा सकता। पर सादी के बयान में यह सन्देह बाकी रह जाता है कि सम्भव है, प्रेमपात्र अपने प्रेम की जाहिरी बदहाली देखकर समझ जाय कि इसका मन सन्तप्त है। क्योंकि सादी के बयान से सिर्फ यही मालूम होता है कि प्रेमपात्र के आने से ग़म जाता रहता है, न यह कि ज़ाहिरा हालत भी बदल जाती है। पर मिर्जा गालिब के बयान में यह संदेह भी नहीं रहता। तथापि सादी के शेर को मिर्जा के शेर पर तर्जीह देनी चाहिये क्योंकि वह इससे पहला है।[2]

यह तो हुई शेखसादी और मिर्ज़ा ग़ालिब की बात। अब देखिये व्रजभाषा के गोवर्द्धनाचार्य कविराज बिहारी-लाल इसी विषय को ग़ालिब से पहले कैसे अच्छे और निराले ढंग से कह गये हैं—

दोहा–'जो वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आप।
तो बलि नैंकु बिलोकिए चलि औचक चुपचाप।'
।। ३०८ ।।

---

[1] तवारुद—एक ही मजमून का अलग-अलग दो कवियों को सूझना।

[2] इसी बात को पण्डित चमूपति एम. ए. 'सादिक' ने एक बांकपन से कहा है। मिलने पर प्रेमपात्र अपने प्रेमी से पूछता है कि कहो जुदाई में कैसे गुजरी? आखिर क्या कहना चाहते थे, कहो न? चुप क्यों हो? प्रेमी ने

— शेष अगले पृष्ठ पर देखिए।

अर्थात् जो आप उस विरहिणी के शरीर की दशा देखना चाहते हैं तो मैं बलिहारी, जरा अचानक और चुपचाप चलकर देखिए। यदि आपके पहुंचने की उसे खबर हो गई तो उसकी कृशता और दुर्बलता दूर होकर उसे स्वस्थता प्राप्त हो जाएगी फिर उसकी विरहजन्य अवस्था का ठीक-ठीक प्रत्यक्ष अनुभव आपको न हो सकेगा इस लिए मेरी प्रार्थना है कि अचानक और चुपचाप चलकर उसे देखिए, जिससे मेरी बात पर आपको विश्वास हो और उस पर दया आवे।

हमारी राय में यह दोहा उक्त दोनों शेरों से बहुत उत्कृष्ट है। इन शेरों से तो यही पाया जाता है कि प्रेम पात्र के पहुँचने या उसे देखने पर ही प्रेमी की हालत बदल जाती है पर दोहे में 'औचक' 'चुपचाप' शब्दों से यह ध्वनि निकलती है कि यदि अचानक और चुपचाप न चले और किसी प्रकार तुम्हारे चल पड़ने की खबर भी उस तक पहुंच गई तो तुम्हारे पहुंचने से पहले—इस शुभ संवाद के पहुँचते ही—उसकी दशा और से और हो जाएगी, जिससे आप उसे उस दयनीय अवस्था में न देख सकेंगे जिसमें दिखाना अभीष्ट है।

दोहा

'दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिए दई नई यह रीति।।' २७२

शेर—'सोहत तुझे रकीब से मैं अपने घर में दाग़।
किधर पतंग, शमअ कहां, अंजुमन कुजा।।'
—(सौदा)

बिहारी का यह दोहा "असंगति" अलंकार का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। वैसे तो यह असंगति का उदाहरण है पर इसकी बातें बहुत ही सुसंगत हैं। स्वर्गीय पण्डित बालकृष्ण जी भट्ट इस असंगति की भावभंगी पर बेतरह लट्टू थे। जब बिहारी की चर्चा चलती थी वह इस दोहे को जरूर पढ़ते थे और कई बार पढ़ते थे। उनके "हिन्दी प्रदीप" में न जाने यह कितनी बार उद्धृत हुआ है।

सौदा का यह शेर भी असंगति के लिहाज से इस दोहे से मिलता जुलता है, भाव में भी कुछ साम्य है, पर सौदा इस मैदान में तीन ही चक्कर लगाकर रह गये हैं। बिहारी का एक चक्कर अधिक है, इनके चारो चक्कर एक ही दायरे के अन्दर बड़े चमत्कारजनक हैं। सौदा की असंगति में सहृदयता को पराङ्मुख करने वाला 'रकीब' का 'रसाभास' है, जो उर्दू कविता का स्वाभाविक दोष है, किसी का सही, दोष अवश्य है, इसमें संदेह नहीं, सौदा का यह शेर अपने रंग में निराला है, इसमें भी वर्णन वैचित्र्य का एक बांकपन है, पर बिहारी को नहीं, पहुंचता। बिहारी के यहां शब्दों के जोड़तोड़ में मुहावरों का तमाशा देखने लायक है, फिर इस तोड़-मरोड़ में घटना की यथार्थता कितनी अक्षुण्ण है।

जो चीज उलझती है, वही टूटती है, जब उसे जोड़ते हैं तो गांठ भी उसी में पड़ती है। ऐसा नहीं होता कि उलझे तो दुपट्टा और टूट जाय यज्ञदत्त की घड़ी का फीता। फिर जोड़ लगावें हरिदत्त की अचकन के पर्दे में, और उससे गांठ पड़ जाय विष्णुमित्र के पाजामे में।

वियोग दशा की 'आपबीती' सुनाने की जो कहानी सोच रखी थी, वह सामना होते ही सब भूल गया, जबाने-हाल (दशा) और जबाने-काल (वाणी) दोनों ही उस दशा को व्यक्त करने में असमर्थ हो गयीं। इस पर प्रेमी कहता है कि जरा ठहरो, कहता हूं, इन आंखों में जो अब तुम्हें देख रही हैं, उस वियोग-दशा का चित्र खींच लूं-ध्यान द्वारा आंखों के सामने वही दृश्य उपस्थित कर लूं, और एक बार सामने से तुम्हें हटा लूं—वियोगी बन जाऊं—तो कहूँ, अब जबकि तुम सामने हो, क्या कहूँ और कैसे कहूँ।

"हिज्र का नक्शा इन आंखों में जमा लूं तो कहूँ। सामने से तुझे इक बार हटालूं तो कहूँ।।"

चमूपति जी ने अपनी इस सूक्ति की खूबसूरत इमारत इस पुरानी पर दिलचस्प ज़मीन पर खड़ी की है—

'किस्सए-इश्के-सनम (हिज्रे-बुतां) होश में आ लूं तो कहूँ।
दम जरा ले लूं अभी दिल को संभालूं तो कहूं।।'

पर इस 'असंगति' की बलिहारी हैं, उलझती आँख हैं तो टूटता कुटुम्ब है। और फिर इससे प्रीति कहाँ जाकर जुड़ती है, चतुर के चित्त में। और उससे गांठ पड़ती है दुर्जन के हृदय में। यह कैसी नई रीति है।

बिहारी ने असंगति के और भी मजमून बाँधे हैं जो अपनी अपनी जगह बहुत अच्छे हैं, पर इससे अच्छा वह भी नहीं बाँध सके, फिर और क्या आशा रखी जाए।

दोहा

वाहि लखे लोयन लगै कौन जुवति की जोति।
जाके तन की छाँह ढिग जौन्ह छाँह सी होति ॥

शेर ५३८

'शमारू कहना उसे 'सौदा' है तारीकीए अक़्ल।
शमा का अक्स उसके आरिज़ पर कलफ़ है माह का'
—(सौदा)

सौदा कहते हैं उसे (यार को) 'शमारू' (दीपक के समान चमकते हुए चेहरेवाला) कहना अक्ल का अन्धेर है। उसके कपोलों पर दीपक का प्रतिबिम्ब ऐसा मालूम होता है जैसे चन्द्रमा में स्याही का धब्बा। अच्छा यही सही 'शमारू' न कहिए, आप उसे इस दशा में 'माहरू' कह लीजिये। यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिए झगड़ा किया जाये, ऐसा तो कहते ही हैं चन्द्रमुख और चन्द्रमुखी एक प्रसिद्ध बात है। हाँ, बिहारी जो कुछ कहते हैं–उसके मुख के प्रकाश की कौन कहे शरीर की छाया के सामने खुद चांदनी भी परछाईं का अन्धेरा बनकर रह जाती है। फिर उसकी ज्योति के सामने और किसी व्यक्ति का प्रकाश ठहर सकता है, आंखों में क्यों कर समा सकता है। कैसे पसन्द आ सकता है। इसका नाम है लोकोत्तर चमत्कार।

'घर से बाहर मेरे रश्के-माह को आने दो।
चाँदनी पै शुभा होगा सायए-दीवार का ॥'
—(नासिख)

उस चन्द्रवदनी को बाहर न आने दो नहीं तो उसके प्रकाश के सामने, चाँदनी पर भित्ति की छाया का भ्रम होगा—उसके आगे चांदनी, भीत की परछाईं मालूम होगी।

बिहारी के दोहे की छाँह इस 'रश्के-माह' (चन्द्र-प्रतिद्वन्दी व्यक्ति) के प्रकाश से कहीं बढ़ कर है, जिसके आगे चाँदनी छाँह बन सकती है।

'त्वद्विरहापदि पाण्डुस्तन्वङ्गी छाययैव केवलया।
हंसीव ज्योत्स्नायां सा सुभग ! प्रत्यभिज्ञेया ॥''
—(आ०स० २७१)

यह आर्या भी कुछ इसी भाव की है। नायिका की विरह-विवर्णता का वर्णन करती हुई सखी कहती है– सुभग ? तुम्हारी विरह व्याधि में कृश होकर वह इतनी पाण्डु–(सफेद पड़ गयी है कि चाँदनी में वह सिर्फ अपनी 'छाया' (कांति) से ही पहचानी जा सकती है। तनुता–(कृशता) ने शरीर को छिपा दिया है–दृष्टि से ओझल सा कर दिया है। और पाण्डुता ने चाँदनी के रंग में रंग मिला दिया है, ऐसी दशा में विलक्षण छाया (कान्ति) ही उसे दिखाती है। पाण्डुता में वह विलक्षण कान्ति झलकती है जो चाँदनी में नहीं है। जैसे चाँदनी में छिपी हुई 'हंसी' हंसनी) अपनी 'छाया' परझाईं से सूझ पड़ती है। "छाया" पद श्लिष्ट है। नायिका की ओर (कान्ति)। 'हंसी' के पक्ष में परछाईं।

दोहे और आर्या के भाव में इतना ही भेद है कि आर्या की नायिका की 'छाया' उसे 'मीलित' से 'उन्मीलित' करके पहचनवा देती है और दोहे की नायिका की कान्ति के आगे परछाईं बनकर अपनी पराजयजन्य विवर्णता को प्रकट करती है।

दोहा

"डर न टरै नींद न परै, हरै न कालविपाक,
छिन छाके उछकै न फिरि, खरी विषम छविछाक॥
२७०॥

शेर

मै[1] में वह बात कहां तो तेरे दीदार में है,
जो गिरा फिर न कभी उसको सँभलते देखा ॥'

1. मै=मद्य (शराब)। दीदार=दर्शन।

इस दोहे की मस्ती का आलम सबसे निराला है। सौन्दर्यजन्य प्रेम का नशा बड़ा ही विचित्र है। और नशे डर से उतर जाते हैं पर यह किसी डर से नहीं उतरता। और नशों में नींद आ जाती है इसमें नींद हमेशा के लिए भाग जाती है। और नशों का असर कुछ समय के पश्चात् स्वयं उतर जाता है पर यह जहाँ एक बार चढ़ा फिर क्षण के लिए भी नहीं उतरता। प्रेम के नशे में और दूसरे नशों से यह बड़ा विलक्षण "व्यक्तिरेक" है।

उर्दू के कवि ने यह भी बात कही है, पर इस खूबसूरती से कहाँ। वह गिर कर ही रह गये हैं, बयान की मस्ती में फिर न सँभल सके और कुछ कहने का होश ही गरीब को नहीं रहा।

दोहा

"रह्यौ ऐंच अन्त न लह्यौ, अवधि-दुसासन वीर।
आली बाढ़त विरह ज्यों, पाँचाली कौ चीर।।"१२५॥

शेर

"जुदाई के जमाने की सजन क्या ज्यादती कहिए,
कि वस जालिम की जो हम पर घड़ी गुजरी सो
जुग बीता।।"
—(शाह आबरू)

"हर आन हमको तुझ बिन एक-एक बरस हुई है।
क्या आगया जमाना ऐ यार रफ़ता-रफ़ता।।"
—(मीर तकी)

जुदाई के जमाने में एक घड़ी जुग के बराबर बीतना या एक आन (क्षण) का वरस बराबर मालूल होना भी कुछ बात है जरूर, पर इन कथनों में उतना चमत्कारजनक विस्तार नहीं है, जितना पांचाली (द्रोपदी) के चीर बढ़ने में है। वर्ष और युग का अन्त हो सकता है, पर पाँचाली के चीर की समाप्ति असम्भव है। इस "पूर्णोपमा" में इतिहास पूर्णतया साक्षी है।

दोहा

"कहत सबै वैंदी दिये, आंक दस गुनौ होत।
तियलिलार बैंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत।।"
४४५।।

शेर

"खाले-सियाह नाफे मुदव्वर के पास हैं।
जो हिन्दसा कि पांच था वह अब पचास है।"

अंकगणित के मूल सिद्धान्त को किस मौलिकता से प्रकट करके बात बढ़ायी है। एक 'बेंदी' से सौन्दर्य अंक में कितना अगणित-संख्यातीत-आधिक्य आ गया है।

उर्दू कवि साधारण सिद्धान्त से आगे न बढ़ सका। वह गोल नाभि पर काले तिल का बिन्दु लगाकर, पांच के पचास ही कर सका है। कोई नई बात नहीं हुई, बच्चे भी जानते हैं कि "पांच के बिन्दा पचास" होते हैं।

दोहा

"जो न जुगति पिय मिलन की, धूर मुकति मुंह दीन।
जो लहिये संग सजन तौ, धरक नरक हू की न।।"
५४७।।

शेर

"मुझको दोजख रश्के जन्नत है अगर मेरे लिये,
वाँ भी आतिश हो किसी के रुए आतिशनाक से।।"
—(जौक)

मित्र का साथ हो तो नरक भी स्वर्ग है। प्रेम के उत्कर्ष पर बिहारी की यह उक्ति, बड़े मार्के की है। सख्यभाव के भक्ति मार्ग पर भी यह दूर से बड़ा मनोहर प्रकाश डाल रही है। कितने जोरदार शब्द हैं, प्रेम के आवेश में मुक्ति के मुंह पर कैसी धूल डाली है। कहते हैं कि यदि वहां प्रिय के मिलने का कोई उपाय नहीं है तो ऐसी मुक्ति के मुंह पर, परे धूल भी डालो। यदि सजन का संग प्राप्त है तो कोई परवाह नहीं, नरक ही सही, जहां प्रिय की प्राप्ति है, तो वह नरक, नरक नहीं, परम स्वर्ग है।

जौक भी इसी बात को अपने ढंग पर कह रहे हैं, वह किसी के "रुए आतिशनाक" (अग्नि के समान मुख) की लपट में जल रहे हैं और कह रहे हैं कि दोजख (नरक) की आग भी यदि इसी आग से प्रज्वलित हो, वहीं भी वही आग दहक रही हो तो मेरे लिये दोजख भी जन्नत (स्वर्ग) से अच्छा है।

उर्दू के कवि, प्रियमुखाग्नि के पंतग बनकर जलने में मज़ा समझते हैं और चन्द्रमुख के चकोर हिन्दी कवि मुख-चन्द्रिका के पान में आनन्द पाते हैं।

दोहा

''देखौं जागति वैसियै, सांकरि लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि को जानै किहिं बाट॥''
३४४॥

शेर

''खुलता नहीं दिल हमेशा बन्द ही रहता है हमेशा।
क्या जाने कि आ जाता हैं तू इसमें किधर से॥''
—(ज़ौक)

उर्दू के आशिकों का दिल हमेशा ग़म से बन्द रहता है। ज़ौक कहते हैं कि 'हमारा दिल तो हमेशा बन्द ही रहता है, फिर न जाने तू इसमें किधर से आ जाता है।' शेर बेशक बहुत अच्छा है, सीधा और साफ है। तो भी बांकपन और जिद्दत से खाली नहीं। पर, बन्द दिल में उसका—उसके ध्यान का—आ जाना, जिसकी चिन्ता में वह बन्द है, आश्चर्यजनक या असम्भव नहीं है, स्वाभाविक है।

दोहे का भाव इससे कहीं चमत्कृत है, कहने वाले की तन्मयता, बेखुदी और भोलेपन के भाव को किस सुन्दरता से दिखलाया है। स्वप्न दशा के मिथ्या मिलन की सत्यप्रतीति कैसे सच्चे रूप में प्रकट की है कि बस सुनकर तबीयत फड़क जाती है, भावावेश की सी दशा हो जाती है।

जागकर देखा तो किवाड़ बराबर बन्द हैं, साँकर वैसे ही लगी हुई है, इस बन्द मकान में वह (चित-चोर) किधर होकर घुस आता है और फिर किस रास्ते से निकल भागता है, कौन जाने, किससे पूछें!

सोरठा

मैं समझ्यो निरधार, यह जग काँचौ कांच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ॥६६६॥

शेर

''जग में आकर इधर उधर देखा,
तू ही आया नज़र, जिधर देखा॥''
—(मीर दर्द)

'मीर दर्द' उर्दू के एक पहुंचे हुए सूफ़ी शाइर थे। वह अपने अनुभव की जो कुछ बात ऊपर के शेर में कहते हैं, उसमें सचाई जरूर है उन्होंने ऐसा ही देखा होगा। पर और लोग इस बात को कैसे समझें, संसार में अनेक पदार्थ दिखलाई दे रहे हैं।

बिहारी ने इस तत्व को वेदान्त के 'प्रतिबिम्बवाद' के आधार पर कांच की उपमा देकर हृदयंगम प्रकार से समझा दिया है, वह कहते हैं कि हमने अच्छी तरह अन्वयव्यतिरेक द्वारा निर्णय करके समझ लिया है, (तुम भी समझ लो) यह संसार कांच के शीशे की तरह कच्चा-क्षणभंगुर है, प्रतिबिम्बग्राही होने से इसमें वही एक ब्रह्म अपार रूप से प्रतिबिम्बित हुआ दीख रहा है। यह सब उसी का 'विराट रूप' है जो देख रहे हो। "साँचो को सो ढारयो तातें साँचो सो निहारियतु"। (कृष्ण कवि)[1]

''भूषन-भार संभारि हैं, क्यौं यह तन सुकुमार।
सूधे पाँय न घर परत, सोभा ही के भार॥५३७॥

२ नाज कहता है कि जेवर से हो तजईने-जमाल।[2]
नाज़ुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो॥
—(अकबर)

यों नजाकत से गराँ सुर्मा है चश्मे-यार को।
जिस तरह हो रात भारी मर्दु मे-बीमार को॥
—(नासिख)

१. सुप्रसिद्ध सूफ़ी कवि सूर्यनारायण 'मेहर' ने इस भाव को यों अभिव्यक्त किया है:—
"तू निगारे-ज़ेबा आईनाखाना दुनिया,
वहदत में हो रहा है क्या अजदहाम तेरा।"
निगारे-ज़ेबा=सुन्दर मूर्ति। आईनाखाना=शीशमहल। वहदत=एकता। अज़दहाम=अनेकता, समूह।
२. नाज=हाव-भाव, विलास। तज़ईने-जमाल=रूप का निखार।

गोयन्द कि सब बरसरे बीमार गरानस्त ।
गर सुर्मा बचश्मे तो गरानस्त अज़ानस्त ।।
—(नासरअली)

नासरअली और नासिख के शेर बिलकुल मिलते-जुलते हैं, आजाद के शब्दों में नासिख ने 'फारसी की मखलूक को तनासुख देकर उर्दू को जिन्दगी दे दी है" फ़ारसी शेर का अपने शब्दों में सिर्फ उल्था कर दिया है। फ़ारसी के कवि माशूक की मस्त आँख को 'चश्मे बीमार' बांधा करते हैं यह उनका एक कवि-समय सिद्ध सा भाव है। कवि कहता है कि तेरी आँख पर जो सुर्मा (अंजन) भारी मालूम होता है वह ठीक ही है। बीमार के सर पर रात भारी गुजरती ही है। सो कवि को यह मजमून मिल गया पर इसमें कुछ ऐसा निरालापन या चमत्कार नहीं है, सब अंगों में स्वभाव से ही सुकोमल और इस पर बीमार आँख, सुर्मे के भार को न सह सके तो ताज्जुब क्या है। अकबर साहब ने इस मजमून में एक जिद्दत पैदा करके बेशक जान डाल दी है। उन्होंने अपने शेर में केवल बीमार या तन्दुरुस्त आँख के लिये ही नहीं, सारे शरीर के लिये सुर्मे का भार असह्य ठहराया है। क्या खूब कहा है "नाजुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो" —वाहरे नाजुकी तेरी नज़ाकत ?

अब जरा बिहारी की नाजुकख्याली मुलाहज़ा फ़र्माइए, सुर्मे का आखिर कुछ तो वजूद है, इसकी थोड़ी मिकदार में भी कुछ न कुछ भार—गुरुता—जरूर है, नाजुकी, (सौकुमार्य) उसे न सभाल सके तो आश्चर्य की बात नहीं—पर बिहारी की सुकुमारी नायिका के तन की सुकुमारता में हद दर्जे की नज़ाकत है जो शोभा के भार से लची जाती है, जमीन पर सीधे पांव नहीं पड़ते। फिर भूषणों के भार संभाल सकने की तो बात ही क्या है।

मुन्शी देवीप्रसाद 'प्रीतम' ने बिहारी के इसी दोहे का क्या अच्छा अनुवाद किया है :—

"संभाले बारे-जेवर क्या तेरा नाजुक बदन प्यारी।
कजी रफ़तार की कहती हैं बारे हुस्न है भारी!!"

यह शेर भी इसी भाव का है :—

"सीधे सुभाव चल भी नहीं सकते अब तो वह।
क़ैफे शबाब भी उन्हें एक बार हो गया।।[1]"
—(आरिफ़ हसवी)

दोहा

'पहिर न भूषन कनक के, कहि आवतु इहि हेतु।
दर्पन के से मोरचे, देह दिखाई देत।।"५२६।।

"नहीं मोहताज ज़ेवर का जिसे ख़ूबीं ख़ुदा देवे।
कि आख़िर बदनुमा लगता है देखो चाँद को गहना।।"
—(आबरू)

ऊपर के शेर में उर्दू कवि ने 'गहना' शब्द के श्लेष के आधार पर एक बात निकाली है, पर अच्छी तरह बयान नहीं हो सकी, 'मोहताज न होने' और 'बदनुमा' लगने में बहुत फ़रक है। बिहारी के दोहे में यह मजमून बहुत खूबसूरती के साथ बंधा है। सोने के भूषण पहनने का निषेध किफ़ायत के ख्याल से या किसी और विचार से नहीं किया जाता, बल्कि सौन्दर्य-रक्षा की दृष्टि से। दर्पण के समान स्वच्छ शरीर पर भूषण कुछ ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे आईने पर मोरचा, जंग।

आजकल के 'भूषण विरोधी' समाज-सुधारक, बिहारी के इस दोहे के आधार पर आन्दोलन करें तो उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हो सकती है। अर्थशास्त्र की दुहाई का असर भूषणाभिलाषिणी ललनाओं पर नहीं हो सकता, पर कविता का यह जादू बेशक चल सकता है।

दोहा

'लिखन वैठि जाकी सबिहि, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।।"५३४।।

शेर

"शक्ल तो देखो मुसव्विर खींचेगा तसवीरे यार।
आपही तसवीर उनको देखकर हो जायगा।।"
—(जौक)

१. क़ैफे-शबाब=जवानी की मद। बार=भार।

"न हो महसूस जो शै किस तरह नक्शे में ठीक उतरे।
शबीहे-यार खिंचवाई कमर बिगड़ी दहन बिगड़ा।।"

—(मसहफी)

बिहारी के उक्त दोहे में और इन शेरों में कुछ भाव-साम्य की छटा है। ज़ौक को तो आशा ही नहीं है कि मुसव्विर यार की तस्वीर खींच सकेगा, उनका ख्याल है कि मुसव्विर यार को देखकर खुद तस्वीर बन जायगा। ज़ौक के मजमून में मुहावरे का जोर है, किसी अदृष्टपूर्व आश्चर्यजनक पदार्थ को देखकर हक्का-बक्का हो जाने को—स्तब्ध भाव की स्थिति को—'तस्वीर बन जाना' या 'बुत बन जाना' बोलते हैं।

मसहफी ने 'शबीहे-यार' खिंचवायी थी, पर नक्शा ठीक नहीं उतरा तस्वीर में खुद मुँह और कमर बिगड़ गयी, पर इसमें वह (मुसव्विर चित्रकार) का दोष नहीं बतलाते। उर्दू, फ़ारसी वालों के यार (माशूक) के मुँह और कमर होती ही नहीं, जो चीज है ही नहीं, नजर ही नहीं आती उसकी तस्वीर क्या खाक खींचे।

ज़ौक ने तो मुसव्विर को तस्वीर खींचने का मौका ही नहीं दिया, मसहफी ने एक बार तस्वीर खिंचवायी थी सो उसकी कमर और मुँह का नक्शा बिगड़ गया।

बिहारी कहते हैं कि एक बार नहीं, अनेक बार, और एक नहीं संसार भर के अनेक, साधारण नहीं चतुर चितेरे जिन्हें अपनी चित्रकला पर गर्व था'—दावे के साथ 'सबी'—शबीह खींचने बैठे पर चित्रकार बेवकूफ बनकर—हारकर बैठ रहे। चित्र नहीं खिंच सका, पर नहीं खिंच सका।

बिहारी के दोहे के सामने ये दोनों शेर दोपहर के दीपक हैं।*



* 'बिहारी सतसई—तुलनात्मक अध्ययन' से साभार।

चित्र क्यों न बन सका !

—पं० पद्म सिंह शर्मा

उर्दू कवियों ने तस्वीरे-यार के न खिच सकने का सबब साफ़-साफ़ बतला दिया है, पर बिहारीलाल इस बारे में चुप हैं, उन्होंने चतुर चितेरों के 'कूर' कहलाकर रह जाने का - चित्र न बन सकने का — कोई कारण नहीं कहा। बिहारीलाल के कारण निर्देश न करने में कुछ रहस्य है। इस विषय में उनका चुप रहना बहुत ही उचित हुआ है, उन्होंने यहाँ बड़ी मार्मिकता प्रकट की है। जिस काम में जगत के कितने ही चतुर चित्रकार बेवकूफ़ साबित हो चुके हैं उसका कारण, शब्द-चित्र द्वारा प्रकट करना भी कुछ वैसी ही बात होती! कारण कोई बहुत ही गूढ़ है। कितने ही चित्रकारों के बेवकूफ़ बनने में कारण भी कितने ही हो सकते हैं, उन सबके उल्लेख की गुंजायश छोटे-से दोहे में कहाँ? एकाध का निर्देश करना कारण बाहुल्य के महत्त्व को घटाना है, हम समझते हैं यह समझकर कारणान्वेषण का कार्य कवि ने दूसरे लोगों की समझ-बूझ पर छोड़ दिया है।

कुछ प्राचीन टीकाकारों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार, चित्र न बन सकने के लिए भिन्न-भिन्न कारण समझाये हैं इनके कुछ नमूने देखिये—

कृष्ण कवि ने इस दोहे पर अपने कवित्त के तिलक में कहा है—

"यह नायिका की निकाई सखी नायक सों कहती है कि वाहि देखे "सात्त्विक भाव" होत है, यातें चितेरे पर क्योंऊ लिखत बन नहीं।"

"— काहू पै न बन्यो वाके चित्र को बनाइबो" —

(१) सात्त्विक भाव का आविर्भाव भी चित्र न बन सकने का कई प्रकार से एक कारण हो सकता है—

नायिका का अलौकिक रूप-लावण्य देखकर किसी चित्रकार को सात्त्विक "स्तम्भ" हो गया तो हाथ ही काम नहीं करता। किसी को "प्रस्वेद" हो गया तो उसने चित्रकारी का रंग ही न जमने दिया। किसी को "कम्प" हो गया तो चित्र की रेखायें तिरछी टेढ़ी होकर रह गयीं। किसी को "आँसू" (वाष्प) उमड़ आये तो कुछ सूझता ही नहीं, नज़र ही नहीं जमती। चित्र-लेखन में इस प्रकार सात्त्विक भाव के बाधक होने का प्रमाण भवभूति ने माधव की दशा में दिखलाया है। माधव अपनी प्रिया मालती को पत्र लिखने बैठा है, पर नहीं लिख सकता, बेचारा बड़े 'विषाद' से कहता है—

"वारं वार तिरयति दृशाबुद्गतो वाष्पपूर-
स्तत्संकल्पोपहित जडिम स्तम्भमभ्येति गात्रम्।
सद्यः स्विद्यन्नयमविरतोत्कम्पलोलाङ्गुलीकः
पाणिर्लेखाविधिषुनितरांवर्तते किं करोमि।"

अर्थात् बार-बार उमड़े हुए आँसुओं का प्रवाह आँखों पर पर्दा डाले हुए है, मालती विषयक संकल्प से शरीर में जड़ता आकर 'स्तम्भ' हो रहा है, चित्र लिखने में इस हाथ की यह हालत है कि पसीने में तर है, उंगलियाँ निरन्तर काँप रही हैं। क्या करूँ, कैसे चित्र लिखूं!

(२) हरि कवि चित्र न बन सकने का कारण "रूप की अधिकाई" बतलाते हैं—अर्थात् रूप इतना अधिक है कि वह चित्र के सांचे में किसी प्रकार नहीं समा सकता! यह भी हो सकता है, बड़े आदमी कहते हैं इसलिए इसे भी ठीक समझना चाहिए।

(३) शृंगार सतसईकार ने बिहारी के इसी चोटी के दोहे की छाया पर-(अपनी समझ से शायद बिहारी का

भाव स्पष्ट करने के लिए !)-जो यह नीचे का दोहा लिखा है, इसमें इन चतुर चितेरों की चर्चा है, चित्र न खिंच सकने का एक कारण स्पष्ट कर दिया गया है। इनके कहने के ढंग से मालूम होता है कि चित्र तो खिंचता है पर उसमें उसकी "बांकी अदा"— (हाव-भाव की छटा)—नहीं खिचती।

दोहा

'सगरब गरब खींचै सदा, चतुर चितेरे आय।
पर वाकी वांकी अदा, नेकु न खींची जाय ॥'४७॥

—(शृंगार सतसई)

(४) एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि नायिका वयः सन्धि की अवस्था में है-रूप निरन्तर वर्धमानावस्था में है, वह प्रति क्षण बढ़ रहा है, बराबर बदल रहा है वह एक हालत पर कायम नहीं, चित्रकार चित्र बनाकर अच्छी तरह दुरुस्त करके, उसे जब असल से (नायिका से) मिलाकर देखता है तो बिम्ब और प्रतिबिम्ब में बहुत भेद पाता है, चित्र बनाकर मिलान करने तक के थोड़े समय में ही-कुछ मिनटों में ही-कुछ से कुछ हालत हो जाती है, नक्शा ही बदल जाता है, चित्रकार बेचारा हक्का बक्का रह जाता है। पद्माकर ने यही कह कर ऐसी किसी ब्रजबाला के स्वरूप-वर्णन में (अपनी) असमर्थता प्रकट की है—

'पल-पल में पलटन लगे, जाके अंग अनूप।
ऐसी इक ब्रजबाल को, कहि नहिं सकत सरूप।'[१]

इस मत की पुष्टि उर्दू के सर्वश्रेष्ठ स्वर्गीय महाकवि जनाब 'अकबर' भी अपने इन पद्यों में करते हैं, फ़रमाते हैं—

'लहजा लहजा है तरक्की पै तेरा हुसनो जमाल,
जिसको शक हो तुझे देखे तेरी तस्वीर के साथ।'
'तस्वीर असल से नहीं रखती मुताबक़त,
तस्वीर इधर खिंची और उधर तुम बदल गए।'[२]
तस्वीर बीं की फानी वो माज़ी पै हैं निगाह,
ज़र्राते-जिस्म हाल के सांचे में ढल गये।'[३]

(५) नायिका की नज़ाकत और नातवानी--(सौकुमार्य और विरह दौर्बल्य)—भी चित्र न खिंच सकने में कारण हो सकता है। चित्रकार डरता है कि कहीं चित्र के साथ वह (नायिका) भी न खिंच जाय।

'नातवानी मेरी देखी तो मुसव्विर ने कहा,
डर है तुम भी कहीं खिंच आओ न तस्वीर के साथ।'[४]

—(अकबर)

(६) एक कारण यह भी हो सकता है, यदि सहृदय भावुक इसे पसन्द करें, नायिका के प्रत्येक अंग का रूप माधुर्य इतना आकर्षक है, कि जिस चित्रकार की दृष्टि जिस अंग पर पहले पड़ी, बस वह वहीं चिपक कर रह गयी, फिर दूसरे अंग पर जा ही न सकी। इस प्रकार सर्वांग के देखने का अवसर किसी भी चित्रकार को न

---

[१] कुछ ऐसे ही भाव उर्दू के नीचे लिखे शेर भी ज़ाहिर करते हैं—

'तस्वीर मे उतरा न करोगे-रुखे-रोशन,
सांचे में कभी धूप को ढलते नहीं देखा।' —(बदर बद यूनी)

नाजुक है न खिंचवाऊंगा तस्वीर मैं उसकी,
चेहरा न कहीं अक्स के बदले उतर आए।' —(आदर्श-दहलवी)

'क्या मुसव्विर यार की तस्वीरे-कामत खीचते,
खिंच न सकती उनसे वह गर ता क़यामत खींचते।' —(जफ़र)

[२] मुताबक़त—सादृश्य।

[३] "तस्वीर बीं" = चित्रद्रष्टा। फ़ानी = नश्वर। माज़ी = भूत।
ज़र्राते-जिस्म = शरीर के परमाणु। हाल = वर्तमान।

[४] इस 'खींचातानी' पर 'ग़ालिब' कुछ और ही फ़रमाते हैं—

"नक़्श को उसके मुसव्विर पर भी क्या क्या नाज़ है,
खींचता है जिस क़दर उतना ही खिंचता जाय है।"

मिला, सब एक ही एक अंग देखकर रह गये। इस दशा में सर्वांग सुन्दर चित्र बनता तो कैसे बनता ?

यह बात एक पुराने प्राकृत कवि की कल्पना है—

'जस्स जहँ विश्र पठमं तिस्सा
अङ्गम्मि णिवडिश्रा दिट्ठी।
तस्स तहिं चेश्र ठिश्रा सब्बङ्गं केण विण दिट्ठम्।'
(यस्य यत्रैव नामं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता केनापि न दृष्टम्।)
— (गा० स० ३।३३)

(७) चित्र कैसे बने, अवयवों की पृथक-पृथक प्रतीति तो होती ही नहीं। उसके अलौकिक कान्तिवाले अंग आपस में इस प्रकार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं एक की आकृति दूसरे में पड़ी इस तरह झलक रही है—कि यह हाथ है, यह मुख है, इत्यादि अवयव-विभाग का पता ही नहीं चलता। कोई चतुर आवे तो, इस समस्या का निर्णय तो करे ! फिर कहे कि चित्र क्यों नहीं बना। इस संस्कृत पद्य में यही बात कही गई है—

"अवयवेषु परस्पर विम्बिते–
ष्वतुलकान्तिषु राजति तत्तनोः।
अयमयं प्रविभाग इति स्फुटं
जगति निश्चिनुते चतुरोऽपि कः ॥"

(८) चित्र तो तब बन सके जब श्रीमती 'अङ्गना' का कोई अंग दीख पड़े वहाँ तो सौन्दर्य ज्योति के चाकचिक्य में चित्रकार बेचारे को कुछ सूझता ही नहीं, आँखे ही चौंधिया गयीं। ज्योति के पर्दे में ज्योतिष्मान् पदार्थ छिपा हुआ है ज्योति दीखती है, पर जिस से वह ज्योति निकल रही है, वह चीज़ नज़र से गायब है। (मूसा की तजल्ली का सा नज़ारा है।)—

'सुन्दरी (कीदृशी) का भवत्येष विवेकः केन जायते।
प्रभा मात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः ॥'[1]
—(दण्डी)

(९) कोई चित्रकार अपनी निष्फलता पर स्वयं कह रहा है—

'जो नकाब उट्ठी मेरी आँखों पै पर्दा पड़ गया।
कुछ न सूझा आलम उस पर्दानशीं का देख कर ॥
—(मोमिन)

'नज़्ज़ारे ने भी काम किया वां नक़ाब का।
मस्ती से हर निगह तेरे रुख़ पै बिखर गई ॥'[2]
—(ग़ालिब)

'जब नक़ाब उल्टी निगाहों का हुआ ऐसा हुजूम।
पड़ गये परदे वो रुख आंखो से पिनहां होगया ॥'[3]
—(अमीर मीनाई)

'न देखने पाई आँख उनको अगर उठी भी
नक़ाबे-आरिज़।
हुई निगाहों की इतनी कसरत कि बन गईं,
खुद हिज़ाबे-आरिज़ ॥'[4]
—(जलाल)

(१०) कोई नज़ारे की ताब लाकर कह रहा है—

'दिला! क्यों कर मै उस रुखसारे-रोशन के
मुक़ाबिल हूँ;
जिसे खुरशीदे-महशर देख कर कहता हैं
मैं तिल हूं।'[1]
—(अकबर)

इत्यादि अनेक कारण चित्र न बन सकने के हो सकते हैं। वास्तविक कारण क्या था, सो तो बिहारी ही जानते होंगे, या उनके चतुर चितेरे !

"की है य बन्दिश ज़हने-रसाने,
जिसने देखा हो वह जाने।"*

[1] कविराज शङ्कर जी महाराज का एक पुराना सवैया है, इसमें कहा गया है कि आँखों से झरने वाली बिजली (सर्च लाइट की तरह) की चका-चौंध और मुस्कराहट के पवि-(वज्र) प्रहार के मारे चित्र न बन सकेगा—

"ऐसी न देखी सुनी कबहू हम जैसी कि आज लखी छबि तेरी,
'शङ्कर' सर्द भयो मुख पेखि शशी द्युति देखि जरे रवि तेरी।
आँखनि सों बिजुरी सी झरे, मुसिक्यान प्रहार करे, पवि तेरी,
'कैसे चितेरे बनावेंगे चित्र' करेंगे बड़ाई कहा कवि तेरी ॥"

[2] नज़्ज़ारा=दर्शन। रुख=मुख। निगह, निगाह=दृष्टि।
[3] नक़ाब=परदा, घूंघट। हुजूम, कसरत=भीड़। पिनहां=छिपा हुआ, अदृश्य।
[4] नक़ाबे-आरिज़, हिजाबे-आरिज=कपोल (मुख) का परदा।

*'बिहारी-सतसई : तुलनात्मक अध्ययन' से साभार उद्धृत।

'संभाषण'

—पं० पद्म सिंह शर्मा

"यद्-भारती-भारत-पान-लीनः,
सुधा भुजां धाम न कामयेऽहम् ।
स मुक्ति-कान्ता-परिलोभनानि,
ज्ञानानि मे कृष्णामुनि स्तनोतु ॥"

स्वागत-समिति के सम्मान्य सभापति महोदय, समागत सज्जनो और प्रतिनिधि भाइयो !

इस महनीय मान और समादरणीय सत्कार के लिए जो मुझ सरीखे अधन्य, अगण्य, सामान्य व्यक्ति का अपनी असाधारण उदारता से आपने यह पद प्रदान करके किया है, कृतज्ञतापूर्वक सिर झुकाकर अन्तःकरण से धन्यवाद कहता हूं, पर इसका औचित्य स्वीकार करने में अब भी असमर्थ हूं। इस प्रतिष्ठित पद पर अभिषिक्त करने योग्य बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् एक से एक बढ़कर धुरन्धर साहित्यसेवी सज्जन वर्तमान थे, जिनसे सम्मेलन की शोभा और इस पद की प्रतिष्ठा बढ़ती, मुझमें तो एक भी गुण इस पद-प्राप्ति के योग्य न था। आश्चर्य है, क्या समझकर आपने ऐसा अनुचित निर्वाचन किया है।

परम श्रद्धास्पद कविराज श्री 'शंकर' जी महाराज, श्रद्धेय श्रीयुत पंडित अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी, श्री भानु कवि जी, श्री रत्नाकर जी, हिन्दी के राष्ट्रिय कवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त, कविवर दीन जी, श्रीमान् सुकवि सनेही जी, गोस्वामी श्री किशोरीलाल जी, विद्या-वयो-वृद्ध 'भूप'—कवि श्री सीताराम जी, विद्वद्रत्न श्री जायसवाल जी, इतिहास के मार्मिक विशेषज्ञ श्री हीरा लाल जी, लब्धप्रतिष्ठ लेखक पं० श्री श्याम बिहारी मिश्र जी, प्रतापी श्री विद्यार्थी जी, सुयोग्य विद्वान् सम्पादक श्री पराड़कर जी, ज्ञान मण्डल के प्रतिष्ठापक सुसमर्थ साहित्यसेवी हिन्दी संसार के सामयिक कर्ण श्री गुप्त जी, हिन्दी के विवेचक विद्वान् पं० रामचन्द्र जी शुक्ल, रामचरित-मानस के मराल श्री गौड़ जी, रहस्यमयी लकीरों को हृदयों पर अंकित करने वाले श्री भारतीय आत्मा, अभ्युदयशाली श्री कृष्णकान्त मालवीय जी, उपन्यास विधाता श्री प्रेमचन्द्र जी, उपादेय अनुवाद ग्रन्थों से हिन्दी के भण्डार को भरने वाले पण्डित श्री रूपनारायण पाण्डेय, तथा सरस्वती माधुरी, विशाल भारत, और सुधा के सम्पादकगण श्री पण्डित लक्ष्मीधर जी वाजपेयी, मुसलमान हिन्दी सेवियों में मीरी सुकवि मीर जी, प्राचीन महारथी पं० लज्जाराम जी महता, साहित्य-वाटिका में काव्य कल्पद्रुम को रोपने वाले श्री पोद्दार जी, व्याकरण की बाड़ लगाने वाले श्री गुरु जी, शिष्टशिरोमणि श्रीगर्दे जी, श्रीयुत सम्पूर्णानन्द जी, श्री श्रीप्रकाश जी और श्रीयुत मूलचन्द जी अग्रवाल इत्यादि। यहाँ क्रम विवक्षित नहीं है, जो नाम याद आता गया, लिखता गया हूं, किन्हीं को कहीं क्रम-भंग प्रतीत हो, या कोई गण्य मान्य व्यक्ति इस साहित्य-सुमरनी का मनका बनने से रह गये हों तो क्षमा करें—

"करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी,
करहु कृपा निज सेवक जानी।"

हाँ, तो साहित्याकाश के इन तेजस्वी नक्षत्रों पर—साहित्य सागर के इन प्रकाश-स्तम्भों पर आपकी निर्वाचन-दृष्टि क्यों न पड़ी ! आपने एक क्षुद्र खद्योत को—काव्य-प्रदीप के तुच्छ पतंग को क्यों पसन्द किया ! मालूम नहीं इसमें आपने क्या लाभ सोचा है। मैं तो जितना ही सोचता हूँ उतना ही आश्चर्य होता है। भगवान् आपका भला करे, पर मुझ असमर्थ-अशक्त व्यक्ति पर यह भारी भार लाद कर साहित्य-सम्मेलन का आपने भला नहीं किया। अस्तु—

मैंने विवश होकर आपकी आज्ञा की वेदी पर अपने भय, शका, शालीनता और सकोच की बलि चढ़ाकर 'आत्म-समर्पण' तो कर दिया है - इस अग्नि-परीक्षा में पड़ तो गया हुँ — पर डर रहा हूं कि क्या होगा ! निर्वाह आपही के हाथ है। मैं तो इस साहित्य शकट का 'बींडिया' बनाया गया हूँ, धुरन्धरता आप ही के कन्धों पर है, औघट घाटी से खींचकर इसे पार लगाइये, मैं भी यथाशक्ति सहारा लगाऊँगा।

शोकस-मृति

सम्मेलन के अधिवेशन पर प्रतिवर्ष किसी न किसी साहित्यसेवी बन्धु के वियोग पर आंसू बहाने ही पड़ते हैं - आँखों के अर्घे में तिलोदक भर कर वियुक्त बान्धवों का तर्पण करना भी दुर्दैव ने सम्मेलन के कार्यक्रम का एक अंग बना दिया है—

'बहना कुछ अपनी चश्म का दस्तूर हो गया।
दी थी खुदा ने आँख सो नासूर हो गया॥'

उत्सव हर्ष के लिए होता है पर दैवी दुर्घटनाओं से हमारा यह उत्सव भी शोक समाज में परिणत हो गया मुहर्रम में पड़कर मुहर्रमी बन गया है। देखते-देखते साहित्याकाश के कई चमकते तारे अस्त हो गए। सुहृद्वर प० राधाकृष्ण झा को—जिनके नाम के आगे 'स्वर्गीय' शब्द जोड़ते हुए हृदय-पटल फटा जाता है, आँखे ढूंढ रही हैं, उनके बिना यह सम्मेलन सूना-सा मालूम होता है, कि किससे पूछें कि कहाँ गये, कहाँ खोजें कि वह पा जायें, उनकी स्निग्ध मूर्ति आँखों में फिर रही है, वियोग वेदना का वाण हृदय को बेध रहा है। दुर्दैव को इतने पर ही सन्तोष न हुआ कि एक और चर्का लगा दिया, घाव पर नमक छिड़क दिया—प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा को भी हमसे छीन लिया। आज वह यहां होते तो आप देखते कि उत्सव में उत्सवता कैसे आती है। शर्मा जी हास्यरस की मूर्ति और जिन्दा-दिली के पुतले थे, साहित्य-सेवा उनके जीवन का एक लक्ष्य था, इस थोड़ी उम्र में भी वह साहित्य की इतनी सेवा कर गये जो सदा स्मरणीय रहेगी। झा जी और शर्मा जी, बिहारी-बसुन्धरा के ही रत्न नहीं, भारत-जननि के सच्चे लाल थे। अभाग्य है कि वे हमसे सदा के लिए जुदा हो गए, उनके रिक्त स्थान की पूर्ति कैसे होगी? किससे होगी?

यहाँ आकर मुझे एक और मित्र की याद भी तड़पा रही है। दुर्घटना पुरानी पड़ गई थी, दिल के जख्म कुछ सूख चले थे कि फिर हरे हो गए, उनके लिए भी दो आँसू बहा लूं तो आगे बढ़ूं। कई वर्ष पूर्व सुहृद्वर पांडेय जगन्नाथ प्रसाद जो से पहली बार यहीं मुजफ्फरपुर में मुलाकात हुई थी। पांडेय जी भारी विद्वान्, सच्चे सुहृद्, मिलनसार और उदार सज्जन थे। उनकी बहुत-सी बातें इस समय याद आ रही हैं। अफसोस है कि वे नहीं हैं, पर उनकी याद हमेशा रहेगी। पाडेय जी का वियोग पुराना होने पर भी मुझे नया-सा भास रहा है, उनकी याद से जी भर आया है—

आँखों में कौन आ के इलाही! निकल गया,
किस की तलाश में मेरे अश्के रवाँ चले।

यह शोक-सूची आगे बढ़ रही है और कलेजे को छेद रही है। खड्ग विलास प्रेस के सर्वस्व अनन्य हिंदी हितैषी मित्रवर बा० गोकर्णसिंह जी ने जिस लगन से चुपचाप हिन्दी की सेवा की है वह चिर स्मरणीय रहेगी।

श्रीयुत पं० रघुवर प्रसाद द्विवेदी भी हिन्दी के एक प्रधान स्तम्भ थे, हिन्दी की सेवा में ही उनके बाल सफेद हुए थे, इन वृद्ध महारथी के उठ जाने से हिन्दी को बहुत हानि पहुंची है।

पं० पद्मधर अवस्थी एक बड़े ही होनहार कवि थे, अफसोस खिलने भी न पाए थे कि मुरझा गए।

प्रो० मणिराम गुप्त भी अचानक चल बसे। आप फारसी के अच्छे विद्वान् और हिन्दी के सुकाव थे और अभी नौजवान ही थे।

परमात्मा इन स्वर्गीय साहित्य-बान्धवों की आत्माओं को सद्गति दे, और हमें वियोग सहने की शक्ति।

कविता में परिवर्तन

हिन्दी भाषा के पूर्व इतिहास पर--संस्कृत, प्राकृत

और हिन्दी के परस्पर संबंध पर पहले कई विद्वान् सभापति बहुत कुछ कह गए हैं। मैं हिन्दी के सामयिक पद-साहित्य पर पहले कुछ कह कर पीछे दूसरे आवश्यक विषयों पर निवेदन करूंगा।

हिन्दी के पद्य भाग में इस समय सर्वांगीण परिवर्तन हो रहा है। प्रत्येक भाषा का पद्य भाग महत्त्वपूर्ण और स्थायी समझा जाता है, उसके परिवर्तन का प्रभाव साहित्य के दूसरे अंगों पर भी पड़ता है, इस लिए उसकी रक्षा और सुधार पर भारतीय भाषाओं में खास कर संस्कृत और हिन्दी-उर्दू में जितने ग्रंथ लिखे गये हैं, उतने गद्य के संबंध में नहीं। यह परिवर्तन और क्रांति का युग है। सब विषयों में नित नये परिवर्तन हो रहे हैं, कविता में भी क्रांति हो रही है और बड़े वेग से हो रही है, हिंदी कविता का तो एक दम कायाकल्प हो रहा है, दूसरी भाषाओं की कविताओं में भी परिवर्तन हुआ है परन्तु हिन्दी में परिवर्तन का ढंग कुछ निराला ही है। मैं परिवर्तन का विरोधी नहीं हूँ, पर परिवर्तन सोच समझकर करना चाहिये, मनमाने प्रकार से नहीं, मेरे इस निवेदन का यही तात्पर्य है।

स्वर्गीय मौलाना 'हाली' उर्दू कविता के आदर्श क्रांतिकारी कवि हुए हैं, उर्दू में सामयिक कविता का सूत्र-पात उन्होंने ही किया है। नये ढंग की नेचुरल कविता के वही आदिम आचार्य हैं, अपने उपनाम 'हाली' के अनुकूल ही उन्होंने कविता को सामयिकता के सांचे में ढाला है। प्रारम्भ में पुराने रंग के गुलो-बुलबुल के शैदाई शाइरों ने उनका बड़ा घोर विरोध किया, लखनऊ "अवध-पंच" वर्षों तक उनके पीछे पड़ा रहा, पर 'हाली' अपने व्रत से विचलित नहीं हुए। 'दीवाने हाली' का 'मुकद्मा' (भूमिका) पढ़ने लायक पुस्तक है, सामयिक कविता कैसी होनी चाहिये, पुरानी कविता में क्या ग्राह्य है, क्या त्याज्य है, इसका उसमें बहुत विशद और विस्तृत विवेचन किया है।

मौलाना हाली ने अपने मुकद्मे में लिखा है—

'आजकल देखा जाता है कि शेर के लिबास में अक्सर नये खयालात जो हमारे अगले शोरा (कवियों) ने कभी नहीं बांधे थे, जाहिर किये जाते हैं। मगर चूंकि वह उस खास ज़बान में जो शोरा की कसरत इस्तेमाल से कानों में रच गई है अदा नहीं किये जाते, बल्कि नये खयालात जिन अलफ़ाज़ में बराहे-रास्त ज़ाहिर होना चाहते हैं उन्हीं अलफ़ाज़ में जाहिर कर दिये जाते हैं, इस लिए वह मक़बूल खासो-आम (सर्वप्रिय) नहीं होते।'

फिर आगे लिखते हैं—

"यह मुमकिन है कि किसी क़ौम के खयालात् में दफ़ातन् एक नुमायां तरक्की और वसअत (विचारों में सहसा परिवर्तन और विकाश) पैदा हो जाय मगर ज़बान में (भाषा में) दफ़ातन् वसअत पैदा नहीं हो सकती, बल्कि नामालूम तौर पर बयान के उसलूब (कहने के ढंग) आहिस्ता-आहिस्ता इज़ाफ़ा किए जाते हैं और उनको रफ़्ता-रफ़्ता पबलिक के कानों से मानूस— परिचित) किया जाता है और क़दीम उसलूब (रीति, प्रकार) जो कानों में रच गये हैं उनको बदस्तूर क़ायम और बरक़रार रक्खा जाता है, यहां तक की अगर इल्म की तरक्की से बहुत से क़दीम शाइराना खयालात महज़ गलत और बे-बुनियाद साबित हो जायें तो भी जिन अलफ़ाज़ के ज़रिये वह खयालात जाहिर किये जाते थे, वह अलफाज तर्क नहीं किये जाते।"

इसके आगे कई उदाहरण इस बात के देकर लिखा है—

"शाइर का यह काम नहीं कि इन खयालात से बिलकुल दस्तबरदार हो जाये, बल्कि उसका कमाल यह है कि हक़ायक़ व वाक़आत (वास्तविकता, वस्तुस्थिति) और सच्चे नेचुरल खयालात को उन्हीं गलत और बेअसल बातों के पैराये में बयान करे और उस तिलस्म को जो क़ुदमा (प्राचीन) बांध गये हैं हरगिज न टूटने दे। वर्ना वह बहुत जल्द देखेगा कि उसने अपने मन्तर (मंत्र) में से वहीं अन्दर (अक्षर) भुला दिए हैं जो दिलों को तसखीर करते थे।"

इस बात को आगे दीवान के दीवाचे में फिर यों समझाया है—

'नाज़रीन को मालूम रहे कि जब किसी मुल्क या कौम या शख्स के खयालात बदलते हैं तो खयालात के साथ तर्ज़ बयान नहीं बदलती, गाड़ी की रफ्तार में फर्क आ जाता है, मगर पहिया और धुरा बदस्तूर बाकी रहता है—यह मुमकिन है मुताखरीन (अर्वाचीन) क़दीम शोरा (प्राचीन कवियों) के बाज़ खयालात की पैरवी से दस्त-बरदार हो जायें मगर उनके तरीकए-बयान से दस्तबरदार नहीं हो सकते। जिस तरह किसी गैर मुल्क में नये वारिद होने वाले सय्याह (नवीन विदेशी पथिक) को इस बात की जरूरत है कि मुल्क में रूशनास (परिचित) होने और अहले-मुल्क (देशवासियों) के दिल में जगह करने के लिए उसी मुल्क की ज़बान में गुफ्तगू करनी सीखे और अपनी वज़ा, सूरत और लिबास (चाल ढाल और वेशभूषा) की अजनबीयत (विचित्रता-विदेशीपन) को जबान के इत्तहाद से बिल्कुल ज़ायल (तिरोहित-विनष्ट) कर दे, इसी तरह नये खयालात के शाइर को भी सख्त जरूरत है कि तर्ज बयान में कुदमा की (प्राचीनों की) तर्ज-बयान से बहुत दूर न जा पड़े, और जहाँ तक मुमकिन हो अपने खयालात को उन्हीं पैरायों में (परिष्कृत अलंकृत प्रकार से) अदा करे जिनसे लोगों के कान मानूस हों और कदमा का दिल से शुक्रगुजार हो जो उसके लिए ऐसे मँझे हुये अलफाज व मुहावरात व तशबीहात (उपमा) व इस्तआरात (रूपक) वगैरा का ज़खीरा छोड़ गये।"

कविता की भाषा के सम्बन्ध में मौलाना हाली ने लिखा है—

"शाइरी का मदार (आधार) जिस कदर अलफाज (शब्द) पर है उस क़दर मानी (भाव, अर्थ) पर नहीं, मानी कैसे ही बुलन्द (उच्च) और लतीफ़ (सूक्ष्म, सुन्दर) हों अगर उम्दा अलफाज में बयान नहीं किये जायेंगे, हरगिज़ दिलों में घर नहीं कर सकते, और एक मुब्तजल (तुच्छ) मजमून पाकीजा (परिष्कृत) अलफ़ाज में अदा होने से क़ाबिल-तहसीन हो सकता है।"

पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूली ने भी रस गंगाधर में काव्य का लक्षण यही किया है!

"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

- रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।

हिन्दी-कविता को नये साँचे में ढालने की इच्छा रखने वाले हिन्दी-कवि हाली की शैली का अनुशीलन करें—उनके इस निर्दिष्ट मार्ग पर चलें, तो अच्छा हो। उर्दू-कवियों ने हाली के रंग को अपना लिया है, बल्कि उसे और चमका दिया है। उर्दू-पत्रों में देश-भक्ति और अध्यात्मवाद की जो नज़्में निकलती हैं वह पढ़ने वाले भावुक को अपनी ओर खींचती हैं, दिल पर असर करती हैं, बार बार पढ़ने को जी चाहता है। हिन्दी की नवीन रचनाओं में यह बात अभी नहीं आयी, आये भी कहाँ से। लाने की कोशिश ही नहीं की जाती। उर्दू वाले कविता में भावों की नवीनता भरते हैं, पर भाषा और रीति वही प्राचीन परिष्कृत है, उनकी गाड़ी की गति बदल गई है—रफ्तार में फर्क आ गया है—पर धुरा और पहिये बदस्तूर वही हैं।

हमारे हिन्दी के नवीन कवियों की मति-गति बिलकुल निराली है, वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिये भी बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़े में पीछे की ओर मरियल टट्टू जोतकर गन्तव्य पथ पर पहुंचना चाहते हैं। प्राचीनों का कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उन्हें कोसने में ही अपना गौरव समझा जाता है, प्राचीन शैली का अनुसरण तो एक ओर जान-बूझकर अनुचित रीति से उसका व्यर्थ विरोध किया जाता है। भाषा, भाव और रीति में एक दम अराजकता की घोषणा की जा रही है। यह उन्नति का नहीं मनोमुखता का लक्षण है। इससे कविता का सुधार नहीं, संहार हो रहा है। सुधार उसी ढंग से होना चाहिए जिसका निर्देश महाकवि हाली ने किया है, और जिसके अनुसार उर्दू के नवीन कवियों ने अपनी कविता को सामयिकता के मनोहर साँचे में ढालकर सफलता प्राप्त की है।

हिन्दी की नवीन कविता में भाषा, भाव, शैली सभी कुछ नया है—अपरिचित है। वह कुछ कह रहे हैं, यह

तो सुन पड़ता है पर क्या कह रहे हैं यह समझ में नहीं आता—

'अगर अपना कहा वह आप ही
समझे तो क्या समझे ।
मजा कहने का जब है, एक कहे
और दूसरा समझे ।।'

(वह स्वय भी अपना कहा समझते हैं कि नहीं, इस में भी सन्देह है।)

वह कहते हैं—"बुलबुल बोलती है, मस्ती में गाती है, कोई समझे न समझे, इससे उसे मतलब नहीं, वह अपने भावों की व्याख्या नहीं करती फिरती।" ठीक है, पर बुलबुल अपने गीतों को छपाती भी तो नहीं, उसके सचित्र और विचित्र संस्करण नहीं निकालती, न किसी से प्रशंसा या दाद ही चाहती है, न–समझने-वालों को कोसती भी नहीं—अपने प्रतिपक्षी शुक, सारिका और कोकिल आदि पक्षियों पर व्यङ्ग्य-बाण भी नहीं छोड़ती, उनका उपहास भी नहीं करती। फिर कवि तो 'हैवाने-नातिक"—व्यक्तवाक्-प्राणी है, वह तो जो कुछ कहता है दूसरों को समझाने के लिए--अपने भाव दूसरों तक पहुंचाने के लिए कहता है. वह 'स्वान्तः सुखाय' के उद्देश्य से भी जो रचना करता है उससे भी और दूसरे लोग-- लाभ उठाने के अधिकारी हैं। भाषा का प्रयोजन भी तो शायद यही है—दूसरों तक अपने भाव पहुंचाने का साधन ही भाषा की सर्वसम्मत परिभाषा है। जो बात किसी की समझ में ही न आएगी उसका प्रभाव ही क्या पड़ेगा। अज्ञेयता तो कविता का एक प्रधान दोष है प्राचीन आचार्यों ने पहेली की गणना इसलिए कविता में नहीं की—

'रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।'

कविता का गुण, प्रसाद और चमत्कार या प्रभाव-शालिता है, जिस काव्य में जितना चमत्कार होगा वह उतना ही उत्कृष्ट और आदरणीय होगा, उर्दू-कविता की परिभाषा में इन्हीं गुणों का नाम 'फ़साहत' और 'बलाग़त' है, महाकवि अकबर ने कहा है—

'समझ में साफ़ आ जाये 'फ़साहत' इसको कहते हैं,
असर हो सुनने वालोंपर 'बलाग़त' इसको कहते हैं।'

रहस्यवाद हो या छायावाद, वह समझ में तो आना ही चाहिए, आखिर उपनिषदों का परम-रहस्य भी तो समझ में आता ही है। यह सच है कि भाव की गम्भीरता कभी-कभी अर्थ-प्रतीति में बाधक होती है, श्रोता की जड़ता से भी ऐसा होना सम्भव है, पर ऐसा किसी ही प्रसंग में होता है, नहीं तो यही कहा जाता है—

'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते।'

यह वक्ता ही की जड़ता है कि श्रोता न समझ सके।

कविता के भी कुछ नियम हैं, नियम होने भी चाहियें। निःसन्देह कवियों को भी विधाता कहा गया है पर विधाता भी नियति—परतन्त्र है--अपने नियमों का पाबन्द है, सृष्टि-परम्परा के नियमों का उल्लंघन वह भी नहीं करता—

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।"

यह श्रुति इसमें प्रमाण है। कवि-विधाताओं को भी सृष्टि-विधाता का अनुगामी होना चाहिए, विश्वामित्र के समान अनावश्यक और निराली सृष्टि रचकर काव्य-पुरुष को त्रिशङ्कु की तरह दयनीय दशा में न पहुंचाना चाहिए, साहित्य-क्षेत्र में कुत्सित कर्म नाशा की नई नदी न बहानी चाहिए।

कवि में आत्मप्रशंसा प्रायः होती हैं, पर यह गुण या दुर्गुण आजकल कुछ नवीन कवियों में अत्यधिक मात्रा में बढ़ता जा रहा है, वह अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं, यह कुछ अच्छी बात नहीं है। महाकवि कालिदास ने और गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने विनय की पराकाष्ठा दिखलाई है, प्राचीन कवियों के सामने अपने को मन्द और मूढ़ कहा है, पर संस्कृत में और हिन्दी में इनसे अधिक किस आत्मश्लाघी कवि का आदर है!

अपने नये कवियों मे एक नम्र निवेदन है, वह क्षमा करें, बात कुछ कड़वी है, पर दिल का दर्द कराहने के लिए मजबूर कर रहा है--

'रखियो ग़ालिब मुझे इस तल्ख़-नवायी में मुआफ़।
आज कुछ दर्द मेरे दिल में सिवा होता है।।'

कविता—वल्ली को प्रतिभा के वारि से सींचकर 'पल्लव' निकालिये, खुशी से उसकी छाया में बैठकर 'वीणा' बजाइये, पर काव्य-कानन के कल्पवृक्षों की जड़ पर—चन्दन, चम्पक और सहकार आदि के मूल पर—कुमति-कुठार न चलाइए। यह अत्याचार असह्य है। आपको इसकी गन्ध नहीं भाती, शिकायत नहीं, अपनी पसन्द, अपनी रुचि—'कीजै कहा करता सें न चारो'—पर इनकी महक के मतवाले मधुप भी हैं, उन वृक्षों पर न सही, इन पर ही दया कीजिए—'पल्लव' के नोकीले और जहरीले कांटे इनके दिल में न चुभाइये, 'वीणा' में सोहनी के स्वर छेड़िये, 'मारू-राग' न बजाइये—

'अभ्यर्थये वितथ–वाङ्मय–पांशुवर्षै-
र्मा माबिलीकुरुत कीर्तिनदी: परेषाम्।'

× × ×

'बद न बोले ज़ेरे-गर्दूं कोई मेरी सुने,
है य गुम्बद की सदा जैसी कहे वैसी सुने।'

मैं नवीनता का विरोधी नहीं, समर्थक हूँ। कोई सज्जन मेरे इस निवेदन को 'रहस्यवाद' पर आक्षेप न समझें, मैं रहस्यवाद का परम प्रेमी हूँ, उसकी खोज में रहता हूं, कहीं मिल जाता है तो भावावेश की सी दशा में पहुँच जाता हूँ—सिर धुनता हूँ और मजे ले लेकर पढ़ता हूँ, जी खोलकर दाद देता हूँ, दूसरों को सुनाता हूँ। पर हिन्दी की नवीन रचनाओं में ऐसा रहस्यवाद कम—पैसे में पाई से भी बहुत कम सो भी कभी किसी की रचना में मिलता है, और वह भी उस दर्जे का नहीं जैसा उर्दू में तसव्वफ़ का रंग है। मैं हिन्दी में हृदयस्पर्शी उच्चकोटि के रहस्यवाद का इच्छुक हूँ पहेलियों से बेशक पहलू बचाता हूँ और कागज के पत्ते को पारिजात का पुष्प नहीं कहता। अपने नौ-जवान कवियों से अकबर के शब्दों में प्रार्थना करता हूँ—

'मगर एक इल्तमास इन नौ-जवानों से मैं करता हूँ,
खुदा के वास्ते अपने बजुर्गों का अदब सीखें।'

कवि-सम्मेलन

आज-कल कवि-सम्मेलनों की धूम है। किसी प्रसंग में कोई भी उत्सव हो, उसके साथ कवि-सम्मेलन की एक प्रथा-सी पड़ गई है, कविता के प्रचार की दृष्टि से यह प्रथा प्रशंसनीय है, हिन्दी कविता की ओर शिक्षित समाज का ध्यान आकृष्ट हो रहा है, कवि-सम्मेलनों से इसका परिचय मिलता है। इन कविसम्मेलनों में नवाभ्यासी नव-युवक ही प्रायः सम्मिलित होते हैं और अपनी रचनायें पढ़ते हैं, उनके हृदय में उत्साह है, इसमें सन्देह नहीं, पर वह कविता का नियमपूर्वक—'काव्यज्ञ-शिक्षया' अभ्यास नहीं करते, पढ़ने से पहले उसके गुण-दोष पर गम्भीरता से विचार नहीं करते, बुरी-भली जैसी बन पड़ी, सुनाने लगते हैं, इससे कविता परिष्कृत नहीं होती। बहुत से कवि तो अपनी इस आशु-कारिता पर गर्व करते हैं—कविता पढ़ने से पहले यह कहने की कुछ चाल सी पड़ गई है कि 'मुझे अभी अभी इधर आते हुए मार्ग में मालूम हुआ कि आज कविसम्मेलन है, बस चलते चलते ही यह पंक्तियाँ लिख ली हैं। आशा है आप ध्यान से सुनेंगे और त्रुटियों के लिए क्षमा करेंगे।' शालीनता के कारण श्रोता चुपचाप सुन लेते हैं और प्रचलित प्रथा के अनुसार प्रोत्साहित करने के लिए दिल-खोलकर दाद भी दे डालते हैं, इससे यह आशुकवित्व का रोग और बढ़ रहा है, इस प्रवृत्ति को रोकना चाहिये। कविता कुछ हँसी मजाक नहीं है कि यों हो चलते-फिरते बन जाए, सिद्ध और सतत–अभ्यासी कवियों को भी घन्टों समाधि लगानी पड़ती है, तब कहीं कविता बनती है, महाकवि 'अमीर मीनाई' आप बीती कहते हैं—

'खुश्क सेरों तने-शाइर का लहू होता है,
तब नजर आती है एक मिसरए-तर की सूरत।'

हमारे आशु कवियों के माथे पर पसीना भी नहीं आता और पलक मारते कविता-वाटिका लहलहाने लगती है।

उर्दू के कवि वर्षों अभ्यास करते हैं, उस्ताद से इस-लाह लेते हैं, जब अभ्यास दृढ़ हो जाता है, उस्ताद आज्ञा देता है तब कहीं मशाइरों में जाकर पढ़ते हैं। 'काता और ले दौड़ी' की लोकोक्ति को चरितार्थ नहीं करते, इसी

से उनकी कविता सुन्दर सुघड़ और सुहावनी होती है !

नवाभ्यासी कवियों को सद्यः कविता के चक्कर में पड़कर पथ-भ्रष्ट न होना चाहिये, पहले कविता सम्बन्धी ग्रन्थों का अभ्यास करें, प्राचीन उत्तम काव्यों का निरन्तर अनुशीलन करें किसी सत्कवि से परामर्श —इसलाह लेते रहें अपनी रचना को बार-बार समालोचक-दृष्टि से देखते रहें, उसमें आवश्यकतानुसार काट-छाँट और परिवर्तन करते रहें। इस प्रकार सतत अभ्यास से जब कविता में चमत्कार-चारुता और बन्ध-सौष्ठव आजाये तब इस अखाड़े में उतरें।

कवि-सम्मेलन कविता की एक प्रदर्शनी है, प्रदर्शनी में शिल्प-कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने ही रखे जाते हैं, निकृष्ट और भद्दे माल को कोई आँख उठाकर देखता भी नहीं। महात्मा गांधी सादगी के अवतार हैं, पर खादी के प्रचार के लिये वह भी बारीक और सुन्दर सूत कातने के पक्ष में हैं, उनकी खादी-प्रदर्शनी में वही सूत प्रशंसा पाता है जो उत्तम हो, तार-तार टूटा, कमजोर सूत पसन्द नहीं किया जाता। फिर कविसम्मेलनों में ही यह 'काता और ले दौड़ो' का रिवाज क्यों अच्छा समझा जा सकता है। कुछ हर्ज नहीं, यदि आज की रचना आज ही कविसम्मेलन में न सुनाई जा सके, या किसी पत्र में प्रकाशित न हो सके, इससे स्वराज्य-प्राप्ति में कुछ बाधा न पहुँचेगी, न मुक्ति का द्वार ही रुद्ध हो जायगा। गवर्नमेंट भी इसके लिए कोई आर्डिनेंस जारी न करेगी, न वह कविता ही बासी होकर बुस जायेगी। निश्चय रखिए—शब्द नित्य है।

मुर्गी भी नियत समय तक अण्डा सेती है तब कहीं सही-सालिम बच्चा निकलता है नहीं तो अण्डा गन्दा और निर्जीव हो जाता है। तब क्या हमारे आशु-कवित्व भिलाषियों में इतना—मुर्गी जितना—सब्र भी न होना चाहिए। प्राचीन और अर्वाचीन अनेक महाकवियों के विषय में सुना और देखा गया है कि वह प्रकाशित करने से पहले अपनी रचना को बार-बार बराबर सुधारते और संवारते हैं, प्राचीन काव्यो की प्रतियों में जो अनेक प्रकार के पाठान्तर मिलते हैं, यह भी इसी के सूचक हैं कि उन कवियों ने अपने काव्यों में कई बार और कई प्रकार से संशोधन और परिवर्तन किये थे।

योरप में शेक्सपियर आदि महाकवियों के हाथ के लिखे हुए ऐसे कागज मिले हैं जिनमें कविता के पाठ में काट-छाँट और संशोधन परिवर्तन किए हुए हैं। उर्दू के सुप्रसिद्ध महाकवि सर 'इक़बाल' की एक कविता के बारे में उनके अन्तरंग मित्र सर अब्दुल कादिर लिखते हैं कि —

"मखज़न में प्रकाशित करने के लिए मैंने उनसे (इक़बाल से) एक नज़्म माँगी, उन्होंने कहा, अभी कोई नज़्म तैयार नहीं, मैंने कहा 'हिमालय' वाली नज़्म दे दीजिये, उन्होंने इस नज़्म के देने में पसो-पेश (आगा-पीछा) की, क्योंकि उन्हें यही ख्याल था कि इसमें कुछ खामियाँ (त्रुटियाँ) हैं, मगर मैं देख चुका था, इसलिये ज़बरदस्ती उनसे वह नज़्म ले ली।"

यद्यपि वह (हिमालय-शीर्षक) कविता बहुत पसंद की गई, पर विद्वान् कवि उसे संशोधनीय समझ कर छिपाये हुए थे, छपवाना नहीं चाहते थे।

'काव्यमीमांसा' के आचार्य का मत है—

'वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात्
कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम्।'

—कवि न होना अच्छा, पर कुकवि कहलाना अच्छा नहीं, कुकविता जीते-जी की मौत है - अपकीर्ति का कारण है।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति से सम्पन्न कवि ही कवि कहलाने का अधिकारी है, जैसा कि राजशेखर ने लिखा है—

'प्रतिभा-व्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते।'

इनमें 'व्युत्पत्ति' अभ्यास-साध्य है पर 'प्रतिभा' ईश्वर-प्रदत्त शक्ति है, यह अभ्यास से बढ़ तो सकती है पर उत्पन्न नहीं की जा सकती। इस कारण कविता करने से पहले प्रतिभा-शक्ति की पड़ताल कर लेना अत्यावश्यक है, जिसमें यह स्वाभाविकी शक्ति न हो, उसे इस झंझट में कभी भूल कर भी न पड़ना चाहिए, ठोक-पीट कर 'वैद्यराज' चाहे बन भी जाय, पर 'कवि-राज' कदापि नहीं बन सकता।

महाकवि क्षेमेन्द्र ने काव्य-कण्ठाभरण में लिखा है—

'यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन
वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनल-धूमिना वाप्यविद्ध-
कर्णः सुकवि प्रबन्धैः ॥
न तस्य वक्तृत्व-समुद्भवः स्याच्छि-
क्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं
पश्यति नार्कमन्धः ॥'

—जो स्वभाव से ही पत्थर के समान है—सहृदयता शून्य है—कष्टप्रद व्याकरण के घोखने में ही जिसने सारी आयु बिता दी है या कर्कश तर्क के अग्नि-धूम की चर्चा ने—(पर्वतो वह्निमान धूमवत्त्वात्) जिसकी सरसता जला दी है, और सुकवियों के काव्यों से जिसके कान पवित्र नहीं हुए हैं, उसे अच्छे प्रकार से शिक्षा देनेपर भी कविता नहीं आ सकती। क्योंकि सिखाने से भी गदंभ गा नहीं सकता, दिखाने पर भी नेत्र-हीन सूर्य को देख नहीं सकता। उर्दू महाकवि हाली ने भी यही राय दी है—

"जब तक शाइर की फिक्र में इतनी भी उपज न हो जितनी एक बये में घोसला बनानेकी और मकड़ी में जाला पूरने की होती है, उसको हर्गिज मुनासिब नहीं कि इस खयाल-खाम में अपना वक्त जाया करे, बल्कि खुदा का शुक्र करना चाहिए कि उसके दिमाग में यह खयाल नहीं है।"

हमारे कुछ नवीन हिन्दी कवियों के दिमाग में यह खलल बहुत बढ़ रहा है, इसका कुछ इलाज होना चाहिए। कविता एक कुदरती—जन्मान्तरीण रोग है, इसे संक्रामक छूत का रोग नहीं बनना चाहिए। ऐसे ही प्रसंग पर किसी दिल-जले विदग्ध ने कहा है—

'काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति,
ये त्वामुदीर्ण-पवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिब निवात-गृह प्रविश्य,
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति ॥"

निःसंदेह क्षेत्रिय-रोग के असाध्य रोगी—सिद्ध कवि—इस उक्ति का अपवाद हैं अतः क्षन्तव्य हैं। और इस अप्रिय सत्य के लिए 'उम्मीदवार रोगी' क्षमा करें।

अब से कई वर्ष पूर्व युक्त प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के षष्ठ अधिवेशन पर अपने सभापण में मैंने वर्तमान हिन्दी कविता के संबध में जो निवेदन किया था तब से इसकी दशा सुधरी नहीं और बिगड़ी ही है।

हिन्दी के वर्तमान कवि

हिन्दी के कुछ वर्तमान कवियों की महिमा और भी विचित्र है। खड़ी बोली में कविता न हो यह कोई नहीं कहता, पर उसके लिए भी किन्हीं नियमों की पाबन्दी जरूरी है। कविता चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक 'कविता' होनी चाहिए, कोरी तुकबन्दी का नाम कविता नहीं है। पद्य रचना को कविता का पर्याय समझ लिया गया है, जो उठता है वही टूटी-फूटी तुकबन्दी करके कवि होने का दम भरने लगता है। न छन्दः शास्त्र का ज्ञान है, न भाषा पर अधिकार है, न व्याकरण बोध है, न रस और रीति से कुछ परिचय है, फिर भी जिस विषय पर कहिए सद्यः कविता सुनाने के लिये फौरन पहले तैयार हैं। यह हास्यजनक और करुणोत्पादक दृश्य आर्यसमाज और सनातनधर्म सभा के उत्सवों पर प्रायः सर्वत्र देखने में आता है, वहाँ हर एक भजनीक सद्यः कवि है। प्राचीन साहित्यकारों ने खास-खास रसों के वर्णन के लिए खास छन्दों का निर्देश कर दिया है संस्कृत में तो इसका विस्तृत विवेचन है, हिन्दी में भी इसके उदाहरणों की कमी नहीं है, पर आजकल छन्दः शास्त्र की पूरी छीछालेदर हो रही है। किसी को 'सुथराशाही' छन्द पसंद है तो वह उसी कांटे में सब रसों को बैठा तोल रहा है, किसी को शार्दूल-विक्रीडित की चाल भा गई है, तो वह उसी में सब विषयों का शिकार खेलता फिरता है। हिन्दी के पूरे पांच छंदों के अकबरी गज़ से हिन्दी कविता की गर्दन नापी जा रही है। कोई फ़ारसी बहरों की लहरों में पड़ा बह रहा है, कहीं बंगाल से 'पयाल' और मराठी से 'अभंग' मांगा जा रहा है। मानो हिन्दी-छन्दों का दिवाला निकल गया है। वेद की ऋचाओं का अनुवाद दादरे और ठुमरी-टप्पों में हो रहा है, अजब तमाशा है।

'उन्हें शौके-इबादत भी है और गाने की आदत भी,
निकलती है ऋचायें उनके मुंह से ठुमरियां होकर।'

तुक न मिली, क़ाफ़िया तंग हो गया तो इस झंझट में पड़ने की भी क्या जरूरत है, बेतुकी उड़ाने लगे। जब संस्कृत में बेतुकी कविता होती है—अंग्रेजी में ब्लैंक-वर्स है तो फिर हिन्दी में वह क्यों न हो। अच्छा साहब यह भी सही, बेतुकी ही सही, पर कुछ कहिए तो, निरे शब्दाडम्बर या कोरी तुकबन्दी का नाम तो कविता नहीं है, कविता का प्राण जो 'रस' है, उसकी कोई बूंद भी आपके इस प्याले में हैं या नहीं। आप जो वंकार रहे हैं सो क्या पुरस्कार-प्राप्ति की प्रेरणा से शब्दों के गोले उगल रहे हैं या नासमझों की बेमानी वाह-वाह के उभारने से यह कवित्व-प्रसव की वेदना सह रहे हैं, या सचमुच अंदर वाला कुछ कहने को बेताब कर रहा है। पिछली बात हो तो शौक़ से कहिये नहीं तो कृपाकर चुप रहिए, कविता में नक्काली से काम नहीं चलता, जो कविता चोट खाये हुए दिल से नहीं निकलती वह स्यापे की नायन का रोना है—

लुत्फ़े-कलाम क्या जो न हो दिल में जख़्में-इश्क़,
बिस्मिल नहीं है तू तो तड़पना भी छोड़ दे।

आजकल हिन्दी में जिस ढंग की कविता हो रही है (दो चार अच्छे कवियों की कविता छोड़ कर) उसका अधिकांश निकृष्ट कविता का सर्वोतम उदाहरण है। फिर भी वह आदरपूर्वक प्रचार और प्रसार पा रही है, समाज में इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या होगी। कविता के लिये इससे बुरा समय शायद ही कभी आया हो। इस का प्रतिकार होना चाहिये। भावहीन और भद्दी तुकबन्दियों पर पुरस्कार या प्रोत्साहन देकर जो लोग इस अनर्थ में योग दे रहे हैं वे इसके दुष्परिणाम पर ध्यान दें तो अच्छा हो। कविता पर पुरस्कार देना बहुत अच्छी बात है, पर पंक्तियाँ गिन कर पुरस्कार के पैसे देना, पत्रों के कालम भरने के लिए मैटर हासिल करने की गरज से बढ़ावे दे-देकर जो वास्तव में कवि नहीं हैं उन्हें कवि बनने के लिए ख्वाह-मख्वाह मजबूर करना अच्छा नहीं है। कवि बनाने से नहीं बनते, कुदरती तौर पर बने बनाए पैदा होते हैं, जिनमें कविता का कुदरती माद्दा हो उनके सिवा दूसरों को इस कूचे में भूलकर भी कदम नहीं रखना चाहिये।

कविता के नाम से जो बहुत सा कूड़ा-करकट हिन्दी में इकट्ठा होता जा रहा है इसकी बाढ़ को रोकने के लिये प्रयत्न होना चाहिए जिस प्रकार गोरक्षा के लिए अभी कलकत्ते में एक अनुकरणीय अनुष्ठान हुआ—एक बहुत बड़ा फण्ड खुला है, इसी तरह हिन्दी साहित्य रक्षा के लिए भी कुछ होना चाहिए। कविता वाणी भी 'गो' है। साहित्य की रक्षा सब जगह समालोचना से होती है, पर हिन्दी में समालोचना का आदर नहीं है, इसलिए इस दूसरे उपाय से काम लिया जाय। जो लोग रोजी के लिए साहित्य हत्या पर उतारू हों उन्हें वजीफ़ा या वृत्ति देकर इस काम से रोका जाय जो नाम या प्रसिद्धि के लिये इस अनर्थ पर कमर बांधें उन्हें बड़ी-बड़ी उपाधियां और कीमती मेडल देकर चुप किया जाय। यदि फण्ड काफी हो, इससे रुपया बचे तो वह प्राचीन साहित्य के उद्धार में लगाया जाए, उससे अच्छे साहित्य के सुन्दर, शुद्ध और सुलभ संस्करण प्रकाशित किये जायें।

ब्रजभाषा का विरोध

खड़ी बोली के प्रचण्ड पक्षपाती या ब्रज भाषा के प्रबल विरोधी कुछ सज्जनों की यह धारणा है कि वीर-भावों के प्रकाशन के लिए ब्रज भाषा उपयुक्त नहीं है यह 'जनानी-जबान है' शृंगार रस की लीला के लिए ही यह गढ़ी गई है, इसमें केवल विरह-वेदना का रोना ही रोया जा सकता है प्रेम पचड़ों का राग ही अलापा जा सकता है देशभक्ति और वीर-रस के 'कड़खे' इसमें नहीं समा सकते। यहीं तक नहीं ब्रज भाषा के विरोध में कुछ वीरपुङ्गव इससे भी आगे बढ़े हैं। उनका कहना है कि देश की वर्तमान अधोगति के—क्लीबता-संचार के—कारणों में ब्रजभाषा भी एक कारण है, इसकी कविता के प्रचार ने हिन्दुओं को नपुंसक बना दिया है। इस धारणा के दो कारण बताये जाते हैं, एक तो ब्रजभाषा की स्वाभाविक मधुरता, दूसरा शृंगार-रस के काव्यों की अधिकता। निःसन्देह ब्रजभाषा मधुर और वा कोमल-कान्त-पदावली-वाली भाषा है, पर संसार में और भी कई भाषा हैं जो मधुरता में ब्रजभाषा के समकक्ष समझी जाती हैं, फ़ारसी भाषा एक ऐसी ही भाषा है, माधुर्य के

आधिक्य से इसका नाम ही 'क़न्दे-पारसी' पड़ गया है। शृंगार-रस की कविता—इश्क़िया ग़ज़लों के लिए फारसी बेतरह बदनाम है, पर उसी में महाकवि फ़िरदौसी का 'शाहनामा' भी है, जो वीर-रस का एक उमड़ता हुआ दरिया (नद है, मधुरता के इस महाकाव्य—शाहनामें पर महमूद ग़ज़नबी जैसा क्रूर वीर इतना मोहित था कि वीर भाव जागरित रखने के लिए इसे सदा साथ रखता था, युद्धभूमि में भी सिरहाने रखकर सोता था। यूरोपियन भाषाओं में फ्रेंच भाषा सबसे अधिक मधुर कही जाती है, उसमें भी वीर रस के काव्यों की कमी नहीं। जगद्विजयी वीर नैपोलियन की मातृभाषा यही मधुर भाषा थी, फ्रेंच-माधुरीका उपासक फ्रांस किसी भी कर्णकटु कठोर-भाषाभाषी देश से वीरता में कम नहीं है।

कवि में कवित्वशक्ति चाहिये, वह किसी भी भाषा में समान-रूप से सफलतापूर्वक शृंगार और वीर-रस का वर्णन कर सकता है। भाषा उसके भावों को संकुचित नहीं कर सकती। जो लार्ड बायरन 'सुहागरात' में अश्लीलता की सीमा को उलङ्घन करने वाले संयोग-शृङ्गार का नग्न चित्र खींच कर पाठक पाठिकाओं के लाज के जहाज को शृंगार-रस की खाड़ी में डुबो सकता है, वही बायरन उसी भाषा में उत्तेजना उत्पन्न करने वाली वीर-रस की कविता द्वारा यूनान को तुर्की के पराधीनता-पाश से मुक्ति भी दिला सकता है।

आर्य-भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा का साहित्य शृंगार रस से भरा पड़ा है, शृंगार रस के इतने काव्य शायद ही संसार की किसी नई पुरानी भाषा में हों, मधुरिमा भी इसकी अतुलनीय है, पर रामायण और महाभारत के जोड़ के वीर-रस के काव्य किस कड़वी और कठोर भाषा में है? जिस भाषा में आदि-कवि ने करुण-रस की महानदी बहाई है, वीर रस का उत्तुंग-तरंग शाली शोणभद्र भी उसी में हिलोरें ले रहा है। ज्ञान-गंगा के उद्गम भगवान् कृष्णद्वैपायन का पञ्चम वेद (महाभारत) शान्तरस का प्रशान्त महासागर भी है और वीर रस का प्रलय-पयोधि भी।

भारत की आधुनिक भाषाओं में बंग भाषा कोमलता में कुछ कम नहीं है। इसके शृंगार रस के उपन्यासों की बाढ़ ने भाषान्तर के रूप में खड़ी बोली को भी शराबोर कर रखा है, फिर भी उसमें वीर रस के महाकाव्य 'मेघनाद-वध' की रचना हो सकती है। जो बात इन भाषाओं में सम्भव है वह ब्रजभाषा में क्यों असंभव समझी जाती है इसलिए ब्रजभाषा-विरोधियों का उक्त तर्क कोरा हेत्वाभास है, अन्वय-व्यतिरेक द्वारा किसी प्रकार भी इसकी सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती। ब्रजभाषा में अधिकतर काव्य शृंगारस के ही हैं, यह ठीक है पर इसमें भाषा बेचारी का क्या अपराध है। यदि है तो उस समय की लोक-रुचि का है, जब जैसी लोक-रुचि होती है वैसे ही काव्य बनने लगते हैं, जिस जिन्स को माँग और खपत होती है वही बाज़ार में आती है, तथापि ब्रजभाषा में वीर रस का सर्वथा अभाव नहीं है, अनेक प्राचीन कवियों ने ब्रजभाषा में वीर रस की कविता की है इसके कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। यथा—कुलपति मिश्र का द्रोणपर्व, रघुनाथ बन्दीजन का ४ जिल्दों में पूरा महाभारत, लाल-कवि का छत्रप्रकाश, श्रीधर और चन्द्रशेखर बाजपेयी का हमीर हठ, पद्माकर की हिम्मत-बहादुर-बिरदावली, क्षीधर का जंगनामा, भूषण का हजारा (जो दुर्भाग्य से अब अप्राप्य है। और भूषण-ग्रंथावली, तथा स्वर्गीय नकछेदी तिवारी द्वारा संग्रहीत वीरोल्लास इत्यादि वीर रस के अनेक ग्रन्थ-रत्न आज भी प्राप्य हैं, महाकवि गंग और सेनापति आदि के बचे खुचे बहुसंख्यक फुटकर पद्य ब्रज-भाषा के विलुप्त वीरसाहित्य का पता अलग दे रहे हैं, पर इसके पढ़ने वाले कितने हैं? शायद इन इने-गिने उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या के बराबर भी नहीं। फिर आप ही इन्साफ से कहिये यह किसका अपराध है? भाषा का कि लोकरुचिका? जिनकी कविता का मुख्य विषय वीर रस का वर्णन था, उन्हें जाने दीजिए, महात्मा सूरदास ही को लीजिये, वह शृंगार-के मुख्य भक्त कवि हैं, शृंगार, करुण और वात्सल्य-रस में ही उनकी कविता डूबी हुई है, फिर भी वीर रस का जहाँ कहीं प्रसंग आ गया है, चित्र-सा खींच दिया है,

भीष्म-प्रतिज्ञा का यह पद देखिये, कितना जोरदार है -

आजु जौ हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी को सान्तनुसुत न कहाऊँ।
सर धनु तोड़ि महारथ खंडौं कपिधुज
सहित गिराऊँ,
पांडव सैन समेत सारथि सोणित सरित बहाऊँ।
जीवौं तो जस लेहुं जगत में जीत निसान फिराऊँ,
मरौं तो मण्डल भेदि भानु को सुरपुर जाय बसाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहि हरि की छत्रिय
गतिहि न पाऊँ,
'सूरदास' रण विजय-सखा को जियत न
पीठ दिखाऊँ॥

आधुनिक कवियों में श्री भारतेन्दु, पं० प्रतापनारायण जी मिश्र, पं० नाथूराम शंकर शर्मा शंकर' और स्वर्गीय सत्यनारायण जी 'कवि-रत्न' इत्यादि ने विशुद्ध ब्रजभाषा में देशभक्ति पर बड़ी ओजस्विनी कविता की है। ब्रज-माधुरी के परम पारखी श्री वियोगी हरि जी ने 'वीर सतसई' रचकर अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि ब्रज-भाषा में आज भी वीर-रस की उत्तम कविता हो सकती है। कवि के हृदय में उत्साह भरा हो तो ब्रजभाषा भी अपना पराक्रम दिखा सकती है और उत्साह-हीन हृदयों को खड़ी बोली भी उठाकर खड़ा नहीं कर सकती, ऐसों को तो डिंगल का डंका भी नहीं जगा सकता।

सामयिक परिस्थिति और देश की दशा का प्रभाव कविता पर भी अनिवार्य रूपसे पड़ता है, नायिका भेद में लीन विरह-वेदना से मूर्छित शृंगारी कवि भी परिस्थिति से विवश होकर वीणा की मधुर झंकार में ऐसा मारू राग अलापने लगते हैं, जो क्रान्ति का कारण बन जाता है, इतिहास इसका साक्षी है. समय पड़ने पर कुसुम-सु-कुमारी कोकिल-कण्ठी कुल-ललनाओं ने अपनी मधुर पर ओजपूर्ण भर्त्सना से कायर पुरुषों को पुरुषसिंह बना दिया है, रणभीरुओं को समरांगण में हँसते-हँसते प्राणाहुति देने पर उद्यत कर दिया है, जो काम प्रचण्ड रणवाद्य नहीं करा सका वह एक हृदयवेधी मधुरोपालम्भ और मीठी चुटकी ने करा दिया है, मानव-हृदय के इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर प्राचीन आचार्यों ने काव्य प्रयोजनों में 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' को स्थान दिया है— जिन मत्त हृदयों पर राजाज्ञा और गुरूपदेश का कठोर अंकुश असर नहीं करता वह भी कान्ता के कोमल कान्त परामर्श की अवहेलना नहीं कर सकते। जो कविता या संगीत श्रोता की हृत्तंत्री के तार को नहीं छू सकता— जिसमें हृदयङ्गमता नहीं है—वह चाहे जिस भाषा में हो, कवि की भावना कितनी ही उदात्त क्यों न हो, उस का कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा, अरण्य-रोदन होकर रह जाएगा। किसी भाषा से केवल इसलिए घृणा करना— उसे किसी काम की न समझना कि उसमें ऐसी कविता की अधिकता है जो मानव चरित को उदात्त बनाने में बाधक है, या चरित्रभ्रंश का कारण हुई है, ठीक नहीं है राग-विद्या की उपादेयता में औंधी खोपरी के कुछ पुराने खूसटों को छोड़कर किसी सहृदय विवेकी का मतभेद नहीं है। इसी राग-विद्या या संगीत-कला को लीजिए, इससे न जाने कितने शौकीन नवयुवकों को अपनी मादकता से अनय के गर्त में गिराकर नष्ट नहीं किया, विलासी अमीरों की नीच वासनाओं को उत्तेजना दे-देकर यह उनके सर्व-नाश का कारण नहीं बनी, पर इससे क्या इन कलाओं की उपादेयता में किसी सहृदय विवेकीका मतभेद हो सकता है। संगीत-कला का दुरुपयोग ही निन्द्य और त्याज्य है, तथा उसका सदुपयोग अभिनन्दनीय और वाञ्छनीय है। जहाँ संगीत-कला के दुरुपयोग से अनेकों का अनिष्ट हुआ है, वहाँ इसी के सदुपयोग से परमानंद-पयोधि के मीन-अनिर्वचनीय आनन्द में लीन होने वाले आदर्श महात्माओं की संख्या भी कम नहीं है।

ब्रजभाषा के वैष्णव कवियों ने उस समय के नृशंस शासकों के असह्य अत्याचार से पीड़ित किंकर्तव्य-विमूढ़' हिन्दू-जाति के भग्न हृदय को अपने मधुर कीर्तन से भय-हारी असुरारि भगवान के चरणों में लगा कर जो उपकार किया है वह सहस्र मुख से औचित्य समझ में आ सकता है, जब कि खुले शब्दों में अपने धर्म की महत्ता का प्रति-पादन करना— उत्तेजना का एक शब्द भी मुँह से निका-लना मौत को निमंत्रण देना था, नृशंसता के उस साम्राज्य

में —जहाँ यह कहने वाले की जबान काट दी जाती थी कि 'हिन्दू के लिए हिन्दू धर्म और मुसलमानों के लिए इस्लाम दोनों सच्चे हैं', रणभेरी बजाने का अवसर ही कहाँ था। निराशा के उस अपार सागर से पार पाने का उपाय भगवद्भक्ति का प्रचार ही था, इसी ने जाति की डगमगाती नैया को बचाया था, ब्रजभाषा में भक्ति-भावना भरी प्रेम-पूरित मधुर कविता के प्राधान्य का यह भी प्रधान कारण है।

नायिका-भेद और कुरुचि-संचारक साहित्य को जाने दीजिए, जो उपादेय है उसे ही ग्रहण कीजिए, अपने प्राचीन साहित्य का संहार नहीं - सुधार कीजिये। हिन्दी भाषा का सिर आज भी अपने प्राचीन साहित्य के कारण ही ऊँचा है, तुलसी, सूर, केशव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द और देव आदि प्राचीन कवियों को निकाल दीजिए और उसी शैली की आधुनिक कवियों की— भारतेन्दु आदि की कविता को पृथक् कर दीजिये, फिर देखिये हिन्दी के साहित्य में कोरे उपन्यासों के भावहीन भद्दी तुकबन्दी के अतिरिक्त और क्या रह जाता है। बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओं का वर्तमान साहित्य अन्य सब विषयों में राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य से कहीं बढ़ा-चढ़ा है। हिन्दी का गौरव प्राचीन साहित्य पर निर्भर है, तुलसी और सूर आदि प्राचीन कवि — विधाताओं की समानता करने वाले कवि भारत की अन्य किस भाषा में है। अपने आदरणीय प्राचीन साहित्य की अवहेलना द्वारा हिन्दीभाषा की इस विशेषता का विनाश न कीजिये। कोई भी प्राचीनता का पक्षपाती यह नहीं कहता कि नये ढंग के साहित्य का निर्माण न किया जाय, निवेदन इतना ही है कि उस विस्मृत साहित्य की रक्षा की जाय, उसे विलुप्त होने से बचाया जाए। कविता खड़ी बोली में ही कीजिए, पर ब्रजमाधुरी का स्वाद न भुलाइए, उसमें भी बहुत कुछ लेने लायक है, सदियों तक ब्रजभाषा कविता की भाषा रही है. आज भी अनेक सत्कवि उसी में कविता करते हैं। ब्रजभाषा मुरदा भाषा नहीं है, जैसा कि कुछ मनचले महाशय कह बैठते हैं, उसके बोलने-वाले अब भी लाखों की संख्या में हैं। ब्रजभाषा से वर्तमान खड़ी बोली का और उर्दू का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बात को मौलाना आजाद आदि अनेक भाषा-विज्ञानी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। उर्दू के पुराने कवि मीर, सौदा और इन्शा की कविता पढ़िये, सब में ब्रजभाषा के ठेठ मुहावरे मिलेंगे, इन मुसलमान महाकवियों को ब्रजभाषा के शब्दों से इतना ही प्रेम था जितना कि आजकल के हिन्दी कवियों को उनसे द्वेष है। यह अच्छे लक्षण नहीं हैं, संकीर्णता या अनुदारता साहित्य की ओर भाषा की विघातक है।

अनिष्ट साहित्य

हिन्दी में पद्य की अपेक्षा गद्य की दशा सन्तोषप्रद है उसमें उपयोगी और आवश्यक साहित्य का निर्माण हो रहा है जो हिन्दी के अभ्युदय का सूचक है। पर साथ ही कुछ साहित्य ऐसा भी बढ़ रहा है जो किसी प्रकार अभिनन्दनीय नहीं है, उसमें सुधार और सुरुचि-संचार के स्थान में कुरुचि और अनाचार का प्रचार हो रहा है। ऐसे साहित्य के निर्माताओं की नियत पर मैं हमला नहीं करता, वह समाज में फैले हुए अनाचार और दुराचार के मूलोच्छेद के उद्देश से ही ऐसा कर रहे हैं, यह माना जा सकता है, पर अनाचार के रोकने का यह उपाय अच्छा नहीं है। बायसकोप में आत्महत्या, भीषण डकैती आदि कुकर्मों के जो रोमांचकारी दृश्य दिखाए जाते हैं, अनुभवी मनोवैज्ञानिकों की सम्मति में उनका परिणाम नासमझ नवयुवकों पर अच्छा नहीं, बुरा ही पड़ता है, जिन कुकर्मों के दृश्य बायसकोप और सिनेमा में वह देखते हैं उनसे बचने की शिक्षा नहीं प्रत्युत उनमें (कुकर्मों में) फँसने की उत्तेजना मिलती है, समय समय पर समाचार पत्रों में ऐसी दुर्घटनाओं के समाचार प्रकाशित होते रहते हैं। गन्दा साहित्य गन्दगी से बचाता नहीं, उसमें और फँसता है, दुराचार का नग्न चित्र (भले ही वह दुराचार से बचाने के लिए चित्रित किया गया हो) देखने वाले के मनोविकार का ही कारण होता है। किसी रोग के नुसखे में रोग के निदान का वर्णन ऐसे मनोमोहक और आकर्षक ढंग से नहीं लिखा जाना चाहिए जिसे पढ़कर

भले चंगे आदमी भी उस रोग का अनुभव करने को रोगी होने के लिए उत्सुक हो उठें।

समाज के दुर्भाग्य से कुछ भड़कीले और चमकीले 'पत्र' स्त्रीसमाज में भी सदाचार-विघातक और स्वेच्छाचारोत्पादक अनिष्ट साहित्य का प्रचार नाना उपायों से कर रहे हैं। योरप के स्त्री समाज—की निरंकुशता और स्वच्छन्दता (जिसके हाथों आज योरप भी तंग है) भारतीय कुल-ललनाओं में भी लाने का भगीरथ-प्रयत्न किया जा रहा है और बुरी तरह से किया जा रहा है। यह भारतीय सदाचार और सभ्यता पर प्राणघाती आक्रमण है। भले आदमियों को ऐसे पत्रों का बायकाट उसी तरह करना चाहिये जैसे विदेशी वस्त्र का और मादक वस्तुओं का। यदि इसका प्रतिकार न किया गया तो एक दिन यह समाज को ले डूबेगा। शिक्षित समाज की निन्दनीय उपेक्षा से साहित्य में गन्दगी का यह रोग दिन-दिन बढ़ रहा है, देश के नेताओं का कर्त्तव्य है कि इससे समाज की रक्षा करें, आश्चर्य है इस अनर्थ को देखते हुए भी वह क्यों चुप हैं। इसके विरुद्ध घोषणा क्यों नहीं करते?

इस विषय में प्रभावशाली पत्रों की उदासीनता भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। इस ओर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता है।

हिन्दी या उर्दू

बड़े-बड़े भाषाविज्ञानवेत्ता विद्वानों की सम्मति है कि उर्दू और हिन्दी में कोई ऐसा भेद नहीं है, उर्दू की उत्पत्ति ब्रजभाषा से हुई है, हिन्दी ने भी उसी से जन्म लिया है, दोनों जोड़िया बहनें हैं, शुरू-शुरू में हिन्दी उर्दू एक थीं, लिपि का भेद था। प्राचीन उर्दू कवियों की कविता पढ़िए, मीर-तकी, सौदा और सय्यद इन्शा ने ठेठ हिन्दी मुहावरों का इस अधिकता से प्रयोग किया है कि आजकल के ठेठ हिन्दी लेखक भी वैसा नहीं करते। आजकल इस पर विवाद होता है कि हिन्दी और उर्दू बिल्कुल दो जुदा भाषा हैं, उर्दू के बहुत से हिमायती तो हिन्दी का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, कहते हैं कि हिन्दी नाम की कोई भाषा न पहले थी न अब है, उर्दू के विरोध के लिए कुछ कलहप्रिय हिन्दुओं ने हिन्दी का नया बखेड़ा खड़ा कर दिया है। पर पहले लोग ऐसा न समझते थे, उनके मत में ठेठ हिन्दी ही असली उर्दू थी। उर्दू कविता के बाबा-आदम मीर-तकी एक जगह फर्माते हैं—

'क्या जानूं लोग कहते हैं किस को 'सुरूरे-कल्ब',
आया नहीं है लफ्ज़ यह हिन्दी ज़बां के बीच।'

दुनिया की मुसीबतों से मीर साहब हमेशा तंग रहे, उनके दिल का कमल कभी न खिला, यही बात उन्होंने शाइराना ढंग से इस शेर में ज़ाहिर की है—यानी 'सुरूरे कल्ब' दिल की खुशी मेरे लिए एक अजनबी—विदेशी शब्द है, मेरी 'हिन्दी' जबान का नहीं, मैं इसके अर्थ (वाच्य) से अपरिचित हूँ—अर्थात् मेरी कभी—सुख से भेंट नहीं हुई।

सय्यद इन्शा ने 'रानी केतकी की कहानी' ठेठ हिन्दी में यह प्रतिज्ञा करके लिखी है—

'जिसमें हिन्दी छुट किसी और बोली की पुट न मिले।'

सय्यद इन्शा के बयान में मौलाना आजाद ने आबे-हयात में इसी कहानी के बारे में लिखा है—

'एक दास्तान नसर उर्दू में ऐसी लिखी है कि एक लफ़ज भी अरबी फ़ारसी का नहीं आने दिया, बावजूद इसके उर्दू के रुतबे से कलाम नहीं गिरा।'

यह बात ध्यान देने लायक है, इन्शा की प्रतिज्ञा के अनुसार जिस कहानी में हिन्दी छुट और किसी बोली की पुट नहीं मिलने पाई, आज़ाद कहते हैं कि— 'एक लफ़ज़ भी उसमें अरबी फारसी का नहीं आने दिया'—उस कहानी की भाषा आजाद की राय में अच्छी खासी फसीह उर्दू है—'उर्दू के रुतबे से कलाम नहीं गिरा'—इसका इसके सिवा और क्या मतलब है कि ठेठ हिन्दी ही असली उर्दू है।

सय्यद इन्शा की इस कहानी की भूमिका से एक बात और भी मालूम हुई कि उस वक्त 'भाषा' या भाखा से हमारी इस वर्तमान खड़ी बोली या हिन्दी भाषा का ग्रहण नहीं होता था, 'भाखा' से ब्रजभाषा मुराद थी और 'हिन्दी' से खड़ी बोली या उर्दू। इन्शा लिखते हैं—

'हिन्दीपन भी न निकले और भाखपन भी न छुट जाए।'

हिन्दी और उर्दू में भेद की बुनियाद उस वक्त से पड़ी जबसे उर्दू में अरबी, फ़ारसी शब्दों का और हिन्दी में संस्कृत के शब्दों का आधिक्य बढ़ा, जिसमें फ़ारसी अरबी के शब्द अधिक हों, वह उर्दू और जिसमें संस्कृत के शब्दों की भर-मार हो वह हिन्दी। इस तरह हिंदी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की जबान समझी जाने लगी। हिन्दी लेखक फ़ारसी-अरबी से हिंदी में आए हुए शब्दों का बायकाट करने लगे और उर्दू-लेखक ठेठ हिन्दी या संस्कृत शब्दों का। यह तास्सुब यहां तक बढ़ा कि साधारण बोलचाल की भाषा पर भी इसका असर पड़ने लगा। इस सम्बन्ध की एक घटना मुझे अक्सर याद आ जाती है—

एक बार गाँव में कूएँ पर दो मुसलमान लड़कियाँ पानी भर रही थीं, एक की उम्र कोई बारह साल होगी, दूसरी की दस साल, छोटी लड़की ने बड़ी लड़की से बातों-बातों में कहा—'रात मैंने ऐसा सपना देखा था।' इस पर बड़ी लड़की ने झिड़क कर कहा—'अरी ख्वाब देखा था, सपना हिन्दू देखा करते हैं!!' इस घटना के बहुत दिन बाद हजरत अकबर का एक पुरमानी शेर देखने में आया—

'ऐ बिरहमन! हमारा तेरा है एक आलम,
हम ख्वाब देखते हैं तू देखता है सपना।'

उर्दू की जन्मभूमि दिल्ली मानी जाती है, दिल्ली व्रजभूमि के समीप है, इसलिए व्रजभाषा और खड़ी बोली का जितना असर दिल्ली की उर्दू पर पड़ सका है उतना लखनऊ की शाखावाली उर्दू पर नहीं। लखनऊ वालों ने जानबूझकर—प्रयत्नपूर्वक अपनी भाषा में दिल्ली की भाषा से भेद किया है। मौलाना हाली अपने दीवान के मुकद्दमें में लिखते हैं—

"××× जब दिल्ली बिगड़ चुकी और लखनऊ से जमाना मुवाफिक़ हुआ और दिल्ली के अक्सर शरीफ खानदान और एक आध के सिवा तमाम नामवर शोरा लखनऊ ही में जा रहे और दौलत तथा सरवत के साथ उलूम क़दीमा ने भी एक खास हद तक तरक्की की, उस वक्त नेचुरल तौर पर अहले-लखनऊ को जरूर यह ख़याल पैदा हुआ होगा कि जिस तरह दौलत और मन्तिक व फ़िलसफ़ा वग़ैरा में हम को फ़ौक़ियत हासिल है, इसी तरह ज़बान और लबो-लहजे में भी हम दिल्ली से फ़ायक़ हैं, लेकिन ज़बान में फ़ौक़ियत साबित करने के लिए ज़रूरी था कि अपनी और दिल्ली की ज़बान में कोई अमर मावडल् इम्तियाज पैदा करते, चूंकि मन्तिक व फ़िलसफ़ा व तिब व इल्मे-कलाम वग़ैरा की मुमारसत ज़्यादा थी, खुद बखुद तबीयतें इस बात की मुक़तज़ी हुईं कि बोलचाल में हिन्दी अलफ़ाज़ रफ्ता-रफ्ता तर्क और उनकी जगह अरबी अलफ़ाज़ कसरत से दाखिल होने लगे, यहाँ तक कि सीधी-सादी उर्दू उमरा और अहले-इल्म की सोसायटी में मतरूक ही नहीं हो गई बल्कि जैसा सक़ात से (मौतबिर लोगों से) सुना गया है मायूब और बाजारियों की गुफ्तगू समझी जाने लगी, और यही रंग रफ्ता-रफ्ता नज़्म और नस्र पर भी ग़ालिब आ गया।'

यह तो पुरानी बात हुई जब लखनऊ वालों ने दिल्ली की उर्दू से अपनी उर्दू की शान बढ़ाई थी, आजकल के मुसलिम उर्दू लेखकों ने तो इस कला में और भी कमाल कर दिखाया है। इनके मुसलिम पत्रों ने तो विदेशी भावों और शब्दों के प्रचार का ठेका ही ले रखा है। उन्हें पढ़ते हैं तो मालूम होता है कि भारत के नहीं, अरब फ़ारिस या टर्की के पत्र पढ़ रहे हैं, उर्दू भाषा को क्लिष्ट और भ्रष्ट करने में मुसलिम पत्र (और उनकी देखा-देखी कुछ हिन्दू उर्दू पत्र भी) एक दूसरे से बढ़े जा रहे हैं। उर्दू में जो शब्द प्रचलित हो चुके थे उनकी जगह भी ढूंढ-ढूंढ कर विदेशी अरबी टर्की के शब्द भरती किए जा रहे हैं—'एडीटर' और 'एडीटरी' के स्थान में 'मुदीर' और 'इदारत' लिखा जाता है, बायकाट या 'बहिष्कार' की जगह 'मक़ातअ' को मिली है, असहयोग से 'तर्केमवालात' हो ही चुका है। किसी भी मुसलिम पत्र को देखिए दर्जनों शब्द नए और अप्रचलित मिलेंगे जिन्हें सर्वसाधारण तो क्या पढ़े-लिखे मुसलमान पाठक भी कठिनाई से समझते हैं और नहीं भी समझते। एक मुसलमान समालोचक के कथनानुसार—

'वह एक नई उर्दू का इन्तजाम कर रहे हैं जिसको उनकी औलाद भी महफूज नहीं रख सकती।'

इस तरह यह मुसलिम पत्र हिन्दी ही नहीं, उर्दू से भी उर्दू को अलग करने में दिनों-दिन बड़ी मुस्तैदी से लगे हैं। वह खालिस मुसलिम संस्कृति के प्रचारक हैं, भारतीयता से उनका इतना ही वास्ता है कि भारत में प्रकाशित होते हैं और बस। हिन्दी पत्रों में उर्दू और फ़ारसी साहित्य पर बराबर लेख निकलते हैं, उर्दू कवितायें उद्घृत होती हैं। हिंदी में प्राचीन और नवीन उर्दू काव्यों का सार-संग्रह प्रकाशित होता है, पर उर्दू मासिक पत्रों में हिन्दी या संस्कृत-साहित्य की चर्चा तक नहीं की जाती, इतने पर भी सारा दोष हिन्दुओं और हिन्दी पत्रों के सिर मढ़ा जाता है। 'जमाने' के जुबली नम्बर की आलोचना करते हुए, गोरखपुर के मुसलिम पत्र 'मशरिक़' ने टिप्पणी चढ़ाई है—

'हम उन सखुनसंज व सखुन शनास हिन्दू असहाब के शुक्रगुजार हैं जो बावजूद मालवी-परस्ती और हिन्दू सभा के इक्तदार के उर्दू अदब के शैदा और हिन्दू मुसलिम इत्तहाद के सच्चे आशिक़ नजर आते हैं।'

'मशरिक' के सम्पादक को इस पर संतोष नहीं है कि एक हिंदू ने उर्दू साहित्य की इतनी सेवा की है, जितनी किसी मुसलमान लेखक ने भी नहीं की, वह चाहता है कि सब हिन्दू इसी तरह उर्दू ही के प्रचार में लग जायें, वह मुसलमान भाइयों से यह अनुरोध नहीं करता कि वह भी हिन्दी की ऐसी ही सेवा करें जैसे हिन्दू उर्दू की करते हैं, यदि हिन्दू अपनी संस्कृति की रक्षा और अपने साहित्य का प्रचार करते हैं तो 'मालवी-परस्ती' में मुब्तला हैं। एकता के विरोधी हैं। कैसा विचित्र और निष्पक्ष न्याय है। अतुलनीय तर्क है।

हिन्दोस्तानी

हिन्दी और उर्दू के विवाद-वृक्ष में एक नई शाखा फूटी है, एक नवीन आन्दोलन उठा है, हिन्दू मुसलमानों को हिन्दी और उर्दू के लिए लड़ता देखकर दिल्ली की एकता-परिषद् में लीडरों ने फ़तवा दिया है—भाषा का नया नामकरण-संस्कार किया है—कि न हिन्दी कहो, न उर्दू, दोनों का एक नाम हो, 'हिन्दोस्तानी'। अच्छी बात है, पर इससे क्या यह विवाद शान्त हो जाएगा? पचों का कहा सिर माथे पर, पर परनाला तो वहीं बहेगा। भोले-भाले हिन्दू भाई भले ही मान जायें पर क्या मुसलमान भाई इसे स्वीकार करेंगे? जब वह सदियों से प्रचलित उस हिन्दी नाम का विरोध करते हैं जिसे मीर-तक़ी, इन्शा और आजाद जैसे मुसलिम विद्वानों ने उचित समझकर प्रयुक्त किया है, फिर वह उर्दू की जगह 'हिन्दोस्तानी' को कैसे दे देंगे। आखिर 'हिन्दी' नाम भी तो हिन्दुओं का रखा हुआ नहीं है, भारत की राष्ट्रभाषा का यह नाम तो मुसलमानों ने ही रखा था, बहुत से हिन्दू विद्वान् इस नाम के विरोधी थे, वह इसकी जगह देवनागरी, भाषा या 'आर्यभाषा' कहना पसंद करते थे, आर्यसमाज ने तो हिन्दी नाम का बहुत दिनों तक विरोध किया था, पर अब उसने भी समझौते के खयाल से इसे स्वीकार कर लिया है। 'हिन्दोस्तानी' नाम तो हमारे शासकों के दिमाग की उपज है, इसकी अनुपादेयता में यही में एक कारण पर्याप्त है। यदि यह नया नाम दो जातियों की एकता का साधन होता तो वह इसे पसंद करके अपनी ओर से क्यों पेश करते। आश्चर्य है कि यह मोटी बात एकता-परिषद् वाले महानुभावों को क्यों न सूझी। सच है—

'योरप वाले जो चाहें दिल में भर दें,
जिसके सर पै जो चाहें तोहमत धर दें।
बचते रहो इनकी तेजियों से 'अकबर',
तुम क्या हो खुदा के तीन टुकड़े कर दें।'

गवर्नमेंट ने अपनी भेद-नीति का परिचय इसी प्रकार अनेक बार दिया है, मनुष्य-गणना में नये-नये कल्पित नामों से अनेक नई जातियाँ खड़ी कर दी हैं। 'हिन्दोस्तानी' नाम से हिन्दी उर्दू का भेद दूर न होगा, बल्कि एक तीसरी भाषा और उत्पन्न हो जाएगी। जिसे 'सरकारी बोली' कहना उचित होगा। 'स्टैन्डर्ड टाइम' की तरह गवर्नमेंट 'स्टैन्डर्ड भाषा' भी प्रचलित करना चाहती

हैं, यह इसी का सूत्रपात है यदि यह चाल चल गई तो हिन्दी उर्दू साहित्य का सर्व-संहार हो जाएगा। 'उर्दू हिन्दी दोनों बहक सरकार जब्त हो जायेंगी। यह नया नाम किसी प्रकार स्वीकार करने योग्य नहीं है इस प्रस्ताव का प्रतिवाद होना चाहिये। 'हिन्दी' जैसे व्यापक और प्रचलित नाम को छोड़ कर — जिसके प्रयोग से समस्त साहित्य भरा पड़ा है, जो अनेक संस्थाओं के नामों में इस प्रकार सम्मिलित हो चुका है कि पृथक् नहीं लिया जा सकता, एक नया और संदिग्ध नाम ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। 'हिन्दी' कहने से केवल हिन्दी भाषा ही का बोध होता है, 'हिन्दोस्तानी' में यह बात नहीं है, इसके साथ जब तक 'भाषा' 'जबान' या 'बोली' शब्द न जोड़ा जाएगा, काम न चलेगा, अन्धे को न्यौतकर दो जने बुलाने पड़ेंगे।

बिहार में उर्दू का विवाद

बिहार में जो हिन्दी-उर्दू का आन्दोलन उठा है इस में भी गुप्त रूप से गवर्नमेन्ट की भेद-नीति काम कर रही है। मुसलमान भाई जरा शांतचित्त होकर इस पर विचार करें तो उन्हें मालूम हो जाएगा कि इससे लाभ के बदले हानि ही होगी, यदि बिहार में यह आन्दोलन सफल हो गया तो पंजाब और सिन्ध में हिन्दी और नागरी लिपि के लिए आन्दोलन प्रारम्भ होगा, जहाँ इस समय उर्दू का साम्राज्य है। बिहार में तो मुसलमानों को उर्दू पढ़ने की स्वतंत्रता पहले ही से है, अदालतों की भाषा भी उर्दू ही है, सिर्फ लिपि नागरी है, इससे अच्छा समझौता और क्या होगा। पंजाब और सिन्ध में तो इतना सुभीता भी नहीं कि हिन्दू अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में हिन्दी पढ़ा सकें, वहाँ तो 'श्रीमान्' और 'निवेदन' शब्दों के प्रयोग पर भी आपत्ति की जाती है। यदि बिहार में अल्पसंख्यक मुसलमानों को यह अधिकार मिलना न्याय-संगत समझा जाता है तो फिर सिन्ध और पंजाब में हिन्दुओं को यही अधिकार क्यों न दिया जाय? पंजाब में हिन्दुओं के सब पत्र उर्दू में ही निकलते हैं, क्या बिहार के मुसलमान भाई उसी अनुपात से बिहार में हिन्दी-पत्र निकालने को तैयार हैं?

साहित्य-सम्मेलन की स्वागत-समिति के मंत्री महोदय ने मुझे सूचना दी थी कि सभापति के भाषण में हिंदी-उर्दू के नए विवाद पर भी (जो बिहार में इस समय चल रहा है) कुछ अवश्य कहा जाय. इस आवश्यक विषय पर प्रकाश डालने का मेरा विचार स्वयं भी था, इसके लिए उन्होंने 'देश' में इस विषय पर प्रकाशित लेखमाला पढ़ने की सम्मति भी दी, तदनुसार मैंने अपने विद्वान् मित्र प्रोफेसर बदरीनाथ वर्मा (एम० ए०, काव्यतीर्थ) 'देश'-सम्पादक को 'देश' के वह अंक भेजने के लिए लिखा, उन्होंने ढूंढ-भालकर वह अंक भी भेजे और प्रांतीय साहित्य सम्मेलन के सभापति के पद से लिए हुए अपने सुन्दर भाषण की कापी भेजने की भी कृपा की, मैंने उस लेखमाला और भाषण को पढ़ा तो मुझे वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और पठनीय प्रतीत हुआ। हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि पर इतना विशद विवेचन हिंदी में किसी एक जगह देखने में नहीं आया, विद्वान् लेखक ने भाषा और लिपि के प्रश्न की चतुरस्र मीमांसा बड़ी योग्यता से की है। इस विषय पर इससे कम कहने पर काम नहीं चल सकता था, इस कारण मैंने अपने भाषण में इस पर विस्तार से कहने का विचार छोड़ दिया, व्यर्थ पिष्ट-पेषण होता, कोई बात इस सम्बन्ध में कहने को बाकी नहीं रही थी, मुझे इतना अवकाश और समय भी न था। मैंने वर्मा जी से अनुरोध किया कि यह लेखमाला पुस्तकाकार प्रकाशित करके सम्मेलन के अधिवेशन पर वितीर्ण की जाय तो भाषा और लिपि की कठिन समस्या को सुलझाने में सुगमता होगी। हर्ष की बात है कि वर्मा जी ने मेरी बात मान ली - वह लेखमाला पुस्तकाकार प्रकाशित कर दी। सम्भव है उसके किसी अंश पर किसी को मतभेद हो, पर विवेचना बड़ी सहृदयता और व्यापक दृष्टि से की गई है, समझौते की कोई बात सुझाने से रह नहीं गई है, राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि के बारे में किसी को कुछ कहने की गुंजाइश नहीं छोड़ी है। मेरा अनुरोध है कि प्रत्येक हिन्दी-हितैषी और देशभक्त उसे ध्यान से पढ़े और राष्ट्र-भाषा तथा राष्ट्रलिपि के इस विवाद को (जो दुर्भाग्य से इस समय विशेष रूप से बिहार में चल रहा है) समुचित रूप से शान्त करने में सहायक हो।

हमारे मुसलमान भाइयों को यह भ्रम हो गया है कि हिंदू, उर्दू का विरोध करने के लिए ही हिंदी का प्रचारकर रहे हैं, उन्हें जानना चाहिये कि आज भी लाखों हिंदू उर्दू पढ़ते लिखते हैं, हिन्दुओं ने उर्दू की सेवा मुसलमानों से कम नहीं की, उर्दू का सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र 'जमाना' एक हिंदू विद्वान् की सम्पादकता ही में एक जमाने से निकल रहा है। हिन्दुओं में आज भी मुन्शी सूर्यनारायण साहब 'महर', पं० ब्रजमोहन दत्त त्रेय 'कैफी' और 'बिस्मिल' जैसे उर्दू के महाकवि और कवि मौजूद हैं, दूर जाने की क्या जरूरत है आपके इस मुजफ्फरपुर में ही श्रीयुत प्रोफेसर अवधबिहारी सिंह जी अरबी फ़ारसी के पारदर्शी विद्वान् वर्तमान हैं, जिनके जोड़ के विद्वान् मुसलमानों में भी दो-चार निकलेंगे। क्या मुसलमान भाई बतला सकते हैं कि उनमें संस्कृत और हिन्दी के कितने पण्डित हैं? कितने कवि और लेखक हैं, वह हिन्दी की कितनी सेवा कर रहे हैं भारत के करोड़ों मुसलमानों में श्रीयुत 'मीर', मूनिस, मुन्शी अजमेरी जी और जहूरबख्श के सिवा हिन्दी सेवा के लिए और कितने सज्जनों के नाम लिए जा सकते हैं। मैं मुसलमानों भाइयों पर ही इसका इन्साफ छोड़ता हूँ और उनसे पूछता हूँ —

'तुम्हें तक़सीर मेरी है कि मुसलिम की खता लगती,
मुसलमानों ! ज़रा इन्साफ से कहना खुदा लगती।'

अपने मुसलमान भाइयों का ध्यान महाकवि अकबर की इस सारगर्भित और तथ्यपूर्ण उक्ति की ओर दिलाता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि इस सचाई को समझें —

'हिन्दू व मुसलिम एक हैं दोनों,
यानी यह दोनों एशियाई हैं।
हम-वतन हम ज़बाँ व हम-किस्मत,
क्यों न कह दूं कि भाई-भाई हैं।'

शिक्षा का माध्यम

कोई देश भी मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाये बिना सुशिक्षित नहीं हो सकता, भारत को छोड़कर संसार का कोई ऐसा अभागा देश नहीं, जहाँ विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाती हो। भारत के सरकारी विद्यालयों में सब विषयों की उच्च शिक्षा अंग्रेजी ही में दी जाती है जिससे विद्यार्थियों का अधिक से अधिक समय भाषा को तोता-रटन्त में नष्ट हो जाता है। उच्च शिक्षा की समाप्ति तक वह अपने स्वास्थ्य से हाथ धो बैठते हैं। फिर भी उन विषयों में उतने निष्णात नहीं होते। यहाँ जिन विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है, उनमें कांगड़ी का गुरुकुल विश्वविद्यालय मुख्य है, यहाँ सब विषयों की शिक्षा मातृभाषा हिन्दी ही में दी जाती है, इसी से उच्च शिक्षा का जो कोर्स दूसरे विद्यालयों में ६ वर्ष में पूरा होता है, वह इस गुरुकुल में ४ वर्ष में ही समाप्त हो जाता है। दूसरे विश्वविद्यालयों में जो कई पुस्तकें बी० ए० के कोर्स में नियत हैं वह यहाँ एफ० ए० में पढ़ाई जाती हैं और विद्यार्थी बड़ी सरलता से उनमें उत्तीर्ण होते हैं बाहर के विद्वान् परीक्षकों ने अनेक बार इस पर सन्तोष प्रकट किया है और इस बात को स्वीकार किया है कि मातृभाषा के माध्यम ही का यह महत्त्व है।

निःसदेह गुरुकुल के स्नातकों की अंग्रेजी भाषा में उतनी ऊंची योग्यता नहीं होती जितनी सरकारी विद्यालयों की, पर अंग्रेजी भाषा में असाधारण योग्यता-लाभ तो शिक्षा का उद्देश्य नहीं है।

गवर्नमेंट तो अंग्रेजीभाषा की शिक्षा किसी और ही उद्देश्य से देती है, इस उद्देश्य की व्याख्या महाकवि अकबर ने की है —

"नौकर को सिखाते हैं मियाँ अपनी ज़बान,
मतलब यह है कि समझें उनके फर्मान।
मकसूद नहीं मियाँ की सी अक्लो तमीज़,
इस नुकते को क्या वह समझें जो हैं नादान।"

दुर्भाग्य है कि राष्ट्रीय शिक्षा का इतना देश-व्यापी घोर आन्दोलन होने पर भी यह 'नादानी', अभी दूर नहीं हुई। अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के पक्षपातियों ने 'मियाँ' (स्वामी, सरकार) के मतलब को अब तक समझा नहीं, शिक्षा प्राप्ति का लक्ष्य अभी तक पास होकर अंग्रेजी का ग्रेजुएट बनना ही समझा जा रहा है अर्थात् —

'असमाल' नहीं 'ग्रेट' होना अच्छा,
दिल होना बुरा है पेट होना अच्छा।
पंडित हो कि मौलवी हो दोनों बेकार,
इन्सान को ग्रेजुएट होना अच्छा।'

अंग्रेजीभाषा के 'ग्रेजुएट' बनने का यह महामोह शिक्षा के लिए सचमुच साढ़-सती का 'शनैश्चर' है। जब तक इससे पिण्ड न छूटेगा भारत शिक्षित न होगा, और यह तब ही होगा जब सब विषयों की शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जाएगी। समस्त देश के लिए शिक्षा का माध्यम बनने की पात्रता यदि किसी भाषा में है तो राष्ट्रभाषा हिन्दी ही में है। शिक्षा-विज्ञान के समस्त विद्वान् इसपर सहमत हैं। खेद है कि इस महत्त्वपूर्ण विषय के लिए जिस भगीरथ-प्रयत्न की आवश्यकता है वह नहीं हो रहा, कोरे प्रस्ताव पास होकर ही रह जाते हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का और शिक्षा-प्रेमी देशभक्तों का परम कर्त्तव्य है कि अपनी सब समवेत शक्ति हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने में लगावें।

हिंदी के साथ ही हमें अपनी अमरभाषा देववाणी संस्कृत को भी न भुलाना चाहिये, उसकी शिक्षा के बिना हिन्दूजाति की गति नहीं, समस्त आर्यभाषाओं की जननी संस्कृत ही है, हमारे पूर्वजों का इतिहास, हमारी संस्कृति का आदर्श संस्कृत में ही है, हिन्दी का शब्द-भण्डार भरने के लिये भी संस्कृत-शिक्षा की अनन्य आवश्यकता है। यही नहीं, अंग्रेजीभाषा को जो स्थान भारत में इस समय प्राप्त है, वह संस्कृत को मिलना चाहिये, भारत के शिक्षित समुदाय की एक भाषा संस्कृत ही हो सकती है। दक्षिण के एक विद्वान् मुसलमान ने इस बात को मुक्तकण्ठ से अभी उस दिन भरी सभा में स्वीकार किया है।

हिन्दी साहित्य की प्रगति

यह देखकर सन्तोष और हर्ष होता है कि हिंदी साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है। हिंदी के मासिक पत्र और पत्रिकायें सरस्वती, माधुरी, सुधा, विशाल भारत, त्यागभूमि, समन्वय, विद्यार्थी, महारथी और सरोज इत्यादि साहित्य की आदरणीय सेवा कर रहे हैं। हिन्दी के दैनिक पत्रों की दशा भी बहुत सतोषप्रद है, हमारे आज, स्वतंत्र और विश्वमित्र, किसी भी प्रांतीय भाषा के दैनिकों से मुकाबला कर सकते हैं। हिन्दू-संसार, वर्तमान और अर्जुन का दम भी दैनिकों में गनीमत है। साप्ताहिक पत्रों में प्रताप, अभ्युदय, श्रीकृष्ण सन्देश, देश, स्वदेश, लोक-संग्रह, शिक्षा, हिन्दी बंगवासी, श्रीवेंकटेश्वर समाचार, कर्मवीर, आर्यमित्र, महावीर और सैनिक सभी अपनी-अपनी जगह सफलता से सँभाले हुए हैं—राष्ट्र की और राष्ट्रभाषा की उन्नति में तत्पर हैं। हास्यरस की पूर्ति में 'मतवाला' मुख्य है, इसकी नोंक-झोंक 'अवधपंच' की याद दिलाती है। मतवाला बेहोशी में भी होशियारी का काम कर रहा है। 'हिन्दूपंच' भी इस मैदान में उसके पीछे पीछे है। शिशु-साहित्य के निर्माण का बालसखा, बालक, खिलौना और शिशु, अभिनंदनीय उद्योग कर रहे हैं। साहित्य प्रचारक संस्थाओं में काशी का ज्ञान-मण्डल, प्रयाग का इण्डियन प्रेस, लखनऊ की गंगा पुस्तकमाला, कलकत्ते की हिन्दी-पुस्तक एजेंसी, बम्बई का हिंदी-ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बांकीपुर का खड्गविलास प्रेस और लहरिया सराय का पुस्तक भण्डार, हिंदी का भण्डार भर रहे हैं, अजमेर में सस्ता साहित्य मण्डल ने साहित्य को सस्ता और सुलभ करने का बीड़ा उठाया है।

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा तो हिन्दी आंदोलन की जननी है, नागरी के प्रचार का सर्वाधिक श्रेय उसे हो प्राप्त है, अनेक प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन के अतिरिक्त हिंदी-पुस्तकों की खोज का काम भी उसी ने सबसे पहले प्रारंभ किया है। उसकी त्रैमासिक पत्रिका भी हिंदी में अपने ढंग की एक ही है। नागरी प्रचारिणी के सर्वस्व उद्योगवीर श्री श्यामसुन्दर दास जी की हिन्दी सेवा के सम्बन्ध में जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है।

यह देखकर हर्ष होता है कि कुछ उच्चकोटि के विद्वान् भी हिन्दी को अपनाने लगे हैं— यानी पी-एच० डी० उपाधिधारी विद्वान् भी अब हिन्दी में कुछ लिखने लगे हैं। श्रीयुत डाक्टर मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०

ने 'भाषा विज्ञान' पर पुस्तक लिखकर हिन्दी को गौरवान्वित किया हैं।

ब्रजभाषा के इस विरोध-काल में भी इस बीच में ब्रजभाषा के दो उत्तम काव्य ग्रंथ प्रकाशित हो ही गये— इससे पता चलता है—'अभी कुछ लोग बाकी है जहाँ में।' कविवर और सुहृद्वर श्रीयुत रत्नाकर जी के 'गंगावतरण' ने अपने अवतरण से कविताक्षेत्र को गंगा के समान पवित्र किया है, 'गंगावतरण' एक उत्तम कोटि का पठनीय काव्य है। श्री वियोगीहरि जी की 'वीर सतसई' तो श्री मंगलाप्रसाद पारितोषिक पाकर मैदान मार ही चुकी है, उसकी चर्चा तो इस प्रसंग में पुनरुक्त है। श्रीयुत पं० कृष्णबिहारी मिश्र जी भी इस प्रसग में स्मरणीय हैं, वह अपने 'समालोचक' में ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य की चर्चा बराबर करते रहते हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर हिंदी साहित्य की दशा सन्तोषजनक है। फिर भी किसी बात की कमी है जो जी में खटक रही है, हिंदी में सितारे-हिन्द, भारतेन्दु, सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त, बा० बालमुकुन्द गुप्त और श्री गुलेरी जी जैसे विद्वान् और हृदयहारी आदर्श लेखक न जाने अब क्यों पैदा नहीं होते! इस दृष्टि से तो हमारा साहित्य-शकट वहीं है, जहाँ यह लोग छोड़ गये थे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

ने बहुत काम किया है। पर अभी दिल्ली दूर है। जो कुछ अब तक हुआ है वह भूमिका मात्र है। परीक्षा और प्रचार के काम में सम्मेलन को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है, इससे हिन्दी-संसार में एक जागृति सी पैदा हो गई है। सम्मेलन के नाम और काम का प्रचार पर्याप्त हो चुका, अब जो कर्त्तव्य है उसकी ओर अग्रसर होना चाहिये। सम्मेलन के सामने इस समय मुख्य काम ये हैं— हिन्दी विद्यापीठ, संग्रहालय, इतिहास का निर्माण और प्राचीन साहित्य का प्रकाशन। श्री अवध उपाध्याय जी के सहयोग से विद्यापीठ की शिक्षा का काम चल रहा है, कृषि के लिए भूमि भी बहुत अच्छी मिल गई है, आशा है, शीघ्र ही कृषि का कार्य चल निकलेगा।

संग्रहालय और इतिहास के लिए अभी कुछ नहीं हुआ, खाली प्रस्ताव ही होकर रह गये हैं। यह दोनों ही काम जितने आवश्यक हैं उतने ही व्यय और परिश्रम-साध्य हैं, इसके लिए विद्वानों की और उदार दानियों की समवेतशक्ति अपेक्षित है, केवल सम्मेलन-कार्यालय और मन्त्री-मण्डल के हाथ में खाली दफ्तर के सिवा और क्या है। कोई भी मन्त्री-मण्डल हो जब तक उसे बाहर से यथेष्ठ सहायता न मिलेगी कुछ न होगा। इसमें स्वार्थ-त्यागी और सुसमर्थ सहायकों की सहायता अपेक्षित है जो सम्मेलन को अभी प्राप्त नहीं हो सकी, सम्मेलन के हितैषियों का कर्त्तव्य है कि परस्पर के सब मतभेद भुलाकर संग्रहालय की पूर्ति और इतिहास-निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य में अपनी सारी शक्तियों समेत लग जायें। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के काम से सम्मेलन को छुट्टी मिल गई है, यह उचित हुआ या अनुचित, इस पर विचार करने से अब कुछ लाभ प्रतीत नहीं होता। जो कुछ हुआ हो गया, उसकी चिन्ता छोड़कर सम्मेलन को अब अपनी शक्ति प्राचीन साहित्य के उद्धार और प्रचार में लगा देनी चाहिए। सब से पहले 'सूरसागर' का सम्पादन और प्रकाशन आवश्यक है, यह ग्रन्थ-रत्न आजकल अप्राप्य हो रहा है, 'सूरसागर' का भी एक प्रामाणिक और विशुद्ध संस्करण आजतक प्रकाशित नहीं हो सका, यह साहित्य-सेवियों के लिए कलंक और दुर्भाग्य की बात है। प्राचीन साहित्य के और भी अनेक सद्ग्रंथ छिपे पड़े हैं जो अब तक एक बार भी कहीं प्रकाशित नहीं हुए, कुछ ऐसे हैं जो कभी प्रकाशित हुए थे, पर अब नहीं मिलते, उनके विशुद्ध, सुलभ और सटिप्पण संस्करणों का प्रबंध सम्मेलन को करना चाहिये। प्राचीन-साहिय के पढ़ने की रुचि दिन दिन बढ़ रही है—पर पुस्तकें नहीं मिलतीं, उनके पढ़ाने वाले भी कम हैं, इसके लिए ब्रजभाषा का एक अच्छा कोश बनना चाहिये जिसकी सहायता से साहित्य-प्रेमी प्राचीन साहित्य को पढ़ सकें और समझ सकें।

प्राचीन साहित्य का उद्धार तथा नवीन उपयोगी साहित्य का निर्माण और उसका प्रचार ही साहित्य-सम्मेलन का मुख्य काम हैं, जिसकी ओर सम्मेलन ने अभी

तक समुचित ध्यान नहीं दिया, सम्मेलन की सब शक्ति अब तक केवल प्रचार कार्य ही में लगती रही है,' अब उसे अपने मुख्य उद्देश्य की ओर अग्रसर होना चाहिए, इस अवसर पर यदि कर्त्तव्य-कार्य की कोई योजना तैयार करके उसे कार्य रूप में परिणत करने का उपाय सोच लिया जाय तो अच्छा हो, नये-नये प्रस्ताव प्रस्तुत करने का काम कुछ दिनों के लिए स्थगित रहे तो कोई हानि नहीं, कुछ काम होना चाहिए, इसी में सम्मेलन की सफलता है।

अब आप सज्जनों से यही प्रार्थना करके मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ, और जो कुछ असम्बद्ध कह गया हूँ, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ।*

---

* अखिल भारतीय अष्टादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, मुजफ्फरपुर में सभापति पद से दिया गया संभाषण।

उर्दू को उन्नत और भारतव्यापी—राष्ट्रभाषा बनाने के लिए इस बात की बड़ी जरूरत है कि उसकी नई परिभाषायें संस्कृत या तन्मूलक भाषाओं से ली जायें। नये शब्द-निर्माण के लिए संस्कृत का भण्डार अनन्त है, उसकी सहायता से सब प्रकार के शब्द बड़ी सुगमता से गढ़े जा सकते हैं। उर्दू हिन्दुस्तान की भाषा हैं, इसकी प्रवृत्ति हिन्दी हैं, इसलिए उसमें अनार्य (सामी) भाषा के शब्दों की अधिकता खटकने वाली बात है। भारत में संस्कृत-मूलक शब्द जितनी सुगमता से समझे जा सकते हैं, उतने अरबी या तुर्की के शब्द नहीं। उनका उच्चारण और आशय हिन्दुस्तानियों के लिए अग्राह्य और अस्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त इससे एक लाभ यह भी होगा कि हिन्दी और उर्दू का बढ़ता हुआ भेद मिट जाएगा। केवल इतना ही नहीं बल्कि भारत की अन्य समृद्ध प्रान्तीय भाषाओं के साथ भी उर्दू की घनिष्ठता स्थापित हो जाएगी, क्योंकि बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी वैज्ञानिक परिभाषायें संस्कृत से ही ग्रहण की गई हैं और की जा रही हैं, जिनका प्रचार वहाँ शिक्षित-समुदाय और सर्वसाधारण में अच्छी तरह हो गया है। उर्दू में परिभाषायें अरबी से ही ली जायें, यह साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी श्रेयस्कर नहीं है। जिस भाषा और जिस रीति से हिन्दी में परिभाषाओं का निर्माण हुआ है, वही रीति उर्दू में भी ग्राह्य होनी चाहिए, जब उर्दू और हिन्दी एक ही हैं, तो यह परिभाषा-भेद की एक नई भीत इन दोनों के बीच में खड़ी करना किसी प्रकार भी वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

पं० पद्मसिंह शर्मा

'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' से

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी

—पं० पद्मसिंह शर्मा

नाम

पादाङ्ग सन्धि पर्वाणं स्वर व्यञ्जन भूषितम् ।
यमाहुरक्षरं विप्रास्तस्मै वागात्मने नमः ।।

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का झगड़ा कोई सौ बरस से चल रहा है, आज तक इसका फैसला नहीं हुआ कि इनमें से भाषा का कौन-सा रूप राष्ट्र-भाषा समझा जाय और कौन-सी लिपि राष्ट्र-लिपि ठहरा ली जाए।

हिन्दी वाले चाहते हैं कि ऐसी विशुद्ध भाषा का प्रचार हो जिसमें संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य रहे, और यदि सरलता अपेक्षित हो तो विशुद्ध तद्भवों से ही काम लिया जाए, विदेशी भाषा के शब्दों का भरसक बहिष्कार हो, प्रत्युत जहां आवश्यकता विवश करे वहाँ संस्कृत से ही पारिभाषिक शब्द भी गढ़ लिए जायें। कुछ विशुद्धतावादियों के मत में तो लालटेन का प्रयोग करना अशुद्धि के अन्धकार में पड़ना है, उसके स्थान में वह 'दीप-मन्दिर' या 'हस्त-कांचदीपिका' का प्रकाश अधिक उपयुक्त समझेंगे।

उर्दू वाले नये-नये मुअर्रब और मुफ़र्रस अलफ़ाज तक से गुरेज़ करते हैं और उनके बजाय अरबी और फ़ारसी की मुस्तनद लुग़ात से इस्तहालात नो व नौ से अपने तर्जे तहरीर से ऐसा तमन्नो पैदा करते हैं कि उनका एक-एक फ़िक़रा ग़ालिब' के बाज़ मुश्किल मिसरे की पेचीदगी पर भी ग़ालिब आ जाता है और बसा औक़ात अलफ़ाज़ की नशिस्त ऐसी होती है कि जुमले के जुमले महज़ इतनी बात के मोहताज होते हैं कि खालिस फ़ारसी (अजमी) शक्ल अख्तियार करने में सिर्फ हिन्दी अफ़आल को फ़ारसी अफ़आल में तबदील कर दिया जाय और बस।

विशुद्ध हिन्दी और फ़सीह उर्दू-ए-मुअल्ला की एक दरम्यानी सूरत का नाम हिन्दुस्तानी कहा जाता है, जिस में सकील और ग़ैर-मानूस अरबी-फारसी अलफ़ाज और दुरूह तथा दुर्बोध संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से जहाँ तक हो सके बचने की कोशिश की जाती है और इस बात का ध्यान रखा जाता है कि नित्त के कारबार में जो शब्द और मुहावरे बोलचाल में काम आते हैं वही पोथियों और अखबारों में भी बरते जायें।

इन तीनों रूपों में एक-एक कठिनाई है, विशुद्ध हिंदी और खालिस उर्दू, पुस्तकों और समाचार-पत्रों के बाहर, बहुत ही कम काम में आती है। पंडितों के व्याख्यान और मौलवियों के खुतबे मुश्किल से सुनने वालों की समझ में आते हैं, और इनका दायरा बहुत ही महदूद है—क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। हिन्दुस्तानी में यह कठिनाई है कि शास्त्रों के गूढ़ और गहन विषयों पर जब कभी कोई ग्रंथ या लेख लिखना पड़ता है तो लेखक अपने शब्द-भंडार को काफी नहीं पाता और अपने 'हिन्दुस्तानी' के दायरे को छोड़ कर उसे कभी खालिस उर्दू की तरफ और कभी विशुद्ध हिन्दी की ओर झुकना पड़ता है और उनसे परिभाषायें या इस्तलाहें उधार लेनी पड़ती हैं।

खालिस और विशुद्ध फ़िरक़े और सम्प्रदाय वाले जनता या आवाम को इतना ऊँचा उठाना चाहते हैं कि उनकी मामूली बोलचाल ऐसी फसीह और परिमार्जित हो जाय कि बोली जाने वाली और लिखी जाने वाली भाषा मे भेद न रहे। हिन्दुस्तानी के पैरो यह दावा करते हैं कि बोल-चाल की भाषा स्वाभाविक रास्ते पर चलेगी, बनावट से वह जबरदस्ती ऊँची नहीं उठाई जा सकती।

विशुद्ध पक्ष वाले हिन्दुस्तानी की यह निर्बलता बतलाते हैं कि उसका भण्डार इतना रीता है कि वैज्ञानिक ग्रन्थों की रचना तो क्या उसमें उच्चकोटि की रचना भी नहीं हो सकती, वह विशेष प्रकार की अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों के प्रकाशन का साधन नहीं बन सकती—खयाल अपने जोर में मनचाही उड़ान नहीं ले सकते, हिन्दुस्तानी में स्वाभाविक कविता हो सकती हैं पर वह अनन्त की ओर दौड़ नहीं लगा सकती - अपने संकीर्ण क्षेत्र में ही उछल-कूद कर रह जाती है। ऐसी दशा में 'हिन्दुस्तानी' भाषा प्रमाण या आदर्श मान ली जाय, तो साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का सर्वसाधारण से कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। सक्षेप में वर्तमान झगड़े का यही स्वरूप है।

हमारे देश में विदेशियों से व्यवहार, व्यापार और सवर्ष हजारों बरस से चला आ रहा है, और उसमें मुसलमानों से विशेष रूप से, लगभग एक हजार साल से, सम्बन्ध हो गया है। मेरी समझ में जो लोग केवल राजनीतिक सम्बन्ध या सियासी ताल्लुकात पर ही जोर देते हैं, वह भूलते हैं। मुसलमानों से, सामाजिक और व्यापारिक सम्बन्ध, राजनीतिक की अपेक्षा अधिक रहा है। लड़ाइयाँ निरन्तर नहीं होती रहतीं और राजकाज भी हर शहर और हर बस्ती में इतना सार्वजनिक प्रभाव डालने वाला और व्यापक नहीं हुआ करता, परन्तु बाहर से आकर बस जाने वाले विदेशी, बस्तियों के भीतर कभी बिल्कुल अलग-थलग - चुपचाप मौन साधकर नहीं रह सकते। अपने पड़ौसियों से मेल-जोल, लेन-देन, बनिज-व्यापार, कारबार और व्यवहार किये बिना उनका काम नहीं चल सकता, और यह सब मूक या नीरव भाषा में असम्भव है। इस प्रकार के सम्बन्ध अधिक व्यापक, अधिक प्रभावशाली और निरन्तर बने रहने वाले चिरस्थायी और देरपा होते हैं, इनका प्रभाव भाषा पर स्थायी और अमिट होता है। इसीलिए हमारी यह सहेतुक धारणा है कि राजनीति की अपेक्षा सामाजिक सम्बन्ध का भाषा के ऊपर बहुत गहरा असर पड़ता है। यह बात मैं मानता हूं कि साधारण श्रेणी के विदेशियों से सब से अधिक सम्पर्क, सेना वाली बस्तियों और बाजारों में होता है। परन्तु साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिए कि जब विदेशियों की एक बड़ी संख्या कहीं आकर बस जाती है, तो इसका काम सिर्फ सेना विभाग में नौकरी करने से नहीं चल सकता, फिर ऐसी बस्तियों में सिपाहियों के सिवाय पेशेवर, रोजगारी, मजदूर, किसान और दफ्तरों में काम करने वाले अमले भी रहते ही हैं, उन सब का भी भाषा पर सम्मिलित प्रभाव पड़ता है।

फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली और फिरंगी शब्द, बँगला, मराठी, गुजराती आदि और भाषाओं में मिले जुले पाये जाते हैं। जहाँ इनकी संख्या बहुत बढ़ी हुई है, वहाँ इनके प्रयोग की शैली भी पृथक होगई है। जैसे गुजराती में हिन्दू गुजराती के साथ-साथ, पारसी गुजराती की भी एक पृथक शैली चलती है, जिसमें फ़ारसी शब्दों की बहुतायत है। सौभाग्य से वहाँ लिपि भेद का प्रश्न पैदा ही नहीं हुआ, नहीं तो शायद हिन्दी उर्दू का सा झगड़ा वहां भी खड़ा हो जाता। बँगला में, नित्य की बोलचाल में, 'दरकार', 'पोशाक', 'आईना', 'बालिश', इत्यादि फ़ारसी के सैकड़ों शब्द काम में आते हैं। 'आलमारी', 'बासन', (बरतन), 'बजरा' (डोंगी), 'बिस्कुट', 'काजू' (फल), 'फ़ीता', गोदाम, 'इंगला' (रा) ज'–(अंगरेज), 'जुलाब' 'जानाला' (जंगला), 'नीलाम', 'लेबू' (नींबू), 'मारतोल' (हथौड़ा), 'मास्तूल' (मस्तूल), 'पादरी', 'पिस्तौल', 'तमाक' (तमाकू), 'बियाला' (बाजा), 'अचार' (अचार, चटनी), 'चाबी' (कुञ्जी), 'तौलिया', 'कुर्त्ती', अनेक पुर्तगाली शब्द, जो बँगला में प्रचलित है, थोड़े से हेर-फेर के साथ हिन्दी, मराठी, गुजराती तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी व्यवहृत होते हैं। बात यह है कि विदेशियों का सम्पर्क, जिस प्रान्त में जितनी कमी-बेशी के साथ रहा है, उसी हिसाब से उन प्रान्तों को बोलियों में विदेशी शब्द भी घुल-मिल गए हैं। भारत की कोई प्रान्तीय भाषा ऐसी नहीं है जिसमें विदेशी शब्दों की एक अच्छी संख्या शामिल न हो। यह सब कुछ होते हुए भी किसी विदेशी भाषा ने ऐसी प्रबल चढ़ाई हमारे देश पर नहीं की है कि किसी देशी बोली को निकालकर एकदम बाहर कर दे और खुद उसकी जगह ले ले। जिस तरह

विदेशी आकर बस जाता है और अपनाए हुए देश की भाषा, संस्कृति, चाल-ढाल, रीति-रिवाज, वेष-भूषा ग्रहण कर लेता है, उसी तरह उसके साथ आये हुए बाहरी शब्द भी अङ्गीकृत देश के शब्दों का रंग-रूप ग्रहण करके उस के व्याकरण की नवीनता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह चाहे वह विजयी जातियों के साथ ही क्यों न आए हों, पर विजित देश की शब्द-राशि में मिलकर अपनी पृथक सत्ता को गवां ही बैठते हैं, या यों कहना चाहिए कि देशी भाषा के निरन्तर आक्रमण, संघर्ष और घेरघार से विजित हो कर—हार मानकर—आत्म-समर्पण कर देते हैं और यथा-नियम अपनी 'शुद्धि' कराकर देशी चोला धारण कर लेते हैं।

खालिस उर्दू के सैकड़ों शब्द ऐसे है जो अपने पूर्वरूप को एक दम खो बैठे हैं—अपने पहले वाच्यार्थ से अब कोई सरोकार नहीं रखते—बल्कि कइयों का तो रूप ऐसा बिगड़ गया है कि यह पहिचाने तक नहीं जाते कि किस देश के आए हुए हैं, और किस जाति या वंश के विभूषण हैं। कई की सूरत शक्ल तो बदस्तूर वही है, पर मतलब-मानी में कहीं के कहीं जा पहुंचे हैं। इसके कुछ उदाहरण—

'फ़ैलसूफ़' यूनानी शब्द है, अरबी में हकीम का और अगरेजी में फिलासफर या डाक्टर का जो अर्थ है वही यूनानी में इसका है, पर उर्दू में आकर गरीब 'मक्कार' और 'दग़ाबाज़' बन गया। फ़ैलसूफी=मक्कारी।

'खसम' अरबी में प्रतिद्वन्दी या शत्रु को कहते हैं। उर्दू में इसने प्रियतम पति का स्थान ग्रहण कर लिया, शत्रु से परम मित्र हो गया! रूप वही है पर अर्थ में कितना अन्तर है।

'सैर' 'तमाशा'—अरबी में फ़कत-रफ़्तार (गति-सामान्य) को कहते हैं। उर्दू में कहते हैं, 'चलो बाग़ की सैर देख आयें।' अजब तमाशा है।

ऐसे में चलिए कीजे तमाशा अक़सर परियाँ
आई हैं। (इन्शा)
आ यार चलके देखें बरसात का तमाशा। (इन्शा)

'तकरार'—अरबी में दुबारा कहने (पुनरुक्ति) या काम करने को कहते है, उर्दू में तकरार लड़ाई झगड़ा है।

'ख़ातिर'—अरबी-फ़ारसी में दिल या ख़्याल के मौके पर बोलते हैं। उर्दू में कहते हैं इतना हमारी ख़ातिर से मान भी जाओ, या उनकी बड़ी ख़ातिर की।

दिल की खुशी की ख़ातिर चख डाल माल धन को,
गर मर्द है तू आशिक़ कौड़ी न रख कफ़न को।
(नज़ीर)

'रोज़गार'—फारसी में ज़माने (समय या काल) को कहते हैं, हिन्दी में 'रोज़गार' नौकरी-धन्धा है।

'खैरात'—अरबी शब्द है यानी नेकियाँ। उर्दू में कहते हैं कुछ खैरात दो, अर्थात् दान-पुण्य करो।

'मुफ़लिस'—फारसी में कंगाल को कहते हैं, पर कलकत्ते में उसे कहते हैं जिसके स्त्री न हो। जब कोई किसी मकान में भाड़े के लिए कमरा या कोठरी तलाश करता है, तो घरवाला पूछता है—'आप गृहस्थ हैं या मुफ़लिस?' इस मुफलिसी के मारे कितने ही बेचारों को घर भाड़े पर नहीं मिलता।

'पावरोटी'—डबल रोटी को कहते हैं। कारण यह है कि पुर्तगाली भाषा में 'पाओ' रोटी का नाम है। परन्तु हमारी भाषा में 'पाओ' शब्द 'पाव' के रूप में एक खास किस्म की रोटी का नाम पड़ गया। 'पाव' के साथ रोटी का प्रयोग पुनरुक्ति है, पर इसका प्रचार हो गया है। सिर्फ पाव कहने से रोटी कोई न समझेगा। इत्तफाक से डबल रोटी, जिसके असली मानी मोटी और फूली हुई रोटी के हैं, शायद यह अर्थ रखता है कि 'पाव रोटी' में 'रोटी' शब्द डबल यानी दो बार आया हुआ है।

पुर्तगाली 'फाल्टो' के मानी हमारे 'फालतू' में ज्यों के त्यों हैं, पर उच्चारण बदल गया है।

इसी तरह 'डिगरी', 'कोरट', 'अपीलांट', 'कलट्टर', 'डिपटी', 'कमिश्नर', 'सुपरडन्ट', 'कप्तान', 'कमीदान', 'कराबीन', 'इस्कूल', 'लम्प', 'माचिस', 'करासीन', 'अन्जन', 'सिगल', 'पतलून', 'बास्कट', 'कलर्क', इत्यादि सैकड़ों अंगरेजी शब्द घिस-पिस कर—बाना बदल कर—हमारी भाषा में आ गये हैं। अब इन्हें इनके उसी पूर्व-

रूप में अकेलना—हिन्दी या उर्दू में भी इनका वही उच्चारण करना, जो असल अंगरेजी रूप में है—उल्टी गङ्गा बहाना है, क्योंकि यह शब्द अब अंगरेजी नहीं रहे, हिन्दुस्तानी उच्चारण की छाप लगाकर हिन्दुस्तानी बन गये हैं, हिदुस्तानी में इनका यही रूप और उच्चारण शुद्ध और सही है।

इसी प्रकार अरबी फारसी के वे शब्द, जो हिन्दी या हिन्दुस्तानी में आ गये हैं, उनका वही रूप शुद्ध है जिसमें वह बोले जाते हैं। उनके असल रूप में सही उच्चारण करना सर्वसाधारण के लिए सम्भव भी नहीं है, जैसे—'स्वाद' और 'से', 'जे', जाल', 'जो' और 'ज़्वाद', वाले शब्दों का सही तलफ़्फ़ुज मामूली हिन्दुस्तानी मौलवियों के लिए मुश्किल है, सर्वसाधारण पढ़े-लिखों की तो बात ही क्या है। इसलिए यदि हिन्दुस्तानीपन का ध्यान रखा जाए तो उच्चारण-भेद के कारण जो झगड़ा भाषा में पैदा हो गया है. वह आसानी से बहुत कुछ मिट सकता है। लेकिन दिक़्क़त यह है कि असूल के तौर पर—सिद्धान्त रूप में—इस बात को ठीक मान लेने पर भी इस पर अमल या व्यवहार नहीं हो रहा. 'पचों का कहना सिर-माथे पर, पर परनाला वहीं बहेगा' वाली बात हो रही है? केवल विदेशी भाषाओं के शब्दों का उच्चारण भेद ही झगड़े का कारण नहीं है, अपनी भाषा के ठेठ हिन्दुस्तानी शब्दों के बारे में भी यही बात है। प्रान्तीय भेद के कारण एक ही शब्द भिन्न-भिन्न रूप में बोला जाता है पर बोलने में लहजा या टोन जुदा-जुदा होती है। यह बात कुछ हमारी हिन्दी के ही सम्बन्ध में नहीं है, सस्कृत और अगरेजी के उच्चारण में भी है। बगालियों का सस्कृत उच्चारण बंगला ढग का होता है, दक्षिणियों का दक्षिणी ढग का और मदरासियों का इन दोनों से जुदा अपने ढग का। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में संस्कृत और प्राकृत के उच्चारण-भेद पर बहुत कुछ लिखा है। किस प्रान्त के लोग प्राकृत का उच्चारण अच्छा करते हैं और किस जगह के सस्कृत का। इस पर खूब बहस करके सस्कृत और प्राकृत के लिए पांचाल प्रान्त तथा सयुक्तप्रदेश (मध्य देश वालों का उच्चारण आदर्श माना है।* जैसे सय्यद इन्शा ने उर्दू के लिए दिल्ली वालों का।

सय्यद इन्शाअल्ला ने 'दरिया-ए-लताफ़त' में उर्दू शब्दों के उच्चारण-भेद पर उदाहरण देकर बहुत विस्तार से बहस की है - मिट्टी और मट्टी, हरन और हिरन, मुहल्ला और महल्ला, छिपना और छुपना, खिलाना, खुलाना और खलाना, ढांकना, ढांपना, थांबना, थामना, चाकू, चाक्, लोन, नोन, दुगना, दूना, कभी, कधी, य, यू, और या, वो, वह और वुह, उसको और उसकू, मिह और मेंह, एसी और ऐसी - मैं, में और मीं, में और मैं कहीं और कहूँ, तुम और तम; हिलना और हलना, रलना और रुलना. घिसना और घसना, लड़कई और लड़काई, लड़कापन, लड़कपन, पुर और पूर, मुहान, और मूहान, यहाँ और यहाँ, प्यारा और पियारा, मुआ और मरा, इत्यादि बहुत से शब्द हैं, जिनमें उच्चारण-भेद या प्रान्तीयता का रूप-भेद ही झगड़े का सबब है। इन्शाअल्ला ने इन शब्दों के उदाहरण देकर उर्दू या ग़ैर उर्दू का फ़ैसला किया है। इनमें से जिस शब्द का जो उच्चारण देहली में प्रचलित है (या था), उसे सही या अहले-जबान की उर्दू माना है, बाक़ी को ग़लत उर्दू या टकसाल बाहर की बोली कहा हैं। साहित्यिक वा परिष्कृत भाषा के लिए स्थान-विशेष की भाषा को आदर्श मानना पड़ता है, जिस प्रकार अगरेजी भाषा के लिए पार्लमेंट की भाषा आदर्श मानी जाती है। इसी तरह उर्दू-कविता की भाषा का

---

* मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां सम्पूर्णवर्णरचनासु यतिविभक्तः। पाञ्चालमण्डल भुवां सुभगः कवीनां, श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥ (का० मी०, ७ अध्याय)

"गौडाद्याः संस्कृत परिचितरुपयः प्राकृते लाटदेश्याः, सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च। आवन्त्याः पारिणत्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते, यो मध्य मध्यदेशे निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः।"

(का० मीं०, १० अ०)

आदर्श देहली की जबान मानी गई। पर भाषा का यह आदर्श-नियन्त्रण बोलचाल की भाषा के लिए ठीक और मुनासिब नहीं माना जा सकता। सय्यद इन्शा ने तो सारी देहली की भाषा को भी फ़सीह उर्दू या 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नहीं माना। 'उर्दू-ए-मुअल्ला' या लालकिले के आस-पास की बस्ती कुछ गिने-चुने मुहल्लों की, फिर उस में भी कुछ खास लोगों की, जो देहली के क़दीम बाशिन्दे 'शरीफ' और 'नजीब'— (जिनके माँ बाप दोनों देहली के पुराने बाशिन्दे) हैं, उन्हीं की भाषा को उर्दू माना है। देहली में जो बाहर के लोग इधर-उधर से आकर बस गए हैं, उनकी भाषा को भ्रष्ट या टकसाल बाहर की जबान कहा है। बाहर वालों की बोली पर खूब फ़ब्तियां उड़ाई हैं, सख्त कड़ी चुटकियाँ ली हैं। देहली के गिने चुने लोगों की भाषा को ही यदि उर्दू कहा जाये तब तो यह ठीक है— और इन्शा ने इसी दृष्टि से इस पर विचार किया है पर उर्दू से यदि देश-भाषा या 'हिन्दुस्तानी' मुराद ली जाये, जैसा कि वह है तो इस संकुचित दृष्टि को छोड़ना पड़ेगा क्योंकि भारत भर के सब उर्दू बोलने और लिखने वाले 'दिल्ली के रोड़े' नहीं बन सकते।* हिन्दुस्तान एक बहुत बड़ा मुल्क-महादेश है, वह सब दिल्ली के चन्द मुहल्लों में नहीं समा सकता। किसी करामात से यह नामुमकिन बात मुमकिन भी हो जाये सारे हिन्दुस्तान के सब उर्दू बोलने वाले 'उर्दू-ए-मुअल्ला' और उसके पास के मुहल्लों में किसी तरह समा भी जायें, तो भी इस हालत में वह 'नजीब' और 'शरीफ' की उस तारीफ में तो दाखिल न हो सकेंगे, जो इन्शा ने की है। अहले जबान या उर्दू की फसाहत के फैसले में इन्शा ने इरशाद फरमाया है—

"लेकिन असलश् शर्तस्त कि नजीब बाशद, यानी पिदरो मादरश् अज देहली बाशन्द दाखिल फुसहा गश्त।"

यानी मुस्तनद और सही उर्दू उसी की समझी जाएगी जो 'नजीब' (कुलीन) होगा अर्थात् जिसके मां बाप दोनों दिल्ली के बाशिन्दे हों, उसी का शुमार फ़सीहों में होगा।

"फ़साहत दर देहली हम नसीब हर कस नेस्त,
मुनहसिर अस्त दर अशखास मादूदा।"

(२२ पृष्ठ)

---

* उर्दू के धनी तो मौलाना हाली को भी (जिनकी सारी उम्र देहली में रहते बीती थी, और 'ग़ालिब' और 'शेफ़्ता' जैसे बाकमाल बुजुर्गों के सत्संग और सोसाइटी में रहने का जिन्हें निरन्तर सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और जो स्वयं एक आदर्श और उच्चकोटि के क्रान्तिकारी कवि थे, सिर्फ इस क़सूर के कारण कि उनका जन्म दिल्ली में न होकर पानीपत में हुआ था यानी वह 'दिल्ली के रोड़े' न थे) उर्दू-ए-मुअल्ला का मालिक या फ़सीह और टकसाली उर्दू लिखने वाला नहीं मानते थे। हाली ने 'दिल्ली की शायरी का तनज़्ज़ुल' शीर्षक कविता में, जो यहां उद्धृत की जाती है, इसी घटना का उल्लेख किया है, जो सुनने लायक है

इक दोस्त ने हाली के कहा अज रहे इन्साफ, करते हैं पसन्द अहले-जबां उसके सुखन को।
चन्द अहले जबां जिनको कि दावा था सुखन का, बोले कि नहीं जानते तुम शेर के फ़न को।
शाइर को यह लाज़िम है कि हो अहले-जबाँ से, हो छू न गई ग़ैर जबां उसके दहन को।
मालूम है हाली का है जो मौलिदोमन्शा, उर्दू से भला वास्ता हज़रत के वतन को?
उर्दू के धनी वह हैं जो दिल्ली के हैं रोड़े, पंजाब को मस उससे न पूरब को न दकन को।
बुलबुल को ही मालूम हैं अन्दाज़ चमन के, क्या आलमे-गुलशन की खबर ज़ागो-ज़ग़न को?
हाली की जबां गर बमिसले नहरे-लबन हो, खालिस न हो तो कीजिए क्या लेके लबन को।
हरचन्द कि सनअत से बनाये कोई नाफ़ा, पहुंचेगा न वह नाफ़-ए-आहू-ए-खुतन को।
माना कि है बेमज़ापन उनके बयां में, क्या फूंकिये इस साख्त बेमज़ापन को।
ये दोस्त ने हाली के सुनी जब कि तअल्ली, हक़ कहने से वह रख न सका बाज़ दहन को।
कुछ शेर थे याद उनके पढ़े और ये पूछा, क्यों साहबो? इज्ज़त इसी उर्दू से है फ़न को?

अर्थात् देहली में भी हर किसी के हिस्से में फ़साहत नहीं, चन्द चुने हुए आदमियों को ही नसीब हुई है।

लेकिन इन्शा का यह फतवा उन्हीं के वक्त की, और वह भी सिर्फ शहर की जबान के हक में, ठीक माना जाये तो माना जाय, अब तो यह कैद कभी की टूट चुकी है, उर्दू बहुत आगे बढ़ गई है।

सय्यद इन्शा ने 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के लिए जो क़ैद लगाई है—जो शर्तें पेश की हैं—यदि उनका उसी रूप में पालन किया जाता, इन्शा की पेश की हुई शर्तों के मुताबिक़ ही भाषा लिखी बोली जाती, तो उर्दू भाषा का दायरा इतना महदूद या सकुचित हो जाता कि वह एक शहर के कुछ महल्लों की बोली बनकर रह जाती, उर्दू को जो व्यापक रूप आज प्राप्त है वह उसे कभी नसीब न होता। 'उर्दू के असालीब-बयान' के लेखक ने उर्दू भाषा के भविष्य पर बहस करते हुये, उसे विस्तृत और व्यापक भाषा बनाने के साधनों का उल्लेख करते हुये लिखा है—

'दरिया-ए-लताफ़त' जो इस किस्म के मजहकाखेज़ खयालात का एक खासा क़ीमती ज़खीरा है, उर्दू ज़बान की इस बदकिस्मती का एक ज़बरदस्त मुजहिर है।'

इसके आगे उन्होंने इन्शा के उस आदर्श भाषायुग को 'उर्दू ज़बान का अहदे-ज़ाहिलिया' कहा है। पर यह अहदे-जाहिलिया (मूर्खता का युग) इन्शा के साथ ही समाप्त नहीं हुआ, उनके बाद भी बरसों तक उसे लेकर आदर्श भाषा-वादियों में द्वन्द्व-युद्ध चलता ही रहा—दिल्ली और लखनऊ के स्कूलों की लड़ाई, इस आदर्शवाद के आधार पर जारी रही, जो अब तक भी किसी न किसी रूप में मौजूद है। 'उर्दू के असालीब' के लेखक इस संकीर्ण आदर्शवाद से खिन्न होकर लिखते हैं—

'इन्शा अल्ला खां तो खैर उस दौर के इन्सान थे जो उर्दू जबान का 'अहदे-जाहिलिया' कहलाया जा सकता है। अहयाय-उलूम के मौजूदा जमाने में भी हमें बाज हस्तियाँ ऐसी नजर आती हैं, जो इस क़िस्म के खयालात की अलमबरदारी करते हुए अपने तईं उर्दू का मुहसिन शुमार कराना चाहते हैं। लेकिन हम जुरअत के साथ इस अमर का इजहार कर देना चाहते हैं कि इस किस्म के लोग उर्दू के हकीकी खिदमत-गुजार होना तो कुजा, यक़ीनी बदख्वाह हैं। इन लोगों को दुनिया-ए-उर्दू में जिन्दा रहने का कोई हक हासिल नहीं, जो एक दकियानूसी खयाल पर अड़े हुए हैं और उनके सद्दे-राह होते हैं, जो उर्दू को एक हमागीर जबान बनाने की सख्त जद्दोजहद कर सकते हैं।'

"सय्यद इन्शा ने फसीह और गैर फसीह उर्दू पर बहस करते हुए खूब ही बाल की खाल निकाली है। 'दरिया-एलताफत' के दूरदान-ए-सोम, (तीसरे अध्याय) में उस वक्त की सोसाइटी की बोलचाल के दस-बारह नमूने दिये हैं, जिसमें हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, मालिक-नौकर, पढ़े-लिखे-अनपढ़, देहली निवासी, शहरी और देहाती सब शामिल हैं। नमूने की उन बोलियों को पढ़कर हँसी आती है, और आश्चर्य भी होता है कि इन्शा ने फसीह उर्दू का जो आदर्श अपनी पुस्तक में उपस्थित किया है, उसकी उन उदाहरणों में कहीं गन्ध भी नहीं मिलती। और तो और खुद इन्शा ने मिर्जा जानजानां 'मजहर' से अपनी मुलाकात का हाल लिखते हुए अपनी

सच ये है कि जब शेर हों सरकार के ऐसे, क्यों आप लगे मानने हाली के सुखन को।
हाली को तो बदनाम किया उसके वतन ने, पर आपने बदनाम किया अपने वतन को॥

दहन=मुँह। मौलिदोमशा=जन्म-भूमि, निवास-स्थान। मस=लगाव, छूना। आलमे-गुलशन=फुलवाड़ी। जागोजगन=कौवा-चील। नहरे-लबन=शहद की नहर। सनअत=कारीगरी। नाफा=हिरन की नाभि की गाँठ जिसमें कस्तूरी रहती है। अहू-ए-खुतन=खुतन देश का कस्तूरी मृग। बेसाख्तापन=अकृत्रिमता, स्वाभाविकता, तअल्ली=डींग। फ़न=कला।

बोली का जो नमूना दिया है, वह बहुत ही विचित्र है, क्रिया और कारक के दो एक शब्दों ('से', 'में', और हुआ हूँ) को छोड़कर हमारी तो समझ में कुछ आया नहीं कि जनाब इन्शा ने हजरत जानजानाँ से यह क्या फरमाया या अर्ज किया है। हम उसे ज्यों का त्यों नागराक्षरों में देते हैं—

'इब्तदाए-सिन सबा से ता अवायले-रोआन और अवायले रोआन से इलल-आन इश्तियाके-मालाइ ताक़ तकबील अतबाए-आलिये न बहद्दे था, कि सिलके-तहरीरो तक़रीर में मुन्तजिम हो सके, लिहाजा बेवास्ता ओ वसीला हाज़िर हुआ हूं।' ('दरिया-ए-लताफ़त')

मालूम नहीं सय्यद इन्शा ने जानजानाँ साहब के साथ ही खसूसियत के साथ ज़राफ़त से यह तर्जे गुफ्तगू अख्तियार किया था या सर्वसाधारण से भी उसी भाषा में बातचीत करते थे? सम्भव है उस वक्त के महाविद्वानों के परस्पर व्यवहार में इस भाषा का प्रयोग होता हो, या अपनी विद्वत्ता का सिक्का बैठाने के लिए ही पहली मुलाकात में इन्शा ने यह बनावटी बोली बोली हो। जो कुछ भी हो यह उर्दू तो है नहीं। ऐसी कृत्रिम पंडिताऊ भाषा आजकल भी कुछ लोग कभी-कभी बोलते सुने जाते हैं।

एक सज्जन के दाहिने पाँव के अंगूठे में पत्थर से टकरा कर चोट लग गई थी, उस पर पनकपड़ा बाँध रखा था, लँगड़ाकर चलते थे। आप कुछ संस्कृत भी जानते हैं और और विशुद्ध हिन्दी के परम पक्षपाती हैं। मैंने पूछा, 'आपके पाँव में क्या हुआ?' बोले—'दक्षिण पाद के अंगुष्ठ में प्रस्तर के आघात से व्रण हो गया है, उस पर आर्द्र-वस्त्र-वेष्टन कर रखा है, इससे लाभ की पूर्णतया सम्भावना है अन्य प्रकार की अप्राकृत चिकित्सा प्रणाली का मैं विरोधी हूँ।'

नाम-भेद का झगड़ा

हिन्दी-उर्दू के झगड़े में नाम-भेद भी एक मुख्य कारण बना हुआ है। हमारी भाषा के विभिन्न नामों की उत्पत्ति और उनके प्रचार के इतिहास पर विचार करना यहाँ उचित प्रतीत होता है।

उर्दू के बहुत से हिमायती, इस रोशनी के जमाने में भी यह कहते सुने जाते हैं कि हिन्दी एक नया और कल्पित नाम है जो हिन्दुओं ने उर्दू का बायकाट करने की ग़रज़ से गढ़ लिया है। दरअसल हिन्दी कोई भाषा नहीं, उर्दू ही इस देश की असली जबान है। इसी तरह बहुत से हिन्दी वालों को उर्दू नाम से कुछ चिढ़-सी है। वह उर्दू के बारे में ठीक वैसा ही मत रखते हैं जैसा उल्लिखित उर्दू वाले हिन्दी के विषय में। पर यदि इस नाम भेद के विवाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से निष्पक्ष होकर विचार किया जाय, तो यह दोनों ही पक्ष कुछ भ्रान्त से जँचते हैं। जो लोग हिन्दी नाम को कल्पित या मनगढ़न्त समझकर नाक-भौं चढ़ाते हैं, या इस नाम की प्राचीनता या सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते, वह एक ऐतिहासिक सत्य का अपलाप करते हैं। 'हिन्दी', उर्दू की अपेक्षा बहुत ही पुराना और सर्वमान्य नाम है। जिस भाषा का नाम आजकल 'उर्दू' प्रचलित है, इसके लिए उर्दू के पुराने लेखकों और कवियों ने 'हिन्दी' शब्द का ही अपने ग्रन्थों में सर्वत्र व्यवहार किया है, उर्दु का नाम कहीं नहीं आया। 'उर्दू' शब्द उस समय भाषा के लिए निर्मित ही नहीं हुआ था, फिर आता कैसे?

बहुत से लोग 'उर्दू' शब्द के व्यवहार को (भाषा के लिए) शाहजहाँ के समय से मानते हैं। बहुत दिनों तक उर्दू की उत्पत्ति का काल भी यही माना जाता रहा है, अर्थात् शाहजहाँ के शासन-काल में दिल्ली का उर्दू-बाजार (छावनी) उर्दू भाषा की जन्म-भूमि या सूतिका-गृह है, ऐसा समझा जाता रहा है। पर यह दोनों ही धारणायें निराधार हैं। केवल किंवदन्ती हैं। इनकी पुष्टि में कोई दृढ़ ऐतिहासिक या साहित्यिक प्रमाण नहीं मिलता, जिस का निरूपण हम आगे चलकर उर्दू की उत्पत्ति के प्रकरण में करेंगे। उर्दू नाम कब से चला, इसका विचार आगे आ रहा है।

हिन्दी

भारत की इस भाषा के जितने नाम प्रचलित हैं, 'हिन्दी' उन सब में पुराना है। इस नाम की सृष्टि हिन्दुओं ने नहीं की, और न उन्होंने इसका प्रचार ही

किया है, हिन्दू लेखकों ने तो इसके लिए प्रायः सर्वत्र 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है।* भाषा के लिए हिन्दी शब्द के सर्वप्रथम नामकरण का सारा श्रेय मुसलमान लेखकों और कवियों को ही दिया जा सकता है। हिन्दुओं का इसमें जरा हाथ नहीं। इस बात को सभी आधुनिक उर्दू-इतिहास-लेखकों ने स्वीकार कर लिया है— 'उर्दू ए-कदीम' 'तारीखे-नस्र उर्दू', 'पंजाब में उर्दू' इत्यादि ग्रन्थों के विद्वान्-लेखकों ने बड़ी खोज के साथ यह साबित कर दिया है कि उर्दू का सबसे पुराना नाम 'हिन्दी' ही है। अमीर खुसरो की 'खालिकबारी' में (जो उर्दू हिंदी का सब से पुराना कोश है), सब जगह 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' ही आया है,† उसमें उर्दू, रेख्ता या और किसी दूसरे नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। 'खालिकबारी' में बारह बार 'हिन्दी' और पचपन बार 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'हिन्दी' का अर्थ है हिन्द की भाषा, और हिन्दवी' से मतलब है हिन्दुओं या हिन्दुस्तानियों की भाषा। इन दोनों शब्दों में 'याय-निसबती' या सम्बन्ध सूचक 'ईकार' है। यह तो साफ़ ही जाहिर है, इससे किसी को इन्कार नहीं हो सकता। अमीर खुसरो के इस 'हिन्दवी शब्द से यहां किसी को यह भ्रान्ति न होनी चाहिए कि जाति विशेष या केवल हिन्दुओं ही की भाषा से उनका अभिप्राय है। कविवर 'सौदा' के उस्ताद 'शाह रुस्तम' ने भी सन् १७५० ई० में 'हिन्दवी' या 'हिन्दी-भाषा' शब्द, हिन्दुस्तान की भाषा के अर्थ में, इस्तेमाल किया है † यहां 'हिंदू' शब्द हिन्द के निवासी अर्थ का बोधक है, भारत की किसी जाति विशेष का नहीं। अब

---

* भाषा भणति थोर मति मोरी। (तुलसीदास)

† खालिक़बारी के उदाहरण—

हिन्दवी— बिश्नो तो नाम चरखा बेचारा पीरज़न, गोयन्द नाम रहटा दर हिन्दवी बचन।
मुश्क काफ़ूरस्त कस्तूरी कपूर, हिन्दवी आनन्द शादी ओ सरूर।
सग पाथर जानिये बरकन उठाव, अस्प मीरां हिन्दवी घोड़ा चलाव।
आईना आरसी कि दरो रूए बिनगरी, सेवा बहिन्दवी की बुवद नाम चाकरी।
देहीम ताजो-अफ़सर दर हिन्दवी मुकुट, ज़ागे बुरीदा पर-रा तू जान काग कट।
तप लर्ज़ा दर-हिन्दवी आमद जूड़ो ताप, दर्दे सर आमद सिर की पीड़ा तग है ताप।
जम्बगुनह जो कहिये दोष, खशमो-ग़ज़ब दर हिन्दवी रोष!

हिन्दी— निहार ओ-दिगर योम रोज़स्त जानो, बहिन्दी ज़बांघोम दिनरा पहचानो।
शाना-ओ-मश्तस्त दर हिन्दी जबां, कघा आमद पेश तो करदम बयां।
नमक मलह है लोन शोरीं है मीठा, बहिन्दी ज़बां बेमज़ा हस्त सीठा।
दोक तकला सून बाशद रीसमा, जान रेसीदन बहिन्दी कातना।
शर्मो-हया दर हिन्दी लाज, हासिल कहिये बाजखिराज।
दादन देना दाद दिया फेल का, क़र्ज़ो-दामो-दैन दर हिन्दी उधार।
पस बहिन्दी पम्बारा मी दां कपास, नस्र करगस बूम उल्लू बू-ए-बास। इत्यादि।

† शाह हातम अपने 'दीवानज़ादे' दीबाचे (भूमिका) में लिखते हैं—

मैने तहरीर के लिए वह जबान अख्तियार की है, जो हिन्दुस्तान के तमाम सूबों की जबान है, यानी हिन्दवी, जिसे भाषा कहते हैं, क्योंकि इसे आम लोग बखूबी समझते हैं और बड़े तबके के लोग (भद्रव्यक्ति) भी पसन्द करते हैं। (फ्रेन्च विद्वान गार्सां दी तासी (Garcin de Tassy) के पांचवें भाषण से)।

तक भी अमेरिका और फ़ारस आदि देशों में हिन्दुस्तानी मात्र को (चाहे वह मुसलमान हो, हिन्दू या ईसाई) 'हिंदू' ही कहा जाता है। विचार करने पर इसमें किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता कि हमारी भाषा का सब से पुराना, व्यापक और बहु-व्यवहृत नाम 'हिन्दी' है, और मुसलमान लेखक ही – इस नाम के निर्माता और प्रचारक हैं। 'आतिश' ने भी (जो उस दौर के शाइर हैं, जब उर्दू ज़बान मँज चुकी थी—मतरूकात से पाक होकर 'खालिस उर्दू' बन चुकी थी,) उर्दू के लिए 'हिन्दी' लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया है —

मतलब की मेरे यार न समझे तो क्या अजब,
सब जानते हैं तुर्क की हिन्दी ज़बाँ नहीं।

उर्दू के आधुनिक आचार्य 'इन्शा' ने अपने 'दरिया-ए-लताफ़त' में कई जगह 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग, उर्दू के अर्थ या पर्याय में किया है, यथा 'दरिया-ए-लताफ़त' में दो बार हिन्दी शब्द आया है।

'सादी' के समकालीन और मदरास प्रान्त के एलोर के निवासी बाक़र आगाह (जन्म ११५७ हिजरी) ने अपने उर्दू दीवान का नाम 'दीवाने हिन्दी' रखा है। इनके सम्बन्ध में लिखते हुए मुहम्मद अब्दुल क़ादिर सरवरी साहब, एम. ए., एल-एल. बी. ने लिखा है—

'दीवान के सरवरक (मुखपृष्ठ) पर और खुद अशआर में भी कहीं-कहीं 'हिन्दी' ही का लफ़्ज़ इस्तेमाल किया गया है, ताहम यह मालूम रहे कि इसमे मुराद उन शाइरों की 'उर्दू' होती थी, क्योंकि वह उर्दू को 'हिंदी' से कोई जुदा चीज नहीं समझते थे।'

आगे लिखा है—

'हिन्दी या हिन्दवी इसका क़दीमतरीन नाम था। 'उर्दू' और 'दखनी' के लिये भी यह लफ़्ज़ बिला तकल्लुफ़ इस्तेमाल होता था गोया 'उर्दू' 'हिन्दी' और 'दखनी' एक ही जबान के मुख्तलिफ़ नाम थे।··· इस जबान की शाइरी 'रेख्ता' कहलाती थी।*

कविवर 'जुरअत' अपनी मसनवी 'हुस्नो इश्क़' में उर्दू के लिए हिन्दी शब्द इस्तेमाल करते हैं—

कि इक क़िस्सा सुनावे कोई मग़मूम,
तो उसको कीजिए हिंदी में मज़ूम।

रेख्ता

उर्दू भाषा के लिए, हिन्दी के बाद, दूसरा नाम 'रेख्ता' मिलता है, पर रेख्ता असल में उर्दू पद्य की भाषा का नाम था। बोलचाल की या उर्दू गद्य की भाषा के अर्थ में इसका प्रयोग नहीं होता था, जैसे कि लफ़्ज़ 'मराख्ता' से जाहिर है, जो मशाइरे के मुकाबिले में बरता गया, क्योंकि पहले 'मशाइरा' सिर्फ़ फ़ारसी-कविता के लिए ही होता था। बाद को जब उर्दू-पद्य का प्रचार हुआ—कवि समाज में, फ़ारसी-कविता पाठ के अनुकरण में, उर्दू-कविता पढ़ी जाने लगी—तो उसका नाम 'मराख्ता' रक्खा गया ×

रेख्ता शब्द की निरुक्ति या 'वजे तसमिया' यह बतलाई जाती है कि विभिन्न भाषाओं के शब्दों से—मुख्तलिफ जबानों के अल्फ़ाज से—इसे 'रेख्ता', पुष्ट या अलकृत किया गया है, जैसे ईंट की दीवार को चूने या सीमेंट के पलस्तर से पायदारी और हमवारी, मजबूती और सजावट, के लिए रेख्ता करते हैं। भाषा-विज्ञान के कोई-कोई आचार्य इसकी निरुक्ति यह भी बतलाते हैं कि 'रेख्ता' गिरी-पड़ी और बिखरी हुई मिली जुली मुतफ़र्रिक चीज को कहते है। उर्दू भी मुतफ़र्रिक जबानों से मिल-जुल कर बनी है, इसलिए इसका नाम भी रेख्ता पड़ गया।†

* रिसाला 'उर्दू', अप्रैल सन् १९२९ ई०।

× हाकिम लाहौरी अपने 'तजकिर-ए-मर्दुमेदीदा' में खाने आरजू के हाल में लिखते हैं—"मराख्ता दर खान-ए-आरजू पांजदहम हर माहे मी बाशद।"

† 'रेख्ता' फारसी के रेख्तन् मसदर (धातु) से बना है, जो बनाने ईजाद करने, किसी चीज को कालिब में ढालने, नई चीज बनाने और मौजूं करने के मानी में आता है।

मुन्शी दुर्गा प्रसाद नादिर 'खज़ीनतुलउलूम' में लिखते हैं कि 'रेख़्ता' ब-मानी गिरे हुए के हैं, पस जो जबान अपनी असलियत से गिर जाय उसको 'जबान-रेख़्ता' बोलते हैं, चुनांचे जैसे फ़ारसी जबान में अरबी के लुग़त शामिल हुए, इसे जबान रेख़्ता-फ़ारसी कहते हैं। इसी तरह जबान रेख़्ता-हिन्दी को जबान उर्दू समझते हैं।'

'रेख़्ता' का अर्थ पक्की इमारत भी है, जो मिट्टी या लकड़ी की न हो बल्कि ईंट, पत्थर, चूने की हो। 'सौदा' ने एक जगह कहा है—

हर बैत रखे हैं ये ग़ज़ल ऐसी ही मज़बूत,
'सौदा' कोई जू रेख़्ते के घर प करे गच।
'मजहिर' का शेर फ़ारसी और रेख़्ते के बीच,
'सौदा' यकीन जान कि रोड़ा है बाट का।
आगाह-फ़ारसी तो कहें उसको रेख़्ता,
वाकिफ जो रेख़्ता के जरा होवे ठाट का।
सुनकर वो ये कहे कि नहीं रेख़्ता है ये,
और रेख़्ता भी है तो फिरोजशाह की लाट का।

"रेख़्ता से मुराद अगर्चे 'वली' और 'सिराज' के हाँ (यहाँ) नज़्म उर्दू है, लेकिन देहलवियों ने बिल-आखिर इसको जबान उर्दू के मानी दे दिये और ये माने कुदरतन् पैदा हो गए, इसलिये कि इन अय्याम में उर्दू जबान का तमामतर सरमाया नज़्म में ही था। जब नसर पैदा हो गई तो यही इस्तलाह उस पर नातिक आ गयी (चरितार्थ हुई)। इस तरह रेख़्ता कुदरतन् उर्दू जबान का नाम हो गया।'*

'रेख़्ता' शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'सादी'† दक्खनी के कलाम में मिलता है, तो 'वली'‡ दक्खनी से पूर्व, आदिल शाह अव्वल के समय (सन् १५८६ ई०) में हुआ है। बाद को दूसरे कवि लेखकों ने भी रेख़्ते का प्रयोग अधिकता से किया है। मीर तकी मीर ने अपने 'तजकरे-निकातुश्शोरा' में और कायम चांदपुरी ने—'मख़ज़ने-निकात' में बार-बार उर्दू नज़्म के लिए 'रेख़्ता' ही लिखा है। 'निकातुश्शोरा' में एकाध जगह भाषा के लिये 'हिंदी' शब्द तो आया है, पर उर्दू नहीं आया। 'सौदा' के जबान में 'सरआमद शोराइ हिन्दी ऊस्त' लिखा है। मीर साहब ने अपनी कविता में 'हिन्दी' लफ़्ज का भी इस्तेमाल किया है। उनका एक शेर है—

क्या जानूं लोग कहते हैं किसको सरूरे-कल्ब,[१]
आया नहीं है लफ़्ज य हिन्दी जबां के बीच।
(कुल्लियाते मीर)

जाहिर है कि मीर साहब का मतलब 'हिन्दी जबान' से वह जबान है जिसमें वह कविता करते थे, और जिसे अब उर्दू कहा जाता है। बाकी उन्होंने अपने तजकरे में सब जगह 'रेख़्ता ही लिखा है, उर्दू या उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं।*

शाहमुबारक 'आबरू'; 'मीर', 'सौदा', 'गालिब', 'जुरअत' और 'क़ायम' ने भी अपनी कविता में रेख़्ता शब्द का प्रयोग किया। रेख़्ता के बारे में शाह 'आबरू' का यह क़िता तो आबे-जर से लिखने के काबिल है—

वक्त जिनका रेख़्ते की शाइरी में सर्फ़ है,
उन स' ती कहता हूँ बूझो हर्फ़ मेरा जर्फ़ है।
जो कि लावे रेख़्ते में फारसी के फ़ेलो हर्फ़,
लग़्व हैंगे फ़ेल उसके रेख़्ते में हर्फ़ है।'

---

* 'पञ्जाब में उर्दू', पृ० २१

† 'सादी' कि गुफ्ता रेख़्ता दर रेख़्ता दुर रेख़्ता, शीरो शकर आमेख़्ता हमशेर है हमगीत है।

‡ यह रेख़्ता 'वली' का जाकर उसे सुना दो, रखता है फ़िक्र रोशन जो अनवरी के मानिन्द।

[१] हृदयोन्माद, दिल की मस्ती।

* देखिये 'निकातुश्शोरा', 'सौदा' के हाल में, मीर 'दर्द', मीर 'सज्जाद', फुगाँ, 'पाकबाज' 'वली', सय्यद अब्दुल वली 'उजलत', 'आजिज' इत्यादि। इन सब उर्दू कवियों के परिचय में मीर साहब ने सिर्फ 'रेख़्ता' लफ़्ज ही लिखा था। मौलवी अब्दुल गफूर खाँ 'नसाख' ने अपनी पुस्तक का नाम 'तहक़ीक़ जबान रेख़्ता' रक्खा है, जो सन् १८६० ई० में छपी है, और जिसमें उर्दू की उत्पत्ति पर बिचार किया गया है। —लेखक

मीर साहब ने रेख्ते की झड़ी लगा दी है। नमूने देखिये—

जिस किस तरह न खींचे अशआर रेख्ते के,
बिहतर किया है मैंने इस ऐब को हुनर से।
खूगर[1] नहीं कुछ यों ही हम रेख्ता-गोई के,
माशूक जो अपना था बाशिन्दा दकन का था।
वे बोले-दिल[1] जिन्होंने किया रेख्ता तो क्या,
गुफ़्तारे-खाम[2] पेशे अजीजां सनद नहीं।
यां फ़क़त रेख्ता ही कहने न आये थे हम,
चार दिन ये भी तमाशा-सा दिखाया हमने।
सन्नाय[3]-तुरफ़ा हैं हम आलम में रेख्ते के,
जो 'मीर' जी लगेगा तो सब हुनर करेंगे।
गुफ्तगू रेख्ते में हमसे न कर,
य' हमारी जबान है प्यारे।
कसब[4] और किया होता एवज रेख्ते के काश,
पछताये बहुत 'मीर' हम इस काम को कर कर।
मजबूत कैसे-कैसे कहे रेख्ते वले[5]—
समझा न कोई मेरी ज़बां इस दयार[6] में।
पढ़ते फिरेंगे गलियों में इन रेख्तों को लोग,
मुद्दत रहेंगी याद य' बातें हमारियां।
रेख्ता खूब ही कहता है जो इन्साफ़ करो,
चाहिये अहले सखुन 'मीर' को उस्ताद करें।'

'सौदा' के चन्द नमूने—

तूने यह सौदा जबाने-रेख्ता ईजाद की,
पढ़के एक आलम उठाता है तेरे अशआर फ़ैज।
रेख्ता और भी दुनिया में रहे, ऐ सौदा
जीने देवे जो कभू[7] काविशे[8] दौरां मुझ को।
कहे था रेख्ता कहने को ऐब नादां भी,
सो यूं कहा मैं कि दाना हुनर लगा कहने।
सखुन को रेख्ते के पूछे था कोई सौदा,
पसन्द खातिरे-दिलहा हुआ य' फ़न मुझ से।

'ग़ालिब' के चन्द अशआर—

रेख्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब,
कहते हैं अगले ज़माने में कोई 'मीर' भी था।
जो य' कहे कि रेख्ता क्योंकि हो रश्के-फ़ारसी,
गुफ़तए-गालिब एक बार पढ़के उसे सुना कि यों।
तर्जे-बेदिल में रेख्ता कहना—
असदुल्ला खां क़यामत है।

'क़ायम' के दो शेर—

'क़ायम' मैं किया तौरे-ग़ज़ब रेख्ता वरना—
इक बात लचर-सी बंजबाने-दकनी थी।
'कायम' ने रेख्ता को दिया खिलअते-कबूल,
वरना य' पेशे अहले-हुनर (सुखन) क्या कमाल था।

जुरअत—

कह गजल और इस अन्दाज की 'जुरअत' अब तू,
रेख्ता जैसे कि अगली तेरी मशहूर हुई!

'मीर' और 'कायम' ने अपने पद्यों मे रेख्ते की जन्म-भूमि 'दकन' का नाम लेकर इस बात की ओर इशारा किया है कि 'रेख्ते' का प्रचार दक्खन से ही हुआ है, जैसा कि ऊपर जिक्र आ चुका है।*

उर्दू

इस सिलसिले में तीसरा नम्बर उर्दू या उर्दू-ए-मुअल्ला का है जो हमारी भाषा के सब नामों का एकमात्र उत्तराधिकारी बन बैठा है - उन सब पर विस्मृति का गहरा पर्दा डाल कर छिपा दिया और भुला दिया है। इस उर्दू नाम का इतिहास भी सुनने लायक है। यह एक विदेशी शब्द है जिसने जबरदस्ती हमारी भाषा पर

---

१. दिल की जलन २. कच्ची बात ३. अजीब कलाविद् ४. पेशा ५. लेकिन ६. देश ७. कभी ८. तकलीफ़।

* 'गुलशने हिन्द' के लेखक मिर्जा अली लुत्फ़ ने भी अपनी किताब में उर्दू के लिये जगह-जगह 'जबान-रेख्ता' ही लिखा है। वह किताब डा० जॉन गिलक्राइस्ट की आज्ञानुसार फारसी 'गुलजार इब्राहीम' से तर्जुमा की गई थी। यद्यपि उस समय हिन्दुस्तानी शब्द का भी उर्दू के लिए प्रयोग हो चला था मगर लुत्फ' ने लिखा है कि, "इन फारसी किताबों के हिन्दी नसर करने से मुराद यह है...।" इस प्रकार उन्होंने उर्दू गद्य के लिए 'हिन्दी-नसर' शब्द भी इस्तेमाल किया है। — गुलशने-हिन्द'

कब्जा कर लिया है। तुर्की भाषा में उर्दू लश्कर (छावनी) को कहते हैं। आरम्भ में मुगल और तुर्क बादशाह छावनी में रहा करते थे। उनका दरबार और रनवास सब लश्कर ही में होता था, इस विशेषता के कारण शाही लश्कर 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहलाया।

यह तो उर्दू का शब्दार्थ हुआ। अब देखना यह है कि हमारी भाषा में इसका व्यवहार कैसे और कब से हुआ। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। मीर 'अम्मन' देहलवी ने 'बागोबहार' (सन् १८०१ ई०) की भूमिका में लिखा है—

"जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे तब चारों तरफ के मुल्कों से सब कौम कदरदानी और फैजरसानी इस खानदाने-लासानी की सुनकर हुजूर में आकर जमा हुए, लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदी-जुदी थी इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुलफ, सवाल-जवाब करते एक जबान उर्दू की मुकर्रर हुई।"

अर्थात्, मीर 'अम्मन' के मतानुसार उर्दू की उत्पत्ति बादशाह अकबर के समय में हुई।

सर सय्यद अहमद खाँ ने अपनी पुस्तक आसा-रूस्सनादीद' (सन् १८५४ ई०) के अन्त में लिखा है—

"जब कि शाहजहाँ बादशाह ने सन् १६४८ ई० में शहर शाहजहानाबाद आबाद किया और हर मुल्क के लोगों का मजमा हुआ, इस जमाने में फारसी जबान और हिंदी भाषा बहुत मिल गयीं, और बाजे फारसी लफ़्ज़ों और अक़्सर भाषा के लफ़्ज़ों में बसबब कसरत इस्तेमाल (बहु व्यवहार के कारण) के तगय्युर व तबदील (परिवर्तन) हो गयी। गरज़ कि लश्कर बादशाही और उर्दू-ए-मुअल्ला (लाल किला) में इन दोनों जबान की तरकीब (मिश्रण) से नई जबान पैदा हो गई और इसी सबब से जबान का उर्दू नाम हुआ। फिर कसरते-इस्तेमाल से लफ़्ज़ जबान का महज़ूफ़ (विलोप) होकर इस जबान को उर्दू कहने लगे…।"

सर सय्यद के इसी मत से मिलता-जुलता मत 'आबे-हयात' के प्रसिद्ध प्रणेता मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आजाद' का भी है।

परन्तु यह मत माननीय नहीं प्रतीत होता। इसकी अग्राह्यता पर नव्वाब सदर यार जंग मौलाना हबीबुर्रहमान खां शेरवानी ने अपने लाहौर वाले ओरियन्टल कान्फ़रेन्स के सभापति के भाषण में यह कह कर आपत्ति उठाई है—"इसकी कोई सनद नहीं कि अहद मजकूर (शाहजहां के शासनकाल) में इस जबान का नाम उर्दू था। इन्तहा यह कि दिल्ली के उर्दू बाजार का नाम भी इस अहद में यह न था।* हमने ऊपर साबित किया है कि इब्तिदा से आखिर तक हमारी जबान का नाम हिन्दी रहा। जब वली दकनी ने (सन् ११५० हिजरी) में मजामीन फारसी की चाशनी हिन्दी नज़्म (उर्दू पद्य) में पैदा की, तो खास अदबी और शेरों जबान (साहित्य और कविता की भाषा) को रेख़्ता कहने लगे। इस वक्त तक भी उर्दू का लफ़्ज़ इस जबान के लिए मुस्तअमिल (व्यवहृत) न हुआ था।"

नव्वाब शेरवानी की यह दलील बहुत वज़नी है और उर्दू शब्द की उत्पत्ति प्रचार-काल के सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक प्रकाश डालती है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शाहजहाँ के समय में उर्दू की उत्पत्ति बताने वालों का मत नितान्त निर्बल और प्रवादमात्र है। जब शाहजहाँ के शासनकाल में ही उर्दू की उत्पत्ति का पता नहीं चलता तो मीर 'अम्मन' का यह कथन कि अकबर के जमाने में ही उर्दू भाषा बन चुकी थी, निराधार और कोरी कल्पना है। यदि बादशाह अकबर या शाहजहाँ के समय में हमारी भाषा का नाम 'उर्दू' पड़ चुका होता तो परवर्ती लेखक और कवि कहीं तो इस नाम का उल्लेख या व्यवहार करते। जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ। पुराने प्रायः सभी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में सर्वत्र हिन्दी या रेख़्ता शब्द का ही प्रयोग किया है।

'उर्दू' शब्द भाषा के अर्थ में कब से प्रयुक्त और प्रचलित हुआ, यह विषय अब तक विवादास्पद बना हुआ है।

---

* जैसा कि 'आसारुस्सनादीद' में 'तारीख मराते-आफ़ताबनुमा' के हवाले से सर सय्यद अहमद खाँ ने लिखा है।

इसका ठीक निर्णय किसी पुष्ट प्रमाण के आधार पर अभी नहीं हो सका है। कुछ विचारशील विद्वानों का कथन है कि आमतौर पर उर्दू शब्द भाषा के लिए अठारहवीं सदी के अन्त में इस्तेमाल होना शुरू हुआ। नव्वाब शुजाउद्दौला और आसफुद्दौला के शासन-काल (सन् १७६७ ई०) में सय्यद अताहुसेन 'तहसीन' ने 'चहार दरवेश' का तर्जुमा 'नौतर्जमुरस्सा' के नाम से किया था। उसमें इन्होने अपनी जबान के लिए रेख्ता, हिन्दी और जबान उर्दू-ए-मुअल्ला - इन तीन नाम का प्रयोग एक ही प्रसंग और एक ही पृष्ठ में साथ-साथ किया है, केवल उर्दू शब्द उनकी किताब में कहीं नहीं पाया जाता। यदि उर्दू शब्द उस युग में व्यापक और रूढ़ हो गया होता, तो 'तहसीन' साहब उन तीन शब्दों के झमेले में न पड़कर केवल उर्दू शब्द से काम चला लेते। इससे मालूम होता है कि उर्दू शब्द का प्रयोग इस काल में भी अच्छी तरह से प्रचलित नहीं हुआ था। अलबत्ता इस समय को उर्दू शब्द के प्रचार का आरम्भ-काल कहा जा सकता है। इसके बाद शनैः शनैः यह शब्द भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। 'मसहफ़ी' और दाग़ ने अपने शेरों में उर्दू शब्द का प्रयोग किया है—

खुदा रक्खे जबाँ हमने सुनी है मीरो मिर्जा की,
कहें किस मुंह से हम ऐ 'मसहफी' उर्दू हमारी है।
नहीं खेल ऐ दाग़ यारों से कह दो,
कि आती है उर्दू जबाँ आते आते।

हिन्दुस्तानी

भाषा का एक नाम हिन्दुस्तानी भी है। हमारी भाषा का यह नामकरण जैसा कि कहा जाता है, यूरोपियन लोगों ने किया है। इसका भी मनोरंजक इतिहास है। सत्रहवीं सदी में जब पुर्तगाली लोग भारत में आए तो उन्होंने हमारी यहाँ की भाषा का नाम अपनी सूझबूझ के अनुसार इन्डोस्तान (Indostan) रक्खा। कभी कभी इस नाम को इन्डोस्तानी भी पुकारा जाता रहा। लेकिन इसी शताब्दी में हिन्दुस्तानी जबान (Hindostani language) का शब्द भी पाया जाता है। इससे आगे चलकर हमारे मिहरबान यूरोपियन साहबान ने इस शब्द को अपने उच्चारण के अनोखे साँचे में ढालकर विचित्र रूप दे दिया। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में एक इतिहास लेखक कहता है कि हिन्दुस्तान की जबान का नाम हिंडोस्टेंड (Hindostand) है। आपने लेम्पस्टेंड, कैंडलस्टेंड, इंकस्टेंड आदि शब्द तो सुने ही होंगे, अब इस हिंडोस्टेंड को भी याद कर लीजिएगा? और लीजिए। तत्कालीन गोरे फ़ौजी अफसर "काले" हिन्दुस्तानियों की इस जबान को भी 'काली जबान' (Black language) फरमा दिया करते थे। 'स्याह तालू' तो सुनते आ रहे हैं लेकिन यह स्याह जबान हमारे मिहरबान 'साहब लोगों' की नई और निराली ईजाद थी।*

'हिन्दुस्तानी नाम आजकल हिन्दू मुसलमानों की मुश्तरका जबान के मानी में बोला जाता है, लेकिन उस वक्त इस नाम को गढ़ने वाले विदेशियों ने इसका प्रयोग दूसरे संकुचित अर्थों में किया है। इन लोगों का मतलब हिन्दुस्तानी से उस जबान से था, जिसे उत्तर भारत के युक्त प्रदेश और अन्तर्वेद (दोआब) के लोग और दिल्ली, मेरठ, आगरा आदि के रहने वाले मुसलमान बोलते थे और जो दक्षिण के मुसलमानों में भी प्रचलित हो गई थी। जो मतलब इस समय आमतौर से उर्दू का समझा जाता है, वही मुराद इस हिन्दोस्तानी से थी अर्थात् हिन्दी भाषा का वह रूप जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों। पुराने समय के ऐंग्लो-इण्डियन लोग इस भाषा को 'मूर्ज' इसलिए कहा करते थे कि सत्रहवीं

* हमारे हाँ (यहाँ) आम खयाल यह है कि अंगरेजों ने यह (हिन्दुस्तानी) नाम दिया है, लेकिन अमर वाकआ (वास्तविक बात) ये है कि खुद हमारे असलाफ (पूर्वज) इसको जबान-हिन्दोस्तान या बोली-हिन्दोस्तान कहते रहे। मौलाना वजही किताब 'सबरस' जिसका रचना काल १०४० हिजरी के करीब बताया जाता है) में उर्दू को 'जबाने-हिन्दोस्तान कहते हैं। (यथा)—"आगाज दास्तान जबान हिन्दोस्तान नकल एक शहर था, इसका नाँव (नाम) सीस्तान।"
—पंजाब में 'उर्दू'

शताब्दी में यूरोपियन लोग मुसलमानों को मूर कह कर पुकारा करते थे।*

इस नाम पर सरकारी सनद की बाकायदा छाप उस समय लगी जब (सन् १८०३ ई० में) कलकत्ते के फोर्ट-विलियम में, डाक्टर जान गिलक्राइस्ट की देखरेख में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के यूरोपियन कर्मचारियों को देशी भाषा सिखाने के लिए एक महकमा कायम किया गया और हिन्दू-मुसलमान विद्वानों से उर्दू-हिन्दी में पुस्तकें लिखवाई गईं। हिन्दी लेखकों में पंडित सदल मिश्र और पण्डित लल्लूजी लाल प्रमुख थे, और मुसलमान में मीर 'अम्मन' देहलवी आदि थे। इन लेखकों को ऐसी भाषा तैयार करने के लिए नियुक्त किया गया था, जो सर्व-साधारण की भाषा हो—न मौलवियाना उर्दूं-ए-मुअल्ला और न पण्डिताऊ संस्कृतनुमा हिन्दी। मीर 'अम्मन' ने 'बाग़ बहार' के लिखने का शाने-नजूल (रचना का कारण) बतलाते हुए पुस्तक की भूमिका में लिखा है—

"......खुदावन्दे निआमत साहबे-मुरव्वत नजीबों के कदरदान जान गिलक्राइस्ट साहब ने (कि हमेशा इक़बाल इनका ज्यादा रहे, जब तक गंगा जमुना बहे) लुत्फ़ से फ़रमाया कि क़िस्से को ठेठ 'हिन्दुस्तानी' गुफ़तगू में, जो 'उर्दू' के लोग–हिन्दु-मुसलमान, औरत-मर्द, लड़के-बाले, खासोआम में बोलते चालते हैं तर्जुमा करो। 'मुवाफिक हुक्म हुजूर के मैंने भी इसी महावरे से लिखना शुरू किया जैसे कोई बातें करता है।"

इसी आदर्श को सामने रखकर पण्डित लल्लूजी लाल और पण्डित सदल मिश्र ने भी पुस्तकें लिखीं, जिनके बारे में 'अरबाबे-नसर उर्दू' के लेखक ने लिखा है कि–"इनकी हिन्दी तहरीर भी निहायत साफ़ व शुस्ता (स्वच्छ और स्पष्ट) थी। अगर इसको फारसी रस्मुलखत (लिपि) में लिखा जाय, तो इसको उर्दू तहरीर ही कहा जायगा। इसमें संस्कृत के सकील (कठोर) और गैर-मानूस (अप्रचलित) अलफ़ाज की बेजा भरमार नहीं है।

स्वयं गिलक्राइस्ट साहब ने भी हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में सोलह पुस्तकें लिखीं, उनमें प्रायः भाषा के लिए हिन्दुस्तानी शब्द का ही व्यवहार किया गया है। हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में उनकी दो पुस्तकें मशहूर हैं—"अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी 'डिक्शनरी' और 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'। इस तरह भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' नाम की बुनियाद पक्की हो गई, उसे सरकारी सनद मिल गई।

पूर्वीय भाषाओं के सुप्रसिद्ध फरान्सीसी विद्वान् गार्सा द' तासी* ने भारत की भाषा के सम्बन्ध में जो व्याख्यान दिये और पुस्तकें लिखीं, उनमें भी हमारी भाषा के लिए उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने पूर्वीय भाषा सम्बन्धी अपने तीसरे व्याख्यान में,जो तारीख ५ दिसम्बर सन् १८५२ ई० को हुआ था (और जिसका अनुवाद सय्यद रास मसऊद साहब ने मूल फरान्सीसी से उर्दू में किया है) हिन्दुस्तानी के बारे में कहा है—'लफ़्ज हिन्दुस्तानी उस जबान के हक़ में, जिसके लिए यह इस्ते-माल किया जाता है, नामौजूं (अयुक्त) है और इसे इस नाम से याद करना हमारी बदमजाकी है (कुरुचि का सूचक है) अलबत्ता इसको 'हिन्दुस्तानीन' (Hindustanien) कहा जा सकता है। मगर अंग्रेजों की तकलीद (अनुकरण) में हमने भी इसकी इब्तदाई शकल (प्रारम्भिक आकृति) कायम रखी। जैसा कि नाम से जाहिर है हिन्दुस्तानी अहले-हिन्दुस्तान (भारत-वासियों) की जबान है। मगर यह जबान अपनी हकीकी-हुदूद (वास्तविक सीमा) से बाहर भी बोली जाती है, खुसूसन् मुसलमान और सिपाही इसको तमाम जजीरेनुमा हिन्दुस्तान नीज ईरान, तिब्बत और आसाम में भी बोलते हैं। पस इस ज़बान के लिए लफ़्ज़ हिन्दी या इण्डियन, जो इब्तदा (आरम्भ) में इसको दिया गया था, और जिस

* देखिये – हाब्सनजाब्सन, पृ० ४१५, ४१७, ४१८, ४८४, ६३६, ६४०, जिसका उल्लेख मौ० शेरवानी ने अपने व्याख्यान में किया है।

* "Histore de la litterature Hindouie et Hindoustanie" गार्सा द' तासी (Garcin de Tassy) की एक प्रसिद्ध पुस्तक है, जो सन् १८४६ ई० में प्रकाशित हुई थी।

नाम से कि अकसर वाशिन्दे इस मुल्क के अबतक इसको मौसूम करते हैं, इस नाम से (हिन्दुस्तानी से) ज्यादा मौज़ूं हैं, जो अहले-यूरोप ने अख्तियार किया है।

"अहले-यूरोप लफ़्ज़ हिन्दी से हिन्दुओं की बोली मुराद लेते हैं, जिसके लिए हिन्दवी बिहतर है. और मुसलमानों की बोली के वास्ते 'हिन्दुस्तानी का नाम करार दे लिया है। खैर, यह जो कुछ भी हो, हिन्दुस्तान की इस जदीद ज़बान (नई भाषा) की दो बड़ी और खास शाखें ब्रिटिश इंडिया के बड़े हिस्से में बोली जाती हैं और शुमाल (उत्तर भारत) के मुसलमानों की ज़बान यानी हिन्दुस्तानी उर्दू ममालिक-मगरबी-ओ शुमाली (अब सयुक्त-प्रान्त या सूबा हिन्दुस्तान) की सरकार की ज़बान क़रार दी गई है,— अगर्चे हिन्दी भी उर्दू के साथ-साथ इसी तरह क़ायम है. जैसी की वह फारसी के साथ थी। वाक़आ यह है, कि मुसलमान बादशाह हमेशा एक हिन्दी सक्रेटरी, जो हिन्दी नवीस कहलाता था, और फ़ारसी सेक्रेटरी, जिसको वह फ़ारसीनवीस कहते थे, रखा करते थे ताकि उनके अहकाम इन दोनों जबानों में लिखे जायँ। इसी तरह ब्रिटिश गवर्नमेंट ममालिक-मग़रबी ओ-शुमाली में हिन्दू आबादी के मफाद (सुभीते) लिये अकसर औक़ात सरकारी क़वानीन (कानूनों) का उर्दु किताबों के साथ हिन्दी तर्जुमा भी देवनागरी हरूफ़ में देती है।"*

खड़ी बोली

जिस प्रकार हिन्दी उर्दू को सम्मिलित रूप देने के लिए हिन्दुस्तानी नाम एक विशेष कारण से—हिन्दी उर्दू दोनों का एक शब्द द्वारा बोध कराने के लिए—पड़ा, इसी तरह आम बोलचाल की भाषा के अर्थ में खड़ीबोली नाम का प्रयोग चल पड़ा है। इसकी उत्पत्ति 'हिन्दुस्तानी' के के बाद हुई मालूम होती है। किसी प्राचीन ग्रन्थ में यह नाम नहीं पाया जाता।

हिन्दी कवि पहले ब्रजभाषा में ही कविता किया करते थे, चाहे वे भारत के किसी भी प्रान्त के निवासी हों। जब हिन्दी गद्य का प्रचार पर्याप्त रूप में हो गया, उसमें अनेक पत्र-पत्रिकायें निकलने लगीं, तब हिन्दी कविता की भाषा के लिए भी आन्दोलन उठा कि हिन्दी कविता भी गद्य की उसी बोल-चाल की और लिखने-पढ़ने की भाषा में होनी चाहिए, ब्रज भाषा में नहीं। इस आन्दोलन को विशेष रूप से उठाने वाले स्वर्गीय अयोध्याप्रसाद खत्री आदि कुछ महानुभाव थे। यह आन्दोलन कुछ दिनों तक बड़े ज़ोर से चला, जिसमें हिन्दी के बहुत से महारथी, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित श्रीधर पाठक आदि, सम्मिलित थे। ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली के इस आन्दोलन में, इस नाम का प्रयोग, ब्रजभाषा के मुकाबिले में, बार बार किया गया। बाबू हरिश्चन्द्र भारतेन्दु ने अपनी पुस्तक 'अग्रवालों की उत्पत्ति' (सम्वत् १९२८ विक्रमी) की भूमिका में लिखा है—

"इनका (अग्रवालों का) मुख्य देश पश्चिमोत्तर प्रान्त है, और इनकी बोली, स्त्री और पुरुष सब की खड़ी बोली अर्थात् उर्दू है।"

भारतेन्दु जी के इस कथन का यह निष्कर्ष है कि वह बोल-चाल की हिन्दी उर्दू में भेद नहीं मानते थे, और उन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग यहाँ हिन्दुस्तानी के पर्याय रूप में ही किया है। आजकल तो हिन्दीवालों में हिन्दी के लिए 'खड़ी बोली' नाम की ही तूती बोलती है—वर्तमान प्रचलित हिन्दी के लिए 'खड़ी बोली' नाम का ही प्रयोग सर्वाधिक होता है।

भारतेन्दु जी ने अपनी 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक में खड़ी बोली का 'नई भाषा' नाम भी लिखा है। बाबू हरिश्चन्द्र जी हिन्दी कविता के लिए खड़ी बोली को उपयुक्त नहीं समझते थे, इसमें ब्रजभाषा के पक्षपाती थे। उन्होंने खड़ी बोली कविता के उदाहरण में यह दोहा लिखा है, जिसका शीर्षक 'नई भाषा की कविता' है—

भजन करो श्रीकृष्ण का मिल करके सब लोग।
सिद्ध होयगा काम ओ छूटेगा सब सोग॥

(हिन्दी भाषा, पृष्ठ १९)

बाबू हरिश्चन्द्र जी से पहले भी इस नाम का प्रयोग कहीं किसी ने किया हो, इसका पता नहीं चलता। भाषा का खड़ी बोली नाम क्यों और कैसे पड़ा, इसकी निरुक्ति या वजे तसमिया क्या है, पर भी कहीं कुछ लिखा नहीं

* रिसाला 'उर्दू' (त्रैमासिक), मास जुलाई, सन् १९२३ ई०।

मिलता। स्वर्गीय पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने एक जगह खड़ी बोली का जिक्र-खैर बड़े अच्छे ढंग से किया है, जिसमें शब्द की निरुक्ति की विनोदात्मक झलक पाई जाती है और इसके लक्षण तथा स्वरूप की भी। गुलेरी जी ने लिखा है—

"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिन्दी के आरम्भ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी अरबी तत्समों या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बनाली गई है। इसका कारण यही है कि हिन्दू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रगे थे, उनकी परम्परागत मधुरता इन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' कर अपने लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया। किसी प्रान्तीय भाषा से उनका परम्परागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्रभाषा हो चली। हिन्दू अपने अपने प्रान्त की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा पढ़ी और साहित्य की भाषा हिन्दी हो, मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिन्दी की विभाषा है, किन्तु हिन्दुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिन्दुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिन्दी को अपना लिया, हिन्दी गद्य की भाषा लल्लूजी लाल के समय से आरम्भ होती है, उर्दू गद्य उससे पुराना है, खड़ी बोली की कविता हिन्दी में नई है। अभी तक ब्रज भाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। । हिन्दी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी हैं। हिन्दू कवियों का यह सम्प्रदाय रहा है कि हिन्दू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।"

हिन्दी के कुछ और नाम

जिन नामों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, उनके अतिरिक्त कुछ अन्य नाम भी हैं, जिनका प्रयोग हिंदी भाषा के अर्थ में, कहीं विशेषण रूप से और कहीं विशेष रूप से, किया जाता है, यथा–देवनागरी या नागरी, आर्यभाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा * इनमें से नागरी यद्यपि लिपि विशेष या वर्णमाला का नाम है, पर कुछ लोग इसका प्रयोग भाषा के अर्थ में भी करते हैं। तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति 'आनन्द-कादम्बिनी' के सम्पादक स्वर्गीय पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपने सभापति के भाषण में कहा था—

"मैं सदा से 'हिन्दी को) 'नागरी भाषा' ही कहता और लिखता आया हूँ। वरञ्च 'आनन्द-कादम्बिनी' के आरम्भ ही के अंक में मैंने "नागरी भाषा वा इस देश की बोल-चाल" शीर्षक एक लेख लिखना आरम्भ किया था। कुछ लोग इसे आर्यभाषा भी कहते हैं, परन्तु वास्तव में यह नाम भी ठीक नहीं है। मेरी समझ में इसका "भारतीय नागरी भाषा" नाम होना चाहिए।"

'नागरी' नाम के औचित्य के सम्बन्ध में 'प्रेमघन जी' ने जो हेतु दिया है, उसे भी सुन लीजिए—

"कितने कहते हैं कि नागरी तो वर्णमाला का नाम है भाषा का नहीं, किन्तु उन्हें जानना चाहिये कि भाषा और अक्षर का नित्य सम्बन्ध है। संस्कृत वा पारसी (फ़ारसी), उर्दू वा अंग्रेजी में लिखो कहने से उसी अक्षर का बोध

* शेख बाजन, जो सन् ६१२ हिजरी में मरे, इसको 'जबान देहलवी' के नाम से याद करते हैं। वह कहते हैं— "सिफ़ते दुनिया बज़बान देहलवी गुफ़्ता" (पंजाब में उर्दू, पृष्ठ २१)

जिस प्रकार दक्षिण वालों ने इसका नाम 'दकनी' रक्खा, वैसे ही गुजरात वालों ने इसका नाम 'गुजराती' या 'गूजरी' रख दिया। शेख मुहम्मद 'खूब ने' अपनी मसनवी–"खूबतरग" (सन् ९८६ हि०) में इसको 'गुजराती बोली' नाम दिया है। ('पजाब में उर्दू', पृष्ठ २२)

मुहम्मद अमीन ने अपनी मसनवी यूसुफ़ जुलैखा' (सन् ११०९ हि०) में इसे 'गूजरी' नाम से लिखा है। ('पजाब में उर्दू', पृष्ठ २२)

होता है, जिसमें वह भाषा लिखी जाती है जैसे उर्दू व अंगरेजी के अक्षर अपने दूसरे नाम रखते हुए भी इन भाषाओं के साथ इन्हीं के अक्षर का अर्थ देते हैं, वैसे ही नागरी वर्णमाला का सम्बन्ध नागर व नागरी भाषा के साथ दोनों प्रकार से अटल है,जैसे कि पाली के अक्षर और भाषा दोनों का एक शब्द से बोध होता है।"

काशी नागरी प्रचारिणी सभा और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रयुक्त 'नागरी शब्द हिन्दी के इसी नाम की ओर इशारा करता मालूम होता है, क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा के उद्देश में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि इन दोनों ही का प्रचार सम्मिलित है, केवल नागरी-लिपि का नहीं।

आर्यभाषा-हिन्दी के अर्थ में 'आर्यभाषा' शब्द का प्रचार और व्यवहार करने वाले सम्प्रदाय में आर्यसमाज के प्रवर्तक श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी प्रमुख हैं। उन्होंने अपनी पुस्तकों में हिन्दी की जगह सर्वत्र 'आर्य भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है। पुराने ख्याल के कट्टर आर्यसमाजी सज्जन आज भी इस शब्द के प्रचार के लिए तत्पर दिखाई देते हैं। गुरुकुलों के अधिवेशनों के साथ जो भाषा-संबंधी परिषद् व सम्मेलन होते हैं, उनके नाम नागरी व हिन्दी सम्मेलन न होकर, 'आर्यभाषा-सम्मेलन' ही रक्खे जाते हैं। आर्यसमाजियों के अतिरिक्त भी कुछ लब्धप्रतिष्ठ साहित्यसेवी 'आर्यभाषा' नाम के समर्थक और पोषक रहे हैं, और हैं।

भागलपुर के चतुर्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में उसके सभापति महात्मा मुन्शीराम जी (बाद को स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने अपने भाषण में हिन्दी के स्थान में सर्वत्र 'आर्यभाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है, और इस शब्द के प्रयोग के औचित्य में यह हेतु दिया है—

"मैंने कई बार 'आर्य भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। जिसे आप 'हिन्दी' कहते हैं उसे मैं आर्यभाषा कहकर पुकारता हूँ। इसका मुख्य कारण तो यह है कि आपके ही एक पूर्व माननीय सभापति के कथनानुसार इस भाषा की बुनियाद उस समय पड़ चुकी थी, जब यह देश हिन्दुस्थान नहीं वरन् आर्यावर्त कहलाता था। फिर इस भाषा को हम केवल हिन्दुओं की ही भाषा नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं, जिसमें जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई—सभी सम्मिलित हैं, इस लिए मैं इसे आर्यभाषा कहकर पुकारता हूं।"*

इस प्रकार आपने 'आर्यभाषा' शब्द का प्रयोग 'हिन्दुस्तानी' के अर्थ में किया है, आर्यभाषा अर्थात् आर्यावर्त 'हिन्दुस्तान' की भाषा।

इसके बाद, अगले वर्ष, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लखनऊ वाले पंचम अधिवेशन में भी हिन्दी के बजाय आर्यभाषा शब्द के व्यवहार पर कुछ चर्चा चली थी।

'राष्ट्रभाषा' हिन्दी का नया नाम है, जो कभी विशेषण के रूप में और कभी विशेष्य के रूप में प्रयुक्त होता है। कभी 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' और कभी केवल 'राष्ट्रभाषा' शब्द से ही हिन्दी का बोध कराया जाता है। इस शब्द का जन्म और प्रचार विशेष रूप में राजनीतिक और साहित्यिक प्रगति के कारण हुआ है। यह बात सिद्ध रूप से मान ली गई है कि अपने व्यापक रूप और वाञ्छनीय गुणों के कारण हिन्दी ही देश की भाषा—राष्ट्रभाषा—बन सकती है। इसी आधार पर हिन्दी का यह नया नामकरण हुआ है। हिन्दी, साहित्य-सम्मेलन के अतिरिक्त हिन्दी की पत्र-पत्रिकायें भी इस नाम का विशेष रूप से प्रचार कर रही हैं।

पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों से इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कांग्रेस और प्रान्तीय राजनीतिक कान्फ़रेन्सों के साथ भी राष्ट्र-भाषा सम्मेलन हुआ करते हैं। यहाँ यह निवेदन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसे

* चतुर्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, भागलपुर का कार्य-विवरण, भाग प्रथम, पृष्ठ १५।

सम्मेलन जहाँ हिन्दी-लिपि के प्रचार पर ज़ोर देते हैं, वहाँ भाषा को हिन्दुस्तानी बनाने का आदेश करते हैं। इसीलिए इन सम्मेलनों में हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी सभी लोग समान भाव से भाग लेते हैं।

राजभाषा कुछ विशेष विचारशील और दूरदर्शी विद्वानों की यह नई सूझ है कि हिंदी या हिन्दुस्तानी भाषा, नाम या विशेषण के रूपमें, भारत की भाषा की 'भावनी संज्ञा' राजभाषा हो सकती है—कभी आगे चलकर वह 'राज-भाषा' के नाम से पुकारी जा सकती है—राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इस मत का प्रतिपादन प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर श्री धीरेन्द्र वर्मा, एम. ए., ने अपनी हिंदी राष्ट्र या सूबा हिन्दुस्तान नामक पठनीय पुस्तक में बड़ी योग्यता और मार्मिकता से किया है। उन्होंने लिखा है—

"हिन्दुस्तानी का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। महासभा (कांग्रेस) की कार्यवाही बहुत कुछ 'हिन्दुस्तानी' में होने लगी है। सम्भव है भविष्य की भारत सरकार की राजभाषा हिन्दुस्तानी हो जावे, किन्तु तो भी यह सम्पूर्ण भारत के लोगों की मातृभाषा के समान नहीं हो सकती। हिन्दुस्तानी का भारत में अधिक से अधिक वैसा ही स्थान हो सकेगा जैसा कि आजकल अंग्रेज़ी शासन में अंग्रेजी का, मुसलमान काल में फ़ारसी का था, गुप्त साम्राज्य में संस्कृत तथा मौर्य साम्राज्य में पाली का था। घोषणा-पत्र हिन्दुस्तानी में निकल सकते हैं, और सम्भव है उन्हें सम्पूर्ण भारत में थोड़ा बहुत समझ भी लिया जाय—यद्यपि इसमें सन्देह भी है, क्योंकि अंग्रेजी घोषणाओं को समझने के लिए आजकल भी प्रान्तिक भाषाओं में अनुवाद करना पड़ता है, और अशोक के आदेशों में भी प्रांतिक प्राकृतों का प्रभाव पाया जाता है—किन्तु सम्पूर्ण भारत के लोगों के हृदयों तक तो हिन्दुस्तानी की पहुंच कभी नहीं हो सकती। चण्डीदास, तुकाराम, नरसी मेहता तथा बाबा नानक की सुधा-सूक्तियों के लिए तृषित आत्माओं की तृप्ति 'रामचरितमानस' अथवा सूरसागर कर सकेगा? ऐसी आशा करना अस्वाभाविक है। हिन्दुस्तानी भारत की 'राजभाषा' भले ही हो जाए, किन्तु 'राष्ट्रभाषा' नहीं हो सकती।" (पृ० १२-१३)

शैली भेद से ठेठ हिंदी, शुद्ध हिंदी और खिचड़ी हिंदी इत्यादि भाषा के कुछ अटपटे नाम और भी धर लिए गए हैं, जिनका उल्लेख कुछ लेखकों ने किया है, पर इनका अन्तर्भाव इन्हीं पूर्वोक्त नामों में हो जाता है। इसलिए इन पर पृथक् विचार करने की आवश्यकता नहीं।

संसार में एक वस्तु के अनेक नाम होते हैं। प्रत्येक नाम का कुछ न कुछ कारण भी होता है। फिर भी नाम भेद से वस्तु में भेद नहीं हो जाता—जुदा जुदा नाम होने पर भी चीज़ एक ही रहती है। नाम एक प्रकार की उपाधि है, जिसे तात्त्विक दृष्टि से वेदान्त में मिथ्या बतलाया है। फिर भी व्यवहार में बहुधा यह नाम भेद ही मतभेद और सम्प्रदाय भेद का कारण बन जाता है। एक इष्टदेव के भिन्न-भिन्न नामों को लेकर उपासक लोग आपस में लड़ने-झगड़ने लगते हैं और नाम-भेद के कारण अपने उपास्य या इष्टदेव के स्वरूप-भेद की न्यारी कल्पना कर लेते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु नाम-भेद के कारण अनेक रूप धारण कर लेती है। अन्त में नाम—भेद की यही मिथ्या भ्रांति उपासकों के कलह का कारण बन जाती है।

हमारी हिंदी भाषा एक थी, और एक है, पर हिंदी और उर्दू के नाम भेद से उसके दो जुदा-जुदा रूप माने जाने लगे। उसके उपासकों ने अपनी-अपनी रुचि और संस्कृति के अनुसार, उसकी विभिन्न आकार-प्रकार की दो मूर्तियाँ बनाकर खड़ी कर दी हैं। भाषा देश को एकता के सूत्र में बाँधने का—जातीयता का—कारण होती है, लेकिन दुर्भाग्य से यहाँ उल्टी बात हो रही है। एक ही भाषा, मिथ्या नाम—भेद के कारण भयंकर सम्प्रदाय—भेद का कारण बन गई है। संसार में और कहीं ऐसा अनोखा उदाहारण ढूंढे भी न मिलेगा। यह जितने आश्चर्य की बात है, उतनी ही दुर्भाग्य और दुख की भी। नाम-भेद के कारण भाषा में भेद कैसे पड़ गया—हिन्दी और उर्दू को जुदा-जुदा करने वाले कारणों पर ठंडे दिल से विचार करने की और, हो सके तो, उन्हें दूर करने की बड़ी ज़रूरत है।*

---

* दिनांक ५, ६ तथा ७ मार्च १९३२ ई० को आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद में व्याख्यान दिए थे। प्रस्तुत लेख उन्हीं का आरम्भिक अंश है। इसे हम स्व० आचार्य जी की अंतिम कृति मान सकते हैं। 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' से साभार।

मुझे मेरे मित्रों से बचाओ

(एक सुलेखक की शिकायत, अपने मिलने वालों से)

—पं० पद्मसिंह शर्मा

'और कोई तलब इबनाय-ज़माने से नहीं'
मुझपै अहसां जो न करते तो यह अहसां होता।'

एक दिन मैं दिल्ली के चांदनी चौक में जा रहा था कि मेरी नज़र एक फकीर पर पड़ी, जो बड़े मवस्सर तरीके—प्रभावोत्पादक प्रकार से अपनी दीन-दशा लोगों से कहता जा रहा था। दो तीन मिनट बाद यह दर्द से भरी हुई 'स्पीच' उन्हीं शब्दों में और उसी ढंग से दुहरा दी जाती थी। यह तर्ज़ कुछ मुझे ऐसा खास मालूम हुआ कि मैं उस शख्स को देखने और उसके शब्द सुनने के लिए ठहर गया। इस फ़कीर का क़द लम्बा, शरीर खूब मोटा ताज़ा था और चेहरा एक हद तक खूबसूरत होता, पर बदमाशी और निर्लज्जता ने सूरत बिगाड़ दी थी। यह तो उसकी शकल (आकृति) थी। रही उसकी 'सदा' (वाणी) सो मैं ऐसा शुष्क-हृदय नहीं हूँ कि उसका खुलासा लिख दूं। वह इस योग्य है कि एक एक शब्द लिखा जाय, सुनिए वह 'स्पीच' या सदा, यह थी—

"ऐ भाई खुदातरस मुसलमानों और धर्मात्मा हिन्दुओं! खुदा के लिए मेरा हाल सुनो, मैं आफ़त का मारा, सात बच्चों का बाप हूँ, अब रोटियों का मोहताज हूँ, और अपनी मुसीबत एक एक से कहता हूँ, मैं भीख नहीं मांगता, मैं यह चाहता हूँ कि अपने वतन को चला जाऊँ, पर कोई खुदा का प्यारा मुझे घर भी नहीं पहुँचाता, हाय! घर भी नहीं पहुँचाता।

"ऐ खुदा के बन्दो! मैं परदेसी हूँ, मेरा कोई दोस्त नहीं, हाय मेरा कोई दोस्त नहीं, अरे कोई मेरी सुनो, मैं गरीब परदेसी हूँ"—

फ़कीर तो यह कहता हुआ और जिन पर उसके क़िस्से का असर हुआ, उनकी खैरात लेता हुआ आगे बढ़ गया। पर मेरे दिल में कई विचार उत्पन्न हुए और मैंने अपनी हालत का मुकाबला उससे किया और मुझे स्वयं आश्चर्य हुआ कि बहुत सी बातों में मैंने उसको अपने से अच्छा पाया। यह ठीक है कि मैं काम करता हूँ और वह मुफ्तखोरी से दिन काटता है, मैंने शिक्षा पाई है, वह निरक्षर है। मैं अच्छे लिबास में रहता हूँ, वह फटे कपड़े पहनता है, बस यहां तक मैं उससे अच्छा हूँ। आगे बढ़कर उसकी दशा मुझसे बहुत उत्तम है। मैं रात दिन चिन्ता में काटता हूँ और वह ऐसी निश्चिन्तता से जिन्दगी बसर करता है कि रोने और बिसूरने की सूरत बनाने पर भी उसके मुख पर प्रसन्नता झलकती थी। उसकी सेहत-स्वास्थ्य, पर मुझे रश्क (स्पृहा) करना चाहिए, बड़ी देर तक मैं सोचता रहा कि इसकी यह स्पृहणीय दशा(क़ाबिले-रश्क हालत) किस वजह से है? अन्त में मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि जिसे वह मुसीबत ख्याल करता है, वही उसके हक़ में न्यामत है। वह खेद से कहता है कि 'मेरा कोई दोस्त नहीं।' 'मैं दुःख से कहता हूँ कि मेरे इतने दोस्त हैं।' उसका कोई दोस्त नहीं? यदि यह सच है तो उसे धन्य कहना चाहिए, बधाई देनी चाहिए।

मैं अपने दिल से ये बातें करता हुआ मकान पर आया, कैसा खुशकिस्मत आदमी है, कहता है 'मेरा कोई दोस्त नहीं।' ऐ खुशनसीब आदमी! यहीं तू मुझसे बढ़ गया, पर क्या इसका यह कहना सच भी है? अर्थात क्या वास्तव में इसका कोई दोस्त नहीं, जो मेरे दोस्तों की तरह उसे दिन भर में ५ मिनट की फ़ुरसत न दे। मैं

अपने मकान पर एक लेख लिखने जा रहा हूँ, पर खबर नहीं कि मुझे जरा सा भी वक्त ऐसा मिलेगा कि मैं एकान्त में अपने विचारों को इकट्ठा कर सकूँ। या जो व्याख्यान मुझे कल देना है, उसे सोच सकूँ। क्या यह फ़कीर दिन-दहाड़े अपना रुपया ले जा सकता है और उसका कोई दोस्त रास्ते में न मिलेगा और यह न कहेगा- कि भाईजान, देखो पुरानी दोस्ती का वास्ता देता हूँ मुझे इस वक्त जरूरत है, थोड़ा सा रुपया कर्ज दो' क्या इसके मिलने वाले वक्त बेवक्त इसे दावतों में खींचकर नहीं ले जाते, क्या कभी ऐसा नहीं होता कि उसे नींद के झोंके आ रहे हों, पर यार दोस्तों की गोष्ठी जमी है जो क़िस्से पर क़िस्सा और लतीफ़े पर लतीफ़ा कह रहे हैं और उठने का नाम नहीं लेते, क्या इसे मित्रों के पत्रों का उत्तर नहीं देना पड़ता ? क्या इसके प्रिय मित्र की लिखी कोई पुस्तक नहीं, जो उसे ख़्वामख़्वाह पढ़नी पड़े और अनुकूल समालोचना लिखनी पड़े ? क्या इसे मित्र-मण्डली के हो-हल्लड़ में शरीक होना नहीं पड़ता ? क्या मित्रों के यहां मिलने उसे जाना नहीं पड़ता, और यदि न जाय तो कोई शिकायत नहीं करता।

यदि इन सब आपत्तियों से वह बचा हुआ है तो कोई आश्चर्य नहीं जो वह हट्टा कट्टा है, और मैं दुर्बल और कृश हूं, पर इतने पर भी ईश्वर को धन्यवाद नहीं देता ! ईश्वर जाने वह और क्या चाहता है। लोग कहेंगे कि इसके यह कैसे बुरे विचार हैं, मित्रों के बिना जीवन दूभर हो जाता है, और यह उनसे भागता है। पर मैं मित्रों को बुरा नहीं कहता, मैं जानता हूं कि वह मुझे प्रसन्न करने के लिए मेरे पास आते हैं और मेरे शुभ-चिन्तक हैं। पर परिणाम यह है कि मित्रों का इरादा होता है मुझे लाभ पहुंचाने का और हो जाता है मुझे नुकसान। चाहे मुझ पर घृणा की जाय, मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि आजतक मेरे सामने कोई यह सिद्ध न कर सका कि बहुत से मित्र बनाने--मित्रता का क्षेत्र विस्तृत करने-से क्या लाभ है। मैं तो यहां तक कहता हूं कि यदि ससार में कुछ काम करना है और मेरी बातों में ही उम्र नहीं गुजारनी है तो कई अत्यन्त स्निग्ध मित्रों को भी छोड़ना पड़ेगा, चाहे इससे मुझे कितना ही दुःख हो।

मसलन मेरे मित्र ईश्वरशरण है जिन्हें मैं 'भड़भड़िया' दोस्त कहता हूं। यह बहुत भले आदमी हैं, मेरी उनकी मित्रता बहुत पुरानी और बेतकल्लुफ़ी की है, पर उनके स्वभाव में यह है कि दो मिनट निचला नहीं बैठा जाता जब आयेंगे शोर मचाते हुए, चीजों को उलट पलट करते हुए। इनका आना भूचाल के आने से कम नहीं है। जब वह आते हैं मैं कहता हूँ कोई आ रहा है, क़यामत (प्रलय) नहीं है। इनके आने की मुझे दूर से खबर हो जाती है, यद्यपि मेरा लिखने पढ़ने का कमरा छतपर है। यदि मेरा नौकर कहता है कि 'वह इस वक्त काम में बहुत ही निमग्न हैं-'तो वह फौरन चीखना शुरू कर देते हैं कि—कमबख्त को अपने स्वास्थ्य का भी तो ध्यान नहीं (नौकर से) 'सोहन कबसे काम कर रहे हैं ? 'बड़ी देर से।' शिव शिव, अच्छा, बस मैं एक मिनट इनके पास बैठूंगा, मुझे खुद जाना है, छतपर होंगे न ? मैं पहले ही समझता था, यह कहते हुए वह ऊपर आते हैं और दरवाजे को इस जोर से खोलते हैं कि मानो कोई गोला आकर लगा। (आजतक उन्होंने दरवाजा खटखटाया नहीं) और आंधी की तरह दाखिल होते हैं।

अहा हा ! आखिर तुम्हें मैंने पकड़ लिया, पर देखो मेरे कारण अपना लिखना बन्द मत करो, मैं हर्जा करने नहीं आया। ओ हो कितना लिख डाला है ! कहो तबीयत तो अच्छी है ? मैं तो सिर्फ़ यही पूछने आया था। ईश्वर जानता है मुझे कितना हर्ष होता है कि मेरे मित्रों में एक आदमी ऐसा है जो सुलेखक कह कर पुकारा जा सकता है,—लो अब जाता हूं, बैठूंगा नहीं, एक मिनट नहीं ठहरने का। तुम्हारी कुशल मालूम करनी थी बस यह कह कर वह बड़े प्रेम से हाथ मिलाते हैं और अपने जोश में मेरे हाथ को इस कदर दबा देते हैं कि उंगलियों में दर्द होने लगता है और मैं कलम नहीं पकड़ सकता, यह तो एक ओर रहा, अपने साथ मेरे विचारों को भी ले जाते हैं, विचार समूह को जमा करने का प्रयत्न करता हूं, पर अब वह कहां ! यदि देखा जाय तो मेरे कमरे में वह एक

मिनट से अधिक नहीं रहे, तथापि यदि वह घंटों रहते तो इससे ज्यादा नुकसान न करते। क्या मैं उन्हें छोड़ सकता हूं ? मैं इससे इनकार नहीं करता कि उनकी मेरी मित्रता बहुत पुरानी है और वह मुझसे भाइयों की तरह स्नेह करते हैं, पर मैं उन्हें छोड़ दूंगा, हां छोड़ दूंगा, चाहे कलेजे पर पत्थर रखना पड़े।

और लीजिए, दूसरे मित्र विश्वनाथ हैं। यह बाल-बच्चों वाले आदमी हैं और रात दिन इन्हीं की चिन्ता में रहते हैं। जब कभी मिलने आते हैं तो तीसरे पहर के क़रीब आते हैं, जब मैं काम से निबट चुकता हूं। पर इस क़दर थका हुआ होता हूं कि जी यही चाहता है कि एक घन्टे आराम कुरसी पर चुपचाप पड़ा रहूं। पर विश्वनाथ आये हैं, उनसे मिलना जरूरी है. उनके पास बातें करने के लिए सिवा अपनी स्त्री और बच्चों की बीमारी के और कोई मजमून ही नहीं। मैं कितनी ही कोशिश करूं, पर वह उस विषय से बाहर नहीं निकलते। यदि मैं मौसम का जिक्र करता हूँ तो वह कहते हैं, हां बड़ा खराब है। मेरे छोटे बच्चे को बुखार आ गया, मझली लड़की खांसी से पीड़ित है। यदि पोलिटिक्स या साहित्य-सबंधी चर्चा प्रारम्भ करता हूँ तो वह (विश्वनाथ जी) फ़ौरन फरमाते हैं कि भाई आजकल घर-भर बीमार है। मुझे इतनी फुर्सत कहां कि अखबार पढ़ूँ। यदि किसी सभा-सोसाइटी में आते हैं तो अपने लड़कों को जरूर साथ लिये होते हैं और हर एक से बार बार पूछते हैं कि तबीयत तो नहीं घबराती ? प्यास तो नहीं मालूम होती ? कभी कभी नब्ज भी देख लेते हैं, और वहां भी किसी से मिलते हैं तो घर की बीमारी ही की चर्चा करते हैं।

इसी प्रकार मेरे एक मुक़दमेबाज मित्र हैं, जिन्हें अपनी रियासत के झगड़ों—अपने प्रतिपक्षी की बुराइयों—और जज साहब की स्तुति या निन्दा (स्तुति उस दशा में जब उन्होंने मुकदमा जीता हो) के अतिरिक्त कोई विषय ही नहीं। अपने और नाना भांति के मित्रों में से मैं लक्ष्मीनारायण जी की चर्चा विशेष रूप से करूंगा।

आप बिक्रमपुर के रईस और जिले भर में एक प्रतिष्ठित पुरुष हैं। उन्हें अपनी योग्यता के अनुसार साहित्य से बहुत अनुराग है। साहित्य पढ़ने का इतना नहीं, जितना साहित्य-सेवियों से मिलने जुलने और परिचय प्राप्त करने का। उनका विचार है कि विद्वानों का थोड़ा बहुत सत्कार करना धनिकों का कर्त्तव्य है। वह एक बार मेरे यहां तशरीफ लाये और बड़े आग्रह से मुझे बिक्रमपुर ले गये, यह कहकर कि—'शहर में रात दिन कोलाहल और अशान्ति रहती है, गाँव में कुछ समय रहने से जलवायु का परिवर्तन भी होगा और वहां लिखने का काम भी अधिक निश्चिन्तता से कर सकोगे। मैंने एक कमरा तुम्हारे लिए ठीक कराया है—जिसमें पढ़ने लिखने का सब सामान प्रस्तुत है। थोड़े दिन रह कर चले आना, देखो मेरी खुशी करो।'

मैं ऐसे प्रेमपूर्ण आग्रह पर मना कैसे कर सकता था। मुख़्तसिर सामान लिखने पढ़ने का लेकर उनके साथ हो लिया। 'प्रतिभा' सम्पादक से प्रतिज्ञा कर चुका था कि यथासमय एक लेख उनकी सेवा में भेजूंगा। लक्ष्मणस्वरूप जी की कोठी पर पहुँचकर मैंने वह कमरा देखा जो मेरे लिए ठीक किया था, यह कमरा कोठी की दूसरी मंजिल पर था, और खूब सजाया गया था, इसकी एक खिड़की पाईं—बाग़ की ओर खुलती थी—और एक अत्यन्त हृदय-हारी दृश्य मेरी आखों के सामने होता था, प्रातःकाल मैं नाश्ता (प्रातराश) के लिए नीचे बुलाया गया। जब चाय का दूसरा प्याला पी चुका तो अपने कमरे में जाने के लिए उठता ही था कि चारों ओर से आग्रह होने लगा-"हैं हैं, कहीं ऐसा गज़ब न करना कि आज ही से काम शुरू कर दो, अपने दिमाग़ को कुछ आराम तो दो, और आज का दिन तो विशेष कर इस योग्य है कि दृश्य (सीनरी) का आनन्द लिया जाय। चालिए, गाड़ी तयार कराते हैं दरिया की सैर होगी, फिर वहां से दो मील दौलतपुर है आपको वहां के रईस राजा हृदयनारायण सिंह से मिलाएंगे।

मेरा माथा वहीं ठनका कि यदि यही दशा रही तो यहां भी अवकाश मिल चुका। अस्तु, इस समय तो मैं सैकड़ों बहाने बनाकर बच गया, और मेरे कारण वह भी रुक गये, न जा सके, पर मुझे बहुत जल्द मालूम हो

गया कि जिस दुर्लभ पदार्थ एकान्तवास और अवकाश लिये मैं आतुर था, वह मुझे यहाँ भी प्राप्त न होगा।

मैं जल्दी से उठकर अपने कमरे में आया और उस समय ज़रा ध्यान से उस मेज़ के सामान को देखा जो मेरे लिखने पढ़ने के लिए तैयार की गई थी। मेज़ पर बहुत क़ीमती कामदार कपड़ा पड़ा हुआ था, जिस पर स्याही की बूँद गिराना 'महापाप' से कम न होगा। चाँदी की दावात, पर स्याही देखता हूँ तो सूखी हुई। अंग्रेज़ी क़लम निहायत क़ीमती और दुष्प्राप्य, पर एक आध को छोड़कर निब किसी में नहीं। ब्लाटिंग पेपर (जाज़ब) एक मखमली जिल्द की किताब में पर लिखने के काग़ज़ का पता नहीं। इसी प्रकार बहुत सा बढ़िया बहुमूल्य सामान मेज पर इसमें से बहुत कुछ मेरे काम का नहीं, और जो चीज़ें कि जरूरत की थीं, वह मौजूद नहीं। अन्त में मैंने अपना वही पुराना, पर काम का बक्स और अपनी मामूली दावात और क़लम (जिसने अब तक बड़ी ईमानदारी से मेरी सहायता की थी—मेरे उड़ते हुए विचारों को बड़ी फुर्ती से पकड़कर काग़ज़ के पिंजरे में बन्द किया था)—निकाला और लिखना शुरू किया। यह ज़रूर हुआ कि जिन कलरव मधुरभाषी पक्षियों की प्रशंसा करते कवि नहीं थकते, उन (पंछियों) की कृपा से इस समय मैं प्रसन्न नहीं हुआ कि सब के सब नीचे वृक्ष पर जमा हो गये और शोर मचाना शुरू कर दिया। तथापि प्रयत्नपूर्वक मैंने उधर से कान बन्द कर लिये, और लिखने में सर्वात्मना संलग्न हो गया,…"तन् तनन् तन्तनाना छन ततन् तन् तन् तन्—" मैं ऐसा ध्यान में मग्न था, इधर उधर की कुछ सुध न थी कि इस तन् तन् ने चौंका दिया, ऐं यह क्या है? ओफ़्फ़ो! अब मैं समझा, मेरे कमरे के क़रीब लक्ष्मणस्वरूप जी के छोटे भाई का कमरा है, यह गाने बजाने में बहुत प्रवीण हैं, इस समय सितार से शौक़ फ़रमा रहे हैं, बहुत खूब बजा रहे हैं—

"यमुना तलफत बीती रैन।
त्रिविध समीर तीर-सम लागत विषसम कोकिल बैन।"

वाह क्या कहना है, कमाल करते हैं।

कोई आध घण्टा उन्होंने सितार बजाकर, मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे गानामृत पान कराकर तृप्त किया। फिर किसी कारण से वह अपने कमरे से चले गये, सन्नाटा हो गया तो मुझे फिर अपने काम का ध्यान आया।

ऐ मेरे ख़यालात! (मेरे विचारो!) तुम्हीं मेरी निधि—ख़ज़ाना हो, दया करो, मेरे मस्तिष्क (दिमाग़) में फिर आ जाओ—यह प्रार्थना करके मैंने काग़ज़ पर नज़र डाली कि देखूँ कहाँ छोड़ा है, मैं इस वाक्य तक पहुँचा—'हम इस विस्तृत और गहन विषय पर जितना विचार करते और ध्यान दौड़ाते हैं उतनी ही इसकी गहनता और जटिलता'—इसके आगे मैं क्या लिखने वाला था—'नदी की बालुका-राशि के समान'—नहीं ऐसा साधारण और असंगत वाक्य तो न था, कोई उत्कृष्ट उपमा थी, बड़े सुन्दर ओजस्वी शब्द थे, ईश्वर जाने क्या था, अब तो दिमाग़ में उसका पता भी नहीं। गाने वाले साहब तो शिकायत ही कर रहे थे कि—'त्रिविध समीर तीर सम लागत'—पर मेरे विचार रूप पंछी सचमुच ही इस तीर का शब्द सुनकर एक दम दिमाग़ की डाली से उड़ गये। अच्छा, अब उस वाक्य को मुझे नये सिरे से ठीक करना चाहिए, गहनता और जटिलता की जगह कुछ और होना चाहिए—

'हम इस विस्तृत विषय पर जितना विचार करते हैं, उतना ही इन विज्ञानरूप रत्नों को जो हमारे देश और जाति के विद्या-कोश को भरने के लिए पर्याप्त हैं और जिनका महत्त्व—आप कहाँ भूल पड़े—इतने दिनों कहाँ रहे? यह क्या असम्बद्ध वाक्य हुआ? 'आप कहाँ भूल पड़े, इतने दिनों कहाँ रहे'—यह वाक्य तो लक्ष्मण स्वरूप जी ने किसी मित्र से कहे हैं, जो अभी उनसे मिलने आये हैं, मैं अपनी धुन में इन्हें ही लिख गया। हाँ, तो काटकर फिर ठीक करना चाहिए—'और जिनका महत्त्व, देश और जाति को अभी विदित नहीं हुआ और'—कोई दरवाज़ा खटखटाता है। कौन है?—"जी मैं हूँ मोहन। सरकार ने कहा है कि यदि आपको तकलीफ़ न हो तो नीचे ज़रा सी देर के लिए तशरीफ़ लाइए। कोई साहब

आए हुए हैं और सरकार उन्हें आपसे मिलाना चाहते हैं" जी नहीं चाहता था, पर उठा और नीचे गया। लक्ष्मण-स्वरूप जी के मित्र राजा हृदयनारायणसिंह आये हुए थे, उनसे मेरा परिचय कराया गया। थोड़ी देर बाद वह तशरीफ़ ले गए, मुझे छुट्टी मिली। मैंने जी जमाकर फिर लिखना शुरू किया, थोड़ी देर बीती थी कि मोहन ने फिर दरवाजा खटखटाया, मालूम हुआ मेरी फिर याद हुई। हमारे मेज़बान (आतिथेय) के कोई और मित्र आये हैं, और मैं उन्हें दिखाया जाऊँगा। मानो मैं भी उस अरबी घोड़े के तुल्य था, जिसे मेरे मेज़बान मित्र ने हाल ही में खरीदा था, और जो प्रत्येक आनेवाले मित्र को अस्तबल (घुड़साल) से मँगाकर दिखाया जाता था। इन महाशय से छुट्टी पाकर और भागकर मैं अपने कमरे में आया। विचार शृङ्खला फिर विच्छिन्न हो गई थी, ख़यालात ग़ायब हो गए थे, वाक्य फिर नये सिरे से बनाना पड़ा। जी उचाट हो गया, बड़ी कठिनता से फिर बैठा और लिखना शुरू किया। इस बार सौभाग्य से कोई आधा घटा ऐसा मिला जिसमें कोई आया गया नहीं, अब मेरा क़लम तेज़ी से चल रहा था और मैं लिख रहा था:—

'हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे देश के सुयोग्य युवक जन जिन्हें नवीन आविष्कारों और अनुसन्धानों से अनुराग है और जो कोलम्बस के समान नवीन विचार और नई दुनिया की उद्भावना में अपने को'—

दरवाजे पर फिर दस्तक—क्या है? 'हुज़ूर खाना तैयार है, परोसा जा चुका है।' अच्छा,—'अपने को संकट में डालने से भी नहीं डरते, अवश्य इस ओर ध्यान देंगे, और अपने उद्योग और परिणाम से वर्तमान,—दरवाजा फिर खटखटाया गया—'हाँ, हुज़ूर! सरकार आपका इन्तज़ार कर रहे हैं, खाना ठंडा हुआ जाता है।' श्रोफ़ो, मुझे ख़याल नहीं रहा, सरकार से निवेदन करना, मेरा इन्तज़ार न करें। मैं फिर खा लूंगा, इस वक्त मुझे कुछ ऐसी भूख नहीं—'और आने वाली सन्तानों को उपकृत करेंगे, यही वह नवयुवक हैं जो जाति की नौका को, ईश्वर की सहायता पर विश्वास करके आपत्तियों से बचाते और सफलता के किनारे लगाते हैं. जीवन और मृत्यु की कठिन समस्या' दस्तक - क्या है? 'सरकार कहते हैं कि आप थोड़ी देर में खायेंगे तो हम भी उसी वक्त खायेंगे, पर खाना ठंडा होकर खराब हो जाएगा।' अच्छा भाई लो अभी आया, यह कह कर मैं खाने के लिए जाता हूँ, सबसे क्षमा माँगता हूँ। मेज़बान बड़े कृपापूर्ण विनीत भाव से कहते हैं, चेहरे पर थकन मालूम होती है। क्या बहुत लिख डाला? देखो मैं कहता न था कि शहर में ऐसी फ़ुरसत और निश्चिन्तता कहाँ', इसपर 'ठीक है, उचित है' के अतिरिक्त और मैं क्या कहता। अब खाने पर आग्रह होता है, जिस चीज़ से मुझे रुचि नहीं, वही खिलाई जाती है। भोजन की समाप्ति पर मेज़बान साहब फ़रमाते हैं—तीसरे पहर को तुम्हें गाड़ी में चलना होगा, मैं तुम्हें इस वास्ते यहाँ नहीं लाया कि सख्त दिमागी काम करके अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लो। कमरे में वापस आकर मैं थोड़ी देर इसलिए लेटता हूँ कि ख़यालात जमा कर लूं और फिर लिखना शुरू कर दूं पर अब—ख़यालात कहाँ? मज़मून उठाकर देखता हूं 'जीवन और मृत्यु की कठिन समस्या' के सम्बन्ध में क्या लिखने वाला था, इन शब्दों के पश्चात् कौन से शब्द दिमाग़ में थे? अब कुछ याद नहीं कि इस वाक्य की पहले वाक्यों से किस प्रकार संगति करनी थी। योंही पड़े-पड़े नींद आ जाती है, तीसरे पहर फिर उठता हूं तो मस्तिष्क ठीक स्वस्थ है, जीवन और मृत्यु की कठिन समस्या बिलकुल समझ में आ जाती है, पूरा वाक्य दर्पण की तरह साफ दिखाई देता है, मैं खुशी खुशी उठकर मेज़ पर गया, और लिखना चाहता था कि फिर वही दस्तक! नौकर सूचना देता है कि गाड़ी तय्यार है, सरकार कपड़े पहने आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं फौरन नीचे जाता हूं तो पहली बात जो वह कहते हैं वह यह होती है—'आज तो दस्ते के दस्ते लिख डाले।' मैं सच्ची बात कहूँ कि कुछ भी नहीं लिखा तो वह हँसकर उत्तर देते हैं कि आखिर इस शील-संकोच की क्या जरूरत है—

'खुदा के वास्ते झूठी न खाइए क़स्में,
मुझे यक़ीन हुआ और मुझको ऐतबार आया।'

मिल-मिलाकर शाम को वापस आये, खाने के बाद बातें होती हैं। सोने के वक्त अपना दिन भर का काम उठाकर देखता हूँ, तो एक सफे (पृष्ठ) से ज्यादा नहीं, वह भी असम्बद्ध। क्रोध में आकर उसे फाड़कर फेंक देता हूं और दूसरे दिन अपने आतिथेय मित्र को नाराज करके अपने घर लौट आता हूं। मैं कृतघ्न कहाँ जाऊँगा, पर मैं मजबूर हूँ। इस प्रिय कृपालु मित्र को भी छोड़ दूंगा। मैंने कुछ विस्तार से इनका हाल कहा है, पर यह न सोचना कि यहीं इन मित्रों की संख्या समाप्त हो गई है। जिनसे मैं छुट्टी चाहता हूं। नहीं, अभी बहुत से बाक़ी हैं। यथा एक महाशय हैं जो मुझसे कभी नहीं मिलते, जब आते हैं, मैं उनका मतलब समझ जाता हूँ। यह महाशय हमेशा कर्ज़ मांगने के लिए आते हैं। एक महाशय हैं जो सदा ऐसे समय आते हैं जब मैं बाहर जाने को होता हूं। एक महाशय हैं जब मुझसे मिलते हैं कहते हैं —'भाई एक अर्से से मेरा दिल चाहता है, तुम्हारी दावत करूँ'—पर कभी अपनी इस इच्छा को पूरी नहीं करते। एक मित्र हैं, वह आते ही प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं, जब उत्तर देता हूँ तो ध्यान से सुनते नहीं, अखबार उठाकर पढ़ने लगते हैं या गाने लगते हैं। एक साहब हैं, जब आते हैं अपनी ही कहे जाते हैं, मेरी नहीं सुनते।

यह सब मेरे हितैषी और कृपालु हैं, पर मैं अपनी तबीयत को क्या करूँ? साफ-साफ कहता हूँ और इनमें प्रत्येक से कह सकता हूं —

'मुझ पै अहसां जो न करते तो यह अहसां होता।'

अब जबकि मैंने यह हाल लिखना शुरू कर दिया है उचित प्रतीत होता है कि कुछ अन्य मित्रों के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट कर दूं। दरवाजे पर एक गाड़ी आकर रुकी, मैं समझ गया कि कौन साहब तशरीफ़ ला रहे हैं, मैं उनकी शिकायत न करूंगा, क्योंकि यह क्या आश्चर्य नहीं है कि मैं तीन घन्टे से यह लेख लिख रहा था और किसी कृपालु ने कृपा नहीं की। इसलिए उनकी इस कृपा के उपलक्ष्य में मैं इस लेख को इसी अपूर्ण दशा में छोड़ता हूं और अपने मित्र का स्वागत करता हूं। यह मित्र मेरे स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखते हैं, मुझ पर इस कारण नाराज होते हैं, तुम अपने स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखते। मैं जानता हूं कि इस वक्त भी किसी नये हकीम या डाक्टर का हाल सुनायेंगे, जो बड़ा अनुभवी है, या कोई अनुभूत योग (नुसखा) मेरे लिए किसी से मांगकर लाये होंगे।

आइए, आइए चित प्रसन्न है? बहुत दिनों में पधारे।*

---

* सय्यद सज्जाद हैदर बी० ए० (नहटौरी) के एक लेख का अनुवाद। 'पद्मपराग' से साभार।

नायक नंगला
३-५-०६

ओ३म्

श्रीमत्सु सादरं प्रणामा:

श्रीमान् का २७-४ का कृपा-पत्र मिला। अनुगृहीत किया

कलकत्ते वाले मिश्र जी की सम्मति पर निवेदन है कि—चण्ड, कण्टक, आदि शब्दों का उच्चारण माइंड, सेंट आदि शब्दों के उच्चारण से जरूर भिन्न होना चाहिए, क्योंकि चण्ड की ध्वनि में एन 'नकार' का शुद्ध उच्चारण नहीं होता किन्तु 'न' और 'ण' दोनों के बीचो-बीच का सा, और माइंड में विशुद्ध 'नकार' की ध्वनि निकलती है, क्या यथार्थ में ही 'आकृष्ट' तथा 'शिष्ट' के उच्चारण से 'मस्ट' सा 'फर्स्ट' का उच्चारण मिलता है? यहाँ अंग्रेजी का 'एस' संस्कृत के 'षकार' का सा उच्चारित होता है? यदि यही बात है तो हम 'फ़र्स्ट' को फारसी हरूफ में फर्स्ट लिख सकते हैं? परन्तु कोई ऐसा नहीं करता, जिन शब्दों में 'एस' का उच्चारण ठीक दन्त्याकार का सा नहीं है वहाँ तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' का प्रयोग कर सकते हैं, परन्तु जहाँ 'एस' का उच्चारण बिल्कुल ही 'स' की तरह का है वहाँ भी मूर्धन्य 'ष' के प्रयोग के लिए 'झूठ मूठ' आग्रह करना हमारी राय में ठीक नहीं। जहाँ वस्तुत: स्वरहीन षकार और णकार हो वहाँ भले ही टवर्ग के साथ मिश्रित होकर उच्चारित हो, पर जहाँ नकार और अनुस्वार है वहां णकार बनाने का झूठ-मूठ आग्रह क्यों किया जाए? और फिर 'गवर्नमेन्ट' आदि शब्दों में रकार के प्रयोग में 'नकार' को 'णकार' होकर 'गवर्नमेंट' भी होना चाहिए, पर ऐसा उच्चारण कोई नहीं करता। यदि संस्कृत वर्णमाला में उस आकृति के अक्षर नहीं हैं तो अब बना सकते हैं, बन भी गए हैं। जब फारसी शब्दों के अनुकरण में 'ज़' लिखा जाने लगा तो यह कौन बड़ी बात है? मिश्र जी को चाहिए कि २१-४ के भारत-मित्र में, तीसरे पृष्ठ के सातवें कालम में 'कलकत्ता' के नीचे 'असिस्टण्ट' शब्द पढ़ें, आशा है, नृप की तरह वहाँ स 'ऋ' का धोका न होगा। उसी पृष्ठ के आठवें कालम में विशुद्ध 'चीनी' के नोटिस में 'पोस्ट-यशोहर' पढ़ देखें इसी प्रकार उसमें और भी कई शब्द मिलेंगे जिनमें 'स' और 'ट' मिले हुए हैं। आगे जैसे मिश्र जी की राय हो। मिश्रित अक्षरों के विषय में उन्हीं की सम्मति को गौरव देना युक्त भी है।

भाषा की अनस्थिरता के विषय में 'आबेहयात' से जो कुछ उद्धृत किया गया है वह बहुत उपयुक्त है। अब की सरस्वती में कई लेख अच्छे हैं

बहुत खुशी की बात है कि 'ग्रन्थमाला' निकली। 'विक्रमांकचर्चा' को भी निकलवाइए रीडर्स और शिक्षा-सरोज के निकलने का भी इन्डियन प्रेस वालों को ध्यान दिलाइए। सरकारी स्कूलों में न सही – सर्वसाधारण पाठशालाओं में उनका आदर अवश्य होगा। काम की चीजें हैं।

'ऋतु संहार' का अनुवाद अब कहीं मिलता है कि नहीं? किस प्रेस में छपा था।

पारनेल का 'हार्मिट' गोल्डस्मिथ से बहुत ही अच्छा और बिस्तृत है। अवकाश मिले तो उसे जरूर देखिए।

कृपाकांक्षी:
पद्मसिंह

पत्र

श्रीमत्सु सादर प्रणामाः

नायक नंगला
१३–६–०६

कृपा-पत्र कई दिन हुए मिला।

आज अपने एक सुहृद के भेजे हुए दो श्लोक आपकी सेवा में भेजता हूं, आशा है इन्हें सरस्वती में आश्रय मिलेगा, क्योंकि यह उनका पहला ही प्रणयानुरोध है।

एक श्लोक उसी प्रकार का और मिला है, जिसका भाव 'मोमिन' के एक मशहूर शेर से मिलता है, देखिये —

"दारिद्र्य ! शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा ।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये, ममेति चिन्ता क्वामिष्यसि त्वम् ॥"

(मृच्छकटिक—१ म, अंक)
(चारुदत्तोक्तिः)

"तू कहाँ जायगी कुछ अपना ठिकाना कर ले, हम तो कल, ख्वाबे अदम में, शवे हिजरां होंगे"

नोट के लिए अभी कुछ उपयुक्त सूझा नहीं कि क्या लिखूं, और किस प्रकार का तारतम्य दिखलाया जाय, यदि कोई बात याद आ गई तो लिख दूंगा।

सरस्वती के लुटेरों को क्या किया जाए, समय का प्रभाव है, 'अचौरहार्य' विद्याधन को भी चौर्यमय उपस्थित हो गया। अच्छा लूटने दीजिए। देव-दैत्यों के लूटने पर भी "अद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः"

'हिन्दी ग्रन्थमाला' हमारे पास भी आ गयी, अच्छी है। हमें याद पड़ता है एक बार आपने सरस्वती में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का कुछ हाल लिखा था। उसकी भाषा बड़ी उत्तेजक थी। वह फिर भी ट्रेक्ट की सूरत में छपना चाहिए।

अब की सरस्वती में 'परलोक से प्राप्त पत्रों' के पढ़ने की उत्कंठा है।

शिक्षा आधी हो गयी ? बड़ी खुशी की बात है। परमात्मा करे, उसके शीघ्र ही पुस्तकाकार में दर्शन हों।

पद्मसिंह

नायक नगला, बिजनौर
भादों बदि २, १९८३
९-९-२६

प्रिय पं० हरिशंकर जी नमस्ते।

३-९ का कृपा-पत्र परसों पहुँचा। पढ़कर हर्ष भी हुआ और विषाद भी। चतुर्वेदी जी भारतीय हृदय हैं। इससे यह हालत होनी ही चाहिये। अकबर ने कहा है—

'शिकम होता तो मैं इस अहद में फूला फला होता,
सरापा दिल बना हूँ इस सबब से कुश्तए ग़म हूँ।'

ज़ौक ने ठीक ही कहा है—

'यों फिरें आशुफ़्ता हाल अहले कमाल अफ़सोस है,
ऐ कमाल अफ़सोस है, तुझ पर कमाल अफ़सोस है।'

ढोंगी लीडरों का जमाना है। मौज है उनकी। चतुर्वेदीजी और कवि जी की कद्र करने वाले कहाँ हैं? जिधर देखिए यार लोगों ने अखाड़े बना रक्खे हैं, उनमें खुशामदी, स्वार्थी और मक्कार पड़े डंड पेलते हैं। भले आदमियों को कौन पूछता है। बिहारी ने झूठ नहीं कहा—

'बसे बुराई जासु तन ताही को सनमान।
भलो-भलो कहि छोड़िए खोटे ग्रह जप दान॥'

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन वालों को मैंने अनेक बार अनुरोध और आग्रहपूर्वक प्रेरणा की, कि चतुर्वेदी जी से कुछ काम लो। पं० रामजीलाल शर्मा ने वादा भी किया, फिर भी कुछ न किया। इसे सम्मेलन वालों की अज्ञानता और सम्मेलन के दुर्भाग्य के अतिरिक्त क्या कहा जाए।

ये सम्मेलन वाले भी गुरु लोग हैं! अभी की नई घटना है। पं० रामजीलालजी ने मसूरी का प्रोग्राम बनाया कि वहाँ सम्मेलन का डेप्यूटेशन चले। मुझे लिखा, पण्डित ज्वाला दत्त जी को लिखा, और जोर देकर कई बार लिखा। मैं यहाँ बीमारी और तीमारदारी में उलझा था। पं० ज्वालादत्त जी भी काम-काजी आदमी हैं। पर बार-बार के तकाज़ों से तंग आकर हम लोग किसी तरह मसूरी चलने को तैयार हुए। मैं यहाँ से डेप्यूटेशन में योग देने के लिए महाविद्यालय पहुँच गया। पं० ज्वालादत्त जी अलमोड़े से मुरादाबाद उतर आए। प्रस्थान की तिथि नियत हो चुकी थी, पर प्रधानमन्त्री जी ने झट प्रोग्राम कैंसिल कर दिया और इसकी सूचना कार्ड द्वारा दी। पं० ज्वालादत्त जी को यह व्यवहार बहुत ही दुर्व्यवहार प्रतीत हुआ। कुछ लिखा पढ़ी भी हुई पर प्रधान मन्त्रीजी ने अपनी भूल स्वीकार नहीं की। ऐसी दशा में चतुर्वेदी जी के सम्बन्ध में सम्मेलन वालों से क्या कहा जाए और क्या आशा रक्खी जाए।

मेरठ का कवि-सम्मेलन पढ़े-लिखे हुरदंगों का हुल्लड़ था। कवितायें भी फोर्थ क्लास थीं। ढाल कालिज के एक महाब्राह्मण विद्यार्थी को मिली। उसकी रचना अपेक्षाकृत कुछ अच्छी थी। कवि जी (शंकर जी) के न जाने से रंग फीका रहा। दर्शनार्थी बहुत निराश हुए।

राजा लक्ष्मणसिंह जी की जन्म शताब्दी पर हो सका तो मैं "बिना पाथेय पधारूंगा।" चतुर्वेदी जी सचमुच मुर्दों में जान डालने वाले 'मसीहा' हैं। ऐसा कर्मयोगी किसी सभ्य देश और समुन्नत देश में जन्म लेता तो कद्र होती। यहाँ तो ढोंगियों और धूर्तों की पूजा होती है। शरद पूनों पर पं० रामजीलाल शर्मा को भी बुलाइए।

'कमनीय कीर्ति भूभर में भरने' की खूब रही। अच्छा लतीफा है। कभी कभी बड़े विचित्र वाक्य देखने में आते हैं। गुदा या 'गोदाम' शब्द पुल्लिग हैं। पूरब वाले इसे स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं। ६ सितम्बर के 'स्वतन्त्र' में एक हैडिंग है 'चमड़े की गुदा में'। लिंग प्रत्यय से यहाँ कितना अनर्थ हो गया है। यानी चमड़े के गोदाम। सैयद इन्शा इस प्रयोग को सुनते तो दरियाए लताफ़त का एक अध्याय लिख डालते

श्री शंकराचार्य को उनकी 'शिक्षा-मीमांसा' भिजवाई या नहीं। हाँ, रत्नाकर जी का पोथा 'बिहारी रत्नाकर' निकल गया। पाठ-भेद की विस्तृत मीमांसा है। पं० सत्यपाल जी की लिखित 'बिहारी सतसई' मिल जावे तो पाठ भेदों का मुकाबला किया जाए। पर वह शायद उसे देना पसन्द न करें। मालूम तो कीजिए यदि कुछ दिनों के लिए दे दें, आपकी जमानत पर। मुकाबला करके पुस्तक लौटा दी जाएगी।

आशा है, आप 'गृह की जनता' समेत सानन्द हैं।

भवदीय।
पद्मसिंह शर्मा

काव्य कुटीर, नायक नगला, चांदपुर
वैशाख कृष्ण २, १९८३

प्रिय चतुर्वेदी जी, प्रणाम ।

२५-४ का कार्ड, कृपा पत्र और 'चांद' का अंश, सत्यनारायण जी का फोटो, सब कुछ पहुँचा । अनेक धन्यवाद । सत्यनारायण जी का फोटो देखकर जी भर आया । मनुष्य-जीवन की क्षण भंगुरता, संसार की असारता का चित्र आंखों के सामने फिर गया । आज 'हिन्दू संसार' में सप्रेजी के स्वर्गवास का समाचार पढ़कर बड़ी वेदना हुई । मरने से पहले उनकी बीमारी का समाचार भी किसी हिन्दी पत्र में न छपा । नेहरू जी को जुकाम भी हो जाता है तो अखबारों के कालम रंगे जाते हैं, इस अकृतज्ञ अविशेषज्ञ देश को स्वराज्य मिलेगा !

लीडरी पेशा राजनीतिक जन्तुओं के सम्बन्ध में जिस परिणाम पर आप पहुँचे हैं मैं उससे भी कुछ आगे गया हूँ । लीडर लीला लिखने का बहुत दिनों से विचार कर रहा हूँ । लिखी गई तो पढ़ने लायक चीज होगी ।

आपके विचार एक 'भारतीय हृदय' के सर्वथा अनुरूप ही हैं । अकबर ने कहा है—

'शिकम होता तो मैं इस अहद में फला फूला होता ।
सरापा दिल बना हूँ इस सबब से कुश्तए ग़म हूँ ।।'

दिल बनने की सज़ा पाइए, प्रोग्राम बनाते रहिए । और उनके पूरा न होने पर अफसोस करते रहिए । फिर आपका साहस स्पृहणीय है । इस प्रतिकूल स्थिति में भी आपने कुछ कर डाला । साहित्य-सेवा भी कुछ कम नहीं की पर ढोल नहीं पीटा । इतनी कमी रही । यह विज्ञापन-युग है विज्ञान-युग नहीं । आगे चलकर भी यदि ऐसे ही, वर्तमान समय के जैसे ही, हृदयहीन मनुष्य उत्पन्न होते गये, कृतघ्नता और अविवेक ऐसे ही जोरों पर बना रहा, तब तो मजबूरी है । वर्ना आपका काम बड़ी कद्र की निगाहों से देखा जाएगा । सत्यनारायणजी की कीर्तिरक्षा और प्रवासी भारतवासियों की रामकहानी थोड़े महत्व की चीज नहीं है । मुझे तो सचमुच आश्चर्य होता है कि ऐसी परिस्थिति में ऐसा ठोस और टिकाऊ काम आपने कैसे कर डाला ! मुझे तो अब अपने सम्बन्ध में यही सूझता है कि कुछ न हो सकेगा । बीमारी और तीमारदारी यही दो काम हैं ।

'किताबे मुहब्बत में ऐ हज़रते दिल,
बताओ कि तुम लेते कितना सबक हो ।
कि जब आनकर तुमको देखा तो वेही,
लिये दस्ते-अफसोस के दो वर्क थे ।'

इस बार जाड़ों में सतसई पूरी करने का पक्का विचार था । पर बीमारी ने कुछ न करने दिया । अब कनखल जाकर बैठने का संकल्प था । डेढ़ महीने बीमारी और तीमारदारी में निकल गया । अभी तक छुट्टी नहीं मिली । कभी-कभी अपनी इस दशा पर, बेबसी पर, बड़ा दुख होता है । पर मीर का यह मिसरा तसल्ली देता है—

"रख तसल्ली कि यूं मुकद्दर था ।"

चंगा हो जाऊं तो कनखल पहुँचूं इस चिन्ता में हूँ । पहुँच गया तो सूचना दूंगा । आप भी आइए । जीवन में दो-चार बार तो और मिल-भेंट लें । हां, सत्यनारायणजी की जीवनी का क्या हो रहा है ? कोई फार्म छपा या नहीं ? प्रूफ़ कौन देखता है ? उसकी कुछ खैर-खबर है ? आधी तिहाई छप जाती तो उसकी भूमिका लिखता । जब तक मुझे यह निश्चय न होगा कि पुस्तक वास्तव में छप रही है, भूमिका न लिखी जा सकेगी । स्वभाव ही कुछ ऐसा है, पेशगी नहीं लिखा जाता—

"कह गुजरे ऐन वक्त पर जो कुछ भी हो सका,
पहले से कोई बात दिल में ठानते नहीं ।"

बूढ़ों की इज्जत के बारे में जो आपने श्री गोखले की उक्ति उद्धृत की है उस पर एक फ़ारसी का सुन्दर शेर याद आया—

"शहरे कि दरो इज्जते पीरां न शवद,
आं शहर मुहालस्त कि वीरां न शवद ।"

भवदीय :
पद्मसिंह शर्मा

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

कवि अध्यापक और बैरिस्टर

पंजाब के सुप्रसिद्ध उर्दू कवि प्रोफेसर इक़बाल एम.ए. जिनके "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।" आदि गीत प्रसिद्ध हैं, इस साल विलायत से बैरिस्टरी तथा अन्य कई विषयों की उच्च डिगरियाँ प्राप्त करके लौटे हैं। खबर थी कि आप अलीगढ़ कालेज में प्रोफेसरी करेंगे, आप की चुप ने इस खयाल को और भी दृढ़ कर दिया था, क्योंकि विलायत से लौटने के बाद उन्होंने कोई 'कौमीनज्म' जैसी कि वह प्रायः लिखा करते थे, नहीं लिखी 'मखज़न' में उनकी कविता के प्रेमी मुंशी तिलोकचन्द 'महरूम' ने इस विषय की पद्यात्मक प्रार्थना 'सलाम वो पयाम' लिखकर पूर्ववत् कविता लिखने का उनसे अनुरोध भी किया था, पर प्रोफेसर साहब बिल्कुल चुप रहे। समझा जाता कि शायद यह अलीगढ़ कालिज की छाया का असर है।

परन्तु हर्ष का विषय है कवि महाशय अलीगढ़ कालिज के चुंगल में नहीं फँसे। अब सुना है पंजाब की उदार गवर्नमेन्ट ने पाँच सौ रु० मासिक वेतन पर उन्हें कालिज का प्रोफेसर नियत किया है। यही नहीं, इससे बढ़कर यह कि प्रोफेसर साहब साथ-साथ बैरिस्टरी भी कर सकेंगे। नहीं मालूम 'कविता' भी कर सकेंगे या नहीं? प्रोफेसर साहब को ध्यान रखना चाहिए कि उनके देशवासी 'कौमी शाइर' होने से ही उन्हें इस इज्जत की नज़र से देखते हैं, इसकी भी लाज रखें।[1]

हा सौम्य श्रीधर!

एप्रिल की दुःखदायिनी दस तारीख भी दिल में कांटे की तरह सदा खटकती रहेगी, जिस दिन हम से हमारा प्रिय मित्र, पितृव्य से एकमात्र कुलतन्तु पुत्र, दुखिया माता से उसका सर्वस्व, आशालम्बन, आँखों का तारा, बुढ़ापे का सहारा, प्यारा बेटा और आर्यसमाज से एक होनहार 'शास्त्री' श्रीधर, कालकज्ज़ाक ने सहसा छीन लिया!! सब ही लुट गये, कौन किसे धैर्य बँधावे! क्रियाकुशल, अनुभवी डाक्टर सत्यपाल (बी० ए० असिस्टेंट सर्जन) की रात दिन अत्यंत प्रेम और विचारपूर्वक की हुई चिकित्सा, बाबू प्रतापसिंह, बाबू जयकृष्ण जी तथा आचार्य पण्डित गंगादत्त जी का, भूख प्यास सब कुछ भूलकर उठाया हुआ घोर परिश्रम, तथा चौ० जयकृष्ण जी आदि हितैषियों की हित-चिन्ता और दौड़-धूप, माता की प्रार्थना, एक काल की कुटिल चाल के सामने सब व्यर्थ हो गए! हाय संसार की दुःखबहुलता और अनित्यता!

"मृतो मृत्युर्जरा जीर्णा विपन्नाः किं विपत्तयः।
व्याधयो बाधिताः किन्तु हृष्यन्ति यदमी जनाः॥"

---

[1] भारतोदय, वर्ष १, अंक १, ज्येष्ठ शुक्ल सं० १९६९ पृष्ठ ३८ से उद्धृत।

भारतोदय, वर्ष १, अंक १०-११, फाल्गुन चैत्र सं० १९६७ वि०, पृ० ५७ से उद्धृत।

सरस्वती–सम्पादक

हर्ष की बात है एक वर्ष के विश्राम के पश्चात् श्रीमान् पण्डित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने, 'सरस्वती' सम्पादक का भार फिर ग्रहण कर लिया। 'सरस्वती' की जनवरी की संख्या आपकी ही सम्पादकता में प्रकाशित हुई है, श्री द्विवेदी जी के सरस और मनोरम लेखों के लोलुप लोगों की आशा पुनः पूरी हुई। इस रोग जनित विश्रान्ति की दशा में भी श्री द्विवेदी जी अपने सहृदय पाठकों को भूले नहीं, वह उनकी मनोरंजकता का कुछ न कुछ मसाला जमा कर ही लाये। "कालिदास की निरंकुशता" उस मसाले की पहिली पुड़िया है। जो शायद निरंतर कई महीनों तक अभी बँटेगी, मसाला जरा तीक्ष्ण है, कुछ थोड़ा सा कटु है, इसलिए सम्भव है कुछ नाजुक मिजाज सज्जन इसका आस्वादन करते समय नाक-भौंह चढ़ावें।

श्रीयुत पण्डित देवीप्रसाद जी शुक्ल बी० ए० महोदय ने श्री द्विवेदी जी की अनुपस्थिति में जिस प्रशंसनीय पुरुषार्थ और आदरणीय योग्यता से सरस्वती का सम्पादन किया, इससे वह सरस्वती सेवकों और साहित्य प्रेमियों के श्रद्धाभाजन और धन्यवाद पात्र हो गये हैं। आशा है शुक्ल जी अब भी यथावकाश साहित्यसेवा करने में कमी न करेंगे।

भारतोदय, वर्ष २, अंक ६-७-८, कातिक, मार्गशीर्ष, पौष शुक्ल सं० १९६७ वि०, पृ० ६१ से उद्धृत।

सम्पादकीयं वक्तव्यम्

(प्रबन्ध-प्रकाशन-कथा)

महानय प्रमोदादमरो यदद्य समुपह्रियते 'प्रबन्ध-मञ्जरी' नाम बद्धनिबन्ध-संग्रहः सुरभारती-भक्तेभ्यः सहृदयेभ्यः ।

चिराय चेतसि समारोपितो मनोरथतरुरद्य परमेश-कृपया फलेग्रहिः सञ्जातः । पञ्चत्रिंशत्समाः समयः समतीयाय, छात्रावस्थायामधीयानस्य 'विद्योदयं' मम हृदये समुन्मिमेषैषा सङ्कल्प-कलिका, 'सति समये विद्योदयात् सगृह्य ते ते प्रबन्धा अवश्य प्रकाशनीयाः, यानधील्याहमिवान्येपि संस्कृताध्येतारो विद्यार्थिनः समुपकृताः संजायेरन्निति ।' तदानीमेव विद्योदयस्य ग्राहकत्वं प्राप्तवता मया १८६० खृष्टाब्दादारभ्य मुद्रिता विद्योदयस्य दुरवापाः समस्ताः संख्याः (या इदानीं सर्वत्राप्यलभ्याः सन्ति) सुमहता यत्नेन सञ्चित्य संरक्षिताः, रक्षकेणेवास्ततन्द्र शेवधिवद् गोपायिताश्च ।

कथङ्कार तत्तेषां विद्योदय-प्रबन्धरत्नानां प्रकाशनं सुकरं स्यात्, केनोपायेन विद्योदय-विधातारो भट्टाचार्यपादाः प्रबन्ध-प्रकाशनायानुमन्तु मपूर्णाश्च तेषु कांश्चित् पूरयितुं पूर्णाश्च पुनरालोचनेन परिष्कर्तुं प्रार्थयित्वानुकूलतां नेयाः, कृतेऽप्यर्थने ऽनुमंस्यन्ति स्वीकृत्या चानुग्रहीष्यन्ति न वेति को वेत्ति । प्रकाशनाऽनुमत्या सफलीभूतायामप्यस्यामर्थनायामर्थसापेक्ष्या मुद्रणादिव्यवस्था कथमनुष्ठेया; कोन्वस्मिन् सर्वथा फलशून्येऽनर्थके च व्यापारे ऽर्थसाहाय्यमाचरिष्यति ! अथाश्वरहितेन रथेनेव साहाय्यमन्तरा पगुना मनोरथेन प्रबन्ध-मुद्रण-भारोऽयं कथं वोढुं शक्येत ?

प्रबलेऽस्मिन् कलि-काले, ह्रसति संस्कृत-सम्प्रदाये, दिवङ्गतायां देववाण्यां, म्लेच्छतामाहन्ने भूदेव-कुले, "ब्राह्मणेन निष्कारणमिंग्लिशभाषाऽध्येया ज्ञेया चेति" नवीनं शासनं स्वीकृत्य सर्वात्मना श्रुतिमिव राजभाषामभ्यस्यति द्विजवर्णे, सुचिरं ब्राह्मणर्ण-सम्पर्कात् संक्रान्तपातकामिव प्रभविष्णुब्राह्मणेतरसमाजनेतृसमाज्ञया स्वराज्य-प्राप्ति-बाधकतया दण्डनीय-दुर्गुणत्वेन गण्यमानायां संस्कृत-चर्चायां, सबहुमानं प्राकृत-गुणगानं गायति 'लीडर'—लोके, कर्णविवरं बधिरयति राष्ट्रभाषा-डिण्डिमनादे, सन्ध्यार्चनादि-धर्मानुष्ठानेभ्योऽपि बहिष्कृत्य देवभाषां, तत्स्थाने बलादादेष्टु मिष्टायां राष्ट्रभाषायाम्; इत्थंभूते व्यतिकरे संस्कृत-प्रचार-व्यापारो हि प्रमत्त-जनव्यवहारमनुहरतीति नास्ति सदेहलेशोऽपीत्येवमादिभिश्चिन्ताशतै राक्रान्तचित्तः सुचिरं व्यचिन्तयं, न चाध्यगच्छं कमप्यभ्युपायम् । सर्वतो निराशाजनकेऽपि वायुमण्डले, विघ्नवात्या-पराहतोऽपि मानस-कुटीरकोणे प्रज्वलन्नाशा-प्रदीपोयं यन्नो निर्वाणदशामभजदत्रादृष्टमेव प्रबलं कारणं मन्ये । भवतु, संकल्पं तं सफलयितुमनुकूलं काल प्रतीक्षमाणस्य चिन्ताचुम्बितचेतसो मे गणरात्रं व्यत्यगात् । अथैकदा प्रबन्धमुद्रणविचारं दृढीकृत्य ज्वालापुरीये महाविद्यालये वर्तमानेनानेन जनेन चिररात्राय चिन्तितोऽसौ विचारो विद्वन्मूर्धन्यानामभिन्न-हृदयानां सुहृद्वराणां श्रीभीमसेनशर्मणां पुरः प्रत्युपस्थापितः । ते तु हृष्टेन चेतसा प्रीति-विस्फारितेन चक्षुषा सप्रमोदमन्वमोदन्तेमं प्रस्तावम् । ततस्तदर्थमर्थचिन्तायामुपस्थितायां कतिभिश्चित्-सम्पदा-समर्थैः सुरभारती-भक्तैः साहाय्यकं वरणीयमित्यन्तो निरचीयत । रजतमुद्राणां शतकत्रयं कार्यस्यास्य संपादनेऽलमिति तदा निरधार्यत, पञ्चदश वा विंशतिर्वा संस्कृतसाहित्यरसिकाः स्वल्पशोऽप्यर्थमात्रां वितरेयुस्तदा खल्विदं मनोषितं सुकरं स्यात् कार्यपरिणतं विधातुम् । इत्यादिकं निर्धार्य श्रीभट्टाचार्याणां विद्योदय-सम्पादकमहाभागानां पुरतः प्रस्तावोयं पत्रद्वारा प्रहितः ।

प्रार्थिताश्च ते यदि तत्रभवन्तो भवन्तः प्रकाशयितुमिष्टानां निबन्धानां मनाग् दृष्टिपातेन पुनरालोचनया यथोचितं परिवर्तन-परिवर्धनादिकं तथाऽपूर्णानाञ्च केषाञ्चित् पूर्ति विधाय प्रकाशनानुज्ञयाऽनुगृह्णीयुस्तदा सुतरां चतुरस्रतामापन्ना इमे प्रबन्धा अस्माभिर्मुद्रयितुमभीप्सिताः। ते तु निसर्गदयालुतया वा स्वभावसौजन्य-प्रवणतया वाऽप्रचारपङ्कनिमग्नानां विद्योदय-नवीनां पुनरुद्धरदिदृक्षाप्रमोद-प्रेरणया वा प्रार्थनामिमां स्वीचक्रुः, हर्षप्रकर्षं प्रकटयन्तश्च लिखितवन्तः —

श्रीरामः शरणम्।

भाटपाड़ा, २४ पर्गना
१६ मार्च, १९१२

"स्वस्ति श्रीमत्स्वस्मास्वकृत्रिमस्नेहवत्सु पण्डितप्रवरेषु सादर विज्ञापनमेतत्—

श्रीमतां प्रत्यक्षरस्नेहसद्भावसूचकं पत्रं यथाकालमधिगतं मया। तदधिगत्याद्योपान्तं द्वित्रिः पठित्वा च धन्योऽस्मि संवृत्तः। मन्ये च तत्तत्प्रबन्धलेखन-परिश्रमं सफलं संजातमद्य। वस्तुतो नाहमस्मि तथाविधगुणानां पात्रं, ये खलु कृपालुभिः श्रीमद्भिर्मय्यारोपिताः। भवन्ति खलु लोकोत्तरमहिम सम्पन्ना विद्वांसः प्रायशोऽर्थवादनिपुणाः स्वभावत एव। मत्प्रशंसापराणि भवदीयश्रुतिमधुरवचनान्यर्थवादरूपाण्येव प्रतिभान्ति मे। एतैः किल वचनैश्चिरस्कृतज्ञातापाशेनाऽऽबद्धोऽस्म्यहम्। किं ब्रवीमि नास्त्यधुना बहु भाषितुं शक्तिर्मम। श्रीमद्भिः कृपया क्षुद्रेऽपि मयि या प्रार्थना कृता सा सर्वथैवानुमता। श्रीमन्तो यथेच्छं विद्योदयप्राचीननिबन्धान् मुद्रयितुं प्रभवः, किन्तु तैः सहान्यदीयप्रबन्धानां साङ्कर्यं न कार्यम्। अपिच ये नाम प्राचीनप्रबन्धाः श्रीमद्भिः पुनर्मुद्रयितुमीप्सितास्ते सर्वे कृपया मुद्रायन्त्रालये प्रेरणात् पूर्वं मत्सकाशे प्रेषणीयाः। अहन्तेषां स्थानविशेषेष्वावश्यकं परिवर्तनं संशोधनं च कृत्वा तथाऽसम्पूर्णनिबन्धस्य पूर्णतां विधाय, कामपि प्रस्तावनां लिखित्वा पूर्वं संयोज्य श्रीमत्समीपेऽविलम्बं पुनः प्रेषयि-
ष्यामि तान्। प्रेरयिष्यामि चोपरितनपत्रस्य (Title page) प्रकारप्रतिलिपिं तैः सह।

श्रीमतामेतत्साधुसंकल्पसमुत्साहितोऽद्य प्रबलवार्धक्यग्रस्तोऽपि पुनर्नवीनीकृतः। विद्योदयस्तु वार्धक्यसुलभशैथिल्यकवलितोऽपि नास्तमुपगतः। प्रकाशते सोऽद्युनापि; किन्तु मुद्राकरदोषेण न नियतसमयमनुसरति। यदि श्रीमतां सुहृत्सु केचिदनुग्रहेण जिघृक्षवो भवेयुस्तदा वात्सरिकं-करौप्यमूल्येन ते लभेरस्तम्……"

श्रीमतां—
हृषीकेशशर्म्मणः शास्त्रिणः।"

शास्त्रिणामित्थं स्वीकृतिमुपलभ्याहं तदुपकण्ठमुपाढौकयं मुद्रयितुमिष्टं प्रबन्धसंग्रहम्। ते तु तस्मिन् कुपितवातेव र्द्धक्यपीतसारे वर्षीयसि वयसि वर्तमाना अपि युवकजनसुलभनोत्स हेनातीवतत्परत्वेन निबन्धान् संशोध्य परिवर्त्य परिवर्ध्य च द्रागित्येव न्यवीवृतन्।

अथ मुद्रणचिन्ता चेतसि पदं चकार। क्रमुद्रयन्तामिति, विशेषचिन्ताकारणं तु—शास्त्रिणो ह्यात्मनैवान्तिमं मुद्रितं निदेशनपत्रम् Last proof। द्रष्टुमभिवाञ्छन्ति स्म। तैरित्थं स्वाभिलाषः पत्रे प्रदर्शितः—

"……श्रीमतां प्रूफपत्र-दर्शननैपुण्यं प्रति नास्ति मम स्वल्पोपि संदेहः, मत्तोप्यधिकाभिनिवेशेन श्रीमन्तः प्रूफपत्रं द्रक्ष्यन्तीति च मे निश्चयः। तथापि स्वकृति-ममत्वेनान्तिम-प्रूफपत्रं द्रष्टुं बलवती मे स्पृहा वर्तते। यदहरेव तदत्रागमिष्यति तदहरेव तदवलोक्य प्रतिप्रेषयिष्यामि; इत्थ न विशेषविलम्बशङ्का कार्या। यद्येव व्यवस्था मुद्रायन्त्राधिकारिणां भृशमसम्मता भवेत् तदाऽगत्या निरोधव्या मया सा स्पृहा"—(१३-१२-१९१२)

सर्वात्मनाभिनन्दनीयापि शास्त्रिवर्याणामियं स्पृहा कथं सफला विधेयेत्यपराऽप्रतिविधेया चिन्ता दुर्लङ्घ्या विघ्नशिलेव मनोरथपथमुपरुरोध। हन्त प्रतिहतगमनं गमनोन्मुखं कार्य-शकटम्! यतो नाऽभूत्कश्चन मुद्रणालयो निकटवर्ती येन श्रीभट्टाचार्याऽभिलषितानुरूपतया विधित्सितः प्रबन्धोऽनायासेन विधेलिमः स्यात्। ये हि मुद्रणालया मुद्रणसम्पदा सम्पन्ना विख्याताश्च साधु-मुद्रणकर्मणि, शक्ताश्चान्यत्र प्रूफपत्रप्रेषणे, ते द्रविणमात्रामतिमात्रामयाचन्त

सुलभाश्च दुर्विधास्ते तावति दूरे—दविष्टे भट्टपल्लीस्थाने—प्रूफपत्राणि प्रेषयितुं नानुमेनिरे। भीषणेयं समस्या-सुरसा दुष्पूरं विघ्न-वदन वितत्य पुरस्तादुपस्थिता! किमत्र प्रतिविधेयं, कश्च सुगमः पन्था अवलम्बनीयः!

अथ चेतसा संख्यायमानेषु सीसकाक्षरयोजकागारेषु श्रीदुर्गाप्रसादगुप्तेनाधिकृते कलकत्ता-नगरस्थान्यतममुद्रण-यन्त्रे दैवाद् दृष्टिर्निपतिता। मयाऽनुयुक्तो गुप्तमहोदयोऽल्पेनैव व्ययेन सहर्षं मुद्रयितुं प्रत्यज्ञास्त। प्रारब्धं च मुद्रण-कर्म। परं सर्वङ्कषो भगवती भवितव्यता केन वा निरोद्धुं शक्यते! प्रथमप्रूफपत्राणि सोत्कण्ठं प्रतीक्षमाणे शास्त्रिवर्ये मुद्रणालयतः पत्रप्राप्तेः पूर्वमेव दुर्दान्त-कृतान्त-प्रेरितो मृत्यु-व्याधिरतर्कितपातं प्रादुरभूत्। सिद्धौषधैरप्यसाध्येन प्राणाच यैर्भिषग्वरैरप्यचिकित्स्येन प्राणापहारिणा तेनाऽऽक्रान्ता भट्टाचार्यपादा स्तत्यजुः पाञ्चभौतिकं वपुः, सह प्रूफपत्र-दिदृक्षया, सुहृज्जनस्य वाष्पबिन्दुभिर्बान्धववृन्दस्य च निवापाञ्जलिभिः!

एवमसौ सुरभारत्याः सुपुत्रः संस्कृताम्भोनिधि-मन्दरः, गुणैर्गरीयान् यशसा महीयान्, विद्वन्माला-मध्यमणिः साधीयान् समर्थकः प्राचीनार्य-संस्कृतेः, अवष्टम्भो वर्णाश्रमव्यवस्थायाः, अवलम्बः साधुभाव-रोलम्बानाम्, उपघ्नस्तर्कोल्लेखनकला-लतायाः, पुम्भावापन्न-सरस्वती-मधुरझणत्कृतिरणत्कण्ठवर्तिनूपुरक्वाणो जन्मान्तरापन्नो बाणः सहसैव न्यलीयत। हा हन्त! कष्टम्!

"ध्वस्तः काव्योरु-मेरुः कविविपणिमहारत्नराशिर्विशीर्णः, शुष्कः शब्दौघसिन्धुर्विलयमुपगतो वाक्य-माणिक्यकोशः। दिव्योक्तीनां निधानं प्रलयमुपगतं हा हता हन्त वाणी, 'भट्टाचार्ये' द्युवाणी-प्रणयिनि विधिना शायिते मृत्युशय्याम्।"

हन्त भट्टाचार्याणामिदमन्तिमं मनीषितं (प्रूफ-पठन-रूपम्) नापूर्यत दैवहतकेन, सहैव नीत्वा लोकान्तरं जग्मुः। एवं प्रत्यूह-प्रतिरुद्धा मनोरथपथा नाम! सत्यमुक्तमभियुक्तैः—

"चिन्तयत्यन्यथा जीवो हर्ष-पूरितमानसः।
विधिस्त्वेष महावैरी कुरुते कार्यमन्यथा॥"

अथ सहैव नीत्वा प्रूफपठनाभिलाषां लोकान्तरं प्रस्थितेषु शास्त्रिपादेषु, केन विलोकयन्तां प्रूफ-पत्राणि, इति विचिकित्सायां समुपस्थितायां, श्रीभवविभूतिभट्टाचार्य-महाशयो मया विज्ञप्तः। क्रियतां, कार्यतां वा केनापि प्रूफपठन-निपुणेन कार्यमेतदिति। तेन तु सौम्य-शिरोमणिना प्रियवरेण प्रायः सर्व एव भट्टपल्लीनिवासिनः कलकत्तानगरीस्थाश्च परिचिताः पण्डिताः प्रार्थिताः, परं तेषु नैकोऽप्येतत्कार्य-सम्पादनपटुरुपलब्धः। कश्चिन्नागराक्षर-वाचनेऽसमर्थः, कश्चित् संशोधनकलानभिज्ञः। इत्यन्ततो गत्वाऽगत्याहमात्मानमेव तत्कार्यकरिष्णुं पश्यन्नप्रभविष्णुरपि तद्धुरि न्ययूयुजम्। एषु वासरेषु मया 'बुलन्दशहर'-प्रान्तीये' अहिहार-(आहार)— नामके ऽग्रहारे वसता विहारि-सप्तशत्या भाष्यं विरच्यते स्म। अहिहारस्य वाष्पयानावस्थानस्थानतो विदूरतरेन मुद्रितपत्र (Proofs) संशोधनपर्यावर्तने कालापेक्षिणी अभूतां, तथा च दशभिर्द्वादशभिर्वाऽहोभि रेकफर्मामुद्रणकार्यं सम्पद्यते स्म। एवंगते गते सार्धद्विमासे काले केवलं पत्रसञ्चय-षट्कमात्रममुद्रयत*। एतावतैव च प्रकीर्तितः श्रीमान् गुप्तमहोदयो मुद्रणालयात् सम्बन्धमच्छिनत्। तत्स्थानाभिषिक्तश्च नव्योऽभव्यः प्रबन्धकस्तावति दवीयसि स्थाने सशोधनार्थं प्रूफ-पत्राणि प्रेषयितुं नानुमेने। एवञ्च मुद्रणकार्यं व्यरंसीत्। तदनु शीघ्रमेव स वैदेशिको महाऽऽहवः प्रारभत। ततश्च कर्गलव्ययस्तेन च मुद्रणव्ययः एतन्मन्येऽपि प्रथमं साधारणत्वेन गण्यमाना अनेके व्ययाः पिण्डिता भूयांसं धनराशिमपेक्षांचक्रिरे। तस्य चात्र कुतः पूर्तिसम्भावना।

दुर्दैवादित्थं विरते मञ्जरी-मुद्रणे तत्र स्थापितानि मुद्रितपत्राण्यतायन्त, तानि च सद्मान्तः प्रघाणे निहितानि शनैः शनैरुपजिह्विकानां जिह्वालताभिराश्लिष्यन्ते स्म। मम बहिरवस्थानेन तत्पर्यवेक्षणस्य यथारीत्यभावात् सर्व-घस्मर-कालप्रतिनिधिभिरिव वम्रीभि र्भक्षितानि, कीटैः

* एतत्पुस्तकान्तर्गत ५४ पृष्ठस्थ-'भारतीयशास्त्रेषु कापीति'-पाठपर्यन्तो भागस्तस्मिन् प्राथमिके समुद्योगे मुद्रित आसीत्।

कवलितानि कारणात्मतामापन्नानि तानि। इत्थं सकृद् विहितः प्राथमिकः समुद्योगो नैष्फल्यमवाप्त्। परं मुद्रण-विचारविः शोकधूमायिता हृज्जरत्तृणनिकरेऽन्तरान्तरा प्रकर्षेण दीप्यतेस्म। हन्त! ये सुहृदोऽस्मिन् कर्मणि समुत्साहदानेन प्रावर्तयंस्तेष्वेकैकशो मामसहायं हित्वा देवलोके हृषीकेशपार्षद-रत्नतामिवाप्तुं 'नाधुना मञ्जरी-मुद्रण-प्रत्याशाऽपि, तानि मुद्रितानि पत्राण्यपि हापितानि; निराशा-मिहिका-मुकुलितेन पद्मेनेति' वाचिकमिव श्रीहृषीकेशं वक्तुं महाप्रयाणं दत्तवन्तः। अवसाने चाभिन्नहृदयं चित्रं; अपात्रं दुर्गुणानां; महाऽपात्रं सौजन्यस्य, पात्रञ्च साधुतायाः, महाविद्यालय-मुख्याध्यापको विद्वद्गरिष्ठवरिष्ठेनः श्रीपण्डित-भीमसेनोऽपि विमुच्य स्नेहं, भङ्क्त्वा प्रेमपाशं, गलहस्त-सौहार्दं, मामेकपदेऽजहात् †। तानि मुद्रणावशिष्टानि हस्तलिखितानि प्रबन्धपत्राण्यपि शनकैर्जीर्यन्ते स्म।

एवमतिक्रामति काले 'पद्मराग' (हिन्दीभाषामयं स्वकीय प्रबन्धसंग्रहं) मुद्रापयितुमहं गते श्रावणे मासि कलकत्तानगरं पर्यागतं, सह शास्त्रिवर्यस्य तेन निबन्ध-संग्रहेण। अवसिते 'पद्मराग'-मुद्रणे 'प्रबन्धमञ्जरी'-मुद्रणविचारः केषाञ्चिन्मित्राणां पुरतोऽस्थापयम्। यदि नाम प्रकाश्येरन्नमी प्रबन्धास्तदा भवेत् सुरभारती-समुपासकानां कृते किमपि कृतज्ञतास्थानम्। सन्तुष्येच्च दिवंगतानां श्रीहृषीकेशशास्त्रिणामात्मापि, मम च निर्वाण-मुपेयाच्चिरान्नाय चितेव चेतसि प्रज्वलन् मित्रऋणानपा-करणेन्धन-समिद्धश्चिन्तावह्निरिति। ते तु परोपकारायत्त-चित्ताः सहर्षं प्रस्तावेनामुना समगंसत। एषा संक्षिप्ता प्रबन्ध-प्रकाशन-प्रत्यूह-कथा।

अथ पुनरादत्त एव प्रारब्धमुद्रणकार्यं तच्चाजस्रमाधि-व्याधि-पराहतेन कर्तव्यानुरोधात् प्राणाधिकं परिश्राम्यतापि मया कथं कथमपि त्रिभिर्मासैः सम्पूर्णतामनीयत। परं दुर्गानन्दस्वामिभिरात्मवाक्योद्गारे भृशं प्रशमितस्य मुद्रा-यन्त्राधिदैवतस्य भीषण-विशावस्या ऽप्यमनीय दुर्दीरात्म्यान्न विशुद्धमुद्रणे साफल्यं लब्धमिति नितान्तं खिन्नोऽस्मि। लज्जितोऽस्मि च शास्त्रिमहाभागानां स्मारं स्मारं तां विशुद्ध-मुद्रणाभिलाषां यया प्रणोदितास्ते स्वात्मनैवान्तिमं प्रूफपत्रं द्रष्टुमाकाङ्क्षन्ति स्म। हन्त नायं मुद्रणावसरस्तज्जीवन-कालेऽलभ्यत। पश्चाद्विहितस्तु प्रयत्नो न तन्मनोरथानुसारं साधु समपद्यतेति क्षते क्षारमिवासह्यं प्रतिभाति, बलवद् दुनोति च मानसं; येनास्मिन् हर्षावसरेऽपि न सन्तोषोऽनु-भूयते। अद्यापराधमिमं मूर्ध्ना प्रणिपत्य क्षमापयितुं भृशं तरलिते चक्षुषी तं गवेषयतः प्रबन्धनवयुग-प्रवर्तकं विद्योदयविधातारं तत्रभवन्तं सुगृहीतनामधेयं भट्टाचार्यपादं, परमनवाप्य तं लक्ष्यशून्ये सती स्थिते भवतः। भवतु, नास्त्युपायः।

यद्यपि पुस्तकान्ते शुद्धिपत्रसंयोजनं नाम भारतीय-मुद्रायन्त्रमुद्रितेषु पुस्तकेषु शिष्टपरम्पराचारपरिप्राप्तत्वाद-वश्यानुष्ठेयतामावहतीति सार्वजनीनमेतत्। अतस्तदर्थं न किमपि विशेष-वक्तव्यमपेक्ष्यते। तथापि भट्टाचार्याणा-मन्तिमप्रूफपत्रदिदृक्षात्मिका बलवती सा 'स्पृहा', वारं वारं किमपि वक्तुं बलात् प्रवर्तयति। अतस्तद्विषयेऽत्र किञ्चिदुच्यते।

शास्त्रिभिः संशोधितप्रबन्धसंग्रहमधिकृत्य यानि द्वित्राणि पत्राणि मदन्तिके प्रहितानि, मन्ये तान्यधीत्य सुस्पष्टमेत-द्विद्विष्यति कथमशुद्धि-सद्भाव-शङ्का तज्जन्या चाऽन्तिम-प्रूफपत्र-दर्शन-स्पृहा तान् बलवद् व्याकुलयति स्म। अथ च विहितेऽपि प्रयत्ने किन्तत् कारणं येनाऽशुद्धीनां न सम्यङ् निराकरणं जातमित्यतस्तेषां पत्राणामत्र प्रकाशनमुचितं प्रतिभाति।

संशोधित-निबन्धजातस्य प्रत्यावर्तने विलम्बमवलोक्य मया तत्कारणं पृष्टाः शास्त्रिपादा एतदाशयकं पत्रं प्रेषित-वन्तः—"प्रबन्धेषु परिवर्तनादिकं वङ्गाक्षरैरनुष्ठितम्। नागराक्षरलेखने पटुरिदानीमत्र दुर्लभः। उपलब्धे तस्मिन् नागराक्षरैर्लेखयित्वा प्रेषयिष्यामीति विलम्बहेतुः।"—"भवन्तस्तु नागराक्षरविन्यासे स्वयं सुतरां समर्था आसन्, तत्तदक्षरैरेव परिवर्तनादिकं किन्न विहितम्, कथञ्च तदर्थ-मन्योऽपेक्ष्यते?"—एतदुत्तरे पत्रमिदं प्रहितवन्तः—

"...सत्यमहमनर्गल-नागराक्षरलेखन-समर्थ आसम्। सत्यञ्च मम लेखनीतो वङ्गाक्षरेभ्यो नागराक्षराण्यनायास-निर्गतानि बभूवुः। किन्तु "ते हि नो दिवसा गताः" इदानीं वार्धक्यसुलभदौर्बल्यपरिगृहीतोऽहं लेखने सर्वथैवापटुः

† एतद्-वियोगव्यथायाः करुणकथा तु 'पद्मरागे' पण्डित-श्रीभीमसेनशर्माभिधे निबन्धे द्रष्टव्या।

संवृत्तः । लेखनावसरे हस्तकम्पप्राबल्यात् न सुस्पष्टान्यक्षराणि निर्गच्छन्ति मे लेखनीतः । बाल्यसंस्कारवशाद् वंगाक्षरैः कथं कथमपि लिखितुं प्रभवामि । तत एव प्रबन्धांशविशेषपरिवर्तनादीनि वंगाक्षरैरेव कृतानि । भवतु, तानि पुनः नागराक्षरेषु सन्न्यस्यैव श्रीमतां समीपे प्रेषयिष्यामि ।" (५-१०-१९१२)

तदनु स्पष्टास्पष्टैः वक्रतया बाहुल्येन वंगलिपिमनुहरद्भिः नागराऽऽभासैरक्षरैर्लेखयित्वा शास्त्रिभिः प्रेषिताः प्रबन्धाः । तेषां सुस्पष्टैरक्षरैः मुद्रणयोग्यां प्रतिलिपिं छात्रैः कथमपि कारयित्वा सन्देहनिवृत्तये पुनस्तदन्तिके प्रेषितास्ते । तानवलोक्येदं विज्ञापयाम्बभूवुः शास्त्रिमहाभागाः—

"स्वस्ति श्रीमत्सु बहुप्रेमास्पदपण्डितकुलधुरन्धरेषु यथोचितप्रत्यभिवादनपूर्वक-सादर-सम्भाषणानि विलसन्तुतराम् । श्रीमतां 'अक्टोबर'—मासीय-षोडशदिवसीय-पत्रं तत्रोल्लिखित "भारतोदय"-पत्राङ्कद्वयञ्च यथासमयं समधिगतम् । पठितञ्च मया, विज्ञातञ्च वृत्तम् ।··· —प्रतिप्रेष्यते भवत्प्रेरितं प्रबन्ध-त्रयं; सर्वस्यैव च प्रबन्धस्यांशविशेषाः संशोधिताः परिवर्तिताश्च । अथ येन तथाविधपरिवर्तित-संशोधितांशा नागराक्षरेषु पुनर्लिखितास्तस्य नागराक्षरलेखे नाभ्यासो वर्तते । अयमेव च प्रथमोद्यमः । अथ स्थानस्थानेषु स्खलितान्यक्षर-विपर्यासाश्चावश्यंभाविनः । किञ्च मयापि दुःसहकण्ठक्षत प्राबल्यात्. जराशैथिल्याच्च प्रतिलेखनानन्तरं न समीक्षिताः प्रबन्धाः । अतः सानुनयं प्रार्थये श्रीमद्भिः स्वयमन्यैश्च संस्कृताभिज्ञैः साभिनिवेशमाद्योपान्तं पुनः प्रेक्षणीया एते प्रबन्धा येन सुविशुद्धा मुद्रिता भवेयुः । शक्यंचेन्मुद्रणावसरे सकृद् प्रूफपत्रं मम समीपे प्रेषणीयमहं तदविलम्बमेव प्रतिप्रेषयिष्यामि ।···—"

(३-११-१९१२)

पुनः पत्रान्तरे ऽप्ययमेवाभिप्राय इत्थं प्रकटितः—

······"एतान् प्रबन्धांशविशेषानवलोक्य ज्ञायते मया येन खलु प्रथममत्र मदीय-बङ्गाक्षरस्य नागराक्षरे परिवृत्तिः कृता, तेनैव स्थानस्थानेषु प्रमादः कृतः । ततश्च तल्लिखितनागराक्षरावबोधाक्षमेण श्रीमन्नियुक्तलेखकेनेति । कारणादेतस्मात् प्रबन्धानामपरेष्वप्यंशविशेषेषु प्रमादजनितासङ्गतिदोषस्यान्येषामपि भावविपर्ययादिदोषाणाञ्च सद्भावः शङ्क्यते मया । ततश्च सानुनयं विज्ञापयामि, यद्यत्र प्रूफपत्रं प्रेषितं न भवेत्तदा श्रीमद्भिः साभिनिवेशं सर्वं प्रूफपत्रं त्रिचतुरवारान् प्रसमीक्ष्य मुद्रणाज्ञा दातव्येति । यथा प्रबन्धानामेषामुपरि समादरस्थाने सम्यगनादरः सहृदयानां न भवतु । मम च प्रबन्धानिमान् द्वारीकृत्य विद्वत्समाजेषु किमपि दुर्यशो न भवेत् । तथैव सावधानं सम्पादनीयाः प्रबन्धा एते । सत्यपि श्रीमतां तथाविधकार्यसम्पादने स्वतः प्रयत्ने तस्य दार्ढ्यविधानायैव प्रार्थनेयं ममेति विज्ञातव्यमिति ।······" (६-२-१९१३)

निगदव्याख्यातमेतेन पत्रजातेन शास्त्रिणां तत्सर्वमपि शङ्काकारणम् । एवमेतदशुद्धिबाहुल्ये बङ्गाक्षरतो नागराक्षरेषु परिवृत्तिः, श्रीभट्टाचार्याणां पुनः प्रबन्धानामनालोचनम्, कृतेऽपि शोधने प्रेसकर्मचारिणामप्रणिविधेयः प्रमाद इत्यादीनि पिण्डितानि हेतुः (नतु हेतवः) मया तु मन्देन यथामपि बहुलं प्रयतमानेनापि स्वीयाऽयोग्यतया यत्र परितमशुद्धिनिराकरणं तेन महान्तमनुतापमनुभवामि । सुहृद्वरसाहित्याचार्यश्रीशालग्रामशास्त्रिमहोदयोपज्ञं पद्यरत्नमिदमीषत्परिवर्तितमुच्चार्य च क्षमाशीलान् प्रार्थनीयान् पाठकान् प्रार्थये :—

"दुर्मोषो दोषसंघः क्षणमपि न दृढा शेमुषी मानुषीयं
वारं वारञ्च प्रूफाण्यपि कलयतस्तत् त्रुटिर्न व्यगात् ।
अद्धा बद्धाञ्जलिस्तद्गुणगणनिकषान् प्रार्थये प्रार्थनीयान्
जोषं जोषं विदोषं कलयितुमखिलं जोषमेवाऽऽनतोऽहम्"।

इदमप्यत्र निवेदनीयं यद् भट्टाचार्यैर्मज्ञया मुद्रितमादिमं प्रबन्धत्रयमेव पुनरालोच्य विशोधितम् । तत्र तृतीयस्य उद्भिज्जपरिषच्छीर्षकस्य प्रबन्धरत्नस्य 'मनुष्यसृष्टिः खलु विधातुर्बुद्धिलाघवं प्रकटयतीति (पृ० ५६) इत्येतावत्पर्यन्तो भाग एव विद्योदयस्य प्राचीनाङ्केषु प्रकाशित आसीत्, ततः परं सर्वोऽप्यंशो मदनुरोधाद् विरच्य प्रबन्धपूर्तिर्विहिता । अन्यच्च प्राथमिके मुद्रणोद्योगे प्रथमं प्रबन्धत्रयमेव प्रकाशयितुं प्रस्तुत मासीत् । अपरे निबन्धास्त्विदानीं मुद्रणसमये यथामुद्रितमेव विद्योदयाङ्केभ्यस्त्वरित-त्वरितं सगृहीताः, शास्त्रिमिनते पुनरालोचिताः । एषु "दुर्गानन्दस्वामिन

आत्मवाचोरुद्गार:" प्रबन्ध: शताधिकपृष्ठव्यापी सुमहान् मनोहरश्च वर्तते; विस्तरभिया स्थालीपुलाकन्यायेन तस्य कियांश्चिदेवांशोऽत्र समुद्धृत:। यद्यस्य द्वितीयमुद्रणवेला लप्स्यते तर्हि तमविकलमखिलं मुद्रयितुमभिलषाय:, परमाधुनिकानां संस्कृतानुरागमाकलय्य दुर्विधमनोरथायितमेतत् प्रतिभाति ! भवतु, भूतभावनो भगवानेव वेत्ति, भविष्यति किं भविष्यतीति।

तदित्थं मञ्जरीविषये सर्वमन्यन्निवेदितप्रायं, येयं यादृशी चेति। इदानीं सदाचार-परम्पराप्राप्तं कृतज्ञता-प्रदर्शनपुर: सरं धन्यवाददानमवशिष्यते। तत्रादौ तत्रभवद्भ्य: सर्वतन्त्रापरतन्त्रप्रतिभेभ्य: परमाराध्य-गुरुवरश्रीदकाशीनाथशास्त्रिचरणेभ्यो ऽनेकश: प्रणामपूर्वकान् हार्दिकान् पर:सहस्रान् धन्यवादपुष्पाञ्जलीन् समर्पयामि। यै: खलु कृपापरवशै: शुभाशिषा सहामुया मञ्जर्या कृतार्थितोऽयं स्वीय: शिष्य-परमाणु:।

तदनु मान्येभ्य: सहृदय-सुहृद्भ्यो महामहोपाध्याय-पण्डितप्रवर-श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदमहाभागेभ्य: प्रयणगर्भान् बहुकृत्वो हृदयतलोद्गतान् धन्यराशीन् वितरामि, यै: खलु गुणगृह्यैर्विद्वच्चेतश्चमत्कारिणीं स्वलीयसीमप्यर्थगुर्वीं प्रस्तावनां तदन्तर्गतां पुस्तिकामुखावरणालंकरणभूतामदृभुतां सूनृतसूक्तिरूपां (मुद्रयति वदनविवरमित्यादिकां) आर्याञ्च विरच्य—विभूषितेयं मञ्जरी सुन्दरी; भट्टाचार्य-पाण्डित्यं निर्माय प्रशंसद्भिर्दर्शितञ्च सुमहत्सौजन्यम्।

भारत इव द्वीपान्तरेष्वपि पाण्डित्यप्रकर्षेण प्रथितमहिमानो महनीया भट्टाचार्य-सुहृद्वरा: श्रीमन्तो महामहोपाध्यायवर्या: श्रीहरप्रसादशास्त्रिमहात्मानोऽपि बहुलान् धन्यवादानर्हन्ति। अमीभिर्गिलशभाषामयीं शुभोदर्कां प्राक्कथनरूपां (Foreword) सम्मतिं विलिख्य विदितवेदितव्या व्यधायि राजभाषाभिज्ञा संस्कृतानुरागिणी पण्डित-मण्डली। (सम्पादकीयवक्तव्यसमाप्तौ सादरं सन्निवेशिता सा सम्मति:)

अन्ये चापि सम्मतिप्रदानेनानुग्रहकर्तार: पण्डितप्रकाण्डा: सुभृशं प्रशंसनीया बहुशो वन्दनीयाश्च, तेषामिममुपकार-भारमवनतेन मूर्ध्ना वहामि।

एवं प्रबन्धमुद्रणकर्मणि साक्षात् परम्परया वा प्रयोज्य-भावेन प्रयोजकभावेनार्थादि-साहाय्यदातृषु विश्वमित्र-सञ्चालक श्रीमूलचन्द्रमहोदयं, विशाल—भारतसम्पादकं प्रवासिजन-सुहृत्तमं श्रीबनारसीदासचतुर्वेदिनञ्च भूयो भूय: सस्नेह सदा संस्मरिष्यामि।

संवर्धयामि च भूयोभिराशीराशिभि: काव्य-वेद-व्याकरण-न्यायादितीर्थं सम्प्रति ज्वालापुरीये महाविद्यालये मुख्याध्यापक-पदभाज (स्वर्गीय-सुहृद्वर पण्डितभीमसेन-शर्मणां तनूजन्मानम्) प्रियवरं श्रीहरिदत्तशास्त्रिणम्। आयुष्मन्तं (साम्प्रतं हापुड़ निकटवर्ति - असौड़ ऽग्रहारीय-श्रीयुतदेवीसिंहचतुरधुरीणप्रतिष्ठापित सुप्रसिद्धदेशभक्त-श्री रघुवीरनारायणसिंहसंचालित- संस्कृतविद्यालयस्य मुख्याध्यापकं) काव्यालङ्कारतीर्थं श्रीकाशीनाथशर्माणं प्रेष्ठं ज्येष्ठञ्चात्मजम्।

इमौ हि मया 'प्रबन्ध-परिचय'—लेखने नियोजितौ, अनयोश्च सा कृतिर्मामसंभावितत्वाद् वा, आत्मीयत्वाद् वा, कृतिपाटवाद् वा ऽतूतुषत् कलया कलया। साधुकृतमित्युच्चारयन् वश्मि च तयो: प्रात्याहिकीं बालचन्द्रमस इवैधमानां लेखनशक्तिं ग्रन्थपरिशीलनभक्तिंच परेशम्।

एवं प्राय: संवृत्तमेव धन्यवाद-प्रत्यर्पणम्।

ओ: शिव शिव ! दिष्ट्या न कृतघ्नतापराधेन दूषितोऽस्मि, परत्रानेकगुणदेयर्णबन्धनान्मोचित आत्मा, यदयमागत: स्मृतिपथं देवभाषायामिव मातृभाषायामपि काव्य-कर्मण्यकुण्ठप्रतिभाप्रभो भव्यमूर्ति: सौजन्यनिधिर्विपश्चितामपश्चिम: सहृदयाग्रेसरो बहिरिवान्तरपि महत्या प्रभयोज्ज्वल: विभावसुरिव विप्ररूपधरो युवाप्यनूचान: श्रीमानपि श्रुतिमान् गांगेयभवन-स्वामी प्रियपण्डित: श्रीगांगेयनरोत्तम: शास्त्री। येन महानुभावेन न केवलं मञ्जरीमुद्रणे प्रत्युत स्वभवने वसतिं प्रदाय मम प्रवासक्लेशहरणे च बहु बहु साहाय्यकमाचरितम्, सर्वथाऽऽत्मीयजननिर्विशेषं समुदार—सभ्योचितंच व्यवहृतम्। तत्किं बहुविषयावाचां परिपाठ्या, साक्षि केवलं तस्मै अस्तु साधुवादान् ददिदं कृतज्ञतापाशबद्धं मनान्तरङ्गम्।

मंजरीकारस्य गुणैर्गरीयान् मध्यमः सूनुः सुतरां सौम्यस्वभावो मूर्त इव विनयो विद्याभूषणः श्रीमान् पण्डितवरः श्रीभवविभूतिभट्टाचार्य-एम०ए०-महोदयोऽप्यत्र सुभृश प्रशंसनीयः। नितरां स्निह्यति मम मानसमस्मिन्, पुत्ररूपेण वर्तमानं श्रीहृषीकेशमेवाऽत्रैमि तमेन प्रियवरम्।

प्रियचन्द्रदत्तशास्त्री श्रीभगीरथशास्त्री चापि धन्यवाद-पात्रं मन्ये तेन तेन कर्मणा। प्रूफपठनादिकर्मणि साहाय्य-माचरन् प्रियगोपालचन्द्रोप्याशीर्भाजन समजनि।

आयुष्मान् प्राणेभ्योऽपि प्रेयान् कनीयांस्तनयो राम-नाथोऽपि मजरीकृते सुचिरं प्रवासस्थेन मया स्नेहप्राप्तिवञ्च-नक्लेश प्रापितोऽपि धैर्यमत्यजन् काव्यकुटीर-कार्यकलापञ्च यथाविधि निर्वहन् हार्दिकेनाऽऽशीर्वचसा संयोज्यते। एवम्—

"अन्ये चापि महाभागा नामतो न स्मृता इह।
ये ते सर्वे प्रसीदन्तु धन्यवादान् भजन्तु च॥"

उपसंहृतौ चेद भूयोऽपि सविनयं विनिवेद्य विद्वत्सु विरमामि—

"मूर्ध्नाऽहं विदुषां प्रणम्य बहुशः पादाविदं प्रार्थये,
यन्मौढ्यत्वतोऽर्थतश्च गलितं भ्रष्टं तथा मुद्रणे।
तत्तत्सर्वमिदं सुशोध्य कृपया पश्यन्तु सन्तोऽनघा,
दोषान्मेऽविगणय्य दूषणनिधेर्दोषे गुणग्राहिणः।"

इति।

विदुषां वशंवदः
पद्मसिंह शर्मा
(सम्पादक)*

---

* प्रस्तुत भूमिका आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'प्रबन्ध-मंजरी' के सम्पादकीय वक्तव्य के रूप में लिखी थी, जिसकी भाषा और शैली की विद्वानों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। सं०

परिशिष्ट

[सञ्जीवन भाष्य एवं सरलार्थ बोधिनी टीका का शेष अंश]

एक सौ बारह

धरे रूप गुन कौ गरब

[नायक के दूसरे विवाह के अवसर पर सपत्नी के दुःख का अनुभव न करती हुई, रूपगुण गर्विता नायिका के उल्लास का वर्णन सखी करती है। जो सौत दुस्सह काँटे के समान खटकने वाली होती है, उसका तनिक भी यह दुःख यह नायिका, नायक के दूसरे विवाह के अवसर पर मान ही नहीं रह.। अपने रूप और गुण का गर्व धारण किये हुये वह पति के विवाह में अत्यन्त उत्साह से घूम रही है। —स०]

स्वकीया रूपगुणगर्विता-वर्णन

(११२)

दुसह सौति सालै जु हिय गनति न नाह विवाह।
धरे रूप गुन कौ गरब फिरै अछेह उछाह॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थः — (जु सौति हिय, दुसह सालै)—जो सौत हृदय के लिए दुःसह शल्य—कांटा—है। अथवा जो सपत्नी दुःसह है, और हृदय में खटकने वाली है, (गनति न)—उसे यह गिनती ही नहीं ! (रूप गुन कौ गरब धरे)—रूप और गुण का गर्व धारण किये, (नाह विवाह)—पति के विवाह में, (अछेह उछाह फिरै)—अत्यन्त उत्साह से फिरती है।

नायक का दूसरा विवाह होने लगा है। सपत्नी का दुःख स्त्रियों के लिए असह्य होता है, यह एक ऐसा कांटा है कि जो किसी भी स्त्री के जी में बिना खटके नहीं रहता। परन्तु अपने लोकोत्तर रूप और गुण के गर्व में भरी हुई नायिका को इसकी ज़रा भी परवाह नहीं कि उसके सिर पर सौत आने वाली है। वह इस विषाद के अवसर पर और भी अत्यन्त उत्साह में फिर रही है। सपत्नी की समीपता में मेरे रूप और गुण और भी अधिक चमकेंगे, यह उसे दृढ़ निश्चय है। इसी से वह धृति धारण किये और उत्साह से भरी फिरती है।

अलंकारः — तीसरी "विभावना" सपत्नी, उत्साह का प्रतिबन्धक कारण है, तो भी "अछेह उछाह"—कार्य हो रहा है। अथवा, पांचवी विभावना, विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति हुई। "वृत्त्यनुप्रास" स्पष्ट ही है।

श्री प्रताप—' गनति न या एक क्रिया तें "तुल्य-योगिता"—भी कहते हैं।

एक सौ तेरह

दुलहिनि दुगुन हुलास

[प्रियतम को सुघर (सुन्दर) सौत के बस में सुनकर नवोढ़ा दुलहिन को दूना उल्लास हुआ कि वह तो केवल रूपवती है, मैं तो गुणवती भी हूँ, अतः प्रियतम मेरे ही वश में रहेंगे। इस दूने उल्लासवश वह सखी की तरफ देखती हुई गर्व और लज्जा से हँसी। रूप और गुण का गर्व लज्जा के साथ प्रगट करती हुई सपत्नी के प्रति उदारता के भाव से हँसी। —स०]

(११३)

सुघर सौति बस पिय सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब सलज सहास॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थः— (पिय सुघर सौति बस सुनत)—प्रिय को सुघड़–चतुर–सपत्नी के वश में सुनकर (दुलहिनि दुगुन हुलास)—दुलहन– नवोढा को दुगुना उल्लास—हर्ष —हुआ, (सखी तन दीठि करि)—सखी की ओर दृष्टि करके (सगरब, सलज, सहास, लखी)—गर्व लज्जा और हँसी से देखा।

नवोढा नायिका ने जब यह सुना कि उसका पति सुघड़ सौत के वश में है, तो इससे "सौतिया डाह" नहीं किन्तु उसे दुगुना हर्ष हुआ। दुगुना यों कि पति सुघड़ सौत के वश में है तो स्वयं भी 'सुघड़' होगा, इसलिए उसे अपने वश में करना सुगम है। सपत्नी तो केवल सुघड़ ही है, मैं सुघड़ और रूपवती दोनों हूँ, मेरे रूप और गुण के आगे सौत की एक न चलेगी।

गर्व, लज्जा और हास्य का अभिप्राय यह है कि 'गर्व' तो अपने रूप गुण का। 'लज्जा' नवोढा पन की। लज्जाहीन गर्व ढिठाई का सूचक होता है। 'हास्य' उदारता का सूचक, कि यह सुनकर मुझे वहुत हर्ष हुआ बहुत अच्छा है जो ऐसा है!

'दुगुन हुलास' के कारण की व्याख्या टीकाकारों ने कई प्रकार से की है।

यथाः— "दुगुनो हुलास आनन्द, मो मैं रूप भी है चतुराई भी है यातें।" (हरि कवि)

"एक तो हुलास ब्याह का था ही, दूसरा पति के सुघड़ापे का हुआ········ इत्यादि, (रस चन्द्रिका)

अमर चन्द्रिकाकार ने प्रश्न किया है कि:— "हुलास दुगुना नहीं, तिगुना कहना चाहिए, क्योंकि उत्तरार्ध में गर्व, लाज, हास ये तीन भाव हैं।"

उत्तर यह दिया है कि— "गुण और रूप के गर्व को मुस्कराहट से प्रकट किया।"

—अर्थात् हास्य, हर्ष ही का सूचक है। उल्लास के त्रित्व का द्योतक नहीं। इनके मत से दुगुने हुलास का कारण नवोढा का रूप-गुण सहित, नूतन वय है। अर्थात् मैं नयी हूँ वह पुरानी है। वह केवल सुघड़ ही है, मैं सुघड़ और सलोनी—सुरूपा—दोनों हूँ।

लल्लूलाल जी कहते हैं—"तात्पर्य्य यह है कि एक तो अपना गुण-रूप अधिक जानती थी, दूजे समझी जो सघड़ के बस हुआ तो सुघड़ मैं ही हूँ, मेरे ही अधीन होगा, वह चार दिन की आई क्या चतुरी होगी।"·······

लल्लूलाल जी की इस पिछली पंक्ति ने दोहे का भाव ही उलट दिया! इनके मत में यह 'दुगुन हुलास' 'दुलहिनि' को नहीं हो रहा, न उसने गर्व और लज्जा

पूर्वक मुसकराकर सखी की ओर देखा ही है, किन्तु जिस सुघड़ सौत के वश में नायक है वही अपने सुघड़ापे पर इतरा रही है, वही अपना गुण रूप अधिक जानती है। किसी से यह सुनकर कि नायक सुघड़ के बस हुआ, उसे शायद कुछ संदेह हो गया, फिर सोचकर समझी कि 'वह सुघड़' मैं ही तो हूँ ! जरूर मेरे ही अधीन होगा ! मेरे आगे– मुझ पुरानी खुर्राट के आगे—चार दिन की आई वह दुलहिन क्या चतुरी होगी ! अस्तु।

अलंकार—चौथी, "विभावना"। "पर्याय"—"एक दीठि में अनेक को वास, यातें।"—"तुल्ययोगिता"—गर्व लाज हास सहित लखी, या एक क्रिया तें।"

(प्रताप चन्द्रिका)

एक सौ चौदह

किये निचौहें नैन

[प्रिय के बहुत हठ करने पर प्रिया होठों में हँसती हुई, हाथ ऊँचे किये और लज्जा से आँखें नीची किये हुए, प्रियतम के मुँह में पान का बीड़ा दे रही है। —स०]

(११४)

सि ओठनि बिच कर उचै किये निचौंहें नैन।
खरे अरे पिय के प्रिया लगी बिरी मुख दैन॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ:— (ओठनि बिच हँसि) होठों में हँसकर (कर उचै)—हाथ ऊँचा किए, (नैन निचौहैं किये)—आँखें नीचे झुकाए, (पिय के खरे अरे)—प्रिय के बहुत हठ करने पर, (प्रिया मुख बिरी दैन लगी)—प्रिया नायक के मुँह में बीड़ी देने लगी।

संयोग शृङ्गार। नायिका मध्या। हर्ष, त्रपा संचारी। विलास हाव। नायक को हर्ष सञ्चारी।

—नायक ने अड़ लगायी है कि मैं तुम्हारी बनायी हुई पान की बीड़ी तुम्हारे ही हाथ से खाऊँगा। लगाकर लाओ भी तुम्हीं और मुँह तक भी तुम्हीं पहुँचाओ ! तो वह मुसंकराती हुई हाथ ऊचा किए और लज्जा से आँखें झुकाए सजन के मुँह में पान की बीड़ी दे रही है। प्रिय की प्रेम भरी अड़ (हठ) को पूरा कर रही है ! इस अनोखी अड़ पर होठों पर हँसी आ रही है। नायिका बाला या मध्या है, लज्जा से नेत्र नीचे हो रहे हैं, और हाथ बीड़ी लिए मुख की और बढ़ रहा है ! बहुत सुन्दर "स्वभावोक्ति" है ! दशा विशेष में बीड़ी देने का बड़ा अच्छा वर्णन है।

लल्लूलाल जी कहते हैं कि—

"यहाँ बीड़ी का अर्थ दांत रंगने की बीड़ी का है, पान का नहीं। और जो पान का अर्थ लीजे तो नेह की हीनता है, क्योंकि पान तो खाते ही हैं।"—

'रस चन्द्रिकाकार' भी ऐसा ही कहते हैं :—

'बिरी, सो हेत यह है कि जिस सौं दांत रंगें हैं, सो नायक के देने को अरी है। और जो बिरी पान की ही कहिए तो या को (प्रिया को ?) अरना नही चाहिए क्योंकि नेह की हीनता है—"

परन्तु यह ठीक नहीं। रसचन्द्रिकाकार के कहने का अभिप्राय तो यह मलूम होता है कि

'प्रिया प्रिय के दांत रँगने को अड़ी है. प्रिय दांत रँगाना नहीं चाहता, और वह ज़िद कर रही है कि नहीं ज़रूर रँगूंगी !'' पर ऐसा नहीं है। 'खरे अरे' का सम्बन्ध (अन्वय) 'पिय' के साथ है । अर्थात् पिय की अत्यन्त हठ पर वह पान की बीड़ी उसके मुंह में दे रही है। सहृदयों की दृष्टि में इसमें स्नेह की हीनता नहीं, प्रत्युत प्रेम की पराकाष्ठा है ! यदि ऐसा समझें कि दांत रँगने की बीड़ी लिए वह अड़ रही है, तो फिर उसकी हँसी का होठों तक ही रहना और आंखें नीचे को झुकाना कैसा ? ''मांगने निकले और पीठ पीछे भांडा'' । उसे तो खूब झकझोरी करके, अट्टहास पूर्वक आंखें दांतों पर जमाकर— (कहीं इधर उधर का रँग न लग जाय इसलिये)—अड़ना चाहिये था !

लल्लूलाल जी ऊपर (अर्थ में) तो लिखते हैं ''बहुत हठ करने से नायक के, नायका लगी बीड़ी मुख में देने''— और फिर 'रसचन्द्रिकाकार' के स्वर में स्वर मिलाकर ''नेह की न्यूनता'' भी बतलाते हैं, ! इनका अभिप्राय शायद यह है कि ,'प्रिय दांत रँगाने के लिए अपना मुँह फैलाए बहुत हठ कर रहा है, परन्तु खुशी से प्रिया ऐसा करना नहीं चाहती, उसे प्रिय की इस अनुचित हठ पर हँसी और लज्जा आ रही है ।'' न जाने इन्होंने इसमें स्नेह की क्या अधिकता सोची है, जो ''पान की बीड़ी'' को ज़बरदस्ती ''दांत रँगने की बीडी'' बना रहे हैं ! ''क्योंकि पान तो खाते ही हैं''— यह भी एक ही हुई । होने को तो सब कुछ होता है। पर, अवस्था विशेष में साधारण सी बात भी चमत्कारजनक हो जाती है। हठ करने वाले और पान देने वाली की दशा पर दृष्टि डालिए तो यही साधारण बात एक असाधारण और अत्यधिक मनोरंजक घटना प्रतीत होगी ! कृष्ण कवि ने भी बीड़ी का अर्थ पान की बीड़ी ही किया है :—

' कान्ह कही अतिही हठ कै तब राधिकाके जियमें यह आई,
ग्रीव नवाय दुराय कपोल किये नत नैन कछु मसकाई।
बीरी बनाय, लई करकंज खवैबे को मंजु भुजा उकसाई,
यों हित की सरसाई बिलोकि भई मनमोहन के मन भाई।''

परमानन्द कवि ने भी 'बिरी' का अनुवाद (नागवल्लीदलम्)— 'पान की बीड़ी''—ही किया है । यथा :—

''अनुनीता नतलोचना स्मितवदना रमणेन ।
तदा नागवल्लीदलं बाला ददौ करेण ॥''

'पान की बीड़ी' देने का वर्णन विहारी ने दूसरी जगह और भी किया है । (वहां श्री लल्लू लाल जी ने भी ''बिरी'' का अर्थ ''पान की बीड़ी'' ही किया है)। यथा :—

''नाहिं नहीं नाहीं ककै † नारि निहोरे लेय।
छुवत ओठ बिच † आंगुरिन बिरी बदन प्यौ देय ॥''२४७

पहले प्रसंग में (११४वें, दोहे में) नायक की अड़—हठ— पर नायिका उसके मुंह में बीड़ी दे रही है। और यहां (२४७वें, दोहे में) नायक आग्रहपूर्वक नायिका को बीड़ी खिला रहा है।

अलकार— ''जाति''— (स्वभावोक्ति) या ''हेत्वलंकार'' (हरिकवि)। ''कारक दीपक'', ''छेकानुप्रास''— (श्रीप्रताप)

---

† पाठान्तर—''नाक मोरि नाहीं ककै'—''छुअत ओठ पिय (विय) आंगुरिम बिरी बदन तिय देय'' ।

एक सौ पन्द्रह

आधी हँसी उसास

[सौत के पग पर फैले हुये महावर को देखकर नायिका ने अवज्ञा के भाव को लेकर हँसी की कि यह फूहड़ है। पर सपत्नी को लज्जा के साथ हँसते हुए देखकर आधी हँसी में ही उसने दीर्घोच्छ्-वास लिया, कि यह बिथुरा हुआ महावर इस फूहड़ सौत का लगाया नहीं है अपितु प्रियतम द्वारा प्रेमवश उसके पैर पर लगाया गया है, जो सात्विक भाव के उदय होने से पसीने से फैल गया है। —स०]

(११५)

बिथुरयौ जावक सौतिपग निरखि हँसी गहि गांस।
सलज हँसौंहीं लखि लियौ आधी हँसी उसास॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(सौति पग, बिथुरयौ जावक निरखि)—सपत्नी के पांव में बिथुरा हुआ— अस्तव्यस्त लगा हुआ, फैला हुआ— महावर देखकर, (गांस गहि, हँसी) - ईर्ष्या या अवज्ञा के भाव को लेकर हँसी। (संलज हँसौंहीं लखि) पर सपत्नी को लज्जा सहित हँसते देखकर, आधी हसी उसास लियौ)— आधी हँसी में दुःख से दीर्घोच्छ्वास लिया।

जावक को बिथुरा हुआ देखकर, यह समझकर हँसी थी कि यह कितनी फूहड़ है जो इसे जावक लगाना भी नहीं आता! पर जब उसे लज्जित और हँसते हुए देखा, तब उसकी इस चेष्टा से यह जानकर दुःख का सांस लिया कि यह (महावर) इसका लगाया हुआ नहीं है, किन्तु प्रिय ने लगाया है, इसी कारण बिखरा हुआ है, लगाते समय प्रिय को सात्विक प्रस्वेद हो आया है, इसी से यह फैल गया है। सपत्नी ने लज्जा और हँसी के भाव से यह जतला दिया कि यह मेरा लगाया नहीं है जो तू मुझे फूहड़ समझ कर हँस रही है, किन्तु प्रिय ने स्वयं अपने हाथ से लगाया है, जो सात्विक पसीने से बह गया है! बेचारी की हँसी पूरी भी न होने पाई थी कि आधी हँसी में ही दु.ख का साँस लेना पड़ गया! अफ़सोस!

अलंकार—तीसरा 'विषम" जो बात इष्ट—हर्ष—का कारण समझी थी वही अनिष्ट— दुखदाई हो गई। अथवा—"हेत्वलंकार"।

"हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णन हेतुरुच्यते।"

—हेतु: विथुरा जावकं, हेतुमान् (कार्य्य) हंसी का एक साथ वरान है। या "सहोक्ति" भी हो सकती है, आधी हँसी, उसास के साथ हुई!

इसी भाव की एक आर्या भी है :—

'अलुलितसकलविभूषां प्रातर्बालां विलोक्य मुदितं प्राक्।
प्रियशिरसि वीक्ष्य यावकमथ निःश्वसितं सपत्नीभिः॥१८॥"

—प्रातः काल यह देखकर कि बाला नायिका की सब सजावट ज्यों की त्यों बनी है, पहले तो सपत्नियाँ प्रसन्न हुईं, परन्तु पीछे यह देखकर कि प्रिय के माथे पर यावक—महावर - लग रही है, उन्होंने लम्बा सांस लिया!

अर्थात् सपत्नियों ने यह समझा था कि यह रात पति-समागम से वञ्चित रही है—पति ने इसकी बात नहीं पूछी, क्योंकि वेषभूषा की सब सजावट ज्यों की त्यों बनी है, पतिसमागम होता तो यह सजावट जरूर मली दली जाती। परन्तु पति के माथे पर महावर लगी देखकर वे समझीं कि ओह, यह तो उलटी बात निकली! प्रिय ने

पैरों पर सिर रखकर इसे मनाया, तो भी नहीं मनी ! यह 'दुर्भगा नहीं, परम 'सुभगा' है, इसके पैरों की महावर, मनाते समय प्रिय के माथे पर लग गई है, पर यह मान छोड़कर तोभी नहीं मिली, इसी से "अलुलितसकल-विभूषा" है !

आर्या के—"यावकं", "निःश्वसितं", "विलोक्य", "मुदित" । और दोहे के—जावक, निरखि हँसी, उसास लियौ"—एक है। परन्तु बिहारी के दोहे में सपत्नी को हँसने और सांस लेने के लिये दो जगह देखना नहीं पड़ा —उसे पति का महावर में सना हाथ देखना नहीं पड़ा—अभी हँसी पूरी भी न होने पाई थी, कि बेचारी को उलटा साँस भरना पड़ गया । इशारे ही इशारे में हँसी दुःख में बदल गई, न किसी को कुछ कहना सुनना पड़ा, न कहीं इधर उधर देखना भालना ! बड़ा चमत्कार है ! आर्या के "प्रियशिरसि वीक्ष्य यावकं" वाक्य ने विस्पष्ट करके ध्वनि को कुछ दबा दिया । इस कारण 'आर्या' गुणीभूत व्यंग्य होने से मध्यम, और दोहा ध्वनिप्रधान व्यंग्यपूर्ण होने से उत्तम काव्य है ।

एक सौ सोलह

छला परौसिनि हाथ तें

[पड़ोसिनि के हाथ में नायक की प्रेम की निशानी जो अँगूठी पड़ी थी, उसे पहचानकर नायिका ने किसी बहाने से उसे पड़ोसिनि से ले लिया । फिर उस अँगूठो को स्वयं देखकर क्रोध भरी मुस्कराहट से प्रिय को दिखलाया कि देखिए पहचानिये यह आप ही की अँगूठी है ? —स०]

(११६)

छला परौसिनि हाथ तें छल करि लियौ पिछानि ।
पियहि दिखायौ लखि बिलखि रिस सूचक मुसकानि ।।

(सखी का वचन सखी से) —

अर्थ :-(छला पिछानि)–छल्ला पहचानकर (परौसिन हाथतें, छलकरि लियौ)—पड़ौसन के हाथ से एक बहाने से ले लिया । (लखि)–अपने आप देख कर, फिर (बिलखि, रिससूचक मुसकानि)—बिलख कर क्रोधसूचक मुसकराहट से (पियहि दिखायौ) – प्रिय को दिखलाया !

पड़ौसन के हाथ में नायिका के प्रिय की (प्रेम की निशानी) अगूठी पड़ी थी, सो नायिका ने पहचान ली और यह बात भी जान ली कि इसके पास यह क्यों आयी है । किसी बहाने से उसके हाथ से अंगुठी ले ली, एक बार फिर ध्यान से देखा कि वही है, कहीं धोखा तो नहीं हुआ । जब निश्चय हो गया तो क्रोध मिली हुई मुसकराहट से प्रिय को दिखलायी कि देखिए पहचानिए, यह आप ही की तो अंगूठी है न ? क्यों कैसी चोरी पकड़ी है ! न कहोगे !

अलंकार— "सूक्ष्म" — क्रोध सूचक मुस्कराहट से यह सूचित किया कि तुम्हारी चोरी पकड़ी गई । छल्ले के वहाँ पहुंचने का कारण मालूम हो गया !

"पर्यायोक्ति" —छल से छल्ला लेकर अपना इष्ट सिद्ध किया "कारक दीपक" — एक छल्ले में (पहचानना, छल से लेना, देखना, दिखाना, इत्यादि) अनेक भाव में ।

—"कारक दीपक एक में क्रमतें भाव अनेक ।"

एक सौ सत्रह

लखि बेनी के दाग

[मृगनयनी नायिका किसी अन्य नायिका की वेणी (चोटी) के दाग शय्या पर देखकर शय्या पर पैर नहीं रख रही है। अत्यन्त क्रोध और उदासीनता से भरी हुई, आँसू टपकाती हुई खड़ी उस दाग को देख रही है। —स०]

(११७)

बिलखी लखै खरी खरी भरी अनख बैराग।
मृग नैनी सैनन भजै लखि बेनि के दाग॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थः—(बिलखी खरी लखै)—आंसू टपकाती हुई, खड़ी देख रही है, (खरी अनख बैराग* भरी)—अत्यन्त क्रोध और वैराग— उदासीनता या नाराज़गी से भरी है (बेनि के दाग लखि)—अन्य नायिका की वेणी (चोटी) के दाग देखकर (मृगनैनी सैन न भजै)—मृगनयनी नायिका शय्या पर नहीं आती।

दूसरी स्त्री की चोटी के दाग़ चारपाई की चादर पर लगे देखकर मानिनी नायिका, क्रोध और उदासीनता से भरी खड़ी बिलख रही है, चारपाई पर पैर नहीं रखती !

अलंकार —"काव्यलिङ्ग"— चारपाई पर न आने का समर्थन बेनी के दाग से किया।

"काव्यलिङ्ग" और 'छेकानुप्रास" की संसृष्टि"
(अनवरचन्द्रिका)

वृत्त्यनुप्रास—(श्री प्रताप)—
"मृगनैनी" में उपमान-वाचक धर्म-लुप्ता, "उपमा"
(हरिकवि)

—"मृगनैनी"—मृग के नयन से नयन हैं जिसके। मृग नेत्रों का उपमान नहीं है, किन्तु 'मृग के नयन' उपमान हैं। जो यहाँ लुप्त है मृगपद से लक्षणा द्वारा मृग के नैनों का बोध होता है। वाचक- 'से' "लौं" —इत्यादि पद भी लुप्त हैं। "धर्म"—बड़े, कजरारे इत्यादि भी नहीं हैं। केवल "नैन" उपमेय हैं। इसलिए बड़ी बढ़िया "उपमान वाचक-धर्म- लुप्तोपमा" है।

कुछ इसी प्रकार के प्रसंग में "बेनी के दाग" का उल्लेख अमरुक ने भी किया है यथा—

"वक्षस्ते मलतैलपंकशबलैर्वेणीमर्दैरंकितम्"

यहां ऋतुस्नानोन्मुखी नायिका को आलिङ्गन करने से नायक की छाती पर तैल-पंक स्निग्ध वेणी की छाप लगी है। बिहारी ने "सैन"—शयन- चारपाई (चारपाई की चादर)—पर बेनी के दाग दिखलाये हैं।

---

* "बिलखी-आंसू झारती। वैराग्य को-अर्थ इहां वेराजीपनो—अरुचि जानिए।" (हरि)। 'वैराग' को अर्थ उदासी को है" (रसचन्द्रिका)

एक सौ अट्ठारह

ढीठ परौसिनि ईठ ह्वै

[नायिका के पति से प्रच्छन्न प्रीति रखने वाली पड़ौसिनि ने, नायिका की मित्र बनकर, नायक के लिये जो संदेसे चतुराई से कहे, यह प्रगट नहीं किया कि वह अपना प्रेम-संदेसा इन शब्दों में नायक को दे रही है, अपितु यह भाव प्रकट किया कि तू अपनी प्रीति नायक से उन शब्दों में प्रगट करना; उन संदेशों को, उनके असली रूप में भाँप कर, नायिका ने उसे नायक से निवेदित कर दिया और सब कह देने के बाद, अपनी अर्थ भरी मुस्कराहट से अपना मान भी प्रकट कर दिया। —स०]

(११८)

ढीठ परौसिनि ईठ ह्वै कहै जु गहै सयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसकाहट में मान॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(ढीठ परौसिनि)—ढीठ पड़ोसन ने (ईठ ह्वै)—मित्र बन कर (जु सयान गहै कहै)—जो संदेसे चतुराई से कहे, (सबै संदेसे कहि)—उसने वह सब सन्देसे कहकर—(मुसकाहट में मान कह्यौ)—मुसकाहट में मान कह दिया—प्रकट कर दिया।

इस पड़ोसन की प्रच्छन्न प्रीति नायिका के पति से है। यह 'सहेट' का संकेत करने या मिलने की घात में नायक के घर आयी है। नायक उस समय वहाँ उपस्थित न था, मैदान खाली पाकर—मौका हाथ से जाता देखकर—पड़ोसन ने नायिका से मित्रता गांठी—उसे भोली भाली और अपने छल छन्द से बेखबर समझकर उसके द्वारा—उसे ही दूती बनाकर—अपने आने की सूचना और गूढ़ सदेसा नायक तक पहुँचाने के लिये, कुछ इस ढंग और चतुराई से कहा कि मानो इसमें नायिका ही का कुछ हित छिपा हुआ है—उसी की भलाई के लिये नायक से कुछ कहने सुनने वह आयी है। इस प्रकार नायिका-को चकमा देकर 'ढीठ पड़ोसन' चलती बनी। नायिका इस भेद को भांप गयी—पड़ोसन के आने और संदेसा कह जाने का रहस्य समझ गयी। जब नायक आया तो नायिका ने पड़ोसन-का सिखाया पढ़ाया संदेसा कह सुनाया। संदेसा सुनाकर पीछे से कुछ इस अदा से मुसकरा दी जिसमें ईर्ष्या-मान की झलक थी—मुसकराहट से जतला दिया कि इस संदेसे का मतलब मैं समझ गयी! जिस लिये तुम्हारी टोह में वह यहाँ आयी थी मैं जान गयी!

इस दोहे का भाव कुछ अस्पष्ट है। प्राय: सब टीकाकारों ने इसकी भिन्न भिन्न व्याखाएँ की हैं। अमर चन्द्रिकाकार ने—

"याको अर्थविधि कठिन है ताको निर्वाह भूमिका"—

यह लिखकर इस पर एक "वार्ता" (भूमिका) लिखी है जिसका सारांश यह है कि—"जिस पड़ोसन से नायक को हँसते देख, नायिका ने मान किया है, वही ढीठ पड़ोसन नायक के कहने से उसे समझाने आयी है, सो वह नायिका की मित्र बनीं—मानो नायिका की बड़ी हितैषिणी है, हितबुद्धि से उसका भ्रम दूर करने आयी है! बड़ी चतुरायी से नायक की निरपराधता सिद्ध कर रही है, सब सँदेसे जो नायक ने भेजे थे, कहकर अन्त में कहा कि मुसकराहट में मान? अरी कहीं मुसकराहट में

भी मान किया करते है ? नायक यदि हमें देखकर मुसकरा दिया तो इतने से क्या हुग्रा ? यह भी कोई मान करने या नाराज़ होने की बात है ? यदि नायक परस्त्री से छिपकर बातें करता पकड़ लिया जाय, या रतिचिन्ह देख लिये जायें, तब तो मान करना उचित भी है, केवल मुसकराहट देखकर मान करना सर्वथा अनुचित है । "मुसकराहट में मान" और 'मुसकराहट तें मान' का अर्थ एक ही है । दोनो तरह बोला जाता है— जैसे "हँसी में बुरा न मानना चाहिए या हँसी से बुरा न मानना चाहिए ।"—

हरिकवि ने भी इसके कई अर्थ किये हैं— उनमें से दो एक यह हैं :—

"नायिका दूती से कहती है कि 'ढीठ' (घृष्ट) नायक ने पड़ौसन का 'ईठ' मित्र बनकर, उस पर आसक्त होकर, जो सँदेसे चतुराई लिये कहे हैं, सो सब सँदेसे तू कह । दूती कहती है कि यह सँदेसा कहा है कि "मुसकाहट में मान" मैं तो पड़ौसन से सिर्फ़ मुसकराया था इतने ही से मान कर लिया !"

अथवा—"सखी से सखी कहती है– ढीठ जो नायक है, उसने पड़ौसन का मित्र बन कर, कहा कि हे पड़ौसन तू हमारे सब सँदेसे नायिका से कह, यह कहकर (सन्देसा) कहा कि— 'तू हमे सयान गह्यौ"— याको ग्रर्थ— 'तू हमें काहू पास सोवत पायो, जो मान करे है ? फेरि कह्यो, मुसकाहटि में हांसी में तू मान कियो !"

'ढीठ' की जगह 'डीठि' या 'दीठि' पाठान्तर भी है । वहाँ यह अर्थ कि नायक की 'दीठि' देखकर, "परोसिनि ईठ ह्वै" पड़ौसिन की मित्र बनी कहती है कि 'सयान,— (स्याना)—चतुर नायक "गहै"—समझ जाय । अर्थात् नायक को सुनाने के लिए पड़ौसन से कह रही है सो सब सदेसे कहकर, निष्कारण और असमय की मुसकराहट से मान जता दिया !

१—"नायक और नायिका पास बैठे हैं, सो सखी नायिका सो कहे है, कि ढीठ परोसिन तेरी ईठ (मित्र) होके जो सँदेसे नायक के कहती थी तुझ सौं, सो तू तू नायक से कहू । सो नायिका ने कहो मुसकराहट में मान । हेत (भाव) यह है कि और कछू न कहा । मुमक्यान में मान जतायो, अर्थात् खिसियानी हँसी, हँसी ।"

अङ्कार— 'पिहित'— छिपी पर बात को जानि कै भाव कर दिखावै, सो यहां नायक के दोष छिपें जानि के मुसकराहट के भाव सो मान जतायो ।"--

(रस चन्द्रिका)

२—(दीठि देख के नायक को (परोसिन ईठ ह्वै) परोसन की इष्ट हो के, मित्र हो के, समझदारी से कहती है (बात परोसिन से कहती है, व्यंग्य नायक पर है) सब संदेसे कहके मुसकाई, इस निष्कारण मुसकराहट से मान विदित हुआ"— (व्यास जी) ।।

अलंकार—"काकूक्ति" ग्रौर 'काव्यलिंग" । 'काकूक्ति' —मुमकराहट में मान चाहिए ? अर्थात् नहीं चाहिये । "काव्यलिङ्ग"—सन्देसे कहने से—पड़ौसन की ढिठाई दृढ़ हुई ।

"सूक्ष्मालंकार"— मुसकराहट की चेष्टा से नायक को मान जता दिया । "छेकानुप्रास"—दीठि ईठ में ।

—:o:—

एक सौ उन्नीस

लखि सकुचौंही दीठि

[नायिका ने स्वयं ही दूती भेजकर पहले तो नायक को बुलाया, पर नायक और सुन्दरी दूती दोनों की एक दूसरे से नज़र चुराने की चेष्टा को तथा दोनों की दृष्टि को लज्जा से संकुचित होता देखकर; उसने दोनों के प्रच्छन्न संभोग का आभास पा लिया और वह नायिका मान से नायक से बोलती भी नहीं, रुष्ट होकर उसने मौन साध लिया। —स०]

परकीया अन्यसंभोगदुःखिता-वर्णन

(११९)

गह्यौ अबोलौ बोलि प्यौ आपै पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुन की लखि सकुचौंहीं दीठि॥

(सखी का वचन सखी से)—

(आपै बसीठि पठै)—आप ही दूती भेजकर, (पिय बोलि)—पिय को बुलाकर, (अबोलौ गह्यौ) मौन धारण कर लिया (दुहुनुकी दीठि सकुचौंहीं लखि) —दोनों की दृष्टि लज्जा से संकुचित देखकर (दीठि† चुराई)— आखें चुराई।

अथवा— नायिका ने आप ही दूती भेजकर नायक को बुलाया, पर दोनों की (नायक और दूती की) दृष्टि को चुराई और सकुचौंहीं देखकर (अर्थात् दोनों सामने नजर नहीं मिलाते और लज्जित हैं, यह देखकर) उनके प्रच्छन्न भोग का निश्चय किया और इस कारण रुष्ट होकर मौन साध लिया।

नायिका ने किसी सुन्दरी दूती को नायक के पास (बुलाने के लिये) भेजा। वह दुष्टा दूती स्वयं नायिका बनकर वहाँ नायक से काला मुंह करा आयी। नायक और दूती जब नायक के पास आये तो उनकी शरमाई हुई आँखों से नायिका ताड़ गयी कि कुछ दाल में काला जरूर है। इसलिये क्रोध से उनकी ओर से आँख फेर कर बैठ गयी! वे चोरी करके आये थे, इसने भी उनसे आंख चुरा लीं!

इस दोहे में कई टीकाकारों के मत से "विषमालंकार" है। परन्तु अमर चन्द्रिकाकार ने इस पर अपने कई दोहे लिखकर इस बात का खण्डन किया है और यह सिद्ध करना चाहा है कि इस दोहे में जिन्होंने "विषमालंकार" माना है, वह ठीक नहीं। हेतु यह दिया है कि "जहाँ इष्ट के लिये उद्यम किया जाये और फल अनिष्ट हो वहाँ "विषम" होता है।— 'यहाँ प्रिय को बुलाना इष्ट था, सो वह आ गया। यदि दूती प्रिय को इसके पास न लाकर किसी और ठौर ले जाती तो अनिष्ट होता"— इस प्रकार 'विषम" का खन्डन करके यहाँ एक नया "अमित" (?) अलंकार माना है, और उसका लक्ष्य लक्षण यह दिया है :—

'अमित' साधनै भोग वै साधक सिद्धि प्रवीन।
तिय साधक पिय सुरति-सिधि सखि साध तिय लीन॥

'अमर चन्द्रिकाकार' की इस कल्पना का खन्डन रस चन्द्रिकाकार ने इस प्रकार किया है—

"नायिका ने पहले तो नायक सों अनबोलो (मौन) लियो हतो, फिर बुलाया पिय को आप ही बसीठ पठै कैं (दूती भेजकर) सो सखी जो बसीठ (दूतत्व) को गई थी सो नायक सौं सुरति करि आयी तो दोनों की दीठि

† हरिकवि ने एक 'दीठि' का अर्थ देखकर किया है। यथा "डीठि चुराई दुहुन की" सामने नजर नहीं करे हैं। लखि कैं, देखि कैं औ सकुचौंहीं-लज्जित, 'दीठि' को अर्थ देखि कैं"—

सकुचौंहीं देखि कै, आपु ही ढीठ चुराई''—अलंकार 'विषम" भेद तीसरो, तिसका लक्षण—"इष्ट उद्यम में अनिष्ट प्राप्ति होय, सो यहाँ सुख को बुलायो तौ (थौ ?) सो दोनों को सकुचौंहीं देखिकै दुख भयो। और जो यौं कहिये कि बसीठ और ठौर ले जाती, सो यह अजुक्ति है, काहू बरनो नहीं"—

(रसचन्द्रिका)

अर्थात् अमर चन्द्रिकाकार का यह कथन "कि यदि दूती नायक को किसी और जगह ले जाती तो "विषम" होता।" ठीक नहीं। क्योंकि किसी कवि ने ऐसा वर्णन नहीं किया। दूती अमानत में खयानत तो कर आती है—इसका झींकना तो कवियों ने बहुत झीका है पर ऐसा कभी नहीं हुआ—किसी ने वर्णन नहीं किया कि वह नायक को जहाँ के लिये लेने गयी हो वहाँ न लाकर किसी दूसरी जगह ले गयी हो। अस्तु।

अलंकार-१—"विषम"। २—"अनुमान" दृष्टि चुराने और लजाने से सम्भोग का निश्चय किया—

—"जहाँ अदृष्ट को हेतु सों जान लेत अनुमान।"

३—पदर्थावृत्ति दीपक—दीठ दीठ—एक पद, एक अर्थ।

एक सौ बीस

भयौ हराहर हार

[नायिका ने अपने हाथ से एक मोतियों का हार बनाया था। नायक ने हठ करके, प्रेम से उस हार को नायिका से ले लिया और लेजाकर अपनी दूसरी प्रिया को, नायिका की सौत को वह हार पहना दिया। नायिका ने जब उस हार को सपत्नी के गले में पड़ा देखा तो वह अपने ही हाथ से गुँथा हुआ मोतियों का हार उसे शिव के हार (सर्प) के समान भयंकर लगा। —स०]

ज्येष्ठा-कनिष्ठा-वर्णन

(१२०)

हठि हित करि प्रीतम लियौ कियौ जु सौति सिंगार,
अपने कर मोतिन गुह्यौ भयौ हराहर हार॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(प्रीतम हठि हित कर लियौ)—प्रियतम ने हठ करके और प्रेम से लिया था (जु सौति सिंगार कियौ)—जिसे सपत्नी का सिंगार कर दिया—उसे पहना दिया, (अपने कर मोतिन गुह्यौ हरा)—अपने हाथ से गूँथा हुआ मोतियों का वह हार (हरहार * भयौ)—शिव का हार—सर्प—हो गया!

नायिका ने अपने हाथ से एक मोतियों का हार बनाया था, जिसे पति ने प्रेम भरे हठ से उससे ले लिया और अपनी दूसरी प्रिया को जा पहनाया, सो नायिका

---

* "हरहार—शेषनाग, हार भी श्वेत है, शेष का भी श्वेत ही वर्णन है, शेष नाग सा भयानक हो गया" (व्यास जी)

भावोदय। नायिका में ईर्ष्योदय।

को सपत्नी के गले में पड़ा वह अपने हाथ का गुंथा हार सांप के समान भयानक प्रतीत हुआ।

हरि कवि को इस नायक की दरिद्रता पर दया आई है उन्होंने अर्थान्तर करके इसका दारिद्रय दूर किया है। वह कहते हैं कि इस अर्थ में नायक का दारिद्रय प्रतीत होता है कि उसने एक पत्नी से हार लेकर दूसरी को जा पहनाया। इसलिये ऐसा अर्थ करना चाहिये कि नायिका ने अपने घर में नायक का सिंगार किया है, हार पहनाया है, उस हार को पहने वह नायिका की सौत के घर गया सपत्नी ने हठ और हित करके वह हार ले लिया, उतरवा दिया और अपना हार पहनाकर उसका सिंगार किया" जिसने पहला सिंगार किया था, उसे यह नया सिंगार "हरहार, भयो, हरके हारसौं भयौ दुखदाई भयो!—

अलंकार—प्रथम विभावना बिना कारण के कार्य।
(अनवर चन्द्रिका)

२—"व्याघात"—अपने हाथ का गुहा मोतियों का हार सांप हो गया! सुखद वस्तु दुखद हो गयी।
(अमर चन्द्रिका)

३—"वाचक—धर्म-लुप्ता उपमा"— (हरि कवि) 'हरहार" हर के हार के तुल्य भयानक। इसमें वाचक-लौं आदि और साधारण—धर्म भयानकता-आदि लुप्त हैं।

४—पूर्वार्ध में छेकानुप्रास और उत्तरार्ध में "वृत्त्यनुप्रास"। (श्री प्रताप)

एक सौ इक्कीस

पिय अँगुरिन लाली लखै

[सौत के सुन्दर पांवों में सुरंग महावर लगा देखकर नायिका को ईर्ष्या जन्य क्रोध हो रहा था कि उसकी निगाह प्रियतम के हाथों में लगी उस महावर की लाली पर पड़ गई। तब यह जानकर कि सौत के पग में यह महावर इन्हीं के हाथों लगाया गया है, नायिका के हृदय में और भी आग लग गई। —स०]

(१२१)

सुरँग महावर सौति पग निरखि रही अनखाय।
पिय अँगुरिन लाली लखै खरी उठी लगि लाय॥

(सखी का वचन सखी से)—

अर्थ :—(सौति पग, सुरंग महावर, निरखि)—सपत्नी-के पाँव में अच्छे रंग की महावर लगी देख (अनखाय रही)—नाराज हो रही थी, फिर (पिय अँगुरिन लाली लखै)—प्रिय के हाथ की उँगलियों में लाली देखकर (खरी लाय लगि उठी)—अत्यन्त आग लग उठी।

—सपत्नी के सुन्दर पांवों में सुरंग महावर लगी देखकर नायिका को ईर्ष्याजन्य क्रोध हो ही रहा था, कि उसने प्रिय की उँगलियाँ भी रंगी देखीं, इससे क्रोधाग्नि और भभक उठी। पहले तो यही ईर्ष्या थी कि यह प्रिय को रिझाने की तय्यारी कर रही है. सुरंग महावर से रँगे इसके सुन्दर पांवों पर पति जरूर लोट पोट हो

जायगा॥ जब देखा कि प्रिय की उंगलियाँ भी लाल हो रही हैं, तो यह जानकर कि यह इन्होंने अपने हाथ से रँगे हैं और भी आग लग उठी, जी जल गया !—
''बरत अनल में मनु घृत परेउ''—

अलंकार— १—''अनुगुण-''

— ''प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोनुगुणः परसन्निधेः।''

जहाँ पूर्व सिद्ध गुण कारणान्तर-परसन्निधि आदि से-अधिक हो जाय वहाँ 'अनुगुण'' होता है।

''जावक लखि हुतियँ सुरिस बढ़ी सुपिय दुति देखि''

महावर को देखकर तो क्रोध था ही—पिय की उंगलियों की लाली देखकर वह और बढ गया।

२—''समुच्चय''—(अनवर चन्द्रिका)

—''बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः ''समुच्चयः।''

—''अहप्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयोपि सः।''

एक साथ होने वाले अनेक भावों का वर्णन जहाँ हो, वह 'समुच्चयालंकार' है।

''दोइ 'समुच्चय' भाव बहु कहूंक उपजै संग।

''एक काज चाहे कियो ह्वै अनेक इक संग''

परन्तु इस अलकार की सगति इस दोहे में ठीक नहीं बैठती। अनख, कोध और लाय, अग्नि,—लक्षण से क्रोधाग्नि, एक ही भाव है।

''हेत्वलंकार''—(हरि कवि)

हेतु—प्रिय की उंगलियों की लाली। हेतुमान् आग लग उठना। ''डबल'' ''हेतु'' अलकार है!

एक सौ बाईस

नीठि सुखाये बार

[नायक अपने हाथ से नायिका की वेणी गूँथ रहा है। नायिका कहती है कि बस रहने दो, तुमसे गुँथ गई वेणी! तुम्हारा वेणी गूँथने का त्यौनार (चातुर्य) हमने देख लिया कि उलटे हमारे अच्छी तरह सुखाये इन बालों से, तुम्हारे पसीजे हाथों से छूटकर, यह पानी और टपकने लगा है। सात्विक भाव उदय होने से नायक को पसीना छूटने लगा है, जिससे केश और भीग गये हैं, वेणी नहीं गुँथ पा रही है। —स०]

स्वधीनपतिका-वर्णन

(१२२)

रहौ गुही बेनी लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचावने नीठि सुखाये बार॥

(नायिका का ⊙ वचन नायक से)—

अर्थ:—(रहौ)—ठहरो, रहने दो, (बेनी गुही)—वेणी गुँथ चुकी। (गुहिबे के त्यौनार † लखे) तुम्हारे गूंथने की चतुराई देखली (नीठि सुखाये बार)—किसी प्रकार कठिनता से सुखाए बाल (नीर चुचावने लागे)—पानी टपकाने लगे।

॥ अच्छा रंग जो महावर का सौतिन के पाइन में देखकर बुरा लगा, इस वास्ते कि जो मुझे अच्छा लगेहीगा। (रस चन्द्रिका)

⊙ स्वाधीनपतिका नायिका, गर्व संचारी, कचारी, कपट अनादर से बिव्वोक हाव

† त्यौनार— प्रकार, कौशल (व्यास जी)

नायक अपने हाथ से नायिका की वेणी (जूड़ा) बांध रहा है, नायिका कहती है कि बस रहने दो, तुमसे वेणी गूंथी जा चुकी, वेणी गूंथने की तुम्हारी कुशलता देखली! बाल (केश) जो मुश्किल से सुखाये थे सो ऐसे भीग गये कि उनसे पानी चुचाने लगा। अर्थात् तुम्हारे सात्विक पसीने से बाल तर हो गये।

अलंकार :—"व्याजोक्ति"—

"व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम्।"

"व्याजोक्ति कछु और विधि कहै दुरै आकार।"

—सात्विक भाव नायिका को हुआ है पर कहती है कि तुम्हारे पसीजे हाथों से बाल भीग गये। इस प्रकार गर्वसूचक वाक्यों से अपने सात्विक आकार को छिपाती है।

२—"तृतीय असङ्गति"—

"अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा।"

काम कुछ आरम्भ किया जाय और हो जाय कुछ और बेनी गूंथना प्रारम्भ किया और उसमें नीर चुचाने लगा! (श्री प्रताप)

रस चन्द्रिकाकार के मत में सात्विक भाव नायक को हुआ है, उसी के हाथ के "पसीना सों वार (ल) चुचान लगे हैं"—इनके मतानुसार—

३—"पूर्व रूप" अलङ्कार है। जहां फिर अपने गुण की प्राप्ति हो जाय, वहां 'पूर्व रूप' होता है, यहां भीजे बाल मुश्किल से सुखाये सो सात्विक भाव से फिर नीर चुचान लगे! (रस चन्द्रिका)।

४—'काव्यलिङ्ग' भी सम्भव है। वेणी न गूंथ सकने का समर्थन नीर चुचाने से किया।

इस दोहे में अमर चन्द्रिकाकार ने न जाने किस अभिप्राय से "परिवृत्यलंकार" मानकर यह दोहा लिखा है और लल्लूलाल जी ने भी वही उद्धृत किया है—

"परिवृत कीजै और कछु उपजि परै कछु और।
गुहिवौ काज परति लख्यौ नीर चुवनि तिहि ठौर॥"

किंवा—गुहिबे कारजते लग्यौ

पर यह लक्षण तो तृतीय असङ्गति का है। "परिवृत्ति" का लक्षण तो यह है :—

"परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः।"
"परिवृत्ती लीजै अधिक थोरोई कछु देय"

अर्थात् जहां थोड़ी चीज के बदले अधिक ले ली जाय, वहां 'परिवृत्ति' अलंकार होता है।

कृष्ण कवि ने इसे और ही प्रकार लगाया है। यथा—"यह नायक सखी वेष होके, नायिका को शृङ्गार करन लाग्यौ' बेनी गुहति सात्त्विक भाव उपज्यौ, तब नायिका ने जान्यौ सो नायक सों कहति है।"—

"गोपी को वेष बनाय गुपाल जू
श्री वृषभानु सुता ढिग आये
हौं सजि जानत नीके सिंगार कहौ
सु करौं कहि बैन सुनाये।
बेनी गुहावत प्यारी कह्यौ
सुघराय इतै कितते तुम पाये,
नीर चुचान लगे अब हीं
सटकारे से बार जे नीठि सुखाये॥"

एक सौ तेईस

प्रिय प्राननि की पाहरू

[विरह-व्याधि से नायिका की दशा दुस्सह हो जाने पर, उसकी सौतें भी दुःख से संतप्त होकर उसकी व्याधि के प्रतीकार में स्वतः यत्न पूर्वक लगी हुई हैं क्यों कि वे जानती हैं यह नायिका ही उनके प्रियतम के प्राणों की पहरेदार है, उसके जीवन को संशय होने पर प्रियतम के प्राणों का भी कोई रखवाला नहीं। —स०]

(१२३)

पिय प्राननि की पाहरू जतन * करति नित आप।
जाकी दुसह दसा भये * सौतिन हू सन्ताप॥

(सखि का वचन सखि से†)—

अर्थ :—(प्रिय प्राननि की पाहरू)—प्रिय के प्राणों की पाहरू रक्षक-पहरेदार है। अतः (आप नित जतन करति)—सपत्नियां आप नित्य यत्न-प्रतीकार करती हैं. (जाकी दुसह दसा भये)—जिसकी दुःसह दशा होने पर (सौतिन हू सन्ताप)—सपत्नियों को भी संताप हुआ।

किंवा "नायिका आप को प्रिय के प्राणों की पाहरू जानकर यत्न करती हैं, नहीं तो अब तक शरीर छोड़ देती"— (हरि कवि)

विरह-व्याधि ⊙ से नायिका की दशा दुःसह हो रही है, उसका जीवन संशयित हो रहा है, वह प्रिय के प्राणों की "पाहरू" पहरेदार है। हरि कवि के कथनानुसार "जो यह मरेगी तो नायक कभी जीवै नहीं।" इसलिए-(अपनी सौभाग्य रक्षा के लिये) सपत्नियां भी उसके इस दुःख से संतप्त हैं, और सापत्न्य के शत्रु-भाव को छोड़कर प्रतिकार में तत्पर हैं, हर वक्त इलाज मालजे में लगी हुई हैं।

"अलंकार—"सम्बन्धातिशयोक्ति"—

"सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्।"

"सम्बन्धातिशयोक्ति जहँ देत अजोगहि जोग।"

अयोग – असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन करना "सम्बन्धातिशयोक्ति" है। सपत्नी को सपत्नी के दुःख का सन्ताप हो, इसका योग नहीं है, तो भी यहां यह योग कहा गया है।

"सम्बन्धातिशयोक्ति—अजोग विषै जोग को बर्नन, सो इहां सौत की सन्ताप अजोग है, पिय के प्रानन के हेत जोग भयो" (रस चन्द्रिका)

२—'वृत्यनुप्रास"—पकार की आवृत्ति से।

३—"छेकानुप्रास"—दकार की आवृत्ति से।

'करत जतन तन आप' पाठान्तर में तन तन में "यमक"।

इसी भाव की एक गाथा और एक आर्या भी है:—

सो तुज्झ कए सुन्दरि ! तह क्षीणो सुमहिलो हलिअउत्तो।
जह से मच्छरिणीए वि दीघं जाआए पडिवण्णम्॥"

(स तव कृते सुन्दरि ! तथा क्षीणः सुमहिलो हलिकपुत्रः।
यथा तस्य मत्सरिण्यापि दूत्यं जायया प्रतिपन्नम्॥
गा० स० १।८४)

---

* पाठान्तर—"करत जतन तन आप। करति जतन अति आप। भये, परची।

† स्वाधीन पतिका, प्रोषितपतिका की व्याधि दशा, सपत्नियों के शंका संचारी।

⊙ "अंग बरन विवरन जहां अति ऊंचे ऊसास।
नैन नीर परिताप बहु 'व्याधि' सु केसवदास।"

दूती किसी नायिका से कहती है कि हे सुन्दरी ! तेरे वियोग में वह सुन्दरी स्त्री का पति हालिक पुत्र इतना क्षीण हो गया है कि पतिमरण के भय से उसकी मत्सरिणी (ईर्ष्यालु) स्त्री ने तुझे मिलाने के लिए दूतत्व करना स्वीकार किया है। वह तुझे मना लेने के लिये तेरे पास स्वयं आना चाहती है। "सुमहिल:" विशेषण का भाव यह है कि यद्यपि वह सुन्दर रमणी का पति है तो भी तुझ पर आसक्त है। इससे नायिका के सौन्दर्यातिशय की स्तुति और हालिकपुत्र का दृढ़ानुराग व्यङ्ग्य हैं। हालिकरमणी के 'मत्सरिणी' विशेषण में यह ध्वनि है जो सापत्न्यभाव को भूलकर, स्वाभाविक ईर्ष्या को छोड़कर पति की प्राण रक्षा के लिये, अकार्य कार्य करने पर भी उतारू हुई है। इसलिये तू शीघ्र मिल नहीं उसकी हत्या तेरे सिर होगा।

'प्रियविरहनि: सहाया: सहज-
त्रिपक्षाभिरपि सपत्नीभि:।
रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्या: प्राणा
गृहभंगभीताभि: ॥" (आ० स० ३२०)

—हरिणाक्षी नायिका प्रिय के विरहमें ऐसी नि:सह—क्षीण—हो रही है कि स्वाभाविक शत्रु जो सपत्नियाँ हैं वे भी घर बिगड़ने के डर से उसके प्राणों-को बचा रही हैं !

गाथा, आर्या और दोहा, इन तीनों का भाव एक है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गाथा' की छाया पर आर्या बनी और "गाथा" तथा आर्या की छाया को लेकर यह दोहा रचा गया है। आर्याकार ने गाथा के हालिक पुत्र को दूर करके प्राकृतता की जगह 'नागरिकता' ला दी है। तथा गाथा के "मत्सरिण्यापि जायया" का भाव आर्या के "सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभि:" इन पदों में भर दिया है, और "तव कृते तथा क्षीण:" का अर्थ 'प्रियविरहनि:सहा" का भाव टीकाकार ने यह निकाला है—'एवं च प्रकारान्त-मरणे समाधे: सत्त्वादिति भाव:।" अर्थात् यदि यह प्रिय के वियोग में क्षीण होकर न मरती किसी और कारण रोगादि से मर जाती तो बात दबाई भी जा सकती थी। प्रिय का समाधान करके घर बचा रहना सम्भव था। परन्तु इस 'भाव' में स्वार्थभाव झलक रहा है, निर्व्याज प्रेम की गन्ध नहीं।

आर्या की सपत्नियों का "गृहभंगभीताभि:" विशेषण भी विशुद्ध प्रेम की अपेक्षा दुनियादारी की समझ, स्वार्थ-मूलक प्रेम को प्रकट करता है। उन्हें पति का जीवित रहना, घर बचाने के लिये अभीष्ट है, गृह—रक्षा का ध्यान मुख्य और पति—प्रेम (यदि कुछ हो तो) गौण है ! प्रेम के प्रपंच में ऐसी वणिग्-बुद्धि कुछ शोभा नहीं देती। निर्व्याज प्रेम में घरबार की चिन्ता कैसी ! चिन्ता तो एक ओर ऐसी चर्चा भी नहीं सुहाती !

"गृहभङ्गभीताभि:"—के 'गृह' पद का अर्थ यदि "न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते"—के समान, लक्षणा से 'गृही' घर-वाला अर्थात् पति भी मान लिया जाय, तो भी वह बात कहाँ, जो "प्रिय प्रानन की पाहरू में" है। 'गृह" शब्द से प्रिय का बोध कराना तो दूर रहा, यदि साक्षात् "पति" पद से भी प्रिय का बोध कराया जाय तो भी वह चमत्कार नहीं रह सकता, जो "प्रिय" में है। प्रेम के क़ानून में तो "पति" "भर्ता" "स्वामी" 'नाथ" इत्यादि प्रियवाचक पदों का प्रयोग भी अनौचित्य में गिना जाता है, फिर घर में और प्रिय में तो बहुत दूर का सम्बन्ध है ! सहृदयहृदय—मेवात्र प्रमाणम्।

"नाथेति परुषमुचितं प्रियेति दासेत्यनुग्रहो यत्र।
तद्दाम्पत्य मितोन्यन्नारी रज्जु: पशु: पुरुष: ॥"

आ० स०

बिहारी के दोहे में प्रेम की निर्व्याजता को संशयित करने वाला ऐसा कोई पद या भाव नहीं है। वह बहुत गम्भीर है। 'प्रिय प्रानन की पाहरू" पद ने उसमें प्राण डाल दिये हैं ! आर्या की सपत्नियाँ तो गृह-भंग के भय से प्राण मात्र बचा रही हैं। [प्राणा रक्ष्यन्ते] सिर्फ यह चाहती हैं कि इसके प्राण न निकलें। उन्हें कुछ और दु:ख या सन्ताप नहीं है। वह उसका अच्छा होना नहीं चाहती, (गृह-भङ्ग का डर न होता तो शायद गला घोंट कर मार डालती !) और दोहे की पत्नियाँ "जतन करत नित आप"—हर वक्त उसे अच्छी करने की फ़िक्र में लगी हैं। ऊपरी जी से उसके उपचार में नहीं लगीं किन्तु वे उसके सन्ताप से स्वयं भी सन्तप्त हैं। पूरी समवेदना से उसके दु:ख में शरीक हैं, वे केवल यही नहीं चाहतीं कि इसके प्राणमात्र न निकलें, प्रत्युत उन्हें बड़ी चिन्ता है

किसी प्रकार यह अच्छी हो जाय। उन्हें 'गृह-भङ्ग का' भय नहीं, पति के 'प्राण-प्रयाण का, डर है। पहरेदार की निर्बलता से प्राणेश्वर के प्राण-धन के विनाश की आशङ्का हैं, जब तक 'प्राणों की पाहरू' स्वस्थ दशा में न हो, प्रियका प्राण-धन भी सुरक्षित नहीं है। इसीलिये वे सन्तप्त हैं और सचिन्त हुई उपचार में तत्पर हैं, 'पहरेदार' और 'धनी' के चित्त में यह विचार भी नहीं आने देना चाहतीं कि ये इसकी अस्वस्थता से प्रसन्न या उदासीन हैं, पूरी हमदर्दी से इलाज कर रही हैं, बीमारदारी इसे कहते हैं! समवेदना ऐसी होती!! विशुद्ध पति-प्रेम इसका नाम है!!!

अपने से पहले दो महाकवियों द्वारा वर्णित विषय को इस सुन्दरता से वर्णन करना—प्राचीन भाव में नवीनता का चमत्कार दिखा देना, महाकवि बिहारी लाल ही का काम है!

एक सौ चौबीस

टुलिहाई सब टोल में

[नवोढ़ा नायिका के रूप-गुण की प्रशंसा करते हुए सखी उससे कहती है कि तेरे आगमन से पूर्व तेरी यह सौत सारी सखियों के समूह में टोले-मुहल्ले में जादूगरनी करके बखानी जाती थी, कि इसने जादू टोने से प्रियतम को वश में कर रक्खा है। सो तूने आकर प्रिय को अपनी ओर आकर्षित करके उस बेचारी सौत को दोष रहित कर दिया। नायक के तेरे वश में हो जाने से सबने जान लिया कि वह सौन्दर्य आदि गुणों के कारण ही पहले सौत के वश में था, जादू टोने से नहीं, क्योंकि अब उन्हीं गुणों के कारण वह तेरे वश में आ गया है। स०]

(१२४)

टुनिहाई सब टोल में रही जु सौति कहाय।
सु तौ ऐँचि पिय आप त्यौं करी अदोखिल आय॥

(सखी का वचन नवोढा से)—

अर्थः— (सब टोल में)—सब सखियों के समूह में या अड़ौस पड़ौस में (जु सौति टुनिहाई कहाय रही) —जो सौत टुनिहाई– टोना करने वाली– जादूगरनी कही जाती थी— प्रसिद्ध थी, (सुनो आय)— सो तूने आकर, (पिय आप त्यौं ऐंचि)— प्रिय को अपनी ओर खींचकर (अदोखिल करी)—वह सपत्नी दोष रहित कर दी।

---

* "नायिका उपासन्नपतिका—स्वाधीनपतिका" (अनवर चन्द्रिका)

नवोढा नायिका के रूपादि गुणों की प्रशसा करती हुई सखी उससे कहती है कि तेरे आने से पहले नायक तेरी जिस सौत के वश में था, वह 'टुनिहाई'— टोना करने वाली प्रसिद्ध थी, कि इसने पति पर जादू करके उसे इस प्रकार अपने वश में कर रखा है जो हर वक्त इसी के पास पड़ा रहता है। सो तूने आते ही अपने लोकोत्तर रूपादि गुणों से नायक को अपन. ओर खींचकर अपनी उस सौत को दोषरहित कर दिया। अर्थात् उसे इस इलाज़ाम से बरी कर दिया कि वह टोना करने वाली है। क्योंकि यदि वह 'टुनिहाई'— जादूगरनी— होती, तो नायक उसके फन्दे से छूटकर तेरे वश में न हो सकता, इससे जाना गया कि जादू से नहीं, किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणों ही से उसने नायक को अपने अधीन कर रखा था, अब उससे अधिक रूपवती होने के कारण नायक को तूने अपनी ओर खींच लिया है।

अलकार – १—"लेश"—

"लेशः स्याद् दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्'

"गुन में दोषरु दोष में गुन कल्पन सों लेश।"

अर्थात् जहाँ गुण के स्थान में दोप की और दोप के स्थान में गुण की कल्पना हो जाय, वहाँ 'लेशालंकार' होता है। जैसे यहाँ सौत में टोना करने रूप दोप के स्थान में गुणवती होने रूप गुण की कल्पना की गई। नायक का वश में होना टोना केप्रभाव से नहीं था किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणों के कारण था। यह अब सब टोल-सखियों का गोल जान गया। वह टुनिहाई कहलाने के दोष से छूटकर सखियों के टोल में गुणवती समझी जाने लगी।

२—"उल्लास"—

"एक को जो गुन दोष आन (अन्य) गहै सो उल्लास"

(कण्ठाभरण)

"नायिका के गुण से सौत में गुण हुआ"

(श्री प्रताप)

अथवा, ३—"हेतु अलंकार" – प्रिय को खींचना—वश में करना हेतु, "अदोखिल" होना हेतुमान्। किंवा—युक्ति से अदोखिल' होने का समर्थन किया इससे ४—'काव्यलिङ्ग" भी हो सकता है, सो इस प्रकार के सन्देह से 'सन्देहसंकरालंकार' है। (हरि प्रकाश)

डाक्टर ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित लाल चन्द्रिका के परिशिष्ट Additional notes में इस दोहे के लेशालंकार की व्याख्या में एक लम्बा नोट है जिसमें दोष को गुण एक नये ही ढंग से सिद्ध किया गया है। नोट बहुत ही अनोखा है! अतः साहित्य मर्मज्ञों के मनोविनोदार्थ उसे उद्धृत किये देते हैं :—

"जहाँ किसी कारण से दोष को गुण के रूप में प्रकाशित करें वहां लेशालङ्कार होता है। यथा सौतियों का (नायक को) वश में रखने का ढंग टोना (जादू वशीकरण आदि) दोष था। अर्थात् मारण मोहन उच्चाटनादि बुरे प्रयोग हैं, पर जब तूने–(नायिका ने) नायक को अपने गुण रूप आदि से अपने वश कर लिया, तो वही वशी–करण का दोष गुण हो गया। अर्थात् ऐसी दशा में नायक बहुत स्त्रियों की आसक्ति छोड़ कर, एक स्त्री पर स्नेह करने लगा। 'सब' और 'टोल' शब्द से अनेक नारी सिद्ध होती हैं नायिका नई और स्वकीया है। उसके पक्ष में पति का अनेक नारी अनुरक्त होना, उसके (नायिका के) रूपादि में न्यूनता का दोष, और नायक में कामुकता का दोष दिखाता था। पर जब नायिका ने उन्हीं कामों से (जिनसे सौतें नायक पर वशी–करण सा किये थीं) नायक को अपने वश कर लिया, तो नायिका नायक के दोनों दोष मिट गये। अतः वशी–करण का दोष गुण हो गया।"

इस नोट की अन्यान्य कल्पनाओं की सारता का विचार तो हम सहृदय पाठकों पर ही छोड़ते हैं, पर "सब" और "टोल" पर कुछ कहना चाहते हैं। 'सब टोल' शब्द से अनेक नारी सिद्ध नहीं होतीं, और के विषय में तो कह नहीं सकते पर यह नायक अनेक नारियों में अनु-

रक्त नहीं था । किन्तु एक ही नारी के प्रेम पाश में बंधा था। पुराने सब टीकाकार एक स्वर से इस बात को कह रहे हैं, जादू करने के लिए 'सम्भूयसमुत्थान' की आवश्यकता भी नहीं कि बहुत सी सपत्नियाँ मिलकर ही मारण मोहन उच्चाटनादि बुरे प्रयोगों से एक नायक को वश में रख सकें !

इस दोहे की "सौति" एक ही है वही सब टोल में–सब सखियों के समूह में, या अड़ौस में अथवा सारे मुहल्ले में टुनिहाई प्रसिद्ध थी, 'सब टोल' शब्द अनेक नारियों के सूचक यहाँ कदापि नहीं है। "सौति' एक वचन है, उससे सम्बन्ध रखने वाली क्रियाएँ 'रही' और 'करी' भी एक वचन हैं। इसमें सब टीकाकार सहमत हैं। किसी पुस्तक में भी "सौतिन" 'रहीं' करीं' ऐसे बहुवचन सूचक पाठान्तर नहीं हैं। सतसई के बहुत प्राचीन टीकाकार कृष्ण कवि का "सवैय्या" जो इस दोहे पर है वह पठनीय है :—

"रात दिना छकि याही के धाम परचो रसमें रहतो सुखदाई,
पास परौस बकै कहतीं यह बीस बिसे तिय है टुनिहाई।
तू जबतें गुन रूपकी राशि सुसील सुहागिन गौने ही आई,
प्राणपती अपने बस कै तें भलो करी सौति की छूत बहाई।"

एक सौ पच्चीस

पंचाली कौ चीर

[प्रोषितपतिका विरहिणी विरह की अनन्तता से घबराकर सखी से कहती है कि अवधि रूपी वीर दुःशासन, विरह रूपी चीर को बहुतेरा खींच रहा है पर वह समाप्त होने में नहीं आता। द्रौपदी के चीर की तरह मेरी विरह वेदना बढ़ती ही जाती है। प्रियतम के आने की अवधि समाप्त हो जाती है पर मेरी विरह-वेदना का अन्त नहीं दिखाई देता। स०]

स्वकीया प्रोषितपतिका-वर्णन

(१२५)

रह्यौ ऐंचि अन्त न लह्यौ अवधि-दुसासन बीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यौं पंचाली कौ चीर॥

(विरहिणी नायिका का वचन सखी से)—

अर्थ :—(वीर अवधि-दुसासन)—वीर जो अवधिरूप दुःशासन है, सो (ऐंचि रह्यौ)–खींच रहा है, पर (अन्त न लह्यौ)—अन्त नहीं पाया (आली)— हे सखी ! बिरह ज्यौं पंचाली कौ चीर बाढ़त)—विरह पाञ्चाली द्रौपदी के चीर के समान बढ़ रहा है।

प्रोषितपतिका विरहिणी, विरह की अनन्त दीर्घता से घबराकर सभी से कहती है कि पराक्रमी अवधिरूप दुशाःसन विरह को बहुतेरा खींच रहा है, पर उसका अन्त हाथ नहीं आता ! वह द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ता ही जाता है ! अभिप्राय यह कि अवधि भी विरहवेदना को दूर करने में असमर्थ है, आने की अवधि आती है पर प्रिय नहीं आता, अवधि समाप्त हो जाती है, पर विरह का अन्त नहीं होता, अवधि समाप्त हो जाती है, पर विरह का अन्त नहीं होता। 'दुःशासन की" तरह अवधि अपना ज़ोर लगाकर थक जाती है, पर विरह का अन्त नहीं होता। "दुःशासन की" तरह अवधि अपना ज़ोर लगाकर थक जाती है। पर पांचाली के चीर की तरह विरह का अन्त नहीं मिलता, वह द्रौपदी के चीर के समान बढ़ता ही जाता है। बहुत मनोहर "पूर्णोपमा" है !

"सा पूर्णा" यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्............... ।"

"उपमेयरु उपमान जहं वाचक धर्म सु चार ।
पूरन उपमा.............................।"

अर्थात्, जहाँ उपमान, उपमेय और इन दोनों के सामान्य धर्म—सदृशता के हेतु गुण क्रिया या मनोज्ञत्वादि, तथा औपम्य वाची इवादि शब्द, सब हों, वहाँ 'पूर्णोपमा" होती है।

—जैसे यहाँ, विरह उपमेय, पांचाली का चीर उपमान, अन्त न पाना—बढ़ते जाना साधारण धर्म, ज्यौं—वाचक शब्द।

अवधि-दुसासन में 'रूपक' उपमा का पोषक है इस लिये रूपक उपमा का 'संकरालंकार' (अनवर चन्द्रिका) "दोऊ अन्त न लहैं" इस क्रिया से "दीपक" (श्रीप्रताप)

रसनिधिकृत "रतनहजारा" में विहारी की इस पूर्णोपमा का अनुहरण किया गया है। यथा :—

"दृग दुरसासन लाल के ज्यौं ज्यौं खैंचत जात ।
त्यौं-त्यौं द्रोपदि चीर लों मन-पट बाढ़त जात ॥"

इसमें सन्देह नहीं, "अलंकार" का तो पूरा अपहरण हो गया, रूपक और पूर्णोपमा दोनों उतर आये ! पर जिस कविता-कामिनी को यह पहनाये गये हैं, उसे शोभा नहीं देते। इसमें चमत्कार नहीं, प्रत्युत 'नीरस' रसाभास प्रतीत होता है। 'मनस्विनी' नायिका शायद अपने मन की निश्चलता और बहादुरी का वर्णन कर रही है कि लाल (प्रिय कहें या अप्रिय ?) के नेत्र रूप दुस्सासन ज्यौं ज्यौं खींचते जाते हैं, द्रौपदी के चीर की तरह मेरा मनरूपी वस्त्र त्यौं त्यौं बढ़ता जाता है। अभिप्राय यह कि लाल-अहेरी रूप के दाने डालकर अपना नेत्र-जाल कितना ही फैलावै पर मेरा मन-पंछी उसके हाथ नहीं आ सकता ! इस दशा में तो शुद्ध रसाभास है। यदि इसके कहने वाली दूती है, लाल सुनने वाले हैं, जिसके विषय में कहा जाता है वह कोई पतिव्रता है तब भी वही बात है।

एक सौ छब्बीस

बौरी बौरे आम

[प्रोषितपतिका विरहिणी प्रिय-वियोग में अवधि के दिन गिन रही रही थी कि खबर मिली के प्रिय के आने की अवधि टल गई है। अब और किसी दिन आवेंगे। अवधि के टलने का नाम सुनकर वह हृदय में कुछ और ही सी हो गई थी; उद्विग्न-हृदया हो गई थी। उस पर इस बौराए हुए बसन्त के आम ने तो उसे और ही अधिक बावली बना दिया है। —स०]

(१२६)

❀ हिय औरै सी ह्वै गई टरे अवधि के नाम।
दूजै कर डारी खरी बौरी बौरे आम॥

(सखी का वचन सखी से) †

(अवधि के टरे नाम)—आने की निश्चित अवधि के टलने का नाम सुनकर, (हिय औरै सी ह्वै गई)—हृदय में और ही प्रकार की हो गई थी—उद्विग्नहृदया—हो गयी थी, (दूजै बौरे आम खरी बौरी करि डारी)—इस पर बौरे-मौले हुए-पुष्पित-आम ने अत्यन्त बावली बना दिया।

प्रोषितपतिका विरहिणी प्रिय वियोग में अवधि के दिन को ओर लौ लगाए, दिल थामे, बैठी दिन गिन रही थी कि अचानक समाचार सुना "आने की अवधि टल गई है—पीछे हट गई है—उस दिन न आवेंगे,—कान में यह भनक पड़ते ही ग़रीब के होश उड़ गये, दिल टूट गया—'बस खूं टपक पड़ा निगहे-इन्तजार से!" आशा का बाँध टूट गया। हृदय-हृद में चिन्ता तरंगों का तूफ़ान सा उठने लगा, बेचारी अबला को बौखलाने के लिये यही 'दुर्घटना'—अवधि का टलना कुछ कम न थी कि इस पर ऊपर से वसन्त ने आकर और गजब ढा दिया। बौरे आम ने रही सही कसर निकाल दी, विरहिणी बाला को बिलकुल ही बावली— बना दिया!

अलंकार—"भेदकातिशयोक्ति"—औरे के योग से (अमर चन्द्रिका) "उत्प्रेक्षा" "औरिसी भई—और ही भई मानो, इहाँ "सी" 'मानो' के अर्थ में है।" (हरिकवि)

"समाधि अलंकार" (श्री प्रताप)

"'समाधिः' कार्यसौकर्यं कारक्षन्तरसन्निधेः।"

—"सो 'समाधि' कारज सुगम और हेतु मिलि होत।"

जहाँ किसी अन्य कारण के आ पड़ने से कार्य सिद्धि में सुगमता हो जाय, वहाँ 'समाधि अलंकार होता है। जैसे दोहे में वर्णित घटना में अवधि के टलने की खबर ने विरहिणी को बावली बनाना प्रारम्भ कर दिया था, बौरे आम ने यह काम सुगमता से पूरा कर दिया।

मोहन सों बिछुरी जबतें तबतें न लही कल एक घरी है,
नैनन नीर ढरे निसि-बासर व्याकुल बाल अचेत खरी है।
ऐसी दसा पहले हि हुती पुनि और भई सुधि औधि टरी है,
तापर बौर रसालन देख्यौ बसंत के मो[ओ]सर बौरी करी है।
(कृष्ण कवि)

—:०:—

❀ पाठान्तर—"ही"। "हिये"। "औरि"।। "टरी"। "वाम"।

† "यह बसन्त समय नायिका की अवस्था सखी नायक सों कहति है, सखी सखी हूँ सों कहै।" (कृष्ण कवि)

आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा कृत "बिहारी सतसई"
के 'संजीवन-भाष्य' में आए हुए दोहों की
अकारादि क्रम से पृष्ठाङ्क सहित

अनुक्रमणिका